आमुख

संस्कृति एक व्यापक एवं समूल अवधारणा है जिसमें ज्ञान, विश्वास, कला, नैतिक मूल्य, मानव व्यवहार एवं आदतें शामिल होती हैं। सप्राणता, ऊर्जात्मकता, सातत्य, सृजनात्मकता, प्रसरणशीलता, सौन्दर्यमूलकता, स्वस्तिकता और अभिव्यंजकता संस्कृति के संघटक तत्व हैं तो साहित्य, सभ्यतामूलक तत्व, पौराणिकता, दर्शन, नैतिक चेतना, सौन्दर्य चेतना व भाषा संस्कृति की व्यंजना की चारू अभिव्यक्तियां हैं।

संस्कृति का संबंध मनुष्य से है। देश कालानुसार मनुष्य समुदाय जीवन के उत्तरोत्तर उन्नयन हेतु जो विचार और कर्मसृष्टि करता आया है, वे सब और उनका प्रभाव मनुष्य से सांस्कृतिक व्यवहार का नियमन और दिशा-दर्शन करते रहे हैं। भाव यह है कि संस्कृति का संबंध एक ओर मनुष्य के लौकिक अभ्युदय से है तो दूसरी ओर मनुष्य के चिंतन-मनन, तत्वचर्चा, धर्म, नीति और दर्शन जैसे आत्मतत्वों की पहचान भी संस्कृति की परिधि में होती आयी है।

प्रस्तुत पुस्तक में भारतीय संस्कृति को इसके समग्र परिप्रेक्ष्य में सारगर्भित रूप से वर्णित करने का भागीरथ प्रयास किया गया है। इस दिशा में धर्म एवं दर्शन; संगीत; नृत्य; रंगमंच; प्रदर्शन कलाओं; चलचित्र; स्थापत्य कला; शिक्षा परम्परा; विज्ञान-प्रौद्योगिकी विकास की समृद्ध परम्परा; मीडिया एवं संस्कृति, भाषा एवं साहित्य, संस्कृति संवर्द्धन एवं संरक्षण पर व्यापक दृष्टि डाली गई है।

संस्कृति के आवश्यक पहलुओं के दृष्टिगत् पुस्तक में परिशिष्ट (भारत की आयुध कला मार्शल आर्ट्स; भारत में सर्कस; और सांस्कृतिक महत्व के स्थल) का समावेश किया गया है जिससे पाठकों की संस्कृति के अध्ययन संबंधी अधिकतम आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके।

उल्लेखनीय है कि पुस्तक में संघ लोक सेवा आयोग की मुख्य परीक्षा के अभ्यर्थियों की आवश्यकताओं के परिप्रेक्ष्य में नवीन पैटर्न के अंतर्गत संस्कृति के विभिन्न क्षेत्रों का वर्णन एवं विश्लेषण किया गया है जिससे वे नवोन्मेषी एवं चुनौतीपूर्ण प्रश्नों के उत्तर देने में सक्षम हो सकें। इसके अतिरिक्त विभिन्न शोधार्थियों, पाठकों, एवं अन्य प्रतियोगी परीक्षाओं के अभ्यर्थियों के लिए भी यह पुस्तक समान रूप से उपयोगी है।

विदित है कि अथक् प्रयासों के बावजूद पुस्तक में किसी प्रकार की त्रुटि के रह जाने की संभावना बनी रहती है। अतः सुझावों एवं समाधानों हेतु हम सुधी पाठकों का सदैव स्वागत करते हैं तथा उनकी सफलता की कामना करते हैं।

मुख्य संपादक

संदर्भिका

1. सामाजिक समस्याएं *राम आहूजा*
2. जनजातीय भारत *नदीम हसनैन*
3. हिन्दू समाज की व्यवस्था *पन्धारीनाथ एच. प्रभु*
4. भारतीय समाज *राम आहूजा*
5. विश्व ज्ञान संहिता (खंड-1) *हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय*
6. भारतीय संस्कृति कोश *लीलाधर शर्मा 'पर्वतीय'*
7. भारत में समाज *इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ*
8. Basham, A.L. (Ed.) *A Cultural History of India,* Delhi, 1975.
9. Basham, A.L. *The Wonder that was India,* London, *1967.*
10. Radhakrishnan, S. *The Hindu View of Life,* London, 1957.
11. Nilakanta Sastri, K.A. *A History of South India,* Madras, 1966.
12. Kosambi, D.D. *The Culture and Civilisation of Ancient India,* London, 1965.
13. Chopra, P.N. (Ed.) *The Gazetteer of India* (Vol. II: History and Culture), Delhi, 1992.
14. Majumdar, R.C. (Ed.) *The History and Culture of the Indian People,* Bharatiya Vidya Bhavan Vol. I-VI, Bombay, 1966.
15. Coomaraswamy, A.K. *History of Indian and Indonesian Art,* London, 1927.
16. Coomaraswamy, A.K. *The Arts and Crafts of India and Ceylon,* New Delhi, 1971.
17. Brown, P. *Indian Architecture,* Bombay, 1959.
18. Brown, P. *Indian Painting,* Calcutta, 1960.
19. Vatsyayan, Kapila *Indian Classical Dance,* Delhi, 1974.
20. Chaitanya Deva, B. *An Introduction to Indian Music,* Delhi, 1992.
21. Krishnaswamy, S. *Musical Instruments of India,* Delhi, 1967.
22. Raghavan, V. *Great Integrators: The Saint Singers of India,* 1966.
23. Sambamoorthy, P. *Great Composers*, 1957.
24. Parmar, S. *Folk Music & Mass Media,* 1977.
25. Dasgupta, H.N. *The Indian Stage,* 1944.
26. Zimmer, H. *Philosophies of India*, 1953.
27. Gargi, Balwant *Theatre in India,* 1950.
28. Chattopadhyay, Kamaladevi *Indian Handicrafts,* 1963.
29. Natarajan, S. *A Century of Social Reform in India,* 1962.
30. Dehejia, Vidya *Looking Again at Indian Art,* Delhi, 1978.
31. Dhamija, Jasleen *Indian Folk Arts and Crafts,* Delhi, 1970.

विषय-सूची

अध्याय-1

भारतीय संस्कृतिः एक परिचय

संस्कृति बोध

संस्कृति क्या है?

'संस्कृति' एक अमूर्त पद है, जिसे वैज्ञानिक पदों की भांति परिभाषा की सीमा में बांधना समीचीन प्रतीत नहीं होता। यद्यपि इसकी व्याख्या में मूर्त और अमूर्त दोनों पक्षों का समावेश रहता है, परंतु सर्वप्रथम हमें इस बात पर विचार करना होगा कि सामान्य व्यवहार में लोग संस्कृति का क्या अर्थ निकालते हैं? अधिकांशतः सुरुचि एवं शिष्ट व्यवहार के अर्थ में इसका प्रयोग होता है, लेकिन वस्तुओं के सम्बंध में भी इसका प्रचलन है। यही कारण है कि मुगल काल में निर्मित भवनों, उद्यानों तथा कलाकृतियों को मुगल संस्कृति के रूप में देखा जाता है। इसी प्रकार सामाजिक रीति-रिवाज भी संस्कृति के क्षेत्र में आते हैं।

संस्कृति शब्द संस्कृत की 'कृ' धातु से 'क्टिन' प्रत्यय एवं 'सम' उपसर्ग को जोड़कर बना है। सम + कृ + क्ति = संस्कृति। वास्तव में संस्कृति शब्द का अर्थ अत्यंत ही व्यापक है।

यूनेस्को के अनुसार ''संस्कृति को आमतौर पर कला का रूप माना जाता है। हम नैतिक मूल्यों और मानवीय सम्बंधों में लोगों के व्यवहार को संस्कृति से जोड़ते हैं। इसे किसी समाज या किसी सामाजिक समूह के हित में किए जाने वाले कार्य, व्यवहार और प्रवृत्ति से भी उपलक्षित किया जाता है। संस्कृति से हमारा तात्पर्य जीवन स्तर, निवास और वेशभूषा, भौतिक अनुशीलन से है। हम भाषा, विचार, कार्य की संस्कृति से इसका आकलन करते हैं।''

रेडफील्ड के अनुसार, ''संस्कृति, कला और वास्तुकला में स्पष्ट होने वाले परम्परागत ज्ञान का वह संगठित रूप है जो परम्परा के द्वारा संरक्षित होकर मानव-समूह की विशेषता बन जाता है।''

श्री जवाहर लाल नेहरू के अनुसार ''संस्कृति का अर्थ मनुष्य का आंतरिक विकास और उसकी नैतिक उन्नति है, पारस्परिक सद् व्यवहार है और एक-दूसरे को समझने की शक्ति है।''

सामाजिक नृविज्ञानी 'लौकिक' एवं 'अलौकिक' संस्कृति में भेद मानते हैं। लौकिक संस्कृति में शामिल है प्रौद्योगिकी, कला के रूप, वास्तुकला, भौतिक वस्तुएं और घरेलू प्रयोग के सामान, कृषि, व्यापार एवं वाणिज्य, युद्ध एवं अन्य सामाजिक क्रिया-कलाप। अलौकिक संस्कृति से साहित्यिक एवं बौद्धिक परम्पराओं, विश्वासों, मिथकों, दंतकथाओं और वाचक परम्परा के अन्य रूपों का बोध होता है। व्यापक अर्थों में संस्कृति एक संश्लिष्ट समुच्चय है, जिसमें ज्ञान, विश्वास, कला, नैतिकता, विधान, रिवाज एवं समाज के सदस्य के रूप में मनुष्य द्वारा अपनाई गई आदतों और क्षमताओं का समावेश होता है। संस्कृति के मूलभूत घटक हैं मूल्य, मान्यताएं, संकेत (जैसे भाषा), लोक साहित्य, धर्म एवं विचारधाराएं।

संस्कृति मनुष्यों के समुदाय में निहित होती है और इसका निकटतम सम्बंध उच्चतम मूल्यों से होता है। समझने के स्तर पर इसे इस प्रकार कह सकते हैं कि किसी समाज में निहित उच्चतम मूल्यों की चेतना, जिसके अनुसार वह समाज अपने जीवन को ढालना चाहता है, संस्कृति कहलाती है।

यह परिभाषा सुकरात के तर्कों के सामने भले न ठहर सके, किंतु इसने हमें एक व्यापक सिद्धांत दिया है, जिसमें उन सभी अभिप्रायों का अंश है, जिनमें संस्कृति शब्द का उपभोग किया जाता है।

संस्कृति को हम तीन आयामों में देखते हैं। प्रथमतः यह एक नियामक प्रणाली या पद्धति है, जिसके द्वारा दण्ड-विधान के रूप में सामाजिक नियंत्रण का कार्य सम्पन्न होता है। इसी को देखते हुए लोग सामान्यतः स्वीकार्य नैतिक/व्यावहारिक प्रतिमानों का अनुकरण करते हैं। द्वितीयतः इसमें संगीत, नृत्य कला, साहित्य एवं अन्य प्रदर्शनकारी माध्यम हैं, जो लोगों के सांस्कृतिक प्रतीक हैं। तृतीयतः यह एक विचार पद्धति प्रदान करती है, जिसके माध्यम से समाज के लोग इस जगत का अर्थपूर्ण विवेचन करते हैं। कालक्रम से ये बातें संस्थागत रूप अपना लेती हैं और सामाजिक ढांचे को प्रभावित करती रहती हैं।

काल के पैमाने पर संस्कृति के तीन भेद हो जाते हैं शाश्वत, युगीन और

क्षणिक। शाश्वत संस्कृति प्रकृति द्वारा संचालित काल अर्थात् संवत्सर से पर्वों-त्योहारों में व्यक्त होती है। इसका एक उदाहरण असम का 'बिहू' पर्व है सूर्य के चारों ओर पृथ्वी जिस परिभ्रमण पथ पर घूमती है, उसे विषुव वृत्त कहते हैं विषुव पर आधारित पर्व को बिहू कहा गया है। ऋतु परिवर्तन के तीन संधि-कालों में बिहू के तीन पर्व मनाए जाते हैं। इस प्रकार एक ही वार्षिक काल के अनुसार देश के विभिन्न भागों में प्रकृति की अपनी-अपनी विशेषताओं के अनुरूप अलग-अलग रीतियों और नामों से पर्व-उत्सव मनाए जाते हैं। इनमें कालगत एकता और देशगत विविधता होती है। दूसरी है युगीन संस्कृति। यह राज्य व्यवस्था और राजकीय प्रश्रयों के समानांतर विकसित होती है। युगीन परिस्थितियों के दबाव से साहित्य और कला के सृजन अछूते नहीं रहते। ये कभी सत्ता प्रतिष्ठान के विरुद्ध तो कभी पक्ष में आगे बढ़ते हैं, जन जीवन के साथ जुड़कर एक सतत् भूमिका में भी बने रहते हैं। युगीन संस्कृति इतिहास के कालक्रमों में व्याख्या पाती है। इस पर राज्य और वाणिज्य से बनने वाले अर्थ-चक्र का पूरा प्रभाव पड़ता है। इसे राजकीय संस्थाएं और जनाकांक्षा प्रेरित करती हैं। यह मानुषी व्यवस्था पर अधिक निर्भर है। तीसरी है क्षणिक संस्कृति, यह बाजार के तीव्र परिवर्तनों से प्रभावित रहती है। यही उपभोक्ता संस्कृति कही जाती है। इस पर देशी-विदेशी उत्पादों का असर पड़ता है। आज यही सर्वाधिक भूमंडलीकृत हुई है।

संस्कृति एवं संस्कार

हिंदी शब्द सागर में संस्कृति शब्द के जो अर्थ दिए गए हैं, वे सभी शारीरिक और मानसिक संस्कार के सूचक हैं। भाव यह है कि संस्कृति शब्द एक ओर बाह्य परिष्कार का अर्थ बोधक है तो दूसरी ओर आंतरिक परिष्कार का। संस्कृति के नैर्वचनिक अर्थ से ज्ञात होता है कि संस्कृति में परिष्कार (संस्क्रिया) का भाव सन्निविष्ट है। गौरतलब है कि परिष्कार अपनी क्रिया के साथ ही समाप्त हो जाने वाला कार्य व्यापार नहीं है, अपितु सर्जन-प्रक्रिया है। संस्कृति के निर्वचनमूलक अर्थ के पश्चात् संस्कृति शब्द प्रयोग की परम्परा और दिशा का भी विचार कर लेना प्रासंगिक होगा।

संस्कृति शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग यजुर्वेद में उपलब्ध है जहां पर इससे अभिप्राय संस्कारों की वरीयता एवं वरणीयता है। अर्थात् मनुष्य के लिए जो

वरणीय है, काम्य है, वह संस्कृति का अंग है। ''ऐतरेय ब्राह्मण'' में मनुष्य की अंतःकरण की शुद्धि को ही संस्कृति कहा गया है।

संस्कृति की चरितार्थता संस्कार में है और यह संस्कार बाह्य की अपेक्षा आभ्यांतरिक अधिक है। यदि संस्कारों का संबंध मन की गहराइयों से नहीं होगा तो वे केवल बाह्याडम्बर ही होंगे और उनकी वास्तविकता शीघ्र ही लोगों पर प्रकट हो जाएगी। जब हम किसी व्यक्ति को संस्कारवान कहते हैं तो उसका अभिप्राय होता है कि वह व्यक्ति सदाशय, सद्भावपूर्ण, सच्चरित्र और समाज के प्रति उत्तरदायी है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि संस्कार एक प्रकार से आंतरिक गुणों के आधारबीज हैं, बाह्य प्रदर्शन के वस्तु-व्यापार नहीं।

प्रकृत अवस्था में मनुष्य पशु के समान है और वह प्रकृत वृत्तियों से संचालित होता है। प्रकृति वृत्तियों से प्रेरित आचरण के परिष्कार की सतत् आवश्यकता बनी रहती है अन्यथा समाज का संगठन ही छिन्न-भिन्न हो जाए। प्रकृत वृत्तियों का यह परिष्कार ही संस्कृति की प्रक्रिया है। प्रकृत अवस्था से ऊर्ध्वगति की ओर मानव का पहला प्रयास ही संस्कृति का सोपान है। प्रकृत अवस्था से ऊर्ध्वगमन दो स्तरों पर घटित होता है। एक लौकिक उन्नति के रूप में वस्तु जगत पर, दूसरा विचार और भाव-भूषित साहित्य, कला, संगीत, कर्तव्य-अकर्तव्य, पाप-पुण्य-आश्रित नैतिकता तथा सत्य, प्रेम, क्षमा, दया आदि अत्यधिक गुणों के माध्यम से मानसिक जगत पर। इस प्रकार संस्कृति के स्वरूप की अवधारणा के मूल में मानव सोच के दो आयाम हैं (1) लौकिक उन्नति का आयाम (2) नैतिक और पारमार्थिक मूल्यों का आयाम।

संस्कारों का मुख्य उद्देश्य है व्यक्ति को संस्कारित कर समाज को सुखी, सभ्य और शीलवान बनाना। ऐसा समाज ही व्यक्ति की अस्मिता का रक्षक हो सकता है। मनुष्य संस्कारों के माध्यम से ही समाज और राष्ट्र के प्रति एक उत्तरदायी नागरिक बन कर अपनी भूमिका निभा सकता है। अंतरात्मा का संस्कार शासकीय दंड विधान और विधि-नियमों से अधिक बली होता है। इसलिए सभ्य समाज के निर्माण में संस्कारों की उपयोगिता और भूमिका असंदिग्ध है। संस्कार ही व्यक्ति और समाज को सुसंस्कृत बनाते हैं।

स्पष्ट होता है कि संस्कृति शब्द का व्यवहार-क्षेत्र दो अर्थों में घटित होता है। एक सीमित अर्थ में और दूसरा व्यापक अर्थ में। नितांत मूर्त और भौतिक कृतियों के स्तर पर घटित संस्कृति का व्यवहार क्षेत्र सीमित है, कारण संस्कृति

का यह रूप देश-काल बाधित है। मनस्तत्व, बुद्ध और आत्मा के स्तर पर घटित संस्कृति का व्यवहार-क्षेत्र व्यापक है। संस्कृति का यह रूप कालातिक्रामी है।

सप्राणता, ऊर्जात्मकता, सातत्य, सृजनात्मकता, प्रसरणशीलता, सौंदर्यमूलकता, स्वस्तिकता और अभिव्यंजकता संस्कृति के संघटक तत्व हैं तो साहित्य, सभ्यतामूलक तत्व पौराणिकता, दर्शन, नैतिक चेतना, सौंदर्य चेतना व भाषा संस्कृति की व्यंजना की चारू अभिव्यक्तियां हैं।

संस्कृति और सभ्यता के अंतर और साम्य को समझना भी आवश्यक है। मानवीय मेधा और प्राणशक्ति का विकास दो स्तरों पर घटित होता है। (क) भौतिक स्तर पर और (ख) मानसिक स्तर पर। सभ्यता मनुष्य के भौतिक स्तर (बाह्य जीवन) का विकास है तो संस्कृति मनुष्य के आंतरिक विकास का। सभ्यता और संस्कृति के अंतर को स्पष्ट करने के लिए लोक जीवन का एक छोटा-सा उदाहरण पर्याप्त होगा। यदि कोई व्यक्ति अपने सामर्थ्य और औचित्य की सीमा में व्यवस्था और सुचारूता से अपनी क्षुधा-निवृत्ति के लिए भोजन करने का उपक्रम कर रहा है तो वह सभ्यता है किंतु यदि वह अपने भोजनांश में से कुछ निकाल कर अथवा पृथक् से किसी अन्य व्यक्ति की क्षुधा-निवृत्ति के लिए भोजन जुटाकर मानसिक संतोष प्राप्त करता है, तो वह संस्कृति है।

संस्कृति एक प्रेरक शक्ति के रूप में मनुष्य के आचरण को गढ़ती है जिससे उसके सामाजिक व्यवहारों में शिष्टता एवं शालीनता झलकती है। शुद्ध सामाजिक सेवा की दृष्टि से क्रियाशील सामाजिक संस्थाओं की प्रेरक शक्ति भी संस्कृति ही है। संस्कृति मनुष्य के सामाजिक शील की संरक्षिका है। संस्कृति इस बात की कसौटी है कि हम अपनी चित्त-वृत्तियों का संस्कार कितना कर पाए हैं।

भारतीय संस्कृति एवं मूल्य बोध

भारतीय संस्कृति और मूल्य बोध के परस्पर सह-अस्तित्व पर विचार करना बेहद दुरूह है। कारण यह है कि ''संस्कृति'' एक अमूर्त अवधारणा है और अपनी अमूर्त व्यापकता में इसे परिभाषित नहीं किया जा सकता। संस्कृति न आर्थिक, न भौतिक और न आध्यात्मिक होती है, वह एक समग्र प्रक्रिया है। दरअसल, संस्कृति चित्त की खेती है। खेती की तरह चित्त को जोतना-बोना-निराना-सींचना-रखवाली करना, खर-पतवार निकाल कर फेंकना, उसे निरंतर मांजने-संवारते रहना पड़ता है। भारतीय संस्कृति में मानव और प्रकृति दो नहीं हैं, दोनों एक ही हैं। दोनों में अद्वैत है पारस्परिकता का अभेद भाव।

भारतीय संस्कृति की एक नहीं अनेक छवियां हैं, इन छवियों में निरंतर परिवर्तन होते रहे और बाहर की संस्कृतियों का हस्तक्षेप भी कम नहीं रहा। ''भारतीयता'' की अवधारणा बदलती रही और जिसमें कई मूल्य लुप्त होते गए। भारतीय संस्कृति का उच्चतम मूल्यों से निकट का संबंध है। आध्यात्मिक और भौतिक, नैतिक और सांस्कृतिक-सामाजिक मूल्यों का आदर्श मॉडल।

भारतीय संस्कृति की मूल्य-बोधी दो धाराओं परस्पर संघर्ष और सहयोग की शक्ति लेकर एक साथ प्रवाहित हुई। द्रविड़ संस्कृति और आर्यों की वैदिक-संस्कृति।

भारतीय संस्कृति में हूण हों, कुषाण हों, कोल-किरात-निषाद हों, सूफी हों, मुसलमान हों कोई भी हों ''अन्य नहीं हैं''। भारतीय संस्कृति किसी को पराया नहीं रहने देती है, उसका आधार हिंसा और अलगाव नहीं है प्रेम, अहिंसा और बंधुता है। पुरातत्वीय खोजों ने सिंधु घाटी सभ्यता और द्रविड़ संस्कृति में व्यावसायिक और सांस्कृतिक आदान-प्रदान के अंतः सूत्रों के संकेत दिए हैं। उत्तर और दक्षिण भारत में आदान-प्रदान के संकेत तमिल के संगम साहित्य में मिलते हैं।

भारतीय संस्कृति और मूल्य-चेतना पर विचार करते हुए हमारे सामने समस्या रहती है कि हम अपनी संस्कृति को ऐतिहासिक खंडों में विभाजित करके देखें क्या? वैदिक-संस्कृति, पौराणिक-आरण्यक संस्कृति, बौद्ध-जैन संस्कृति, रामायण, महाभारत काल की संस्कृति, सूफी और इस्लाम संस्कृति या फिर आध्यात्मिक और भौतिक संस्कृति?

भारतीय संस्कृति में यूरोपीय संस्कृति से संघर्ष और टकराहट का प्रश्न अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। पुर्तगाली, फ्रांसीसी, और अंग्रेज व्यापारियों ने आधुनिक नवजागरण, भाषा-साहित्य के क्षेत्र में सांस्कृतिक प्रभाव छोड़ा। सबसे बड़ी क्रांति शिक्षा में हुई।

प्रश्न उठता है कि भारतीय संस्कृति का असली संकट क्या है? भारत के पश्चिमीकरण या भारतीय स्रोतों के सूखने का संकट? इस समय हमारा देश संस्कृति के सभी क्षेत्रों में एक अभूतपूर्व अराजकता से पिट गया है चाहे वह साहित्य का क्षेत्र हो या कलाओं का क्षेत्र हो, राजनीति-धर्म-अध्यात्म का क्षेत्र हो। सभी क्षेत्रों की रचनात्मकता, अनुवादजीवी, नकलची और पस्त संवेदना वाली परोपजीवी

मानसिकता का शिकार है। राजनीतिक नेतृत्व की पतनशीलता और चरित्रहीनता ने नैतिक संवेदना के पवित्रता-जनित विवेक को पश्चिम के हाथों गिरवी रख दिया है और पश्चिमवाद की खुराक पर पलता देश सांस्कृतिक स्मृति-भ्रंश की प्रक्रिया को तेज करने में सक्रिय है। विचारधाराओं का अंत राजनीति में अवसरवाद, जातिवाद और गुंडातंत्र को पाल रहा है। ऐसा पागलपन इन राजनीतिक शक्तियों में पनपा है कि मूल्यों के अंधेपन को ही पहना-ओढ़ा जा रहा है। चिंतन की सृजनात्मकता के नाम पर बंजर अकर्मण्यता का आलम है। पश्चिमवाद, पूंजीवाद, सांस्कृतिक नव-साम्राज्यवाद के पीछे घूंघट काढ़े वधू की तरह क्या चल पड़े कि सोचना ही बंद कर दिया, अनुकरणीय बन गए।

एक समय था जब उन्नींसवीं शताब्दी में यूरोपीय भाषाविदों और दार्शनिकों ने भारतीय संस्कृति के अतीत को सराहते हुए उसके वर्तमान को खारिज कर दिया था। लेकिन उस समय भी मैक्समूलर जैसे भारतविदों को यह बोध था कि भारतीय संस्कृति संस्कृत भाषा-साहित्य-मिथक-दर्शन, प्रकृति चेतना में जीवित रही है। संस्कृत से उद्‌भुत भाषाओं में संवाद का सातत्य है। इस संवाद के सातत्य को जब तक खत्म नहीं किया जाएगा तब तक भारतीय सांस्कृतिक अस्मिता को उसके मूल से नष्ट नहीं किया जा सकता। अन्य सभ्यता-संस्कृतियों की तरह भारतीय संस्कृति म्यूजियम की चीज नहीं रहीं, कभी नहीं रही। उसका प्रवाह जातीय स्मृतियों में या चिंतन परम्पराओं में गतिशील रहा। यह गतिशीलता धूल में तब ध्वस्त हुई जब यूरोपीय मनीषियों की प्रत्ययात्मक क्षमता से प्रभावित होकर भारतीय लोग अपनी भाषा-अस्मिता का अवमूल्यन कर बैठे।

भारतीय संस्कृति धार्मिक सहिष्णुता की परिचायक

आधुनिक युग में राजनीति, धर्म एवं संस्कृति के उन पहलुओं को आधार बना रही है जो धार्मिक एवं सांस्कृतिक निरक्षरता से ओत-प्रोत हैं। जिस प्रकार अक्षर ज्ञान के बिना मानव दूसरों के अनुभवों, विचारों से अनभिज्ञ रहता है उसी प्रकार यदि सांस्कृतिक साक्षरता नहीं है तो वह न केवल जड़ शून्य है, वह कूपमंडूक भी है और 'वसुधैव कुटुम्बकम' जैसे सिद्धांत के प्रति संज्ञाहीन है।

हिंदू धार्मिक एवं बुद्धि जैविक चिन्तन की मुख्य धारा के स्रोत संस्कृत साहित्य में विद्यमान हैं। इस साहित्य में म्लेच्छ अथवा पराकिया जैसे शब्दों का शाब्दिक अर्थ या 'वह जो स्थानीय नहीं है'। मुसलमान शब्द की अनुपस्थिति इस तथ्य

की परिचायक थी कि इस काल के साहित्य में इस्लाम धर्म पर अथवा मुसलमान पर कोई टीका-टिप्पणी नहीं की गई थी।

भारतीय संस्कृति में हिंदू व मुसलमान दोनों की सहभागिता एवं योगदान अभूतपूर्व है। जिस प्रकार दो संस्कृतियों के मध्य आदान-प्रदान हुआ, उसी प्रकार आध्यात्मिक क्षेत्र में भी दो भिन्न धर्मो के अनुयायियों के अंतर्नुभवों के उदाहरण कम नहीं हैं। यही वे अनुभव थे, जिन्होंने सूफी एवं भक्ति परम्पराओं को जन्म दिया। भारत ही विश्व का एकमात्र देश है जहां ये दो विभिन्न परम्पराएं एक-दूसरे में इस प्रकार समा जाती हैं जिस तरह गंगा एवं यमुना की धारा में सरस्वती।

यही भारतीय संस्कृति है जिसने कला जगत में सितार, शहनाई का परिचय विश्व संस्कृति से कराया और भारतीय व्यंजनों का चलन यूरोप और अमेरिका के घरों में बढ़ने लगा। किसी भी क्षेत्र की संस्कृति की परिपक्वता वहां के निवासियों की भावनाओं से प्रेरित होती है, जो अपनी परम्पराओं से जुड़े रहते हैं।

हिंदू, मुसलमान, सिख, ईसाई, बौद्ध, जैन इत्यादि धर्मों के अनुयायी शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व की धुरी पर भारतीय संस्कृति को न केवल गतिमान बनाए रखे हैं, अपितु इसको सुदृढ़ एवं व्यापक बनाने के प्रयासों में तल्लीन हैं और यही भारत की आध्यात्मिक आत्मा है।

इस देश में लोग चाहे किसी भी धर्म या सम्प्रदाय के मानने वाले ही क्यों न हों किसी भी जाति के प्रतिनिधि क्यों न हों, किसी भी समाज के सदस्य क्यों न हों सभी मिश्रित संस्कृति के साझेदार हैं क्योंकि हिंदू शब्द सम्प्रदाय धर्म अथवा जातिवादी नहीं अपितु राष्ट्रवादी है।

भारत राष्ट्र का बल यही संस्कृति है जिसका उदाहरण उन देशों में दिया जाता है जहां अनेकता में एकता खोजने का प्रयास किया जा रहा है, जहां राष्ट्र की सांस्कृतिक नीति को गढ़ने की प्रक्रिया अनवरत चल रही है ताकि बढ़ते हुए संकीर्णतावाद, धर्मांधता, कट्टरवादिता, धार्मिक उन्माद एवं आतंकवाद संबंधी गतिविधियों पर अंकुश लगाया जा सके।

सामाजिक मूल्य

भारत ने भी सभ्यता की महायात्रा में शामिल होकर एक लम्बा मार्ग तय किया है। इसकी निरंतरता ने जिस ऐतिहासिकता से इसे अलंकृत किया है, वह भारतीय सभ्यता को बहुत ऊंचा स्थान प्रदान करती है। यही वजह है कि भारत की

प्रागैतिहासिक सभ्यता से प्रारंभ कर वर्तमान सभ्यता को काल की सीमाओं में नहीं बांधा जा सकता। वास्तव में जब हम भारत के सांस्कृतिक इतिहास की ओर देखते हैं तो पाते हैं कि विभिन्न मतभेदों के बावजूद भारतवासियों के विचारों, भावनाओं और रहन-सहन के तरीकों में एक बुनियादी एकता है, जो राजनीतिक नक्षत्रों के बदलने से घटती-बढ़ती तो है, किंतु कभी समाप्त नहीं होती। अनेक बार भीतरी और बाहरी अलगाववादी शक्तियों ने इस एकता को नष्ट करने का भय व भ्रम उत्पन्न किया, किंतु एक रहने की भावना ने विरोधी प्रवृत्तियों और आंदोलनों को एक समन्वयात्मक संस्कृति में लपेट लिया।

भारत के परंपरागत समाज पर दृष्टिपात करें तो इसका एक बुनियादी पहलू सामने आता है और वह है पदानुक्रम व्यवस्था। इस पदानुक्रम को सबसे मुखर वाणी देती है इसकी 'वर्ण' व्यवस्था। समाज का हर कार्य इसी क्रम को ध्यान में रखकर निष्पादित होता था। यह वर्ण व्यवस्था गुण धर्म के आधार पर प्रारंभ हुई थी तब इसमें वर्तमान कठोरता विद्यमान न थी। किसी एक वर्ण के लोग किसी दूसरे वर्ण में शामिल हो सकते थे। महाभारत में हमें एक ऐसे व्याध का नाम मिला है जो 'धर्म व्याध' कहलाता था और जिससे अनेक धर्म-परायण ब्राह्मणों ने गुरु-दीक्षा ली थी। वैश्य तुलाधार भी ब्राह्मणों के आध्यात्मिक गुरु थे। इससे पता चलता है कि जाति व्यवस्था का भेदभाव प्राचीन भारत में नहीं था और ऋग्वेद के काल में तो था ही नहीं।

कालक्रम में यह भेदभाव बढ़ता गया और वर्ण व्यवस्था ने जीवन के हर क्षेत्र में असमानता को संस्थागत बना दिया। पूर्वजन्म के कर्मों के आधार पर किसी समूह विशेष में जन्म होने की बात प्रचलित हुई। इसी के आधार पर व्यक्ति का सामाजिक स्तर और सामाजिक संसाधनों में उसका हिस्सा तय होने लगा। यह 'कर्म' और 'पुनर्जन्म' की धारणा को स्वीकृति थी।

समयानुसार साधारण वैदिक संस्कृति अपने विकास की उच्च अवस्था में पहुंची और विभिन्न परिवर्तनों की साक्षी बनी। आधारभूत परिवर्तन यह था कि एक ओर आर्यों के मस्तिष्क ने एकता के विचार को दार्शनिक गहराई दी तो दूसरी तरफ प्राचीन भारतीय परंपराओं को धर्म का अभिन्न अंग बना लिया। इस तरह एक नया सामान्य धर्म विकसित हुआ, जिसे हम वैदिक हिंदू धर्म कह सकते हैं। यह हिंदू धर्म काफी व्यापक था और इसकी विशेषता इसका सहिष्णु

होना थी। कई समूह इसमें समाए। बहुलवाद ने स्वयं को बनाए रखते हुए अन्यों से सहिष्णुता बनाए रखने को प्राथमिकता दी। हिंदुओं का विश्वास था कि सभी मार्ग एक ही सत्य की ओर जाते हैं। सदियों तक शासकों एवं शासितों ने अलग-अलग मार्ग अपनाकर उत्तरजीविता बनाए रखी, किंतु अलग मतों व कर्मकाण्डों की विद्यमानता के बावजूद धर्मों का आपसी सामंजस्य भारत में बना रहा।

जाति प्रथा के संस्थागत होने से बहुलवादी परंपरा बनी रही। प्रत्येक जाति अपने पेशे, रिवाजों, कर्मकाण्डों, परंपराओं का अनुसरण करती रही। किंतु विशेष बात यह थी कि स्वतंत्र होकर भी ग्रामीण अर्थव्यवस्था में आपसी निर्भरता बनी रही। इस मायने में बहुलवाद ने समानांतर के साथ-साथ ऊर्ध्वाधर भूमिका भी निभाई। हालांकि ऐसा भी न माना जाए कि यह अस्तित्व शांतिपूर्ण या समानता पर आधारित था। किसी न किसी समूह का वर्चस्व बना रहा। श्रेष्ठ-हेय का संबंध बिना किसी प्रत्यक्ष विरोध के जारी रहा। ऐसी स्थिति में संसाधनों का असमान वितरण सुनिश्चित हुआ।

तथापि समुदाय के हितों को सर्वदा प्राथमिकता दी गई और उसी क्षेत्र में कर्तव्यों व अधिकारों को मूर्त रूप दिया गया। संयुक्त परिवार का प्रचलन था। इसमें बहुत लोग होते थे वृद्ध, विधवाएं व विकलांग इत्यादि। हर व्यक्ति अपनी क्षमता व दक्षता के अनुसार सहयोग करता था और अपनी आवश्यकता के अनुसार ही सम्पत्ति का हिस्सा उपयोग में लाता था। अनाथों व आश्रितों को साधन-सम्पन्न अपना उत्तरदायित्व मानते थे, जो सामुदायिक सम्पदा के न्यासी बनते थे न कि व्यक्तिगत लाभ के अधिकारी। समुदाय के हित में आत्मसंयम या आत्मनिग्रह का पालन करना पड़ता था।

सामाजिक विधानों की यह व्यवस्था कोई नियम न थी। इसके अपवाद भी उपस्थित थे। जाति को लेकर विवाद भी थे। यदि सहिष्णुता के संतुलनकारी तत्व विद्यमान थे तो धर्मांधता की विघटनकारी शक्तियां भी चलायमान थीं।

साथ ही साथ मनुष्य समाज में रहे या इसे छोड़ दे, आध्यात्मिक पक्ष कभी भी अनुपस्थित न रहा। सामाजिक क्रियाकलापों में धर्म का प्रमुख स्थान था। धर्म की ही आधारशिला पर भारतीय जीवन की विशाल इमारत बड़ी मजबूती से सदियों खड़ी रही। धर्म ने ही नैतिकता के उच्च मानक बनाए, व्यवहार के

नियम बनाए और अलौकिक मूल्यों को भौतिक साधनों के आधिपत्य से श्रेष्ठ बताया। यही भारतीय संस्कृति का सच्चा प्रतिबिम्ब बना।

सांस्कृतिक निरंतरता

भारतीय संस्कृति की सबसे उल्लेखनीय बात यह रही कि इसकी प्राचीन कड़ियां आधुनिक भारत तक एक सूत्र में बंधी रहीं। चीन को छोड़कर विश्व की सभी प्राचीन सभ्यताएं यूनानी, मिश्र, मेसोपोटामिया इत्यादि अपनी महानता में तो कम न थीं, किंतु इनका अपने अतीत से अलगाव था। सांस्कृतिक निरंतरता का जो तत्व भारत की सभ्यता में उपस्थित था, वह इन सभ्यताओं में अनुपस्थित था।

किंतु निरंतरता ने कभी भी नमनीयता या परिवर्तन को अस्वीकार नहीं किया। वस्तुतः, यदि भारतीय संस्कृति सदियों तक प्रवाहित रही, जीवंत और गुंजायमान बनी रही, तो इसकी वजह यही थी कि इसने कभी भी किसी प्रकार की हठधर्मिता प्रदर्शित न करते हुए सर्वदा नए विचारों और प्रभावों को आत्मसात किया और नए संयोग हेतु द्वार खोले रखे। ए.एल. बाशम ने अपनी पुस्तक 'भारतीय संस्कृति का इतिहास' की प्रस्तावना में उल्लेख किया है, ''भारत हमेशा नियमित रूप से बदलता रहा।'' जब हम भारत की संस्कृति की बात करते हैं तो विभिन्न आंदोलनों और संस्कृतियों को भी सामने रखते हैं, जिन्होंने सप्तरंगी इंद्रधनुष का रूप पा लिया है। इसमें वे संस्कृतियां शामिल हैं, जो प्रागैतिहासिक काल में विद्यमान थीं, जो अस्थायी रूप से भारत के सम्पर्क में आईं, जो बाहर से आईं और भारत में स्थायी रूप से घुल-मिल गईं। इसके अतिरिक्त देश के बौद्धिक मंथन से निकले क्रांतिकारी आंदोलन भी समाहित हुए।

हमारी संस्कृति की प्रकृति यही रही है कि इसने सीमाओं को कभी स्वीकार नहीं किया। उसने एकता के लिए संघर्ष किए हैं। यह संस्कृति जीवन की प्रयोगशाला का साधारण यंत्र मात्र नहीं है। न वह केवल पाषाण-मात्र है, जिसकी बनी हुई चक्की के दोनों पाटों से वैदिक ऋषि की माता अन्न पीसती थी और न ही यह संस्कृति वह चरखा है, जिसमें अनेक लोग अपनी प्रवृत्तियों को मूर्तिमान देखते हैं। सभ्यता ने अनेक रूप धारण किए हैं वह दूसरों से समय-समय पर उधार के रूप में ग्रहण की गई है। हमारे सामाजिक और धार्मिक विश्वास समय के साथ-प्रत्येक युग की सभ्यता के साथ बदलते रहे हैं। हमें संस्कृति

को अविच्छिन्नता और निरंतरता के रूप में प्राप्त करना है, या फिर एकता की चेतना में।

एस. आबिद हुसैन ने अपनी पुस्तक 'भारत की राष्ट्रीय संस्कृति' में उल्लेख किया है, ''यदि हम भारत के सांस्कृतिक इतिहास का अध्ययन करते हैं तो पाते हैं कि जब कभी कोई नई विचारधारा, चाहे वह यहीं पैदा हुई या बाहर से आई, उसने विद्यमान मतभेदों को अस्थायी रूप से बढ़ा दिया। किंतु जैसे ही भारतीय मानस ने विविधता में एकता की प्रक्रिया प्रारंभ की, कुछ समय पश्चात ही एक नई संस्कृति की आधारशिला रखने हेतु उन परस्पर विरोधी तत्वों में सामंजस्य स्थापित हो गया।

बीसवीं सदी के प्रारंभ तक इतिहासकारों का मत रहा है कि भारत में संस्कृति की द्वितीय अवस्था, लगभग 1500 वर्ष ईसा पूर्व आर्यों के आगमन के बाद प्रारंभ हुई, इसलिए वह भारतीय संस्कृति प्राचीन संस्कृतियों में सबसे नवीन मानी जाती थी। किंतु इस सदी के चौथे दशक में भारत के पुरातत्व विभाग ने हड़प्पा और मोहनजोदड़ो की खोज करके यह प्रमाणित कर दिया है कि लगभग 5000 वर्ष पूर्व तक सिंधु घाटी में सभ्यता विद्यमान थी और यह सिर्फ सिंधु घाटी तक ही सीमित नहीं थी, वरन् देश के अन्य भागों में भी इसका विस्तार था।

चूंकि मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की मोहरों पर अंकित चित्रलेखों का अभी तक अर्थ नहीं निकाला जा सका है, इसलिए सिंधु घाटी के प्राचीन निवासियों के मानसिक और आध्यात्मिक जीवन के सम्बंध में कम ज्ञात है। प्राप्त सामग्री के आधार पर यह निष्कर्ष अवश्य निकाला गया है कि उनके धार्मिक विश्वास और व्यवहार कुछ सीमा तक हिंदुत्व की झलक देते हैं। सिंधु घाटी के लोगों द्वारा देवी की पूजा बाद की शक्ति पूजा में झलकती है। कुछ मुहरों पर शिव के समान भगवान का रूप देखा गया है। नदियों, पशुओं तथा पीपल की पूजा की जानकारी भी उसी काल से मिलती है।

लगभग 2000 ईसा पूर्व, जब उत्तर-पश्चिम भारत में सिंधु घाटी सभ्यता आक्रमणकारियों द्वारा नष्ट की जा रही थी, तब दक्षिण भारत में द्रविड़-तमिल संस्कृति विकास के बहुत ऊंचे स्तर तक पहुंच चुकी थी। पुरातत्वीय खोजों से, सिंधु घाटी संस्कृति और तमिल संस्कृति के बीच एक लम्बे समय तक व्यावसायिक व सांस्कृतिक आदान-प्रदान के संकेत मिलते हैं। स्पष्ट है कि भारत की संस्कृति के इतिहास में शून्य या रिक्तता की स्थिति नहीं रही।

बलूचिस्तान के कुछ भागों में बोली जाने वाली ब्रोही भाषा में लगभग 50 प्रतिशत द्रविड़ शब्दों का प्रयोग इस बात का निश्चित प्रमाण है कि इन दोनों सभ्यताओं में निकट संबंध थे। शोध कार्यों ने यह सामने रखा है कि इस विकसित सभ्यता में कृषि एवं अभियांत्रिकी उन्नत स्थिति में थी, नदियों पर सिंचाई हेतु बांध बनाए जाते थे, समुद्र एवं थल मार्ग से व्यापार होता था और द्रविड़ों की अपनी लिपि, अंक प्रणाली और कैलेंडर था।

ईसा के लगभग 1500 वर्ष पूर्व सिंधु घाटी की सभ्यता के विनाश के बाद उत्तर-पश्चिम अप्रवासी आर्यों ने उत्साह एवं जीवन शक्ति से भरपूर नई संस्कृति की नींव रखी। ये आर्य यद्यपि भौतिक सभ्यता में उतने आगे नहीं थे, लेकिन इनका आध्यात्मिक स्तर काफी ऊपर था। इन्होंने न तो मंदिरों का निर्माण किया और न ही मूर्तियों की पूजा की। वस्तुतः इन्हें सत्य का मार्ग ज्ञात था। ऋग्वैदिक काल का सात्विक रूप काल चक्र प्रवर्तन के अनुसार विकसित हुआ और उत्तर-वैदिक काल (1000-600 ई.पू.) में ही हेतु मूल जानने, परमात्मा की खोज, पुनर्जन्म के सिद्धांत और पुनर्जन्म (आवागमन) के चक्र से मुक्ति की खोज की जिज्ञासा जागृत हुई।

आर्यों का सबसे अधिक विस्तार 800-550 ई.पू. में हुआ और इसी अवधि में अनार्यों की संस्कृति का भी प्रभाव आर्य संस्कृति पर पड़ा। वैदिक सभ्यता बाद की हिंदू सभ्यता की ओर बढ़ चली। दक्षिण में आर्यों का जो भी प्रभुत्व या प्रभाव पड़ा, वह किसी भी रूप में विजय या आधिपत्य से नहीं जुड़ा है। यह एक सांस्कृतिक क्रिया थी, जो दक्षिण में गहरी पैठ बना रही थी। जनश्रुति यह है कि अगस्त्य मुनि, जिन्होंने पहला तमिल व्याकरण 'अगतियम' लिखा, आर्य मिशनरी थे, जो दक्षिण में वैदिक धर्म के प्रचार हेतु आए थे।

संभवतः यही समय था जब पौराणिक परंपराएं 'महाभारत' एवं 'रामायण' के रूप में स्थायित्व प्राप्त कर रही थीं। धर्म के क्षेत्र में भी नई-नई बातें सामने आ रही थीं, जो वैदिक धर्म से कई मायनों में भिन्न थीं और कई मामलों में विपरीत थीं। इन्हीं परिवर्तनों ने संभवतः बाद के हिंदू धर्म को एक सुनिश्चित आकार दिया। सामाजिक जीवन और भौतिक संस्कृति हिंदू समाज के चार वर्णों को स्थायी रूप प्रदान कर रही थी। लोहे का प्रयोग होने लगा था। हाथी पालतू पशु के रूप में मनुष्य के साथ रहने लगा। इसके अतिरिक्त आदिवासी

सरदारों के कबीले अस्तित्व में आने लगे। जाति प्रथा की जटिलता बढ़ने लगी। इसका प्रमुख कारण यह प्रतीत होता है कि स्वतंत्र कबीलों को भी आर्यों के समाज में उचित स्थान देना पड़ा, क्योंकि अधिकांश जीते गए इलाकों में इनकी संख्या बहुत अधिक थी। इन्होंने आर्यों की वैदिक संस्कृति को कई प्रकार से प्रभावित किया।

अनार्यों के प्रभाव का ही यह परिणाम था कि प्राचीन आर्य देवताओं ने अपना पूर्व महत्व खो दिया। दूसरे शब्दों में कहा जाए तो पूरा उपमहाद्वीप एक संस्कृति के दायरे में आ गया। यह संस्कृति ऐसी थी, जिसमें आर्यों और अनार्यों ने बराबर का योगदान दिया था।

किंतु कालांतर में हिंदू धर्म में अनेक विसंगतियां आ गईं। आडंबर बढ़ गया। कर्मकाण्डों की महत्ता सर्वोच्च हो गई। परिणामस्वरूप हिंदू दर्शन और विचारधारा को चुनौती देने वाले मत भी सामने आए। इनमें जैन और बौद्ध प्रमुख थे। इन्होंने जो सिद्धांत प्रतिपादित किए, वे कर्मकाण्डों से अछूते एवं अनावश्यक बंधनों से मुक्त थे। इन मतों की लोकप्रियता ने हिंदू विचारकों को प्रेरित ही नहीं, वरन् बाध्य भी किया कि वे हिंदू धर्म में परिवर्तन लाएं। इस प्रयास में कई सुधार हुए। हिंदू धर्म को लचीला और व्यापक बनाया गया ताकि उभरने वाले सभी मत इसमें समा सकें। परिणामस्वरूप षड्दर्शन का निर्माण हुआ। बौद्धिक और सांस्कृतिक जीवन में एक हलचल पैदा हुई। महाभारत और भागवतगीता पर मंथन हुआ। उपनिषद अपना दर्शन बिखेरने लगे। उपनिषद के अनुसार "ईश्वर सत्य का नाम है, ईश्वर बुद्धि का नाम है, ईश्वर पुण्य का नाम है, ईश्वर असीम का नाम है और ईश्वर प्रेम का नाम है।" इसमें प्रेम पर बल है। प्रेम से ही हमारा अस्तित्व है। प्रेम की ही ओर हम बढ़ रहे हैं और फिर प्रेम में ही समा जाते हैं।

विष्णु और शिव के अलग-अलग उपासक बने। त्रिदेव की महिमा सामने आई। आलोचकों ने यह गलतफहमी फैलाई कि हिन्दू तीन ईश्वरों के भक्त हैं। ईश्वर के भिन्न-भिन्न गुणों को एक-दूसरे से नुमाया करके उनके अलग-अलग नाम दिए गए हैं, इससे भी भ्रम पैदा हुआ कि हिंदू 33 कोटि देवताओं को मानते हैं। लेकिन यह गलतफहमी उचित नहीं है, क्योंकि असली सिद्धांत जिसकी निस्वत सब हिंदू विद्वान और बुद्धिमान एकमत हैं, वह यह है कि ईश्वर एक है और उसमें कोई शामिल नहीं है।

साथ ही साथ समानांतर रूप से चल रहे जैन और बौद्ध मतों ने भी भारतीय संस्कृति को व्यापक रूप से प्रभावित किया। हालांकि वर्ण व्यवस्था में उतनी ढील तो नहीं आई, किंतु कुछ लचीलापन अवश्य आया। वैश्य जाति को कुछ महत्व दिया गया। पशु बलि में इन मतों के कारण ही कमी आई, शाकाहार का महत्व बढ़ा। कला, साहित्य, वास्तुकला भी इनके प्रभाव से बचे न रहे।

तथापि, इन मतों की ही वजह से हिंदू धर्म परिष्कृत और परिमार्जित हुआ तथा एक बार फिर जन मानस पर अपनी पकड़ बनाने में सफल रहा। गुप्तकाल हिंदू सभ्यता का स्वर्णिम काल माना जाता है। ए.एल. बाशम ने भी गुप्त वंश के उदय से लेकर हर्षवर्धन की मृत्यु तक के समय को भारतीय सभ्यता का गौरवशाली काल माना है।

गुप्त काल में लौकिक साहित्य ने उल्लेखनीय प्रगति की। इसमें चिकित्सा, गणित और ज्योतिष शास्त्र सबसे अधिक महत्वपूर्ण माने जाते थे। संस्कृत ने पुनः धर्म, शास्त्र और साहित्य की भाषा के रूप में अपना स्थान बना लिया था। इस काल के महान शिक्षा शास्त्रियों का न केवल भारत के बल्कि विश्व के विज्ञान जगत में ऊंचा स्थान था। आर्यभट्ट, वाराहमिहिर और ब्रह्मगुप्त के गणित और ज्योतिष में, चरक और सुश्रुत के चिकित्सा विज्ञान में किए गए शोधों ने दूसरे देश के वैज्ञानिकों का शताब्दियों तक मार्ग दर्शन किया तथा अरब और अन्य इस्लामी देशों के विज्ञान सम्बंधी विचारों पर सीधा तथा यूरोप पर अप्रत्यक्ष प्रभाव डाला। साहित्य की जिस शाखा ने इस काल में सबसे उल्लेखनीय प्रगति की, वह नाटक था। भास संभवतः पहले नाटककार थे, जिन्होंने राजदरबारी या सांसारिक नाटकों के क्षेत्र में विशिष्ट स्थान प्राप्त किया। वे कालिदास के पूर्ववर्ती थे, जो ईसा पूर्व की चौथी या पांचवीं शताब्दी में रहे। कालिदास को सर्वमत से भारतीय नाटककारों और कवियों के सम्राट के रूप में मान्यता प्राप्त है। इनके अतिरिक्त, भवभूति, भारवि जैसे नाटककार उनके ही समकालीन थे। सातवीं शताब्दी में भर्तृहरि भी अपने क्षेत्र में अद्वितीय थे। वे थोड़े काव्य रत्नों के लिए विख्यात हैं, जिन्हें शतक कहा जाता है। इनमें कला कौशल और सिद्धांतों की गहराई परिलक्षित होती है।

लेकिन गुप्त शासकों के कमजोर होते ही राजनीतिक बिखराव प्रारंभ हो गया। हालांकि हर्षवर्धन ने साम्राज्य निर्माण की एक कमजोर कोशिश अवश्य

की, लेकिन ह्रास न रुका। बाणभट्ट ने *हर्षचरित* की रचना की, जिसकी सहायता से इस काल के बारे में जानकारी मिलती है। हर्षवर्धन के बाद लगभग 300 वर्षों का समय राजनैतिक फूट और बौद्धिक निष्क्रियता का समय था। देश अनेक छोटे-छोटे राज्यों में विभाजित हो गया था और राष्ट्रीय एकता की भावना लगभग गायब ही हो गई थी।

आक्रमणकारी शक, हूण और गुर्जरों ने गुप्त साम्राज्य का अंत कर दिया और भारत में बस गए। ग्यारहवीं सदी तक ये जातियां संपूर्ण भारत में फैल गई थीं और इन्होंने प्राचीन बड़े राज्यों के अवशेषों पर अपने बहुत से छोटे-छोटे राज्य स्थापित कर लिए थे। किंतु ये अपनी सांस्कृतिक पहचान न बनाए रख सके। भारत के सांस्कृतिक जीवन को देखकर उन्होंने क्रमशः हिंदू धर्म और संस्कृति को अपना लिया। हिंदू समाज में ऊंचा स्थान प्राप्त करने के लिए उन्होंने अपने को प्राचीन क्षत्रिय वीरों का वंशज बताया और स्वयं को राजपूत कहने लगे।

इन राजपूतों ने हिंदू समाज के दुर्बल शरीर में ताजा रक्त भरा। राजपूत दरबार कला, साहित्य-कविता और नाटक के केंद्र बन गए। विशेषकर मालवा के राजा भोज ने (1018 ई. से 1055 ई.), जिन्हें द्वितीय विक्रमादित्य के नाम से जाना जाता है, कला और विद्या को संरक्षण प्रदान कर गुप्त सम्राटों की स्मृति ताजा की। इसके पहले कन्नौज के महींद्रपाल विख्यात नाटककार शेखर के संरक्षक थे। इस काल के अंत में बंगाल के राजा लक्ष्मण सेन ने *गीत गोविंद* के रचयिता जयदेव के संरक्षक के रूप में कविता और साहित्य को खूब बढ़ावा दिया। विद्याध्ययन और साहित्य का यह नवजागरण कश्मीर भी पहुंचा सोमदेव ने *'कथा-सरित्सागर'* और कल्हण ने *'राजतरंगिणी'* की रचना की।

राजपूतों के अधीन शिल्पकला ने भी बहुत विकास किया। चित्तौड़, रणथंभौर, मांडू और ग्वालियर के किले तथा खजुराहो (बुंदेलखंड) और भुवनेश्वर के मंदिर उनके यश के प्रमाण हैं। लेकिन इस काल में संस्कृति का प्रवाह उल्टा हो गया। कई तरह की सामाजिक बुराइयां सामने आ गईंः जैसे बाल विवाह, बालिका वध, सती प्रथा आदि।

इस समय, दक्षिण भारत सभ्यता के अतिरेक तथा विदेशी आक्रमणकारियों के प्रभावों से मुक्त था। इसलिए वह उत्तर की भांति राजनीतिक फूट का शिकार नहीं हुआ। चालुक्यों, राष्ट्रकूटों, पल्लवों, चोलों और पांड्यों ने शक्तिशाली राज्यों

की स्थापना की और आर्य संस्कृति जैसी संस्कृति को बढ़ावा दिया। दक्षिण में अनुकूल परिस्थितियों ने बौद्धिक जीवन को निष्क्रियता से बचा लिया। यहां यह काल धार्मिक विचारों के क्षेत्र में उल्लेखनीय आंदोलन और गतिविधियों के कारण महत्वपूर्ण बन गया। ईसा के बाद 7वीं शताब्दी में शैविते तथा विश्नाविते संतों के दो धर्म संघों ने अपनी धार्मिक भावना के उत्साह से प्रेरित होकर प्रेम और उपासना के पंथ को प्रचारित करने हेतु पुराणों की शिक्षा को तमिल छंदों में प्रस्तुत किया, जिसे बाद में भक्ति कहा गया।

दूसरी तरफ शंकराचार्य ने उत्तर मीमांसा की अपनी टीका के द्वारा वेदांत धर्म को पुनरुज्जीवित किया। फिर रामानुज ने अपनी व्याख्याएं दी, माधवाचार्य ने भी 'एकमेवाद्वितीयम' को अपने तरीके से रखा। कुछ इतिहासकार इस पुनरुत्थान को विदेशी यानी क्रिश्चियन धर्म की प्रतिक्रिया मानते हैं, किंतु डॉ. ताराचंद ने अपनी पुस्तक 'भारतीय संस्कृति पर इस्लाम का प्रभाव' में यह सिद्ध किया है कि ये आंदोलन इस्लाम से प्रेरित थे। बहरहाल, धार्मिक जीवन में गतिशीलता तो आई।

भागवतपुराण की रचना तमिल भूमि में हुई। कांसे की ढलाई का कार्य भी यहीं प्रारंभ हुआ। दक्षिण भारत के इन राज्यों ने कला और वास्तुकला के क्षेत्र में भी उल्लेखनीय योगदान दिया। पल्लव शैली में बना मामल्लपुरम का मंदिर पल्लव राजाओं की देन है। द्रविड़ शैली में राजराजा चोल ने तंजौर मंदिर का निर्माण करवाया। राष्ट्रकूटों की छत्रछाया में ऐलोरा का कैलाश मंदिर बना। होयसलों ने होयसलेश्वर मंदिर का निर्माण कराया। चित्रकला भी इस काल में काफी विकसित हुई।

लगभग इसी समय अरब के मुसलमान सिंध आए और इस क्षेत्र पर अपना आधिपत्य जमाया। इन्हें अपना धर्म मानने, उसे फैलाने की भी स्वतंत्रता हासिल हुई। किंतु दिल्ली सल्तनत की स्थापना ने वह मंच प्रदान किया, जहां हिंदू और मुस्लिम संस्कृतियों का सही मेल हुआ। सांस्कृतिक समझ का विकास हुआ। सल्तनत की स्थापना एक नए युग का भी संकेत थी। हर्ष की मृत्यु के बाद 500 वर्षों में पहली बार भारत में पर्याप्त राजनीतिक एकता आई।

राजनीतिक एकता के इस नए दौर में वास्तुकला को नए आयाम मिले। चित्रकला की नई शैली विकसित हुई। संगीत में नए प्राण फूंके गए। जौनपुर

के सुल्तान हुसैन शार्की और बीजापुर के इब्राहिम आदिल शाह उस दौर में संगीत की पहचान थे। सूफी चिंतन और भक्ति धारा के मेल से कुछ धार्मिक माहौल बना। एस. आबिद हुसैन कहते हैं, ''यद्यपि वे धर्म को अनुष्ठानों और कर्मकाण्डों के बंधन से मुक्त तो न करा सके, किंतु धार्मिक निष्क्रियता को तोड़ा और उसे एक नए आंदोलन का रूप, प्रवाह, ताज़गी और जीवन दिया। ऊपरी तौर पर वे हिंदुत्व और इस्लाम की धाराओं को नहीं मिला सके, किंतु उन्होंने दर्शाया कि वे झरने, जिससे उन्हें जीवन मिलता है, कहीं न कहीं नीचे मिलते हैं। उन्होंने भारत में धार्मिक सद्भावना का वातावरण तैयार किया; जो मध्ययुग में देखने को नहीं मिला।'' इसके अतिरिक्त शास्त्रीय संस्कृत के स्थान पर बोलचाल की भाषा कविताओं में आई। उत्तर भारत में उर्दू सामान्य भाषा बन गई।

सामान्य तौर पर दक्षिण भारत के राज्यों में हिंदुओं और मुसलमानों के बीच करीबी और सौहार्दपूर्ण सम्बंध देखने को मिला। बहमनी साम्राज्य के विघटन के बाद अस्तित्व में आए राज्यों ने भी उदार परंपरा कायम रखी। वस्तुतः दक्षिण में ही उर्दू साहित्यिक भाषा के रूप में विकसित हो पाई। हिंदू-मुस्लिम सौहार्द के सम्बंध में कश्मीर के राजा जैन-उल-अबीदीन का संदर्भ अपरिहार्य हो जाता है। हिंदू संस्कृति की व्यापक समझ हेतु संस्कृत की पुस्तकों का फारसी में अनुवाद कराने के अतिरिक्त उसने कला और हस्तशिल्प को भरपूर संरक्षण प्रदान किया। इसे हम सम्राट अकबर का अग्रगामी मान सकते हैं।

लोदी सुल्तानों के चरमराते साम्राज्य को बाबर ने 1526 में जीतकर जिस मुगल साम्राज्य की नींव डाली, उसी के सम्राट अकबर महान ने भारत को पुनः राष्ट्रीय एकजुटता के सूत्र में बांधा और एक नई संस्कृति का सूत्रपात किया, जिसे हम हिंदुस्तानी संस्कृति के नाम से जानते हैं। नए भारत राष्ट्र की सबसे महत्वपूर्ण विशिष्टता, जो अकबर के द्वारा उत्पन्न की गई, यह थी कि वह समुदाय की धार्मिकता पर नहीं, बल्कि उसी राज्य की नागरिकता पर आधारित थी। दिल्ली सल्तनत की स्थापना के तुरंत बाद, सामुदायिक जीवन के आधार के रूप में राज्य को धर्म का स्थान ले लेना चाहिए था, किंतु परंपराओं की शक्ति इतनी प्रबल थी कि यह आवश्यक परिवर्तन मुगल वंश के उत्थान तक रुका रहा।

धर्म निरपेक्ष और गैर-सांप्रदायिक राज्य की अवधारणा अकबर के दिमाग में बिल्कुल स्पष्ट थी। ऐसा लगता है कि अकबर पूरी तरह सचेत था कि राज्य

की एकता हेतु उसने जो नींव रखी है वह इस बात पर निर्भर करती है कि आम जनता का राजा के व्यक्तित्व के प्रति कितना लगाव है। इसीलिए अकबर ने जनता से सीधे सम्पर्क पर बल दिया, जो किसी मुसलमान राजा ने सोचा भी न होगा। अकबर ने प्रशासनिक दृष्टि से भी कई सुधार किए, ताकि भेदभाव न रहे। इसी तरह सती प्रथा को बंद कराकर आधुनिक काल के राजाराम मोहन राय का अग्रगामी बनने का श्रेय भी प्राप्त किया।

साहित्य के क्षेत्र में अनुवाद कार्य बड़े जोरों से चला। अथर्ववेद, रामायण, महाभारत, उपनिषद भागवत्‌गीता इत्यादि का फारसी में अनुवाद कराया गया। इतिहास लेखन की नींव डली। वृंदावनदास, सुजान राय, चंद्रभान ब्रह्म, भीमसेन और ईश्वर दास की कृतियां किसी भी समकालीन मुसलमान इतिहासकारों की कृतियों से किसी भी मायने में कम नहीं थी। अब्दुल रहीम खानखाना, गंगा, नरहरि, बीरबल, केशवदास, बिहारी, देव, रसखान उस काल के कुछ ऐसे नाम हैं, जो कविता को बड़ी ऊंचाइयों तक ले गए।

वास्तुकला भी उतनी ही विकसित हुई, जितनी अन्य विधाएं। हुमायूं का मकबरा, लाल किला, ताजमहल, बुलंद दरवाजा, जामा मस्जिद इत्यादि कुछ ऐसी इमारतें हैं, जो मुगलकालीन संस्कृति की परिचायक हैं। आबिद हुसैन लिखते हैं, ''पर्शियन के साथ भारतीय मस्तिष्क के सहयोग तथा भारतीय पदार्थों के साथ साहसिक प्रयोगों ने एक नयी शैली को जन्म दिया, जिसमें विभिन्न तत्व पूर्ण समन्वय के साथ ऐसे मिले हुए हैं कि अब भारतीय और विदेशियों के रूप में उनका विश्लेषण यदि संभव भी हो तो वह कोई अर्थ नहीं रखता।''

इस काल में चित्रकला ने भी प्राचीन भारतीय शैली के साथ तुर्की-ईरानी शैली को मिलाकर एक नई शैली विकसित की, जिसमें दोनों का आकर्षण था। हिन्दू शैली के यथार्थवादी और प्रभावोत्पादक सादगी के प्रशंसक अकबर ने एक नई शैली बनानी चाही, जिसमें इसकी सादगी और पर्शियन शैली की सूक्ष्मता का समावेश हो। इसीलिए उसने अपने राजदरबार में चित्रकला अकादमी के एक ऐसे अंग की स्थापना की, जहां दोनों प्रकार के कलाकार एक साथ कार्य करते थे।

मुगल सम्राट जहांगीर के काल से ही यूरोपियनों का आगमन प्रारंभ हो गया था। व्यापार के नाम पर इनके केंद्र अलग-अलग बंदरगाहों पर स्थापित हुए।

कुछ नई चीजें भी ये लाए, जैसे भारत में आलू पुर्तगाली लाए। तम्बाकू, अनानास, मिर्च भी इन्हीं की देन है।

यहां यह उल्लेख करना अनावश्यक न होगा कि मुगलों के समय ही सिख एक लड़ाकू कौम के रूप में स्थापित हो चुके थे। लेकिन अंग्रेजों ने अपनी सत्ता ऐसे समय में जमाई जब मुगल साम्राज्य का पतन हो रहा था, सिख कमजोर थे तथा मराठों का भी अस्तित्व नहीं था। सांस्कृतिक ह्रास भी स्पष्टतः दृष्टिगोचर हो रहा था।

जहां तक अंग्रेजों के सांस्कृतिक प्रभाव का प्रश्न है, भारतीय मानस पर उसकी विशेष छाप न पड़ी। रेलवे और टेलीग्राफ आदि के रूप में यांत्रिक विकास ही पश्चिमी सभ्यता का एकमात्र पहलू था, जिसने लोगों में सामान्य तौर पर आश्चर्य एवं प्रशंसा के भाव पैदा किए। अंग्रेजी संस्कृति केवल कलकत्ता तथा कुछ अन्य शहरों में एक छोटे से समूह को छोड़कर शेष भारतीयों पर कोई प्रभाव दिखाने में असफल रही। आबिद हुसैन ने इंगित किया है, ''पश्चिमी सभ्यता का अंतर्निहित गुण उसकी आधुनिक वैज्ञानिक मनोवृति और व्यावहारिक कार्यकुशलता में निहित था। किंतु दुर्भाग्यवश भारतीय समाज की रक्तहीन काया में जिस प्रकार आधुनिकता का ताजा रक्त चढ़ाया गया, उससे महत्वपूर्ण घटक तो न मिल पाए, बल्कि अच्छा होने की बजाय बुरा अधिक हुआ।''

मुगलों की भांति अंग्रेजों ने कभी भी भारत को अपना घर नहीं माना। उन पर उनकी जातीय सर्वोच्चता का ऐसा भूत हावी रहा कि वे कभी भारतीयों के करीब न आ पाए। खान-पान, पहनावा, भाषा इत्यादि को लेकर उन्हें अजीब सनक घेरे रहती। इसी सनक को कुछ भारतीयों ने भी अपनाया और अंग्रेज होने का भ्रम पाले रहे। अंग्रेजों ने स्वयं को भारतीय संस्कृति से अलग रखने का जो निर्णय लिया था, उसने ऐसा वातावरण बनाया कि व्यापक रूप से भारतीय संस्कृति प्रभावित न हो पाई।

हां, ब्रिटिश राज ने भारत को नुकसान अवश्य पहुंचाया। आर्थिक शोषण किया। परम्परागत हस्तशिल्प एवं कला को नष्ट किया। भूमि को खरीद-फरोख्त की वस्तु बना दिया। असंख्य भारतीयों को मौत के घाट उतारा। और, इन्हीं सब की प्रतिक्रिया स्वरूप उनके विरुद्ध ऐसा तूफान उठा कि ब्रिटिश राज की चूलें हिल गईं। हालांकि जाते-जाते उन्होंने देश को बांट अवश्य दिया, लेकिन

भारतीयों को जगा भी दिया कि यदि देश की एकता व अखंडता के प्रश्न पर मौन रहे तो परिणाम भयानक होंगे।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद ऐसे प्रयास किए गए कि देश एकजुट रहे। सुधारों की गति तेज की गई। दलितों, पिछड़ों, महिलाओं की बेहतरी हेतु कानून बने। देश की अखंडता के लिए जाति, धर्म, भाषा की विभाजक शक्तियों को नियंत्रित करने की आवश्यकता महसूस हुई। विविधता में एकता का महामंत्र पुनः उद्घोषित हुआ। संस्कृति को अक्षुण्ण रखते हुए नये विचारों का भी स्वागत हुआ। आज का भारत एक ऐसे दौर से गुजर रहा है, जिसे हम संक्रमणकाल कह सकते हैं। आधुनिकता और परंपरा के सही संतुलन की आवश्यकता है। कथनी-करनी का अंतर मिटाना है और 'सत्यम् शिवम् सुंदरम' को फिर से अपनाना है। यद्यपि, आज ऐसे कई खतरे मौजूद हैं, जो देश की एकता के लिए ठीक नहीं है, फिर भी हम अपनी राजनीतिक इच्छाशक्ति और सदेच्छा से देश को पुनः उन्हीं बुलंदियों की ओर ले जा सकते हैं, जिन्हें देखकर पूरा विश्व ईर्ष्या करता था। हमें अपनी सांस्कृतिक धरोहर को संभालना है तथा जय जवान, जय किसान और जय विज्ञान के नारे को अक्षरशः सही साबित कर दिखाना है।

भारत का इतिहास हजारों वर्षों से सैकड़ों संस्कृतियों के सम्मिलन का इतिहास रहा है। भूमंडलीकरण के इस दौर में भारत आर्थिक महाशक्ति बनने की राह पर अग्रसर है और सांस्कृतिक रूप से समृद्ध इस महान देश में आज विश्व स्तर पर रुचि ली जा रही है।

भारत रंगों का, मेलों का, पर्वों का, आस्था के उत्सवों का भी देश है। पूरे वर्ष यहां कोई न कोई सांस्कृतिक गमक रहती ही है। गणेश चतुर्थी के दौरान महाराष्ट्र, दुर्गा पूजा के दौरान बंगाल, रथयात्रा के दौरान ओडिशा, बैसाखी के दौरान पंजाब, मकर संक्रांति के दौरान नवान्न पर्व पोंगल, पशु मेले का सोनपुर, हस्तशिल्प का सूरजकुंड, कुंभ के दौरान हरिद्वार-उज्जैन, ओणम के दौरान केरल इत्यादि। दुनिया की विभिन्न नागरिकताएं भारत की इन अद्भुत सांस्कृतिक रंगतों की ओर भी आकृष्ट हैं। विदेशी युगल भारतीय रीति-रिवाजों के अनुरूप दाम्पत्य बंधन में, बंधने के लिए भारत चले आते हैं; नवरात्रि के दौरान विदेशी पर्यटकों का रेला गुजरात आ पहुंचता है और डांडिया-गरबा में झूम-झूम कर थिरकता है। देशी-विदेशी पर्यटक होली के दौरान ब्रज और मणिपुर में, दशहरे के दौरान मैसूर में और निश्चित तिथियों को विभिन्न तीर्थस्थानों पर सैकड़ों-सहस्त्रों की

संख्या में पहुंच ही जाते हैं। ठीक ऐसी ही स्थिति सांस्कृतिक रूप से समृद्ध अन्य देशों में भी है। मैक्सिको का 'डे ऑव डैड' तथा रियो डी जेनिरो (ब्राजील) का कार्निवाल बड़े पैमाने पर सांस्कृतिक उत्सव हैं। इसी प्रकार सेशल्स का क्रियोल उत्सव भी विश्व में जाना-पहचाना सांस्कृतिक कार्यक्रम है।

लोग अपनी सांस्कृतिक पहचान से रूबरू होने, अपने लोक रंगों में स्वयं को फिर से रंग कर ताजा होने के लिए सांस्कृतिक कार्यक्रमों में खींचे चले आते हैं।

दुनिया भर में फैले करोड़ों प्रवासी भारतवंशी भी समय-समय पर भारत आकर अपनी सांस्कृतिक जड़ों से जुड़ने के साथ-साथ भारत की आर्थिक प्रगति में योगदान दे सकते हैं। हमारे 'गरबा' और 'भांगड़ा' में भी 'सालसा' और 'साम्बा' के समान भौगोलिक सीमाओं को लांघकर लोकप्रिय होने की अपार संभावनाएं निहित हैं।

यूनेस्को की सूची में सूचीबद्ध भारत की अमूर्त सांस्कृतिक विरासत

क्र.सं.	मद	वर्ष
1.	कुटियट्टम संस्कृति	2008
2.	वैदिक मंत्रोच्चारण की परम्परा	2008
3.	रामलीला-रामायण का परम्परागत प्रदर्शन	2008
4.	नोवरूज, नौरूज, नूरूज, नवरूज, नौरोज, नेवरूज	2009
5.	रम्मन गढ़वाल हिमालय, भारत के धार्मिक पर्व एवं अनुष्ठानिक रंगमंच	2009
6.	छऊ नृत्य	2010
7.	राजस्थान के कालबेलिया लोक गीत एवं नृत्य	2010
8.	मुडियट्ट, केरल के अनुष्ठानिक रंगमंच और नृत्य नाटक	2010
9.	लद्दाख का बौद्ध मंत्रोच्चारणः ट्रांस हिमालय लद्दाख क्षेत्र जम्मू और कश्मीर, भारत में धार्मिक बौद्ध पुस्तकों का सरस्वर पाठ	2012
10.	मणिपुर का संकीर्तन नृत्य	2013

अध्याय-2

धर्म एवं दर्शन

धर्म अपने विस्तृत अर्थों में संस्कृति के समान है और उससे बाहर भी है तथा संकुचित अर्थों में उसका महत्वपूर्ण अवयव बनता है। जहां धर्म आंतरिक अनुभूतियों के महत्व को प्रकट करता है, जिससे जीवन के अर्थ और उद्देश्य का ज्ञान हो, वहां वह संस्कृति की मूल आत्मा होता है और जहां धर्म बाह्य रूप में प्रयुक्त होता है, जिसमें आंतरिक अनुभूतियां प्रतिबिंबित होती हैं, वहां वह संस्कृति का एक अंशमात्र रह जाता है। धर्म उच्चतम सत्य की आंतरिक उपलब्धि के रूप में कभी संस्कृति का विरोधी नहीं हो सकता, किंतु जब वास्तविक धर्म का ह्रास होता है और वह सारहीन बन जाता है, तब अक्सर संस्कृति से उसका टकराव होता है।

धर्म निरंतर परिवर्तित होते रहने वाला अनुभव है। इसे हम दैवी सिद्धांत नहीं मान सकते। वरन् यह एक आध्यात्मिक चेतना है। आस्था और आचरण, यज्ञ और अनुष्ठान, रूढ़िवादिता और अधिकार, आत्मावलोकन की कला और दैवी संबंधों के अधीन होते हैं। जब कोई व्यक्ति अपनी आत्मा को बाह्य गतिविधियों से परे रखता है और आंतरिक रूप में एकीकृत करता है तो उसे आश्चर्यजनक, किंतु पवित्र अनुभव होते हैं। इनसे उसे ऊर्जा मिलती है और उसकी स्वयं की सत्ता प्रकट होती है। तर्क और विज्ञान के मानने वाले भी आध्यात्मिक अनुभवों के प्राथमिक एवं सकारात्मक तथ्यों को मान्यता देंगे। यद्यपि हम धर्म विज्ञान के सम्बंध में विभिन्न विचारों एवं मतों का प्रतिपादन कर सकते हैं, किंतु तथ्यों की सत्यता से मुंह नहीं मोड़ सकते। धर्म का जो सबसे बड़ा गुण है बांधना, उसे हम अस्वीकार नहीं कर सकते। धर्म की विशालता, जिसमें सब कुछ समा सकता है, की अनदेखी नहीं कर सकते।

भारत भूमि भी ऐसी ही रही है, जहां धर्म के बाहर एवं भीतर अंतर्वलित

करने वाले ऐसे कारक विकसित हुए, जिन्होंने यहां की संस्कृति को नैरन्तर्य का वरदान दिया। यहां जीवन का हर पक्ष धर्म से प्रभावित रहा। ऐसे अवसर भी आए, जब धर्म को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से नए विचारों, मतों एवं व्याख्याओं का सामना करना पड़ा, किंतु तथ्यों के ठोस धरातल पर खड़ा धर्म सब को समेटे निर्बाध गति से समाज और जीवन शैली को संचालित करता रहा।

यूं तो भारत का आदि धर्म हिंदू धर्म ही रहा है, जिसे हम व्यापक अर्थों में हिंदू संस्कृति की संज्ञा देते हैं। कालक्रम से कई मत प्रचलन में आए और धर्म के रूप में प्रतिष्ठित हुए। इन्होंने एक बड़ी आबादी को प्रभावित किया और धार्मिक बहुलवाद का अभिन्न अंग बन गए। हिन्दू, बौद्ध, जैन और सिख धर्म की पुण्य स्थली भारत रही है। कुछ धर्म बाहर से भी आए, लेकिन भारतीय सभ्यता और संस्कृति की ताल-मेली प्रवृत्ति का लाभ लेकर इसका अभिन्न अंग बन गए। मुसलमान, ईसाई, बहाई, जरथ्रुस्ट, पारसी सभी यहां आकर यहीं के बन गए। कुछ स्वयं सीखा और कुछ अपना दिया। तभी एकाकार हो पाए और अपनी उत्तरजीविता बनाए रहे।

हिंदू धर्म

मूल रूप से 'हिंदू' शब्द न तो धर्म का प्रतीक था और न ही किसी विचारधारा का। इसके पीछे भौगोलिक परिस्थितियां थीं। प्राचीन ईरानियों ने सिंधु नदी के पूर्व क्षेत्र को 'हिंद' कहा और इस क्षेत्र में रहने वाले 'हिंदू' कहलाए। कालांतर में हिंदू शब्द धर्म और संस्कृति से जुड़कर रूढ़ हो गया और उस समय प्रचलित धर्म को 'हिंदू धर्म' की संज्ञा दी गई।

हिंदू धर्म को समस्त ऊर्जा वेदों से मिलती है। वेदों की संख्या चार मानी गई है ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद। सबसे प्राचीन ऋग्वेद है, जिसके कुछ भागों की रचना 1000 ई.पू. से पहले हुई थी। शेष वैदिक साहित्य की रचना बाद में हुई। आर्यों के जीवन और संस्थाओं के ऐतिहासिक पुनर्निर्माण का आधार यही साहित्य है। ऋग्वेद में 1028 सूक्त हैं, जिनमें आर्य देवताओं की स्तुतियां हैं और उनकी रचना पुरोहितों के विभिन्न परिवारों द्वारा की गई थी। अग्नि, वायु, वरुण, इंद्र, मित्र, सोम, उषा एवं अन्य देवताओं की स्तुति इसमें की गई है। सामवेद में ऋचाओं की संगीतमय प्रस्तुति है। यजुर्वेद उन तमाम कर्मकाण्डों

का विवरण देता है, जिन्हें पुरोहित करवाता था। सबसे बाद में लिखे गए अथर्ववेद में मंत्र-तंत्र, जादू टोने इत्यादि से सम्बंधित सूक्त हैं। हर वेद की टीकाएं लिखी गई, जिन्हें ब्राह्मण कहा गया। ब्राह्मणों की अनुक्रमणिकाएं अरण्यकोष और उपनिषद के रूप में जानी जाती हैं। अरण्यक वन में की जाने वाली तपस्या हेतु गुप्त मार्ग बताते हैं। उपनिषद (वेदांत) अस्तित्व एवं वास्तविकता का दर्शन है।

प्रसिद्ध जर्मन विद्वान शोपनहायर के अनुसार, ''उपनिषद मनुष्य के धार्मिक अभिज्ञान का सबसे बहुमूल्य वर्णन है। इन सुंदर रचनाओं ने मुझे यहूदी कर्मकाण्डों और बंधनों से मुक्त कर दिया। सारी पृथ्वी में उपनिषदों से बढ़कर सुंदर और उन्नत बनाने वाला कोई दूसरा ग्रंथ नहीं है। मुझे अपने जीवन में इससे बहुत संतोष मिला है और इसी से मुझे मृत्यु में भी संतोष मिलेगा।'' शोपनहायर आधुनिक समय के एक सौम्य और महान दार्शनिक तत्ववेत्ता थे। यह स्पष्ट है कि वह इन ग्रंथों को दूसरे ग्रंथों से, यहां तक कि ईसाई ग्रंथों से भी ऊपर रखते हैं।

प्रारंभिक वैदिक धर्म में मूर्तियों या मंदिरों का कोई स्थान नहीं था। वेदों की मूल शिक्षा एकेश्वर के विश्वास को प्रकट करती है और बार-बार वेदों में इसका जिक्र आता है, ''कोई सच्चा नहीं है, सिवाय इस ईश्वर के, जो सब पर छाया है, कुल सृष्टि का स्वामी है, जिसने सृष्टि का निर्माण किया है।'' अर्थात् 'एकमेवाद्वितीयम्'। इस काल में खुले स्थानों में यज्ञ किए जाते थे और हवन के माध्यम से मांस, मदिरा (सोम), दूध, घी इत्यादि का चढ़ावा चढ़ाया जाता था।

कालक्रम में अनेक कर्मकाण्ड एवं रीतियां इस धर्म से जुड़ीं। उस अदृश्य शक्ति के प्रतीकों या मूर्तियों की पूजा धीरे-धीरे प्रारंभ हुई। बहुधा हिंदू धर्म को जीवन शैली से जोड़ा जाता है। इसमें अनेकानेक देवताओं का स्थान है, उनकी पूजा की जाती है। लेकिन इसका बुनियादी रूप कर्म और सांसारिक सिद्धांतों से जुड़ा है। जैसा कि उपनिषद की मान्यता है कि मृत्यु के बाद प्रत्येक व्यक्ति की आत्मा जीवन में अच्छे और बुरे आचरण के अनुसार स्वर्ग या नरक में जाती है और कुछ समय रुकने के बाद श्रेष्ठ या निकृष्ट जीव, मनुष्य या पशु के रूप में पुनर्जन्म लेती है। यह प्रक्रिया निरंतर चलती रहती है। किंतु जब मनुष्य चरम सत्ता की प्राप्ति के द्वारा, सांसारिक सीमाओं से अपने आपको मुक्त करता है, तब वह कर्म और संसार के दुश्चक्र को तोड़ता है और मोक्ष प्राप्त करता है।

उपनिषदों के अनुसार जीवन में चार अवस्थाएं होती हैं, जिन्हें हम आश्रम के नाम से भी जानते हैं ब्रह्मचर्य आश्रम, गृहस्थ आश्रम, वानप्रस्थ आश्रम और संन्यास आश्रम। जीवन की तीर्थ यात्रा पर निकले मनुष्य को ज्ञान, सम्पत्ति, प्रेम और सेवा, इन सभी मूलों को एक के बाद एक क्रमबद्ध रूप से प्राप्त करना पड़ता है। किंतु ये सभी अवस्थाएं अंतरिम अवस्थाएं होती हैं, जिनसे होकर गुजरते हुए भी ध्यान तो अंतिम लक्ष्य पर ही केंद्रित होना चाहिए। यही गंतव्य एकात्मकता की प्राप्ति है, यानी मोक्ष है।

कर्म और सांसारिक सिद्धांतों का भी उपनिषद की शिक्षा में महत्वपूर्ण स्थान है। कर्म नैतिकता के संसार का एक आधारभूत नियम है। मनुष्य द्वारा किया गया हर अच्छा या बुरा कार्य उसके व्यक्तित्व को प्रभावित करता है। चेतन अवस्था में किए गए कार्य अचेतन रूप से आदतें बन जाती हैं और मनुष्य के चरित्र का हिस्सा हो जाती हैं। प्रतिक्रियास्वरूप चरित्र, कार्य और उसके परिणामों को निर्धारित करता है। यह एक दुश्चक्र है और इसी में हमारा ध्यान लगा रहता है। इससे निकलने का एक ही मार्ग है कि त्याग, बलिदान और सेवा भाव के माध्यम से व्यक्तिगत सोच से ऊपर उठकर सार्वभौमिक सोच तक पहुंचा जाए। इस स्तर पर मनुष्य कर्म की बाध्यकारी शक्ति से मुक्त हो जाता है।

वैदिक हिंदू युग की अनमोल विरासत उपनिषदों में दिया गया एकात्मकता का भाव है, जिसे हम सामान्य तौर पर वेदांत दर्शन के नाम से भी जानते हैं। तथापि, जीवन के चारों आश्रम और कर्म व संसार की अवधारणाएं हिंदुओं के धार्मिक विश्वास का न केवल महत्वपूर्ण अंग बन गई हैं, बल्कि भारतीय साहित्य और काव्य में भी अंगीभूत हो गई हैं। वेदांत से आगे चलते हुए मानव मन ने सत्य और वास्तविकता की खोज में स्वयं को लगाया। अनुशीलन एवं हेतुवाद के नए मार्ग तलाशे। चिंतकों ने अलौकिक समस्याओं पर नए सिरे से विवेचना की और हिंदुओं के षड्दर्शन की व्यवस्था सामने आई। इन छह दर्शनों में चार-सांख्य, न्याय, योग एवं वैशेषिक अपनी रचना में किसी अन्य से प्रभावरहित थे, जबकि पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा पर वेदों का प्रभाव था।

उपनिषदों की भांति सांख्य दर्शन भी ब्राह्मणों द्वारा प्रवर्तित कर्मकाण्डों और बलि प्रथा को अस्वीकार करता है और मन की शांति व मोक्ष के लिए अन्य मार्ग देखता है। वह शरीर और आत्मा को वास्तविक मानता है। दार्शनिक विचारों

में कपिल मुनि के इस सांख्य दर्शन का महत्वपूर्ण स्थान है, किंतु जीवन पद्धति के रूप में वह अधिक विकसित न हो सका, क्योंकि मोक्ष के लिए ऐसा मार्ग नहीं बताया गया, जिसे आम आदमी समझ सके। यह कमी बाद में पातंजलि के योग दर्शन द्वारा पूरी की गई।

सैद्धांतिक रूप से पातंजलि योग का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है, किंतु वह सांख्य दर्शन का व्यावहारिक परिणाम है। इसका उद्देश्य यह है कि मनुष्य की आत्मा प्रकृति के बंधन से मुक्त हो और सत्य की अनुभूति एवं मन की परम शांति प्राप्त करे। इसे ही योग कहा गया है। न्याय और वैशेषिक भी पूर्ण अनासक्ति एवं शांति की ही बात कहते हैं। किंतु ज्ञान का अर्थ अंतर्बोध नहीं बल्कि अवलोकन पर आधारित विज्ञान सम्मत ज्ञान, तर्क और प्रयोग है।

हिंदू दर्शन की बाकी की दो शाखाएं पूर्व-मीमांसा तथा उत्तर-मीमांसा उपरोक्त चारों से भिन्न हैं। इनका प्रेरणा स्रोत वेद है। पूर्व मीमांसा कहती है कि वेद ईश्वर प्रदत्त हैं, इसलिए उनके निर्देशों का पालन करना चाहिए। किंतु उनका संबंध वेदों के धर्म विज्ञान या नीतिशास्त्र से नहीं बल्कि केवल कर्मकाण्डों, धर्मानुष्ठानों, यज्ञ, भजन से सम्बंधित श्लोकों से है। यह एकतरफा झुकाव संभवतः उस समय के धर्म दर्शन के विरुद्ध प्रतिक्रिया थी, जिसने सभी आडम्बरों का बहिष्कार किया था। दूसरी तरफ, उत्तर मीमांसा ने एकात्मकता के सिद्धांत पर बल दिया है। ये दोनों मीमांसाएं एक ऐसे धर्म दर्शन का प्रतिनिधित्व करती हैं, जिसका उद्देश्य बौद्ध धर्म और जैन धर्म के विरुद्ध नैतिक हिंदू धर्म का समर्थन करना था।

इस काल की एक अन्य बड़ी उपलब्धि थी भगवद्गीता। युद्धक्षेत्र में अर्जुन को मोह हो आया था और वह युद्ध से इंकार कर रहा था। तब उसके सारथी बने श्रीकृष्ण ने उसे उपदेश दिया था। इन्हीं का संकलन भगवद्गीता में है। यह केवल उपनिषद् पर टीका नहीं, वरन् आंशिक रूप से उसकी पूर्ति करती है। उपनिषदों में धर्म के सैद्धांतिक पहलुओं पर बल दिया गया है, अर्थात् ब्रह्म की प्रकृति और आत्मा तथा उसकी पहचान पर। गीता में व्यावहारिक पहलू यानी, ब्रह्म की अनुभूति एवं मोक्ष की प्राप्ति के मार्ग के बारे में बताया गया है। मोक्ष प्राप्ति के तीन मार्ग हैं तप एवं अनुशीलन द्वारा ज्ञान का मार्ग, आस्था एवं भक्ति का मार्ग और कर्म का मार्ग। गीता में यह स्पष्ट किया गया है कि उपनिषदों

में वर्णित आत्मा और ब्रह्म की अनुभूति केवल अमूर्त विचार नहीं हैं, बल्कि प्रेम का भक्ति के साथ, अन्वेषक का अन्वेषण के साथ आध्यात्मिक सम्मिलन है और कर्तव्य भाव से किया गया कर्म अवरोध न होकर ध्येय की प्राप्ति का प्रभावकारी माध्यम है। एक हिन्दू अपनी आत्मा को ज्ञान के प्रकाश में साधना के द्वारा मुक्ति दिलाना चाहता है। हिन्दू धर्म सत्य को सबसे महत्वपूर्ण और श्रेष्ठ गुण समझता है। उसके निकट सूर्य का प्रकाश, हवा का झोंका, वर्षा की बूंदें और ईश्वर सबके लिए हैं और सबके हैं। भगवद्गीता दुनिया को यही शिक्षा देती है ''जो कोई भी मेरे पास किसी रास्ते से चलकर आता है, मैं उसके पास उसी रास्ते से पहुंचता हूं। बहुत से लोग भिन्न-भिन्न रास्तों से मेरे पास पहुंचने के प्रयास में लगे हैं और वे सब रास्ते मेरे हैं।''

बीते हुए काल में रूढ़िवादी हिंदू धर्म के प्रतिद्वंद्वी के रूप में दो धार्मिक आंदोलन चले और कुछ समय तक वे काफी लोकप्रिय रहे। किंतु ईसा पूर्व की दूसरी शताब्दी तक आते-आते उनका प्रभाव कम पड़ने लगा। दूसरी ओर हिंदू विचारकों ने सत्य की खोज में चिंतन के नए उपादानों पर कार्य किया ताकि धार्मिक आस्थाओं और व्यवहार में इस तरह से सुधार लाया जा सके कि सभी वर्ग आकर्षित हों। परिणामतः नई राष्ट्रीय संस्कृति की नींव पड़ी। इसमें प्राचीन देवताओं पर नई आस्था का प्रगाढ़ रूप प्रदर्शित किया गया। अवतारों की बात हुई। प्रचलित कहानियों को पुराणों के नाम से संग्रहित किया गया। अधिकांश पुराण विष्णु के नाम से हैं और कुछ ब्रह्म या शिव के नाम से भी हैं। ऐसी जटिलताएं प्रारंभिक समय से हिंदुओं को ज्ञात थी। इतिहास पुराण का अथर्ववेद में समावेश है और कुछ के द्वारा वह वैदिक साहित्य का एक अंग माना जाता है, किंतु अधिकांश पुराण अपने वर्तमान स्वरूप में पांचवीं और उसके बाद की शताब्दियों में संकलित किए गए। सामान्य जनों में पुराणों की लोकप्रियता वेदों से अधिक थी। इस तरह प्राचीन हिंदुओं से अंतर स्थापित करने हेतु नए हिंदुत्व को पौराणिक हिंदू धर्म कहा जा सकता है। कुल 18 पुराणों में से कुछ इस प्रकार हैं मत्स्य, मार्कण्डेय, नारदीय, गरुड़, कूर्म, स्कंद, वायु, विष्णु, अग्नि इत्यादि। वेद व्यास ने महाभारत की रचना की।

पाणिनी की अष्टाध्यायी में वासुदेव के उपासकों का उल्लेख किया गया है, जिन्हें पौराणिक परम्परा में सत्तवत जाति का प्रमुख बताया गया है। छान्दोग्योपनिषद् में भी महर्षि अंगिरस के शिष्य के रूप में कृष्ण का वर्णन है।

जिन लोगों ने अपने इष्टदेव के रूप में सिर्फ वासुदेव की ही पूजा की, उन्हें भागवत के नाम से जाना गया।

भारतीय इतिहास का मध्य काल देश के एक नए सांस्कृतिक जीवन का साक्षी रहा। इस समय एक नई समन्वित परम्परा का क्रमिक विकास हुआ, जिसे हिंद-इस्लामी संस्कृति की संज्ञा दी गई। इस समन्वित परंपरा के उदाहरण विभिन्न क्षेत्रों में देखे जा सकते हैं। धार्मिक जीवन में यह, भक्ति आंदोलन और सूफी मत के रूप में सामने आया।

भक्ति आंदोलन का संबंध मुख्यतः हिन्दू धर्म से था और इसमें हिंदू धर्म एवं समाज सुधार के साथ-साथ हिंदू-मुस्लिम सहिष्णुता को बढ़ाने का प्रयास किया गया। इस आंदोलन को प्रभावित करने वाले तत्वों के संबंध में मतभेद तो अवश्य है, किंतु इतना स्पष्ट है कि दिल्ली सल्तनत की स्थापना के बाद उत्तर भारत में इस्लाम और हिंदू धर्म के बीच सम्पर्क प्रारंभ हुआ। परिणामस्वरूप विचारों और परंपराओं का आदान-प्रदान हुआ। इस्लाम में एकेश्वरवाद एवं बंधुत्व और समानता के विचारों पर बहुत बल दिया गया था। भक्ति आंदोलन में भी सर्वशक्तिमान ईश्वर की आराधना और ऊंच-नीच के बीच भेदभाव की समाप्ति की बात कही गई।

कई विद्वान एवं इतिहासकार मानते हैं कि भक्ति का सिद्धांत हिंदू धर्म में प्राचीन काल से ही चला आ रहा है। हिंदू धर्म में आत्मा की मुक्ति के लिए तीन मार्ग बताए गए थे ज्ञान मार्ग, कर्म मार्ग और भक्ति मार्ग। भक्ति के विचार उपनिषदों एवं वेदों में मिल जाते हैं। मध्यकाल में इस सिद्धांत को आंदोलन का रूप देने का श्रेय दक्षिण भारत के अलवार और नयनार संतों को दिया जा सकता है, जिन्होंने सातवीं से लेकर बारहवीं शताब्दी के बीच इस विचार को लोकप्रिय बनाया तथा आत्मा की मुक्ति के लिए ईश्वर के प्रति पूर्ण श्रद्धा एवं भक्ति की भावना पर बल दिया।

भक्ति के सिद्धांत को तमिलभाषी क्षेत्र से महाराष्ट्र की ओर लाने वाले रामानुज थे। इनका समय 12वीं सदी का माना जाता है। रामानुज ने शंकराचार्य के अद्वैतवाद के सिद्धांत को भिन्न रूप में पेश किया और उसे विशिष्टाद्वैत का नाम दिया। इसमें परमात्मा को दया एवं अनुकम्पा का स्रोत माना गया है और समाज के दलित वर्गों को अर्थात् शूद्रों व अछूतों को भी मुक्ति का संदेश दिया

गया। परंतु रामानुज ने उच्च एवं निम्न जाति के भेद को माना। उन्होंने उच्च जातियों के लिए भक्ति का सिद्धांत प्रस्तुत किया तो निम्न जाति के लिए प्रपत्ति का सिद्धांत भी प्रतिपादित किया। इनके समकालीन संत थे माधव एवं निम्बार्क। माधव ने द्वैतवाद चलाया था। रामानुज के शिष्यों में नामदेव ने महाराष्ट्र और रामानंद ने उत्तरी भारत के क्षेत्रों में भक्ति आंदोलन को व्यापक रूप प्रदान किया। नामदेव से लेकर 17वीं सदी में तुकाराम तक महाराष्ट्र में संतों की एक शृंखला मिलती है, जिसमें भक्ति भावना का प्रचार और ऊंच-नीच के भेदभाव का विरोध किया गया। तुकाराम ने पंढरपुर स्थित विठोबा के मंदिर को केंद्र बनाया तथा उन्हें कृष्ण के रूप में पूजने का विचार प्रस्तुत किया। तुकाराम के विचार उनके भजनों में देखे जा सकते हैं, जिन्हें सामूहिक रूप में 'अभंग' कहते हैं।

बाद में इन संतों के दो संप्रदाय सामने आए रूढ़िवादी अर्थात् सगुण सम्प्रदाय व उदारवादी अर्थात् निर्गुण सम्प्रदाय। रूढ़िवादी सम्प्रदाय के प्रमुख संत तुलसीदास थे, जिन्होंने रामचरितमानस की रचना की। निर्गुण सम्प्रदाय के प्रमुख संतों में कबीरदास और गुरुनानक आते हैं। कबीर बनारस के निवासी थे और इन पर रामानंद के विचारों का प्रभाव था। इन्हें सूफी मत ने भी प्रभावित किया। कबीर इस्लाम और हिंदू दोनों धर्मों के गुणों के प्रशंसक थे, पर निरर्थक कर्मकाण्डों के सख्त विरोधी थे। वे तीर्थ, व्रत एवं पूजा के वैसे ही विरोधी थे, जैसे रोजा और नमाज के। इनके उपदेश 'बीजक' में संकलित हैं। इनके अनुयायी कबीरपंथी कहलाए।

कृष्ण भक्ति सम्प्रदाय का विकास पश्चिम भारत, राजस्थान और पूर्वी भारत में विशेष रूप से हुआ। इसमें वल्लभाचार्य, मीराबाई और चैतन्य का विशेष योगदान रहा। वल्लभाचार्य का कार्यक्षेत्र गुजरात और पश्चिम भारत था। मीराबाई मेवाड़ के राजघराने में पैदा हुईं और इनका विवाह जयपुर घराने में हुआ, किंतु इन्होंने राजसी जीवन त्यागकर साधु-संतों की संगत की और कई भजनों की रचना की। चैतन्य महाप्रभु पश्चिम बंगाल में हुए। इन्होंने ईश्वर के भजन और संकीर्तन के साथ प्रेम एवं दया पर बल दिया। ये भी कृष्ण भक्त थे। आगरा के जन्मांध कवि सूरदास ने भी सखा रूप में कृष्ण की उपासना की। इस प्रकार हम पाते हैं कि हिंदू धर्म अनेक कालों में अनेक नई विचारधाराओं तथा मान्यताओं से प्रेरित व प्रभावित होता हुआ अपने वर्तमान रूप में सामने आया, जिसमें अनेक विसंगतियां, विकृतियां और विपथन की प्रवृत्ति घर कर गई हैं।

हिंदू धर्म के वर्तमान स्वरूप से पहले ईस्ट इंडिया कम्पनी के राज में कई आयाम जुड़े। यूं तो इस राज के पहले बहुत-सी कुरीतियां विद्यमान थीं, किंतु पाश्चात्य सभ्यता, समाज और धर्मों के सम्पर्क में आने से वे कुरीतियां और उग्र हो उठीं। विशेष तौर पर इस उग्रता को उन्होंने अधिक महसूस किया, जिन्हें आधुनिक शिक्षा और पाश्चात्य ज्ञान, विज्ञान तथा दर्शन को समझने का अवसर मिला था। इन लोगों ने हिंदू सामाजिक रचना, धर्म, रीति-रिवाज तथा परंपराओं को तर्क के तराजू में तौलना शुरू किया। परिणामस्वरूप, सामाजिक एवं धार्मिक आंदोलनों का जन्म हुआ, जिनमें ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज और थियोसोफिकल सोसाइटी प्रमुख थे। दूसरी ओर आर्य समाज का जन्म हुआ। वास्तव में आर्य समाज को दोहरी भूमिका निभानी थी एक तरफ हिंदू धर्म से कुरीतियों तथा झूठे विश्वासों को समाप्त करना और दूसरी तरफ ईसाई पादरी प्रचारकों से हिंदू धर्म की रक्षा करना एवं हिंदुओं को ईसाई बनने से रोकना।

राजा राममोहन राय एवं ब्रह्म समाज

हिंदू धर्म में प्रथम सुधार आंदोलन ब्रह्म समाज था, जिसके प्रवर्तक राजाराम मोहन राय थे। वह एक बहुत बड़े विद्वान थे। उन्हें अरबी, फारसी, संस्कृत जैसी प्राच्य भाषाएं और अंग्रेजी, फ्रांसीसी, लातीनी, यूनानी और हिब्रू भाषाएं आती थीं। जिस समय पाश्चात्य शिक्षा से प्रभावित हो बंगाली युवक ईसाई धर्म की ओर आकर्षित हो रहे थे, उस समय राजाराम मोहन राय हिंदू धर्म के रक्षक के रूप में सामने आए। उन्होंने मूर्ति पूजा का विरोध किया और अपने पक्ष को वेद की उक्तियों से सिद्ध करने का प्रयत्न किया। उन्होंने हिंदू धर्म के सिद्धांतों की पुनर्व्याख्या की और अपनी मानव सेवा के लिए उपनिषदों से पर्याप्त प्रमाण ढूंढे। उन्होंने ईसाई मत और यीशु के देवत्व को अस्वीकार कर दिया, किंतु यूरोपीय मानववाद को अवश्य स्वीकार किया।

सामाजिक क्षेत्र में फैली कुरीतियों सती प्रथा, बहुपत्नी प्रथा, वेश्यागमन, जातिवाद इत्यादि का घोर विरोध किया। विधवा पुनर्विवाह के भी वे प्रबल समर्थक थे। इन्हीं उद्देश्यों को लेकर उन्होंने 1828 में ब्रह्म समाज की स्थापना की। उन्होंने कहा कि इस समाज का मूल उद्देश्य उस शाश्वत, सर्वाधार, अपरिवर्त्य, निराकार ईश्वर की पूजा है, जो समस्त विश्व का कर्ता और रक्षक है। वे स्वयं हिंदू रहे और यज्ञोपवीत पहनते रहे। 1833 में इनकी मृत्यु हो गई। आज भी लोग उन्हें आधुनिक भारत का निर्माता मानते हैं।

राजाराम मोहन राय की मृत्यु के पश्चात् इस आंदोलन को दिशा दी महर्षि देवेंद्र नाथ टैगोर ने। वे इसमें 1842 में शामिल हुए और उन्होंने ब्रह्म धर्म अवलम्बियों को मूर्ति पूजा, तीर्थयात्रा, कर्मकाण्ड और प्रायश्चित इत्यादि से रोका। इनके बाद केशव चंद्र सेन ने अपनी उदार प्रवृत्ति के कारण कमान संभाली, किंतु इसमें फूट पड़नी शुरू हो गई। 1865 में केशव चंद्र सेन को उनकी प्रवृत्तियों के कारण आचार्य की पदवी से निकाल दिया गया। इन्होंने एक नए ब्रह्म समाज का गठन किया, जिसे 'आदि ब्रह्म समाज' कहा गया। 1878 में इस समाज में एक और फूट पड़ी। केशव चंद्र ब्रह्मसमाजियों के लिए विवाह की न्यूनतम आयु का प्रचार करते रहे, किंतु जब उन्होंने अपनी 13 वर्षीय बेटी का विवाह कूच बिहार के महाराजा से पूर्ण वैदिक कर्मकाण्ड से कर दिया तो इनके अनुयायियों ने एक नया समाज बनाया और उसे 'साधारण ब्रह्म समाज' का नाम दिया। शनैः-शनैः यह समाज अपना प्रभाव खोने लगा।

रामकृष्ण, विवेकानंद एवं हिंदू आध्यात्मिक जागरण

ब्रह्म समाज का उपदेशात्मक युक्तिवाद कई लोगों को प्रिय न लगा। रामकृष्ण परमहंस भी उनमें से एक थे। ये कलकत्ता की एक बस्ती में पुजारी थे। भारतीय विचार एवं संस्कृति में उनकी पूर्ण आस्था थी, परंतु वे सभी धर्मों को सत्य मानते थे। उनके अनुसार कृष्ण, हरि, राम, ईश्वर, अल्लाह सभी प्रभु के भिन्न-भिन्न नाम हैं। वह मूर्ति पूजा में विश्वास रखते थे और उसे शाश्वत्, सर्वशक्तिमान ईश्वर को प्राप्त करने का एक साधन मानते थे। परंतु, वह चिन्ह और कर्मकाण्ड की अपेक्षा आत्मा पर अधिक बल देते थे। वह ईश्वर प्राप्ति के लिए उसके प्रति निःस्वार्थ एवं अनन्य भक्ति में विश्वास करते थे। उन्होंने तांत्रिक, वैष्णव और अद्वैत तीनों साधनाएं की, फिर अंत में 'निर्विकल्प समाधि' की स्थिति को प्राप्त किया। इसके बाद वे परमहंस कहलाने लगे।

रामकृष्ण परमहंस के शिष्यों में से एक नरेंद्र नाथ दत्त थे, जो बाद में स्वामी विवेकानंद कहलाए। परमहंस की शिक्षाओं को वास्तविक तौर पर इन्होंने ही साकार किया। उन्होंने उनकी शिक्षा को आम भाषा में प्रस्तुत किया। 1893 में अमरीका के शिकागों में हुए 'धर्म सम्मेलन' में उनके व्याख्यान ने सबको चकित कर दिया था। साथ ही हिंदू धर्म को एक सामाजिक उद्देश्य भी प्रदान किया। उन्होंने कहा कि वे ऐसे धर्म में विश्वास नहीं करते, जो किसी विधवा के आंसू

नहीं पोंछ सकता अथवा किसी अनाथ को रोटी नहीं दे सकता। उन्होंने कहा, ''मैं उसी को महात्मा मानता हूं, जिसका मन निर्धन के लिए रोता है, अन्यथा वह दुरात्मा है। जब तक लाखों लोग भूख और अज्ञानता में रहते हैं, मैं प्रत्येक उस व्यक्ति को देशद्रोही मानता हूं, जो उनके धन से विद्या प्राप्त करता है और फिर भी उनकी ओर तनिक भी ध्यान नहीं देता।''

स्वामी विवेकानंद ने परमहंस की मृत्यु के 11 वर्ष पश्चात् 1897 में रामकृष्ण मिशन की स्थापना की। रामकृष्ण मिशन समाज सुधार और सेवा के क्षेत्र की अग्रणी संस्थाओं में से एक है। अनेक धर्मार्थ औषधालय, चिकित्सालय, विद्यालय इसके तत्वाधान में चल रहे हैं। विवेकानंद अनन्य देशभक्त थे। भारत के राष्ट्रीय जागरण एवं हिंदू आध्यात्मवाद के उत्थान में उनकी विशेष भूमिका रही है।

प्रार्थना समाज

केशव चंद्र सेन की प्रेरणा से 1867 में महाराष्ट्र में इसकी स्थापना की गई। महादेव गोविंद रानाडे इसके अगुआ थे।

ब्रह्म समाज और प्रार्थना समाज में मुख्य अंतर यह था कि ब्रह्मसमाजियों ने हिंदू धर्म के कमोबेश बाहर जाकर किसी संगठन की सहायता से हिंदूवाद की आलोचना की थी, जबकि प्रार्थना समाज के अनुयायियों ने हिंदू धर्म में रहकर एक हिंदू के रूप में ही प्रगतिशील सुधारों का समर्थन किया। हिंदुओं की सामाजिक-धार्मिक मान्यताओं को युक्तिसंगत बनाना उनका मुख्य उद्देश्य था।

आर्य समाज

गुजरात की मौरवी रियासत के एक ब्राह्मण कुल में 1824 में जन्मे मूल शंकर, जो बाद में दयानंद के नाम से विख्यात हुए, ने वैदिक वाङ्मय, न्याय, दर्शन इत्यादि की शिक्षा ली और गृह त्यागकर 15 वर्षों तक घूमते रहे। 1860 में मथुरा में स्वामी विरजानंद जी से विस्तृत रूप में वेदों को समझा और आत्मसात् किया। 1863 में उन्होंने झूठे धर्मों का खण्डन करने के लिए 'पाखण्ड खण्डिनी पताका' लहराई। 1875 में उन्होंने 'आर्य समाज' की स्थापना की, जिसका मुख्य उद्देश्य प्राचीन वैदिक धर्म को उसके शुद्ध रूप में पुनः स्थापित करना था। इन्होंने 'वेद की ओर चलो' का मंत्र दिया।

स्वामी दयानंद का कहना था कि अपनी बुद्धि का प्रयोग करो और वैदिक मंत्रों के अर्थों को अपनी तर्क-कसौटी पर कसो, तब जाकर उसे अपनाओ। उन्होंने

वेद और उपनिषद् तक के साहित्य को शुद्ध माना, शेष को, विशेषकर पुराणों को, जिनमें मूर्तिपूजा, देवी-देवताओं तथा अवतारवाद का विवरण मिलता है, मनगढ़ंत कथाओं का समुच्चय माना। उन्होंने मूर्तिपूजा, बहुदेववाद, अवतारवाद, पशुबलि, श्राद्ध और झूठे कर्मकाण्डों को कभी स्वीकार नहीं किया। वे पहले ऐसे सुधारक थे, जिन्होंने शूद्र तथा स्त्री को वेद पढ़ने और ऊंची शिक्षा प्राप्त करने, यज्ञोपवीत धारण करने एवं बराबरी हेतु आंदोलन चलाया। पुत्री को पुत्र के समान माना। बाल विवाह, शाश्वत वैधव्य, परदा, दहेज सभी बुराइयों को दूर करने का प्रयत्न किया।

इनके सभी विचार उनकी पुस्तक 'सत्यार्थ प्रकाश' में संकलित हैं। इन्होंने पाश्चात्य दर्शन, शिक्षा और समाज को पूरी तरह नकार दिया। उनका कहना था कि वेद और उपनिषद से परे कुछ नहीं और जिन रिवाजों, परंपराओं, कर्मकाण्डों की अनुमति वेद में नहीं है, उन्हें त्याग दिया जाए। 1886 में दयानंद ऐंग्लो वैदिक संस्थाएं प्रारंभ हुई। 1892-93 में आर्य समाज दो दलों में बंट गया।

तथापि, आर्य समाज ने धर्म और समाज में फैले अंधकार को दूर करने का प्रयास किया। इतना ही नहीं आर्य समाज ने 'शुद्धि आंदोलन', भी चलाया, जिसके अंतर्गत लोगों को अन्य धर्मों से हिंदू धर्म में लाने का प्रयत्न किया गया। स्वामी दयानंद के आर्थिक विचारों में स्वदेशी का विशेष महत्व था।

थियोसोफिकल सोसाइटी

थियोसोफी का शब्द दो यूनानी शब्दों से मिलकर बना थिओस और सोफिया, जिसका अर्थ है ईश्वर और ज्ञान।

थिओसोफिकल सोसाइटी उन पश्चिमी विद्वानों द्वारा आरंभ की गई थी, जो भारतीय संस्कृति व विचारों से बहुत प्रभावित थे। 1875 में मैडम एच.पी. ब्लावेट्स्की ने कर्नल एम.एस. ओल्काट के साथ इस सोसाइटी की नींव अमरीका में रखी। 1882 में उन्होंने अपनी सोसाइटी का मुख्य कार्यालय मद्रास के समीप अडयार में स्थापित किया। इस समाज के अनुयायी आत्मिक हर्षोन्माद और अंतर्ज्ञान द्वारा ईश्वरीय ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करते थे। ये लोग पुनर्जन्म और कर्म में विश्वास रखते हैं और सांख्य और उपनिषदों के दर्शन से प्रेरणा प्राप्त करते हैं।

1887 में कर्नल ओल्काट की मृत्यु के पश्चात् मिसेज एनी बेसेन्ट इसकी

अध्यक्षा बनीं और इसे काफी लोकप्रिय बनाया। 1891 में वे भारत आईं। वह भारतीय विचार और संस्कृति से भलीभांति परिचित थीं और जैसा उनके भगवद्गीता के अनुवाद से प्रतीत होता है; वह वेदांत में विश्वास रखती थीं। शनैः-शनैः वह हिंदू हो गईं न केवल विचारों से अपितु वस्त्र, भोजन, मेलमिलाप और सामाजिक शिष्टाचार से भी। भारत में थियोसोफिकल सोसाइटी उनकी देख-रेख में हिंदू पुनर्जागरण का आंदोलन बन गई। 1898 में बनारस में सेंट्रल हिंदू कॉलेज की नींव रखी गयी, जो आगे चलकर बनारस हिंदू विश्वविद्यालय बना। इस सोसाइटी ने रूढ़िवादी परंपरा के अनुसार हिंदू धर्म की व्याख्या की और प्राचीन भावना 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम' को साकार बनाने का प्रयत्न किया।

दक्षिण भारत में सामाजिक-धार्मिक सुधार आंदोलन

ब्रिटिश शासन काल के दौरान दक्षिण भारत में जन्म लेने वाले सामाजिक-धार्मिक सुधार आंदोलनों का उद्देश्य 'प्रतिकूल रीति-रिवाजों' का उन्मूलन करना और व्यापक तौर पर लोगों की जीवन गुणवत्ता में सुधार करना था।

इन आंदोलनों में वेद समाज एक महत्वपूर्ण आंदोलन था जिसकी स्थापना श्रीधरलू नायडू एवं केशवचंद्र सेन द्वारा 1864 में मद्रास सिटी में की गई। इसने ब्रह्म समाज के आस्तिकवादी विचारों को अपनाया। हिंदूवाद के विवाह एवं अन्य रीति-रिवाजों को इसने धार्मिक महत्व के दृष्टिगत दयनीय बताया। वेद समाज संप्रदायवाद मत के विरुद्ध था। इसने जातिगत अंतरों को समाप्त करने पर बल दिया, और बहु-विवाह एवं बाल विवाह का विरोध किया जबकि विधवा पुनर्विवाह का समर्थन किया।

स्वामी नारायण गुरु द्वारा प्रारंभ किए गए आंदोलन का उद्देश्य था जातियों का उन्मूलन करना और जातिगत भेदभाव को समाप्त करना। स्वामी नारायण गुरू ने इजवा, जिन्हें केरल समाज में अछूत समझा जाता था, के विरोध का सामाजिक-धार्मिक सुधार आंदोलन में रूप परिवर्तित किया। वह इजवा की सामाजिक दशा में सुधार करना चाहते थे जिन्हें समाज में वेशभूषा, रीति-रिवाज एवं धार्मिक कृत्यों में प्रतिबंधों का सामना करना पड़ता था। उनके सामाजिक परिवर्तन के संदेश को, उनके अनुयायियों एवं स्वैच्छिक कार्यकर्ताओं ने एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाकर, लोगों को अस्वीकार्य पुरातन प्रथाओं को त्यागने की बात कहकर पहुंचाया।

जैन धर्म

जैन धर्म के 24वें तीर्थंकर महावीर का जन्म वैशाली के पास कुंडग्राम में वृज्जिगण के जातृक कुल में राजा सिद्धार्थ के यहां ई.पू. 540 में हुआ था। कुछ समय गृहस्थ जीवन बिताने के बाद तीस वर्ष की आयु में इन्होंने घर छोड़ दिया। बारह वर्ष के तप और भ्रमण के बाद इन्होंने 'कैवल्य' (ज्ञान) प्राप्त किया और संसार की प्रवृत्तियों पर पूर्ण विजय प्राप्त कर ये कर्म के बंधनों से मुक्त हो गए। तब से ये अर्हत (पूज्य), जिन (विजेता) और निर्ग्रंथ कहलाने लगे। ये 'महावीर' के नाम से प्रसिद्ध हुए और इनका धर्म जैन धर्म कहलाया। 72 वर्ष की अवस्था में पावा में इनका देहांत हो गया।

जैन-अनुश्रुतियों के अनुसार ये अंतिम तीर्थंकर थे। इनके प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभदेव ने इस धर्म की नींव डाली थी। इनके पूर्वज 22 तीर्थंकर थे ऋषभदेव, अजितनाथ, सांबनाथ, अभिनंदन, सुमितनाथ, पद्मप्रभु, सुपार्श्वनाथ, चंद्र, प्रभु, पुष्पदंत, शीतलनाथ, श्रेयांशनाथ, वसुपूज्य, विमलनाथ, अनंतनाथ, धर्मनाथ, कुंथुनाथ, अरसनाथ, मल्लिनाथ, मुनिसुव्रतनाथ, नमिनाथ और नेमिनाथ। जैनियों के तेइसवें तीर्थंकर का नाम पार्श्वनाथ था। ये काशीराज अश्वसेन के पुत्र थे। इनकी मुख्य शिक्षाएं थीं सत्य, अहिंसा, अस्तेय और अपरिग्रह। इसीलिए इनका नाम चातुर्थी पड़ा।

महावीर ने पार्श्वनाथ के चार सिद्धांतों में सच्चरित्रता को सम्मिलित किया। मोक्ष पाने का साधन सांसारिक बंधनों से मुक्त होना है और इसके लिए इन पांच सिद्धांतों का पालन करना चाहिए सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह और सच्चरित्रता। मोक्ष प्राप्ति के इन्होंने तीन साधन प्रतिपादित किए जो 'त्रिरत्न' कहलाए सम्यक ज्ञान, सम्यक दर्शन और सम्यक चरित्र।

जैन धर्म विश्वचेतना के वैदिक धर्म को नहीं मानता है। ब्रह्मचर्य पर इसमें भी विशेष बल दिया गया है। इन सिद्धांतों से धीरे-धीरे वैराग्य और तप की स्थिति, फिर अंत में कर्मक्षय की स्थिति प्राप्त होती है। संसार में आवागमन के दुःख से मुक्ति पाना ही जीवन का धर्म है। शरीर को कष्ट देने और उपवास करने को मनुष्य के आध्यात्मिक विकास के लिए महावीर ने आवश्यक समझा। यज्ञ और वेद के महत्व को उन्होंने नहीं माना। अहिंसा और तपस्या पर बल दिया। देवताओं के अस्तित्व को यह धर्म नकारता नहीं है, किंतु उन्हें जीवन

से नीचे रखता है। इस धर्म में पूर्वजन्मवाद और कर्मवाद की मान्यता है। जैनों ने आत्मवादियों और नास्तिकों के एकांतवादी मतों का खण्डन किया और मध्य मार्ग का अनुसरण किया। महावीर आत्मा में विश्वास करते थे और जीव को उसका भाग मानते थे। आत्मा साधना और तपस्या के बल पर मुक्त हो सकती है, ऐसा महावीर का विश्वास था।

जैन धर्म का मानना है कि सृष्टि अनादिकाल से अपने ही आदितत्वों के आधार पर चल रही है। आदि तत्व छह हैं जीव (आत्मा), पुद्गल (भूतपदार्थ), धर्म, अधर्म, आकाश और काल। जीव चेतन द्रव्य है। जीव का मूल गुण है अनंत ज्ञान, अनंत तीर्थ, अनंत दर्शन और अनंत सुख। कर्म का आवरण हटाकर अपने शुद्ध गुण को प्राप्त करने के बाद ही शांति संभव है। कर्म का क्षय होने पर ही जीव मोक्ष प्राप्त करता है। अतः जीवन का ध्येय हुआ मोक्ष प्राप्ति और उसका मार्ग है कर्मक्षय तथा कर्मक्षय के साधन हैं त्रिरत्न।

महावीर के दो वर्ष बाद जब मगध में भीषण अकाल पड़ा, तब भद्रबाहु के नेतृत्व में कुछ जैन दक्षिण चले गए और बाकी स्थलबाहु के नेतृत्व में मगध में रहे। पाटलिपुत्र में मगध के जैनों ने एक 'संगीति' बुलाई, जिसमें दक्षिण वाले शामिल नहीं हुए। तब से दक्षिण वाले दिगंबर और मगधवाले श्वेताम्बर कहलाए। जैन धर्म का महत्वपूर्ण ग्रंथ 'कल्प सूत्र' संस्कृत में है। प्रथम शताब्दी के आचार्य कुंद के चार ग्रंथ नियमसार, पंचास्तिकायसार, समयसार, प्रवचनसार जैन धर्म साहित्य के सर्वस्व माने जाते हैं।

बौद्ध धर्म

गौतम बुद्ध, जिनका ज्ञान प्राप्ति से पूर्व सिद्धार्थ नाम था, का जन्म ई.पू. 563 में हुआ था। कपिलवस्तु के लुम्बिनी में जन्मे सिद्धार्थ के पिता राजा थे। इनका विवाह हुआ और पुत्र राहुल का जन्म हुआ। किंतु, ध्यानमग्न एवं चिंतनशील गौतम के लिए गृहस्थ जीवन आकर्षक नहीं था। बीमारी, बुढ़ापा, मृत्यु जैसे सांसारिक दुःखों से प्रेरित होकर वास्तविक आनंद एवं ज्ञान की खोज में उन्होंने 29 वर्ष की अवस्था में गृह त्याग दिया। ज्ञान प्राप्ति तक वे भटकते रहे। कई आचार्यों ने शिक्षा भी दी। आलारकलाम ने योग की विधि बताई। राजगृह के रामपुत्र ने उपदेश दिया। निरंजना नदी के किनारे उरूवेला नामक स्थान पर 6 वर्षों तक तप भी किया, किंतु ज्ञान प्राप्त न हुआ। कहते हैं कि एक बार कुछ

नर्तकियां उस जंगल से गाती हुई गुजरीं। वे गा रहीं थीं कि अपनी वीणा के तार को इतना ढीला न करो कि सुर ही न निकले और इतना कसो भी नहीं कि तार टूट जाए। गौतम ने इसे सुना और शिक्षा प्राप्त की। अंततः बोधगया में पीपल के वृक्ष के नीचे उन्हें ज्ञान प्राप्त हुआ और सिद्धार्थ गौतम 'बुद्ध' हो गए। बुद्ध ने सर्वप्रथम सारनाथ (बनारस) में उपदेश दिया। यहीं से 'धर्म चक्र प्रवर्तन' प्रारंभ हुआ। उन्होंने बुद्धत्व प्राप्त करने के बाद 45 वर्षों तक घूम-घूम कर अपने ज्ञान का प्रकाश फैलाया। कुशीनगर में ई.पू. 483 में उनका देहांत हो गया। इसे 'महापरिनिर्वाण' कहा गया।

बुद्ध का ज्ञान दर्शन इस प्रकार है दुःख है, दुःख का हेतु और दुखः का विशेष है तथा दुःख निरोध का मार्ग है। इन्हें 'चत्वारि आर्य सत्यानि' कहा जाता है। महाश्रमण का ऐसा मत है "ये धर्माः हेतु प्रभवा; हेतुस्तेषां तथागतोह्यवदत्। तेषां च यो निरोध एवं वादी महाश्रमणः।" दुःख निरोध के लिए आर्य अष्टांगिक मार्ग हैं सम्यक दृष्टि, सम्यक संकल्प, सम्यक वचन, सम्यक कर्म, सम्यक आजीविका, सम्यक उद्योग, सम्यक विचार और सम्यक समाधि। बुद्ध का बनारस में यही प्रथम धर्मोपदेश था। 'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय' ही उनके उपदेश का सार है और आत्मसंयम उसका आधार है।

बुद्ध ने वस्तु को ही नहीं, वरन् आत्मा, परमात्मा को भी नित्य मानने से इंकार कर दिया। उनके अनुसार यह सृष्टि एक सतत प्रक्रिया मात्र है और आत्मा तथा जगत अनित्य है। वे परिमाणात्मक स्थिति को ही सत्य मानते हैं। उनका लक्ष्य था कि प्रत्येक को निर्वाण प्राप्त करने में सहायता की जाए। निर्वाण का अर्थ है 'बुझना'। विच्छिन्न प्रवाह रूप से उत्पन्न विज्ञान एवं भौतिक तत्व तृष्णा के गारे से मिलकर जिस जीवन प्रवाह का रूप धारण कर प्रवाहित हो रहे हैं, उस प्रवाह का अत्यंत विच्छेद ही निर्वाण है। 'निव्वाणं परमं सुखम्'। उन्होंने मध्यम प्रतिपदा (मध्यम मार्ग) का अनुसरण किया। आर्याष्टांगिक मार्ग के अतिरिक्त उन्होंने नैतिक आचरण को उन्नत करने के अभिप्राय से 'दशशील' को विशेष महत्व दिया अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य, नृत्यगान आदि का त्याग, सुगंधित वस्तुओं का त्याग, असामयिक भोजन का त्याग, कोमल शय्या का परित्याग और कामिनी-कांचन का त्याग। भिक्षुओं के लिए समस्त शीलों का पालन अनिवार्य था, परंतु गृहस्थों के लिए प्रथम पांच शीलों का।

बुद्ध ईश्वर में विश्वास नहीं करते थे। उनके अनुसार सृष्टि का कर्ता ईश्वर

नहीं वरन् कार्य-कारण के अनुसार इसकी उत्पत्ति हुई। स्थायी आत्माओं में भी उनका विश्वास नहीं था। उनकी धारणा थी कि विभिन्न तत्वों के अलग-अलग हो जाने के बाद आत्मा नहीं रह जाती। वे संसार को क्षणिक मानते थे और इसके समस्त तत्वों को भी। मानव अपने अल्पज्ञान तथा प्रमाद से उन्हें स्थायी समझ लेता है, किंतु वस्तुतः बात ऐसी नहीं है। क्षणिकवाद ही बौद्ध धर्म और दर्शन का प्रतीक है।

बुद्ध के अनुयायी दो भागों में विभक्त थे भिक्षुक और उपासक। बुद्ध ने धर्म प्रचार के लिए संघ बनाया था। प्रारंभ में स्त्रियों को इसमें स्थान नहीं मिला, बाद में उन्हें भी सम्मिलित होने का अधिकार प्राप्त हुआ। संघ के तीन प्रमुख अंग थे बुद्ध, धम्म और संघ।

बुद्ध की मृत्यु के बाद चार बौद्ध संगीति हुईं राजगृह में, वैशाली में, पाटलिपुत्र में और कश्मीर में। इनका उद्देश्य था बुद्ध के वचनों का संग्रह करना। इन्हें तीन पिटकों में संग्रहित किया गया विनय पिटक, धर्मसूत्र पिटक और अभिधम्म पिटक। जिन भिक्षुओं ने विनयपिटक के नियमों को न माना, वे थेरवादी कहलाए और जिन्होंने संशोधन करने की इच्छा प्रकट की, वे महासंधिक कहलाए। कनिष्क के समय चौथी बौद्ध संगीति (कश्मीर) में आपसी मतभेद बढ़ गए और परिणामस्वरूप बौद्ध धर्मावलम्बी दो मुख्य समुदायों में बंट गए महायान और हीनयान। बाद में चलकर बौद्ध धर्म में तीसरा संप्रदाय उद्भूत हुआ, जो वज्रयान के नाम से प्रसिद्ध है। इन्होंने बुद्ध को ऐसा आदर्श पुरुष बताया, जिन्हें अलौकिक सिद्धियां प्राप्त थीं। इस 'यान' में मंत्र, हठयोग और तांत्रिक आचारों की प्रधानता हुई और बाद में इसी से हठयोग संप्रदाय, वाममार्ग सम्प्रदाय, नाथपंथ आदि का प्रचलन हुआ।

बौद्ध धर्म ने भारतीय चित्रकला, स्थापत्यकला और मूर्तिकला की अभिवृद्धि में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। चैत्य, स्तूप और गुफा कलाओं का विकास भी बौद्धकाल की ही देन है। अजंता की चित्रकारी, कार्ले के गुहामंदिर, सांची, अमरावती और भरहुत के स्तूप बौद्धकला के कुछ अन्यतम नमूने हैं। इतिहासकार हैवेल के अनुसार भारत को एक राष्ट्र के सूत्र में संगठित करने का श्रेय बौद्ध धर्म को उसी प्रकार है, जिस प्रकार सेक्सनी के छोटे-छोटे राज्यों को संगठित करने का श्रेय ईसाई धर्म को है।

कालक्रम में बौद्ध धर्म में भी आडम्बर पैदा हुए। मठों में धन संग्रह होने

लगा। बौद्ध साधुओं का चरित्र संदेहास्पद होने लगा। 'गुह्यसमाज तंत्र' में शराब, स्त्री-संभोग आदि को स्थान दे दिया गया। मंत्रायन की पुस्तकें 'मंजूश्री मूलकल्प' और वज्रयान की पुस्तक 'गुह्यसमाजतंत्र' में धर्म के नाम पर घृणित आचरणों का समर्थन किया गया। सुखवाद और महासुखवाद की कल्पना की गई। नालंदा और विक्रमशिला के अध्ययन केंद्र ध्वस्त हो गए। बौद्ध धर्म अपनी जन्मभूमि से ही लुप्त होने लगा।

सिख धर्म

उत्तर भारत में भक्ति आंदोलन की धारा में गुरु नानक का नाम ऐसा है, जिसे बहुत ही श्रद्धा के साथ लिया जाता है। इनका समय 1469-1538 माना गया है। ऐसा माना जाता है कि इन्होंने ही सिख धर्म की स्थापना की। 'सिख' शब्द संस्कृत के 'शिष्य' से लिया गया है।

गुरु नानक ने हिंदू-मुस्लिम एकता पर बल देते हुए ऐसे मत का प्रवर्तन किया, जिसमें दोनों की समर्पण भावना झलकती है। उन्होंने ईश्वर को निराकार माना। वे मूर्ति पूजा के खिलाफ थे। उन्होंने अंधविश्वासों का जमकर विरोध किया, चाहे वे हिंदुओं के हों या मुसलमानों के। उन्होंने यह बताने का प्रयास किया कि सच्चे धार्मिक मूल्य क्या हैं। गुरु नानक ने जगह-जगह घूमकर अंधविश्वासों से बचने व उस सच्चे निरंकार के प्रति समर्पित होने का संदेश दिया। उन्होंने अपनी कविताओं व गीतों के माध्यम से भाईचारा, सहिष्णुता, प्रेम एवं भक्ति का प्रकाश फैलाया। उनके विचारों, गीतों व कविताओं का संकलन ही 'आदि ग्रंथ' कहलाया।

गुरु नानक ने हिंदुओं के आत्मा के अमरत्व के सिद्धांत को माना, पुनर्जन्म एवं कर्म पर भी सहमति जताई। किंतु उन्होंने ईश्वर को एक माना। उन्होंने जाति पांति को नकारा और मानव की समानता पर बल दिया। 'गुरु का लंगर' उनकी ही देन थी, जहां सब साथ बैठकर खाते थे।

गुरु नानक के बाद नौ गुरु हुए। दसवें और आखिरी गुरु गोविन्द सिंह थे। इनके बाद गुरु की परंपरा समाप्त हो गई। इन्होंने मुगलों के खिलाफ लड़ाका फौज तैयार की, जिसे 'खालसा' के नाम से जाना गया। पाहुल संस्कार के बाद ही कोई व्यक्ति खालसा में शामिल हो सकता था। इसमें शामिल पुरुष अपने नाम के आगे 'सिंह' और महिलाएं 'कौर' लगाने लगे। खालसा में जो

भी शामिल होता था, उसे पांच 'क' धारण करने पड़ते थे केश, कंघा, कच्छा, कड़ा और कृपाण।

इस्लाम धर्म

अरबी मूल के शब्द 'इस्लाम' का अर्थ है, 'आत्म-समर्पण' और इसके प्रवर्तक थे हजरत मोहम्मद। उनका जन्म 570 ई. में अरब की कुरैश जाति में हुआ। इस्लाम की उत्पत्ति इसी अरब भूमि में हुई। 622 ई. में मोहम्मद आत्मरक्षार्थ मक्का से मदीना गए। उन्होंने सेना तैयार कर पूरे अरब पर अपना अधिकार जमा लिया। उन्होंने अरबवासियों को एकता के सूत्र में बांधा और उन्हें धार्मिक जोश व उन्माद से भर दिया। मोहम्मद ने दार्शनिकता की पेचीदगियों से बचते हुए एक सीधे-सादे धर्म को जन्म दिया। उनके अनुसार अल्लाह एक है और मोहम्मद उसका पैगंबर है। इस धर्म को मानने वाले निम्नलिखित पांच बातों में मूल रूप से विश्वास करते हैं

(i) कलमा पढ़ना (कि अल्लाह एक है)

(ii) नमाज पढ़ना (पांच वक्त की)

(iii) रमजान के महीने में रोजा रखना

(iv) जकात (अपनी आय का 2½% दान देना)

(v) हज़ करना

मोहम्मद मूर्तिपूजा के सख्त विरोधी थे। उन्होंने अरब में प्रचलित आचार-विचारों का खंडन किया और खुदा के हुक्म को मानने को परम कर्तव्य बताया। इनका मक्का छोड़कर मदीना जाना 'हिज़रत' कहलाता है। यहीं से हिज़री सम्वत् प्रारंभ होता है। यथरिव में आकर वे रुके, इसीलिए उस नगर का नाम मदीनतुन्नबी (नबी का नगर) पड़ा। उनका धर्म अत्यंत सरल और सुलभ था। इस्लाम की लोकप्रियता बराबरी वाले सिद्धांत के कारण काफी बढ़ गई। प्रारंभ में इस्लाम एक क्रांतिकारी धर्म था। एक ओर इसने मनुष्य को अंधविश्वास से बचाया और दूसरी तरफ दार्शनिक उलझनों को दूर रखा।

भारत में यह धर्म नौवीं शताब्दी के समाप्त होने के पूर्व ही मालाबार के राजा चेरामन पेरूमल, जो मुसलमान हो गया था, की मेहरबानी से आया और उसे फैलाने का कार्य प्रारंभ हो गया।

इस्लाम में दो मत हैं शिया और सुन्नी। भारत में मुसलमानों की अधिकतम

संख्या सुन्नियों की है। अपने आगमन के समय से लेकर वर्तमान काल तक इस्लाम लगभग हर क्षेत्र में भारतीय संस्कृति को प्रभावित करता रहा है। कला, संगीत, साहित्य, स्थापत्य कला के क्षेत्र में इस्लामी संस्कृति का व्यापक प्रभाव पड़ा। सूफी आंदोलन मध्य भारत के भक्ति आंदोलन और इस्लामी विचारों के संसर्ग का ही प्रभाव था।

भारत में मुस्लिम सामाजिक-धार्मिक सुधार

मुस्लिम सामाजिक-धार्मिक सुधार आंदोलनों का उद्देश्य वास्तविक अर्थों में मुसलमानों को मुस्लिम आदर्शों का पालन करने की तरफ प्रेरित करना था। इनमें से कुछ मुख्य आंदोलन हैं वहाबी आंदोलन, फराजयी आंदोलन, अहमदिया आंदोलन, तारीखे-ए-मुहम्मदिया आंदोलन एवं अलीगढ़ आंदोलन।

अहमदिया आंदोलनः 19वीं शताब्दी में मुस्लिम समाज और धर्म सुधार के लिये एक और आंदोलन चला, जिसे अहमदिया आंदोलन कहते हैं। सन् 1889 में मिर्जा गुलाम अहमद ने इस आंदोलन की शुरुआत की। यह आंदोलन उदार सिद्धांतों पर आधारित था। इसके नेता अपने को हज़रत मुहम्मद की तरह का अवतार मानते थे। आंदोलन, मुस्लिम समाज में सुधार लाने एवं उसमें व्याप्त कुरीतियों को दूर करने के कार्य को अपना सर्वप्रमुख उद्देश्य मानता था। इसने गैर-मुसलामनों के प्रति युद्ध 'जेहाद' को बंद किये जाने की मांग की। आंदोलन ने भारतीय मुसलमानों के मध्य पाश्चात्य उदारवादी शिक्षा के प्रसार को बढ़ावा दिया। यह आंदोलन पंजाब के गुरुदासपुर जिले के 'कादिया नगर' से प्रारंभ हुआ था। मिर्जा गुलाम अहमद ने अपने सिद्धांतों की व्याख्या अपनी पुस्तक *बराहीन-ए-अहमदिया* में की है।

फराजी आंदोलनः इस आंदोलन की शुरुआत हाजी शरियत-अल्लाह ने की थी। इस आंदोलन को 'फराइदी आंदोलन' के नाम से भी जाना जाता है क्योंकि इसका मुख्य जोर इस्लाम धर्म की सच्चाई पर था। इस आंदोलन का कार्य क्षेत्र मुख्यतयाः पूर्वी बंगाल था तथा इसका मुख्य उद्देश्य इस क्षेत्र की मुस्लिम आबादी को सामाजिक भेदभाव एवं शोषण से बचाना था। हाजी शरियत अल्लाह के पुत्र दूदू मियां के नेतृत्व में 1840 के पश्चात् आंदोलन ने क्रांतिकारी रुख अख्तियार कर लिया। दूदू मियां ने आंदोलन को एक नया स्वरूप प्रदान किया। उन्होंने इसे गांव से लेकर प्रांतीय स्तर तक संगठित किया। उन्होंने संगठन

के प्रत्येक स्तर पर एक प्रमुख नियुक्त किया। इस आंदोलन ने सशस्त्र कार्यकर्ताओं का एक दल तैयार किया जिसका कार्य हिन्दू जमींदारों एवं पुलिस के विरुद्ध संघर्ष करना था।

दूदू मियां को अनेक बार पुलिस ने गिरफ्तार किया किंतु 1847 में दूदू मियां की लंबी गिरफ्तारी के पश्चात् आंदोलन कमजोर हो गया। 1862 में दूदू मियां की मृत्यु के बाद भी आंदोलन चलता रहा किंतु किसी बड़े राजनैतिक प्रश्रय के अभाव में इसकी पहचान एक क्षेत्रीय धार्मिक आंदोलन के रूप में सिमट कर रह गयी।

तारीखे-ए-मुहम्मदिया आंदोलनः सैयद अहमद बरेलवी द्वारा संस्थापित तारीखे-ए-मुहम्मदिया आंदोलन एक संपूर्ण इस्लामिक राज्य के सृजन के लिए चलाया गया सशस्त्र आंदोलन था। इस आंदोलन का आह्वान रोमन पारसियों एवं हिंदू मूल की प्रथाओं एवं रीति-रिवाजों के उन्मूलन के लिए किया गया।

अलीगढ़ आंदोलनः अलीगढ़-आंदोलन ने शिक्षित मुसलमानों के बीच उदार एवं आधुनिक पद्धति का विकास किया, जो कि मोहम्डन एंग्लो-ओरिएंटल कालेज अलीगढ़ पर आधारित था। इसके मुख्य उद्देश्यों में (i) इस्लाम के दायरे में रहकर भारतीय मुसलमानों के बीच आधुनिक शिक्षा का प्रसार करना तथा (ii) मुस्लिम समाज के विभिन्न क्षेत्रों जैसे-पर्दा प्रथा, बहुपत्नी प्रथा, विधवा विवाह, स्त्री शिक्षा, दास प्रथा, तलाक इत्यादि के क्षेत्र में सुधार लाना था।

इस आंदोलन के समर्थकों की विचारधारा कुरान की उदार व्याख्या पर आधारित थी। इन्होंने मुस्लिम समाज में आधुनिक एवं उदार संस्कृति को प्रोत्साहित करने का प्रयत्न किया। वे आधुनिक पथ पर चलकर इस्लामिक समाज का आधुनिकीकरण करना चाहते थे। इस प्रकार अलीगढ़ आंदोलन तत्कालीन समय में मुस्लिम सांस्कृतिक एवं धार्मिक गतिविधियों का केंद्र बन गया।

देवबंद स्कूलः यह भी एक प्रकार का मुस्लिम धार्मिक आंदोलन था जिसे मुस्लिम धर्म के रूढ़िवादी उलेमाओं द्वारा प्रारंभ किया था। इस आंदोलन के दो मुख्य उद्देश्य थे (i) कुरान एवं हदीस की शिक्षाओं का मुसलमानों के मध्य प्रचार-प्रसार करना एवं (ii) विदेशी आक्रांताओं एवं गैर-मुसलमानों के विरुद्ध धार्मिक युद्ध 'जेहाद' को प्रारंभ रखना।

मुहम्मद-उल-हसन ने अपने नेतृत्व में देवबंद स्कूल के धार्मिक विचारों को नया राजनीतिक एवं बौद्धिक स्वरूप प्रदान किया। उन्होंने इस्लामिक सिद्धांतों

एवं राष्ट्रवादी प्रेरणा के समन्वय हेतु सराहनीय प्रयास किये। बाद में ज़मात-उल-उलेमा ने हसन के विचारों को नये स्वरूप में ढाला, जिससे कि राष्ट्रीय एकता एवं राष्ट्रवादी उद्देश्यों को क्षति पहुंचाये बिना मुसलमानों के धार्मिक एवं राजनीतिक हितों की रक्षा हो सके।

बहावी आंदोलनः मुसलमानों की पाश्चात्य प्रभावों के विरुद्ध सर्वप्रथम जो प्रतिक्रिया हुयी, उसे ही बहावी आंदोलन या वलीउल्लाह आंदोलन के नाम से जाना जाता है। वास्तव में यह एक पुनर्जागरणवादी आंदोलन था। शाह वलीउल्लाह (1702-62) अठारवीं सदी में मुसलमानों के वह प्रथम नेता थे, जिन्होंने भारतीय मुसलमानों में हुयी गिरावट में चिंता प्रकट की। उन्होंने भारतीय मुसलमानों के रीति-रिवाज तथा मान्यताओं में व्याप्त कुरीतियों की ओर ध्यान आकृष्ट किया।

सूफी मत

सूफी मत इस्लाम में रहस्यवादी विचारों एवं उदार प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व करता है। सूफी शब्द की उत्पत्ति अरबी भाषा के 'सफा' से हुई है, जिसका अर्थ है पवित्रता अर्थात् जो लोग आध्यात्मिक रूप से और आचार-विचार में पवित्र थे, वे सूफी थे। सामान्य रूप से यह माना जाता है कि सूफी मत का मूल आधार इस्लाम में ही निहित है और कुरान के उपदेशों में देखा जा सकता है। यह कहा जा सकता है कि कुरान के उपदेशों की रूढ़िवादी व्याख्या 'शरीयत' है और उदार व्याख्या 'तरीकत' है, जो सूफी मत का आधार है। संसार से विरक्ति, एकांतमय जीवन और ईश्वर के प्रति अनुराग सूफियों के आचरण का मुख्य आधार है और यह प्रवृत्ति उमैया वंश के शासन के अंतिम दिनों में उभरी, जबकि निरंकुशता, गृहयुद्ध, अरब और गैर-अरब में भेदभाव एवं शासक वर्ग की विलासिता ने लोगों के मन में एक गंभीर संकट उत्पन्न कर दिया। धीरे-धीरे सूफियों पर ईसाई, बौद्ध और हिंदू धर्म के वेदांत दर्शन का भी प्रभाव पड़ा, जिससे सूफीवाद का रूप और विकसित हुआ। प्रो. ताराचंद के शब्दों में सूफी मत एक ऐसे महासागर के समान है, जिसमें अनेक नदियां आकर विलीन हुई हैं और प्रत्येक ने अपना प्रभाव छोड़ा है। ईसाइयों से खानकाहों का संगठन, बौद्ध धर्म से एकांतमय जीवन एवं दरिद्रता तथा हिंदू धर्म से आत्मा और परमात्मा के बीच संबंधों पर व्यक्त विचार सूफी मत पर अन्य धर्मों के प्रभाव के स्पष्ट उदाहरण के रूप में देखे जा सकते हैं।

भारत में सूफियों का आगमन तुर्क आक्रमणों के काल से ही आरंभ होता

है और सूफी संतों में पहला महत्वपूर्ण नाम शेख अली हुज्वीरी अथवा दाता गंज बख्श है, जो महमूद के आक्रमणकाल में लाहौर आकर बस गए। उनका प्रभाव, हांलाकि, विस्तृत क्षेत्र में नहीं पड़ा।

12वीं शताब्दी के अंत में ख्वाजा मोइनुद्दीन चिश्ती अजमेर में आकर बसे। उन्होंने ही **चिश्ती सम्प्रदाय** की नींव रखी। इनके अनेक अनुयायी बने। इनमें दिल्ली के कुतबुद्दीन बख्तियार काकी, पंजाब के बाबा फरीद एवं दिल्ली के निजामुद्दीन औलिया अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। **चिश्ती संतों** ने भारत की परिस्थितियों के अनुसार अपने सिद्धांतों एवं आचरण को निर्धारित किया। उनका दृष्टिकोण उदार था। वे ईश्वर में अटूट विश्वास, उसके प्रति असीम प्रेम और मानव समाज की सेवा जैसे सिद्धांतों को अपने दैनिक आचरण का आधार बनाने में सफल हुए। उन्होंने धर्म, जाति, सम्प्रदाय आदि के भेदभाव को छोड़कर सभी को आध्यात्मिक ज्ञान एवं सांत्वना दी। उन्होंने शासक वर्ग से स्वयं को पृथक रखा। संगीत को भक्ति का माध्यम बनाया और 'समां' अथवा संगीत सभाओं का आयोजन किया। भारत में चिश्ती सम्प्रदाय सबसे अधिक लोकप्रिय हुआ।

एक दूसरा महत्वपूर्ण सम्प्रदाय या सिलसिला **'सुहरावर्दी'** था। इसके प्रमुख संत थे बहाउद्दीन जकारिया और जलालुद्दीन तबरीजी। चिश्तियों के विपरीत इस सिलसिले के संतों ने सुख-सुविधा के साधन जुटाए और उनका उपभोग किया। उनका मानना था कि यदि आपका दिल साफ है तो सम्पत्ति अर्जित करने व उसका व्यय करने में कोई हर्ज नहीं है। इस सम्प्रदाय का प्रभाव मुख्यतः पश्चिमी भारत में सिंध, पंजाब एवं गुजरात में केंद्रित रहा। इनके कुछ अनुयायी पूर्वी भारत, बंगाल, बिहार में भी पाए जाते हैं। बिहार में सुहरावर्दी सम्प्रदाय की फिरदौसी शाखा का विकास हुआ, जिसके महान संत शरफुद्दीन मनेरी थे।

दक्षिण भारत में तुर्कों की सत्ता के विस्तार के साथ सूफी मत का विस्तार हुआ और यहां भी चिश्ती सम्प्रदाय अधिक लोकप्रिय हुआ। दक्षिण में शेख बुरहानुद्दीन का नाम लिया जा सकता है; जो निजामुद्दीन औलिया के शिष्य थे। किंतु, सबसे उल्लेखनीय नाम हजरत गेसूदराज का है, जो गुलबर्गा के निवासी थे।

अन्य सूफी सिलसिलों में कादिरी, शुत्तारी, मदारी एवं नक्शबंदी आदि के नाम प्रमुख हैं। 17वीं शताब्दी तक भारत में 14 प्रमुख सम्प्रदायों का वर्णन मिलता है, जिनके नाम अबुल फजल ने 'आईने अकबरी' में दिए हैं। इनमें

नक्शबंदी सम्प्रदाय उदारता से कुछ अलग था। ऐसा प्रतीत होता है कि चूंकि भारत में स्थापित सूफी सिलसिलों में सबसे अंत में स्थापित होने वाला सम्प्रदाय नक्शबंदी ही था और इस समय तक अकबर की उदार नीति के विरुद्ध मुसलमानों में उग्रवादी प्रतिक्रिया प्रारंभ हो चुकी थी, इसीलिए इसमें कट्टरपन आ गया।

भारत में सूफी मत का प्रवेश 11वीं शताब्दी में हुआ, किंतु 13वीं से 17वीं सदी के बीच ही इसका व्यापक प्रभाव व प्रसार हुआ। कुछ इतिहासकारों का मानना है कि शंकराचार्य का अद्वैतवाद और रामानंद की भक्तिभावना पर इस्लाम सम्पर्क का गहरा प्रभाव पड़ा है, जबकि कुछ का कहना है कि 12वीं सदी से पहले दो भिन्न संस्कृतियों का सम्पर्क इतना अधिक न था कि वे एक दूसरे को प्रभावित कर सकें। इसमें कोई संदेह नहीं कि सूफियों और संतों में काफी समानताएं हैं, जैसे गुरु का महत्व, नाम स्मरण, प्रार्थना, ईश्वर के प्रति प्रेम, व्याकुलता एवं विरह की स्थिति, संसार की क्षणभंगुरता, जीवन की सरलता, सच्ची साधना, मानवता से प्रेम इत्यादि। सूफियों और निर्गुण संतों की आस्था धर्म तथा समाज के आडम्बरयुक्त कर्मकाण्डों में न होकर भावना एवं साधनात्मक रहस्यवाद में रही है।

भक्ति आंदोलन के संत नानक और कबीर सूफी विचारधारा से स्पष्टतः प्रभावित थे। 'आदिग्रंथ' में बाबा फरीद के शब्द आज भी सुरक्षित हैं। सिक्ख धर्म की कई परंपराएं जैसे गुरुपद का धार्मिक एवं राजनीतिक नेतृत्व से संबंध, मसनद की व्यवस्था इत्यादि इस्लाम के स्पष्ट प्रभाव हैं। कबीर की शब्दावली और उनके द्वारा निर्गुण निराकार ईश्वर की आराधना सूफीवाद की ही देन है।

सूफियों ने संगीत सभाओं 'समां' के आयोजन पर विशेष बल दिया था। इनमें भक्ति भाव से प्रेरित काव्य वाद्ययंत्रों के साथ गाए जाते थे। चूंकि सूफी पहले से ही ईरानी संगीत जानते थे, इसलिए 'समाओं' में ईरानी राग-रागिनियों का विस्तार हुआ। मध्यकाल में संगीत के क्षेत्र में अमीर खुसरो का योगदान अविस्मरणीय है। इन्होंने नए राग बनाए, नए वाद्ययंत्र विकसित किए। आगे चलकर मुहम्मद गौस ग्वालियरी ने भी संगीत की समृद्धि में विशेष भूमिका निभाई। कहा जाता है कि प्रसिद्ध गायक तानसेन ने ईरानी संगीत की शिक्षा इन्हीं से ली थी।

भाषा और साहित्य के क्षेत्र में भी सूफियों का योगदान अद्वितीय है। प्रो. निजामी के अनुसार सूफियों के खानकाहों में ही उर्दू भाषा का जन्म हुआ। उर्दू भाषा के आरंभिक ग्रंथ सूफियों ने ही लिखे हैं।

मुस्लिम समाज के प्रति भी इनका महत्वपूर्ण योगदान रहा है। वस्तुतः भारत में इस्लाम का प्रचार इन्होंने ही किया। इन्होंने सिद्ध किया कि इस्लाम धर्म केवल हिंसा और कट्टरता पर ही आधारित नहीं है। निजामी के अनुसार संपूर्ण सूफी आंदोलन ने बहमनी राज्य को नैतिक बल प्रदान करने का ही कार्य नहीं किया, बल्कि उसके उत्तराधिकारियों ने जनता के आध्यात्मिक एवं नैतिक विकास को पुष्ट करने हेतु सामाजिक विचारों के निर्माण का नया वातावरण भी निर्मित किया। मध्यकाल में नगरीय जीवन के कारण जो बुराइयां आ गईं थीं, जैसे मुनाफाखोरी, दास प्रथा, मद्यपान, वेश्यावृत्ति इनके विरुद्ध नई चेतना जगाने में सूफियों का ही हाथ था।

सामाजिक-धार्मिक जीवन पर भक्ति और सूफी आंदोलन का प्रभाव

संतों तथा सूफियों के प्रयासों से जो भक्ति एवं सूफी आंदोलन आरंभ हुए उनसे मध्य भारत के सामाजिक एवं धार्मिक जीवन में एक नवीन शक्ति एवं गतिशीलता का संचार हुआ। भक्ति आंदोलनों के परिणामों में प्रमुख थे भक्ति के प्रति आस्था का विकास, लोक भाषाओं में साहित्य रचना का आरंभ, इस्लाम के साथ सहयोग के परिणामस्वरूप सहिष्णुता की भावना का विकास जिसके कारण जाति-व्यवस्था के बंधनों में शिथिलता आई और विचार तथा कर्म दोनों स्तरों पर समाज का उन्नयन। जहां तक सूफीवाद का संबंध है, इसमें उन तत्वों (सृजनात्मक, सामाजिक और बौद्धिक शक्तियों) को अपनी ओर आकृष्ट किया जो सामाजिक और सांस्कृतिक क्रांति के वाहक के रूप में उभरकर सामने आए। तुर्की आधिपत्य के काल में जब देश का जनजीवन घुटन का अनुभव कर रहा था तब सूफी खानकाह ने सामाजिक संदेश फैलाने एवं सुधारवादी राजनीति का उन्माद पैदा करने का काम किया।

प्रश्न उठता है कि क्या ये संत सचमुच एक सामाजिक व धार्मिक क्रांति ला सके? संतों को समाज की आर्थिक व धार्मिक विषमताएं असहनीय थीं क्योंकि

उन्होंने मानवीय एकता को पहचान लिया था। उनका मुख्य उद्देश्य भक्ति था और इसके रास्ते में आने वाले बंधनों का चाहे वह धर्म, समाज, वर्ग अथवा सांप्रदायिकता के ही क्यों न हों, उन्होंने डटकर मुकाबला किया। उन्होंने जन-समाज को न केवल ईश्वर के प्रेम से परिचित कराया अपितु धार्मिक व सामाजिक और राजनीतिक कलह से पिसती जनता को प्रेरित कर नवीन स्फूर्ति प्रदान की। मध्यकालीन भक्तों ने सफलतापूर्वक समाज और धर्म से बनी खाइयों को अपनी मधुर वाणियों से पाटा तथा व्यक्तिगत चरित्र व चिंतन को सामाजिक व धार्मिक परम्पराओं से अधिक महत्व दिया।

सामाजिक स्तर पर भी संतों का प्रभाव सराहनीय था। भले ही वे जाति-प्रथा को जड़ से न उखाड़ सके तथापि इसके विरोध ने यह सिद्ध कर दिया कि रामानंद निम्न वर्गों के व्यक्तियों को गुरुमंत्र देकर भी अमर हो गए, कबीर ठोकर खाकर भी उनके शिष्य बने, रविदास ने चमार होकर भी ब्राह्मण के साथ भोजन ग्रहण किया, भगवान ने जाट धन्ना का अन्न ग्रहण किया, नामदेव के लिए मंदिर का द्वार ही घूम गया और नाईसेन के स्थान पर स्वयं भगवान राजा की सेवा कर गए। इन क्रांतिकारी संतों ने ऊंचे स्वर में घोषणा करते हुए अपने व्यक्तिगत जीवन एवं आचरण से सिद्ध कर दिया कि मानव अपने सत्कर्मों एवं प्रयत्नों से महान होता है चाहे वह किसी भी कुल या व्यवसाय का हो।

पारिवारिक और आर्थिक कष्ट दूर करने के लिए संतों ने दूसरों पर आश्रित या परजीवी रहने वालों का विरोध किया। इसी प्रकार राजनीतिक क्षेत्र में शासकों से टक्कर लेने की क्षमता उन संतों में भले ही पर्याप्त न रही हो परंतु नैतिक तौर पर एक अजीब शक्ति को इन संतों ने प्रोत्साहित किया जिसके लक्षण आगे चलकर मराठों व सिक्खों के आंदोलन में दिखाई देते हैं। एक बेहद महत्वपूर्ण बात है कि बहुत-से मध्यकालीन निर्गुण संत निम्न वर्ग के थे और इसी में इनको लोकप्रियता मिली। आज के युग में सब तरह के वर्ग उनके उपदेशों की भले ही सराहना करते रहें, परंतु अपने युग में उनकी सफलता समाज के गिने चुने वर्गों में ही थी। हिंदुओं एवं मुसलमानों के उच्च वर्गों ने अपने आप को उनके प्रभाव के दायरे से बाहर रखा।

इन संतों के अनुयायियों के सामाजिक ढांचे के हमें प्रत्यक्ष प्रमाण मिलते हैं। आरंभ में इस आंदोलन का व्यापक प्रभाव निम्न वर्ग के ऊपर पड़ता रहा

है। संभवतः बौद्ध धर्म के पतन के पश्चात् भक्ति आंदोलन जैसा सशक्त देशव्यापी आंदोलन हमारे देश में कभी नहीं हुआ। जैसाकि देखा जा चुका है, इसने हमारे इतिहास को अनेक रूपों से प्रभावित किया। भक्ति आंदोलन के सभी प्रतिपादकों और समर्थकों ने अपने उपदेश जनभाषाओं में प्रतिपादित किए। ऐसा करने के कारण उनका जनता से संपर्क अधिक बढ़ा है। साथ ही इस ढंग से वे जनभाषाओं और उनके साहित्य की समृद्धि का माध्यम भी बने हैं। सांस्कृतिक दृष्टि से इस आंदोलन ने सभी ललित कलाओं को प्रेरित करने के साथ-साथ उनके ऊपर अपनी अमिट छाप छोड़ी है।

महाराष्ट्र तथा पंजाब में इस आंदोलन का सामाजिक-धार्मिक और यहां तक कि राजनीतिक प्रभाव देखा जा सकता है। इस आंदोलन में विशिष्ट सामाजिक विचारधाराएं तथा जीवन मूल्य निहित थे और यह देश के विभिन्न वर्गों के बीच सामंजस्य और सहयोग की भावना से प्रेरित था। भक्त संतों को इस बात का भी श्रेय प्राप्त है कि एक ईश्वर और सामाजिक समता की भावना पर जोर देकर उन्होंने सामंतवादी राजनीतिक विचारधारा को चुनौती दी। यह ध्यान देने की बात है कि निर्गुण संतों की सामंतवादी धारणा ने, मुस्लिम धर्म स्वीकार कर लेने वाले हिंदुओं को संतुलित स्तर पर हिंदू भक्त के रूप में पुनः धर्म परिवर्तन करने के लिए आधार प्रस्तुत किया।

कहा जा सकता है कि कुछ सीमाओं के बावजूद इस आंदोलन की उपलब्धियां विलक्षण थीं। अपने संदेश के माध्यम से वे समाज के शांतिपूर्वक रूपांतरण के लिए आधार प्रस्तुत करते रहे थे। पूजा-अर्चना पद्धति का सरलीकरण करके तथा जाति व्यवस्था की जटिलता को समाप्त करके वे धर्म को वैयक्तिक अनुभव का विषय बनाने का प्रयास कर रहे थे। इसमें ईश्वर के प्रति आस्थावान प्रत्येक व्यक्ति शामिल हो सकता था। यह सच बात है कि महाराष्ट्र, गुजरात, पंजाब, तथा बंगाल में धर्मोपदेशकों के अलग-अलग प्रयासों द्वारा हिंदू-मुस्लिम संस्कृतियों के प्रतिकूल स्वरूप का परिशोधन किया गया। 14वीं शताब्दी से ही हिंदू-मुस्लिम धर्मों के उन तत्वों का तर्कसंगत विरोध आरंभ हो गया जो सांप्रदायिक सामंजस्य तथा स्वाभाविक सहानुभूति के मार्ग में बाधास्वरूप खड़े थे।

संतों के इस संदेश का जनता में काफी स्वागत हुआ। बाबर ने विशिष्ट हिंदुस्तानी ढंग को देखा, सराहा और अकबर ने इस भावना को आगे बढ़ाया।

निश्चय ही मुगलों ने ऐसे देश पर शासन किया था जिस पर संतवाणी के प्रभाव की स्पष्ट छाप थी। अकबर का दीने-इलाही किसी निरंकुश शासक की ऐकांतिक सनक नहीं थी अपितु यह उन अवश्यंभावी शक्तियों का स्वाभाविक परिणाम था जो भारत के जनमानस में सागर की तरह उमड़ रही थीं और जो कबीर तथा नानक जैसे संतों की वाणी में मुखरित हो रही थीं।

भारत में सूफीमत का प्रभावः इस्लाम में सूफीमत का विकास किसी धर्म में होने वाले रहस्यवादी आंदोलन की सफलता तथा लोकप्रियता का महत्वपूर्ण और दिलचस्प इतिहास है। 'रहस्यवाद' और 'वैराग्य' शायद रूढ़िवादी परमार्थ विद्या के दो विकल्प थे जबकि सूफीवाद मूलतः दार्शनिक व्यवस्था पर टिका था। इस दार्शनिक व्यवस्था के कारण ही सूफीवाद ने इस्लाम की कट्टरता को तिलांजलि देकर रहस्यवाद की आंतरिक गहराई से समझौता कर लिया। जिस प्रकार धार्मिक विचारकों ने कुरान तथा इजमा के आधार पर अपने सिद्धांतों की व्यवस्था दी है उसी प्रकार सूफियों ने भी अपना रास्ता कुरान तथा सुन्नत के भीतर से ही निकाला है परंतु उनके मार्ग व दिशा (तरीकत) हमेशा शरीअत से मेल नहीं खाते।

सूफियों द्वारा प्रतिपादित रहस्यवाद एवं प्रेम तत्व में हम पाते हैं कि सूफीमत का इस्लाम से अनेक मुद्दों पर गहरा मतभेद है। लेकिन दिलचस्प बात यह है कि प्रायः सभी सूफी मुसलमान थे और साथ ही वे अपने सिद्धांतों का विवेचन करते समय इस्लाम को अपनी आंखों से ओझल नहीं होने देते थे। यद्यपि अपने विचारों की स्वतंत्र अभिव्यक्ति करते समय उन्हें कष्ट तथा यातनाएं उठानी पड़ती हैं तथापि वे अपने कार्य से पीछे नहीं हटते हैं। कुछ भी हो, सभी विरोधों एवं विरोधाभासों के होते हुए भी सूफीमत इस्लाम धर्म की ओर उन्मुख रहा है। इस्लाम ने भी सूफीमत को उदारता से स्वीकार किया है और वह उसकी महत्वपूर्ण प्रेम दृष्टि को पर्याप्त आदर देता है।

भारत में विभिन्न सूफी सिलसिलों की एक महत्वपूर्ण बात यह रही है कि उसमें आपस में कोई ईर्ष्या तथा मुकाबले की भावना नहीं थी। पारस्परिक आदर तथा समझौता उनका मुख्य आधार था। हिंदुओं की तरह जाति-भेद में न पड़कर कोई भी मुसलमान किसी भी 'सिलसिले' में दीक्षित हो सकता था। इस कारण भी आध्यात्मिक एवं सामाजिक तौर पर पीरों का प्रभाव समान रूप में रहा। भारत वर्ष में दिल्ली, अजमेर, मुल्तान, सिंध, फतेहपुर सीकरी, तथा दक्षिण भारत इत्यादि

स्थानों पर सूफी संतों के समाधि स्थान विभिन्न लोगों से प्रतिष्ठा प्राप्त करते रहे हैं।

कुरान में तौहीद तथा एकेश्वरवाद पर जोर है, परंतु सूफी परमात्मा को सृष्टि के कण-कण में व्याप्त पाते हैं तथा ईश्वर को एक व्यापक सत्ता के रूप में स्वीकार करते हैं। सूफी साधना का मूलाधार ईश्वर को प्रेम द्वारा पाना है। इस प्रेम मार्ग में साधक के समक्ष अनेक कठिनाइयां आती हैं। इस्लाम में संगीत की प्रतिष्ठा न होते हुए भी सूफियों ने इसे ईश्वर को पाने में महत्वपूर्ण साधन माना है। निजामुद्दीन के विचार में संगीत ईश्वरीय प्रेम एवं सौंदर्य से साक्षात्कार करने का अनूठा माध्यम है। कीर्तन और नृत्य की भावुक अवस्था में हृदय प्रभु को पाने के लिए अजीब शक्ति पा लेता है। भारतीय भक्ति भावना से भी सूफी परम्परा में संगीत को प्रोत्साहन मिला है।

कुल मिलाकर, इतना कहा जा सकता है कि भक्ति-आंदोलन तथा सूफी-साधना दोनों ने ही ईश्वरीय प्रेम के द्वारा मानवता का पथ प्रशस्त किया है। संतों का मन निर्मल होता है और जो सिद्धांत उन्हें अपने लक्ष्य की ओर ले जाने में उपयुक्त प्रतीत होते हैं उन्हें वे निःसंकोच भाव से ग्रहण कर लेते हैं। भारतीय संस्कृति एवं साधना के संपर्क में आने पर सूफियों ने इस संस्कृति से बहुत-कुछ ग्रहण किया। नाथपंथी साधकों, योगियों आदि का प्रभाव तो इन पर जगह-जगह देखा जा सकता है।

भारतीय इतिहास में मध्यकालीन युग प्रारंभ से ही संघर्षों का युग कहा जा सकता है। इस्लाम के आगमन के बाद इस देश की जनता एवं शासकों के लिए अनिवार्य था कि परस्पर सहयोग और समन्वय की भावना को महत्व दिया जाए। इसी विचारधारा के परिणामस्वरूप कबीर, नानक आदि संतों का प्रादुर्भाव हुआ था। इन संतों ने कुप्रथाओं, आडंबरों एवं पृथकतावादी तत्वों का विरोध करते हुए पारस्परिक सहयोग का उपदेश दिया। यह अक्सर मान लिया जाता है कि हिंदू समाज के पिछड़े वर्गों को इस्लाम ने धर्म परिवर्तन का नवीन अवसर दिया परंतु सच्चाई यह है कि उनके मुसलमान होने पर भी उनकी सामाजिक तथा धार्मिक अवस्था में कोई खास परिवर्तन नहीं आया। सच तो यह है कि सूफीमत और सूफियों ने ही इस्लाम को बदलते हुए सामाजिक तथा धार्मिक वातावरण में रहने की शक्ति प्रदान की थी। यह सूफियों का ही प्रयत्न था कि इस्लाम

धर्म में उदार तथा गतिशील तत्वों को प्रेरणा मिली। आगे चलकर यही प्रेरणा भारत में हिंदू-मुसलमानों के पारस्परिक सहयोग के लिए लाभदायक सिद्ध हुई। मध्यकालीन भारतीय सूफियों ने एक महत्वपूर्ण कार्य यह भी किया कि वे अधिक से अधिक जनसाधारण के संपर्क में आए। मुइनुद्दीन चिश्ती ने गरीबों और दुखियों की सेवा को उच्च कोटि की भक्ति माना था। उनका कहना था कि समाज में रहकर समाज के कष्टों का निवारण ही ईश्वर-प्रेम का एक सच्चा तरीका है। बाबा फरीद और निजामुद्दीन औलिया जैसे महान संतों ने अपना उद्देश्य केवल अपनी आध्यात्मिक उन्नति तक ही सीमित नहीं रखा, अपितु उनका यह निरंतर प्रयास था कि अपने ज्ञान तथा तजुर्बे द्वारा समाज तथा मानव को कल्याण का मार्ग दिखाया जाए। बलबन जैसे शासकों ने भले ही निम्न वर्ग के व्यक्ति से बात करना उचित न समझा हो परंतु उसके अपने ही राज्य में सूफियों ने जनसाधारण के कल्याण के लिए कोई कसर नहीं छोड़ी थी।

भारत में खानकाहों का उदार वातावरण हिंदू और मुसलमान दोनों को ही प्यार देने में सफल रहा। यही नहीं, सूफियों ने अहिंसा और शांति से समस्याएं सुलझाने के लिए जनता को प्रेरित भी किया। निजामुद्दीन औलिया ने सामाजिक तनाव को कम करने के लिए जनता का ध्यान बार-बार भाई-चारे की ओर आकृष्ट किया और अपने शिष्यों को निरंतर सामाजिक उत्तरदायित्व की याद दिलाई।

मध्यकालीन युग में बढ़ते हुए शहरीकरण से बहुत-सी बुराइयां उत्पन्न हो गई थीं। अमीर खुसरो ने 'किरान-उस-सादौन' में और बरनी ने अपनी पुस्तक 'तारीख-ए-फिरोजशाही' में जमाखोरी, दास प्रथा, कालाबाजारी, शराब, वेश्यावृत्ति आदि अनेक सामाजिक बुराइयों का वर्णन किया है जो शायद अमीर वर्गों के धन से बढ़ रही थीं। ऐसी स्थिति में सूफी संतों ने प्रचार तथा खानकाहों के माध्यम से मनुष्य की कमजोरियों और सांसारिक आकर्षणों की निंदा करते हुए समाज सुधार का प्रयत्न किया।

यह सूफीमत का ही प्रभाव था कि उर्दू-काव्य में प्रायः मंदिर-मस्जिद, हिंदू-मुसलमान आदि का भेदभाव दृष्टिगत नहीं होता है क्योंकि सूफी साहित्य इस्लामी शरीअत का नहीं, अपितु मनुष्य मात्र की एकता का प्रतिपादक रहा है।

सूफी संतों ने जनता को यही संदेश दिया है कि मनुष्य-मनुष्य के बीच भेदभाव की दीवार व्यर्थ है। सभी मानव समान हैं तथा उन्हें प्रेम से गले लगाना चाहिए।

सभी धर्मों का लक्ष्य विभिन्न साधनों द्वारा एक ही स्थान पर पहुंचना है। सूफी संतों ने सामूहिक जीवन को एक नए धरातल पर ढालने की कोशिश करते हुए एक ऐसे समाज की कामना की, जिसमें प्रत्येक वर्ग के लोग अपनी मानसिक तथा आध्यात्मिक उन्नति का पूर्ण अवसर पा सकें।

ईसाई धर्म

ईसा मसीह ने ईसाई धर्म की नींव डाली थी। यह धर्म चौथी शताब्दी में रोम साम्राज्य का राज्य धर्म बनाया गया था। बाद में चर्च दो समूहों में बंट गया था रोम में पोप के अधीन पश्चिमी तथा एंटीओक, अलेक्जेन्ड्रिया और कुस्तुनतुनिया के प्राधिधर्माध्यक्ष के अधीन पूर्वी। बाद में रोमन चर्च भी प्रोटेस्टेंट के रूप में टूटा और पूर्वी चर्चों में कई समुदायों ने अपने प्राधिधर्माध्यक्ष बनाए।

यहूदियों की तरह ईसाइयों का भी मानना है कि प्रभु एक है और उसी ने दुनिया बनाई है एवं उसका भरण-पोषण करता है। प्रभु ने ही यीशु को अपने मसीहा के रूप में इस संसार में भेजा है। अधिकांश ईसाई यीशु को प्रभु का अवतार मानते हैं, जिन्होंने इस पूरी मानवता को पापों से बचाने हेतु प्राण गंवाए। ईसाईयत यह प्रचार करती है कि यीशु के सांसारिक जीवन के बाद भी प्रभु इस धरती पर पवित्र आत्मा के रूप में मौजूद रहे। त्रिदेव की उनकी मान्यता है कि तीन प्राणी हैं पिता, पुत्र और पवित्र आत्मा। ईसाई यहूदी धर्म के प्रभु के साथ ईसा की निरंतरता को स्वीकार करते हैं। ईसाइयों का न्यू टेस्टामेंट यहूदियों के ओल्ड टेस्टामेंट के साथ मिलाया गया और उसी ने बाइबल का रूप लिया। ईसाइयों की पूजा में दो बातें महत्वपूर्ण हैं बपतिस्मा, जो किसी के ईसाईयत में प्रवेश का द्योतक है और यूकारिस्ट (या पवित्र कोमुन्यो), जिसमें उपासक एक दूसरे और यीशु के साथ ऐक्य के प्रतीक स्वरूप ब्रेड और शराब आपस में बांटकर खाते हैं।

भारत में ईसाइयों का आगमन ईसा के जन्म के एक शताब्दी बाद का माना जाता है। प्रमाणों व साक्ष्यों से पता चलता है कि ईसा का एक पट्टशिष्य, टॉमस, 52 ई. में भारत आया था और मालाबार (केरल) में बस गया था। ऐसी व्यापक मान्यता है कि तमिलनाडु में 72 ई. में वह हुतात्मा बन गया था और उसे माइलापुर में दफनाया गया। मद्रास एयरपोर्ट के पास एक पहाड़ी को सेंट टॉमस माउंट के नाम से जाना जाता है। 6वीं शताब्दी में व्यापक मिशनरी आंदोलन के तहत्

केरल में सीरियाई ईसाई आए थे। पुर्तगाली अपने साथ एक नई व्यवस्था लेकर आए रोमन कैथोलिक। सेंट फ्रांसिस जेवियर 1542 में गोआ आए और 1557 में गोआ को महाधर्म प्रांत बनाया गया। प्रारंभिक चरणों मे गिरिजाघरों पर जाति व्यवस्था का व्यापक प्रभाव था और केरल के ईसाइयों ने उच्च जाति के हिंदुओं की भांति सामाजिक नियम अपनाए। 18वीं सदी के अंत में ही जाकर यह प्रयास प्रारंभ हुए कि जाति के आधार पर किए जाने वाले भेदभाव को मिटाया जाए।

ईसाई मिशनरियों की गतिविधियां उत्तर भारत में सीमित थीं, हालांकि मिशनरी 16वीं सदी के अंत तक अकबर के दरबार में आने लगे थे। लेकिन 18वीं सदी के अंत से बंगाल में प्रोटेस्टेंट मिशन ने सांस्कृतिक एवं धार्मिक विकास को प्रभावित किया। 1793 में बपतिस्मा मिशनरी विलियम कैरे बंगाल आया। यह उसी का प्रभाव था कि शिक्षा और चिकित्सा के क्षेत्र में किए जाने वाले मिशनरी कार्यों में तेजी आई। आदिवासी इलाकों में धर्म परिवर्तन हुआ। इन्हीं मिशनरियों की बदौलत नागालैंड, मिजोरम और असम के आदिवासी पहाड़ी क्षेत्रों में ईसाइयों की संख्या में बढ़ोत्तरी हुई। तथापि, मिशनरी शिक्षा और चिकित्सा के क्षेत्र में ही अधिक प्रभावी दिखे, न कि धर्मांतरण कराने वाली शक्ति के रूप में। मिशनरी स्कूलों में दी जाने वाली शिक्षा ने सुधारवादी आंदोलनों को और तेज होने में ही मदद की। आज भी वाई.एम.सी.ए. (यंग मैन क्रिश्चियन एसोसिएशन), वाई.डब्ल्यू.सी.ए. (यंग वूमन क्रिश्चियन एसोसिएशन) और साल्वेशन आर्मी जैसे संगठन समाज सेवा से जुड़े हुए हैं।

जरथुष्ट्र धर्म

जरथुष्ट्र धर्म के संस्थापक प्रवर्तक थे पारसी संत जरथुष्ट्र, जिनका समय ई.पू. 6ठी सदी या 7वीं सदी माना जाता है। इस धर्म का केंद्र बिंदु यह विश्वास है कि अच्छे और बुरे के बीच संघर्ष होता है। इनके अनुसार एक शाश्वत ईश्वर है अहुर मजदा, जो प्रज्ञ, न्यायप्रिय और सर्वपालक है। दूसरी तरफ तमाम बुराइयों से भरी दुष्टात्मा अंग्रा मेन्यू है। इस धर्म के अनुयायियों को विश्वास है कि अंततः अच्छाई की जीत होगी और बुराइयों को पराजित होना पड़ेगा। वह दिन अवश्य आएगा। जरथुष्ट्रों की उपासना पद्धति में अग्नि का विशेष महत्व है। वस्तुतः पृथ्वी, अग्नि और वायु को पवित्र माना जाता है, जबकि बुराइयों (अधर्म) का

परिणाम मृत्यु है। इनका मानना है कि मरी या नष्ट हो गई वस्तुएं प्रदूषित करती हैं, इसीलिए वे मृतक को खुले स्थान में रखते हैं ताकि चील-कौवे उसे खा जाएं (जैसा बम्बई के टावर ऑफ साइलेंस में होता है)। तथापि, गाड़ने और जलाने की सामान्य प्रथा है।

जरथुष्ट्रों ने 17 गाथाओं और अथना वैरयो की रचना की, जिसे पुरानी भाषा अवेस्थन में पढ़ा जाता है। बाद की रचनाएं अवेस्ता कहलाती हैं। टीका-टिप्पणियों सहित अवेस्थन रचनाओं के अनुवाद को जेंद के नाम से जाना जाता है।

इस्लामी अरबों द्वारा ईरान से भगाए जाने पर 936 ई. में भारत के पश्चिमी तट पर जरथुष्ट्रों के आगमन का उल्लेख है। उन्हें आज के प्रचलित नाम पारसी से जाना गया। हालांकि पारसियों की संख्या कम है, किंतु जहां कहीं भी वे शहरों में हैं, आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से उनका बड़ा प्रभाव है। इन्होंने पश्चिमी रीति-रिवाजों को अपनाया और औपनिवेशिक काल में औद्योगीकरण से उपजे अवसरों का लाभ उठाया। भारत में इन्होंने आठ अतश बहरम प्रमुख अग्नि मंदिरों का निर्माण किया।

यहूदी धर्म

विश्व के प्रमुख प्राचीनतम धर्मों में से एक यहूदी धर्म एकेश्वर में विश्वास रखता है। यहूदियों के इस धर्म से ही ईसाईयत और इस्लाम विकसित हुए। इस धर्म के आधारभूत नियम व शिक्षा 'तोराह' मूल हिब्रू बाइबिल की प्रथम पांच पुस्तकों पर आधारित हैं। यहूदियों के इतिहास, लोक जीवन के साथ-साथ विधिक एवं नैतिक उपदेशों का संकलन 'तलमुद' में है। यहूदियों का विश्वास है कि उनके पूर्वज अब्राहम को ईश्वर ने ऐसा वादा किया कि यदि वे ईश्वर के प्रति समर्पित रहेगें और उसकी आराधना करेंगे तो कल्याण होगा। इस प्रसंविदा का नवीकरण ईश्वर ने अब्राहम के पुत्र ईसाक के साथ और उसके पुत्र जैकॉब (जिसे इजराइल के नाम से भी जाना गया और उसकी संतति इजराइली कहलाई) के साथ किया। कालांतर में ईश्वर ने मोजेज को माउंट सिनाई पर दस कमांडमेंट प्रदान किए, जिसमें यह बताया गया है कि इजराइलियों को कैसे जीवन-यापन करना चाहिए।

भारत में यहूदियों के दो समुदाय हैं मलयालम भाषी 'कोचीनी' और मराठी भाषी 'बेने इजराइल'। लगभग 2000 वर्ष पहले यहूदी शरणार्थी भारत के पश्चिमी तट पर आकर बसे थे। यद्यपि उनकी संख्या कम है, किंतु प्रारंभ से ही उन्हें अपने अंदाज में जीने, अपने सिनागॉग (यहूदी प्रार्थना भवन) बनवाने की अनुमति प्रदान की गई है।

पंथ

पंथ से तात्पर्य ऐसे संगठन हैं जिसका चुनाव व्यक्ति अपनी मर्जी से करता है और इसमें विभिन्न समुदायों के लोग शामिल होते हैं। पंथ का जीवन काल अस्थिर और अस्थायी होता है। इसके सदस्यों में भी काफी विभिन्नता होती है। अलग-अलग धर्मों के लोग भी इसके अनुयायी हो सकते हैं। आमतौर पर पंथ एक स्वैच्छिक संगठन होता है जिसमें अनुशासन का कठोर बंधन नहीं होता है। इसके बावजूद इसका अपना एक मत और सुपरिभाषित अनुष्ठान होते हैं।

आधुनिक युग के दो प्रमुख पंथों का उल्लेख करने जा रहे हैं।

सत्यसाईं बाबा

सत्यसाईं बाबा पंथ का केंद्र व्यक्तित्व है, उनका जन्म आंध्र प्रदेश में हुआ था और वे अपने को (उनके अनुयायी भी यह मानते हैं) महाराष्ट्र के शिरड़ी के साईं बाबा का अवतार मानते हैं। वे एक ऐसे अवतार के रूप में माने जाते हैं जिनमें शिव और शक्ति एक आत्मा में समाहित हो गई है। वे स्पष्ट शब्दों में बार-बार ईश्वरीय सत्ता का दावा करते हैं। सम्पूर्ण भारत में सत्यसाईं बाबा के अनुयायियों एवं भक्तों का काफी संख्या है। उनके अनुयायियों में शहरी, ग्रामीण हिंदू और मुसलमान सभी शामिल हैं।

उनके पंथ द्वारा कई प्रकार की सामाजिक सेवाएं की जाती हैं जैसे गरीबों को खाना खिलाना, बचाव कार्यों में अधिकारियों की मदद करना, शिक्षा का विकास, बच्चों का विकास आदि।

इंटरनेशनल सोसाइटी फॉर कृष्णा कॉन्शियसनेस (इस्कॉन)

हरे कृष्णा पंथ के नाम से लोकप्रिय यह आंदोलन ख्याति प्राप्त है। अंग्रेजी भाषी देशों जैसे इंग्लैण्ड, कनाडा, अमेरिका में इसका खूब प्रचार है। इस सोसाइटी की स्थापना ए.सी. भक्तिवेदांत स्वामी प्रभुपाद ने की थी। 1965 में आध्यात्मिक

संदेश देने के लिए वे संयुक्त राष्ट्र अमेरिका गए थे। न्यूयार्क, लॉस एंजिल्स, बर्कले और मॉन्ट्रियल में लोग उनके अनुयायी बने। इस्कॉन का मुख्यालय लॉस एंजिल्स में बना और इसके कई केंद्र स्थापित किए गए।

यह लोग केसरिया वस्त्र पहनते हैं और पुरुष अपना सिर मुडा कर रखते हैं। भगवान श्री कृष्ण का नाम लेना एक अनिवार्य अनुष्ठान है और इस पंथ के अनुयायी हरे रामा हरे कृष्णा का भजन गाते हैं। वे मूलतः पूजा की भक्ति पद्धति में विश्वास रखते हैं और इससे मोक्ष की कामना करते हैं।

सम्प्रदाय

समाजशास्त्र में सम्प्रदाय शब्द का प्रयोग एक विशेष प्रकार के धार्मिक समूह के लिए किया जाता है। यह इस अर्थ में धर्म से अलग है कि धर्म के भीतर रहकर भी यह उसका विरोधी है।

सम्प्रदाय से तात्पर्य स्वैच्छिक संघ है। जिसके अनुयायी सांसारिक जीवन से अलग-थलग रहते हैं। धर्म की सदस्यता जहां धर्म आधारित है वहीं सम्प्रदाय में शामिल होना एक स्वैच्छिक कार्य है। सम्प्रदायों का निर्माण किसी विशेष धार्मिक परम्परा के भीतर होता है। जीवन को देखने का इसका दृष्टिकोण पारिवारिक, आर्थिक, राजनीतिक और बौद्धिक दृष्टि से अलग-अलग होता है।

इनमें से किसी भी या इनमें से सभी मुद्दों पर अलग दृष्टिकोण या मत रखने से अक्सर एक सम्प्रदाय का निर्माण होता है। लगभग सभी संप्रदाय कम से कम अपने आरंभिक चरण में प्रचलित धार्मिक परम्पराओं का विरोध करते हैं।

सम्प्रदायों की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह होती है कि धीरे-धीरे वे औपचारिक धर्म का रूप लेने लगते हैं। आरंभ में हालांकि इसकी स्थापना सांसारिकता विरोध के लिए होती है परंतु कई सम्प्रदाय समाज से तालमेल स्थापित कर लेते हैं और उससे अलग-थलग नहीं रह पाते।

मूलतः सम्प्रदायों का निर्माण एक बंधे हुए समूह के रूप में हुआ था और कई तरीकों और अनुष्ठान से वे अपनी पहचान बनाए रखने का प्रयत्न करते रहे हैं। वे अपने सम्प्रदाय के भीतर ही विवाह करते हैं। सामाजिक अवसरों पर भागीदारी को भी नियंत्रित करते हैं और कहीं-कहीं तो सैनिक सेवा करने का भी प्रावधान है। इसके अतिरिक्त खान-पान के तौर-तरीकों से भी एक सम्प्रदाय दूसरे सम्प्रदाय से अपनी अलग पहचान बनाए रखने का प्रयत्न करता है।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि सम्प्रदायों का निर्माण अपनी धार्मिक परम्पराओं का विरोध करने के लिए हुआ था। उन्होंने संसार के प्रति अपना आक्रोश प्रकट किया। यह आक्रोश कहीं उग्र रहा तो कहीं शांत। समान विचार के लोगों ने अपनी इच्छानुसार सम्प्रदाय बनाए और उसमें शामिल हुए। समय के साथ-साथ कई सम्प्रदाय धर्मों में परिवर्तित होने लगे परंतु सभी सम्प्रदायों के साथ ऐसा नहीं हुआ।

हिन्दू सम्प्रदाय

हिन्दू धर्म में सबसे अधिक सम्प्रदाय और उपसम्प्रदाय हैं हिंदुओं में शिव, विष्णु और मातृदेवी जिसकी पूजा दुर्गा, काली और अन्य रूपों में की जाती है, महत्वपूर्ण देवी देवता हैं। अधिकतर पंथों संप्रदायों, उपसम्प्रदायों का उद्‌गम इन्हीं तीनों से हुआ है। इन पंथों में शिव और पार्वती के सम्प्रदाय सबसे प्राचीन है जबकि कृष्ण पंथ अपेक्षाकृत नया है।

वैष्णव सम्प्रदायः इस सम्प्रदाय के लोग विष्णु को कृष्ण या राम के रूप में पूजते हैं। इसके प्रमुख सम्प्रदाय और उपसम्प्रदाय इस प्रकार हैं।

श्री सम्प्रदायः इस सम्प्रदाय की स्थापना दक्षिण भारत के भारतीय दर्शन के महान विद्वान रामानुज ने किया था। यह सम्प्रदाय दक्षिण भारत में काफी लोकप्रिय है। वे अपने ललाट पर खास प्रकार का टीका लगाते हैं।

बल्लभाचार्य और चैतन्य के सम्प्रदायः ये दोनों सम्प्रदाय काफी लोकप्रिय थे। बल्लभाचार्य सम्प्रदाय की स्थापना एक तेलुगु ब्राह्मण बल्लभ ने की थी। उन्होंने अपने शिष्यों को सांसारिक सुखों को त्यागने से मना किया। उन्होंने उपवासों और आत्म दमन का विरोध किया। उनके गुरु भी सुख का जीवन व्यतीत करते थे। चैतन्य के अनुयायी साधारण और विनीत जीवन व्यतीत करते थे। ईश्वर की अराधाना के लिए भक्ति संगीत गाते थे और नृत्य करते थे।

रामानंदीः रामानंद इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक थे। रामानंदी मुख्य रूप से उत्तर भारत के गांगेय क्षेत्र में फैले हुए हैं। इस सम्प्रदाय के लोग मुख्य रूप से विष्णु के अवतार राम की अराधाना करते हैं। सभी जातियों के लोग इस सम्प्रदाय में शामिल हैं। इस सम्प्रदाय के शिष्यों में से कई निम्न जाति के थे। रामानंद के शिष्यों ने कई उपसम्प्रदाय विकसित किए। उनके प्रमुख शिष्य, कबीर और दादू के नाम पर क्रमशः कबीर पंथ, और दादू पंथ नामक सम्प्रदाय चलाए।

इसके अतिरिक्त वैष्णव सम्प्रदाय के प्रमुख सम्प्रदाय और उपसम्प्रदाय निम्नलिखित है

मलूक दासी, राय दासी, मीरा बाई सम्प्रदाय, माधवा चारी, चैतन्य सम्प्रदाय, चरन दासी साधना पंथी, राधा बल्लभी इत्यादि।

शैव सम्प्रदाय

दशनामी सम्प्रदायः आठवीं शताब्दी में शंकराचार्य ने शैव धर्म को नया रूप प्रदान किया। उन्होंने दशनामी सम्प्रदाय के नाम से एक महत्वपूर्ण सम्प्रदाय की स्थापना की। दशनामियों को वैदिक शैव भी कहा जाता है। दशनामी सम्प्रदाय की स्थापना के पहले शैव सम्प्रदाय में कनफटा, अघोरी, कालमुखी और कापालिकों जैसे तांत्रिक शैवों का वर्चस्व था।

इस संगठन में निम्नलिखित दस कोटियों के सन्यासी शामिल थे। (i) गिरि (ii) पुरी (iii) भारती (iv) वन (v) पार्वती (vi) अरण्य (vii) सागर (viii) तीर्थ (ix) आक्षम (x) सरस्वती। शंकराचार्य ने उत्तर, दक्षिण, पूरब और पश्चिम में क्रमशः ज्योति पीठ, शृंगेरी पीठ, गोवर्धन पीठ और द्वारका या शारदा पीठ की स्थापना की। दशनामी सन्यासी मुख्य रूप से दंडधारियों (जिसमें कर्मचारी शामिल होते थे) और परमहंसों (जिनमें कर्मचारी नहीं शामिल होते थे) में विभक्त है। दशनामी सम्प्रदाय के 10 उपसम्प्रदायों में से तीर्थ, आश्रम और सरस्वती के सन्यासियों को ही कर्मचारी रखने का अधिकार था और परमहंस कहे जाने वाले सन्यासियों को यह अनुमति प्राप्त नहीं थी।

दशनामी संन्यासी भी दो प्रमुख भागों अस्त्रधारी (हथियार रखने वाले) और शास्त्रधारी (धर्म ग्रंथ रखने वाले) में विभक्त हैं। अस्त्रधारी लड़ाकू संन्यासी और शास्त्रधारी विद्वान संन्यासी होते हैं। पहले प्रकार के संन्यासियों को नागर संन्यासी भी कहा जाता है जिन्हें अखाड़ों के माध्यम से संगठित किया जाता है। दशनामी अखाड़े के सात प्रकार हैं   महानिर्वाणी अखाड़ा, निरंजनी अखाड़ा, जन या भैरव अखाड़ा, आवाहन अखाड़ा, आनंद अखाड़ा, निर्वाणी अखाड़ा।

कनफटा या नाथ पंथीः यह सम्प्रदाय तांत्रिक शैव धर्म का ही हिस्सा है। कनफटे अपने कान में छेद करके उसमें बाली पहनते थे। इस सम्प्रदाय के पुनः संगठनकर्ता के रूप में गोरखनाथ का नाम आता है। ऐसा माना जाता है कि इस सम्प्रदाय की स्थापना सतीनाथ ने की थी। कनफटे शिव को सर्वोच्च यथार्थ के रूप में स्वीकार करते थे। शिव में समाहित होकर ही मोक्ष प्राप्त किया

जा सकता है। नाथ सम्प्रदाय में नाथ योग और तंत्र को मोक्ष का सर्वथा उपयुक्त साधन माना गया है।

अघोरी पंथः इस सम्प्रदाय को अघोर पंथ या अवघड़ पंथ के रूप में जाना जाता है और इसके अनुयायियों को अघोरी या अवघड़ कहा जाता है। इस सम्प्रदाय की स्थापना गोरखनाथ के एक शिष्य ब्रह्मगिरि ने की थी। इस सम्प्रदाय का नाम अघोर शब्द से बना है जो विशेष तौर पर कभी न डरने वाले शिव के लिए प्रयुक्त होता है। इससे स्पष्ट है कि अघोर पंथी का अर्थ शिव की अराधना करने वाले संन्यासियों से है। अघोरी अपने सारे शरीर पर शमशान की राख मले रहते हैं। वे विशिष्ट चिन्ह धारण करते हैं जो हिंदू त्रिपदी की एकता का प्रतीक है।

वीर शैव या लिंगायत सम्प्रदायः लिंगायत मुख्य रूप से दक्षिण भारत में पाए जाते हैं। इस सम्प्रदाय का नाम लिंग शब्द से बना है। एक पक्का लिंगायत अपने शरीर पर चांदी की छोटी सी मंजूषा पहनता है जिसमें पत्थर का लिंग रखा होता है। यह उसकी आस्था का प्रतीक होता है। जिसके खोने का अर्थ होता है आध्यात्मिक मृत्यु।

इस सम्प्रदायों में लिंगायत या वीर शैव शिव को अपना आराध्य मानते हैं और उनका प्रतीक लिंग धारण करते हैं। लिंगायत सम्प्रदाय की शुरुआत 12वीं शताब्दी में हुई थी। लिंगायतों का सबसे महत्वपूर्ण आयोजन अष्ट वर्ण है जिसमें आठ अनुष्ठान शामिल हैंः गुरु, लिंग, विभूति, रुद्राक्ष, मंत्र, जंगम, तीर्थ और प्रसाद। लिंगायतों को मांस या मदिरा छूने की अनुमति नहीं है।

कापालिक पंथः हालांकि यह सम्प्रदाय लगभग समाप्त हो चुका है लेकिन प्राचीन भारत में यह व्यापक तौर पर फैला हुआ था। कापालिक तांत्रिक होते हैं। वह नदियों के किनारे निर्वस्त्र रहते हैं। वे मनुष्य के मृत शरीर को खाते हैं। वे बिना किसी संकोच या हिचक के मांस या मदिरा का सेवन करते हैं। इनके आराध्य देव काल भैरव हैं।

शाक्त सम्प्रदायः शाक्त योग दर्शन में शक्ति (नारी शक्ति) को सर्वोच्च सत्ता माना गया है। शिव चित है और शक्ति छिद्रपनी (शुद्ध चेतना) है। शक्ति के आदेश का पालन करते हुए ब्रह्म, विष्णु और शिव सर्जन, संरक्षण और संहार का कार्य करते हैं। वह ईश्वर की लीला में हिस्सा लेती है, वह सार्वभौम माता है। दुर्गा, काली, भगवती चामुंडी त्रिपुरा सुंदरी, राज राजेश्वरी पार्वती, सीता, राधा

आदि उन्हीं के रूप हैं। शक्ति एक शुद्ध चेतना है। शक्ति में तीन गुण होते हैं: सत्य, रजक और तमस। शक्ति या देवी माता की पूजा करने वाला भक्त शाक्त कहलाता है। शाक्त निम्नलिखित तीन समूहों में विभक्त हैं।

(i) दक्षिणचारीः ये सांसारिकता से बिल्कुल मुक्त होते हैं और देवी-देवताओं को रक्त की बलि नहीं चढ़ाते।

(ii) बामचारीः ये तांत्रिकों के उपदेशों का पालन करते हैं और अपने देवी-देवताओं को खून की बलि चढ़ाते हैं।

(iii) कवलिकः ये कौल उपनिषद का पालन करते हैं। ये मां जगदम्बा जो सर्वोच्च प्राकृतिक शक्ति हैं की पूजा करते हैं।

सिक्ख सम्प्रदाय

सिक्ख धर्म में सम्प्रदायों का उदय ज्यादातर धार्मिक सुधारों और आंदोलनों के रूप में हुआ है। इनमें से कई सम्प्रदायों में हिंदू और सिक्ख दोनों इसके अनुयायी हैं। निरंकारी व्यास के राधास्वामी और नामधारी कुछ प्रमुख सम्प्रदाय हैं।

राधास्वामी सम्प्रदाय की स्थापना आगरा के एक हिंदू शिवदयाल ने की थी। उन्होंने हिंदू और सिक्ख दोनों धर्मों के सिद्धांतों का समावेश किया। यह सिक्ख धर्म से भिन्न है कि ये जीवित गुरुओं की परंपरा में विश्वास रखते हैं। यह सम्प्रदाय कई उपसम्प्रदायों में विभक्त हो गया जैसे दयालबाग (आगरा) और व्यास (पंजाब के राधास्वामी) इनके अपने अलग-अलग धार्मिक स्थल हैं। इन्होंने सिक्खों के आदि ग्रंथों से काफी कुछ ग्रहण किया है।

नामधारी सम्प्रदाय की स्थापना उत्तर पश्चिम सीमांत प्रदेश के हजारो गांव के बालक सिंह ने की थी। उन्होंने अलग प्रकार की पूजा पद्धति और परिधान अपनाया। इस सम्प्रदाय के अनुयायी मंत्रोचार करते हैं और धार्मिक सभाओं में उत्तेजना की स्थिति से गुजरते हुए उन्माद की स्थिति तक पहुंच जाते हैं और जोर-जोर से चिल्लाते हैं। इसलिए इन्हें **कूका** के नाम से जाना जाता है।

मुसलमान सम्प्रदाय

मुसलमान कई सम्प्रदाय तथा उपसम्प्रदाय में विभाजित हैं। भारत में सुन्नी, शिया, बोहरा, अहमदिया कुछ बड़े सम्प्रदाय हैं। ये सम्प्रदाय उपसम्प्रदायों में विभक्त हैं। वहाबियों को सुन्नियों का उपसम्प्रदाय माना जाता है। इस्माईली बोहरा

सम्प्रदाय का एक अंग है। इनमें से अधिकांश सम्प्रदाय कुछ व्यक्तियों के इर्द-गिर्द पंथ के रूप में विकसित हुए थे। लेकिन समय के साथ-साथ वे सम्प्रदाय में बदलते चले गए। यहां हम सम्पूर्ण विश्व में फैले दो प्रमुख सम्प्रदायों सुन्नी या शिया का संक्षिप्त परिचय देने जा रहे हैं। सुन्नी अपने को सुन्नी (पैगम्बर की परंपरा) का अनुयायी मानते हैं। वे अब हनीफा, मलिक, अबुल, अनस, अश शाफी, और अहमद बिन हम्बल जैसे विद्वानों या इमामों द्वारा प्रस्तुत चार प्रमुख इस्लामी विचारों का अनुकरण करते हैं। सुन्नी हजरत अब वक्र, उमर, उस्मान और अली की खिलाफ़त परम्परा और क्रम को भी उचित और सही ठहराते हैं। वे पैगम्बर के सिवा किसी अन्य को आध्यात्मिक गुरु या पथ प्रदर्शक के रूप में स्वीकार नहीं करते हैं। वे केवल कुरान और हदीस (पैगम्बर के वचन) पर ही विश्वास करते हैं।

शिया और सुन्नियों में पैगम्बर के बाद उत्तराधिकारी के रूप में हजरत अली को ही स्वीकार किया जाता है। शिया पैगम्बर के बाद धार्मिक और आध्यात्मिक नेता के रूप में इमामों की परम्परा को भी स्वीकार करते हैं। शिया अली को पहला इमाम मानते हैं और वे 128 इमामों की शृंखला में विश्वास करते हैं। इन आधारभूत मतभेदों के अतिरिक्त व्याख्या संबंधी मतभेद भी सामने आ गए हैं और शिया संप्रदाय इस्लाम धर्म के एक प्रमुख सम्प्रदाय के रूप में विकसित हुआ है।

बौद्ध सम्प्रदाय

गौतम बुद्ध के बाद धार्मिक सम्प्रदाय और आस्था के प्रश्न पर कई बौद्ध परिषदें आयोजित की गईं। इससे दो प्रमुख विचारधाराओं का उदय हुआ।

वैशाली में 383 ई.पू. में द्वितीय बौद्ध साबकमीर कालशोक की अध्यक्षता में सभा आयोजित हुई। इसमें नियमों में कुछ शिथिलता लाई गई। परिणामस्वरूप, बौद्धमत का दो सम्प्रदायों में विभाजन हो गया स्थविर और महासंघिक। स्थविरवादी धीरे-धीरे ग्यारह सम्प्रदायों और महासंघिक सात सम्प्रदायों में बंट गए। ये अठारह सम्प्रदाय हीनयान मत में संगठित हुए। स्थविरवादी कठोर भिक्षुक जीवन और मूल निर्देशित कड़े अनुशासित नियमों का अनुसरण करते थे। वह समूह, जिसने संशोधित नियमों को माना, महासंघिक कहलाया।

महायान सम्प्रदाय का विकास चौथी बौद्ध सभा के बाद हुआ। हीनयान सम्प्रदाय जो बुद्ध की रूढ़िवादी शिक्षा में विश्वास करता था, का जिस गुट ने विरोध किया और जिन्होंने नए विचार अपनाए वे लोग महायान के समर्थक कहलाए। उन्होंने बुद्ध की प्रतिमा बनाई और ईश्वर की भांति उसकी पूजा की। प्रथम सदी ई. में कनिष्क के शासनकाल में कुछ सैद्धांतिक परिवर्तन किए गए।

महत्वपूर्ण विचार एवं पद

अद्वैत

'अद्वैत' अर्थात् दूसरा नहीं, इस दर्शन के प्रवर्तक शंकराचार्य थे। उनके अनुसार ईश्वर एक है, उसके अतिरिक्त कोई दूसरा नहीं, कोई दूसरी सत्ता नहीं। सिवाय ईश्वर के और कोई मौजूद नहीं। यानी 'एकमेवद्वितीयम्'। वह निर्गुण है अर्थात सब गुणविशेषताओं से रहित। ईश्वर के सिवा जो अन्य सभी सत्ताएं दिखती हैं, वह सब माया हैं। मनुष्य जब तक अज्ञानता से ग्रस्त है, उसे विश्वास करना पड़ता है कि माया वास्तविक है और व्यावहारिक जीवन में उसे इस परिकल्पना के अनुसार कार्य करना पड़ता है। किंतु जो जानता है और मोक्ष प्राप्त करना चाहता है, उसके लिए आवश्यक है कि वह अज्ञानता का आवरण हटाए और वास्तविक एकात्मता की ओर दृष्टिपात करे। यह तभी संभव है जब आध्यात्मिक साधना द्वारा इंद्रियों और प्रत्यक्ष ज्ञान का दमन नहीं होता। अतः 'सच्चिदानंद' बनने की आवश्यकता है।

अकाल तख्त

सिक्खों की सर्वोच्च धार्मिक सत्ता तख्त है,जो पंथ से जुड़े मुद्दों पर निर्णय लेता है। तख्त के हुक्मनामे सिक्खों को मानने पड़ते हैं। चार प्रमुख तख्त हैं अमृतसर में अकालतख्त, आनंदपुर में तख्त केशवगढ़ साहिब, पटना में तख्त पटना साहिब और महाराष्ट्र के नांदेड़ में तख्त हजूर साहिब।

बोधिसत्व

महायान सम्प्रदाय के बौद्धों के अनुसार लोगों को बुद्ध होने के लिए सिर्फ अपने प्रयासों पर ही निर्भर नहीं रहना है। उन्हें बोधिसत्व की सहायता मिलेगी, जो इस दुनिया में औरों की मुक्ति हेतु आए हैं। बोधिसत्व वही है, जो बुद्ध बनना चाहता है ज्ञान और सद्गुणों के बल पर, सभी को अपने साथ निर्वाण प्राप्त

कराने हेतु कार्य करके और प्रेम व अनुराग के कार्यों के आधार पर दुःख निवारण हेतु निर्वाण को स्थापित करके। पारम्परिक रूप से विख्यात बोधिसत्व हैं अवलोकितेश्वर, अमिताभ, वैरोचन, मंजूश्री और सुमंतभद्र। मैत्रेयी अभी तुषित स्वर्ग में हैं और किसी भारी विपदा के समय इस विश्व को बचाने हेतु यहां आने की प्रतीक्षा में हैं।

दीन-ए-इलाही

मुगल सम्राट अकबर ने इस मत को चलाया था। 1582 ई. में सभी धर्मों के सार पर आधारित यह मत प्रतिपादित कर अकबर ने ऐसी व्यवस्था की कि इसमें कोई भी शामिल हो सकता था। शामिल होने की बाध्यता भी नहीं थी। कहा जाता है कि स्वयं बीरबल इससे अलग रहे। बहरहाल, यह मत सुलह-कुल के सिद्धांत पर आधारित था। इसमें एक सर्वशक्तिमान ईश्वर की कल्पना की गई थी। इसे मानने वालों को निर्धारित आचार संहिता के दस नियमों को मानना पड़ता था। कई कारणों से यह मत अकबर के ही इर्द-गिर्द रहा और उसकी मृत्यु के पश्चात् समाप्त हो गया।

द्वैत

13वीं शताब्दी में माधव ने 'द्वैत' दर्शन का प्रतिपादन किया। इसके अनुसार ब्रह्म और सृष्टि अलग-अलग हैं। उपनिषदों पर आधारित माधव के दर्शन में यह कहा गया कि ईश्वर सर्वोच्च है और वही आत्मा का जन्मदाता है, किंतु ऐसा नहीं है कि सबमें उसी का अस्तित्व है। 'सब कुछ वही है' इसे नहीं माना गया, बल्कि 'उसी से सबकुछ है' का सिद्धांत माना गया।

हिजरत

पैगम्बर मुहम्मद का 622 ई. में मक्का से मदीना जाना हिजरत कहलाता है और यहीं से हिजरी संवत् प्रारंभ होता है।

लोकायत

चार्वाक से जुड़े इस मत ने आत्मा की उपस्थिति या चेतना के अस्तित्व को नकारा है, जिसको हिंदू दर्शन के सभी अंगों ने स्वीकार किया है। इसका मानना है कि चेतना और कुछ नहीं बल्कि कुछ तत्वों का मिश्रण है। मृत्यु के बाद कुछ शेष नहीं रहता। वेदों की अमोधता, कर्म एवं पुनर्जन्म के सिद्धांतों को भी यह मत नहीं मानता है।

मीमांसा

हिंदुओं के षड्दर्शन में से एक मीमांसा दर्शन में वेदों को ही आधार माना गया है। 200 ई.पू. में जेमिनी द्वारा स्थापित इस दर्शन का मानना है कि वेद अपौरूषेय हैं अर्थात् इन्हें किसी पुरुष या मनुष्य ने नहीं बनाया। इसलिए इसकी सत्यता किसी भी संदेह से परे है और उनमें दिए गए निर्देशों का अवश्य पालन होना चाहिए। किंतु इनका सम्बंध वेदों के धर्मविज्ञान या नीतिशास्त्र से नहीं बल्कि केवल कर्मकाण्डों, धर्मानुष्ठानों, यज्ञ, भजन और प्रार्थनाओं से सम्बंधित श्लोकों से है। इस दर्शन के अनुसार आत्मा, जो शाश्वत है और शरीर से अलग है, कर्मकाण्डों के माध्यम से शुद्ध होती रहनी चाहिए क्योंकि कर्मकाण्डों के बिना ज्ञान अधूरा है।

न्याय

गौतम द्वारा अंग्रेजी कैलेण्डर प्रारंभ होने के समय के आस-पास प्रतिपादित इस दर्शन में मुख्यतया तर्क विद्या को प्रधानता दी गई है। इसके अनुसार सत्य या वास्तविकता का ज्ञान ही मोक्ष दिला सकता है। न्याय में प्रमाण और प्रमैया का विवरण है यानी वह, जिसे प्रमाणित किया जाना है। इसमें इस विचार को मान्यता दी गई है कि आत्मा शाश्वत है और ईश्वर एवं सृष्टि के समानांतर उसका भी अस्तित्व है।

शरीयत

मुस्लिम कानूनों का समुच्चय, जो अल्लाह के हुक्म पर आधारित है और इसमें अन्य कई श्रोतों का भी योगदान है जैसे कुरान, पैगम्बर मुहम्मद के उपदेश और मुस्लिम समुदाय की सर्वसहमति। इसी को आधार मान सभी मसले हल किए जाते हैं।

तांत्रिक मत

यह हिंदू धर्म और बौद्ध धर्म में उपासना का एक रूप है। हिंदुओं में इसमें तंत्रमंत्र के सहारे शिव-शक्ति की पूजा की जाती है। बौद्धों में इसे वज्रयान के नाम से जाना जाता है। इसी से हठयोग, मंत्र एवं तांत्रिक आचारों की प्रधानता हुई। कतिपय वैष्णव, शैव पंथों में तंत्र-मंत्र के माध्यम से शरीर की प्रमुखता बताते हुए करतब किए जाते हैं।

तीर्थंकर

जैनियों के धर्म गुरु तीर्थंकर कहलाते हैं। दुनिया की बुराइयों से ऊपर उठ चुके ये गुरु जैन धर्म में एक लम्बी शृंखला बनाते हैं। कुल 24 तीर्थंकर हुए हैं। इनमें वर्धमान महावीर 24वें थे। इन्होंने आवागमन के चक्र से मुक्ति एवं आत्मा को कलुषित होने से बचाने के कई मार्ग बताए, जिन पर चलकर मनुष्य कैवल्य प्राप्त कर सकता है। इनके धर्म ग्रंथ **कल्पसूत्र** में इन तीर्थंकरों का वर्णन है।

उर्स

मुस्लिम संतों की पुण्यतिथि पर उनकी मजार पर मनाए जाने वाले उत्सव को उर्स कहा जाता है। इस मौके पर कुरान की आयतें पढ़ी जाती हैं, कव्वाली गाई जाती है और फूल व चादरें चढ़ाई जाती हैं।

उत्तर मीमांसा

सामान्य रूप से वेदांत के नाम से ज्ञात यह हिंदू दर्शन की 6 शाखाओं में से एक है। बादरायण के ब्रह्मसूत्र पर आधारित यह शाखा उपनिषदों के महत्व पर जोर देती है। इसमें प्रयास किया गया है कि उपनिषद् के ज्ञान को ठोस व सरल रूप दिया जाए। ब्रह्मसूत्र की गूढ़ एवं दुर्बोध सूक्तियों के कारण ही शंकर के 'अद्वैत', रामानुज के 'विशिष्टाद्वैत' और माधव के 'द्वैत' जैसी व्याख्याएं जन्मी थीं।

वैशेषिक

कनाद द्वारा प्रतिपादित हिंदू दर्शन की यह शाखा न्याय दर्शन के काफी नजदीक है। यह शाखा उस ब्रह्माण्ड की व्याख्या करती हुई परमाणुवाद की पद्धति पर आधारित है, जिसमें आत्मा लिप्त है। सांख्य की भांति वैशेषिक का भी मानना है कि आत्मा ब्रह्मांड से भिन्न है और इसकी मुक्ति इस भिन्नता को समझकर ही हो सकती है। संसार के आणविक चरित्र को समझने में पहला चरण यह है कि यह अणुओं की निरंतर परिवर्तित होने वाली संश्लिष्ट प्रक्रिया है, जो किन्हीं सिद्धांतों के अनुसार एकजुट या अलग होते हैं। ब्रह्मचक्र की समाप्ति पर ये अणु पूर्ण संतुलन की स्थिति में आ जाते हैं।

विशिष्टाद्वैत

12वीं शताब्दी में रामानुज ने शंकराचार्य से अलग वेदांत की व्याख्या भिन्न ढंग से करते हुए भक्ति को दार्शनिक आधार प्रदान किया। उन्होंने विशिष्टाद्वैत

का प्रतिपादन किया और ईश्वर की अवधारणा को इष्टदेव के रूप में रखा। उनके अनुसार सर्वशक्तिमान भगवान विष्णु ने अपने अंश से इस ब्रह्माण्ड की रचना की और चूंकि सृष्टिकर्ता ने ही इसे बनाया है तो यह शून्य कैसे हो सकता है। इसी प्रकार उन्होंने आत्मा बनाई। परमानंद की स्थिति में भी यह अपना अस्तित्व नहीं खो सकती क्योंकि यदि मुक्ति का मार्ग तलाशना है तो समर्पण आवश्यक है।

योग

ऋषि याज्ञवल्क्य द्वारा प्रस्तुत और बाद में पातंजलि द्वारा व्यवस्थित की गई हिंदू दर्शन की योग शाखा ने उस कमी को पूरा किया, जिसे सांख्य दर्शन ने अधूरा छोड़ दिया था। योग के मनोविज्ञान और ज्ञान के सिद्धांत सांख्य दर्शन में से लिए गए हैं। उसके समान इसका उद्देश्य है कि मनुष्य की आत्मा प्रकृति के बंधन से मुक्त हो और सत्य की अनुभूति तथा मन की परम शांति प्राप्त करे; जिसे वह योग कहता है। प्रार्थना और आध्यात्मिक साधना इसके मार्ग हैं। इस आध्यात्मिक प्रशिक्षण के समय एक ऐसी अवस्था आती है, जब योगी सर्वोच्च शक्ति प्राप्त कर लेता है। उसके बल पर वह पृथ्वी और आकाश, भूत और भविष्य के बारे में सब कुछ जान सकता है, स्वयं को अदृश्य कर सकता है, हवा में उड़ सकता है और पानी पर चल सकता है। उसका ध्येय पूर्ण अनासक्ति व पूर्ण शांति प्राप्त करना है।

व्यक्तित्व

अंदालः मध्यकालीन दक्षिण भारत के अलवार (वैष्णव) सम्प्रदाय की साध्वी कवयित्री अंदाल अपने भावपूर्ण भक्ति गीतों के लिए जानी जाती हैं।

गुरु अर्जुन देवः गुरु परंपरा की कड़ी में पांचवें और गुरु रामदास के सबसे छोटे पुत्र गुरु अर्जुन देव को आदि ग्रंथ के संकलन का श्रेय जाता है। अमृतसर में अपने पिता द्वारा बनाए जा रहे पवित्र सरोवर का निर्माण इन्होंने पूरा किया और हरमंदिर साहिब भी बनवाया। 1606 ई. में मुगल सम्राट जहांगीर ने अपने शहजादे खुसरो द्वारा विद्रोह किए जाने के समय उसकी मदद करने के कारण गुरु अर्जुन देव को लाहौर में फांसी पर चढ़वा दिया था।

चैतन्यः विश्वम्भर मिश्रा, जो बाद में चैतन्य (1485-1533) के नाम से जाने गए, मध्यकालीन भारत के भक्ति आंदोलन में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं।

इन्होंने अपना आंदोलन बंगाल से प्रारंभ कर पूरे पूर्वी भारत में फैलाया। ये कृष्ण के अनन्य भक्त थे। इनका मानना था कि कृष्ण भगवान विष्णु के अवतार मात्र नहीं थे, बल्कि दिव्य शक्ति के प्रतीक थे, ईश्वरीय सत्व थे। इसी रूप में उनका राधा से मिलन हुआ। भक्त भक्ति के माध्यम से परमानंद की उस स्थिति में पहुंचता है, जिसमें वह स्वयं को राधा पाता है और कृष्ण से उसका उसी रूप में मिलन होता है।

चैतन्य ने संकीर्तन के द्वारा भक्ति भाव का प्रचार-प्रसार किया। चैतन्य द्वारा चलाए गए भक्ति आंदोलन ने बंगाली जीवन, साहित्य को प्रभावित किया तथा बाद के सामाजिक-धार्मिक सुधारकों के लिए प्रेरणास्रोत बना। चैतन्य ने जाति-पांति, ऊंच-नीच, वेद व वेदांतों को नहीं माना और भक्ति को सर्वोपरि मानते हुए समाज को एक नया मार्ग दिया।

चंडीदासः बंगाल के भक्ति साहित्य में चंडीदास का नाम अग्रदूतों में लिया जाता है। चौदहवीं सदी इनका समय माना जाता है। इनका कहना था कि एकमात्र भक्ति ही ऐसा मार्ग है, जो मुक्ति दिला सकता है। ईश्वर के प्रति यह प्रेम किसी व्यक्ति के लिए सांसारिक अनुराग पर आधारित होना चाहिए, किंतु, चूंकि इस अनुराग का परिष्कार आवश्यक है, इसका विषय कोई ऐसा होना चाहिए, जो सुलभ न हो। राधा-कृष्ण के प्रेम को समर्पित उनके कृष्ण कीर्तनों में भावों की गहराई और गूढ़ प्रतीकवाद के दर्शन होते हैं।

ख्वाजा मोइनुद्दीन चिश्तीः भारत में चिश्ती सम्प्रदाय की स्थापना का श्रेय इन्हें ही जाता है। सन् 1206 के आसपास ये अजमेर में जाकर बस गए थे।

शेख निजामुद्दीन औलियाः दिल्ली को चिश्ती सम्प्रदाय का प्रमुख केंद्र बनाने में इनका सर्वप्रमुख योगदान था।

शेख सलीम चिश्तीः ये अकबर के समकालीन थे। इन्होंने सम्राट के तीन पुत्रों के जन्म की भविष्यवाणी की थी। यही वजह थी कि अकबर ने अपने सबसे बड़े बेटे का नाम सलीम रखा था। इस सूफी संत के निवास सीकरी के पास अकबर ने फतेहपुर सीकरी बसाई।

दादूः निर्गुण पंथ के महत्वपूर्ण एवं सम्मानित संत दादू मूलतः अहमदाबाद के जुलाहे थे। ये कबीर के शिष्यों में से एक थे। 16वीं सदी में इन्होंने जाति भेद को नकारते हुए ईश्वर के प्रति प्रेम एवं भक्ति का प्रचार किया। ये हिंदू-मुस्लिम एकता के प्रबल पक्षधर थे।

एकनाथः वैष्णव भक्ति सम्प्रदाय के संतों में एकनाथ का नाम प्रमुखता से लिया जाता है। महाराष्ट्र के इस मराठी संत का समय 16वीं सदी का माना जाता है। इनकी विद्वता उल्लेखनीय थी। इन्होंने ज्ञानदेव की ज्ञानेश्वरी का प्रथम संस्करण निकाला था। इन्होंने रामायण पर टीका भी लिखी। इन्होंने जाति-पांति को समाज के लिए अनावश्यक और हानिकारक बताया। इनका मानना था कि कोई भी व्यक्ति अपनी सामान्य दिनचर्या का पालन करते हुए धर्म की गहरी अनुभूति प्राप्त कर सकता है। भक्ति गीतों के लिए भी इनका काफी सम्मान है। इनके गीत मराठी भाषा की धरोहर के रूप में हैं।

गोकुलनाथः मध्यकालीन भारत के उल्लेखनीय धार्मिक सुधारक गोकुलनाथ वल्लभ सम्प्रदाय की आचार्य परम्परा से सम्बंध रखते हैं। हिन्दी साहित्य के वार्ता साहित्य में इनका प्रमुख स्थान है। चौरासी वैष्णवों की वार्ता और दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता के रचयिता यही थे।

गोरखनाथः कनफटा योगी संप्रदाय के संस्थापक गोरखनाथ 12वीं सदी के संत थे। इनके अनुसार तत्वज्ञानी होने के लिए तप आवश्यक था। इनका प्रचार क्षेत्र वर्तमान गोरखपुर का इलाका था। संभवतः उन्हीं के नाम पर इसका नाम गोरखपुर पड़ा होगा। कालांतर में उनका सम्प्रदाय काफी बदनाम हो गया था क्योंकि कर्मकाण्ड के नाम पर भयंकर और असाध्य कृत्य किए जाने लगे थे।

गुरु गोविन्द सिंहः सिक्खों के अंतिम व दसवें गुरु गोविन्द सिंह (1656-1708) ने 1699 में 'खालसा' पंथ की स्थापना की थी। इसमें शामिल होने के लिए कुछ बातें अनिवार्यतः करनी पड़ती थीं, जैसे केश रखना, कंघा लगाना, कच्छा पहनना, कड़ा पहनना और कृपाण रखना। अपने पिता गुरु तेग बहादुर को मुगल सम्राट द्वारा दी गई फांसी का बदला लेने हेतु उन्होंने मुगलों से जमकर लोहा लिया। बाद में नान्देड़, महाराष्ट्र में उनकी हत्या कर दी गई।

ज्ञानदेवः 13वीं सदी में ज्ञानेश्वर ही पहले ऐसे संत थे, जिन्होंने मराठी में सर्वप्रथम 'भक्ति' का प्रयोग किया। उन्होंने मराठी में भगवद्गीता पर टीका लिखी, जिसे ज्ञानेश्वरी के नाम से जाना गया। पंडरपुर स्थित विठोबा मंदिर में नियमित रूप से आराधना व अर्चना हेतु जाने वाले वरकारी सम्प्रदाय से जुड़े होने के कारण ही उनकी 'भक्ति' प्रमुखता से उभरी थी। ज्ञानेश्वरी में बोलचाल की भाषा होने के कारण जनसाधारण ने इसे सीधे तौर पर ग्रहण किया।

गांव के सादे जीवन के दृष्टांतों व रूपकों की सहायता से उन्होंने कीर्तनों की रचना की।

कबीरः 15वीं शताब्दी में हुए कबीर के विषय में माना जाता है कि वे जन्म से जुलाहे थे, किंतु उनका भरण-पोषण मुसलमान परिवार में हुआ। वैष्णव सुधारक रामानंद के वे शिष्य थे। उनका कहना था कि यदि ईश्वर को प्राप्त करना है तो भक्ति ही एकमात्र मार्ग है। नेकी, विनय, अनुशासन, प्रेम और ईश्वर के कीर्तन व चिंतन से ही मनुष्य अपनी आत्मा की शुद्धि प्राप्त कर सकता है, ऐसा उनका मानना था। उन्होंने धर्म में फैले आडम्बर, कर्मकाण्ड, विरोधाभास, अंधविश्वास, मूर्तिपूजा, तीर्थयात्रा इत्यादि की जमकर आलोचना की। जाति पर आधारित सामाजिक असमानता व अन्याय के भी वे विरोधी थे। उन्होंने भाईचारे की वकालत की और कहा कि सब कुछ ईश्वरीय प्रतिबिम्ब ही है। हिंदू और मुसलमानों, दोनों ने उनको सम्मान दिया । सिक्खों के 'आदिग्रंथ' में उनके गीत शामिल किए गए। कबीर निर्गुण पंथी थे। कबीर की उलटबांसी काफी प्रसिद्ध हुई। इनके अनुयायी बाद में कबीरपंथी कहलाए। इनके गीतों का संकलन 'बीजक' में किया गया है।

लोकाचार्यः वैष्णववाद के तेंगाली सम्प्रदाय के प्रवर्तक लोकाचार्य 12-13वीं सदी में थे। इनका मानना था कि ईश्वर की कृपा भक्ति व प्रयास से हासिल करना ही पर्याप्त नहीं है, बल्कि उसे स्वीकार भी किया जाना चाहिए।

माधवः आदि शंकराचार्य के अद्वैत सिद्धांत से हटकर द्वैत दर्शन की व्याख्या करने वाले माधव कर्नाटक के ब्राह्मण थे और इनका समय था तेरहवीं सदी का। इन्होंने अपने जन्म स्थान उदिपि में माधव सम्प्रदाय की नींव डाली। ऐसा माना जाता है कि मुस्लिम धर्मवेत्ताओं से तर्क करने और अपने दर्शन को सही साबित करने के लिए उन्होंने फारसी भी सीखी थी। इन्होंने भारतीय दर्शन का विश्लेषण और व्याख्या करने हेतु 'सर्व-दर्शन संग्रह' की रचना की।

मीराबाईः कृष्ण के अनन्य भक्तों में मीरा का नाम आता है। मीरा राजपूत राजा की कन्या थी और उनका विवाह मेवाड़ के राणा से हुआ था। कृष्ण की भक्ति में डूबे होने के कारण राणा ने संदेहवश उन्हें जहर भी दिया था। किंतु, कहा जाता है कि श्री कृष्ण की कृपा से वह जहर बेअसर रहा। बाद में इन्होंने महल त्याग दिया और पूरी तरह से भक्ति में लीन हो गईं। घूम-घूमकर भजन

गाने लगीं। इन्होंने अपने 'गिरिधर नागर' को अपना सर्वस्व न्यौछावर कर दिया। ब्रजमिश्रित राजस्थानी में अनेकों गीत इन्होंने रचे। उनमें से कई 'आदिग्रंथ' में भी लिए गए हैं। अपने रिश्ते को 'आध्यात्मिक प्रणय' मानते हुए उन्होंने अपना अंतिम समय मथुरा में बिताया।

नागार्जुनः आंध्र प्रदेश में जन्मे नागार्जुन (लगभग 150 ई.), भारत के महान दार्शनिक माने जाते हैं, जिन्होंने महायान बौद्ध धर्म के 'मध्यमिका सम्प्रदाय' को व्यवस्थित रूप प्रदान किया। ये कुषाण राजा कनिष्क के समकालीन थे। उनका मानना था कि ब्रह्मांड में घटित होने वाली सारी घटनाएं और उसकी अनुभूति करने वाली चेतनता, सभी अवास्तविक हैं। 'शून्य' ही एकमात्र सत्य है। इस जगत का आधार यह शून्य ही आदियुगीन बुद्ध, निर्वाण है। उन्होंने रसरत्नाकर, द्वादश शास्त्र और सत शास्त्र की रचना की।

नामदेवः पेशे से दर्जी नामदेव (1270-1350) ज्ञानेश्वर के समकालीन थे। महाराष्ट्र के भक्ति मार्गी कवियों में इनका प्रमुख स्थान था। उनकी भक्ति के केंद्र में विठोबा थे, जिन्हें विष्णु का रूप माना जाता है। पंडरपुर में इनका मंदिर है। विठोबा वरकारी पंथ के देवता माने जाते हैं। यह पंथ जप-तप का घोर विरोधी है और इसमें हर जाति के व्यक्ति शामिल हैं। नामदेव और ज्ञान देव ने इस पंथ को पूरे महाराष्ट्र में फैलाया। गुरुदासपुर, पंजाब में भी इन्होंने एक पंथ चलाया था।

गुरुनानकः सिख धर्म के संस्थापक एवं उनके प्रथम गुरु गुरुनानक देव का जन्म 1469 ई. में तलवंडी (अब ननकाना, पाकिस्तान में) हुआ था। कबीर से प्रभावित नानक ने कबीर की ही भांति जातिवाद, ऊंच-नीच, बहुदेववाद और पुरोहिताई की घोर आलोचना की। उन्होंने मुसलमानों और हिंदुओं को एक करने के प्रयास किए। अपने साथी मरदाना के साथ वे भ्रमण करते रहे। उन्होंने ईश्वर को निरंकार, अकाल और अलख माना। ईश्वर अपनी हर रचना में व्याप्त है। ईश्वर अपने रहस्यों को गुरु के माध्यम से 'शबद' के रूप में कहता है। गुरु की प्रेरणा से प्रबुद्ध हुए व्यक्ति को अलौकिक आनंद की अनुभूति होती है और इसी में मुक्ति का मार्ग छिपा है। जनम साखी में गुरु नानक के जीवन के विषय में विस्तार से दिया गया है।

नंद ऋषिः मुस्लिम सूफी कवि नुरुद्दीन को ही नंद ऋषि कहा जाता है। उन्होंने ही ऋषि सिलसिले की नींव डाली। उन्हें कश्मीरी मुसलमानों का

संरक्षक संत माना जाता है। ऋषिनामा एवं नूरनामा में उनकी कविताओं का संकलन है।

नरसिंह मेहताः नरसिंह मेहता गुजराती साहित्य के स्तंभ माने जाते हैं। उन्होंने कृष्ण को समर्पित कविताएं लिखीं। इनका समय 15वीं सदी माना जाता है। हमारे राष्ट्रपिता इन्हीं संत कवि की रचनाएं गाया करते थे।

निम्बार्कः वैष्णव सम्प्रदाय के दार्शनिक निम्बार्क ने द्वैताद्वैत दर्शन का प्रतिपादन किया। उन्होंने मथुरा क्षेत्र में निमांदी पंथ की नींव डाली। इन्होंने बादरायण के ब्रह्मसूत्र पर टीका लिखी। इन्होंने 'दशाश्लोक' की रचना की।

रमण महर्षिः 1896 में 20 वर्षीय वेंकटरमन ने आध्यात्मिक प्रकाश के तहत् गृह त्याग दिया और ज्ञान प्राप्त किया। गहरी समाधि के उपरांत तिरुवन्नामलाई में उन्हें आध्यात्मिक ज्ञान की प्राप्ति हुई। इसके बाद वे रमण महर्षि के नाम से जाने गए। 1950 में उन्होंने शरीर त्याग दिया।

रामानंदः ऐसा माना जाता है कि रामानंद (1400-1470) अपने प्रारंभिक दिनों में रामानुज के श्री वैष्णव सम्प्रदाय के अनुयायी के रूप में दक्षिण भारत में रहते थे। बाद में वे बनारस आए और यहीं बस गए। यहीं पर उन्होंने रामानंदी नाम से अपना सम्प्रदाय चलाया। उन्होंने भगवान श्रीराम को सर्वशक्तिमान माना, जिनकी आराधना उनकी शक्ति सीता के साथ की जानी चाहिए और उनके भक्त हनुमान की भी उपासना करनी चाहिए। उन्होंने जातिगत ऊंच-नीच का विरोध किया और अपने सम्प्रदाय का द्वार हर किसी के लिए खुला रखा। उनका मानना था कि ईश्वर की दृष्टि में सभी समान हैं। समतावादी दृष्टिकोण और देशी भाषा के प्रयोग ने इस सम्प्रदाय को सबसे अलग रूप प्रदान किया। इसी से कई अन्य सम्प्रदाय व पंथ निकले। कबीरपंथी और सिक्खों का बहुत कुछ इन्हीं की देन है।

रामानुजः तमिलनाडु के श्रीपेरम्बदूर में जन्मे रामानुज ब्राह्मण थे। इन्होंने तत्कालीन भक्ति को एक सुदृढ़ दार्शनिक आधार प्रदान किया। भक्तिमार्ग के अपने विचार रखे और वेदांत की विशेष व्याख्या की, जिसे विशिष्टाद्वैत के नाम से जाना गया। उन्होंने विष्णु को सबसे ऊपर माना और वैष्णव सम्प्रदाय की स्थापना की। इसमें अछूतों तक को जगह मिली। समतामूलक सामाजिक व्यवस्था का समर्थन करते हुए उन्होंने महिलाओं की शिक्षा की दिशा में उल्लेखनीय

योगदान दिया। उनके स्त्रीभाष्य में इसका विशद विवरण एवं विवेचन किया गया है।

रामदासः महाराष्ट्र के भजन रचयिताओं में रामदास (1608-81) का नाम बहुत आदर से लिया जाता है। ये बचपन में ही अनाथ हो गए थे। बरसों भटकने के बाद ये कृष्णा नदी के तट पर बस गए। वहीं उन्होंने अपने आराध्य श्रीराम का मंदिर बनवाया। रामदास न केवल ब्रह्मविज्ञानी थे, बल्कि समाज सुधारक भी थे। इस्लाम के प्रभाव को देखते हुए उन्होंने समाज में कई सुधारों की वकालत की। शिवाजी उनके शिष्य थे। रामदास में भक्ति और प्रेरणा का अद्भुत संगम था। 'दासबोध' में उनके प्रवचनों का संकलन है।

रविदासः रामानंद के शिष्य रविदास यद्यपि जाति से चमार थे, किंतु 15वीं सदी में उन जैसा कोई वैष्णव भक्त नहीं था। मीराबाई उन्हीं की शिष्या थीं। उनका पंथ सत्नामी कहलाया, जिसने मूर्तिपूजा का विरोध किया और हमेशा भगवान का ध्यान करने की बात कही। रविदास ने भावपूर्ण भजन लिखे, जो हिन्दी साहित्य की धरोहर बने। इनके कुछ भजनों को गुरुग्रंथ साहिब में शामिल किया गया है।

शंकराचार्यः केरल के कलादि में जन्मे शंकर ब्राह्मण थे। उन्होंने बहुत छोटी उम्र में ही संन्यास ले लिया था, जिसकी रोचक कथा भी है। दार्शनिक गोविन्दपाल से शिक्षा ग्रहण करने के बाद इन्होंने अपना दर्शन प्रतिपादित किया, जो अद्वैत के नाम से जाना गया। इनके अनुसार ईश्वर ही सबकुछ है, उससे अलग कुछ भी नहीं है। शंकर की विद्वता ने सबको धूमिल कर दिया था, किंतु ऐसा कहा जाता है कि वे स्वयं मंडन मिश्र की पत्नी से शास्त्रार्थ में पराजित हो गए थे। शंकराचार्य ने देश में चार पीठों की स्थापना की, जिनके नाम हैं शृंगेरी, बद्रीनाथ, द्वारका व पुरी।

शंकरदेवः असम में तांत्रिक शाक्त धर्म का विरोध-प्रतिरोध व मुकाबला करने हेतु वैष्णव धर्म को यहां लाने वाले सुधारक एवं कवि शंकरदेव ही थे। शंकर देव की रचनाओं में रुक्मिणी हरण काव्य, कीर्तन घोष, कालिया दमन और राम विजय शामिल हैं। इन्होंने ऐसे समाज के निर्माण हेतु अनवरत प्रयास किया जिसमें समतामूलक प्रवृत्तियां प्रभावी हों। इन्होंने आदिवासियों के हिंदू धर्म में आगमन का खुले दिल से स्वागत किया।

सूरदासः वल्लभ के प्रतिभावान शिष्य सूरदास जन्मांध थे। आगरा और मथुरा के मंदिरों में ये गाया करते थे। कृष्ण के बालरूप की जैसी कल्पना इन्होंने की, वैसी किसी भक्ति कवि ने नहीं की। इनके गीतों में ऐसा भान होता था कि कृष्ण अपने बाल्य रूप में आपके सम्मुख खड़े हैं या अपनी लीलाएं कर रहे हैं। 'सूरसागर' में इनकी रचनाओं का संग्रह है।

गुरु तेग बहादुरः सिक्खों की गुरु परम्परा के ये नौवें गुरु थे। इन्होंने सन 1665 में आनंदपुर की नींव डाली। मुगल सम्राट औरंगजेब ने इन्हें काफिर करार देते हुए फांसी पर लटकवा दिया। चांदनी चौक, दिल्ली में बना शीश गंज गुरुद्वारा उसी स्थान पर है। किसी लबाना सिक्ख ने उनका शरीर ले जाकर उस स्थान पर संस्कार किया, जहां आज गुरुद्वारा रकाब गंज बना है।

तुकारामः जाति से शूद्र तुकाराम ने विठोबा की भक्ति के नए आयाम प्रस्तुत किए। 17वीं शताब्दी के समाज में वर्ण विन्यास की मान्यता नकारते हुए तुकाराम ने उन भक्ति गीतों की रचना की, जो आज भी महाराष्ट्र में विपुल श्रद्धा व भक्ति भाव से गाए जाते हैं।

तुलसीदासः रामानंद के आध्यात्मिक उत्तराधिकारी तुलसीदास (1532-1623) ने अपनी रचना 'रामचरितमानस' के माध्यम से मर्यादापुरुषोत्तम को घर-घर पहुंचा दिया। वाल्मिकीकृत 'रामायण' की संस्कृत के स्थान पर इन्होंने अवधी में राम का गुणगान किया और इन्हें ऐसे आदर्श पुरुष के रूप में पेश किया, जिसका अनुसरण कर कोई भी मंगल की कामना कर सकता था। तुलसीदास की भक्ति दास भाव पर आधारित थी।

वल्लभः वाराणसी में जन्मे तेलगू मूल के वल्लभ (1479-1531) ने भक्ति मार्ग के संतों में अपनी अलग पहचान बनाई। गुजरात और राजपूताना में इनका विशेष प्रभाव रहा। महान कवि सूरदास का गुरु होने का गौरव इन्हें ही प्राप्त है। हिंदू दर्शन की व्याख्या में इन्होंने नए अध्याय जोड़े। इनका सिद्धांत शुद्धाद्वैत कहलाया।

याज्ञवल्क्यः प्राचीन ऋषि एवं 'याज्ञवल्क्य स्मृति' के रचयिता याज्ञवल्क्य ऋषि को ही यजुर्वेद, शतपथ ब्राह्मण और वृहदारण्यक उपनिषद् का संकलनकर्ता माना जाता है।

त्यौहार एवं मेले

नानाविध धर्मों एवं भाषाओं की इंद्रधनुषी आभा से देदीप्यमान भारत देश के रंग-बिरंगे पर्व त्यौहार और मेले इसके सामाजिक जीवन के अभिन्न अंग हैं, जिनके बिना इस देश की संस्कृति अधूरी है। ऋषि-मुनियों की इस पावन धरती पर सामूहिक उत्सव एवं आनंद के प्रतीक इन पवित्र पर्वों, त्यौहारों व मेलों ने देश को एक सांस्कृतिक सूत्र में पिरोने का अद्भुत कार्य सम्पन्न किया है।

हिंदुओं के त्यौहार

हिंदुओं के त्यौहार पूरे वर्ष मनाए जाते हैं। इनमें से कुछ तो हिंदुओं के सभी सम्प्रदायों व वर्गों द्वारा मनाए जाते हैं और कुछ क्षेत्रीय स्तर पर मनाए जाते हैं। जनवरी माह के मध्य में **'संक्राति'** मनाई जाती है। यह समय बदलते मौसम और सूर्य के उत्तरायण होने का होता है। इसके उपरांत दिन बड़े और रातें छोटी होने लगती हैं। गंगा, यमुना जैसी पवित्र नदियों में सूर्योदय के पूर्व स्नान किया जाता है। संक्रांति से एक दिन पहले पंजाबियों द्वारा **'लोहड़ी'** मनाई जाती है। यह पूस माह का आखिरी दिन होता है। इसमें रात के समय आग जलाकर लोग नाचते गाते हैं। ऐसा माना जाता है कि उस अग्नि के माध्यम से सूर्य देवता को यह संदेश भेजा जाता है कि हे सूर्यदेव, अपनी ऊष्मा बढ़ाओ और सर्दी को दूर करो। इस अवसर पर लोग रेवड़ी और मूंगफली वगैरह खाते-खिलाते हैं। दक्षिण भारत में इसी से मिलता-जुलता **पोंगल** त्यौहार है। यह तमिल माह थाई के पहले दिन मनाया जाता है। यह फसल का त्यौहार होता है। इसमें एक बड़े बर्तन में पोंगल पकाया जाता है, जिसमें चावल, दाल, दूध इत्यादि होते हैं और इसे सुख-समृद्धि का प्रतीक माना जाता है। पोंगल से एक दिन पहले **बोगी** मनाते हैं, जिसमें इंद्रदेव की पूजा होती है। एक दिन बाद मत्तू **पोंगल** मनाते हैं, जिसमें गाय की पूजा की जाती है।

माघ के पांचवें दिन यानी पंचमी को **वसंत पंचमी** मनाई जाती है। इसे बंगाल, बिहार, में विशेष रूप से मनाया जाता है। विद्या की देवी सरस्वती की पूजा की जाती है। इस अवसर पर पीले वस्त्रों का विशेष महत्व होता है। चूंकि यह समय सरसों के पीले फूलों का है, इसीलिए यह रंग अपना महत्व रखता है। फागुन की अमावस्या से पहले **'महाशिवरात्रि'** का पर्व मनाया जाता है। इस दिन उपवास रखा जाता है। यह भगवान शिव को समर्पित पर्व होता है।

फागुन (मार्च) में रंगों का त्यौहार **'होली'** आता है। रंग-बिरंगी होली में लोग एक दूसरे पर रंग-गुलाल डालते हैं, शुभकामनाएं देते हैं और अच्छे-अच्छे पकवान व मिठाइयां खाते-खिलाते हैं। उत्तर भारत में 'बरसाने की होली' बहुत प्रसिद्ध है। होली से पहले की रात को होलिका दहन होता है। ऐसा माना जाता है कि हिरण्यकश्यप की बहन होलिका प्रह्लाद को लेकर अग्नि में बैठी थी। उसे न जलने का वरदान प्राप्त था। किंतु, प्रभु की लीला से प्रह्लाद जीवित बच गया और होलिका जलकर राख हो गई। यहां होलिका को बुराई का प्रतीक माना जाता है।

चैत्र के महीने में शुक्लपक्ष के नौवें दिन **रामनवमी** मनाई जाती है। मर्यादा पुरुरूषोत्तम राम के जन्म के उपलक्ष्य में इसका आयोजन होता है। चैत्र मास वैसे भी हमारे परम्परागत वर्ष का प्रथम मास माना जाता है। तेलुगू का नया वर्ष **उगादि** मार्च से ही प्रारंभ होता है। पंजाब में वर्ष का प्रारंभ वैशाख से होता है, जो रबी फसल की कटाई का समय **(अप्रैल 13 बैसाखी)** होता है। इसी समय बंगालियों का नव वर्ष प्रारंभ होता है। तमिल नया वर्ष भी इसी के आस-पास शुरू होता है। असमिया अपना नया वर्ष **'गोरू'** और पशु उत्सव **'रंगोली बीहू'** मनाते हैं। केरल के लोग **'विशु'** मनाते हैं और 'कानी' की व्यवस्था करते हैं यह पूर्ववर्ती रात को बनाया जाने वाला मांगलिक शकुन है ताकि नए साल की पहली सुबह उठने पर सबसे पहले उसका ही दर्शन हो।

वैशाख शुक्ल पक्ष में तीसरे दिन **अक्षय तृतीया** मनाई जाती है। ऐसा माना जाता है कि इसी दिन से सतयुग प्रारंभ हुआ था। किसी भी नए कार्य की शुरुआत इस दिन की जा सकती है। ज्येष्ठ माह में वट सावित्री व्रत पड़ता है। उस दिन वट वृक्ष के नीचे शिव पूजा की जाती है। ऐसा मानते हैं कि पार्वती जी ने शिव को प्राप्त करने हेतु यह व्रत किया था। इसी माह के शुक्लपक्ष में दसवें दिन **गंगा दशहरा** मनाया जाता है क्योंकि मान्यता के अनुसार पृथ्वी पर गंगा का अवतरण इसी दिन हुआ था। ग्यारहवें दिन **निर्जला एकादशी,** जिसे भीमसेनी एकादशी भी कहते हैं, मनाई जाती है। इसी से 12 एकादशी का फल मिल जाता है।

त्रिचूर, केरल में मई के महीने में **'पूरम उत्सव'** मनाया जाता है। इसमें हाथियों को सजाकर घुमाया जाता है।

जून-जुलाई में यानी आषाढ़ शुक्ल पक्ष के दूसरे दिन पुरी में भगवान जगन्नाथ जी की **'रथ यात्रा'** निकाली जाती है। इस दिन राधा-कृष्ण अपनी मौसी के घर मथुरा जाते हैं। साथ में उनके भाई बलराम और बहन सुभद्रा की मूर्तियां भी यात्रा में रखी जाती हैं। आषाढ़ की पूर्णिमा को **'गुरु पूर्णिमा'** मनाते हैं और इस दिन व्यास जी की पूजा होती है।

जुलाई-अगस्त में **'नाग पंचमी'** आती है। सावन शुक्लपक्ष के पांचवें दिन शेष नाग की पूजा की जाती है, जिन पर भगवान विष्णु विराजमान हैं। सावन की पूर्णिमा पर **'रक्षा बंधन'** का त्यौहार आता है। यह त्यौहार भाई-बहन के प्रेम एवं विश्वास का प्रतीक है। बहनें भाई की कलाई पर राखी बांधती हैं और मिष्ठान खिलाती हैं। भाई उसे कुछ उपहार देता है और रक्षा का वचन देता है। भादों कृष्ण पक्ष के आठवें दिन **'कृष्ण जन्माष्टमी'** मनाई जाती है। इस दिन कृष्ण का जन्म हुआ था। मध्य रात्रि तक खूब नाच-गाना व उत्सव चलता है। लोग मध्य रात्रि तक उपवास भी रखते हैं। हर वर्ष 17 सितंबर को 'विश्वकर्मा पूजा' का आयोजन किया जाता है। देवताओं के शिल्पी विश्वकर्मा जी का यह जन्म दिन होता है।

भादों (अगस्त-सितंबर) शुक्ल पक्ष के चौथे दिन **'गणेश चतुर्थी'** मनाई जाती है। महाराष्ट्र में इस उत्सव का विशेष महत्व है। हर मंदिर में गणेश जी की मिट्टी की प्रतिमाएं रखी जाती है, जिन्हें खूब सजाया जाता है। हर परिवार एक छोटी या बड़ी मूर्ति खरीदता है। बड़े धूमधाम से निश्चित अवधि तक पूजा के पश्चात् उस मूर्ति का विसर्जन किया जाता है। यहां इसका उल्लेख अप्रासंगिक नहीं होगा कि बालगंगाधर तिलक ने राष्ट्रीयता के व्यापक प्रसार व संचार हेतु इस उत्सव को लोकप्रिय बनाया था। इसी समय केरल में **'ओणम'** मनाया जाता है, जो फसल की कटाई से जुड़ा है। सम्राट महाबली के भव्य स्वागत से प्रारंभ होकर दस दिन चलने वाले इस उत्सव में फर्श पर रंग-बिरंगी रंगोली बनाई जाती है और कन्याएं 'कईकोत्तिक्कली' जैसे नृत्य करती हैं। ओणम अपनी नौकादौड़ प्रतियोगिता हेतु काफी प्रसिद्ध है। अभिलेखों के अनुसार यह पर्व 861 ई. से ही मनाया जाता है।

भादों कृष्णपक्ष के 14वें दिन अनंत भगवान (शेषनाग) को समर्पित **अनंत चतुर्दशी** मनाई जाती है। भादों की पूर्णिमा के अगले दिन से 15 दिनों तक

(अमावस्या तक) **पितृपक्ष** होता है। इसमें पितरों का श्राद्धकर्म, पिण्ड दान वगैरह किया जाता है। आश्विन शुक्लपक्ष के आठवें दिन 'जिउतपुत्रिका' मनाते हैं। कहते हैं कि चोलराजा जिउतवाहन ने इसी दिन नरभक्षी राक्षस को मारकर प्रजा को मुक्ति दिलाई थी।

आश्विन शुक्लपक्ष प्रतिपदा से ही **दशहरा** प्रारंभ होता है। उत्तर भारत में यह रावण पर राम की विजय का प्रतीक है। इन दस दिनों में रामलीला का आयोजन किया जाता है और दसवें दिन यानी विजयादशमी को रावण, मेघनाद और कुम्भकर्ण के पुतले जलाए जाते हैं, जो बुराई के अंत का प्रतीक है। बंगाली इसे **'दुर्गापूजा'** के रूप में मनाते हैं। गुजराती इसे **'नवरात्र'** कहते हैं। दक्षिण में यह **'नवरात्रि'** है और वहां की परम्परा के अनुसार सीढ़ियों पर देवी-देवताओं की प्रतिमाएं रखी जाती हैं और महिलाएं एक-दूसरे को अपने घर बुलाती हैं। कुल्लू में इसे थोड़ा बाद में मनाते हैं। किंतु यह विशेष अवसर होता है, जब पूरी घाटी से देवताओं की प्रतिमाएं एक जगह एकत्र की जाती है और मेले का आयोजन किया जाता है। इसी से स्पष्ट होता है कि इसी कारण से कुल्लू को **'देवताओं की घाटी'** कहा जाता है।

आश्विन की पूर्णिमा को **'शरद पूर्णिमा'** मनाई जाती है। ऐसा मानते हैं कि इस दिन चंद्रमा से अमृत टपकता है। लोग खीर वगैरह बनाकर बाहर रखते हैं और सुबह उसे खाते हैं। कार्तिक कृष्णपक्ष के तेरहवें दिन 'धन त्रयोदशी (धनतेरस) पड़ती है। इस दिन लोग नये बर्तन खरीदते हैं। कार्तिक (अक्टूबर-नवम्बर) अमावस्या को दीपों का पर्व **'दीपावली'** मनाई जाती है। इसे मनाने के संबंध में कई कथाएं जुड़ी हैं। एक के अनुसार, अपने चौदह वर्ष के वनवास के बाद राम अयोध्या वापस आए थे और उन्हीं के स्वागत स्वरूप दीप जलाकर प्रसन्नता प्रकट की जाती है। बंगाली इसे काली को समर्पित करते हैं। दक्षिण में इसे कृष्ण के नरकासुर पर विजय के रूप में मनाया जाता है। पश्चिमी भारत में ऐसी मान्यता है कि इस दिन समृद्धि की देवी लक्ष्मी मंदाकिनी से निकली थीं। जैनियों के लिए दीपावली नया साल है और परम्पराबद्ध कम्पनियों, महाजनों, सेठों इत्यादि के लिए यह नए वित्त वर्ष का प्रारंभ है। यह राजा बलि के आगमन का भी दिन माना जाता है, जिनका मानमर्दन विष्णु ने किया था। इस अवसर पर लोग एक दूसरे को मिठाइयां इत्यादि देते हैं और पटाखे छोड़ते हैं। दीपावली

के बाद अन्नकूट, भैयादूज, गोवर्धन पूजा जैसे त्यौहार पड़ते हैं। कार्तिक शुक्लपक्ष के छठवें दिन 'सूर्यषष्टी व्रत' (छठ पूजा) होती है। बिहार में इसका विशेष महत्व है। बिहार का यह महापर्व है। ऐसा मानते हैं कि सबकुछ जुए में हारने के पश्चात् द्रौपदी ने छठ पूजा की थी और सूर्य देव से सब वापस पाने का वरदान मांगा था। अर्थात्, यह काफी पहले से ही मनाया जाता रहा है।

झारखंड के आदिवासी बहुत धूमधाम के साथ एक पर्व मनाते हैं जिसे 'सरहुल' कहा जाता है। इस पर्व के बारे में यह कहा जाता है कि इस पर्व में प्रकृति की उपासना की जाती है। इसे फूलों का पर्व भी कहते हैं। *सरहुल* के दिन से ही नए वर्ष का प्रारंभ माना जाता है। झारखंड के सभी आदिवासी समुदाय के लोग सरहुल पर्व को मनाते हैं। मुंडा, उरांव, हो, खड़िया तथा संथाल समुदाय के आदिवासी इसकी प्रतीक्षा बड़ी व्यग्रता से करते हैं। सरहुल सामान्यतः चैत्र मास में मनाया जाता है।

झारखंड में प्रचलित विभिन्न सांस्कृतिक धार्मिक उत्सवों में ईन्द पर्व का महत्वपूर्ण स्थान है। यह पर्व इस क्षेत्र में विभिन्न स्थानों में प्रत्येक वर्ष एक निश्चित तिथि को मनाया जाता है जिसमें विभिन्न जाति और वर्ग के सदस्य समान रूप से भाग लेते हैं। यह पर्व विभिन्न समुदायों की सहभागिता एवं सांस्कृतिक एकता का प्रतीक है। ईन्द पर्व मुख्य रूप से भादों (अगस्त-सितंबर) में मनाया जाता है लेकिन इसकी तिथि विभिन्न स्थानों में एक समान नहीं होती है।

आंध्रप्रदेश, तमिलनाडु और **केरल** के कुछ हिस्सों में कार्तिक पूर्णिमा को **'कार्तिकाई'** (जो प्रकाश का ही उत्सव है) मनाया जाता है। ब्रह्माण्ड के जन्म के समय शिव के प्रकट होने के सम्मान में इसे मनाते हैं।

असम के लोग तीन प्रकार के **'बीहू या त्यौहार'** मनाते हैं **बोहाग बीहू, माघ बीहू** और **काति बीहू,** जो क्रमशः वसंत, शीत और शरद ऋतु में पड़ते हैं। बोहाग बीहू कृषि कार्यों के प्रारंभ होने का समय है। माघ बीहू फसल कटाई के समय पड़ता है। काति बीहू (अक्टूबर-नवंबर) में घर के आंगन में तुलसी के पौधे की पूजा की जाती है।

मुसलमानों के त्यौहार

मुसलमानों के त्यौहार एवं धार्मिक दिन निश्चित तिथि को नहीं पड़ते किंतु हर वर्ष लगभग 11 दिन पहले आते हैं। **ईद-उल-फितर** खुशी का त्यौहार है। यह

रमजान के महीने के आखिर में आता है। रमजान के दौरान मुसलमान रोजा रखते हैं। सुबह निश्चित समय कुछ खाकर दिन भर उपवास रखते हैं और शाम को निश्चित समय पर रोजा खोलते हैं। रमजान का महीना बड़ा ही पाक (पवित्र) माना जाता है। इस दौरान हर बुराई से दूर रहा जाता है। यहां तक कि झूठ भी नहीं बोला जाता। शिया इस महीने के इक्कीसवें और बाइसवें दिन पैगम्बर के दामाद के इंतकाल का मातम मनाते हैं। रमजान महीने के आखिरी दस दिन लैलुत-उल-कादर कहलाते हैं। ऐसा विश्वास है, इसी अवधि में, पैगम्बर मुहम्मद को कुरान उद्घाटित किया गया था। ईद-उल-फितर को हर मुसलमान गरीबों को दान देता है, साफ कपड़े पहनता है और अन्य मुसलमान भाइयों के साथ नमाज अदा करता है।

ईद-उल-जुहा (ईद-उल-अजहा या बकरीद भी कहते हैं) भी खुशी का एक अन्य मौका है। अल्लाह ने हजरत इब्राहिम को आदेश दिया था कि वे अपने सबसे अजीज की कुर्बानी दें। इब्राहिम ने अपने बेटे इस्माइल की कुर्बानी मीना में (मक्का के पास) देने का फैसला किया। वे अपने बेटे की गर्दन पर तलवार चलाने ही वाले थे कि उन्हें उद्घाटित हुआ कि यह अल्लाह में उनके यकीन और वफादारी का इम्तहान था। अब वे अपने साहबजादे की बजाय किसी भेड़ की कुर्बानी दे सकते थे। नमाज और दावतें इस मौके की खास बातें हैं। पहले मुस्लिम माह के दसवें दिन **'मुहर्रम'** पड़ता है। यह इस्लाम के इतिहास में एक त्रासदी का प्रतीक है। यह मोहम्मद साहब के नवासे इमाम हुसैन की शहादत की याद में मनाया जाता है। इस दौरान ताजिये निकाले जाते हैं। मातमी जुलूस निकाला जाता है। कई मुसलमान तलवार से अपने बदन पर घाव तक कर लेते हैं।

इनके अतिरिक्त कई स्थानों पर **'उर्स'** का आयोजन होता है। सूफी संतों की कब्र पर उर्स का मेला लगता है। अजमेर में ख्वाजा मोइनुद्दीन चिश्ती की दरगाह पर उर्स का मेला लगता है, जिसमें हिंदू और मुसलमान दोनों बड़ी श्रद्धा से आते हैं।

ईसाइयों के त्यौहार

ईसाइयों के भी अपने पर्व-त्यौहार है। इनमें **'ईस्टर','क्रिसमस'** इत्यादि प्रमुख हैं। ईस्टर एक समारोही उत्सव है। यह ईसा मसीह के क्रूस पर लटकाए जाने

के बाद उनके जीवित होने का उत्सव है। उत्तरी गोलार्ध में वसंत ऋतु के पहले दिन के बाद पहली अमावस्या के पश्चात् पहले रविवार को अधिकांशतः यह मनाया जाता है। इस प्रकार यह 22 मार्च से 25 अप्रैल के बीच पड़ने वाले किसी भी रविवार को हो सकता है। ईस्टर में समाप्त होने वाले पवित्र सप्ताह से जुड़े दिन हैं **'पाम संडे',** इसे यीशु के जेरूसलम में प्रवेश का दिन मानते हैं, **'मॉन्डी थर्सडे',** जो ईसा का आखिरी भोजन का दिन है, इस दिन उन्हें गिरफ्तार कर कैद में रखा जाना है, **'गुड फ्राइडे',** यह क्रूस पर ईसा के मरने का दिन है यह शोक का दिन है, **'होली सैटरडे',** यह पूरी रात जगने से जुड़ा है और **'ईस्टर संडे',** को ईसा के पुनर्जीवन का दिन मानते हैं। ईसाइयों का मानना है कि वे भी मृत्यु के बाद नया जीवन पा सकते हैं। ईस्टर उत्सव इसी विश्वास का समारोह है।

'क्रिसमस' ईसाइयों के लिए अत्यंत खुशी का दिन है। यह ईसा मसीह का जन्मोत्सव है। 25 दिसंबर को यह उत्सव मनाया जाता है, यद्यपि किसी को भी ईसा के जन्म की सही तिथि ज्ञात नहीं है। इस अवसर पर ईसाई लोग अपने घर को सजाते हैं, उपहार देते हैं। 'क्रिसमस' के मौके पर ग्रीटिंग कार्ड वगैरह भेजना ईसाइयों तक ही सीमित नहीं रह गया है।

सिखों के त्यौहार

सिक्ख अपने गुरुओं का जन्मोत्सव **'गुरुपर्व'** मनाते हैं। गुरु नानक का गुरुपर्व **कार्तिक पूर्णिमा** को पड़ता है और इसे बड़ी धूमधाम से मनाया जाता है। गुरु गोविन्द सिंह का गुरुपर्व भी उतनी ही श्रद्धा व धूमधाम से मनाया जाता है।

बौद्ध एवं जैन त्यौहार

बौद्ध वैशाख पूर्णिमा को **बुद्ध जयंती** मनाते हैं। यह बुद्ध के जन्म के साथ-साथ उनके ज्ञान प्राप्त करने का भी परिचायक है। लद्दाख के हेमस बौद्ध विहार में गोम्पा के संरक्षक इष्टदेव गुरु पद्मसम्भव के जन्म का वार्षिक उत्सव मनाया जाता है।

जैनियों के चौबीसवें और अंतिम तीर्थंकर महावीर का जन्म दिन **महावीर जयंती** के रूप में मनाया जाता है।

पारसियों के त्यौहार

पारसियों का सबसे महत्वपूर्ण त्यौहार **'नवरोज'** है यानी नया दिन। यह वासन्तिक विषुव यानी 20 मार्च को मनाया जाता है। यह शाश्वत नवरोज का उल्लास भरा उत्सव है, जब अहुर मजदा का साम्राज्य पृथ्वी पर आएगा। पारसियों का एक सम्प्रदाय **'फासलिस'** नवरोज को **नववर्ष** के रूप में मनाते हैं। अगस्त-सितंबर में पारसी, अपना नव वर्ष **'पतेती'** मनाते हैं। इसके एक सप्ताह पश्चात् वे जरथुष्ट्र का जन्म **'खोरदद साल'** मनाते हैं। इन उत्सवों पर दिए जाने वाले प्रीतिभोज **'गहम्बर'** कहलाते हैं।

मेले

भारतीय मेले भारत के सांस्कृतिक, सामाजिक वाणिज्यिक और कभी-कभी धार्मिक जीवन से भी जुड़े होते हैं। भारत के लगभग सभी त्यौहारों में छोटे-बड़े मेले भी लगते हैं। दशहरा, गणेशोत्सव, ईद, मकर संक्रांति और यहां तक कि मुहर्रम में भी मेले लगते हैं। कुछ प्रमुख मेले निम्नलिखित प्रकार से हैं

कुंभ मेलाः यह आम परम्परागत भारतीय मेलों से भिन्न है। यह मूलतः एक धार्मिक सम्मेलन है जो 12 वर्ष में एक बार (महाकुंभ) चार तीर्थ स्थानों (इलाहाबाद, उज्जैन, नासिक, हरिद्वार) में बारी-बारी से आयोजित होता है। 'अर्द्ध कुंभ' 6 साल में एक बार आता है। पौराणिक कथाओं के अनुसार जब 'देवों' और 'असुरों' ने मिलकर समुद्र मंथन किया था जो समुद्र से बहुत ही अमूल्य वस्तुएं बाहर निकली थी। इसमें से एक अमृत कलश भी था। इस 'अमृत' की छिना-झपटी में कुछ अमृत 12 स्थानों के साथ-साथ पाताल में भी गिरा। इन स्थानों में हरिद्वार, उज्जैन, इलाहाबाद और नासिक शामिल हैं और प्रत्येक 12 वर्ष पर इन स्थानों पर बड़े मेलों का आयोजन होता है।

पुष्कर मेलाः इस मेला का आयोजन राजस्थान स्थित अजमेर के समीप पुष्कर नामक स्थान पर किया जाता है। भक्त गण पुष्कर झील के आसपास एकत्रित होते हैं और इसमें पुण्य स्नान करते हैं। पुष्कर भारत का एकमात्र तीर्थस्थल है जहां अभी भी ब्रह्मा की पूजा की जाती है। पौराणिक कथा के अनुसार जब ब्रह्मा यज्ञ के लिए उचित स्थान की खोज कर रहे थे उस समय उनके हाथ से एक कमल का फूल गिर पड़ा। यह पवित्र स्थल पुष्कर के नाम से जाना जाता है। इस अवसर पर यहां हर वर्ष मेला लगता है। यहां कार्तिक माह की पूर्णमासी के दिन दूर-दूर से लोग आकर पुष्कर सरोवर में स्नान करते हैं तथा वहां स्थित

मंदिरों के दर्शन कर पुण्य कमाते हैं। इस अवसर पर यहां एक विशाल पशु मेले का भी आयोजन किया जाता है।

कंस मेलाः कंस मेले का आयोजन उत्तर प्रदेश स्थित मथुरा में श्री कृष्ण एवं बलराम द्वारा कंस वध के स्मरणार्थ उत्सव के रूप में किया जाता है। इस दिन श्रद्धालु एवं उत्साही युवक कंस का पुतला बनाते हैं। पूरे नगर में कृष्ण-बलराम की झांकियां निकाली जाती हैं तथा झांकियों द्वारा ही कृष्ण-बलराम का कंस से युद्ध दिखाया जाता है।

गंगा सागर मेलाः पश्चिम बंगाल में कोलकाता के दक्षिण में 'सागर' नामक स्थान पर जहां हुगली नदी सागर से मिलती है, वहां गंगा सागर मेले का आयोजन किया जाता है। इस मेले का आयोजन जनवरी माह में मकर संक्रान्ति के दिन किया जाता है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि भागीरथ की घोर तपस्या के परिणामस्वरूप गंगा इस दिन भागीरथ के साठ हजार पुरखों की अस्थियों को स्पर्श करने हेतु पाताल लोक गई थीं।

जोगेश्वरी देवी का मेलाः मध्य प्रदेश स्थित गुना जिले में चंदेरी नामक स्थान पर प्रत्येक वर्ष चैत्र माह में इस मेले का आयोजन किया जाता है। इस मेले में कपड़े, बर्तनों तथा पशुओं का क्रय-विक्रय किया जाता है।

वैशाली का मेलाः बिहार स्थित जैन धर्मावलम्बियों के स्थल वैशाली में चैत्र शुक्ल त्रयोदशी के दिन इस मेले का आयोजन किया जाता है। इस मेले में देश के प्रत्येक कोने से जैन धर्मावलम्बी यहां एकत्रित होते हैं।

महावीर जी का मेलाः राजस्थान स्थित हिण्डौन के समीप महावीर नामक स्थान पर चैत्र माह में इस मेले का आयोजन किया जाता है। इस मेले में लाखों जैन, गुर्जर, मीणा तथा अन्य सम्प्रदाय के लोग यहां दर्शन करने के लिए एकत्र होते हैं।

घामोनी उर्सः मध्य प्रदेश में मस्तान शाहवाली की दरगाह पर होने वाला यह 6 दिवसीय उर्स सागर जिले के घामोनी नामक ऐतिहासिक महत्व के स्थान पर अप्रैल-मई माह में लगता है। दूर-दराज के गांव से लोग यहां आकर बाबा शाहवाली की दरगाह पर सम्मान प्रकट करते हैं।

उर्स का मेलाः उर्स के मेले का आयोजन राजस्थान स्थित अजमेर जिले में ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती की दरगाह पर प्रत्येक वर्ष दीपावली पर्व के आस-पास

होता है। इस मेले में सम्पूर्ण भारत के कोने-कोने से मुसलमान आते हैं। उर्स पर कव्वाली का भी आयोजन होता है।

माघ मेलाः माघ मेले का आयोजन उत्तर प्रदेश स्थित इलाहाबाद में गंगा, यमुना व सरस्वती के संगम पर जनवरी-फरवरी माह में किया जाता है। इस मेले में यहां दूर-दूर से लोग आते हैं व संगम में स्नान कर पुण्य प्राप्त करते हैं।

कपिल मुनि का मेलाः कपिल मुनि मेले का आयोजन राजस्थान स्थित बीकानेर जिले के कोलायत नामक स्थान पर किया जाता है। इस मेले में बड़ी संख्या में श्रद्धालु आते हैं तथा कोलायत झील में स्नान करते हैं। चूंकि यह मेला कपिल मुनि की याद में आयोजित किया जाता है, अतः इसे कपिल मुनि के नाम से जाना जाता है।

सोनपुर का पशु मेलाः बिहार स्थित सोनपुर में कार्तिक पूर्णिमा के दिन इस मेले का आयोजन किया जाता है। यह भारत का सबसे बड़ा पशु मेला माना जाता है, जो गंगा-गंडक के संगम पर लगता है। यह मेला पूरे एक पक्ष तक चलता है। इस मेले को हरिहर क्षेत्र का मेला भी कहा जाता है।

अर्द्ध-कुम्भ का मेलाः प्रयाग कुम्भ के 6 वर्ष पश्चात् (प्रति बारह वर्ष में) उत्तराखण्ड स्थित हरिद्वार में इस मेले का आयोजन किया जाता है। इसमें सम्पूर्ण भारत से बड़ी संख्या में श्रद्धालु एकत्रित होते हैं। यह गंगा नदी के किनारे आयोजित किया जाता है।

काना बाबा का मेलाः काना बाबा का मेला मध्य प्रदेश में स्थित होशंगाबाद जिले के गांव सोदालपुर में प्रतिवर्ष आयोजित किया जाता है। यह 275 वर्ष से अधिक पुराना मेला है। ऐसा कहा जाता है कि काना बाबा नामक एक संत यहां रहते थे। उन्होंने 1714 ई. में जीवित समाधि ग्रहण कर ली थी।

जानकी नवमी का मेलाः जानकी नवमी का मेला बिहार में सीतामढ़ी नामक स्थान पर आयोजित किया जाता है। भगवान श्रीरामचंद्रजी की पत्नी सीताजी की जन्मस्थली तथा जन्म दिवस पर चैत्र माह के शुक्ल पक्ष की नवमी को एक विशाल मेले का आयोजन किया जाता है।

रानी सती का मेलाः रानी सती का मेला राजस्थान स्थित झुंझनू में रानी सती की याद में आयोजित किया जाता है। इस मेले में राजस्थान के प्रत्येक कोने से बड़ी संख्या में लोग आते हैं।

बाबा शाहबुद्दीन औलिया का उर्सः मध्य प्रदेश स्थित मन्दसौर जिले की नीमच तहसील में प्रति वर्ष फरवरी माह में बाबा शाहबुद्दीन की दरगाह पर उर्स का अयोजन किया जाता है। यहां पर लगभग 85 वर्ष से उर्स का आयोजन किया जा रहा है। यह उर्स चार दिन तक चलता है।

ज्वालामुखी मेलाः ज्वालामुखी मेले का आयोजन हिमाचल प्रदेश स्थित कांगड़ा घाटी में अप्रैल और अक्टूबर माह में ज्वालादेवी के सम्मान में किया जाता है। इस मेले में हिमाचल प्रदेश के लोग समूहों में एकत्रित होकर सम्मिलित होते हैं।

बटेश्वर मेलाः इस मेले का आयोजन उत्तर प्रदेश के आगरा जिले में स्थित बटेश्वर नामक स्थान पर प्रति वर्ष कार्तिक माह में किया जाता है। इस मेले में बड़ी संख्या में श्रद्धालु सम्मिलित होते हैं तथा यमुना में स्नान कर यहां स्थित 108 मंदिरों के दर्शन कर पुण्य प्राप्त करते हैं। यहां पशु मेले का भी आयोजन होता है।

गणेश चतुर्थी का मेलाः गणेश चतुर्थी का मेला राजस्थान स्थित सवाई माधोपुर जिले में रणथम्भौर के ऐतिहासिक किले में गणेशजी के मंदिर में आयोजित किया जाता है। इस मेले में बड़ी संख्या में श्रद्धालु सम्मिलित होते हैं।

मेष-संक्रान्ति का मेलाः इस मेले का आयोजन बिहार प्रांत के विभिन्न भागों में किया जाता है। इस मेले को सतुआ संक्रान्ति या सिरूआ-विसुआ आदि के नाम से भी जाना जाता है। इस दिन 'नवान्न भजवा' का उत्सव भी मनाया जाता है। इसमें नए जौ, चने का सत्तू, आम आदि मौसमी फल, पंखे और घड़ों का भी क्रय-विक्रय किया जाता है।

तेजाजी का मेलाः तेजाजी का मेला मध्य प्रदेश राज्य के गुना जिले के मामावाद गांव में प्रतिवर्ष भाद्र माह में तेजाजी की जन्म तिथि पर लगभग 70 वर्षों से लगता आ रहा है। तेजाजी एक सभ्य, सुसंस्कृत परिवार के लड़के थे, जो अपनी सत्यवादिता के लिए प्रसिद्ध थे।

कैलाश मेलाः कैलाश मेला उत्तर प्रदेश के आगरा जिले में प्रतिवर्ष सावन के तीसरे सोमवार को आयोजित होता है। इस दिन आगरा-मथुरा मार्ग पर सिकन्दरा के समीप स्थित कैलाश मंदिर में सुबह से ही श्रद्धालुओं की भीड़ एकत्रित होने लगती है। श्रद्धालु यमुना नदी में स्नान कर कैलाश मंदिर में भगवान शिव की पूजा-अर्चना कर पुण्य अर्जित करते हैं।

रामदेव का मेलाः रामदेव मेले का आयोजन राजस्थान स्थित जैसलमेर जिले के पोखरन नामक स्थान पर भादों माह में किया जाता है। इस मेले में दूर-दूर से लोग आकर सम्मिलित होते हैं। इसमें संत रामदेव की पूजा की जाती है।

सिंगाजी का मेलाः सिंगाजी का मेला प्रतिवर्ष क्वार माह में मध्य प्रदेश राज्य के पश्चिम निमाड़ जिले के गांव पिपल्या में लगता है, जो एक सप्ताह तक चलता है। लगभग 400 वर्ष पूर्व सिंगाजी यहां रहते थे। अनेक चमत्कारों और अन्य अलौकिक घटनाओं के कारण मृत्यु के पश्चात वे एक दिव्य पुरुष बन गए।

रथ मेलाः रथ मेले का आयोजन उत्तर प्रदेश के मथुरा जिले में वृंदावन नामक स्थान पर प्रतिवर्ष चैत्र माह में किया जाता है। इस दिन रंगनाथजी के मंदिर से रथ की सवारी निकाली जाती है। इस रथ को भक्त-जन खींचते हैं। इस रथ को पूरे वृंदावन में घुमाया जाता है। यह ब्रज क्षेत्र के प्रसिद्ध मेलों में से एक है।

दाऊजी का मेलाः दाऊजी का मेला, उत्तर प्रदेश राज्य के हाथरस जिले में भादों शुक्ल पक्ष की छठ को दाऊजी की वर्षगांठ के रूप में आयोजित किया जाता है। इस मेले का आयोजन हाथरस के किले में स्थित भगवान श्रीकृष्ण के मंदिर में किया जाता है।

अक्षय नवमी का मेलाः इस मेले का आयोजन कार्तिक माह की नवमी को उत्तर प्रदेश स्थित मथुरा जिले में किया जाता है। इस दिन श्रद्धालु लोग यमुना में स्नान करते हैं तथा मथुरा की परिक्रमा करते हैं।

शंकरजी का मेलाः मध्य प्रदेश स्थित बिलासपुर जिले के कनकी नामक स्थान पर अनेक वर्षों से यह मेला आयोजित हो रहा है। यह मेला भगवान शिव को समर्पित है। एक सप्ताह तक चलने वाला यह मेला फाल्गुन माह में महाशिवरात्रि के अवसर पर लगता है। अनेक चमत्कारिक कहानियां भी इस मेले के विषय में प्रचलित हैं।

गऊ चारण का मेलाः यह मेला ब्रजक्षेत्र के प्रसिद्ध मेलों में से एक है जो मथुरा में कार्तिक माह की अष्टमी को आयोजित किया जाता है। इस दिन गायों की पूजा की जाती है तथा द्वारिकाधीश के श्रीकृष्ण, बलराम व गायों की

सवारी निकाली जाती है। इस मेले को गोपा अष्टमी के मेले के नाम से भी जाना जाता है।

माघ घोघरा का मेलाः मध्य प्रदेश के सिवनी जिले के भैरोंथान नामक स्थान पर प्रतिवर्ष शिवरात्रि के अवसर पर माघ घोघरा का मेला आयोजित किया जाता है। यह मेला अनेक वर्षों से लगता आ रहा है। यह मेला 15 दिन तक चलता है। इस मेले का आरंभ कब हुआ इसकी जानकारी उपलब्ध नहीं है। यहां एक प्राकृतिक गुफा और पानी की एक प्राकृतिक झील है। कहते हैं यहां भगवान शिव प्रकट हुए थे।

देवठान एकादशी का मेलाः देवठान एकादशी का मेला उत्तर प्रदेश स्थित मथुरा जिले में कार्तिक माह की एकादशी को आयोजित किया जाता है। इस दिन प्रातःकाल से ही श्रद्धालु यमुना में स्नान करते हैं तथा फिर तीनों वन मथुरा, वृंदावन तथा गरूण गोविंद की परिक्रमा करते हैं।

पीर बुधान का मेलाः यह मेला मध्य प्रदेश के शिवपुरी जिले में सांवरा गांव में एक मुस्लिम संत पीर बुधान की मजार पर आयोजित होता है। इस मेले का आयोजन प्रतिवर्ष अगस्त-सितंबर में किया जाता है। कहा जाता है कि 250 वर्ष पुराना यह मेला परंपरागत ढंग से प्रतिवर्ष आयोजित होता है।

यमद्वितीया का मेलाः यमद्वितीया का मेला उत्तर प्रदेश स्थित प्रसिद्ध तीर्थस्थली मथुरा में आयोजित किया जाता है। यह मेला कार्तिक माह में दीपावली की द्वितीया को लगता है। इस दिन यहां दूर-दूर से लोग आते हैं और भाई-बहन एक-दूसरे का हाथ पकड़कर यमुना में स्नान करते हैं तथा यम की पूजा करते हैं। यमद्वितीया का प्रचलित नाम 'भैयादूज' भी है।

ग्वालियर का मेलाः ग्वालियर मध्य प्रदेश में स्थित है। यहां प्रतिवर्ष दिसम्बर-जनवरी माह में एक व्यापारिक मेले का आयोजन किया जाता है। इस मेले में भारत की प्रतिष्ठित कम्पनियां उत्पादित वस्तुओं की प्रदर्शनी लगाती हैं। इस मेले में पशुओं का भी क्रय-विक्रय किया जाता है। दिन-प्रतिदिन व्यापारिक दृष्टिकोण से इस मेले का महत्व बढ़ता जा रहा है।

जलबिहारी का मेलाः जलबिहारी का मेला मध्य प्रदेश स्थित छतरपुर जिले में प्रतिवर्ष अक्टूबर माह में आयोजित किया जाता है। यह मेला दस दिन तक चलता है, जिसमें अनेक आकर्षक कार्यक्रमों का आयोजन किया जाता है।

रण उत्सवः गुजरात के कच्छ जिले में सांस्कृतिक महोत्सव *'रण उत्सव'* का प्रारंभ 17 दिसंबर, 2013 को हुआ। इस महोत्सव के दौरान सफेद नमक के पहाड़, मंत्रमुग्ध कर देने वाला सूर्योदय और सूर्यास्त तथा गुजराती संस्कृति के विविध रंग प्रदर्शित होते हैं। *रण उत्सव* दुनिया के सामने कच्छ जिले की प्राकृतिक एवं सांस्कृतिक धरोहर को पेश करता है। इस उत्सव में प्रत्येक उम्र के लोग भाग लेते हैं। यहां पहली बार आने वाले लोग भी होते हैं और ऐसे लोग भी हैं, जो साल दर साल नमक के मौसमी पहाड़ों को देखने के लिए एकत्रित होते हैं। मेले में सूर्योदय से सूर्यास्त और चंद्रोदय तक पूरी आभा के साथ नमक के चमकीले रेगिस्तान को देखने का तथा अत्यंत सुसज्जित आलीशान तंबुओं में रहने का मौका मिलता है।

अध्याय-3

संगीत

संगीत मानव के लिए प्रायः उतना ही स्वाभाविक है जितना भाषण। कब से मनुष्य ने गाना प्रारंभ किया, यह बतलाना उतना ही कठिन है जितना कि कब से उसने बोलना प्रारंभ किया। परंतु बहुत काल बीत जाने के बाद उसके गान ने व्यवस्थित रूप धारण किया।

जब स्वर और लय व्यवस्थित रूप धारण करते हैं तब एक कला का प्रादुर्भाव होता है और इस कला को संगीत, म्यूजिक कहते हैं।

संगीत का जन्म कैसे हुआ, इस संबंध में कई दृष्टिकोण हैं। कहा जाता है कि संगीत पहले ब्रह्माजी के पास था। उन्होंने यह कला शिवजी को दी और शिव के द्वारा देवी सरस्वती को प्राप्त हुई। सरस्वती को इसीलिए 'वीणा पुस्तक धारिणी' कहकर संगीत और साहित्य की अधिष्ठात्री माना गया है। सरस्वती से यह ज्ञान नारदजी को तथा नारदजी से स्वर्ग के गंधर्व, किन्नर और अप्सराओं को मिला। वहां से ही भरत, नारद और हनुमान प्रभृति ऋषि संगीत कला में पारंगत होकर भूलोक पर संगीत के प्रचार-प्रसार हेतु अवतीर्ण हुए।

एक अन्य मत के अनुसार शिवजी ने पार्वती जी की शयनमुद्रा को देखकर उनके अंग-प्रत्यंगों के आधार पर 'रुद्रवीणा' बनाई और अपने पांच मुखों से पांच रागों को जन्म दिया। तत्पश्चात् छठा राग पार्वती जी के श्रीमुख से उत्पन्न हुआ। शिवजी के पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण और आकाशोन्मुख से क्रमशः भैरव, हिंडोल, मेघ, दीपक और श्री राग प्रगट हुए तथा पार्वती जी द्वारा कौशिक राग की उत्पत्ति हुई।

मूलभूत अवधारणा

भारतीय संगीत का आदि रूप वेदों में मिलता है। वेद के काल के विषय में विद्वानों में बहुत मतभेद है, किंतु उसका काल ईसा से लगभग 2000 वर्ष पूर्व था इस पर प्रायः सभी विद्वान् सहमत हैं। इसलिए भारतीय संगीत का इतिहास कम से कम 4000 वर्ष प्राचीन है। वेदों में वाण, वीणा और ककेरि इत्यादि वाद्यों का उल्लेख मिलता है। विश्व में सबसे प्राचीन संगीत सामवेद में मिलता है। उस समय 'स्वर' को यम कहते थे। साम का संगीत से इतना घनिष्ठ संबंध था कि साम को स्वर का पर्याय समझने लग गए थे। साम का 'स्व' अपनापन 'स्वर' है। 'तस्य हैतस्य साम्नो यः स्वं वेद, भवति हास्य स्वं, तस्य स्वर एवं स्वम्' अर्थात् जो साम के स्वर को जानता है उसे 'स्व' प्राप्त होता है। साम का 'स्व' ही स्वर है।

वैदिक काल में तीन स्वरों का गान सामिक कहलाता था। 'सामिक' शब्द से तात्पर्य तीन स्वरों से हैं। ये स्वर 'ग रे स' थे। कुछ समय पश्चात् पांच, छह और सात स्वरों के होने लगे। अध्यधिक 'साम' तीन से पांच स्वरों तक के मिलते हैं। साम के यमों (स्वरों) की जो संज्ञाएं हैं उनसे उनकी प्राप्ति के क्रम का पता चलता है। उल्लेखनीय है कि सामगायकों को स्पष्ट रूप से पहले 'ग रे स' इन तीन यमों (स्वरों) की प्राप्ति हुई। इनका नाम हुआ प्रथम, द्वितीय, तृतीय। ये सब अवरोही क्रम में थे। इनके अनंतर नि को प्राप्ति हुई जिसका नाम चतुर्थ हुआ।

सामग्राम और उनकी आधुनिक संज्ञाओं की सारणी

साम	आधुनिक
क्रुष्ट	मध्यम (म)
प्रथम	गांधार (ग)
द्वितीय	ऋषभ (रे)
तृतीय	षड्ज (स)
चतुर्थ	निषाद (नि)
मंद्र	धैवत (ध)
अतिस्वार्य	पंचम (प)

संमात्य स्वरों के नियम क्रम का जो समूह है वह संगीत में 'साम' कहलाता है। यूरोपीय संगीत में इसे 'स्केल' कहते हैं।

एक अन्य धार्मिक दृष्टिकोण के अनुसार हज़रत मूसा पैगम्बर को जेवरायूल नामक फरिश्ते ने एक पत्थर दिया था। एक बार जंगल में घूमते हुए मूसा को प्यास लगी, किंतु पानी नहीं मिला। फिर उन्होंने खुदा की बंदगी की और बारिश होने लगी। पानी की धार उस पत्थर पर गिरी तो उसके सात टुकड़े हो गए और उनसे सात अलग-अलग ध्वनियां निकली। इन्हें ही सात स्वर माना गया। कई लोगों का कथन है कि 'कोहकाफ' में एक पक्षी है, जिसे फारसी में 'आतिशजन' कहते हैं। इस पक्षी की चोंच में सात छिद्र होते हैं, जिनमें से हवा के प्रभाव से सात प्रकार की ध्वनियां निकलती हैं और ये ही सातों स्वर हैं।

इसके अतिरिक्त किसी ने बुलबुल पंछी से संगीत की उत्पत्ति मानी तो किसी ने पुरुष और नारी के मिलन का हेतु संगीत को ही माना। किसी ने प्रकृति को संगीत का उत्स माना। नारी सौंदर्य में आकर्षण पैदा करने के लिए सृष्टिकर्ता ने उसे संगीत से अलंकृत किया, क्योंकि यदि नारी के अंदर संगीत न होता तो वह सृष्टि की जननी न बन पाती। उसके अंदर कोमलता, स्निग्धता, शालीनता और मधुरता न होती तो वह प्रेरणा न बन पाती।

इन सभी दृष्टिकोणों के मध्य संगीत की महत्ता अक्षुण्ण है और इतना तो निर्विवाद है कि संगीत के अभाव में जीवन का शृंगार न हो पाता।

संगीत के रूप

प्राचीन काल में संगीत के दो रूप अत्यधिक प्रचलित हुए (i) मार्गी संगीत, (ii) देसी संगीत। बाद में मार्गी संगीत लुप्त हो गया और देसी संगीत दो रूपों में विकसित हो गया। वर्तमान में संगीत के दो रूप प्रचलित हैं (1) शास्त्रीय संगीत, (2) लोक संगीत।

शास्त्रीय संगीतः शास्त्रों के आधार पर प्रयुक्त संगीत शास्त्रीय संगीत कहलाता है।

लोक संगीतः प्रकृति के स्वच्छंद वातावरण में काल और स्थान के अनुसार पुष्पित, पल्लवित संगीत लोक संगीत कहलाता है।

भारतीय संगीत शैली

भारतीय संगीत शैली को दो प्रमुख वर्गों में विभाजित किया गया है (1) हिन्दुस्तानी संगीत शैली, (2) कर्नाटक संगीत शैली।

हिन्दुस्तानी संगीत एवं **कर्नाटक संगीत** भारतीय संगीत की प्रचलित धाराएं हैं। आरंभ में संगीत की ये दोनों पद्धतियां भौगोलिक क्षेत्र की द्योतक हैं, परंतु वर्तमान में संगीत के दोनों स्वरूप एवं क्षेत्र में काफी परिवर्तन हो गया है। इतिहास की दृष्टि से हिन्दुस्तानी संगीत को उत्तरी भारत का संगीत कहना अनुचित न होगा कि, परंतु आधुनिक हिन्दुस्तानी संगीत का क्षेत्र इतना अधिक बढ़ गया है कि उसे हम केवल उत्तरी भारत का संगीत नहीं कह सकते, वस्तुतः हिन्दुस्तानी संगीत की पद्धति सामवेद से ही प्रसूत होकर विभिन्न समसामयिक परिवर्तनों को अपने अंदर समाहित करते हुए हमारे समक्ष उपस्थित है। जब हम इसके साथ आधुनिक शब्द का प्रयोग करते हैं तो इसका अर्थ यही है कि इस संगीत को अकबर के युग से लेकर वर्तमान काल तक हम देखते हैं।

इन दो अलग-अलग पद्धतियों का वर्णन करने से यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि यह एक-दूसरे के बिल्कुल विपरीत हैं। सांस्कृतिक रूप से ये दोनों हमारी सांस्कृतिक आत्मा के दो अनिवार्य अंग हैं। कर्नाटक संगीत की बहुत सी रागें हमारी रागों से मिलती-जुलती हैं। हिन्दुस्तानी संगीत में रागों का भाव प्रदर्शन उनसे कहीं अधिक व्यापक है और हिन्दुस्तानी संगीत अपने रागों का कर्नाटक संगीत से कहीं अधिक सूक्ष्म, भावुक और कलात्मक विश्लेषण भी करता है। कर्नाटक संगीत समय के साथ इतना प्रभावित नहीं हुआ जितना हमारा हिंदुस्तानी संगीत। इसी कारण शायद कर्नाटक संगीत में एक प्रकार की सभ्य कट्टरता है और वह इतना रोचक, भावुक और परिवर्तनशील नहीं रहा है जितना अधिक हिन्दुस्तानी संगीत।

हिन्दुस्तानी संगीत शैली

भारतीय संगीत शास्त्र की परंपरा वेद, आगम, पुराण और संहिता से निर्मित हुई है। सामवेद में इसकी उत्पत्ति बतायी गई। सामवेद में हमारे संगीत का शैशव काल था। फिर भी संगीत के आधारभूत नियमों को वैदिक काल में ऋषियों ने खोज निकाला था। सामवैदिक संगीत में मूर्छना का बीज विद्यमान था। सामगीतों को सौंदर्यात्मक दृष्टि से परिपूर्ण करने के लिए, उन्हें मधुर और ललित बनाने

के लिए आवश्यक गमकों और अलंकारों का आविष्कार व प्रयोग होने लगा था। ताल का प्रयोग प्रारंभ नहीं हुआ था।

इतिहास और मुख्य पुराणों के काल में संगीत किशोरावस्था को प्राप्त हुआ। सामवेद के आधार पर गांधर्व संगीत का विकास हुआ, जिसमें सामवेद के मंत्रों के अतिरिक्त गाथाएं और विभिन्न प्रकार के प्रबंध गाए जाने लगे। संगीत एक स्वतंत्र शास्त्र बन गया। बाल्मिकी रामायण में हमें जातिगान का उल्लेख मिलता है। महाभारत में ग्राम रागों का वर्णन है। जाति और ग्रामराग से ही आधुनिक रागों का विकास हुआ है। रामायण में तालों और भिन्न प्रकार के अवनद्ध वाद्यों और वीणाओं का उल्लेख (जिनका वर्णन इतिहासकाल के अध्याय में किया गया है)। स्पष्ट है कि इतिहासकाल तक संगीत का पर्याप्त विकास हो चुका था। उस विकसित संगीत का कोई न कोई शास्त्र भी अवश्य बना होगा, किंतु उसका पता नहीं चलता। गांधर्ववेद का यत्र-तत्र उल्लेख मिलता है।

संगीत, नृत्य और अभिनय पर उपलब्ध ग्रंथ भरतमुनि का 'नाट्यशास्त्र' है। कहते हैं कि भरत ने अपने शास्त्र में संगीत की विद्या का उपयोग करने के लिए नारद और स्वाति से ही इस कला की दीक्षा ली। महर्षि नारद का ग्रंथ 'नारदीय शिक्षा' है। आगम परंपरा में संगीत के आदिकर्ता स्वयं देवाधिपति महादेव हैं। 'नंदकेश्वर संहिता' में और 'काश्यपीयम्' आदि ग्रंथों में संगीत की संहिता परंपरा के भी श्रोतों का उल्लेख है। संगीत की अन्य परंपराओं में दुर्गा और आंजनेय परम्पराएं भी महत्वपूर्ण हैं। आंजनेय मत का अनुकरण 'संगीत-दर्पण' में किया गया है, जबकि याष्टिक और दुर्गा परंपराओं का अनुसरण भारतीय संगीत के शिखर टीकाकार शारंगदेव ने अपने ग्रंथ 'संगीत-रत्नाकर' में किया है। उल्लेखनीय है कि 'संगीत-रत्नाकर' पूरे भारत के संगीत में एकरूपता लाने वाला एकमात्र, उपलब्ध महत्वपूर्ण ग्रंथ है।

नाट्यशास्त्र के अनुसार हमारे संगीत का विकास चार परिवेशों में हुआ (1) यज्ञशाला (2) मंदिर (3) रंगमंच (4) राजप्रसाद। यज्ञशाला में सामवेद के मंत्र गाए जाते थे। यह सरल किंतु शुद्ध संगीत था। मंत्रों में शब्दों की प्रधानता थी, स्वर गौण था। गंधर्व संगीत यज्ञशाला में अंकुरित हुआ, किंतु वह पल्लवित और पुष्पित हुआ मंदिरों में। मंदिरों में वृंदगान होता था। रंगमंच का संगीत प्रायः युगल और वृंदगान अथवा वृंदवाद्य के रूप का था। एकल संगीत बहुत कम होता था। रंगमंच का संगीत प्रायः नृत्यमिश्रित अभिनय के साथ होता था। हरिवंश

में यह प्रमाण मिलता है कि नाटक में रंगमंच पर श्रीकृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न और साम्ब ने वज्रनाभपुर में ग्रामराग और छलिक अथवा छालिम्य का प्रयोग किया था। राजप्रसाद में दरबारी संगीत होता था। यह प्रायः एकल अथवा युगल संगीत होता था। प्रसादों में राजा और उसके अधिकारियों को प्रसन्न करने के लिए ही संगीत का कार्यक्रम होता था। अतः यह प्रायः एकल संगीत अथवा एकल नृत्य मिश्रित छलिक प्रकार का संगीत होता था, जिसका उदाहरण कालिदास के 'मालविकाग्निमित्र' नाटक में मालविका के छलिक में मिलता है। मुस्लिम काल

संगीत शास्त्र के प्रमुख ग्रंथ और ग्रंथकार

ग्रंथ	ग्रंथाकार
नारदी शिक्षा	नारद
संगीत रत्नाकर	शारंग देव
संगीत समय सार	पार्श्व देव
संगीत तरंग	राधा मोहन सेन
संगीत राज	महाराजा कुम्भा
संगीत मकरंद	नारद
संगीत सारामृत	तुलाजीराव भोंसले
संगीतांजलि	ओंकारनाथ ठाकुर
संगीत दर्पण	दामोदर मिश्र
बृहदेशी	मतंग देव
राग बोध	सोमनाथ
शृंगार प्रकाश	राजाभोज
लोचन टीका	अभिनव गुप्त
आदिभारतम	मुम्मदि चिक्क भूपाल
श्रुति भास्कर	भाव भट्ट
हृदय कौतुक	हृदय नारायण देव
राग तरंगिनी	लोचन
अलंकार शास्त्र	राजा भोज
अभिनव शास्त्र	राजा भोज
अभिनव भारत सार	माधव विद्यारण्य संग्रह
ध्रुपद टीका	भरताचार्य

में यज्ञशाला का संगीत बहुत कम रह गया। कुछ मंदिर के परिवेश का संगीत बचा रहा। रंगमंच का संगीत लुप्त हो गया। विशेष रूप से राजप्रसाद का संगीत पनपा, जो एकल और प्रबंध बहुल था। यही दरबारी संगीत विशेष रूप से अपने देश में अवशिष्ट रह गया।

मनुष्य जब भी कोई भाव व्यक्त करना चाहता है तो उसके पहले उसका मन प्रेरित होता है। इस प्रेरणा से ही शरीर के भीतर अग्नि जागती है जो वायु को अपने आघात से उद्वेलित करती है। इन आघातों के क्रमिक उद्वेलन से ही श्रुतियां निर्मित होती रही हैं। शास्त्रोक्त है कि पहली चार श्रुतियों से षड्ज स्वर का जन्म हुआ। इसके बाद इन्हीं श्रुतियों से क्रमानुसार गांधार, मध्यम, पंचम, धैवत और अंत की इक्कीसवी और बाइसवीं श्रुतियों से 'निषाद' की उत्पत्ति हुई। यही भारतीय संगीत के 'प्रकृति स्वर' माने गए हैं।

भारतीय संगीत साधना को सुलभ और ग्राह्य बनाने के लिए रागों की कल्पना की गई। इन्हीं से आकर्षण पैदा होता है। इसके लिए छः मूल रागों की कल्पना की गईः (1) भैरव (2) मालकौंस (3) हिण्डोल (4) दीपक (5) श्री और (6) मेघ। इन रागों को गायन में साक्षात् अनुभव करने के लिए इनके प्रतिष्ठित ध्यान की कल्पना की गई।

ये राग दो प्रकार के हुए एक प्राचीन और दूसरा नवीन। प्राचीन रागों को मार्गराग और नवीन रागों को देसीराग कहा गया है।

इन रागों पर जिन्होंने अभ्यास किया वे गायन में निपुण हुए और जो स्वयं शब्द व छंद रचना करने लगे, वे संगीत शास्त्र में 'वाग्येकार' के नाम से जाने गए। प्राचीन और नवीन संगीत का संपूर्ण ज्ञान रखने वाले गंधर्व कहलाते थे। अतः इस देश का जो संगीत विकसित हुआ, वह स्वरों के मेल से उत्पन्न रागों के माध्यम से शब्द और गायन का ही विस्तार था। ये गायन प्रबंध गायन के नाम से प्रचलित हुए। ये तालबद्ध होते थे। शारंगदेव के 'संगीत रत्नाकर' में 'श्रीवर्धन' प्रबंध का उल्लेख है। कवि जयदेव कृत 'गीत गोविंद' भी भारतीय संगीत में प्रबंध गायन के रूप में लोकप्रिय हुआ। उनका 'देशावतार' हर रचनाकार को कंठस्थ था।

रागों के गायन में समय का भी महत्व था। भैरव को उषाकाल में, मेघ को प्रातःकाल में, दीपक और श्री राग को तीसरे प्रहर तथा हिण्डोल एवं कौशिक को रात्रि में गाए जाने के योग्य माना गया। इसके अतिरिक्त ये राग मनोदशा

और अनुभूतियों से भी जुड़े हैं। भैरव को भय से, कौशिक को प्रमोद से, हिण्डोल, दीपक और श्रीराग को प्रेम से और मेघ को शांति से जोड़ा गया।

प्रबंध गायन अपने विस्तार को सीमित करते हुए ध्रुपद में पल्लवित हुआ। वस्तुतः अपने मूल ढांचे में बिना किसी परिवर्तन की अनुमति दिए हुए अचल रहने का शब्द और स्वर की अन्विति में जो संकल्प था, वही 'ध्रुवपद' हुआ। ध्रुव अचल के पर्याय के रूप में स्वीकृत था। इस प्रकार भारतीय संगीत की यात्रा ऋचाओं से छंदगान, छंद से प्रबंध गायन और प्रबंध गायन से ध्रुपद संगीत तक सीधे चलती चली आई। स्थाई, अंतरा, संचारी और आभोग के विभिन्न चरणों में इस ध्रुपद गायन का विकास हुआ। यही गायन लम्बे समय तक भारतीय संगीत का पर्याय बना रहा। प्रसिद्ध ध्रुपद गायक बैजू बावरा, गोपाल लाल, मदन नायक, चरजू, छवि नायक, प्रेमदास यहां तक कि स्वयं तानसेन भी ध्रुपद गायकी के आचार्य थे। क्रमशः ध्रुपद गायन में भी कई उपभेद हुए। इनमें गौड़ीयवाणी, खण्डारवाणी, डागुरवाणी और नौहारवाणी अत्यंत प्रसिद्ध हुईं। गौड़हार (गौड़ीय) को राजा के समान माना गया, खण्डार को सेनापति और सबकुछ संचय करने वाली डागुरवाणी को कोषाधिकारी के रूप में ध्रुपद गायक मानते रहे।

स्वर, ताल और पद गायन इन तीनों का सम्यक रूप ***ध्रुपद शैली*** प्रस्तुत करती रही। इसमें आलाप शुद्ध स्वरों की क्रमशः बढ़त दिखाता है, फिर इसमें गति आती है। एक प्रकार से ध्रुपद की मूल छवि उसके आलाप में ही बन जाती है। ध्रुपद की विशिष्ट गायन शैली का उन्नायक ग्वालियर नरेश मानसिंह तोमर को बताया गया है। इसमें चाहे ओंकार को स्मरण करते हुए नोम, तोम का आलाप हो, चाहे काव्यमय बंदिशें हों, चाहे उसकी लयकारी और उपज हो ध्रुपद गायन लम्बे अरसे तक भारतीय संगीत पर राज करता रहा। इस गायन शैली में जिस भव्यता, गरिमा और स्वरों के उदात्त स्वरूप का परिचय होता है, वह इसे उच्चतम शिखर पर स्थापित करता है।

गायक को स्वर विस्तार और कल्पना की मुक्त छूट नहीं थी। ध्रुपद की इसी जकड़बंदी के प्रतिक्रियास्वरूप गायन में ***ख्याल शैली*** का जन्म हुआ। ख्याल गायकों में स्वरों को, स्वरों के रचना प्रबंध को, उनकी उपज और कल्पना को प्रमुख स्थान मिला। हालांकि, ख्याल गायक अपने आलाप अंग में ध्रुपद से एकदम नाता तोड़ नहीं पाए, फिर भी उन्होंने उसके बंधे-बंधाए चौखटे को तोड़ जरूर

प्रमुख संगीत शिक्षण संस्थाएं

संस्था	स्थान
1. श्रीराम भारतीय कला केंद्र	दिल्ली
2. गंधर्व महाविद्यालय	दिल्ली
3. भारतीय कला केंद्र	दिल्ली
4. स्वर साधना समिति	मुंबई
5. देवधर स्कूल ऑफ इंडियन म्यूजिक	मुंबई
6. शासकीय संगीत महाविद्यालय	ग्वालियर
7. शंकर गान्धर्व महाविद्यालय	ग्वालियर
8. अलाउद्दीन खां संगीत अकादमी	भोपाल
9. कॉलेज ऑफ म्यूजिक	मैहर
10. कमला देवी संगीत महाविद्यालय	रायपुर
11. कला संस्थान	जयपुर
12. संगीत भारती	बीकानेर
13. सयाजी राव म्यूजिक कॉलेज	बड़ौदा
14. संगीत कला केंद्र	आगरा
15. आई.टी.सी. रिसर्च अकादमी	कलकत्ता
16. अली अकबर कॉलेज ऑफ म्यूजिक	कलकत्ता
17. रविन्द्र भारतीय विश्वविद्यालय	कलकत्ता

प्रमुख राग

भारतीय संगीत के राग रूप से प्रकृति एवं वातावरण से प्रभावित होते हैं। इन रागों को समय चक्र के अनुसार गाने पर उनकी प्रभावोत्पादकता बढ़ जाती हैं। इसलिए प्रत्येक राग की प्रकृति के अनुसार उनकी गाने की ऋतुएं भी निश्चित हैं। इन ऋतुओं की प्रकृति का इन रागों के स्वरों में प्रभाव मिलता है। ऋतु के अनुसार रागों को निम्नलिखित वर्गों में बांटा जा सकता है।

(1) **वर्षा ऋतु के रागः** गाय मल्हार, सूरमल्हार, देस एवं अन्य मल्हार, प्रकार।

(2) **वसंत ऋतु के रागः** राग वसंत बहार, हिण्डोल भैरव बहार आदि।

(3) **फाल्गुन के रागः** इनमें विशिष्ट रूप से होलियां गायी जाती हैं।

दिया। विशुद्ध स्वर के ही माध्यम से संगीत से साक्षात्कार करने वाले कलाकारों ने ख्याल शैली को जन्म दिया। ख्याल नाम क्यों पड़ा, इसके पीछे कोई सुस्पष्ट चिंतन या परिभाषा का उल्लेख नहीं मिलता। कुछ इसे ध्रुपद गायन में आए

'ध्यान' को ख्याल का पर्यायवाची मानते हैं तो कुछ इसे स्वरों की मुक्त उड़ान के नाम पर ख्याल कहते हैं।

जो भी हो, इस समय ख्याल गायन ही भारतीय संगीत का प्रतिनिधि स्वर माना जाता है। इन ख्याल गायकों ने अपनी विशिष्ट शैलियों के कारण, अपने गुरुओं की परंपरा के कारण स्थान विशेष में बंधकर सीखने के कारण, अपनी गायकी को एक विशिष्ट घरानेदार गायकी के रूप में मान्यता प्राप्त कराई। इसमें कुछ घराने तो अत्यंत प्रसिद्ध हुए; जैसे ग्वालियर घराना, आगरा घराना, किराना, सहसवान या रामपुर घराना, पटियाला घराना और जयपुर घराना। स्वरों के विशिष्ट लगाव, आलाप या स्थाई अंतरे के बोलों पर आग्रह के कारण अथवा गायकी में तानों के विभिन्न प्रयोगों के द्वारा एक ही राग गाते हुए भी ये कलाकार अपनी प्रस्तुति की शैलियों में एक-दूसरे से भिन्न हो गए। ख्याल शैली के विकास में मुसलमान कलाकारों और शासकों का विशेष योगदान रहा है। भारतीय संगीत में मान्य मूर्छनाओं के स्थान पर अमीर खुसरो ने ईरानी संगीत के 'मुकामों' की स्थापना की। बारह स्वरों की एक नई कल्पना भी सामने आई, जिनसे रागों के स्वरूप में बदलाव हुआ। अमीर खुसरो के काल में ही ठेठ भारतीय और ईरानी संगीत का अनोखा सम्मिलन हुआ। कई नए राग जुड़े, उनका स्वरूप बदला और नए वाद्य भारतीय संगीत को मिले। जौनपुर में शर्की हुकूमत के दौरान सुल्तान हुसैनशाह शर्की ने भारतीय संगीत में कई बदलाव लाए। राग जौनपुरी के साथ ख्याल गायकी की मूल अवधारणाओं को प्रतिष्ठित करने में इनका भी नाम लिया जाता है।

ख्याल गायकी में अब तक कई शलाकापुरुष हुए हैं, जिन्होंने भारतीय संगीत की दिशा मोड़ी। एक ओर जहां विशुद्ध शास्त्रीय गायन के प्रतिनिधि के रूप में ग्वालियर के पंडित कृष्ण राव शंकर पंडित और उनकी शिष्य परंपरा ने एक प्रतिमान बनाया तो वहीं दूसरी तरफ बड़े गुलाम अली खां साहब ने स्वरों के अपने लगाव से एक नई क्रांति पैदा कर दी। नत्थन खां, पीरबक्श, हाजी सुजान खां, फैय्याज खां, अल्लादिया खां, अब्दुल वाहिद खां, अब्दुल करीम खां ने भी गायन में नये प्रवाह जोड़े।

तथापि, बोलों के विशेष आग्रह ने और उनकी रसमय अदायगी पर अतिरिक्त बल देने के कारण ख्याल में भी गंभीरता बनी रही। इस गंभीरता को कम करने

के लिए ही संभवतः *ठुमरी* गायन का जन्म हुआ। ठुमरी ने संगीत को काव्यमय अनुभूतियों से अधिक सुदृढ़ और ग्राह्य बनाया तथा रागों के कठोरतम बंधनों से मुक्त होकर मानवीय संवेदनाओं को सही अर्थों में और भी गहरा उतरकर छूने का प्रयास किया। रागों के अगम और सूक्ष्म भावबोध जीवन के अधिक निकट आए।

ठुमरी का जन्म स्थान लखनऊ माना जाता हैं। लखनऊ के ही उस्ताद सादिक अली खां इस अंग की गायकी के जनक कहे जाते हैं। अवध के कला-विलासी नवाब वाजिद अली शाह जिन अनेक कलाओं को प्रोत्साहित करने के लिए विख्यात हैं, उनमें ठुमरी का अपना एक महत्व है। वे स्वयं ठुमरी के एक अच्छे रचयिता थे जिन्होंने 'कदरपिया', 'ललनपिया', 'अख्तरपिया' जैसे उपनामों वाले अनेक 'पिया' ठुमरियों की रचना की। अवध का कत्थक नृत्य ठुमरी गायकी से विशेष रूप से सम्बंधित रहा है। विशिष्ट भाव की स्वरों में अदायगी के लिए ठुमरी में बोल बनाव का आविष्कार हुआ। एक ही बोल को कितने रसों में कितने प्रकार से नाटकीयता के साथ अदा किया जा सकता है, यह ठुमरी गायन ने साक्षात् करके दिखा दिया। लखनऊ के अतिरिक्त बनारस में भी ठुमरी ने अपनी जगह बनाई। राज्य संरक्षण से सर्वथा विहीन और विमुक्त बनारस में ठुमरी ने लोकतत्वों को ही अपनाया। चैती, कजरी, सावनी, होरी आदि लोक प्रचलित धुनें इसमें शामिल हुईं। लखनऊ और बनारस दोनों को ही एक प्रकार से पूरब अंग की ठुमरी कहा जाता है। ठुमरी का दूसरा पक्ष पंजाबी अंग के नाम से प्रसिद्ध है। इस अंग की ठुमरी का उद्‌गम पंजाब के लोक संगीत माहिया, पहाड़ी आदि धुनों से हुआ है। इसमें तानों पर अधिक बल है, इसलिए बोलपक्ष पीछे छूट जाता है। वास्तविक रूप में, ठुमरी गायकी बोलों की ही गायकी है।

ठुमरी के सीमित राग हैं। संक्षिप्त और चंचल राग ही ठुमरी के लिए उपयुक्त माने गए हैं। खम्माच, पीलू, काफी, भैरवी आदि प्रचलित राग हैं, किंतु आजकल तिलंग, खम्भावती, सिंदूरा जैसे रागों में भी ठुमरी गाते हैं। उस्ताद बड़े गुलाम अली खां की या उनके भाई बरकत अली की ठुमरियां पंजाबी अंग की उपलब्धियां हैं जबकि पूर्वी अंग की ठुमरी में रसूलन बाई, बड़ी मोती बाई, सिद्धेश्वरी देवी, लखनऊ के महाराज बिंदादीन तथा उनके वंशजों द्वारा गाई गई ठुमरियां आज भी अपने स्वर विन्यास हेतु विख्यात हैं।

घराना

घराना शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है, घर + आना = घराना। उस्ताद अलाउद्दीन खां साहब प्रायः घराने की व्याख्या इसी प्रकार किया करते थे, जिस प्रकार एक लड़की विवाह के पूर्व अपनी पैतृक संस्कृति में पलती है और उसे आत्मसात् कर लेती है, विवाहोपरांत ससुराल की संस्कृति में वही कन्या अपने को ढाल लेती है। इस प्रकार वह दोनों घरों की संस्कृति या आचार-विचारों का प्रतिनिधित्व करने लगती है। हिन्दू संस्कृति की 'रोटी, बेटी और चोटी' की तर्ज पर संगीतज्ञों द्वारा तीन शब्द सूत्रवत प्रयोग किए जाते हैं 'बंदिश, बढ़त और वर्तावा। गुरुकुल में रहकर शिष्य अपने गुरु के गुणों को ग्रहण कर लेता है। यह परंपरा वेद और उपनिषदकालीन प्रथाओं से मेल खाती है। जब 'गोत्र' प्रथा का एवं ब्राह्मणों में 'शाखा' का प्रारंभ हुआ था।

घरानों का जन्म अपने आप होता है। गायक या वादक उन्हें जानबूझकर नहीं बनाते। संगीतज्ञों की सृजनात्मक अभिव्यक्ति से ही किसी विशेष शैली का जन्म होता है। स्वरों के व्यवस्थित और कलात्मक संगठन को ही हम शैली कहते हैं, जिसे एक विशेष तकनीक निर्धारित करती है। किसी घराने की विशेषता उसकी शैली में होती है और वह उसी नाम से जाना जाता है।

सच तो यह है कि जिसे 'घराना' कहते हैं, वह हिंदुस्तानी संगीत की निराली विशेषता है। यदि ये घराने न होते तो हमारे संगीत की पैतृक सम्पदा सुरक्षित न रहती। घरानों के माध्यम से एक तरह से संगीतज्ञों के एक विशेष वर्ग का सामुदायिक विकास भी होता है। यथार्थ में हम घरानों को एक तरह का जातीय समूह ही मानेंगे। प्रत्येक घराने की अपनी विशेषता अथवा विशिष्टता होती है। उसका एक मुख्य गुरु, संरक्षक अथवा मार्गदर्शक होता है, जो उस घराने की शिक्षा का आयोजन करता है।

कोई भी घराना क्यों न हो, वह अपनी शैली से जाना जाता है। गायन की शैली को हम 'गायकी' के नाम से पुकारते हैं और इसी तरह वादन की शैली को हम 'बाज' कहकर पुकारते हैं। आमतौर पर ये शब्द घरानेदार और व्यावसायिक संगीतज्ञों के संगीत पर ही लागू होते हैं।

घराने बड़े भी हैं और छोटे भी, प्रसिद्ध भी और मामूली भी। किंतु जब भी हम संगीत की चर्चा करेंगे, घरानों की चर्चा करना आवश्यक ही नहीं अपितु अपरिहार्य हो जाती है।

टप्पा गायन वस्तुतः ठुमरी का ही भाईबंद है। इसमें गले से राग स्वरूप कायम रखते हुए दानेदार तानों की हरकत करना बड़े कठिन अभ्यास की मांग करता है। इसके आविष्कारक पंजाब के एक शोरी मियां कहे जाते हैं। इसकी

चाल ख्याल और ठुमरी से भिन्न होती है। क्रमशः टप्पा गायन रस से अधिक कौतूहल की वस्तु बन गया। इसके शब्द भी अक्सर ऐसी पंजाबी भाषा में होते हैं, जिनका तालमेल बिठाना कठिन होता है। *'ऐ मियां जाने वाले'* टप्पा की एक ऐसी ही लोकप्रिय बंदिश है। टप्पा गायन के लिए कुछ छोटे राग ही नियत किए गए हैं, जैसे भैरवी, खमाज, काफी आदि। शब्द की संपूर्ण समाप्ति और स्वरों में उनके अस्तित्व को विलीन करके गायन शैली का जो एक उपभेद पैदा हुआ, उसे *तराना* के नाम से जाना गया। वादन की तरह इसमें भी 'दिर दिर दिर दिर ताना ना ना तों नों' आदि स्वर ही प्रयुक्त होते हैं। मध्य और द्रुत लय में तराना की शैली आज भी अनेक गायकों में लोकप्रिय है। इसमें कंठ संगीत से ही गायक अतिद्रुत लय में बाज-अंग का रस उत्पन्न करने में सक्षम हो जाता है। तराना की इसी विशिष्टता ने उसे अब भी संगीत की महफिलों में जीवित रखा है।

भारतीय संगीत की यह शास्त्रीय धारा कई रूपों में अपने को जिस तरह अभिव्यक्त करती रही, उसके आदि स्रोत अनेक क्षेत्रीय लोक गायनों में देखे जा सकते हैं। कुछ ऐसे लोक गायनों ने जहां शास्त्रीय संगीत में अपनी जगह बना ली, जैसे ध्रुपद धमार में होली के (होरी) गीत या चैती या दादरा उसी प्रकार शास्त्रीय गायन भी लोक जीवन में पैठ करता गया। मंदिरों में (विशेष रूप से वैष्णव मंदिरों में) देवोपासना के लिए जहां विशुद्ध ध्रुपद का गायन होता था, उसके स्थान पर भक्तिरस परक हवेली संगीत ने भी शास्त्रीय संगीत का मूल आधार बनाए रखा। ब्रज में अष्टछाप के कवियों ने ऐसी रचनाओं से हिंदी साहित्य की श्रीवृद्धि तो की ही अपने समाज गायन से शास्त्रीय संगीत में एक अनूठा अध्याय भी जोड़ा। इसमें निर्गुण संतों का योगदान महत्वपूर्ण रहा है।

कबीर जब कहते हैं कि 'राग में स्तुति ऐसी बसै-जैसे जल बिच मीना रे' तब हम शब्द और संगीत के सेतु की गहरी पहचान पाते हैं। भक्तिकालीन संतों ने भारतीय शास्त्रीय संगीत पर गहरी छाप छोड़ी है। कई राग उनके नाम पर बने जैसे सूरदासी मल्हार, मीरा की मल्हार इत्यादि। उसी प्रकार सिखों ने 'सबद' गाया। सूफियों की सोहबत ने कव्वालियों को प्रचलित किया। हिन्दी में ब्रजभाषा और अवधी की बोलियों में लिखे हुए पद ही नहीं, फारसी और उर्दू में लिखी गई मशहूर शायरों की रचनाएं भी गजलों के रूप में गाई गईं। मिर्जा गालिब, बहादुर शाह जफर, मीर तकी मीर, जौक आदि चंद कुछ ऐसे नाम हैं, जिन्होंने

गजल को नई ऊंचाई तक पहुंचाया। इसके प्रसार में उत्तर भारत की तवायफों का काफी हाथ रहा जिनकी शास्त्रोक्त संगीत में शिक्षा-दीक्षा हुआ करती थी। भजनों व पदों का गायन यद्यपि आधुनिक संगीत जगत में सीमित हो गया है, किंतु गजल गायकों की एक लम्बी जमात तैयार हो गई है। ये गायक शास्त्रीय संगीत की बंदिशों के ढंग पर ही गजलों में स्वर विस्तार करते हैं।

कर्नाटक संगीत शैली

भारतीय शास्त्रीय संगीत की दूसरी शैली *कर्नाटक शैली* मानी जाती है। दक्षिण भारत में पनपी यह शैली 14वीं सदी के शुरुआती वर्षों में विद्यारण्य के समय में परिष्कृत हुई। उनका 'संगीतसार' कर्नाटक संगीत का मार्गदर्शक रहा, जिसमें 'जनक' और 'जन्य' रागों का वर्णन है। 17वीं सदी के मध्य में वेंकटमखिन ने 'चतुर्दण्डी प्रकाशिका' लिखी, जो दक्षिण की इस शैली का मूलाधार बनी।

कर्नाटक संगीत में 'रागम तानम-पल्लवी' ही गायन में प्रयुक्त होते हैं। रागम आलाप की भांति हैं, जिसमें समय की बंदिश नहीं होती। तानम में लय तो है, किंतु यह भी मुक्त है। पल्लवी में ही बोल और स्वर को तालबद्ध किया जाता है।

कर्नाटक संगीत में *'कृति'* सर्वाधिक लोकप्रिय रूप है। 'कृति' का अर्थ है रचना; कृतनाई का अर्थ है 'गाना'। यद्यपि अंतर्निमेय रूप से इनका प्रयोग होता है, किंतु इनमें अंतर है 'कृतनाई' भक्ति गीत से जुड़ा है, जिसमें काव्य सौंदर्य पर अधिक बल होता है, जबकि 'कृति' में संगीत की महत्ता होती है। त्यागराजा, मुथुस्वामी दीक्षितर और श्यामा शास्त्री तीन ऐसे नाम हैं, जिन्होंने कर्नाटक संगीत को व्यापक आधार व स्वीकृति प्रदान की है। इनका समय अठारहवीं सदी का अंत एवं उन्नीसवीं सदी का प्रारंभ रहा है। पुरंधरदास (1480-1564) ने कृति के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया।

वर्णम एक ऐसी स्वरलिपि है, जो किसी भी राग के विशिष्ट पदों व मूर्छना को स्पष्ट करती है और इसे आमतौर पर किसी भी संगीत गोष्ठी में प्रारंभ में गाया जाता है। पदम और जावली प्रेम गीत हैं, यह कृति से अधिक गीतिमय हैं। 'तिल्लना' हिंदुस्तानी संगीत के तराना की भांति ही है। इसकी भी गति द्रुत होती है।

हिंदुस्तानी संगीत की भांति कर्नाटक संगीत पर भी भक्ति आंदोलन का

प्रभाव पड़ा। सबसे पुराना भजन 'तेवरम' है और इसी की आधारशिला पर तमिलभाषी लोगों की संगीत संस्कृति टिकी है। तेवरम गायकों का एक विशेष वर्ग था, जो ओडुवर के नाम से जाने गए।

कव्वाली

कव्वाली एक विशेष प्रकार की गायन पद्धति अथवा धुन है, जिसमें कई प्रकार के काव्यविधान या गीत जैसे कसीदा, गजल, रूबाई आदि गाए जा सकते हैं। *कव्वाली* के गायक कव्वाल कहे जाते हैं और इसे सामूहिक गान के रूप में अक्सर पीरों की मजारों या सूफियों की मजलिसों में गाया जाता है। भारतीय उपमहाद्वीप में सूफी परम्परा के अंतर्गत भक्ति संगीत की एक धारा के रूप में कव्वाली ने अपना महत्वपूर्ण स्थान बनाया। *कव्वाली* को भारत के अतिरिक्त पाकिस्तान व बांग्लादेश में भी संगीत की लोकप्रिय विद्या के रूप में पहचाना व जाना जाता है। प्रार्थना, भजन इत्यादि की तरह कव्वाली में भी शब्दों की मुख्य भूमिका होती है। लेकिन कव्वाली की विशेष संरचना के कारण शब्दों-वाक्यों को अलग-अलग तरीके से निखारा जाता है और हर बार किसी विशेष स्थान पर ध्यान केंद्रित करने के लिए अलग-अलग भाव सामने आते हैं। यही कव्वाली की सफलता की पराकाष्ठा है।

परम्परागत कव्वाली एक भक्ति संगीत है। यह इस्लामी रहस्यवाद की एक परम्परा के अंतर्गत आता है और इसमें सूफी संतों की रचनाएं शामिल होती हैं। कव्वाली की प्रमुख विशेषता ढोलक की ताल पर गाया गया एक व्यापक मौखिक कोड है। यह सामाजिक और वैचारिक आधार पर काफी व्यापक स्तर पर फैला हुआ है। धार्मिक कार्यों के अतिरिक्त यह जन्म और जीवन चक्र के अन्य समारोहों के दौरान गाया जाता है। गायक कव्वाली के गायन में हारमोनियम, सारंगी, सितार, तबला और ढोलक आदि वाद्ययंत्रों का प्रयोग करते हैं। कव्वाली गायन की शुरुआत अल्लाह की प्रशंसा से होती हैं। इसके पश्चात् इसमें पैंगम्बर मोहम्मद की बातें होती हैं, और उनकी प्रशंसा की जाती है। इसमें संतों की प्रशंसा भी की जाती है, चिश्तियों की प्रशंसा के साथ यह समाप्त होता है। गायन के ज्ञान और शैली को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक मौखिक रूप से संचारित कर इस परम्परा को जीवित रखा गया है। यह समुदायों की धार्मिक, पौराणिक और

उत्सव पहलुओं को जोड़ती है और समुदायों के सौंदर्य और रचनात्मक आकांक्षा को अभिव्यक्त करती है।

कव्वाली अन्य शास्त्रीय संगीत की महफिलों से भिन्न है। शास्त्रीय संगीत में जहां मुख्य आकर्षण गायक होता है, कव्वाली के एक से अधिक गायक होते हैं और सभी महत्वपूर्ण होते हैं। कव्वाली को सुनने वाला भी कव्वाली का एक अभिन्न अंग होता है। कव्वाली गाने वालों में 1-3 मुख्य कव्वाल, 1-3 ढोलक, तबला और पखावज बजाने वाले, 1-3 हारमोनियम बजाने वाले, 1-2 सारंगी बजाने वाले और 4-6 ताली बजाने वाले होते हैं। सभी लोग अपनी वरिष्ठता के क्रम में बायें से दायें बैठते हैं।

अमीर खुसरो, बाबा बुल्लेशाह, बाबा फरीद, ख्वाजा फरीद, हजरत सुल्तान बाहू, सचल सरमस्त और *वारिस शाह* ने कव्वाली को नई ऊंचाईयां एवं बुलन्दियां बख्शीं। ईरान और अफगानिस्तान में 8वीं सदीं में इस विद्या (कव्वाली संगीत) का सर्वप्रथम प्रवेश हुआ। भारत में यह 13वीं सदी में आयी जिसे अमीर खुसरो ने भारतीय संगीत के साथ मिलाकर नया रूप प्रदान किया।

आधुनिक विकास

नृत्य की तरह, संगीत की प्रसिद्धि भी 19वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक अच्छी नहीं थी, लेकिन 19वीं शताब्दी के अंत और 20वीं शताब्दी के प्रारंभ पर प्रेरणाएं हिलोरें मारने लगीं और सुधार होने लगे। रवीन्द्रनाथ टैगोर ने अद्वितीय गीतों को तैयार किया जिसे रवीन्द्र संगीत के नाम से जाना जाता है। बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के देशभक्ति उन्माद ने स्वतंत्रता संघर्ष में कई संगीतकारों को शामिल किया जैसे काजी नजरूल इस्लाम, विष्णु दिगम्बर पलुस्कर, सुब्रमण्यम भारती इत्यादि, और इन सभी ने भारतीय संगीत एवं संगीतशास्त्र को विश्व मानचित्र पर स्थापित किया।

संगीत को विज्ञान के तौर पर अध्ययन के लिए विभिन्न संस्थानों की स्थापना को प्रोत्साहित किया गया। 1901 में, पंडित विष्णु दिगम्बर पलुस्कर ने अपने प्रयासों से संगीत को घरानों की चारदीवारी से निकाल कर इसे व्यापक आधार प्रदान किया और लाहौर में गंधर्व महाविद्यालय' नामक संगीत विद्यालय खोला। धीरे-धीरे इसका आधार मुम्बई तक जा पहुंचा। बाद में उन्होंने इलाहाबाद में

हिन्दुस्तानी एवं कर्नाटक संगीत का तुलनात्मक अध्ययन	
हिन्दुस्तानी संगीत	**कर्नाटक संगीत**
● इसके अंतर्गत मौलिक स्वर पर जोर दिया जाता है।	● ध्वनि गुण के महत्व को घटाने-बढ़ाने की परिपाटी है।
● थोड़ा बहुत परिवर्तन करके राग बनाया जाता है।	● राग में काफी स्वतंत्रता है।
● स्वर में परास और विसर्पण होता है।	● स्वर में कुंडली तकनीक का प्रदर्शन है।
● समय सिद्धांत का अनुपालन होता है। सुबह और शाम के लिए अलग-अलग राग होते हैं।	● इसके अंतर्गत ऐसी व्यवस्था नहीं है।
● सामान्य ताल होते हैं।	● ताल बेहद जटिल होते हैं।
● राग का लिंगात्मक विभाजन होता है।	● ऐसी कोई व्यवस्था नहीं है।
● हिन्दुस्तानी संगीत में विलम्बित चरण तक पहुंचने में कोई कालिक अनुपात नहीं है।	● कर्नाटक संगीत में काल निर्दिष्ट हैं विलम्ब से दूना मध्य और मध्य से दूना द्रुत।

प्रयाग समिति खोली। विष्णु नारायण भातखण्डे एक अन्य उल्लेखनीय दिगदृष्टा थे जिन्होंने संगीत को हीन भावना से निकालकर उसे उसके वांछित सम्मान तक पहुंचाया। उनके प्रयासों से लखनऊ में 1926 में 'मैरिस कॉलेज ऑफ म्युजिक' की स्थापना की गई। अब इसका नाम बदलकर भातखण्डे कॉलेज ऑफ म्युजिक कर दिया गया है। इसी बीच, 1919 में, अखिल भारतीय संगीत एकेडमी की स्थापना की गई। इन सभी कार्यों ने, संगीत में रुचि जगाने के अतिरिक्त, विभिन्न शैलियों की समझ, अनुप्रयोग, अध्ययन, अनुसंधान के लिए व्यापक मार्ग प्रशस्त किया। 1928 में, मद्रास संगीत एकेडमी स्थापित की गई और इसने कर्नाटक संगीत में अधिकाधिक रुचि को व्यापक किया। धीरे-धीरे कई भारतीय विश्वविद्यालयों एवं विद्यालयों ने अपने पाठ्यक्रम में संगीत को शामिल किया और बहुत से विद्यार्थियों ने इसका अध्ययन प्रारंभ किया और इस क्षेत्र में अनुसंधान करने लगे।

संगीत में रुचि बढ़ाने में अखिल भारतीय रेडियो ने एक महत्ती भूमिका अदा की जिसने घर में बैठे-बैठे बड़े संगीतकारों के कार्यक्रमों को सुनना संभव बनाया

और उभरते संगीत योग्यता को आगे बढ़ने का अवसर प्रदान किया। सिनेमा ने भी संगीत को लोकप्रिय बनाया, यद्यपि आजकल फिल्मी गीत तकनीक से बेहद प्रभावित हो चुके हैं।

संगीत से सम्बद्ध प्रसिद्ध व्यक्तित्व

अमीर खुसरोः उर्दू के सुप्रसिद्ध शायर गालिब ने कहा था, ''मेरे कलाम में माधुर्य-आकर्षण कैसे न हो, जबकि मैं मधुरस का प्रवाह करने वाले महाकवि अमीर खुसरो के पांव धोकर पीता हूं।'' निःसंदेह खुसरो को ही राष्ट्रीय एकता की मूलभावना से ओत-प्रोत पहला महाकवि माना जाना चाहिए, जिन्होंने भारतीय संगीत, हिन्दी कविता और फारसी काव्य में विविध रंगों वाले भारतीय जीवन की ताजा सुगंध भरी।

कवि, गद्यकार, इतिहासकार, सिपाही, दरबारी, सूफी संगीतज्ञ अबुल हसन यामनुद्दीन खुसरो, जो आगे चलकर अमीर खुसरो के नाम से विख्यात हुए, का जन्म 1253 में पटियाली गांव, जिला एटा, उ.प्र. में हुआ था। खुसरो में बचपन से ही काव्य रचना की प्रवृति थी। उन्होंने अपना पहला काव्य संग्रह 'तुह्फतुस्सिर' मात्र 20 वर्ष की अवस्था में ही पूरा कर लिया था। जलालुद्दीन खिलजी के दरबार में इन्होंने बतौर गजलकार नौकरी की। अलाउद्दीन के जमाने में खुसरो ने पांच प्रेमाख्यान मसनवियां और दो गद्य पुस्तकें लिखीं। इसी दौरान 'नूहे सिपहे' लिखी गई।

तुगलकों के सत्ता सम्हालने के बाद इन्होंने 'तुगलकनामा' लिखा। यह खुसरो ही थे, जिन्होंने एक साथ गजल, मसनवी, कसीदा और रूबाई पर कमाल हासिल किया। गजल के साथ कव्वाली भी खुसरो की ही देन है। तबले के आविष्कारक खुसरो ही थे। कौल-कल्बाना, तराना, ख्याल, सोहिल के साथ-साथ प्रसिद्ध राग यमन भी उन्हीं की प्रतिभा की देन है। उनके द्वारा निकाले गए ताल फारोदस्त (14 मात्रा) और सूलफाख्ता (10 मात्रा) आज भी प्रचलित हैं। दरअसल, खुसरो ने फारसी और भारतीय संस्कृतियों का समागम भारतीय संगीत में किया। इनकी मृत्यु 1325 में हुई।

स्वामी हरिदासः भारत के सांस्कृतिक इतिहास में संगीत और भक्ति का अनन्य योगदान रहा है। सामवेद से लेकर आज तक चली आ रही संगीत की अक्षुण्ण परंपरा में जिन मध्यकालीन संतकवियों का महत्वपूर्ण स्थान रहा है, उनमें

सर्वप्रथम हैं महान संगीतज्ञ स्वामी हरिदास। इन्होंने हिंदुस्तानी शास्त्रीय संगीत को ध्रुपद से समृद्ध किया है।

स्वामी हरिदास ने अपनी काव्य रचनाओं को संगीत की एक नई शैली प्रदान कर ऐसा धरातल स्थापित किया, जिससे न केवल भक्तों को, बल्कि संगीत-शास्त्रियों और प्रेमियों को भी नई दिशाएं मिलीं।

स्वामी हरिदास के जीवन और व्यक्तित्व के बारे में इतिहास मौन है। किंतु जनश्रुतियों और किंवदंतियों के आधार पर इनका समय 15वीं सदी का माना गया है और वृंदावन के आसपास इनका जन्म स्थल था। इनकी गणना संत गायकों में की जाती है। वृंदावन में रहकर इन्होंने अनेक ध्रुपदों की रचना की तथा उन्हें शास्त्रोक्त रागों एवं तालों में निबद्ध किया। ध्रुपद के अतिरिक्त विष्णु संबंधी और अन्य छंदमय पद लिखकर स्वामी जी कवि के रूप में भी प्रसिद्ध हुए। साथ ही ये नृत्य शास्त्र के भी श्रेष्ठ आचार्य थे। उन्होंने रास का प्रचलन कर नृत्य में एक नई विधा शुरू की।

स्वामीजी ने कुल एक सौ अट्ठाईस पद रचे, जिनमें अठारह पद सिद्धांत दर्शन संबंधी और बाकी लीला विहार विषयक हैं। सिद्धांत दर्शन संबंधी पदों को अष्टादश सिद्धांत पद और लीला विहार की पदावली को 'केलिमाल' कहते हैं। ये पद नट, गौरी, कान्हड़ा, केदार, कल्याण, सारंग, विभास बिलावल, मल्हार, गौड़ और बसंत रागों में रचे गए हैं।

वह कृष्ण भक्ति के एक विशेष सम्प्रदाय, सखी सम्प्रदाय अथवा हरिदासी सम्प्रदाय के प्रारंभकर्ता भी थे।

तानसेनः तानसेन को संगीत का पर्याय माना जाता है। इनका जन्म ग्वालियर से सात मील दूर बेहट नामक गांव में हुआ था। तानसेन बहुत नटखट प्रकृति के थे और पढ़ने लिखने से दूर ही रहा करते थे। बस, जानवरों की बोलियां हू-ब-हू उतारा करते थे। ऐसे में स्वामी हरिदास ने इनकी प्रतिभा को पहचाना तथा उन्हें दस वर्ष तक संगीत की शिक्षा दी। बाद में तानसेन ने ग्वालियर में रहकर हजरत मोहम्मद गौस से भी संगीत की तालीम ली।

उन्हें पहले ग्वालियर के महाराज राम निरंजन सिंह के दरबार में और फिर रीवा के शासक राजा रामसिंह के दरबार में दरबारी गायक नियुक्त किया गया। फैलती प्रसिद्धि ने उन्हें अकबर के दरबार तक पहुंचा दिया, जहां उन्हें नौरत्न में शामिल किया गया।

तानसेन को लोग पहले दुलार में तन्ना, त्रिलोचन, रामतनु, पुकारते थे। बाद में हजरत मोहम्मद गौस ने उन्हें तानसेन बनाया। महाराज राम निरंजन ने इन्हें मियां तानसेन नाम दिया। मियां के नाम से आरंभ होने वाले सभी राग उन्हीं की देन हैं   मियां की तोड़ी, मियां की मल्हार, मियां की सारंग इत्यादि।

हिंदुस्तानी संगीत का ध्रुपद-धमार तानसेन के जमाने में प्रचलित था। तानसेन ध्रुपद की चार वाणियों में से गौड़ीय वाणी के उल्लेखनीय गायक थे। उन्होंने लगभग चार हजार राग-रागिनियों का विश्लेषण कर चार सौ रागों को चुना गया। उन्होंने अनेक नए रागों की रचना की, जिनमें संगीत के विभिन्न पक्षों   संगीत-लक्षण, संगीत भेद, दो प्रकार के नाद, स्वरों का वर्णन, रागों के प्रकार, राग-लक्षण, जाति, मूर्च्छना, श्रुति के प्रकार आदि का वर्णन था। इन्होंने *संगीत सार, रागमाला* और *गणेश स्तुति* की रचना की। इन्होंने होरी, मदनोत्सव, ईद, रासलीला आदि त्यौहारों के वर्णन के अलावा नायिका-भेद, शिख, कृष्ण, राधा, पार्वती, सरस्वती आदि की प्रार्थना से संबंधित ध्रुपद भी गाए।

बैजू बावराः पंद्रहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में ग्वालियर के राजा मानसिंह तोमर के काल में हुए इस गायक के बारे में अनेक किंवदंतियां प्रचलित हैं। एक किंवदंती के अनुसार बैजू और तानसेन दोनों स्वामी हरिदास के शिष्य थे। राजा मानसिंह ने जब अपनी रचनाओं को ब्रज भाषा में लिखकर ध्रुपद को लोक भाषा दी, तब गायक बैजनाथ उर्फ बैजू बावरा ने ही उनकी सहायता की थी। उन्हीं के सहयोग से राजा ने ध्रुपद शैली का परिष्कार और प्रचार किया था।

बैजू बावरा के संबंध में फ्रांसीसी इतिहासकार गार्सा द तासी ने लिखा है, "बैजू बावरा उत्तर भारत के एक प्रसिद्ध संगीतज्ञ रहे हैं। उनका संगीतज्ञों और गवैयों में मान रहा है और उन्होंने लोकप्रिय गीत लिखे हैं।" यद्यपि श्री विष्णु नारायण भातखण्डे ने अपनी पुस्तक 'ए शार्ट हिस्टोरिकल सर्वे ऑफ द म्यूजिक ऑफ अपर इंडिया' में जहां बीसियों अज्ञात प्राचीन संगीतज्ञों का खोजपूर्ण विवरण दिया है, वहीं बैजू बावरा का कोई उल्लेख नहीं है।"

बहरहाल, बैजू बावरा ने किसी न किसी रूप में तानसेन के एकछत्र सामाज्य को चुनौती दी होगी। राजा मानसिंह की मृत्यु के बाद बैजू कालिंजर के राजा कीरत की सभा में चले गए। फिर उन्होंने बहादुरशाह गुजराती के दरबार में डेरा जमाया। 1535 में हुमायूं ने मोडू पर अधिकार किया तो गायक बैजू बंदी के

रूप में हुमायूं के सामने आए। इनका गाना सुनकर मुगल सम्राट ने तत्काल कत्लेआम रुकवा दिया था।

फ्रांसीसी इतिहासकार फाइनो जीम के शब्दों में, ''बैजू का प्रेम अपनी प्रेयसी कला के लिए इतना प्रगाढ़ था कि वह उसी के पीछे बावरे हो गए थे। आज इतिहास की दृष्टि से वह शून्य हैं, किंतु मानव दृष्टि के सजीव पृष्ठ पर आज भी वह प्राणवत्ता का स्फूर्तिदायक संदेश लिए हुए हैं और भारतीय संगीत की सुषमा को मुखरित कर रहे हैं।

नेमत खां सदारंगः मुगल सम्राट मोहम्मद शाह (1719-1748 ई.) संगीत के प्रति अपने अनुराग के कारण रंगीला कहलाते थे। उन्हीं के दरबार में ख्याल गायकी के प्रमुख प्रवर्तक नेमत खां सदारंग हुआ करते थे। किसी बात पर अनबन होने के कारण नेमत खां दरबार छोड़कर चले गए और लखनऊ में रहने लगे। वहीं रहकर उन्होंने 'सदारंगीले मुहम्मदशाह' के नाम से बंदिशे तैयार कीं। जब उनके शिष्यों ने बादशाह के सम्मुख उनकी बंदिशें सुनाईं तो उन्होंने पूछा कि सदारंगीले कौन हैं? शिष्यों ने बताया कि यह तखल्लुस उस्ताद नेमत खां का ही है। अतः बादशाह ने उन्हें वापस दरबार में रख लिया।

सदारंग की बंदिशों में शृंगार रस और बादशाह की प्रशस्ति का पुट होने के कारण गानेवालियां इन्हें सीखने के लिए उत्सुक रहती थीं। कहते हैं सदारंग ने अपनी बंदिशें महफिलों में कभी नहीं गाईं। सदारंग के साथ ही कुछ बंदिशों में अदारंग का नाम भी पाया जाता है। फिरोज खां अदारंग, नेमत खां के भतीजे, शिष्य और दामाद भी थे।

विष्णु नारायण भातखंडेः कौन जानता था कि मुंबई उच्च न्यायालय और कराची की अदालत में वकालत करने वाला व्यक्ति वकालत छोड़कर अपना सारा जीवन संगीतोद्धार में लगा देगा। सन् 1860 में जन्मे पंडित विष्णु नारायण भातखंडे ने योग्य और अनुभवी विद्वानों से व्यक्तिगत तथा सामूहिक सम्पर्क करके तथा तत्कालीन राजा-महाराजाओं के सहयोग से जिस संगीत साहित्य का संकलन किया, वह वास्तव में अद्वितीय है।

भातखण्डे जी का सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य संगीत के दस घाटों पर प्रचलित रागों के सिखाए जा सकने वाले ख्याल, ध्रुपद तथा धमार के साहित्य की शास्त्रीय जानकारी को शिक्षालयों के लिए उपयोग तथा क्रमिक शिक्षा का आधार बनाना

था। लखनऊ में 'मैरिस कॉलेज ऑफ म्यूजिक' की स्थापना के साथ ही उनका संगीत विद्यालय खोलने का सपना पूरा हुआ। उन्होंने मराठी में अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'हिंदुस्तानी संगीत पद्धति' लिखी। इन्होंने 'चतुर' नाम से कुछ गीत भी लिखे। उन्होंने कई अन्य संगीत विद्यालय भी खोले। उन्हें ब्रज भाषा नहीं आती थी, इसीलिए उन्होंने ब्रज भाषा के गेय साहित्य का शोधकार्य ब्रज भाषा के विद्वानों से कराया था।

एक संगीत समालोचक के शब्दों में, ''भले ही हम मानना चाहें या न चाहें, आज का भारतीय संगीत, चाहे वह विश्वविद्यालयों के गंभीर अध्ययन का आधार हो, चाहे आकाशवाणी के कार्यक्रमों का आधार हो, चाहे सिनेमा जगत का रसीला संगीत हो, चाहे घर-घर के शिष्टसमाज का या धार्मिक त्यौहारों का संगीत हो, सभी के मूल में इस महापुरुष की संगीत सेवाओं की आधारभूत पृष्ठभूमि अवश्य पाएंगे।''

विष्णु दिगंबर पलुस्करः आज देश में संगीत का जो प्रचार है, वह पंडित विष्णु दिगंबर पलुस्कर के परिश्रम का ही फल है। लगभग सौ वर्ष पहले संगीत राज-महलों और कोठों की चारदीवारी में कैद था। संगीतकार को समाज में हेय दृष्टि से देखा जाता था। संगीत के विकृत स्वरूप को सुधारने और समुचित मान-प्रतिष्ठा दिलाने का श्रेय पलुस्कर जी को जाता है। यदि भातखंडे जी ने संगीत के सैद्धांतिक पक्ष का निरूपण किया तो पलुस्कर जी ने उसके व्यवहारिक पक्ष को गरिमा प्रदान की है।

पंडित विष्णु दिगम्बर पलुस्कर का जन्म महाराष्ट्र की कुरुन्दवाड़ नामक रियासत में 18 अगस्त, 1872 को हुआ था। आठ वर्ष की अवस्था में ही इनकी आंखों की ज्योति चली गई। संगीत में इनकी गहरी रुचि थी। इन्होंने पंडित बालकृष्ण बुबा इचलकरंजीकर से संगीत की शिक्षा प्राप्त की।

संगीत की शिक्षा पूरी करने के पश्चात् पलुस्कर जी गांवों में घूमने लगे। इसी दौरान उन्हें यह आभास हुआ कि संगीत और संगीतकारों की स्थिति सोचनीय है। इसे देखकर ही उन्होंने संगीत को सम्मानजनक स्थिति में लाने के बारे में सोचा। उन्होंने शृंगार रस के भद्दे शब्दों को हटाकर भक्ति और करुण रस को स्थान दिया। लोगों का आकर्षण बढ़ने लगा।

उन्होंने 1901 में लाहौर में गांधर्व महाविद्यालय की स्थापना की। यह

संशोधित गुरुकुल प्रणाली और आधुनिक शिक्षा का एक उत्कृष्ट समन्वय था। 1908 में विष्णु दिगंबर जी मुंबई आ गए और यहीं उन्होंने गांधर्व महाविद्यालय की शाखा स्थापित की। उन्होंने संगीत की लगभग पचास पुस्तकें प्रकाशित कीं, जिनमें संगीत बाल प्रकाश, संगीत बाल बोध, संगीत शिक्षक, राग प्रवेश (बीस खंड), राष्ट्रीय संगीत, महिला संगीत आदि शामिल हैं। उन्होंने 'संगीतामृत प्रवाह' नामक एक मासिक पत्रिका भी निकाली थी।

विष्णु दिगंबर ने स्वतंत्रता संग्राम में भी अपना विशिष्ट योगदान दिया। वह गांधीजी के साथ सभा मंच पर बैठकर 'रघुपति राघव राजाराम' गाते थे। कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशनों का आरंभ उनके गाए 'वंदेमातरम' से होता था।

फैयाज खांः जो गायक ख्याल से लेकर ठुमरी, दादरा और गजल तक को कलात्मक ढंग से सुना सके और श्रोताओं को संगीत के रस में सराबोर कर सके, वह निश्चित रूप से असाधारण प्रतिभा का गायक होगा। अपने मिजाज को प्रत्येक शैली के अनुकूल बनाकर गाना हर गायक के बूते की बात नहीं। उस्ताद फैयाज खां ऐसी ही चौमुखी प्रतिभा के गायक थे। उन्हें 'आफताबे मौसिकी' कहा जाता था।

फैयाज खां का जन्म 1880 में आगरा के पास सिकंदरा में हुआ था। उन्होंने आगरा घराने के उस्ताद गुलाम अब्बास खां से तालीम ली थी। मुंबई की एक महफिल में मियां जान खां के बराबर राग मुल्तानी में ख्याल गाकर इन्होंने बड़ी ख्याति अर्जित की थी। हालांकि आगरा घराने में एक से एक नामचीन संगीतज्ञ हुए, किंतु फैयाज खां ने इस घराने में अपनी अलग शैली निकाली। आगरा घराने की गायकी में सरलता, संयम और असीम कल्पना का अद्भुत समन्वय मिलता है। फैयाज साहब की गायकी में गंभीरता, भावुकता, संयम और रोचकता का उचित सम्मिश्रण था। वह इस घराने के एकमात्र ऐसे गायक थे, जिन्होंने अपने घराने की शैली पर अपने व्यक्तित्व की मुहर लगाई।

ख्याल शैली के अद्वितीय गायक होने के साथ उस्ताद फैयाज खां आलाप और होरी-धमार में भी अपना सानी नहीं रखते थे। दरबारी, पूरिया, देसी, तोड़ी, आसावरी, रामकली, यमन-कल्याण, जैजैवंती, बरवा आदि रागों को जब वह अलापते थे, तो श्रोता झूम उठते थे।

उस्ताद फैयाज खां ब्रज भाषा का सही और सुंदर उच्चारण करते थे और

'प्रेमपिया' के नाम से रचनाएं भी करते थे। बोल-तान, मीड़, गमक, सीधी-सरल तानें, स्थायी अंतरे का भराव, राग की बढ़त, फिरत, मुरकी, लयकारी, सम का संकेत एवं प्रतीक्षा सभी गुण उनके गायन में थे। 5 नवंबर, 1950 को उनका देहावसान हुआ।

कुमार गंधर्वः कर्नाटक में बेलगाम के पास सुलेभावी गांव में 8 अप्रैल, 1924 को जन्मे कुमार गंधर्व लिंगायत सम्प्रदाय के कोमकाली मठ के प्रमुख सिद्धरामैया के तीसरे पुत्र थे। बचपन से ही वह बड़े कलाकारों के गायन की नकल उतारते थे। इनका असली नाम था शिवपुत्र सिद्धरामैया कोमकाली। दस वर्ष की उम्र में इनका गायन सुनकर गुरुकलमठ स्वामी इतने मुग्ध हुए कि बोल पड़े "अरे, यह तो कोई गंधर्व का अवतार जान पड़ता है। यह तो कुमार गंधर्व है।" बस, उसी दिन से शिवपुत्र सिद्धरामैया कुमार गंधर्व हो गए।

वास्तव में कुमार इतनी बढ़िया नकल करते थे कि वह असल लगने लगता था। उस्ताद फैयाज खां, पंडित ओंकारनाथ ठाकुर, रामकृष्ण बुवा वझे, सवाई गंधर्व सबने अपने गायन की नकल सुनकर उन्हें आशीर्वाद दिया। दरअसल, उन गायकों के प्रति कुमार के मन में असीम श्रद्धा थी और इसी श्रद्धा से अनुकरण उपजता था। लेकिन फिर भी उन्हें रागों के नियम-कायदों की समझ नहीं थी। काफी बाद में प्रोफेसर बी.आर. देवधर की तालीम के फलस्वरूप यह सब बदलता गया।

एक रात देवास में अपने गायक मित्र श्री कृष्णराव मजूमदार के यहां गाते हुए राग भीम पलासी ऐसा जमा कि कुमार गंधर्व को मानो साक्षात्कार-सा हुआ 'यह मेरा खुद का गाना है! मुझे गाना आ गया। बाद में वह तपेदिक के मरीज हो गए। पांच साल की लम्बी बीमारी के बाद 1952 में वह उज्जैन में फिर गये।

प्रभाष जोषी के शब्दों में, "कुमार गंधर्व के गायन में शिव, गंगोत्री को टेरती गंगा और कबीर के रागमय दर्शन की त्रिवेणी" नजर आती है। उन्होंने कभी एक बंदिश, एक भजन, एक लोकगीत सभी जगह एक जैसा नहीं गाया। वे गाते हुए सृजन करते थे, सृजन की पीड़ा और आनंद को श्रोताओं तक पहुंचाते हुए उन्हें भी हिस्सेदार बना लेते थे। उनका संगीत रियाज से नहीं, बल्कि साधना से उपजा और पल्लवित-पुष्पित हुआ।"

उन्होंने राजस्थानी तथा मालवी लोकगीतों और सूरदास, तुलसी, मीराबाई, कबीर एवं संत तुकाराम की रचनाओं को शास्त्रीय संगीत का जामा पहनाया। उनका कहना था ''घराने का जो आधार है, वह ताश के किले जैसा है। फूंक मारने से गिर जाने वाला। जिसको कुछ नहीं करना है, वह घराने पर चले।''

कुमार की अपनी रची बंदिशों और ग्यारह नए रागों का एक संकलन 'अनूप राग विलास' 1965 में प्रकाशित हुआ। उनकी रची 'गीत वर्षा' में वर्षा की ध्वनियों और स्वभाव की समझ है। उनकी अन्य कृतियां हैं गीत हेमंत, गीत वसंत, त्रिवेणी, ऋतुराज महफिल, मेला उमजलेले बाल गंधर्व, तांबे गीत रजनी, होरी दर्शन आदि।

पद्मभूषण के अलंकरण, संगीत अकादमी की फैलोशिप से लेकर विक्रम विश्वविद्यालय द्वारा 'डॉक्टर ऑफ लेटर्स' की मानद उपाधि तक उन्हें ढेर सारे पुरस्कार मिले। 'निरभय निरगुण गुण रे गाऊंगा' के गायक कुमार गंधर्व का निधन 12 जनवरी, 1992 को हुआ।

पुरंदरदासः 1484 में दक्षिण महाराष्ट्र में जन्मे श्रीनिवास नायक, ऐसा कहा जाता है कि बड़े कंजूस थे। विजयनगर के शासकों के गुरु व्यासराय के शिष्य बनने के उपरांत ही उन्हें ज्ञान प्राप्त हुआ। वह स्वामी हरिदास के सम्प्रदाय में शामिल हो गए। इसके बाद से उनका नाम पुरंदरदास हो गया। वह एक उच्च कोटि के संगीतकार थे। उन्होंने 'माया मालवगौल' के आधार पर संगीत शिक्षा को आगे बढ़ाया। यहां तक कि आज भी कर्नाटक संगीत की प्रारंभिक शिक्षा लेने वालों को सिखाया जाने वाला पहला राग यही है। उन्होंने स्वरावली में कुछ अध्याय जोड़े। जनता वरिसाई और अलंकार इत्यादि के माध्यम से विद्यार्थियों को प्रशिक्षण प्रदान किया। यही कारण है कि उन्हें कर्नाटक संगीत का 'आदिगुरु' और 'जनक' कहा जाता है।

मुथुस्वामी दीक्षितारः बाल्यकाल से ही संगीत में दक्ष मुथुस्वामी का जन्म तंजवूर के तिरूवरूर में हुआ था। संगीत की शिक्षा इन्हें अपने पिता से ही मिली। उनकी सुप्रसिद्ध रचनाएं हैं तिरतुत्तानी कृति, नववर्ण कृति और नवग्रह कृति। इन्होंने कुछ अप्रचलित रागों, जैसे सारंग नट, कुमुदक्रिया और अमृत वर्षिनी, में कुछ धुनें तैयार कीं जिनके आधार पर इन रागों का प्रयोग किया जा सकता है। उन्होंने विभिन्न तालों का जटिल प्रयोग कर संगीत की कुछ नई तकनीकें विकसित कीं। उनमें से कुछ हैं वायलिन का कर्नाटक संगीत में प्रयोग, जिसे

अभी तक पश्चिमी वाद्य माना जाता था, हिंदुस्तानी संगीत के कुछ स्वरों को लेते हुए नई रचनाएं करना, वृंदावनी सारंग और हमीर कल्याणी जैसे कुछ रागों का प्रयोग, गमक इत्यादि। कर्नाटक संगीत की त्रयी में श्यामा शास्त्री और त्यागराजा के साथ इनका नाम भी लिया जाता है।

श्यामा शास्त्रीः तिरुवरूर में 1762 में जन्मे वेंकटसुब्रमण्यम ही बाद में श्यामा शास्त्री कहलाए। वह उद्‌भट विद्वान और संगीतज्ञ थे। उनकी रचनाएं संगीत तकनीकी, खास तौर पर सुरों के संबंध में काफी जटिल एवं कठिन हैं। कर्नाटक संगीत की त्रयी में से एक श्यामा शास्त्री ने अपने गीतों में श्याम कृष्ण का नाम दिया है। ऐसा कहा जाता है कि तालों के जानकार श्यामा शास्त्री ने किसी महफिल में अपने सरभनंदन ताल का प्रयोग कर दुर्जेय केशवय्या को हरा दिया था।

त्यागराजाः तमिलनाडु के तंजवूर जिले के तिरूवरूर में 1759 (या 1767) में जन्मे त्यागराजा कर्नाटक संगीत की 'त्रयी' में विशिष्ट स्थान रखते हैं। उन्होंने अपना अधिकांश समय तिरूवय्युरू में बिताया और यहीं समाधिस्थ हुए। विद्वान एवं कवि त्यागराजा ने कर्नाटक संगीत को नई दिशा दी। उनकी प्रसिद्ध कृतियों में पंचरत्नमकृति, उत्सव सम्प्रदाय कीर्तनई, दो नृत्य नाटिकाएं प्रह्लाद भक्ति विजयम और नौका चरित्रम हैं। इसके अलावा उनकी कई रचनाएं तेलुगू में हैं। उन्होंने कई नए रागों को जन्म दिया करहार प्रिया, हरिकम्भोजी, देव गोधारी इत्यादि। भगवान राम के अनन्य भक्त त्यागराजा ने भक्ति और संगीत के अलावा अन्य किसी विधा में दखल नहीं दिया। कर्नाटक संगीत के जानकारों में उनका नाम बड़े ही आदर से लिया जाता है।

विभिन्न वाद्ययंत्र

संगीत के उपकरणों की शुरुआत सामान्य जीवन में विभिन्न अनुप्रयोगों तथा क्रिया-कलापों के क्रम में हुई है। उदाहरण के तौर पर-शुरू में घड़े और अन्य बर्तनों को ढोल की तरह बजाया जाता था। इन वाद्यों के कई प्रकार के उपयोग हैं। प्राचीन काल में शंख का प्रयोग युद्ध में विजय की घोषणा या युद्ध प्रारंभ के समय किया जाता था। आज भी इसका प्रयोग धार्मिक अनुष्ठानों के दौरान किया जाता है। संगीत उपकरण मनुष्य की सामाजिक धार्मिक परंपरा, जीव-जंतु, वनस्पति के भौगोलिक वितरण के बारे में हमें ऐतिहासिक जानकारियां प्रदान

करते हैं। अगर कोई समुदाय एक खास किस्म का संगीत उपकरण प्रयोग में लाता है तो उससे उसके समाज में व्याप्त शुरुआती निषेधों का पता लगाया जा सकता है। उपकरण के निर्माण में लगे सामान से उस क्षेत्र में पाए जाने वाले जीव-जंतुओं तथा वनस्पतियों के बारे में अनुमान लगाया जा सकता है।

संगीत का अध्ययन तथा संगीत के किसी सिद्धांत या व्याकरण की उत्पत्ति इन उपकरणों के बिना संभव नहीं है। इसके पीछे कारण यह है कि ध्वनि को सीधे नहीं मापा जा सकता। संगीत के विभिन्न पक्षों के अध्ययन के लिए कई तरह के उपकरण आवश्यक हैं। विभिन्न उपकरणों के प्रयोग में वृद्धि या कमी का असर संगीत के विकास पर पड़ता है।

लोक संगीत तथा शास्त्रीय संगीत में प्रयोग हो रहे उपकरणों को मिलाकर तकरीबन 500 संगीत उपकरण मनुष्य को ज्ञात हैं। इनका वर्गीकरण यूं तो कई प्रकार से किया जा सकता है, किंतु नाट्यशास्त्र के रचयिता भरत मुनि द्वारा निर्धारित मानदंड आज भी मान्य हैं। इनका समय 200 ई.पू. से लेकर 400 ई.पू. के बीच में माना जाता है।

ढोल

इसको 'अवनद्य' वाद्य या चारों तरफ से ढका हुआ संगीत उपकरण कहते हैं। इसे मेम्ब्रानोफोन के नाम से भी पुकारा जाता है। खाना बनाने और उसे सुरक्षित रखने के क्रम में इस खोखले उपकरण की खोज हुई। ढोल हमेशा खाल से ढंका रहता है तथा संगीत एवं नृत्य में पूरक वाद्य के रूप में इसका प्रयोग किया जाता है। सभ्यता के शुरुआती दिनों में जमीन में बने गड्ढे को खाल से ढंककर ध्वनि करने के लिए प्रयोग किया जाता था। बाद में यह लकड़ी तथा मिट्टी के भी बनने लगे। ढोल को उसके आकार, उसकी संरचना और उसे बजाने के क्रम में किस स्थिति में रखा गया, इस आधार पर उसे वर्गीकृत किया जा सकता है।

खुले ढोल का आकार वृत्ताकार होता है। यह लकड़ी या धातु के फ्रेम का बना होता है। लोकसंगीत में इसका सामान्य रूप डफ है (इसे डफली या डप्पु भी कहते हैं)। राजस्थान में इसे घेरा, दक्षिण में तप्पत्ताई, तप्पेत या तप्पत्ता तथा ओडिशा में 'चेंगु' कहा जाता है। दक्षिण में 'सूर्य पिरई' तथा 'चंद्र पिरई' उत्तर में 'खंजरी' तथा दक्षिण में 'खंजीरा' भी प्रसिद्ध ढोल हैं।

लद्दाख के 'ग्ना' की तरह दो सतहों वाले ढोल शुरू से लकड़ी के बनते रहे हैं तथा ये शंकु के आकार के होते थे। छोटे आकार वाले को ढोलक तथा बड़े आकार वाले को 'ढोले' कहा जाता है। ढोले का आकार वैसे बैरल के समान होता है। प्राचीन काल में प्रयोग में आने वाला 'भेरी' तथा केरल का प्रचलित 'चेंदा' इसी श्रेणी में आता है। इस तरह के कुछ ढोल 'मृदंग' भी कहलाते हैं। दक्षिण में इसे 'मृदंगम', हिंदुस्तानी शास्त्रीय संगीत में 'पखावज', मणिपुर में 'पंगु' तथा पश्चिम बंगाल में 'श्री खोले' कहा जाता है। दक्षिण भारत में इसे 'तबिल' भी कहते हैं। कर्नाटक के संगीतमय सम्मेलनों में मृदंगम का ही प्रयोग होता है। कथकली नृत्य के लिए 'शुद्धा मंडलम' बजाया जाता है। इसकी दोनों सतहें अलग-अलग ढंग से बनी होती हैं। इसकी बाकी सतह पर एक सादा झिल्ली (टोपी) लगी रहती है। दायीं सतह पर 'सोरू' नाम से एक काला मिश्रण बजाने से ठीक पहले लगाया जाता है। लकड़ी से बनने वाले 'पखावज' का जिक्र 'आईन-ए-अकबरी' में भी मिलता है। यह बैरेल के आकार का होता है तथा इसमें घूमने वाला शंकुनुमा खण्ड लगा होता है। स्वराघात में सुधार के लिए इसकी प्लेटों पर एक हथौड़े से चोट की जाती है। 'मृदंगम' में 'सोरू' की जगह 'स्याही' का प्रयोग किया जाता है। इसके प्रमुख घरानों में 19वीं शताब्दी के कुदऊ सिंह एवं नाथ घराने आते हैं।

दो सतहों वाले ढोल का एक और प्रकार है जिसे डमरू, बुडबुडके, कुडुकुडुपे के नाम से विभिन्न स्थानों में जाना जाता है। इस श्रेणी में तिब्बत का 'नगा छंग', दक्षिण का 'तूडी' तथा केरल का 'इदारा' आता है।

सुराही के आकार के ढोल भी देखने को मिलते हैं। कश्मीर के 'टुंबकनरी', तमिलनाडु के 'जमुकु' तथा आंध्र प्रदेश के 'बुरा' को इस श्रेणी में रखा जा सकता है। ढोल का एक प्रकार 'दंदुभी' भी है। संथाल क्षेत्र में इसे 'धुमसा' ओडिशा में 'निशान' तथा उत्तरी भारत के लोक कलाकार इसे 'नगाड़ा' कहते हैं। ढोल का ही एक रूप 'तबला' है, जो समय के साथ-साथ काफी लोकप्रिय होता जा रहा है। महीन और मधुर आवाज के कारण यह वाद्य ख्याल गायकी में अब पखावज की जगह ले रहा है। हालांकि तबले की उत्पत्ति के बारे में विवाद है। तबला एक तरह से दो ढोलों का एक जोड़ा है। दायीं ओर वाला तबला लकड़ी का बना होता है तथा इसके केंद्र में एक विशेष लेप लगा होता है। बायीं ओर

वाले को डग्गर, डुग्गी या बचान कहा जाता है। दक्षिण भारत में 'बुरबुरी' नाम के घर्षण वाले ढोल भी चलते हैं, किंतु इन्हें अपवाद ही माना जा सकता है।

वायु से बजने वाले यंत्र

इन्हें सुशीर वाद्य, खाली वाद्य यंत्र या एयरोफोन के नाम से भी जाना जाता है। एयर कॉलम में कंपन की वजह से इन यंत्रों से सुरीली आवाज निकलती है। इनमें ऐसी कोई चीज नहीं लगी होती, जिससे ध्वनि को उत्पन्न या नियंत्रित किया जा सके। इसकी पहली श्रेणी में 'तुरही' को रखा जाता है। शुरू में इसके लिए जानवरों के सींगों का इस्तेमाल किया जाता था। इसे बजाने के लिए होठों का प्रयोग किया जाता है। इससे हवा नियंत्रित होती है। प्राचीन काल में तुरही को सीधे मुंह से फूंक मारी जाती थी। अब इसके लिए माउथपीस जैसी चीजें आ गई हैं। बगल से या किनारे से फूंकी जाने वाली तुरही भी उपलब्ध है। इसके लिए सींग तथा शंख का प्रयोग होता है। सींग से बनी तुरही का उल्लेख प्राचीन काल से ही मिलता है। जनजातीय समुदाय के लोकसंगीत में इसका प्रयोग होता रहा है। भील जनजाति में इसे 'सिंगी', मुरिया में 'कोहुकु' तथा उत्तर-पूर्व में 'रेली-की' कहते हैं। उत्तर प्रदेश में हिरण के सींग से 'सिंगी' बनती है। दक्षिण भारत में तांबे एवं पीतल की बनी अंग्रेजी अक्षर 'सी' के आकार की तुरही, कोम्बु, 'एस' के आकार का कोम्बु (इसे बंका, बंकया, बरगु, रन-सिंगा, नरसिंगा, तुरी के नाम से भी जाना जाता है) भी देखने को मिलता है। भारतीय शंख या तुरही पूजा, लोकसंगीत व नृत्य में खूब प्रयोग होती है। शुरू में इसका आकार सीधा भी होता था। इसे महाराष्ट्र में 'भोंगल', ओडिशा में 'कहल', उत्तर प्रदेश में भेनटर, उत्तर हिमाचल क्षेत्र में 'थुंचेने' तथा प्रायद्वीपीय क्षेत्र में 'तिरूचिन्नम' के नाम से जाना जाता है।

ऐसा कहा जाता है कि बांसुरी की खोज आर्यों ने की। आमतौर पर यह बांस की बनती है। सीधी बांसुरी सबसे अधिक चलन में है। इसमें स्वराघात संशोधन स्वतः ही होता है। इसके बंद सिरे के पास वाले छिद्र में जब फूंक मारी जाती है तो यह बज उठती है। कुछ बांसुरियों का ऊपरी सिरा थोड़ा संकरा होता है। इसे बांसुरी या अलगोजा के नाम से पुकारते हैं। भारतीय बांसुरी को तमिलनाडु में मुरली, वंशी, पिलनकुझल, आंध्रप्रदेश में पिलनग्रोवी, कर्नाटक में 'कोलालु' के नाम से जाना जाता है।

वायु द्वारा बजने वाले वाद्य उपकरणों में कंपक भी लगे रहते हैं किसी में एक तो किसी में दो, किसी में एक भी नहीं। पहले किस्म के उपकरण में छिद्र के कारण कंपक काम करता है और हवा को नियंत्रित करता है। छिद्र के भाग से इसका कोई स्पर्श नहीं होता। एक कंपक वाले वाद्य यंत्र में बीन (पुंगी), तारपो (इसे घोघा, डोबरू तथा खोनगाडा भी कहा जाता है), टिटी या मशक (भारतीय बैगपाइप) तथा असम का पेपा आता है। दो कंपक वाले यंत्र में कर्नाटक संगीत का प्रमुख उपकरण 'नगासवरम' तथा शहनाई आती है। अब ये दोनों वाद्य यंत्र संगीत गोष्ठियों में भी प्रयुक्त होने लगे हैं। इसी कड़ी में मुखवीणा, सुंदरी, नफेटी तथा ओट्टु जैसे यंत्र भी आते हैं। बिना कंपक वाले वाद्य यंत्र वैसे कम होते हैं पर, इसमें हारमोनियम का नाम प्रमुखता से लिया जा सकता है। हारमोनियम से स्वर लहरी तब निकलती है, जब इसकी कुंजियों पर अंगुलियों से दबाव बनाया जाता है। होता यह है कि इसके भीतर भरी हवा एक संकरे छिद्र से होकर बाहर निकलती है। पूर्वी भारत का खुंग या रूसम भी इसी श्रेणी का एक वाद्य यंत्र है।

तारयुक्त वाद्ययंत्र

इसे ताल वाद्य या कोडोफोन भी कहा जाता है। प्राचीन काल से इसका उल्लेख मिलता है। इसे कई श्रेणियों में बांटा जा सकता है। इनमें एक डोरी या तार होती है। एक अकेली डोरी से ही स्वर लहरी निकलती है। कुछ में कई तार होते हैं। लोक संगीत का 'टुन टुने' इसका अच्छा उदाहरण है। पश्चिम बंगाल और ओडिशा में गोपी यात्रा, आंध्र प्रदेश में जमादिका, उड़िया संथालों में बुआंग के खेल में 'प्रेमताल' के नाम से इसे पुकारा जाता है। तंबूरी, एकतारा, एकनांद में एक ही तार या डोरी लगी होती है। तंबूरा या तानपुरा में चार तार लगे होते हैं। यह वाद्य यंत्र अपनी समृद्ध स्वर लहरी के लिए प्रसिद्ध है। लेकिन यह जीवन या जावेरी (डोरी के नीचे ब्रिज पर लगे धागे) की स्थिति पर निर्भर करता है। इस श्रृंखला में 'वीणा' का नाम काफी प्रमुखता से लिया जा सकता है। इसका विवरण वेदों में भी मिलता है। द्रविड़ इसे 'यज' के नाम से इस्तेमाल करते थे। वीणा का उल्लेख प्राचीन पुस्तकों, पुराने स्मारकों तथा पुराने संगीत में मिलता है।

बक्से के आकार की वीणा का उल्लेख भी मिलता है। इनमें से सबसे प्रमुख

'संतूर' है। कश्मीर में इसका अधिक चलन है। इसमें एक पतली चमड़ी से कई डोरियों को कंपित किया जाता है। एक छोटा-सा स्वर मंडल भी होता है। एक तार वाले या फिंगर बोर्ड वाले वाद्य यंत्र में कंपक को फिंगर बोर्ड के नीचे लगाया जाता है। ऐसा ही एक यंत्र 'जिथर' है। पुराने जमाने में यह बांस का बनता था तथा इसे 'गीतांग' कहा जाता था। प्राचीन काल की अलापिनी वीणा, इकातंत्री, ब्रह्मवीणा, हिंदुस्तानी शास्त्रीय संगीत की विचित्र वीणा इसके परिष्कृत रूप हैं। मध्य युग में इसे 'किन्नरी' के नाम से पुकारा जाता था। इसे अब 'रुद्रवीणा' कहते हैं। जिथर से अलग सितार में कंपक का विस्तार फिंगर बोर्ड तक होता है। इसका छोटा आकार 'सरोद' कहलाता है। अली अकबर खां तथा अमजद अली खां प्रसिद्ध सरोदवादक हैं। उत्तर-पूर्व में इसे कच्चापी रबाब' के नाम से जाना जाता है। 'सवरबत' तथा 'सुरसिंगार' भी इसी की किस्में हैं। सभी वीणाओं में 'सरस्वती वीणा' को सबसे प्रमुख माना गया है। कर्नाटक संगीत में इसे सर्वोच्च स्थान प्राप्त है। यह एक ऐसा वाद्य यंत्र है, जिस पर सुर, ताल और राग तीनों को पैदा किया जा सकता है। हिंदुस्तानी संगीत में वीणा की तरह सितार (पर्सियन 'सहतार') को भी प्रमुख स्थान दिया जाता है। ऐसा कहा जाता है कि इसका आविष्कार 13वीं शताब्दी में अमीर खुसरो ने किया था। लकड़ी के सितार में राग पैदा करने के लिए धातु के पांच तार, कुछ डोरियां (इन्हें चिकारी कहा जाता है), कुछ पतली तार (इन्हें तराब कहा जाता है) लगे होते हैं। इस वाद्य से जुड़ा हुआ चर्चित नाम पंडित रविशंकर का है।

लम्बी ग्रीवा का एक सितार गोट्टु वडयम (महानाटक वीणा) के नाम से जाना जाता है। कर्नाटक संगीत से जुड़े उपकरणों में ही कंपन करने वाली डोरी 'तराब' लगी होती है। एक डोरी वाले वाद्य यंत्रों को भारत में ज्यादा लोकप्रियता नहीं मिली। सरींदा, कमैचा तथा सारंगी में भी फिंगर बोर्ड के नीचे ही कंपक लगा होता है। सारंगी की सबसे बड़ी खासियत उसके बजाने में अंगुली का संचालन है। अंगुलियों को रोकने के लिए नाखूनों का इस्तेमाल किया जाता है। 'वायलीन' में फिंगर बोर्ड के ऊपर साउंड वाक्स लगा होता है। गुजरात तथा राजस्थान का रावण हट्टा या रावण हस्तवीणा, आंध्र प्रदेश एवं महाराष्ट्र का 'किंगरी', ओडिशा का केनरा एवं बनाम, मणिपुर का 'वेना' तथा केरल का 'वीणा कुंजु' इसी श्रेणी में आते हैं।

भारतीय संगीत से संबंधित प्रमुख वाद्य एवं उनके वादक

शहनाई: उस्ताद बिस्मिल्ला खां, शैलेश भागवत, जगन्नाथ, अनन्त लाल, भोलानाथ तमन्ना, हरिसिंह, आदि।

वायलिन: गोविन्द स्वामी पिल्लई, लाल गुड़ी जयरामन, सत्यदेव पवार, श्रीमती एन.राजम, विष्णु गोविन्द जोग, शिशिर कनाधर चौधरी, टी.एन.कृष्ण, आर.पी. शास्त्री, एल. सुब्रमण्यम तथा बालमुरली कृष्णन।

सितार: उस्ताद विलायत खां, पं. रविशंकर, शाहिद परवेज, शुजात हुसैन, बुद्धादित्य मुखर्जी, निशात खां, मणिलाल नाग, शशि मोहन भट्ट, देवव्रत चौधरी, निखिल बनर्जी, आदि।

सरोद: उस्ताद अलाउद्दीन खां, चन्दन राय, उस्ताद अली अकबर खां, अशोक कुमार राय, ब्रजनारायण, उस्ताद अमजद अली खां, आदि।

संतूर: पं. शिवकुमार शर्मा, तरूण भट्टाचार्य, भजन सोपोरी आदि।

वीणा: एस.बालचन्द्रन, असद अली, ब्रह्मस्वरूप सिंह, रमेश प्रेम, कल्याण कृष्ण भगवतार, गोपाल कृष्ण आदि।

बांसुरी: हरि प्रसाद चौरसिया, प्रकाश सक्सेना, देवेन्द्र मुक्तेश्वर, विजय राघव राय, रघुनाथ सेठ, पन्नालाल घोष, प्रकाश बढेरा, राजेन्द्र प्रसन्ना, आदि।

सारंगी: पं. रामनारायण जी, अरूण काले, आशिक अली खां, बजीर खां, ध्रुव घोष, संतोष मिश्रा, रमजान खां एवं अरूणा घोष।

गिटार: ब्रजभूषण काबरा, विश्वमोहन भट्ट, केशव तलेगांवकर, श्रीकृष्ण नलिन मजूमदार, आदि।

पखावज: गोपाल दास, इन्द्रलाल राणा, ब्रजरमण लाल, रमाकांत पाठक, प्रेम बल्लभ, तेज प्रकाश तुलसी।

तबला: अल्ला रखा, लतीफ खां, गुदई महाराज, अम्बिका प्रसाद, सुभाष निर्वाण, जाकिर हुसैन।

हारमोनियम: अप्पा जुलगांवकर, रविन्द्र तलेगांवकर, महमूद धालपुरी, वासन्ती मापसेकर।

जल तंरग: घासीराम निर्मल, रामस्वरूप प्रभाकर, जगदीश मोहन।

मृदंग: पालधर रघु।

नादस्वरम: नीरूस्वामी पिल्लई।

सुन्दरी: पं. सिद्धराम जाधव।

इसराज: अलाउद्दीन खां।

सुरबहार: श्रीमती अन्नपूर्णा देवी, इमरत खां।

क्लेरियोनेट: एम.वी. सोलारपुरकर, रामकृष्ण, गौरीशंकर।

ठोस वाद्ययंत्र

घनवाद्य या इडियोफोन के बारे में ऐसा माना जाता है कि मनुष्य को ज्ञात पहला वाद्य यंत्र यही था। इससे सिर्फ लय पैदा की जा सकती है। इनमें निश्चित तथा आवश्यक स्वराघातों को उत्पन्न करने की क्षमता नहीं होती। स्वर लहरी पैदा करने के लिए यह आवश्यक है। मटकी, गगरी, नूट, घटम इत्यादि का प्रयोग इसी रूप में होता रहा है। कर्नाटक की संगीत गोष्ठी में इसका प्रयोग होता है। 'घटम' एक विशेष किस्म की मिट्टी से बना होता है। जिससे विविध किस्म की आवाजें निकाली जा सकती हैं। अधिकतर आर्केस्ट्रा में प्रयोग होने वाले जलतरंग वाद्य में पानी से भरी कटोरियों को बांस की पतली छड़ी से बजाया जाता है। पैरों से बजने वाले वाद्यों की श्रेणी में 'घुंघरू', उत्तर भारत की 'थाली', कर्नाटक और आंध्र प्रदेश का 'जगटे', तमिलनाडु का 'सेमानकलम' केरल का 'चेन्नाला' राजस्थान का 'श्रीमंडल' तथा छड़ियों को वाद्य यंत्र की तरह प्रयोग करने वाले नृत्यों में गुजरात का 'डांडिया', दक्षिण भारत का कोलु, आते हैं। असम का 'सौंगकांग', उत्तर पूर्व का दूतरंग तथा मध्यप्रदेश का कटोला इडियोफोन की अन्य श्रेणियां हैं।

भारतीय आर्केस्ट्रा

यद्यपि भारत में आर्केस्ट्रा का अस्तित्व पहले कभी नहीं रहा किंतु भरतमुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में साजो-सामान से युक्त एक दल 'कुटपा' का उल्लेख किया है। दक्षिण भारत का मेलम (या न्यायंदी मेलम) तथा केरल के पंचवाद्य को इस श्रेणी में रखा जा सकता है। वर्तमान समय में भारतीय फिल्मों का संगीत कुछ हद तक आर्केस्ट्रा की नकल है।

वाद्ययंत्रों से सम्बद्ध प्रसिद्ध व्यक्तित्व

अली अकबर खानः एक महान सरोद वादक हैं (वह पखावज और तबला में भी पारंगत हैं)। वह उस्ताद अलाउद्दीन खान के बेटे हैं, और उन्होंने पांच नए रागों चंद्रनंदन, गौरी-मंजरी, लाजवंती, मिश्र-शिवरांजनी एवं हेम-हिंडोल, को ईजाद किया। उन्होंने पश्चिम में भारतीय संगीत को व्यापक रूप से लोकप्रिय बनाया। उन्होंने जापान, अमेरिका एवं कनाडा में भारतीय संगीत की शिक्षा प्रदान करने के लिए कॉलेजों की स्थापना की।

अल्ला रक्खाः उस्ताद अल्ला रक्खा, वास्तविक नाम ए.आर. कुरैशी, एक प्रसिद्ध तबला वादक थे। वह पंजाब शैली में तबला बजाने में प्रशिक्षित या माहिर थे। उन्होंने बड़े पैमाने पर अंतरराष्ट्रीय ख्याति प्राप्त की। इन्होंने कुछ हिन्दी फिल्मों सबक, खानदान, मां-बाप और बेवफा में संगीत निर्देशन भी किया। वर्ष 1986 में, उन्होंने मुंबई में संगीत संस्थान की स्थापना की।

अमजद अली खानः यह महान सरोद प्रवर्तक हैं। यह हाफिज अली खान के बेटे हैं। अमजद अली खान ने 1977 में हाफिज अली खान मेमोरियल सोसायटी की स्थापना की जो भारत में संगीत कार्यक्रम आयोजित करती है। उन्होंने सरोद के परम्परागत रूप एवं शैली में परिवर्तन किया। अमीरी तोड़ी, हरिप्रिया कन्नड, जवाहर मंजिरी एवं शिवाजंलि उनके द्वारा बनाए गए रागों में शामिल है।

बाबा अलाउद्दीन खानः ये एक प्रसिद्धि प्राप्त सरोद वादक हैं। बाबा अलाउद्दीन खान सेतिया घरने की कम्पोजिशन में माहिर हैं। ये नई कम्पोजिशन एवं रागों हेमंत, शभावती एवं दुर्गेशवा के जनक हैं।

बिस्मिल्लाह खानः यह एक महान शहनाई वादक हैं। उस्ताद बिस्मिल्लाह खान ने अपनी योग्यता से शहनाई पर नायाब धुनें निकालीं। उन्हें कई प्रकार के पुरस्कार प्रदान किए गए।

बुंदु खानः यह दिल्ली घराने के उत्कृष्ट सारंगी वादक हैं। बुंदु खान ने संगीत विवेक दर्पण के विभिन्न क्षेत्रों में लिखा जिसे 1934 में प्रकाशित किया गया।

चिन्ना मौलाः यह दक्षिण भारत में जाने माने नागस्वरा वादक हैं। इन्होंने श्रीरंगम में श्रद्धा नागस्वरा संगीत असरामन की स्थापना की। इस संस्था ने पेड्डा कसिम, चिन्ना कसिम, महबूब सुबानी एवं कलिशाबाई जैसे जानी-मानी हस्तियों को तैयार किया।

हरिप्रसाद चौरसियाः पंडित हरिप्रसाद चौरसिया उत्तर भारत के जाने-माने एवं प्रमुख बांसुरी वादक हैं। वे सेनिया घराने से हैं। उन्होंने बांसुरी में नवोन्मेष एवं परम्परा का नायाब समन्वय स्थापित किया और विदेश में सफलतापूर्वक भारतीय बांसुरी को लोकप्रिय बनाया। वे एकमात्र ऐसे भारतीय थे जिन्होंने वर्ष 2011 में मास्को में बोलशोई थिएटर में अपना कार्यक्रम किया।

एल. सुब्रमण्यमः यह बेहद प्रतिभावान भारतीय वायलिन वादक हैं। एल. सुब्रमण्यम अपने कर्नाटक एवं पश्चिमी शास्त्रीय संगीत के अद्भुत मेल के लिए

जाने जाते हैं। इन्होंने सौ से अधिक रिकॉर्डिंग की हैं। इन्होंने 1992 में, वार्षिक लक्ष्मी नारायण वैश्विक संगीत पर्व प्रारंभ किया जो पूरे विश्व से मशहूर कलाकारों को एक साथ लेकर आया।

'मंडोलिन' श्रीनिवासः उपालप्पु श्रीनिवास ने कर्नाटक संगीत में सबसे पहले मंडोलिन वाद्य यंत्र का इस्तेमाल किया। उन्हें मात्र 29 वर्ष की आयु में पद्मश्री प्राप्त हुआ। वे एल. सुब्रमण्यम के साथ अपने जैज-फ्यूजन कॉन्सर्ट और गजल गायक हरिहरन के साथ अपने कार्यक्रम के लिए प्रसिद्ध हैं।

एन. राजमः एन. राजम दक्षिण भारत के वायलिन वादक हैं जिन्होंने हिंदुस्तानी संगीत में कार्य किया। उन्होंने पूरे विश्व में अपने कार्यक्रम किए।

पालघाट मणिअय्यरः मणिअय्यर (जो पालघाट से थे) एक प्रसिद्ध मृंदगम विद्वान थे। उन्होंने अपनी संगीत यात्रा 12 वर्ष की अल्पायु में 1924 में शुरू की। उन्होंने संगीत के क्षेत्र में उल्लेखनीय कार्य किया।

पन्नालाल घोषः अमूल्य ज्योति घोष या पन्नालाल घोष एक प्रसिद्ध बांसुरी वादक हैं। यह तीन प्रकार की बांसुरी विभिन्न सप्तकों हेतु प्रयोग कर सकते हैं। इन्होंने 'ऑल इण्डिया रेडियो' के लिए नेशनल ऑर्केस्ट्रा के कम्पोजर के रूप में काम किया।

रवि शंकरः रविशंकर सितार के महान वादक रहे हैं। अपनी सृजनात्मकता एवं अद्वितीयता के लिए उन्हें पूरे विश्वभर में प्रशंसा प्राप्त हुई। उन्होंने कई पुरस्कार प्राप्त किए और फिल्मों के लिए संगीत निर्देशन किया जिसमें गांधी जैसी फिल्म शामिल है। उन्होंने नाथभैरव, पंचम से गारा, कामेश्वरी, परमेश्वरी एवं गणेशवरी रागों की कम्पोजिशन की।

टी.एच. विनयाकरमः थेटाकुडी हरिहरा विनयाकरम एक घाटम वादक हैं। ये अपनी रिद्म की गहरे ज्ञान के लिए जाने जाते हैं। वह 'शक्ति' समूह के सदस्य थे। वे पहले ऐसे दक्षिण भारतीय कलाकार हैं जिन्हें 'मिकी हार्ट प्लेनेट ड्रम' विश्व के बेहतरीन म्युजिक एलबम के लिए वर्ष 1991 में ग्रैमी पुरस्कार प्राप्त हुआ।

विलायत खानः यह इटावा घराने से सम्बद्ध हैं और एक प्रसिद्ध सितार वादक हैं। इन्होंने एक नए किस्म की सितार वादन शैली प्रस्तुत की जिसे *विलायत खानी बाज* (यह दुर्लभ एवं मुश्किल गायकी या पूरी तरह गायन शैली) के नाम से पुकारा गया।

जाकिर हुसैनः उस्ताद जाकिर हुसैन, तबला उस्ताद अल्ला रक्खा के बेटे, अंतरराष्ट्रीय रूप से ख्याति प्राप्त तबला वादक हैं। 1987 में, उन्होंने अपना प्रथम 'मैंकिग म्युजिक' नामक एलबम प्रस्तुत किया। ये अपने आप में पहला पूर्वी-पश्चिमी फ्यूजन का बेहतरीन एलबम था।

लोक परम्परा

लोक संगीत को लोगों के संगीत के तौर पर परिभाषित किया जाता है। इसे सरल-सुंदर धुन एवं ताल के तौर पर विशेषित किया जाता है जो साधारणतया प्रकृति, प्रेम, पारिवारिक संबंधों एवं धार्मिक तथा सांस्कृतिक उत्सवों तथा रीति-रिवाजों की थीम से जुड़ा होता है। लोक संगीत सामान्य तौर पर जीवन एवं मृत्यु, दिन और रात तथा ऋतुओं के चक्र का प्रत्युत्तर है। लोक संगीत में लोगों की सहभागिता बेहद ऊंची होती है। यह आमतौर पर देखा जाता है कि लोक संगीत में प्रयोग होने वाले वाद्य यंत्रों को उपलब्ध पदार्थों पशुओं की खाल, बांस, नारियल खपरों एवं घड़ों इत्यादि से बनाया जाता है।

भारतीय लोक संगीत देश की समृद्ध सांस्कृतिक विविधता के कारण अपनी वैविध्यता के लिए जाना जाता है। अधिकतर लोक संगीत नृत्य आधारित है और आम लोगों द्वारा त्यौहारों के दौरान गीत गाना, वाद्य यंत्र बजाना एवं नृत्य किए जाते हैं।

उत्तर भारत में, **कश्मीर** के लोक संगीत में *सूफी गीत, गजल* एवं *कोरल संगीत* शामिल है। *बनावुन* विवाह समारोहों के दौरान बजाया एवं गाया जाता है।

भंगड़ा **पंजाब** का नृत्य आधारित लोक संगीत है।

उत्तराखंडी लोग संगीत का केंद्रीय विषय प्रकृति से जुड़ा रहता है। उत्तराखंड में लोक संगीत प्रमुखतः पर्वों, त्यौहारों, धार्मिक परम्पराओं, लोक कहानियों एवं लोगों की सरल जीवन से जुड़ा होता है। यहां पर ढोल, दमोन, तुरी, रणसिंग, ढोलकी, ढोंर, थाली, भखोड़ा एवं मुसकबाजा जैसे वाद्य यंत्र प्रयोग होते हैं। कुमांऊनी एवं गढ़वाली में गीत गाए जाते हैं।

छत्तीसगढ़ में, *भरतारी ज्ञान* राजा भृतहरि की कहानी प्रस्तुत करता है। इसका वर्णन मालव शैली में किया जाता है। *पंडवानी, महाभारत* के भागों पर आधारित होती है जिसमें *ज्ञान* एवं *वादन* शामिल होते हैं। *पंडवानी* का गायन मूलतः गोंड जनजाति की एक उपजाति द्वारा गाया जाता था। *बन* गायक द्वारा बजाया जाता है। पद्मश्री एवं पद्मभूषण से विभूषित लोक कलाकार तीजनबाई, *पंडवानी गायन* से सम्बद्ध है।

मध्य प्रदेश के लोक संगीत में आल्हा, विभिन्न शैलियों में गाया जाने वाला एक वीर रस का गीत है जिसमें बुंदेलखंडी, बैंसवाड़ी, बृज, अवधी एवं भोजपुरी शैलियां शामिल हैं।

राजस्थानी, संगीत में एक विविध लोक संगीत परम्परा है जो एक विशेष जातियों जैसे लंगास, सपेरा, मंगनेर, भोपा एवं जोगी से सम्बद्ध है। मांड एक लोकप्रिय राजस्थानी लोक संगीत है जो अतीत में राजदरबारों में विकसित हुआ। यह गीत तेजाजी, मोगाजी एवं रामदेवजी जैसे राजपूत शासकों की शान में गाया जाता है। *पनिहारी* लोक गीत महिलाओं द्वारा गाया जाने वाला गीत है और इस गीत की थीम जल एवं जल का अभाव है।

डांडिया पश्चिम भारत का, विशेष रूप से **गुजरात** एक नृत्य आधारित लोकप्रिय संगीत है, और इसे नवरात्र के दौरान किया जाता है। इस संगीत ने फिल्म संगीत एवं इंडिपॉप संगीत को अत्यधिक सीमा तक प्रभावित किया है।

महाराष्ट्र में, *ओबी* महिलाओं द्वारा घर के काम करते समय और खाली समय में गाया जाता है। इसमें कविता की चार छोटी पंक्तियां होती हैं। *लावणी* महाराष्ट्र का एक लोकप्रिय लोक नृत्य एवं गीत है। परम्परागत तौर पर, यह महिला कलाकारों द्वारा गाया जाता है, लेकिन विशेष अवसरों पर पुरुष कलाकारों द्वारा भी गाया जाता है। *लावणी* से जुड़ा नृत्य *तमाशा* है।

गोवा के लोक संगीत में *सुवेरी, मुसोल* एवं *धांलो* शामिल हैं। विवाह के दौरान महिलाओं द्वारा *ओवी* गाया जाता है और इसकी थीम नव विवाहित जोड़े के लिए सुखी जीवन की कामना होती है। *मांडो* विवाह समारोहों में गाया जाता है। यह कहा गया है कि इसका उद्भव पश्चिमी बॉलरूम नृत्य रूप से हुआ है।

भगावती का अर्थ 'भावनात्मक गीत' होता है। यह *कर्नाटक* एवं *महाराष्ट्र*

में लोकप्रिय संगीत रूप है। इसका उद्भव राज्यों की प्रादेशिक काव्यात्मकता से हुआ है। यह प्रकृति, प्रेम, दर्शन जैसे विषयों से जुड़ा है।

नातूपुरा पातू एक तमिल लोक संगीत है। इसमें *ग्रामथिसाई* (ग्रामीण लोक संगीत) एवं *गाना* (शहरी लोक संगीत) शामिल है। **बिहार** में कई प्रकार के लोक संगीत हैं। इसके लोक गीतों में *सोहर,* बच्चे के जन्म के समय गाया जाने वाला गीत; *थूमर, सुमंगल,* विवाह से सम्बद्ध गीत; *कटनी-गीत* धान की फसल की कटाई के दौरान गाया जाने वाला गीत; *बिरहा, कजरी, रोपनी-गीत* धान की फसल की बुआई के दौरान गाया जाता है और *बीर कुंवर,* युद्ध गीत की परम्परा है, इत्यादि शामिल हैं।

असम के लोक संगीत में *जिकिर* शामिल है जिसमें इस्लाम की शिक्षाएं दी जाती हैं और *जारी* कर्बला के दुखद भागों पर आधारित है। अन्य गीतों में *बिहू गीत, हुसारी, बिहुना, बोरगीत, निशुकोनी गीत* एवं *गोरोखिया नाम* शामिल हैं।

अरुणाचल प्रदेश के लोक गीतों में *जा-जीन्जा* शामिल है जिसे विवाह एवं अन्य सामाजिक अवसरों पर गाया जाता है। *बरई,* इतिहास, धार्मिक एवं लोगों की विश्वास का वर्णन करने के लिए गाया जाता है। *नियोगा,* का गायन विवाह समारोह के अंत में किया जाता है।

इंडि-पोप

इंडि-पोप एक पारस्परिक रूप से संगीत की एक जननोन्मुख शैली है जिसमें विविध एवं एकल संगीतमयी प्रभावों का योग है। भारत में पॉप संगीत की लोकप्रियता पाकिस्तान की नाजिया हसन एवं उनके भाई जोहेब हसन की सफलता से शुरू हुई। उसी समय, भारत में गैर-फिल्मी गायक ऊषा उथ्थुप, रेमो फर्नानडीज और शरन प्रभाकर भी थे। 1990 में 'मेड इन इंडिया' के साथ आलिशा चिनॉय ने धूम मचा दी। आलिशा चिनॉय का सुचित्रा कृष्णमूर्ति, श्वेता शेट्टी, अनैदा, एवं महनाज ने भी अनुसरण किया। दलेर मेंहदी ने इस क्षेत्र में जबरदस्त कामयाबी हासिल की।

एक दशक से भी कम समय में 1990 के अंत तक पॉप संगीत की संस्कृति भारत के युवाओं की एक अच्छी-खासी संख्या तक फैल चुका था। भारतीय संगीत बाजार में भारतीय पॉप उद्योग ने 10 प्रतिशत की हिस्सेदारी काबिज कर ली

थी। इंडीपॉप ने अमिताभ बच्चन, आशा भोंसले, अल्का याज्ञनिक एवं ए.आर. रहमान जैसे धुंरधरों के इसमें आने से एक नया सम्मान एवं ऊंचाई प्राप्त की। आशा भोंसले के रीमिक्स एलबम ने उन्हें एक नई बुलंदी प्रदान की। उनकी दो रीमिक्स एलबम *राहुल एंड आई* और *आशा वन्स मोर* को लोगों ने हाथों-हाथ लिया। ए.आर. रहमान ने 'वंदे मातरम्' गाने को संगीतबद्ध कर एक नई प्रकार की धुन ईजाद की।

संगीत उद्योग के अनुभवों एवं प्रयोगों की इच्छा के साथ, कव्वाली उस्तादों ने भी इस क्षेत्र में अपनी उपस्थिति दर्ज कराई। पाकिस्तान के मशहूर गायक नुसरत फतेह अली खान का, गीतकार जावेद अख्तर के गीत 'आफरीन आफरीन', एलबम *सरगम* जबरदस्त लोकप्रिय हुआ।

शुभा मुगदल ने *अब के सावन* नाम का एक एलबम बनाया, जो अपनी गायकी, गहराई, एवं अंतस संवेदना के चलते बेहद लोकप्रिय हुआ। शंकर महादेवन एक गजब के हुनरमंद पॉप गायक हैं जिन्होंने कर्नाटक संगीत, हिंदुस्तानी संगीत, जैज एवं फ्यूजन में गजब की जुगलबंदी की है। उनकी एलबम *ब्रीथलैस* 1999 के अंत में अत्यंत लोकप्रिय हुआ।

1990 से वे गायक जिन्होंने इंडि-पोप में अपनी उपस्थिति दर्ज कराई, हैं बाबा सहगल, शांतनु मुखर्जी (शान), सुनाली राठौड़, पलाश सेन, के.के. सागरिका, हरिहरन, लेस्ली लेविस, लक्की अली, सोनू निगम, एवं हंस राज हंस। इनके अतिरिक्त लोकप्रिय इंडि-पोप गायकों में, जुबीन गर्ग, राघव सच्चर, रागेश्वरी, देविका चावला, बांबे ग्रुप वाईकिंग, सुनिधि चौहान, फाल्गुनी पाठक, बांबे राकर्स, अनु मलिक, जेजी बी, मल्कित सिंह, जे. सीन, जग्गी डी, ऋषि रिच, शैला चंद्रा, बैली सागू, पंजाबी एमसी, भांगड़ा नाइट्स, मेहनाज, एवं सनोबर भी शामिल हैं।

इंडीपॉप का वैश्वीकरण

इंडीपॉप का वैश्वीकरण 1990 के उत्तरार्द्ध से एक चलन बन गया। हरिहरण और लेसली लेविस ने फ्यूजन म्यूजिक में नया प्रयोग अपने एलबम कॉलोनियल कजन (1994) के साथ किया। उनके संगीत ने प्राथमिक रूप से उत्तरी अमेरिका में गैर-निवासी भारतीयों को अभिभूत किया।

1999 के अंत तक, इंडी-पॉप ने पश्चिमी संसार में अपनी घुसपैठ कर दी।

सुप्रसिद्ध इंडी-पॉप गायक

अलीशा चिनॉय	मनमोहन वारिस
बाबा सहगल	मिका
बेली सागू	पंजाबी बाई नेचर
बॉम्बे वाइकिंग	पंजाबी एमसी
कॉलोनियल कजन	रागेश्वरी
दलेर मेंहदी	रेमो फर्नांडीज
इयूफोरिया (पलाश सेन)	सागारिका
गुरदास मान	शान
हंस राज हंस	शेरों प्रभाकर
हरभजन मान	सुचित्रा कृष्णामूर्ति
हीरा	सुखबीर सिंह
जेजीबी	ऊषा उथ्थुप
लक्की अली	वीवा
मलकित सिंह	

संगीत के महान व्यक्तित्व ए.आर. रहमान ने माइकल जैक्सन के साथ *एकम् सत्यम* नामक एलबम बनाई और एंड्रयू लायड वेबर के साथ एक अन्य एलबम *बॉम्बे ड्रीम्स* में संगीतबद्ध जुगलबंदी की। पश्चिम में इंडी-पॉप की बढ़ती लोकप्रियता इससे जाहिर होती है कि वेस्टर्न कम्पोजर्स ने भारतीय नोट्स एवं धुनों को अपने काम में शामिल किया। स्टेनले क्यूबरिक ने आईज वाइल्ड शट में भारतीय नोट्स को शामिल किया।

भारतीय पॉप व्यापक रूप से टेलिविजन के माध्यम से विकसित हुआ और पॉप स्टार्स, यद्यपि ये शहरी भारतीयों में लोकप्रिय हुए, जनता के बीच लोकप्रियता हासिल नहीं कर सके। इंडी-पॉप को लेकर यह भावना व्याप्त है कि इसे भारत में अधिक व्यापारिक क्षमता हासिल नहीं है। यही कारण है कि यह कलाकार के वैयक्तिक हुनर एवं वाणिज्यिक क्षमता पर निर्भर करता है। आजकल, म्यूजिक एलबम के सफल होने की अधिक संभावना होती है यदि दृश्य एवं प्रिंट मीडिया में गायक को एक आइकन के तौर पर सफलतापूर्वक प्रस्तुत किया जाता है।

अध्याय-4

नृत्य

आधुनिक विश्व में नृत्य को सर्वाधिक चित्राकर्षक व माधुर्यपूर्ण कला माना जाता है। प्राचीनतम कला के रूप में भी नृत्य कला स्वीकृत है। आदिम युग में मानव अपने हृदयावेग को सर्वदा अंग-प्रत्यंग की गति की सहायता से प्रकट करते थे। वही क्रमशः नृत्यकला के रूप में विकसित हुआ।

सिन्धु घाटी के उत्खनन से प्राप्त नृत्यशील पुरुष व नारी मूर्ति यह बात प्रमाणित करती है कि प्रागैतिहासिक काल से ही नृत्य का प्रचलन था। प्राचीन नृत्य के रूप से हमें वैदिक युग के नटराज शिव के नृत्य-गीत के विषय में ज्ञात होता है, जिसका उल्लेख अनेक पौराणिक ग्रंथों व गाथाओं में किया गया है। यद्यपि ताण्डव नृत्य के साथ शिव का संबंध जोड़ा जाता है, किंतु वास्तव में वे इसके उद्भावक नहीं थे। नाट्यशास्त्र में कहा गया है 'तण्डुना मुनिना प्रोक्तम', अर्थात् तण्डु मुनि द्वारा उपदिष्ट, लेकिन यह नृत्य शिव द्वारा सम्पन्न किया गया था। कहा जाता है कि नटराज शिव के ताण्डव नृत्य की कल्पना से ही परवर्तीकाल में उनकी महाकाल-मूर्ति कल्पित हुई और नृत्य का विकास भी उसी से हुआ।

ऐसा भी कहा जाता है कि संसार में बढ़ते ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध और दुःख को देखते हुए ब्रह्मा जी ध्यानमग्न हुए और उन्होंने पांचवें वेद, 'नाट्यवेद' की रचना की। इसमें चारों वेदों का सार था। बौद्धिक पक्ष ऋग्वेद से, संगीत सामवेद से, अभिनय यजुर्वेद से और रस अथर्ववेद से लिया गया। इसी को आधार मान भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र लिखा। नृत्य की उत्पत्ति चाहे जो रही हो, इसे अपने आप में एक संपूर्ण कला माना जा सकता है, जिसमें ईश्वर और मनुष्य का आपसी प्रेम परिलक्षित होता है।

नृत्य के मूलभूत पहलू

भारतीय शास्त्रीय नृत्य के दो मूलभूत पक्ष हैं ताण्डव एवं लास्य। पौराणिक गाथाओं में शिव-पार्वती के नृत्य को ही ताण्डव व लास्य नृत्य कहा गया है। ऐसा भी कहा गया है कि दोनों नृत्यों के प्रथम अक्षरद्वय से 'ताल' शब्द की उत्पत्ति हुई है। किंतु महर्षि भरत ने नृत्य या नृत्त में से किसी को भी लास्य के लिए प्रयुक्त नहीं किया था। भरत ने पुरुष और स्त्री दोनों के लिए ताण्डव नृत्य उपयुक्त बताया है।

पंडित शारदातनय ने नृत्य व नृत्त को मधुर व उद्धत अर्थात् लास्य व ताण्डव दो श्रेणियों में विभाजित किया है। नृत्य पर अन्य रचनाएं हैं महेश्वर महापात्र की 'अभिनय चंद्रिका' और जदुनाथ सिंह का 'अभिनय प्रकाश'।

यहां ताण्डव नृत्य को उद्धत व उग्र नृत्य के रूप में स्वयं शिव व तण्डु ने भरत आदि पुरुष के माध्यम से और लास्य नृत्य को सुकुमार व कोमल नृत्य के रूप में पार्वती ने स्त्री के माध्यम से प्रचारित किया, कहा गया है। कालांतर में क्रमशः मंदिर प्रांगणों में होने वाले भरतनाट्यम, ओडिशा के सबसे पुराने नृत्य ओडिसी, सहस्राधिक हस्तमुद्रायुक्त कथकली, दक्षिण के सुललित नृत्य कुचिपुड़ी, राधाकृष्ण विषयक मणिपुरी, बादशाही दरबारों की कथक आदि विविध नृत्य धाराएं भारतीय शास्त्रीय नृत्य के रूप में उल्लेखनीय हैं। इसके अतिरिक्त लोकसंगीत एवं लोक नृत्य के रूप में असंख्य प्रादेशिक नृत्यों का विकास हुआ है।

शिलालेखों के अंतर्गत ताण्डव नृत्य

ताण्डव या ताण्डव नृत्य एक दैवीय नृत्य है जिसे हिंदू देवता शिव द्वारा किया गया। शिव के ताण्डव नृत्य को एक शक्तिशाली नृत्य के तौर पर देखा जाता जाता है जो सृजन, संरक्षण एवं विनाश के चक्र का स्रोत है। ताण्डव नृत्य के सात रूप हैं (i) आनंद ताण्डव; (ii) संध्या ताण्डव; (iii) कालिका ताण्डव; (iv) त्रिपुरा ताण्डव; (v) गौरी ताण्डव; (vi) संहार ताण्डव; और (vii) उमा ताण्डव।

शिव दो अवस्थाओं में विश्वास करते थे समाधि और ताण्डव या लास्य नृत्य अवस्था। समाधि उनकी निर्गुण अवस्था है और ताण्डव या लास्य नृत्य मुद्रा उनकी सगुण अवस्था है। हर कोई शिव के नटराज रूप से वाकिफ है, विशेष तौर पर वे जो कला एवं साहित्य से जुड़े हैं। परम्परागत रूप में, यह माना

जाता है कि नटराज नृत्य के उन्नायक हैं। नटराज के नृत्य को ईश्वर के पांच कार्यों को प्रस्तुत करने वाला माना जाता है, नामतः सृजन, जीवनाधार, विनाश, भ्रमों का समावेश एवं भ्रमों से उन्मुक्ति।

भारतीय धर्मशास्त्र में, भगवान शिव को नृत्य का सर्वोच्च देवता माना जाता है। इस दैवीय कला रूप को भगवान शिव और उनकी पत्नी देवी पार्वती द्वारा किया जाता है। कुछ शोधार्थी लास्य को ताण्डव का नारी संस्करण मानते हैं। लास्य दो प्रकार का है (i) जरिता लास्य और (ii) यौवक लास्य।

इस कला रूप का समय के साथ-साथ निश्चित रूप से रूप परिवर्तन हुआ। प्राचीन समय में इस नृत्य रूप को अधिकतर महिला कलाकारों द्वारा किया जाता था, जिन्हें देवदासी कहा जाता था तथा जो मंदिरों में नृत्य करती थीं। ये देवदासियां संपूर्ण कलाकार थीं, जो गायन, नृत्य, एवं वाद्ययंत्र बजाने में निपुण थीं। वे संस्कृत एवं अन्य भाषाओं में पारंगत थीं जिससे वे उनके द्वारा किए जाने वाले प्रस्तुति की व्यवस्था कर पाती थीं। लेकिन इस परम्परा ने तब दम तोड़ दिया जब समाज में देवदासियों की स्थिति धूमिल हो गई। तब यह नृत्य कला राजदरबार में पहुंचा। यहां राजा के राजाश्रय प्राप्त राजनर्तकी इस नृत्य को प्रस्तुत करती थीं। यहां तक कि यह भी देवदासियों की तरह संपूर्ण कलाकार थीं। 19वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में यह नृत्य रूप पुनः शक्तिशाली हुआ और चार प्रतिभाशाली भाइयों (आज ये तंजौर युगल के रूप में जाने जाते हैं) चिन्नाह, शिवानंदम, पोन्निहा एवं वदिनेलू ने इसे नए तौर पर परिभाषित किया। 20वीं शताब्दी में इस कला रूप में उदयशंकर, रुक्मिणी देवी अरुण्डेल एवं बालासरस्वथी के योगदान को नहीं भुलाया जा सकता।

मंदिरों में नृत्य उत्कीर्ण रूप में

बुद्ध पूर्व नृत्य-सम्बद्ध मृणमूर्तियां, स्तूप, शैलकृत गुफाएं, बौद्ध चैत्यगृह, गांधार एवं मथुरा शैली के मंदिरों इत्यादि में नृत्य एवं ताण्डव नृत्य रूप कला की चित्रित छाप पाई जाती है। वास्तव में सर्वप्रथम ईंट के बिना निर्मित मंदिरों का निर्माण गुप्तकाल में हुआ। इनमें से प्रमुख रूप से भीतरगांव का विष्णु मंदिर, सिरपुर मंदिर समूह, अहिच्छन्न के ध्वस्त मंदिर एवं तेर के मंदिर उल्लेखनीय हैं। प्रचुर मात्रा में नृत्य चित्रांकन दक्षिण भारत के हिंदू मंदिरों में दृष्टिगोचर होता है जिसमें पूर्वी भारत में भुवनेश्वर मंदिर एवं मध्य भारत में खजुराहो मंदिर प्रमुख हैं। पश्चिम

भारत में माउंट आबू के जैन मंदिर भी अपनी नृत्य चित्रांकन के लिए प्रसिद्ध हैं। मूर्ति शैली भिन्न है और स्थानीय संप्रदाय को आसानी से पहचाना जा सकता है, लेकिन भाव-भंगिमाओं एवं संचलन की मूल स्थिति मुख्यतः नाट्यशास्त्र की परम्परा में ही निहित है।

शिलालेखों में नृत्य अभिव्यंजना

नृत्य अलंकरण की दृष्टि से जो नाट्यशास्त्र से प्रत्यक्ष रूप से सम्बद्ध है, दक्षिण भारत के कुछ मध्यकालीन मंदिर परिसरों में ढूंढा जा सकता है। इनमें से सर्वाधिक प्रसिद्ध 9वीं शताब्दी का शिव मंदिर चिदंबरम है। इसमें नाट्यशास्त्र में उल्लिखित 108 कर्णों (शरीर का समग्र संतुलन एवं भंगिमा) में से 93 हैं।

दक्षिण भारतीय स्थापत्य के प्राचीनतम उदाहरण पल्लव वंश कालीन हैं। ये आंध्र वंश के उत्तराधिकारी थे एवं कांचीपुरम इनकी राजधानी थी। पल्लव शैली का भारतीय स्थापत्य के इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान है। दक्षिण भारत का तंजौर का वृहदेश्वर मंदिर स्थापत्य ही नहीं प्रतिमा अलंकरण की दृष्टि से भी भगवान शिव का बेजोड़ मंदिर है। तंजावुर के भगवान शिव को चोल लोग 'अडवल्लन' कहते थे, जिसका अर्थ है 'अच्छा नर्तक'। इसलिए यहां की समस्त मूर्तियां नृत्य मु द्राओं पर आधारित हैं। गंगइकोण्डाचोलपुरम् मंदिर में भगवान नटराज की प्रतिमा उत्कीर्ण है।

जैसाकि भारत में नृत्य कला सदैव मूर्तिकला, स्थापत्यकला, कर्मकाण्ड एवं सिद्धांतों के साथ गहरे रूप से गुंथी रही है। इसके लिए कर्णों (हाथ, पांव एवं समग्र शरीर का संतुलित संचलन) से बेहतर उदाहरण नहीं हो सकता। हम इन 108 नृत्य मुद्राओं का वर्णन न केवल नाट्यशास्त्र में पाते हैं अपितु दक्षिण भारत की विभिन्न महत्वपूर्ण जगहों पर अवस्थित मंदिरों के मूर्तिकला उदाहरण में भी देखते हैं। इसके लिए पांच मंदिर विश्व प्रसिद्ध हैं। तंजौर में राजराजेश्वर मंदिर, चिदम्बरम में नटराज मंदिर, कुंभकोणम में सारंगपानी मंदिर, तिरुणामल्लई में अरुणाचलेश्वर मंदिर और वृहादाचलम में बृहदेश्वर मंदिर।

चिदम्बरम में सभी चार गोपुरम से होकर गए रास्ते को सभी 108 कर्णों से सुसज्जित किया गया है। इसके पूर्वी और पश्चिमी गोपुरम के पैनल में नाट्यशास्त्र से सम्बद्ध छंद उत्कीर्ण हैं। यहां पर दो संगीतज्ञों के साथ एक महिला नर्तकी नृत्य प्रस्तुत करते दिखाई गई है। पूर्वी, पश्चिमी एवं दक्षिणी गोपुरम 12वीं और 13वीं शताब्दी के हैं, जबकि उत्तरी गोपुरम उसके बाद का है।

कुभकोणम में सारंगपानी मंदिर के पूर्वी गोपुरम में अधिकाधिक एक संपूर्ण शृंखला चित्रित की गई है जिसमें एक पुरुष नर्तक प्रस्तुति देते हुए दिखाया गया है। यहां पर अधिकतर पैनल ग्रंथ लिपि में शिलालेख उत्कीर्ण है। इस पर भरतमुनि के नाट्यशास्त्र के कर्ण दिखाई देते हैं। इन कर्णों के बीच हमें उर्ध्व तांडव की मुद्रा में शिव एवं देवी काली भी नृत्य करते दिखाई देते हैं। ऐसा माना जाता है कि यह दोनों के बीच नृत्य प्रतिस्पर्द्धा को प्रकट करता है।

दो और मंदिरों को नाट्य शास्त्र के कर्णों को प्रस्तुत करने वाला माना जाता है। ये मंदिर हैं वृहदाचलम एवं थिरुवन्नामलई। इन दोनों मंदिरों में गोपुरम मार्ग में कर्ण दिखाई देते हैं। वृहदाचलम मंदिर में सभी चार गोपुरमों में कर्ण उत्कीर्ण हैं, लेकिन ये पूरे नहीं हैं। ये मात्र 101 हैं और आश्चर्यजनक रूप से क्रम में नहीं हैं। तिरुन्नामल्लई मंदिरों में सभी कर्ण पूर्वी गोपुरम मार्ग में व्यवस्थित रूप से क्रमबद्ध हैं। 108 कर्णों के अतिरिक्त, संभवतः चिदम्बरम मंदिर से छायाकिंत, यहां पर और अधिक नृत्य मुद्राएं चित्रित हैं। 9 पैनल के साथ 20 प्लास्टर पर लम्बवत् रूप से क्रमबद्ध यह सब उत्कीर्ण है। इसमें नाट्यशास्त्र में परिभाषित सभी 108 कर्णों को शामिल किया गया है।

शास्त्रीय नृत्य शैलियां

शास्त्रीय नृत्य भारत में कई रूपों में आया। प्रत्येक क्षेत्र की अपनी एक अलग शैली उत्पन्न हुई, यद्यपि जड़ें एक समान हैं।

भरतनाट्यम

कुछ विद्वानों का मत है कि इस नृत्य शैली का नाम भरत के नाट्यशास्त्र से लिया गया है। कुछ कहते हैं कि भ र और त तीनों क्रमशः भाव, राग और ताल के लिए हैं। नाम में जो भी हो, तमिलनाडु में देवदासियों द्वारा विकसित व प्रसारित इस शैली को सबसे प्राचीन नृत्य माना जाता है। कुछ समय के लिए इस नृत्य को देवदासियों के कारण उचित सम्मान नहीं मिल पाया, किंतु बीसवीं सदी के प्रारंभ में ई. कृष्ण अय्यर और रुक्मिणी देवी अरुंदाले के अथक् प्रयासों से इसे पुनः स्थापित किया गया।

भारत नाट्यम की दो प्रसिद्ध शैलियां हैं पंडानलूर एवं तंजावुर शैलियां। मीनाक्षी सुंदरम पिल्लई भरतनाट्यम की प्रसिद्ध प्रवर्तक थीं। उनकी शैली को पंडानलूर स्कूल ऑफ भरतनाट्यम के तौर पर जाना जाता है।

ऐसा माना जाता है कि आज के भरतनाट्यम को तंजावुर के चार शिक्षकों चिनैया, पोन्निया, शिवनंदम एवं वेडीवेलू द्वारा संहिताबद्ध किया गया।

भरतनाट्यम साधारणतः दो अंशों में सम्पन्न होता है नृत्य और अभिनय। नृत्य शरीर के सुललित अंगभंगी से उत्पन्न होता है, इसमें भाव, रस और काल्पनिक अभिव्यक्ति का होना आवश्यक है। शारीरिक प्रक्रिया को समभंग, अभंग तथा त्रिभंग, तीन भागों में बांटा गया है। नृत्यक्रम इस प्रकार है

आलारिपुः इस शब्द का अर्थ है कली से फूल खिलना। इस अंश में गीत नहीं होता है। इसमें कविता (सोल्लू कुट्टू) रहती है। इसी की छंद में आवृत्ति होती है। साधारणतः तिश्र (3 मात्रा) या मिश्र (7 मात्रा) छंद तथा मृदंग व करताल के साथ यह अंश अनुष्ठित होता है, जिसे इस नृत्यानुष्ठान की भूमिका कहा जाता है।

जातिस्वरम्ः इस अंश में नर्तक अपने कला ज्ञान का परिचय देते हैं। इसमें स्वर मालिका के साथ राग रूप प्रदर्शित होता है, जो उच्च कला की मांग करता है।

शब्दम्ः यह सबसे आकर्षक अंश है। इसमें बहुविचित्र तथा लावण्यमय नृत्य पेश करके नाट्यभावों का वर्णन किया जाता है। यह राजा या देवता की वंदना के रूप में और आध्यात्मिक, भक्ति व वीर रस से ओत-प्रोत होता है।

वर्णम्ः इसमें नृत्यकला के विविध वर्णों को प्रस्तुत किया जाता है। भाव, ताल और राग तीनों की सम्यक प्रस्तुति होती है। भरतनाट्यम का सबसे चुनौतीपूर्ण अंश यही होता है।

पदम्ः पदम् सात पंक्तियुक्त वंदना होती है, जो तमिल, तेलुगू या संस्कृत में होती है। यहीं नर्तक के अभिनय पक्ष की मजबूती का पता चलता है।

तिल्लानाः यह अंश अंतिम होता है, जिसमें बहु विचित्र नृत्य भंगिमाओं के साथ नारी सौंदर्य के विविध लावण्यों को प्रदर्शित किया जाता है।

इस शैली की कुछ प्रसिद्ध नृत्यांगनाएं हैं टी. बालसरस्वती, रुक्मिणी देवी, यामिनी कृष्णमूर्ति, सोनल मानसिंह, पद्मा सुब्रमण्यम, मृणालिनी साराभाई।

टी. बालासरस्वती *अभिनय* में अपने *संचारी भाव* के लिए जानी जाती थी। अपनी नृत्य भंगिमाओं के लिए इन्होंने अंतरराष्ट्रीय पुरस्कार एवं प्रशंसा प्राप्त की।

पद्म सुब्रमण्यम, जो प्रभावी नर्तक, कोरियोग्राफर, संगीत संयोजक, गायक शोधार्थी, अध्यापक एवं लेखक थे, ऐसे प्रथम नर्तक थे जिन्होंने *पुष्पांजलि* को एक नृत्य के तौर पर प्रस्तुत किया। इन्होंने कई लेख लिखे।

अलारमेल वल्ली भरतनाट्यम में पंडानलूर परम्परा के एक अग्रणी प्रवर्तक हैं। उन्होंने भारत में सभी बड़े समारोहों में अपनी कला का प्रदर्शन किया और विश्व की अधिकांश सांस्कृतिक राजधानियों में अपना हुनर प्रस्तुत किया।

यामिनी कृष्णामूर्ति ने अपनी आकर्षक नृत्य प्रस्तुति के माध्यम से पूरे विश्व के भरतनाट्यम एवं कुचिपुड़ी को लोकप्रिय बनाया। उनकी भरतनाट्यम की प्रारम्भिक शिक्षा-दीक्षा रुक्मिणी देवी अरुण्डेल कला क्षेत्र में हुई।

मृणालिनी साराभाई एक जानी-मानी भरतनाट्यम नृत्यांगना हैं। कला क्षेत्र की विद्यार्थी होने के साथ-साथ उन्होंने दर्पण नाम से अपनी एक नृत्य एकेडमी खोली जो भरतनाट्यम एवं अन्य सम्बद्ध कलाओं में प्रशिक्षण प्रदान करती है। वह कई नृत्य नाटिकाओं की जानी-मानी कोरियोग्राफर भी रही हैं। वह कोरियोग्राफी में अपने सृजनात्मक प्रयोगों के लिए जानी जाती रही हैं।

अनीता रतनम भारतीय उपमहाद्वीप की एक अत्यधिक प्रतिभाशाली नर्तकी रही हैं। वह भरतनाट्यम, मोहिनीअट्टम एवं कथकली में समान रूप से पारंगत हैं और दक्षिण भारत के बेहतरीन कोरियोग्राफर में उनका नाम आता है।

मल्लिका साराभाई भरतनाट्यम के साथ-साथ कुचिपुड़ी शैली में भी एक प्रसिद्ध नर्तकी हैं। वह अपनी मां, मृणालिनी, के साथ दर्पण अकादमी को चलाती हैं। यह उत्कृष्ट कलाओं का एक केंद्र है जहां प्रतिभा को प्रोत्साहित किया जाता है और प्रस्तुत करने के लिए एक मंच प्रदान किया जाता है।

कुचिपुड़ी

यह नृत्य शैली आंध्र प्रदेश के कुचेलपुरम या कुसीलवपुरी गांव के नाम पर कुचीपुड़ी कहलाती है। कुसीलव गांव-गांव घूमने वाले अभिनेताओं का दल था। संस्कृत के शब्द कुसीलवपुरी को ही बोलचाल की भाषा में कुचिपुड़ी कहा जाता है। ऐसा माना जाता है कि भगवतुलू ब्राह्मण मेला ने 'यक्षगान' नृत्यनाट्य का संस्कार कर इसकी सृष्टि की थी। किसी का कहना है कि खनन कार्य से प्राप्त नेल्लोर जिले के नागार्जुन कोण्डा व भैरवानीकोण्डा, वारंगल जिले के पलमपेट के रामाप्पा मंदिर (13वीं सदी) तथा अमरावती मंदिर में जो देवी-देवताओं, अप्सराओं,

नर्तक-नर्तकियों एवं वाद्ययंत्रों के चित्र व भास्कर्य पाए गए हैं, उनसे इस नृत्य की भंगिमाओं का सादृश्य है।

वस्तुतः गीत, कविता व नृत्य के साथ रचित यह उच्च कला सम्पन्न नृत्यनाट्य नाट्यशास्त्र के वर्णनानुसार है। इसमें तीन प्रकार के नृत्य हैं (1) नर्त्त रसहीन नृत्य (2) नृत्य कल्पनानुसार अनुष्ठित रसयुक्त नृत्य तथा (3) नाट्य भावरस व अभिनययुक्त नृत्य। इसमें आंगिक, वाचिक व आहार्य तथा ताण्डव व लास्य का समावेश रहता है। तेलुगू भाषा के 'पदम्' एवं 'शब्दम्' तथा कर्नाटक संगीत इसके उपादान हैं। वैष्णववाद के प्रभाव के तहत् इसका विषय 'महाभागवत्' से लिया गया है, इसीलिए इसके पात्र 'भगवत मेला' कहलाते हैं। इस नृत्यधारा में अनेक नाट्यों की रचना हुई, जिनमें से सिद्धेन्द्र योगी का 'भामाकल्पम्' व 'गोल्लाकल्पम' अत्यंत प्रसिद्ध एवं लोकप्रिय हैं।

विजयनगर के राजाओं ने इस नृत्य शैली को भरपूर प्रश्रय दिया। इसके बाद गोलकुण्डा के शासक भी इसमें रुचि लेते रहे। कुछ कुचिपुड़ी नर्तकों के परिवारों को भूमि भी प्रदान की गई थी। इन परिवारों के गुरुओं ने इस परंपरा को पीढ़ी-दर-पीढ़ी बनाए रखा है। इनमें वेदांतम् और वेमपति दो प्रमुख नाम हैं। बीसवीं सदी के प्रारंभ तक कुचिपुड़ी आंध्र प्रदेश के गांवों तक ही सीमित था। बालसरस्वती और रागिनी देवी (एस्थर शरमन) ने इसे लोकप्रिय बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। मूलरूप से पुरुषों की इस नृत्य शैली को कई नृत्यांगनाओं ने अपनाया और इसे प्रसिद्धि के शिखर तक पहुंचाया है। इनमें है यामिनी कृष्णमूर्ति, स्वप्न सुंदरी शोभा नायडू, राजा और राधा रेड्डी। वेमपति चिन्ना सत्यम और वेदांतम सत्यनारायण उच्च कोटि के नर्तक होने के साथ-साथ समर्पित गुरु भी बने।

नृत्य नाटिकाओं के अतिरिक्त भी कुछ प्रमुख विषय हैं मंडूक शब्दम्, बालगोपाल तरंग एवं ताल चित्र नृत्य, जिसमें नर्तक/नर्तकी नृत्य करते समय अपने अंगूठे से फर्श पर आकृति बनाते हैं।

कुछ प्रसिद्ध कुचिपुड़ी नर्तक इस प्रकार हैं

बेम्पत्ती चिन्ना सत्यम ने कुचिपुड़ी नृत्य शैली के विकास एवं प्रशिक्षण के लिए चेन्नई में कुचिपुड़ी आर्ट एकेडमी स्थापित की। इन्होंने शास्त्रीय नृत्य शैलियों के बीच कुचिपुड़ी को एक आधिकारिक स्थान दिलवाया।

यामिनी कृष्णमूर्ति ने कुचिपुड़ी को उस समय लोकप्रिय बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की जब इसका एकल (सोलो) नृत्य शैली के तौर पर अभ्युदय हो रहा था।

राजा एवं राधा रेड्डी को उनकी प्रभावी एवं प्रवाहमयी नृत्य तकनीक के लिए विश्व में जाना जाता है। उन्होंने पूरे विश्व में कुचिपुड़ी नृत्य शैली का प्रचार किया। उन्होंने इसकी मूलभूत भंगिमाओं एवं मुद्रा को पूरी तरह से संहिताबद्ध किया। *परंपरा* 'नाट्यम', *अन्नया* एवं *लाइफ ट्री* इनकी बेहतर प्रस्तुतियों में से हैं।

स्वप्न सुंदरी कुचिपुड़ी शैली में यह नाम बेहद प्रसिद्ध है। यह कुचिपुड़ी नृत्य शैली की प्रथम नर्तकी हैं जिन्होंने प्रस्तुतिकरण के पहलुओं पर जोर देने के साथ-साथ इस नृत्य शैली के संगीतमयी एवं अकादमिक पहलू पर भी बल दिया। यह नई दिल्ली में कुचिपुड़ी नृत्य केंद्र की संस्थापक निदेशक हैं, जहां वह इस कला में युवा लोगों को इस नृत्य में पारंगत करती हैं।

यामिनी रेड्डी, राजा एवं राधा रेड्डी की बेटी अपनी भंगिमाओं एवं संतुलन तथा मधुरता के भावों के लिए जानी जाती हैं। उन्होंने कई अंतरराष्ट्रीय समारोहों में प्रस्तुति दी है।

चिंता कृष्णमूर्ति एक जानी-मानी कुचिपुड़ी नर्तक एवं शिक्षक हैं। उन्होंने कुचिपुड़ी कलाकारों एवं नर्तकों की एक पीढ़ी को तैयार किया है।

विजया प्रसाद, अपनी अद्वितीय, सौम्य एवं प्रभावी नृत्य शैली के लिए जानी जाती हैं, जिन्होंने लगभग आधी शती तक कुचिपुड़ी का अभ्यास एवं शिक्षण किया है।

दिव्या येलुरी, लक्ष्मी बाबू, स्वाति गुंडापूनीडी और अनुराधा नेहरू अन्य प्रसिद्ध कुचिपुड़ी नर्तकों में हैं।

ओडिसी

सांस्कृतिक इतिहासकारों ने यह माना है कि ओडिशा में नृत्य के प्राचीन अवशेष मौजूद हैं। बौद्ध व जैन युग के बने उदयगिरी, खण्डगिरी, जैन प्रस्तर मंदिर आदि स्थानों में अनेक शिलालेख, गुफाचित्र, भास्कर्यादि तथा नृत्य भंगिमाएं उपलब्ध हैं। इसके अतिरिक्त भुवनेश्वर के राजरानी व वेंकटेश मंदिर, पुरी के जगन्नाथ मंदिर और नट मंडपन तथा कोणार्क के सूर्य मंदिर में भी प्राप्त असंख्य प्रमाणों

से यह बात प्रमाणित होती है कि वे सब केवल धार्मिक स्थान ही नहीं थे, अपितु कला, साहित्य, संगीत, नृत्य आदि के शिक्षा केंद्र भी थे।

हिंदू शास्त्रानुसार नटराज शिव प्रलय के नियंता तथा नृत्यकला के स्रष्टा थे। इसीलिए उनकी पूजा में अर्पण नृत्य को श्रेष्ठतम माना जाता है। ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी में महरिस नामक एक सम्प्रदाय था, जो शिव मंदिरों में नृत्य करता था। महरिस या देवदासी सम्प्रदाय परंपरा से मंदिरों में नृत्य गीत करते रहे, जो कालांतर में ओडिसी नृत्य कला के रूप में विकसित हुआ। यह नृत्य शैली संभवतः नाट्यशास्त्र में वर्णित ओड्रा नृत्य पर आधारित है।

दरअसल भारत में *'देवदासी'* प्रथा का जन्म आदिकालीन सामन्ती समाज की विशिष्ट सामाजिक-आर्थिक संरचना से हुआ। 'देवदासी' का शाब्दिक अर्थ है देवता की दासी या सेविका। *देवदासी* प्रथा भारत की मंदिर संस्कृति से उपजी और पांचवीं-छठी शताब्दी से अर्थात् जबसे मध्यकाल का प्रारंभ माना जाता है, यह प्रथा प्रचलित हुई। तत्कालीन शिलालेखों से ज्ञात होता है कि मंदिर-निर्माण को लेकर राजसी परिवारों और संपत्तिशाली अभिजात्य वर्ग में कड़ी प्रतिद्वंद्विता रहती थी। ओडिया स्रोतों में कहा गया है कि कोणार्क के मंदिर का निर्माण गंगा राजा नरसिंह देव प्रथम द्वारा पुरी के विशाल मंदिर को टक्कर देने के लिए किया गया था। मंदिरों में बड़े पैमाने पर दान इत्यादि द्वारा स्वर्ण एवं धन एकत्रित होता गया। धर्माधिकारी मंदिरों की सारी व्यवस्था देखते थे। नृत्य-गान मंदिरों में पूजा-अर्चना की व्यवस्था और मंदिर प्रतिमा की आठों प्रहर सेवा करने के लिए स्त्रियां नियुक्त की जाने लगीं, जिन्हें *देवदासी* कहा गया।

परम्परा के अनुसार देवदासी के रूप में देवता को उस कन्या को समर्पित किया जाता था, जो रजस्वला न हुई हो। इन देवदासियों को लौकिक विवाह की अनुमति नहीं थी। भारत के विभिन्न भागों में आज भी देवदासी प्रथा विद्यमान है। देवदासी को 'अखंड सौभाग्यवती' अथवा 'नित्य सुंमगली' कहा जाता है। दक्षिण भारत के मंदिरों में प्राचीनकाल में 'देवदासी' समर्पण का एक भव्य उत्सव होता था। महाकाव्यों में आए विभिन्न प्रसंगों से पता चलता है कि नौवीं-दसवीं शताब्दी तक भारत के अलग-अलग भागों में देवदासी प्रथा गहरी जड़ें जमा चुकी थी। ह्वेनसांग ने सातवीं शताब्दी में अपनी भारत-यात्रा के दौरान मुलतान के सूर्य मंदिर में देवदासियों का नृत्य देखा था। अलबरूनी ने अपने संस्मरणों में लिखा था कि 'मंदिरों में देवदासियां बाहर के लोगों से दैहिक संबंधों के बदले

में धन लेती थीं। यह आय राजा अपने सैन्य खर्च के लिए इस्तेमाल करता था। स्पष्ट है कि देवदासी प्रथा अत्यंत प्राचीन है, फिर भी ग्यारहवीं शताब्दी से लेकर तेरहवीं शताब्दी के बीच देवदासी प्रथा अपने चरमोत्कर्ष पर थी।

भारत के विभिन्न भागों में देवदासियों को अलग-अलग नामों से पुकारा जाता है। ओडिशा में इन्हें महारी कहा गया, अर्थात् वे महान नारियां जो अपनी लौकिक वासनाओं पर नियंत्रण रख सकती हैं। इन देवदासियों के प्रश्रय में 'ओडिसी' नृत्य कला फली-फूली। ओडिसी नृत्य गुरु जो स्वयं 'महारी' परिवार से संबद्ध हैं, उनके अनुसार 'महारी' का अर्थ है महारिपुआरी जो पांच महान शत्रुओं (पंचेन्द्रिय) पर विजय प्राप्त कर चुका है।

कर्नाटक में देवदासियों को *'येलम्मा'* के अनुयायी के रूप में जाना जाता है, जो उत्तरी कर्नाटक, बेलगाम, बीजापुर, रायचूर, कोप्पल, धारवाड़, शिवमोगा आदि जिलों में फैली हुई हैं। महाराष्ट्र में देवदासियों को *मुरली* कहा जाता है और उनके पुरुष साथी को *वाझा*।

यद्यपि सन् 1934 में भारत सरकार द्वारा पारित अधिनियम के तहत् देवदासी प्रथा के उन्मूलन की घोषणा की गई थी और इसके लिए सजग तथा सचेतन प्रयास भी किए गए। लेकिन 70-75 वर्षो के पश्चात् भी लगभग, 4,50,000 देवदासियां धर्म के नाम पर देह-व्यापार से संबद्ध हैं। दूसरी ओर देवदासी प्रथा का धन पक्ष यह है कि मंदिर संस्कृति में देवदासियों के माध्यम से शास्त्रीय नृत्य-संगीत की कला का पुष्पन-पल्लवन हुआ। स्वतंत्रता से पूर्व ही थियोसॉफिकल सोसायटी की मादाम एच.पी. ब्लावात्सकी और कर्नल एस.एस. ओल्कॉट ने दक्षिण भारत का दौरा कर मंदिर संस्कृति से जुड़ी 'सादिर' नृत्य-कला का संरक्षण एवं पुनरुद्धार किया। रुक्मिणी देवी अरुंडेल ने सादिर नृत्य कला को भरतनाट्यम के रूप में प्रसिद्धि दिलाई।

ओडिसी नृत्य-कला पुरी के मंदिरों में देवदासियों द्वारा फली-फूली। आज उसी नृत्य-कला ने देश-विदेश में उत्कृष्ट शैली के रूप में प्रसिद्धि पाई है। गुरु केलुचरण महापात्र जो पट्टचित्र कलाकारों के परिवार से संबद्ध हैं, उन्होंने गोटीपुआ और महारी नृत्य-कला को लोकप्रिय बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। गोटीपुआ नृत्य में चौदह वर्ष से कम उम्र के किशोर बच्चे स्त्री-वेश में नृत्य करते हैं। नाग और मेधा-नृत्य शैलियां भी पुरी के मंदिरों में ही विकसित हुई।

12वीं सदी के बाद ओडिसी पर वैष्णववाद का व्यापक प्रभाव पड़ा। जयदेव

की अष्टपदी इसका अभिन्न अंग बन गई। कालक्रम से महरिस प्रणाली में कई बुराइयां घर कर गईं। इससे बचने के लिए युवा लड़कों को मंदिरों के आनुष्ठानिक नृत्य में प्रशिक्षित किया गया। ये नर्तक स्त्रियों की भांति वस्त्र पहनते थे और महरिसों की तरह ही नृत्य करते थे। किंतु, अठारह वर्ष की अवस्था होने पर इन्हें अध्यापन कार्य में लगा दिया जाता था। इसी परंपरा के परिणामस्वरूप ओडिसी में प्रसिद्ध गुरुओं की कमी नहीं रही मोहन महापात्र, केलूचरण महापात्र, पंकज चरणदास, हरे कृष्ण बेहड़ा, मायाधरराउत उनमें से कुछ ऐसे ही नाम हैं।

तथापि, ओडिसी को अपेक्षित प्रसिद्धि तब मिली, जब नृत्य आलोचक डॉ. चार्ल्स फेबरी ने इस शैली के बारे में लिखा और इंद्राणि रहमान ने इसे सीखने का प्रयत्न किया एवं मंच पर उसका प्रदर्शन किया।

ओडिसी को चलती-फिरती वास्तुकला का नाम दिया गया है। इसमें प्रधानतः तीन प्रकार की भंगिमाएं होती हैं मस्तक, पृष्ठभाग और स्थिर मुद्राएं इसके साथ भाव, राग और ताल का समन्वय रहता है। आरंभ में भूमि प्रणाम, फिर विघ्नराज पूजा, बटू नृत्य, इष्टदेव पूजा, पल्लवी नृत्य, अभिनय नृत्य और आनंद नृत्य होता है। इसमें प्रयुक्त भंग, द्विभंग, त्रिभंग तथा पदचारण की मुद्राएं भरतनाट्यम् से मिलती-जुलती है।

प्रसिद्ध ओडिसी नर्तकों में, प्रथम तौर पर गुरु पंकज चरण दास थे। उन्होंने अपने कार्यक्षेत्र की शुरुआत *जात्राओं* में अभिनय करके की और हास्य भूमिकाएं किया करते थे। उन्होंने केलुचरण महापात्रा के साथ मिलकर शिव एवं लक्ष्मी प्रिया नृत्य की कोरियोग्राफी की जिससे उन्हें बेहद प्रसिद्धि प्राप्त हुई।

गुरु केलुचरण महापात्रा को बेहद प्रसिद्ध ओडिसी नृत्य गुरु माना जाता है। वह भारत से एक नृत्य प्रवर्तक हैं जिन्होंने ओडिसी नृत्य संस्कृति की अवधारणा का लोकप्रियकरण एवं आधुनिकीकरण किया।

संयुक्ता पाणिग्रही ने मात्र 4 वर्ष की आयु में नृत्य करना प्रारंभ कर दिया था और 1952 में अंतरराष्ट्रीय बाल नृत्य समारोह में पुरस्कार जीता। यद्यपि उन्हें मुम्बई में कथक नृत्य सीखने के लिए छात्रवृत्ति दी गई, तथापि वे ओडिसी नृत्य की विशेषज्ञा बन गईं।

सोनल मानसिंह एक बेहद उत्कृष्ट ओडिसी नृत्यांगना हैं। उन्होंने स्वयं की कोरियोग्राफी में कई सारे नृत्य कार्यक्रम किए हैं। जब उन्हें 1992 में पद्म

भूषण पुरस्कार दिया गया था, वे सबसे युवा थीं। वर्ष 2003 में, सोनल मानसिंह पहली भारतीय महिला नर्तकी थीं जिन्हें पद्म विभूषण सम्मान प्राप्त हुआ।

इलियाना सिटारिस्टी विदेशी मूल की ओडिसी नर्तकियों में से बेहद सम्मानीय नाम है। जन्म से इटली की नागरिक होने के बावजूद, वे 1979 में ओडिशा में रहने लगीं। उन्होंने गुरु केलुचरण महापात्रा से ओडिसी नृत्य की तालीम ली। उन्होंने जर्मनी, हॉलैंड एवं फ्रांस में आयोजित कई भारतीय महोत्सवों में अपनी नृत्य प्रस्तुति दी उन्होंने अपने गुरु केलुचरण महापात्रा के जीवन पर एक पुस्तक लिखी।

उन्होंने 'आर्ट विजन' नाम से एक ओडिसी नृत्य संस्थान खोला। उनके ओडिसी नृत्य को योगदान को मान्यता देने के लिए भारत सरकार ने उन्हें वर्ष 2006 में पद्म श्री सम्मान से विभूषित किया। उन्होंने ओडिसी नृत्य एवं संस्कृति के बारे में यूरोप एवं अमेरिका में विदेशी भाषा के प्रकाशनों में भी लिखा।

ओडिसी नर्तकों के बीच, निलांजना बनर्जी का उल्लेख किए जाने की आवश्यकता है। उन्होंने नृत्य की बारीकियों को दिल्ली के गुरु मयधर राउत से सीखा। उन्होंने पश्चिम में भी ओडिसी को लोकप्रिय बनाया, न केवल भारतीय समुदाय के बीच अपितु विदेशी नागरिकों के बीच भी। उन्होंने अमेरिका एवं यूरोप में आयोजित कई कार्यक्रमों में प्रस्तुति दी।

ओडिसी की अन्य व्यक्तित्वों में शामिल हैं किरन सहगल, रानी कर्णा, माधवी मुदगल। कुछ विदेशी भी अच्छे ओडिसी नृत्यकार हुए हैं अमरीका की शेरॉन लॉवेन, अर्जेंटीना की मायर्टा बार्वी प्रसिद्ध हैं।

कथकली

केरल के मंदिरों में पल्लवित एवं पुष्पित हुई इस नृत्य शैली के प्रेरणा श्रोत परम्परागत लोकनाटक कुडिअट्टम और कृष्णट्टम रहे हैं। कथकली दो शब्दों के मेल से बना है कथा और कलि (नाटक)। ऐसा कहा जाता है कि बलवीर केरलन ने मानवेद के कृष्णट्टम की काट के लिए रमणट्टम को जन्म दिया। धीरे-धीरे इसका विस्तार किया गया, जिसमें महाभारत, शिव पुराण इत्यादि से प्रसंग लिए गए। यही रमणट्टम कथकली के रूप में विकसित हुआ। फिर यह मंदिरों से निकलकर लोकमंच पर आया। किंतु, सामंती संरक्षण छिन जाने के कारण इसका विकास भी अवरुद्ध हो गया।

यह महान मलयाली कवि वल्लठोल नारायण मेनन के अथक् प्रयास का ही परिणाम था कि कथकली पुनर्जीवित हो सका। मुकुंदराजा की सहायता पाकर उन्होंने 1930 में कलामंडलम की स्थापना की। कुंजुकुरूप और कोप्पन नायर जैसे गुरुओं ने शिक्षा देनी प्रारंभ की।

मौलिक रूप से यह पुरुषों का नृत्य था। रागिनी देवी ने इस एकाधिकार को तोड़ते हुए यह नृत्य सीखा और प्रदर्शन किए। इनके बाद शांता राव, मृणालिनी साराभाई, कनक रेले, रीता गांगुली आईं।

कथकली कथक के समान न तो दरबारी होता है, न ही भरतनाट्यम के समान एकक और न ही मणिपुरी के समान कवित्वमय होता है। इसमें ताण्डव भाव अधिक रहता है। यह नीरत्व भाव-व्यंजक नृत्य खुले आकाश के नीचे रातभर होता है। इसमें शारीरिक अंगों का जिस प्रकार प्रयोग किया जाता है, वैसा अन्य किसी नृत्य में नहीं किया जाता। भाव प्रदर्शन के लिए भौंहों, आंखों व पुतलियों तथा मांसपेशियों का भरपूर प्रयोग किया जाता है। इस नृत्य के लिए कठिन प्रशिक्षण और भरपूर मुखश्रृंगार की आवश्यकता होती हैं। चेहरे पर पुते रंग अलग-अलग मानसिक दशा व चरित्र के परिचायक होते हैं हरा रंग सद्‌गुण, ईश्वर और मर्यादा का लाल रंग राजत्व और पाप का द्योतक होता है।

कथकली की पद्‌चारणा ज्यामितीय भित्ति से होती है, अर्थात्, समकोण, त्रिकोण, चतुष्कोण, आदि दिशा में पदचारणा होती है। इसमें स्थिर मुद्राएं कदाचित ही प्रयुक्त होती हैं। यह नृत्य 'कलसम' से आरंभ किया जाता है। फिर 'उडक्कम्' 'तोमकरम्' तथा 'तोडयम' आदि क्रियाएं प्रदर्शित की जाती हैं।

कथकली के विषय पुराणों से लिए जाते हैं और अच्छाई एवं बुराई के बीच चलने वाले संघर्ष का बड़े व्यापक तरीके से प्रदर्शन किया जाता है।

कथकली के कुछ प्रसिद्ध गुरु एवं नर्तक इस प्रकार हैं

गुरु कुंचुप कुरूप ऐसे पहले कथकली कलाकार थे जिन्हें कथकली नृत्य शैली के लिए राष्ट्रीय पुरस्कार प्रदान किया गया। उन्होंने अपने कुछ खास चरित्रों नल, हमसम, रुगमंगदा, अर्जुन एवं भगवान कृष्ण से प्रसिद्धि एवं लोकप्रियता हासिल की। उन्होंने कुचेलान, ब्राह्मणन एवं सुंदरा ब्राह्मणन जैसे *मिनुक्कू वेशम* में उत्कृष्ट प्रस्तुति दी।

कवुंगल चथुनी पाणिक्कर यह कथकली कलाकारों की छह पीढ़ियों वाली कवुंगल परिवार से ताल्लुक रखते हैं। उन्होंने मधुरता एवं लयात्मकता के भाव

पर बल दिया और कई प्रकार के *कलासम* को ईजाद किया। उन्होंने कथकली शिक्षक के तौर पर वर्ष 1947 में दर्पण एकेडमी में काम शुरू किया और मृणालिनी साराभाई की कंपनी में लंबे समय तक नेतृत्व किया।

कथकली के अन्य उल्लेखनीय नर्तक हैं कुदामलूर करुणानकरण नायर, गोपीनाथ, ममपुझा माधव पाणिक्कर, कलामण्डलम वासु पिशारोडी, ओयूर कोचूगोरू पिल्लई, चेनग्नौर रमन पिल्लई, मनकोनपू शिवशंकरा पिल्लई, कलामण्डलम राजीव एवं अन्य।

मोहिनीअट्टम

केरल के इस नृत्य की उत्पत्ति के सम्बंध में अधिक ज्ञात नहीं है। आमतौर पर यह माना जाता है कि 19वीं सदी के प्रारंभ में त्रावनकोर के महाराजा स्वाति तिरुनल के शासनकाल में इसका जन्म हुआ। इसके अधिकांश गीतों को स्वाति तिरुनल ने ही संगीत दिया है। मोहिनीअट्टम में भरतनाट्यम और कथकली दोनों के अंश पाए जाते हैं, जिसमें पहले का लालित्य और दूसरे का वीरत्व भाव होता है। कन्याएं ही इसका एकल प्रदर्शन करती हैं। भस्मासुर वध के लिए विष्णु द्वारा मोहिनीरूप धरने की कथा इसका प्रधान विषय है।

लगभग लुप्त हो चुके इस नृत्य को नारायण मेनन ने पुनर्जीवित किया। वह कल्याणी अम्मा को कलामंडलम में इस नृत्य की शिक्षा देने के लिए लाए। बाद में वैजयंतीमाला, शांता राव, रोशन वजीफ़दार, भारती शिवाजी, कनक रेले और हेमामालिनी जैसी नृत्यांगनाओं ने इसे अधिक लोकप्रिय बनाया।

मोहिनी अट्टम की एक अग्रणी पवर्तक, **सुनंदा नायर** इस शैली की उत्कृष्ट नर्तकी हैं। सुनंदा ने इसमें पेशेवर नर्तकी एवं नृत्य शिक्षिका दोनों के तौर पर काम किया। वह श्रुतिलया इंस्टीट्यूट ऑफ फाइन आर्ट्स, मुम्बई की संस्थापक निदेशक हैं जहां उन्होंने इसकी गहन शिक्षण प्रदान किया।

जयप्रदा मेनन मोहिनीअट्टम की एक संपूर्ण नर्तकी हैं। उन्होंने अपने नृत्य में परम्परागत अनुशासन के साथ मौलिकता का समन्वय किया है।

पल्लवी कृष्णन इस नृत्य के प्रोत्साहन एवं इसे जीवित रखने के लिए जानी जाती हैं। उनकी कौशलपूर्ण कोरियोग्राफी ने कई युवाओं को इस नृत्य शैली को अपनाने को प्रेरित किया है। 1955 में, पल्लवी कृष्णन ने त्रिशूर, केरल में लास्य एकेडमी ऑफ मोहिनीट्टम की स्थापना की।

गोपिका वर्मा इन्होंने मात्र 10 वर्ष की आयु में मोहिनीअट्टम नृत्य शैली सीखनी प्रारंभ कर दी थी।

विजयलक्ष्मी इनका जन्म परम्परागत कलाओं एवं नृत्य का अनुसरण करने वाले परिवार में हुआ। विजयलक्ष्मी को विभिन्न राष्ट्रीय एवं अंतरराष्ट्रीय नृत्य महोत्सवों में भाग लेने का अवसर मिला और उन्होंने 20 वर्षों में इस नृत्य को पूरे विश्व में फैलाया। उन्होंने गुरु भारती शिवाजी के साथ मिलकर *मोहिनीअट्टम पुस्तक लिखी।*

मणिपुरी

भारत की अन्य नृत्य शैलियों से भिन्न मणिपुरी नृत्य में भक्ति पर अधिक बल रहता है। इसकी उत्पत्ति भी पौराणिक मानी जाती है। वैष्णववाद के आगमन के बाद इसे अधिक विकसित किया गया।

इस नृत्य की आत्मा ढोल-पुंग है। इसमें कई 'कोलम' या नृत्य हैं पुंग कोलम, करताल कोलम, ढोल कोलम इत्यादि। रासलीला इसका अभिन्न अंग है। मणिपुरी नृत्य में ताण्डव और लास्य दोनों का समावेश रहता है। बंगाली, मैथिली, ब्रजभाषा और संस्कृत में इसके गीत जयदेव, चंडीदास एवं अन्यों ने लिखे हैं।

बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ तक मणिपुरी नृत्य अपनी प्रादेशिक सीमा पार नहीं कर पाया था। वर्ष 1920 में कविवर गुरु रवींद्र नाथ टैगोर ने इस लावण्यमय नृत्य से प्रभावित होकर एक दक्ष नर्तक को शिक्षक के रूप में अपने साथ शांतिनिकेतन ले आए। तभी से समस्त भारत में इसका प्रचार हुआ। झावेरी बहनों का इस पर आधिपत्य जैसा है नयना, सुवर्णा, रंजना और दर्शना। इनके अतिरिक्त चारू माथुर, साधोनी बोस, बिपिन सिंह ने भी इस नृत्य में महारत हासिल की है।

मणिपुरी नृत्य की वेशभूषा बड़ी ही आकर्षक होती है। इसमें मुद्राओं का सीमित प्रयोग है और इसके नर्तक घुंघरू नहीं बांधते हैं।

मणिपुरी नृत्य से बेहद घनिष्ठ रूप से झावेरी बहनों नयना, सुवर्णा, एवं दर्शना का नाम जुड़ा है जिन्होंने इस नृत्य शैली को लोकप्रिय बनाने में बेहद महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। इसके अतिरिक्त, चारू माथुर एवं साधोन बोस ने भी इस नृत्य शैली को ऊंचाई तक पहुंचाया।

कुछ अन्य मशहूर मणिपुरी नर्तक इस प्रकार हैं

गुरु विपिन सिंह को मणिपुरी नृत्य का अगुआ माना जाता है। उन्हें नवोन्मेषी नृत्य संरचना एवं कोरियोग्राफी के लिए अच्छी तरह जाना जाता है। उन्होंने परम्परागत मणिपुरी नृत्य शैली में एकल (सोलो) नृत्य प्रस्तुत किया। झावेरी

बहनें एवं कलावती देवी उनके जाने-माने शिष्यों में हैं। उन्होंने मुम्बई, कोलकाता एवं जयपुर में मणिपुरी नृतनालय की स्थापना की।

गुरु नीलेश्वर मुखर्जी मणिपुरी नृत्य में एक महत्वपूर्ण नाम है। उन्होंने इस नृत्य शैली को पूरे विश्व में लोकप्रिय बनाया।

राजकुमार सिंघजीत सिंह एवं उनके नृत्य समूह ने व्यापक रूप से कई देशों का भ्रमण किया। उन्होंने नई दिल्ली में एक नृत्य विद्यालय 'मणिपुरी नृत्याश्रम' की स्थापना की। उन्हें वर्ष 1986 में पद्मश्री सम्मान से नवाजा गया।

एक संपूर्ण नृत्यांगना **पोउशली चटर्जी** ने *कृष्णा लीला,* कालमृग्मा एवं *महर्षि भाग्यचंद्र* जैसे कई नृत्य-नाटिकाएं वर्ष 1996 में प्रस्तुत कीं। उन्होंने स्वयं का नृत्य प्रशिक्षण संस्थान 'नंदैनिक मणिपुरी डांस एकेडमी' खोली।

सोहिनी रॉय अपनी सोलो प्रस्तुतियों के लिए जानी जाती हैं। उन्होंने स्वयं की एक अलग मणिपुरी नृत्य शैली ईजाद की जिसमें बैले एवं जापानी नृत्य शैलियों जैसे नृत्य पहलू शामिल हैं।

कथक

उत्तर प्रदेश की धरती पर जन्में इस नृत्य की उत्पत्ति ब्रजभूमि की रासलीला से हुई है। 14वीं 15वीं सदी तक सभी भारतीय नृत्य, धर्म और मंदिरों से जुड़े हुए थे। कथक भी इसका अपवाद न था। इसका नाम 'कथिका' यानी कहानी कहने वाले, से निकला है, जो महाकाव्यों के प्रसंगों का वर्णन संगीत और मुद्राओं से किया करते थे। धीरे-धीरे यह नृत्य का रूप लेता गया। फिर भी इसके केंद्र में राधा-कृष्ण ही रहे। मुगल काल में इसका रूप दरबारी होता गया।

कथक की चर्चा घरानों के बिना अधूरी है। लखनऊ, जयपुर और रायगढ़ में से सबसे अधिक प्रसिद्ध लखनऊ घराना हुआ। कला-विलासी नवाब वाजिद अली शाह के शासन काल में यह लोकप्रियता के शिखर पर पहुंचा। नवाब साहब स्वयं ठाकुर प्रसाद से नृत्य सीखा करते थे। ठाकुर प्रसाद उत्तम नर्तक थे, जिन्होंने कथक नृत्य का प्रवर्तन किया। ठाकुर प्रसाद के तीन पुत्रों-बिन्दादिन महाराज, कालका प्रसाद, भैरों प्रसाद ने अपने पिता व पितामह की परम्परा को बनाए रखा। कालका प्रसाद के तीनों पुत्रों अच्छन महाराज, लच्छू महाराज व शम्भू महाराज ने भी कथक की पारिवारिक शैली को बनाए रखा। आज अच्छन महाराज के पुत्र बिरजू महाराज ने कथक को नई ऊंचाइयों तक ले जाने में कोई कसर नहीं छोड़ी है। लखनऊ घराने की विशेषता उसके नृत्य में भाव, अभिनय व रस की

प्रधानता है। दूसरी तरफ जयपुर घराने के नृत्य में जिसके प्रवर्तक भानुजी थे गति को अधिक महत्व दिया जाता है। रायगढ़ घराने का विकास राजा चक्रधर सिंह के संरक्षण में हुआ, जिन्होंने 'रागरत्न मंजूषा' और 'नर्तन सर्वस्व' जैसी पुस्तकें लिखीं।

कथक के जयपुर घराने की स्थापना मास्टर गिरधर ने की थी, उनके पुत्र हरिप्रसाद व हनुमान प्रसाद ने कत्थक नृत्य को ऊंचाइयों तक पहुंचाया। जयलाल, नारायण प्रसाद, सुंदर प्रसाद, मोहन लाल, चिरंजीलाल आदि ने इस घराने के (कत्थक जयपुर घराना) के प्रमुख कलाकार हुए हैं।

कथक की खास बात उसके पद संचालन एवं घूमने (घिरनी खाना) में है। इसमें घुटनों को नहीं मोड़ा जाता है। इसमें भारतीय और पारसी दोनों पोशाकें पहनी जाती हैं। इसके विषय ध्रुपद से तराना तक, ठुमरी और गजल की विविधता रखते हैं। एकल नृत्य 'गणेश वंदना' या 'सलामी' (मुगल शैली) से प्रारंभ होता है। फिर 'आमद' में नर्तक/नर्तकी मंच पर आते है। इसके बाद 'थाट' में धीमा नृत्य होता है। फिर 'तोड़ा', 'टुकड़ा' पर लययुक्त नृत्य किया जाता है। 'गात निकास' से प्रसंग का संक्षिप्त विवरण दिया जाता है। कथक में सबसे खूबसूरत बात यह होती है कि एक ही बोल को अलग-अलग भाव भंगिमाओं और हस्त संचालन से दिखाया जाता है। 'पधांत' में नर्तक बोल के साथ नृत्य करता है। अंत में 'क्रमाल्य या तटकार' है, जिसमें तीव्र गति से पद संचालन किया जाता है। एकल प्रदर्शनों के अतिरिक्त नृत्यनाटिकाओं का भी कथक शैली में मंचन किया जाता है। कुमुदिनी लखिया, बिरजू महाराज, अदिति मंगलदास इस शैली में प्रशंसनीय कार्य कर रहे हैं।

कथक के कुछ जाने-पहचाने नाम इस प्रकार हैं बिरजू महाराज, दुर्गालाल एवं देवी लाल, उमा शर्मा, शाश्वती सेन, गोपी कृष्ण, अलका नूपुर, रानी कर्णा, दमयंती जोशी, कुमुदिनी लखिया इत्यादि।

कथक के कुछ प्रसिद्ध व्यक्तित्वों का वर्णन इस प्रकार है

कार्तिक राम एवं कल्याण दास का जन्म वर्ष 1910 में बिलासपुर में एक गांव महनवरमल में हुआ था। शुरुआती दौर में उनको पंडित शिवनारायण ने प्रशिक्षित किया लेकिन बाद में श्री जयपाल, लच्छू महाराज एवं शंभु महाराज ने उन्हें प्रशिक्षण दिया। कार्तिक राम एवं कल्याण दास लोक नृत्यों में पारंगत थे, जिसने उनके कथक नृत्य को भी अधिक सृजनात्मक बनाया।

कथक नृत्य के हाल के बेहद प्रसिद्ध नर्तक **बिरजू महाराज** हैं। वे अच्छन महाराज के एकमात्र पुत्र और शिष्य थे। वह *लखनऊ घराना* जैसे प्रसिद्ध परिवार से ताल्लुक रखते हैं। वह अपनी कोरियोग्राफी के लिए जाने जाते हैं। उनकी परम्परागत थीम्स में बेबाक एवं बुद्धिमत्तापूर्ण संकलन काबिले तारीफ होती है। बिरजू महाराज ने *शतरंज के खिलाड़ी* जैसी फिल्मों में संगीत दिया, और गदर एवं देवदास (संजय लीला भंसाली की फिल्म) में नृत्य कोरियोग्राफ किया।

सितारा देवी की कथक प्रस्तुतियों में बनारस एवं लखनऊ परम्पराओं का मिश्रण है।

दमयंती जोशी कथक को इसके दरबारी शान के क्षेत्र से निकालकर सभी जगह इसकी उपस्थिति, सम्मान एवं गरिमा स्थापित करने में अगुआ थी। परम्परागत दरबारी नर्तक *अंगरखा* के साथ *चूड़ीदार पायजामा* और टोपी पहनते थे। दमयंती में ऐसी वेशभूषा यदा-कदा ही पहनी लेकिन उन्होंने अधिकांशतः *साड़ी* एवं *घाघरा* ही पहना और बाद में साड़ी उनकी मुख्य वेशभूषा बन गई। दमयंती ने लखनऊ घराने के तीनों भाइयों-अच्छन महाराज, लच्छू महाराज एवं शंभू महाराज से कथक सीखा। उन्होंने *जयपुर घराने* के गुरु गौरी शंकर से भी शिक्षा प्राप्त की। उन्होंने कथन की अपनी शैली उत्पन्न की। दमयंती अपने लाभकारी एवं भाव दोनों के लिए प्रसिद्ध थी। वह सरलता के साथ *पंच जाति ताल* पर नृत्य कर सकती थीं। वह अपने *सुर सुंदरी* एवं *अष्ट नृत्य* के संयोजन के लिए प्रसिद्ध थी।

उमा शर्मा को कथक में *जयपुर घराने के* गुरु हीरालाल जी एवं शिखर दयाल द्वारा लाया गया, और बाद में पंडित सुंदर प्रसाद, शंभु महाराज एवं बिरजू महाराज की शिष्या रहीं। उन्होंने भारत एवं विदेशों में व्यापक रूप से प्रस्तुति दी, और कथक में *भाव* की परम्परा को बनाए रखा।

सत्तरिया नृत्य

वर्ष 2000 में असम के सत्तरिया नृत्य को संगीत नाटक अकादमी द्वारा भारत के आठवें शास्त्रीय नृत्य के तौर पर मान्यता प्रदान की गई। अन्य सात शास्त्रीय नृत्य हैं भरतनाट्यम, कथकली, मोहिनीअट्टम, कुचिपुडी, ओडिसी, कथक, और मणिपुरी।

सत्तरिया नृत्य का उद्‌गम सोलहवीं शताब्दी में, जब इस क्षेत्र में शंकरदेव

(1449-1568) द्वारा वैष्णव आंदोलन पूरे उफान पर था, असम में स्थापित सत्तरस या वैष्णव मठों के व्यापक नेटवर्क में से हुआ। नाटककार और संगीतज्ञ और साथ ही साथ सामाजिक एवं धार्मिक सुधारक शंकरदेव ने कई गीतों और नृत्य-नाटकों को तैयार किया। मठों से बाहर आज सत्तरिया नृत्य को मुख्य रूप से लेट्टी समुदाय ने बचाकर रखा हुआ है।

सत्तरिया नृत्य के अंदर मुख्य नृत्य हैं *सूत्रधारी नाच, कृष्ण* और *राम नाच,* और *गोपी नाच*। सत्तरिया नृत्य के चरित्रों की अपनी विशेष वेश-भूषा है। नृत्य संगीत की धुनों के साथ होता है जिन्हें 'बोरगीत' कहा जाता है और जो शास्त्रीय रागों पर आधारित हैं। इसमें ढोलक, सिम्बल, और बांसुरी जैसे वाद्ययंत्रों का प्रयोग किया जाता है।

सत्तरिया नृत्य से सम्बद्ध मुख्य समूह हैं नरेन चंद्र बरुआ, और घनाकांत बोरा बोरबायन समूह।

छाउ

छाउ नृत्य है तो प्राचीन, लेकिन इसकी उत्पत्ति के संबंध में ज्ञात नहीं है। छाउ शब्द 'छाया' से लिया गया है और इससे 'मुखौटा' या 'छाया' का संकेत मिलता है। एक अन्य व्याख्या के अनुसार यह उरांव भाषा का देशी शब्द है और इसका प्रयोग युद्ध नृत्य के लिए होता था, न कि मुखौटा नृत्य के लिए। इसकी कई मुद्राएं परंपरागत युद्ध की मुद्राओं से मिलती हैं।

छाउ नृत्य की तीन धाराएं हैं सरइकला (बिहार, हालांकि पहले यह ओडिशा में था), मयूरभंज (ओडिशा) और पुरुलिया (प.बंगाल, हालांकि पहले बिहार में था)। सरइकला और पुरुलिया छाउ में ही मुखौटों का प्रयोग होता है। इस नृत्यानुष्ठान में पहले केवल पुरुष नर्तक ही भाग लेते थे, लेकिन बाद में महिलाओं ने भी नृत्य सीखना और दिखाना प्रारंभ कर दिया।

सरइकला के मुखौटे तथा छाउ की भंगिमाएं जापान, इंडोनेशिया एवं श्रीलंका की नृत्य शैलियों से मेल खाती है। प्राचीन काल में इन क्षेत्रों के सांस्कृतिक संबंधों का इससे पता चलता है।

छाउ नृत्य में नटराज शिव की अर्द्धनारीश्वर रूप में कल्पना की गई है। ढोल, करताल एवं गीत के साथ यह नृत्य-गीत-उत्सव फाल्गुन माह में तीन दिनों तक शिव मंदिरों में, तत्पश्चात् चार दिन तक स्थानीय राजा अथवा किसी धनी

के आंगन में अनुष्ठित होता है। यह नृत्यशैली प्राचीन शास्त्रानुसार भाव एवं रस तथा राग संगीत व ताल समन्वित और प्राचीन संस्कृत गाथाओं पर आधारित होती है। इसमें धार्मिक विषयों के अतिरिक्त प्राकृतिक विषय भी शामिल रहते हैं, जैसे 'शिकारी नृत्य', 'मयूरी नृत्य', 'फूल बसंत नृत्य' इत्यादि। ऐसा कहा जाता है कि छाउ को शास्त्रीय नृत्य का दर्जा दिलाने में राजा बिजय प्रताप का काफी योगदान रहा था।

लोक नृत्य

भारत में लोक संस्कृति की परम्परा इतनी समृद्ध रही है कि इनके बिना संस्कृति की चर्चा अधूरी रहेगी। लोक कला के सभी रूप स्वतः स्फूर्त, कदाचित अपरिष्कृत और आम लोगों के लिए होते हैं। यह किसी भी मायने में शास्त्रीय रूप से निम्न कोटि का नहीं है। इसकी सादगी में अद्भुत शक्ति है, जो बरबस लोगों को अपनी ओर खींचती है। लोक कला किसी स्थान विशेष या विशेष जनसमूह की सामूहिक सम्पदा होती है। इसके प्रवर्तकों को भुलाया जा सकता है, किंतु उनके द्वारा विकसित शैली युगों-युगों तक बनी रहती है। प्रारंभ में धर्म से जुड़ी लोक कलाएं लोकप्रिय मनोरंजन का साधन बनीं। भारत के हर क्षेत्र का अपना लोक नृत्य है।

सुदूर उत्तर में, **जम्मू व कश्मीर** में कई लोक नृत्य हैं। *दमाली* मंदिरों में किया जाने वाला ओजस्वी पुरुष नृत्य है। *रौ नृत्य* रमजान के महीने में और शरत् ऋतु में महिलाओं द्वारा किया जाता है। इसमें पाए जाने वाले गीत लोक साहित्य से लिए जाते हैं। *हिकित नृत्य* कुंवारियों द्वारा किया जाता है। कवियों ने इस नृत्य के लिए कई गीत लिखे हैं। लद्दाख अपने 'शैतान नृत्य' के लिए प्रसिद्ध है, जो 'ल्हापस' और 'मनिपस' लोगों द्वारा अनुष्ठित किया जाता है। यह किसी गोम्पा के प्रांगण में किया जाता है। पर्वतीय क्षेत्र में बुवाई के मौसम में 'कुद' नृत्य होता है, जब लोग बुवाई कर आराम कर रहे होते हैं। बांस से बने मोरनुमा ढांचे, जिसे छज्जा कहते हैं, के चारों तरफ युवक-युवतियों द्वारा डांडी नाच किया जाता है।

हरियाणा में भी कई लोकगीत एवं लोक नृत्य हैं। अधिकांश नृत्यों का संबंध बसंत और होली से होता है। *घूमर, फाग, खोरिया, धमाल* कुछ ऐसे ही नृत्य हैं, जो महिलाओं द्वारा किए जाते हैं। *डफ और चौरैया पुरुषों* के नृत्य हैं।

गुजरात में लोक नृत्यों की समृद्ध परम्परा रही है। *गरबा* और *रास* ऐसे ही नृत्य हैं। गरबा नृत्य नवरात्र के समय सितंबर-अक्टूबर में किया जाता है। गरबा से तात्पर्य छिद्र वाले मिट्टी के ऐसे पात्र से होता है, जिसमें दीपक जलाकर महिलाएं नृत्य करती हैं। *गरबी* भी कुछ ऐसा ही नृत्य है, लेकिन इसमें पदसंचालन थोड़ा भिन्न होता है और इसे पुरुष करते हैं। जेरियन और कुदनियन गरबी की भांति, वीरत्व व्यंजक नृत्य हैं, जिसे कृषक महिलाएं करती हैं। इसके गीत श्री कृष्ण के लिए होते हैं। नरसिंह मेहता, दयानंद और प्रेमानंद ने कई गरबी गीत लिखे हैं। धमाल एक रास नृत्य होता है, जिसमें छड़ियों का प्रयोग ठीक उसी प्रकार किया जाता है, जैसे तलवारबाजी में होता है। *गोफ* में किसी खम्भे से रंगीन लम्बे कपड़े बांध दिए जाते हैं और नृत्य करते हुए इस प्रकार घूमते हैं कि कपड़ों से एक रस्सी बन जाती है। *घेरैया रास* एक ऐसा नृत्य है, जिसमें नर्तक/नर्तकी के एक हाथ में छड़ी होती है और दूसरे हाथ में मोरपंख। उस छड़ी से सह-नर्तक/नर्तकी को स्पर्श कराते हुए आड़े-तिरछे रूप में घूमा जाता है।

महाराष्ट्र में उनका लोक रंगमंच *तमाशा* है। इसका मूल 'गाथा' में ढूंढ़ा जा सकता है, जिसमें प्रेम प्रसंग होते हैं और छेड़-छाड़ वाले दोहे कहे जाते हैं। मौलिक रूप से तमाशा में गीत एवं नृत्य होता था, लेकिन इसने पेशवा और अन्य मराठा सरदारों के काल में रंगमंचीय रूप धारण कर लिया। गाथा से ही

कुछ प्रमुख नृत्य

रेंगमा	नागालैंड
बांस नृत्य	कुकी नागा
जदूर	मयूरभंज के भूमिया
डगला	भील पुरुष
पाली	भील पुरुष एवं महिलाएं
चेरिया	बस्तर के मुरिया
सैला	बैगा पुरुष
तपाडी	बैगा महिलाएं
सरहुल	बिहार के उरांव
करमा	बिहार के कोल
माघा	छोटानागपुर की होस जनजाति
गोंचो	मध्य प्रदेश के गोंड

प्रसिद्ध *लावणी* को प्रेरणा मिली। लावणी विशेष प्रकार का उत्तेजक नृत्य होता है। महाराष्ट्र के अन्य प्रसिद्ध नृत्य *लेजिम* और *दहिकला* हैं।

संकीर्तन नृत्य मणिपुर राज्य का प्रमुख नृत्य है। यूनेस्को ने इस नृत्य को अमूर्त्त सांस्कृतिक विरासत की सूची में शामिल किया है। *'संकीर्तन'* वैष्णव लोगों के जीवन में धार्मिक अवसरों पर विभिन्न चरणों में प्रदर्शन किए जाने वाली नृत्य कला है। ढोल और गायन के माध्यम से नर्तक अक्सर श्रद्धालुओं के बीच एक उन्मादपूर्ण प्रतिक्रिया को उत्पन्न करते हैं। भक्ति गीत के माध्यम से कृष्ण के जीवन और उनके कार्यों को प्रदर्शित किया जाता है।

संकीर्तन का प्रदर्शन सार्वजनिक उत्सवों और धार्मिक अवसरों पर किया जाता है, जो वैष्णव समुदाय को मानने वालों के बीच एकजुटता को बढ़ावा देता है। यह व्यक्तिगत जीवन में भी अनुष्ठानों के उपलक्ष्य में किया जाता है। पूरा समुदाय अपने विशिष्ट ज्ञान और पारम्परिक रूप से शिष्य को गुरू से प्रेषित कौशल के माध्यम से संकीर्तन की सुरक्षा करने के लिए प्रयासरत है।

संकीर्तन को मंदिरों में कलाकारों द्वारा गीत और नृत्य के माध्यम से कृष्ण के जीवन की लीलाओं को प्रस्तुत किया जाता है। सौंदर्य और धार्मिक ऊर्जा की गरिमा की प्रवाह अद्वितीय होती है। इसमें भगवान को दृश्य अभिव्यक्ति के रूप में माना गया है।

मणिपुर का *संकीर्तन* लोंगों के साथ जैविक संबंध को बढ़ावा देने की एक जीवंत प्रथा है। संकीर्तन प्राकृतिक दुनिया के साथ सामंजस्य स्थापित करने का कार्य करता है, जिसे कई अनुष्ठानों के माध्यम से स्वीकार किया गया है। सामाजिक समर्थन द्वारा तत्व की व्यवहार्यता को सदियों से कला के माध्यम से जीवित रखा गया है या संरक्षक के रूप में इसे संरक्षित रखने में अपना योगदान दे रहा है। *राज्य भाग्यचंद्र,* जिन्होंने *नाहा संकीर्तन* की कल्पना की थी, स्वयं एक महान कलाकार थे। अमूर्त्त सांस्कृतिक बिरासत प्रथाओं और पीढ़ियों के भावों को दर्शाता है। ये परम्पराएं लगातार अपने समुदायों द्वारा जीवित रखे जाते हैं, ताकि प्रकृति और इतिहास के साथ उनका रिश्ता कायम रह सके।

राजस्थान के लोकनृत्य भी बड़े जीवंत और मस्ती भरे होते हैं। *झूमर या गनगौर* इनमें सर्वाधिक विख्यात है। अन्य नृत्यों में *सुसिनी, झूलन लीला* और *गोपिका लीला* प्रमुख हैं।

हिमाचल प्रदेश में दशहरे जैसे त्यौहारों में विशेष नृत्य किये जाते हैं। गद्दी गड़ेरिनें *चरबा* नृत्य करती हैं। अन्य त्यौहारों एवं बसंत में किए जाने वाले नृत्य हैं *महासू थाली, नाटी, जद्दा* और *जैंता*।

पंजाब का भंगड़ा बड़ा ही मस्त नृत्य होता है। ढोल बजाते हुए मस्त धुनों पर खुलकर नृत्य किया जाता है। अच्छी फसल होने पर खुशी का इजहार करने का यह सबसे जोशीला माध्यम है। महिलाएं उतनी ही मस्ती और शोखी से *गिद्धा* करती हैं।

उत्तर प्रदेश की रासलीला लोकनृत्यों में अपना विशेष महत्व रखती हैं। भगवान श्री कृष्ण की लीलाओं पर आधारित यह नृत्य लोक संस्कृति का उदात्त रूप है। *कजरी* और *करन* फसलों की कटाई से जुड़े हैं। कुमाऊं क्षेत्र में पुरुष दशहरे के उत्सव पर नृत्य करते हैं। झोरा नृत्य में पुरुष और स्त्री दोनों शामिल होते हैं।

बंगाल का *काठी नृत्य* काफी प्रसिद्ध है। बाउल नृत्य का अपना ही महत्व है। बौद्ध धर्म का प्रभाव कम होने के पश्चात् योगी पुरुषों के आदर्श से एक सहजिया सम्प्रदाय का जन्म हुआ, जो बाउल के नाम से जाना जाता है। ये लोग घुंघरू बांध कर और हाथ में एकतारा या गोपीयंत्र लेकर नृत्य करते हुए गाते हैं।

असम में *बैशाखी बीहू, खेल गोपाल, तबल चोंगबी* और बिहार में *जट-जटिन* नृत्य किया जाता है।

दक्षिण भारत में लोक नृत्यों का अपना ही रूप है। **तमिलनाडु** में कन्याओं द्वारा छड़ी के साथ किया जाने वाला *'कोलट्टम'* नृत्य गुजरात के गरबा जैसा है। एक अन्य नृत्य पिन्नल *कोलट्टम* है। *कुम्मी* नृत्य महिलाएं करती हैं, जो वृताकार रूप में ताली बजाते हुए आगे बढ़ती हैं। *करगम नृत्य* में महिलाएं सजे हुए कलश सिर पर रखकर उनका संतुलन बनाते हुए नृत्य करती हैं। *कावडी* एक अन्य धार्मिक नृत्य है। **आंध्र प्रदेश** में *घंटा मरडला* एक सुंदर लोक नृत्य है। **केरल** में ओणम के अवसर पर कन्याएं व महिलाएं कई *कोट्टिकली नृत्य* करती हैं। *एरूकली* और *तट्टमकली* पुरुषों द्वारा मंदिरों में किए जाने वाले नृत्य हैं।

आधुनिक नृत्य

जब हम आधुनिक नृत्य की बात करते हैं तो हमारा तात्पर्य परंपरागत शास्त्रीय नृत्य के बंधनों से मुक्त एक ऐसे नृत्य से होता है, जिसमें नये विषयों व मुद्राओं पर आधारित और प्रौद्योगिक विकास से उपलब्ध ध्वनि एवं प्रकाश द्वारा समर्पित नया संयोजन होता है। आधुनिक नृत्य का नाम आते ही उदयशंकर का चेहरा सामने आता है। इन्होंने शास्त्रीय और पाश्चात्य नृत्य के मेल से अपनी शैली का एक अनोखा नृत्य विकसित किया है। अल्मोड़ा स्थित उनके संस्कृति केंद्र में कई प्रशिक्षु हैं। शांति बर्धान और सचिन शंकर तथा अमला शंकर ने भी आधुनिक नृत्य में कई प्रयोग किए हैं। उदय एवं अमला शंकर के पुत्र आनंदा शंकर ने प्राच्य और पाश्चात्य संगीत के संयोजन से और मुक्त सहज मुद्राओं से आधुनिक नृत्य के क्षेत्र में उल्लेखनीय योगदान दिया है।

इनके अतिरिक्त अन्ना पवलोवा का योगदान कैसे भुलाया जा सकता है। उनके और उदय शंकर द्वारा अभिनीत राधा कृष्ण और अजंता फ्रेस्को के युगल नृत्यों ने भारतीय नृत्य और पहनावे की ओर सबका ध्यान आकर्षित किया है।

अध्याय-5

रंगमंच

संस्कृति को चाहे हम किसी भी रूप में परिभाषित करें, इतना तो निर्विवाद है कि यदि वह एक ओर मनुष्य के जीवन-संघर्ष से जुड़ी हुई है तो दूसरी ओर उसकी क्रीड़ा और मनोरंजन की आवश्यकता व प्रवृत्ति से। संभवतः इस संघर्ष के दौरान उसकी जरूरतों को पूरा करने के लिए या इसमें विजयी होकर उसकी खुशी और उल्लास व्यक्त करने के लिए या संघर्ष की तीव्रता में कमी आने से कुछ चैन मिलने पर उस अवकाश में कुछ दिल बहलाने के लिए वे भौतिक उपकरण और पदार्थ, बौद्धिक और आध्यात्मिक मूल्य रचे गए होंगे, जिनकी समग्रता को संस्कृति कहा जाता है।

इसलिए यह अचरज की बात नहीं है कि संस्कृति आज भी समुदाय के मनोरंजन की पद्धतियों व उपायों से अभिन्न रूप में जुड़ी हुई है। यह बात निरपवाद रूप से सभी कलाओं के लिए सच है, विशेष रूप से रंगकला (नाटक) के लिए इसका महत्व प्राथमिक और बुनियादी है।

हमारे देश में प्राचीन काल से ही रंगकला जीवन का अभिन्न अंग थी, ऐसा प्रमाण हमें गुफाओं की चित्रकला व आरेखों से मिलता है। यद्यपि भारतीय रंगमच की शुरुआत के बारे में सटीक व समयबद्ध प्रमाण तो नहीं हैं, किंतु इतना अवश्य निश्चित है कि किसी न किसी रूप में नाटक मौजूद था। मध्य प्रदेश की रायगढ़ पहाड़ी की सीतावंगा और जोगीमारा गुफाओं के बारे में कहा जाता है कि वे प्राचीन रंगशाला का कोई प्रकार प्रस्तुत करती हैं, किंतु संभवतः वे नृत्य, गान अथवा काव्यपाठ के लिए प्रयुक्त होती थी, नियमित नाट्य प्रदर्शन के लिए नहीं। फिर भी लगभग 5000 वर्ष पूर्व बनी ऐसी रंगशालाओं से रंगकर्म की किसी भी रूप में विद्यमानता प्रमाणित तो होती ही है। सिंधु घाटी सभ्यता में भी नाट्यकर्म रहा होगा, एक मुद्रा पर ढोल बजाते एक युवक और बाघ का भेष बनाए एक युवक की आकृति से ऐसा लगता है। वैदिक काल में भी हमें लोगों के नाटकों

के प्रति रुझान का पता चलता है। वैदिक काल के अनुष्ठानों में भी नाटकीयता का रूप मिलता है। कालक्रम में नाटक या रंगकर्म एक स्वतंत्र विद्या के रूप में विकसित हुआ होगा।

भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में नाटक से सम्बंधित कुछ दिशानिर्देश दिए गए हैं। कुछ ऐसे कार्य थे, जो मंच पर नहीं किए जाने चाहिए जैसे नहाना, शृंगार करना, सोना, चुंबन या आलिंगन करना, जलक्रीड़ा करना या अन्य कोई अशोभनीय कृत्य। मृत्यु दिखाने की भी वर्जना थी। हिंसक युद्धों से भी बचा जाता था। संभव है, गलत दिशा में बढ़ रहे रंगकर्म को सुधारने के लिए ये बंधन लगाए गए होंगे। फिर भी, लोक नाट्य परंपरा आगे बढ़ती रही। चाहे वह बुद्ध के नियमों का पाश हो या सम्राट अशोक की मनाही, नाट्यकर्म चलता रहा। इसी परंपरा से शास्त्रीय संस्कृत नाट्य परंपरा विकसित हुई।

संस्कृत रंगमंच

संस्कृत रंगमंच जिसे क्लासिकल थियेटर का नाम दिया गया, की शुरुआत या विकास कैसे हुआ, इस विषय में कुछ ठोस तो नहीं कहा जा सकता, लेकिन परंपरागत व्याख्या यही कहती है कि इंद्र देवता को प्रसन्न करने के लिए नाटक अवश्य खेले गए होंगे। कुछ विद्वानों ने इसे यूनानी प्रभाव माना है और 'यवनिका' से यवनों का संबंध बताते हुए उन्हीं के सम्पर्क व संसर्ग से इसे विकसित हुआ माना है। यवनों को मनोरंजन के रूप में नाटक प्रिय थे और संभवतः उत्तर-पश्चिम भारत के ग्रीको-वैक्ट्रियन राजाओं ने अपने दरबार में कुछ नाटक अवश्य देखे होंगे। इन्हीं से प्रेरणा पाकर अज्ञात कवियों ने तत्कालीन रंगमंच की विधा को एक शास्त्रीय कला के रूप में विकसित किया होगा।

कुछ विद्वानों का मत है कि भारतीय रंगकर्म की शुरुआत यूनानियों से प्रेरित होकर नहीं हुई, बल्कि नाटक हमारे यहां पहले से मौजूद थे और यह संभव है कि उनकी कुछ बातें हमने अपनाई होंगी। कुशीलावा नामक अभिनेताओं के दल द्वारा रामायण जैसे महाकाव्य को गीतों के रूप में एवं महाभारत को सूत्रधारों द्वारा नाट्य रूप में प्रस्तुत किया जाता था। यही संस्कृत रंगमंच के लिए प्रेरणास्रोत बना। भास ने अपने नाटकों के विषय इन महाकाव्यों से ही चुनें। प्राकृत भाषा में लिखा गया 'उपरूपुक' नाटक संभवतः किसी विशेष या उत्सव के मौके पर आम लोगों के सामने खेला जाता था।

अश्वघोष द्वारा लिखी गईं लघु नाटिकाओं को सबसे पुराना माना जाता है। भास ने ही संपूर्ण नाटक लिखे, जो हमारे पास उपलब्ध हैं हालांकि विद्वान इस बारे में एकमत नहीं हैं कि भास के नाटक पुराने हैं या कालिदास के। प्राचीन नाटककारों में भास, कालिदास, शूद्रक, विशाखदत्त, भवभूति इत्यादि हैं। ऐसा माना जाता है कि भवभूति के बाद (आठवीं सदी का प्रारंभ) संस्कृत नाटकों में गुणात्मक कमी आती गई।

जितने भी संस्कृत नाटक आज हमारे पास उपलब्ध हैं, उनकी विषय-वस्तु और स्वरूप में काफी विविधता है एकांकी से लेकर दस अंक वाले लम्बे नाटक। सामान्य रूप से नाटक राजप्रसादों, धनाढ्य व्यक्तियों के घरों, मंदिर के प्रांगण इत्यादि जैसे स्थानों पर विशेष अवसर पर खेले जाते थे। भरतमुनि ने नाट्य शास्त्र में तीन किस्म की रंगशालाओं का उल्लेख किया है और उन्हें बनाने की विधि बताई है। रंगशाला के तीन भाग होते हैं सभागार यानी बैठने की जगह, मंच और नेपथ्य। मंच और नेपथ्य के बीच एक पर्दा होता है। इसी के पीछे से अभिनेता/अभिनेत्री मंच पर प्रवेश करते थे। नाटक का मंचन बिना किसी मंच सज्जा के किया जाता था और कम से कम सामान प्रयोग में लाया जाता था। अभिनय करने वाले अपनी भाषा, अपने हाव-भाव से ही वातावरण और परिस्थिति का वर्णन करते थे। वस्त्राभूषण और सजना-संवरना भूमिका को देखते हुए किया जाता था, ताकि पात्र आसानी से पहचाने जा सकें। अधिकांश नाटकों में एक नायक, एक नायिका और एक खलनायक होता था। विदूषक, जो हंसाता था, की भूमिका भी अनिवार्य मानी जाती थी।

आमतौर पर नाटक का प्रारंभ मंगल गीत से होता था। फिर पात्रों या सूत्रधार के संवाद सुनने एवं देखने को मिलते थे। सूत्रधार नाटक के बारे में बताता था। नाटकों में कई सालों की गाथा और लम्बी दूरी की घटनाएं दिखाई जाती थीं। हिंसा और मृत्यु मंच पर नहीं दिखाई जाती थीं अपवाद के रूप में भास का 'उरूभंगम' है, जिसमें दुर्योधन को मरते हुए दिखाया गया है। नाटक के अंत में पात्र दर्शकों के प्रति आभार प्रकट करते थे।

भारतीय नाटकों में सुखांत ही देखने को मिलता था। दुखांत नाटकों से बचा जाता था यद्यपि करुण दृश्यों का मंचन नाटकों में अक्सर होता था। स्त्री और पुरुष दोनों अभिनय करते थे।

प्राचीनकाल के नाटककार

भासः विद्वानों ने ईसा पूर्व चौथी सदी और ईसा पश्चात् दसवीं सदी के बीच भास का समय माना है। वह उत्तरी भारत में रहते थे और उन्होंने महाभारत एवं रामायण से विषय लेकर अनेक नाटकों की रचना की।

'मध्यमव्यययोग' नामक एकांकी में भीम अपने ही पुत्र घटोत्कच से लड़ बैठते हैं। घटोत्कच को भी भीम के बारे में ज्ञात नहीं था। भीम ने एक ऐसे ब्राह्मण परिवार को बचाना चाहा था, जिसे घटोत्कच वध हेतु अपनी माता हिडिम्बा के पास ले जाना चाहता था। जब ब्राह्मण परिवार के बदले भीम स्वयं हिडिम्बा के पास जाते हैं तो हिडिम्बा उन्हें पहचानते हुए घटोत्कच को बताती है कि ये उसके पिता हैं और फिर परिवार का मिलन होता है।

'उरूभंगम' में महाभारत युद्ध के दौरान भीम द्वारा दुर्योधन की जंघा तोड़ने पर हुई उसकी मृत्यु दर्शाई गई है। संस्कृत नाटकों में एकमात्र यही दुखांत नाटक माना जाता है। पांचों पांडव पुत्रों की सोते हुए अश्वत्थामा द्वारा की गई हत्या इसे और नाटकीय बनाती है।

'प्रतिजन्य यौगंधरायण' और 'स्वप्नवासवदत्ता' उदयन नामक व्यक्ति की कथाओं पर आधारित हैं। हाथी का शिकार करते हुए उदयन को उज्जैनी के राजा बंदी बना लेते हैं। राजकुमारी वासवदत्ता को वीणा सिखाते हुए उदयन को उससे प्रेम हो जाता है। उदयन का मंत्री यौगंधरायण उन्हें भागने में सहायता करता है। अंत में इसका सुखद परिणाम ही सामने आता है, क्योंकि उज्जैनी के राजा दोनों के विवाह पर राजी हो जाते हैं।

'स्वप्नवासवदत्ता' में राजनीतिक मजबूरियों के तहत् यौगंधरायण यह अफवाह उड़ाता है कि अग्नि में जलकर वासवदत्ता की मृत्यु हो गई है, ताकि उदयन मगध की राजकुमारी पद्मावती से विवाह कर ले। विवाह के पश्चात् ऐसी परिस्थितियां पैदा होती हैं कि उदयन नींद में बोलता है और वासवदत्ता (जो उस समय पद्मावती की कैद में होती है और उसे, वासवदत्ता कौन है, यह ज्ञात नहीं होता) उसके प्रश्नों का उत्तर देती है। जागने पर उदयन भ्रम की स्थिति में होता है। बाद में सभी बातों का खुलासा होता है और दोनों प्रेमी मिल जाते हैं।

कालिदासः संस्कृत के सबसे प्रसिद्ध कवि और नाटककार कालिदास के बारे में भी बहुत कुछ ज्ञात नहीं है। सामान्यतः उनका समय चौथी और पांचवीं सदी के बीच रखा जाता है। कुछ विद्वानों का मानना है कि वह उज्जैनी के राजा विक्रमादित्य के दरबारी कवि थे और उनके दरबार के नवरत्नों में से एक थे। जनश्रुतियों के अनुसार कालिदास गंवार और अनपढ़ थे। काली की कृपा से वह विद्वान कवि बने। उन्होंने कई काव्य लिखे। रघुवंशम्, ऋतुसंहार, कुमारसंभव, मेघदूत। तीन नाटक भी इन्होंने लिखे मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशीयम और अभिज्ञान शाकुंतलम्। मालविकाग्नि मित्र प्रणय कौमुदी नाटक है, जिसमें विदर्भ की राजकुमारी मालविका और राजा अग्निमित्र का प्रेम दिखाया गया है। इसमें विदूषक की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। विक्रमोर्वशीयम में अप्सरा उर्वशी और राजा पुरुरवा की प्रेमकथा दिखाई गई है। अभिज्ञान शाकुंतलम् को उनकी सर्वश्रेष्ठ नाट्यकृति माना जाता है। इसमें दिखाया जाता है कि किस प्रकार राजा दुष्यंत और शकुंतला मिलते हैं, उनमें प्रेम होता है, विवाह होता है, कैसे अंगूठी खो जाती है और राजा शकुंतला को भूल जाते हैं, फिर अंगूठी मछली के पेट से एक मछुआरे को मिलती है, वह राजा को देता है और फिर उनकी याददाश्त लौट आती है तथा दुष्यंत एवं शकुंतला का मिलन होता है। प्रेम में मिलना, बिछड़ना और दुःख झेलना तथा फिर मिलना इस नाटक को अविस्मरणीय बना देता है।

शूद्रकः शूद्रक कौन थे, इसकी जानकारी उपलब्ध नहीं है, किंतु मृच्छकटिक की प्रस्तावना में ऐसे संकेत मिलते हैं कि वह एक राजा थे जिन्हें वैदिक साहित्य, गणित एवं नाट्य शास्त्र का अच्छा ज्ञान था। भास के अधूरे नाटक 'चारूदत्त' के चार अंकों को लेकर, उनमें मामूली परिवर्तन कर और छह अन्य अंक जोड़कर उन्होंने मृच्छकटिक (मिट्टी की छोटी गाड़ी) की रचना की। इसमें एक खूबसूरत व सुबोध गणिका वसंतसेना तथा एक गरीब ब्राह्मण चारूदत्त का प्रेम दर्शाया गया है। राजनीतिक उथल-पुथल का एक छोटा सा अंश भी इसमें जोड़ा गया है। इसके सभी पात्र उल्लेखनीय हैं बहुत कम समय के लिए भी आए पात्र को एक अलग ही चरित्र दिया गया है, जो याद रहता है।

विशाखदत्तः संभवतः छठी सदी के विशाखदत्त राजनीति से जुड़े विषयों के नाटककार थे। उनके एकमात्र बचे हुए नाटक 'मुद्राराक्षस' में नंद शासकों के आखिरी शासक के मंत्री राक्षस के षड्यंत्रों को नाकाम करते हुए चाणक्य

की योजनाएं दिखाई गई हैं, जिनकी सहायता से चंद्रगुप्त गद्दी पर बैठता है। कथानक को बहुत ही खूबसूरती से तैयार किया गया है। इसमें एक दृश्य ऐसा आता है, जब आखिरी क्षण में एक मुख्य पात्र को मरने से बचा लिया जाता है। चंद्रगुप्त द्वितीय के सत्तारूढ़ होने के बारे में लिखे गये 'देवी चंद्रगुप्त' नाटक के कुछ अंश ही उपलब्ध हैं।

हर्षः कन्नौज के शासक हर्षवर्धन ने तीन नाटक लिखे हैं। 'रत्नावली' में राजा उदयन और उसके अंतःपुर में भेष बदलकर रहने वाली राजकुमारी रत्नावली का प्रेम दिखाया गया है। 'प्रियदर्शिका' में भी राजा उदयन का ही प्रेम प्रसंग है। 'नागनंद' में राजकुमार जिमुतावाहन को गरुड़ के समक्ष सर्पों की बलि रोकने के लिए स्वयं की बलि देते हुए दर्शाया गया है।

महेंद्रविक्रमनः हर्षवर्धन के समकालीन पल्लव राजा महेंद्रवर्मन ने 'मत्तविलास' नामक प्रहसन लिखा था। इसमें तत्कालीन समाज के जीवन और विभिन्न धर्मों में आए गिराव पर व्यंग्य किया गया है।

भवभूतिः कालिदास के बाद विद्वता में शीर्ष स्थान रखने वाले भवभूति कान्यकुब्ज में रहते थे और इन्हीं के बाद कमोबेश संस्कृत नाटकों के नाटककार नहीं हुए। इनके 'महावीरचरित' और 'उत्तररामचरित' राम कथा पर आधारित हैं। पहले में राम के विवाह से लेकर राज्याभिषेक तक की कहानी है और दूसरे में सीता वनगमन से लेकर वाल्मिकी की कुटिया में सीता से राम के पुनर्मिलन की कथा है। इसमें बड़ा ही कारुणिक वर्णन है। 'मालती-माधव' दो ऐसे युवा प्रेमियों की गाथा है, जो एक बौद्ध भिक्षुणी कमनदकी की चतुराई से ही मिल पाते हैं। तंत्र-मंत्र की इसमें प्रधानता है। भवभूति ने अपने नाटकों में अन्य नाटककारों की भांति विदूषक की भूमिका नहीं रखी है।

लोक रंगमंच

भारतीय नाट्य के निर्माण में वेदोत्तर साहित्यिक अवधि एक महत्वपूर्ण चरण है। संवाद-प्रधान संरचनाओं, वाचकों के समूचे वर्ग द्वारा उनके वाचन की परम्परा तथा अनेक शैलियों में उनका प्रदर्शन, भारतीय नाट्य के निर्माण एवं विकास में महाकाव्यों के महत्वपूर्ण योगदान की ओर इंगित करते हैं। महाकाव्यों ने न केवल भारतीय प्रदर्शन परम्परा को समृद्ध किया है, वरन् हमारे देश को एक सुनिश्चित प्रदर्शन संस्कृति प्रदान की है। महाकाव्यों के मौखिक प्रसारण ने उनकी

वाचन परम्परा को बढ़ाया है। सामान्य विवरणों में संवादों का समावेश और महाकाव्यों में सूक्तियों एवं टेक से स्पष्टतः पता चलता है कि उनके प्रसारण की मौखिक परम्परा अवश्य रही होगी। वैसे भी भारतीय संस्कृति अनिवार्य रूप से मौखिक परम्परा से ही उपजी है, और आज भी यह परम्परा वैसी ही सशक्त एवं व्यापक है।

प्रदर्शन परम्परा महाकाव्य जितनी ही पुरानी और सबसे समृद्ध एवं विविधतापूर्ण भी है। इसमें साहित्यिक एवं मौखिक दोनों ही परम्पराओं से कथा तत्व एवं मूलपाठ विषयक-सामग्री ली जाती है, और यह साहित्यक परम्परा के रूप एवं संरचनाओं को भी प्रमाणित करती है। साहित्यिक एवं मौखिक के साथ ही महाकाव्यों की प्रदर्शन परंपरा को चित्र परंपरा के परिप्रेक्ष्य में भी देखा जाना चाहिए। इससे दोनों ही परम्पराओं के कलात्मक पक्ष और परिपाटियों को समझने की दृष्टि मिलती है। यह भी गौरतलब है कि वे कथांश जो प्रदर्शन परम्परा में अपनी नाटकीयता के कारण लोकप्रिय रहे, उन्हीं की ओर मूर्तिकार, चित्रकार एवं कारीगरों का ध्यान भी आकर्षित हुआ और सभी ने उनकी अभिव्यक्ति नाटकीय दृष्टि से की है।

महाकाव्यों की प्रदर्शन परम्परा प्राचीनतम है और कलात्मक मूल्यों में सबसे संपन्न भी। इसमें साहित्यिक परम्परा से काव्यात्मक सामग्री का और मौखिक परम्परा से महाकाव्यात्मक पात्रों की नई संकल्पना और कथांशों की विभिन्नता का भी उपयोग किया जाता है। महाकाव्य के लिए जिन विभिन्न शैलियों का प्रयोग किया जाता है वे हैं उपाख्यान शैली, गल्प शैली, दार्शनिक एवं आध्यात्मिक उपदेश की संवाद शैली, प्रश्नोत्तर शैली, नीतिपरक शैली एवं स्त्रोत्र शैली। ये सभी शैलियां मौखिक परम्परा की महाकाव्यात्मक शैली की विशेषताएं हैं। रामायण एवं महाभारत दोनों ही महाकाव्यों को निरूपित करने वाले अधिकतर पारम्परिक नाटकों में जिनका विकास पंद्रहवीं और सोलहवीं शताब्दी के दौरान मंदिर में अथवा उसके आस-पास हुआ, कथानक को विकसित अथवा स्पष्ट करने के लिए प्रमुखतः इन्हीं शैलियों का प्रयोग किया गया है।

10वीं शताब्दी में उत्तर भारत में संस्कृत की क्लासिकी परम्परा के समाप्त हो जाने के बाद दक्षिण भारत में प्रदर्शन परम्परा का पुनरुज्जीवन हुआ। सबसे पहले वह केरल के कुट्टिअट्टम में प्रकट हुआ जो अब संस्कृत नाटक का अकेला

बचा हुआ रूप है। कुटिअट्टम के प्रदर्शन विशाल मंदिरों में होने लगे और इसके लिए विशेष प्रकार के कूतम्बलम नाट्यगृह बनाए गए। कुटिअट्टम को राजाओं का प्रोत्साहन मिला। बाद में केरल में ही कृष्णाट्टम और कथकली का विकास 16वीं शताब्दी में हुआ। कृष्णाट्टम मानदेव की रचना कृष्णगीति पर आधारित कृष्ण के जीवन चरित्र पर आठ शृंखला-नाटकों का नाट्य रूप है। कृष्णाट्टम के प्रदर्शन गुरुवायुर के विशाल विष्णु मंदिर में होने लगे। 17वीं शताब्दी से कथकलि का विकास हुआ और उसे भी राजाओं और मंदिर का प्रोत्साहन मिला। 17वीं शताब्दी में ही कर्नाटक में यक्षगान नाट्य रूप विकसित हुआ जिसमें दोनों महाकाव्यों रामायण और महाभारत की कथाएं प्रदर्शित की जाने लगीं। इन सभी विकसित नाट्यरूपों में गायन और कथावाचन के तत्व प्रमुख थे जो भारतीय नाट्य परम्परा के बीज रूप हैं।

भारत में लोक रंगमंच की बहुलता और विविधता यहां के लोगों में विद्यमान कला की समझ की ही द्योतक है। पौराणिक कथाओं और किंवदंतियों में गीत और नृत्य के मेल से बने हर क्षेत्र का अपना रंगमंच है। शास्त्रीय रंगकर्म की ही भांति लोक रंग की उत्पत्ति वैदिक मंत्रोच्चार से जुड़ी है। हां, इतना अवश्य रहा कि किसी एक की वजह से दूसरे का विकास नहीं रुका। चूंकि प्रारंभ में हर बात धर्म से जुड़ी थी, इसलिए रंगकर्म भी धार्मिक अनुष्ठान जैसा था। कालांतर में यह समाज की अन्य गतिविधियों से भी सूत्रबद्ध हुआ। हमारी सांस्कृतिक परंपरा का अनिवार्य अंग बन चुका लोक रंगमंच समाज व राजनीति में आए समस्त परिवर्तनों के बावजूद बना रहा और उल्लास व उमंग के विविध रंग बिखेरता रहा। यह स्वतः स्फूर्त है यद्यपि कभी-कभी यह अपरिष्कृत भी लगता है। यह सरल तो है ही साथ ही गूढ़ भी हैं।

देश के विभिन्न प्रदेशों में महाकाव्यों की मौखिक परम्परा में कथावाचन एवं पाठ के तत्वों पर जोर देने वाले अनेक रूप प्रचलित हैं। मणिपुर का **वारिलीबा, असम का ओझा पाली,** ओडिशा का **पाला,** मध्य प्रदेश का पांडवानी, गुजरात का आख्यान मौखिक परम्परा के ऐसे गाथा-गीत हैं जिनमें महाकाव्यों का प्रदर्शन होता है। अधिकतर स्वरूपों में कथा और पाठात्मक सामग्री अनेक स्रोतों और कई भाषाओं से ली जाती है। अभिनेता की प्रतिभा, कथावाचन की कुशलता, चुनी हुई काव्य सामग्री के व्यवस्थापन और कथा के विभिन्न तत्वों को कथात्मक एवं टिप्पणीयुक्त गद्य के आशु उपयोग में प्रकट होती है।

मध्य प्रदेश का **पांडवानी** जो महाभारत कथा पर आधारित है, विविध रूपबंधीय प्रदर्शन रूप है। पांडवानी गायक अपने एकतारे को रंगमंचीय सामग्री की तरह प्रयोग करते हुए समुचित भंगिमाओं, शारीरिक चेष्टाओं और मौखिक भावों द्वारा अनेक क्रिया व्यापारों का बोध कराता है जैसे रथ, सवारी, अथवा धनुष-बाण उठाना और युद्ध करना। वारिलीबा का वाचक वाचन की अत्यंत नाटकीय एवं जटिल संयोजना तथा मूकाभिनय से युक्त टिप्पणी प्रस्तुत करता है।

केरल के **कथकलि** एवं कर्नाटक के **यक्षगान** जैसे विकसित रूपों में महाकाव्यों की प्रस्तुति होती है। तमिलनाडु के **तेरूकुत्तु** में महाभारत के 18 दिन के युद्ध का समूचा प्रदर्शन, युद्ध के अंतिम दिन तक, दस दिनों में किया जाता है। महाकाव्यों का अभिनय उत्तर भारत के संगीत रूपकों जैसे **स्वांग, ख्याल** एवं **नौटंकी** में भी होता है। ये प्रदर्शन रूप 18-19वीं शताब्दी में गाथा-गीतों की गायन शैली से विकसित हुए और उनका स्वरूप (बैले ऑपेरा) अथवा गाथा-संगीतिका का है। उत्तर भारत के संगीत रूपकों जैसे उत्तर प्रदेश की **नौटंकी** जिसे संगीत भी कहते हैं, हरियाणा और पंजाब के **स्वांग,** मध्य प्रदेश के **माच** और राजस्थान के **ख्याल** में प्रदर्शन के व्यवहार एक समान हैं। नौटंकी के प्रमुख छंद हैं **लावनी**, **चौबोला** और **बहरतबील** दो डंडियों द्वारा बजते नक्कारे की धुन पर गाया जाता उसका संगीत अत्यंत नाटकीय होता है। 1938 के बाद से व्यावसायिक अभिनेत्रियों के आ जाने से नौटंकी अपनी जैसे दूसरे प्रदर्शन रूपों से अधिक लोकप्रिय हो गई। दूसरे लोकनाट्य रूपों में पुरुष ही स्त्री भूमिकाएं निभाते हैं। इन सभी प्रदर्शन रूपों में प्रेम, बलिदान एवं वीरता की लोकप्रिय कथाएं प्रस्तुत की जाती हैं।

आदतों, परंपराओं और संस्कृति के ओज को प्रतिबिम्बित करता लोक रंगमंच समाज का अनिवार्य अंग तो है ही, आवश्यकता भी है। हमारे देश के कुछ प्रमुख लोक नाट्य इस प्रकार हैं:

नौटंकी

संगीतमय रंगमंच के इस लोकप्रिय रूप की उत्पत्ति उत्तर प्रदेश में हुई। इसका नाम 'शहजादी नौटंकी' नामक नाटक से लिया गया है। नौटंकी के संवाद पद्य रूप में बोले जाते हैं और आवाज काफी ऊंची रखी जाती है, ताकि नक्कारे (एक वाद्य) की आवाज में वह दब न जाए। नौटंकी की शैली अतिनाटकीयता की

होती है। वीरता और प्रेम की कहानियों पर नाटक खेले जाते हैं हीर रांझा, लैला मजनू, अमरसिंह राठौर, महाराणा प्रताप इत्यादि इसके उदाहरण हैं।

लीला नाटक

लीला नाटक विष्णु के दो सबसे लोकप्रिय अवतारों राम और कृष्ण के जीवन प्रसंगों को प्रस्तुत करते हैं। अपने अवतारी रूप में राम और कृष्ण मानवों की भांति लीला करते हैं। लीला नाटकों में देवताओं की भूमिका बाल अभिनेता निभाते हैं। अवतारों एवं लीला की संकल्पना ने देवता के अविचल रूप की धारणा का स्थान ले लिया। अवतार विषय बेहद लोकप्रिय हुआ और लोगों के धार्मिक और सामाजिक जीवन में प्रतिष्ठापित हो गया। मंदिरों के मूर्तिशिल्प एवं मध्ययुगीन चित्रकला में भी विष्णु के विभिन्न अवतारों, विशेषकर राम और कृष्ण के जीवन के अनेक प्रसंगों को अभिव्यक्त किया गया। चित्र परम्परा में अवतार विषय की इतनी विस्तृत अभिव्यक्ति जिसने मौखिक एवं प्रदर्शन परम्परा से प्रेरणा ली, इसकी लोकप्रियता का प्रमाण है।

लीला नाटकों में राम और कृष्ण के जीवन की घटनाओं को आनुष्ठानिक रूप से पुनः प्रदर्शित किया जाता है, और इस ढंग से यह मालूम होता है कि वे घटनाएं अभी घट रही हैं। अवतारवाद के अनुसार ईश्वर को अवतार लेकर दिव्य कार्यों के कर्ता का अभिनय करना होता है। यह विचार जीवन की ऐसी संकल्पना पर आधारित है जिसमें दैवी और मानवीय में निरंतर अंतर्क्रिया चलती रहती है और वे आपस में मिले होते हैं।

रासलीलाः भक्तिमार्गियों के लिए कृष्ण की बड़ी महिमा थी। उनके सारे कार्य इन्हीं के इर्द-गिर्द घूमते थे। उत्तर प्रदेश में ब्रज भूमि कृष्ण की लीला स्थली मानी जाती है। यही कारण है कि कृष्ण की लीलाओं को नाट्य शैली में पेश करना धर्म साधना ही मानी गई। प्रारंभ में कृष्ण लीला के नाम से फिर रासलीला के नाम से विख्यात महाभारत, भागवत और अन्य पुराणों की कथा के आधार पर भगवान श्रीकृष्ण के बचपन से यानि माखन चुराने, मटकी फोड़ने से लेकर संदीपन मुनि के आश्रम में शिक्षा लेने, सुदामा की मित्रता, द्वारका जाने, महाभारत युद्ध तक अर्जुन को उपदेश देने तक उनकी हर लीला को लोग बार-बार देखना चाहते हैं। राधा-कृष्ण का प्रेम, गोपियों संग नृत्य सभी कुछ रासलीला में दिखाया जाता है।

रामलीलाः ऐसा माना जाता है कि गोस्वामी तुलसीदास ने काशी में राम के जीवन पर आधारित नाटक, रामलीला, खेलने की शुरुआत की थी। कई दिनों तक चलने वाली रामलीला दशहरे के समय होती है। रामलीला में भी राम के जीवन की हर घटना व प्रसंग दिखाया जाता है। रामनगर की रामलीला काफी प्रसिद्ध है। इसमें दर्शक इकत्तीस दिनों तक अलग-अलग स्थानों पर घूम-घूमकर होने वाली रामलीला में बड़े धैर्य व श्रद्धा के साथ भगवान की लीला का आनंद उठाते हैं। रावण और हनुमान जैसे चरित्र खास कलाकार ही निभाते हैं। संवाद अदायगी विशिष्ट शैली में होती है। लगभग समस्त उत्तर भारत में रामलीला बड़े उल्लास से मनाई जाती है।

माचा

मध्य प्रदेश की संगीतमय नृत्य नाट्य परंपरा लगभग दो सदी पहले उज्जैन में जन्मी और विकसित हुई। 'माचा' से मंच का अर्थ निकलता है। नाटकों का मंचन होली के आसपास किया जाता है। पौराणिक कथाओं, प्रेमाख्यानों और वीरतापूर्ण ऐतिहासिक प्रसंगों पर आधारित माचा में संगीत का भरपूर प्रयोग होता है। लोक धुनों से लेकर शास्त्रीय रागों पर आधारित गायन होता है। समकालीन सामाजिक जीवन से भी कुछ विषय लिए जाते हैं।

जात्रा

पश्चिम बंगाल का जात्रा नाट्य रूप 14वीं शताब्दी में वैष्णव आंदोलन से प्रेरित संगीत और नृत्य से युक्त प्रस्तुति की धार्मिक यात्रा के रूप में प्रारंभ हुआ। कृष्ण और राधा की कथा और चैतन्य देव की जीवनी से संबंधित यह प्रस्तुति अब पारसी रंगमंच की भांति अत्यधिक व्यावसायिक नाट्य-रूप में परिणत हो गई है। 1860 से प्रारंभ होकर जात्रा विकसित होती रही है और दर्शकों की रुचि के अनुसार बदलती रही है। पुराकथाओं और ऐतिहासिक कथाओं से यात्रा सामाजिक विषयों की ओर मुड़ गई। सत्तर के दशक में जब से वामपंथी पार्टी शक्ति में आई तब से जात्रा का स्वरूप बिल्कुल बदल गया। मंडलियों के नाटकों में मार्क्स, लेनिन, हिटलर, वियतनाम युद्ध आदि नाटक आ गए हैं। राजनैतिक नायकों जैसे खुदीराम बोस, राजा राममोहन राय और विद्यासागर जैसे नाटक भी प्रसिद्ध हैं।

आजकल यह उन्नतिशील ग्रामीणजनों और नगरों के मध्यवर्ग और नवधनाढ्य वर्ग का सबसे लोकप्रिय मनोरंजन है। कोलकाता में ही सौ व्यावसायिक दल होंगे। वे वर्षभर प्रस्तुतियां करते हैं।

उनकी लोकप्रियता के कारण नगर के नाट्यमंडल से अभिनेता इसकी ओर आकृष्ट हो रहे हैं। ऊंची फीस देकर शहरी नाट्य गृहों और फिल्मों से अभिनेताओं को बुला लेते हैं। प्रसिद्ध अभिनेता और निर्देशक स्व. उत्पल दत्त ने जात्रा कंपनियों के लिए नाटक लिखे, और उनमें अभिनय और निर्देशन किया। इसी प्रकार स्व. अजितेश बनर्जी ने भी किया। प्रसिद्ध प्रकाश योजना विशेषज्ञ तापस सेन भी जात्रा कंपनियों के लिए काम करते थे। जात्रा की प्रस्तुति ऊंचे चबूतरा मंच पर होती है, दोनों और रैम्प (ढलान) होती है जिस पर गायक और बड़ा वाद्यवृंद बैठता है। वाद्यों में पश्चिमी वाद्य भी होते हैं। मंच से मिला हुआ बांस के खंभों पर बना एक गलियारा होता है। इस गलियारे का उपयोग अभिनेताओं के अत्यधिक नाटकीय प्रवेश और प्रस्थान के लिए होता है। इसका प्रयोग विवेक नाम का पात्र भी करता है जो बीच-बीच में नैतिक मूल्यों के बारे में टिप्पणी करता रहता है। शारीरिक गतियां सशक्त और रीतिबद्ध होती हैं। परंतु उनके कोई निश्चित नियम नहीं होते हैं

असम और ओडिशा में भी जात्रा बेहद लोकप्रिय है। वहां पर जात्रा मंडलियां जात्रा करती हुई ग्रामीण क्षेत्रों में प्रस्तुति करती हैं, उनके दर्शक बड़े उत्साही होते हैं। वे रामायण, महाभारत अथवा अन्य पुराकथा संबंधी तथा ऐतिहासिक नाटक की प्रस्तुति करते हैं।

भारतीय प्रदर्शक सदा ही प्रदर्शन की निश्चित समय-सारणी के अनुकूल चलते हैं और जजमान कहे जाने वाले अपने संरक्षकों के पास जाते हैं।

राजस्थान में भी गाथा-गीतों के गायन की समृद्ध परम्परा विद्यमान है। परंपरा से गाथा-गीतों में राजपूत योद्धाओं की गाथाओं से प्रेरणा लेते हैं। पृथ्वीराज चौहान और बीसलदेव राठौर नामक गाथा-गीत अपनी साहित्यिक उत्कृष्टता और नाटकीय वर्णन के लिए प्रसिद्ध हैं।

यात्रा

'यात्रा' शब्द संभवतः उरांव भाषा से लिया गया है, जिसमें इसका अर्थ है एक महत्वपूर्ण आनुष्ठानिक नृत्य महोत्सव और किसी भी उत्सव पर नाटकों का भी

प्रदर्शन किया जाता हैं। पश्चिम बंगाल और ओडिशा में जहां वैष्णववाद के चैतन्य सम्प्रदाय का विशेष प्रभाव है, यात्रा को हमेशा चैतन्य उत्सव से जोड़ा जाता है। इसके विषय कृष्ण के जीवन से लिए जाते हैं। बंगाल के सामाजिक जीवन पर वैष्णववाद के कम होते प्रभाव से यात्रा में अब पौराणिक और धर्मनिरपेक्ष प्रसंग भी शामिल किए जाने लगे हैं। यात्रा के नए रूप में आर्केस्ट्रा शामिल किया गया है, जिसमें देशी और विदेशी वाद्ययंत्र हैं और अभी तक यह चला आ रहा है। यह नया रूप 'नूतन यात्रा' के नाम से जाना जाता है। राष्ट्रवादी आंदोलन के दौरान यात्रा ने छुआछूत और जातिप्रथा जैसी सामाजिक बुराइयों को दूर करने की मंशा से सामाजिक विषयों को भी शामिल किया था।

यात्रा एक चलता फिरता रंगमंच है और पेशेवर समूह अक्टूबर और जून के बीच विभिन्न स्थानों पर जाकर प्रदर्शन करते हैं।

सांग

हरियाणा में लोक रंगमंच काफी लोकप्रिय है, जिसे सांग कहते हैं। खुले स्थान पर वादक बीचों-बीच बैठते हैं और उनके चारों तरफ श्रोता व दर्शक बैठते हैं। अभिनेता, सह-गायक, सह-नर्तक पूरे मंच पर घूमते हैं। इनकी कथावस्तु लोकप्रिय पौराणिक आख्यानों पर आधारित होती है। बीच-बीच में हंसी-मजाक के भी दृश्य प्रस्तुत किए जाते हैं।

भवाई

भारत के पश्चिमी क्षेत्र में प्रचलित भवाई की उत्पत्ति राजस्थान और गुजरात के उत्तरी हिस्से में हुई। प्रारंभ में भवाई धार्मिक उत्सवों के दौरान देवी मां को प्रसन्न करने के लिए किया जाने वाला अनुष्ठान था। बाद में इनका प्रदर्शन पूरे साल किया जाने लगा। हालांकि अभी भी, साल की पहली प्रस्तुति किसी शिव मंदिर में नवरात्र के पहले दिन की जाती है। वस्तुतः भवाई, नाटिकाओं की क्रमिक प्रस्तुति है, नाटिका का विषय धार्मिक, पौराणिक या सामाजिक कुछ भी हो सकता है। कुछ नाटिकाओं में प्रमुख भूमिका मुसलमान पात्र निभाता है। इससे दक्कन और दिल्ली में मुसलमान शासकों के प्रभाव का पता चलता है। ये भवाई गांव-गांव में घूम-घूमकर किए जाते हैं। संगीत शास्त्रीय रागों पर आधारित होता है, किंतु इनकी अपनी शैली होती है। नृत्य भी शास्त्रीय नहीं है, लेकिन रास और गरबा के लोक नृत्य के अतिरिक्त कथक का प्रभाव देखा जा सकता है। नृत्य की सहायता

से नाटक के किसी चरित्र को उजागर करना होता है। भुंगल, झांझ और पखावज जैसे वाद्य प्रयोग में लाए जाते हैं। पहनावे और साज-संवार की निश्चित शैली होती है।

राजस्थान के भवाई नृत्य में कुछ कथानक महत्वपूर्ण हैं जैसे 'बोरा और बोरी' इसमें गांव के एक बनिए तथा उसकी कृपण पत्नी की नकल उतारी जाती है। 'ढोला मारू' इसमें ढोला और मारू की सदियों से चली आ रही प्रेम कहानी दिखाई जाती है। 'डोकरी' इसमें एक वृद्धा का दुर्भाग्य दिखाया जाता है।

ख्याल

ख्याल राजस्थान की एक नृत्य नाटिका शैली है। यह परंपरा लगभग 400 वर्ष पुरानी है। मनोरंजन का माध्यम होने के साथ-साथ ख्याल सांस्कृतिक और सामाजिक शिक्षा का भी माध्यम है। गायन और वादन की विशिष्ट शैली वाले इस ख्याल में राजस्थान की लोक संस्कृति झलकती है।

करयाला

हिमाचल प्रदेश के लोक नाट्य करयाला में जीवन और मृत्यु के गंभीर प्रश्नों पर संक्षेप में विचार किया जाता है। हास्य का पुट लिए इसमें अदायगी एवं संवाद की सरलता दिखती है। वस्तुतः, दर्शकों को हमारी सांस्कृतिक विरासत का निचोड़ बताया जाता है, जिसमें यह संसार एक मंच है और सारहीन आडम्बर है। इसी से समझौता करते हुए इससे ऊपर उठकर जीना है।

जशिन

कश्मीर की मशहूर प्रदर्शनकारी कला जशिन वस्तुतः प्रहसन है, जिसे 'भांड' कहे जाने वाले लोक-कलाकार करते हैं। हर प्रहसन का मजेदार अंत होता है। संस्कृत नाटकों का इस पर प्रभाव है। वैसे यह किसी देवता के सम्मान में किया जाता है। प्रदर्शन खुले मंच पर किया जाता है और अभिनेता दर्शकों में भी मिले रहते हैं। इसमें मसखरे या विदूषक की उपस्थित अनिवार्य होती है। जशिन समाज की बुराइयों पर व्यंग्य करने का सशक्त माध्यम है।

तमाशा

महाराष्ट्र में रंगमंच की बहुत ही समृद्ध परंपरा रही है। प्रारंभ में तमाशा नाचने-गाने वाले समूह के रूप में था। पेशवा के काल में इसका स्वरूप निश्चित होता गया

और इसका वर्तमान रूप सामने आया। महिलाएं मंच पर आने लगीं। हांलाकि विशेष साजो सामान या भड़कीले वस्त्रों की जरूरत इन्हें नहीं पड़ती थी, विदूषक अवश्य ही रंग-बिरंगे वस्त्र पहनता था। नाचने और गाने की इसकी अपनी अलग ही शैली है। *लावणी* नृत्य का भी समावेश इसमें कर लिया जाता है। तमाशा में आम लोगों की सामाजिक और कभी कभार राजनीतिक आकांक्षाएं भी परिलक्षित होती हैं। इसने आधुनिक रंगमंच और फिल्म पर गहरी छाप छोड़ी है।

मुदियेत्तु

केरल में काफी प्राचीन काल से किया जाने वाला आनुष्ठानिक नृत्य नाटक मुदियेत्तु हर वर्ष काली के मंदिरों में किया जाता है। यह बुराई के ऊपर अच्छाई की विजय का प्रतीक है, क्योंकि काली ने दारिका राक्षस का संहार किया था।

यूनेस्को ने तीन भारतीय कला रूपों को अंकित किया

यूनेस्को ने मानवीयता की अक्षुण्ण सांस्कृतिक विरासत की प्रतिनिधि सूची में केरल के **रंगमंच मुदियेतु,** पूर्वी भारत के परम्परागत **नृत्य शैली छऊ,** एवं **कालबेलिया नृत्यों** एवं **गीतों** को शामिल किया। यह निर्णय वर्ष 2011 में नैरोबी में यूनेस्को की अक्षुण्ण सांस्कृतिक विरासत की सुरक्षा संबंधी अंतर्सरकारी समिति के पांचवें सत्र में लिया गया। यह एक वार्षिक सूची है जो बेहद कीमती परफॉर्मिंग कला रूपों पर प्रकाश डालती है जैसाकि विश्व विरासत सूची करती है जो स्मारकों एवं प्राकृतिक स्थलों से सम्बद्ध है।

विरासत कलाओं की बेहतरी एवं उनके संरक्षण के लिए अंतरराष्ट्रीय मदद के लिए अंकित करना आवश्यक है।

अंकित करने या सूचीबद्ध करने से इनका संरक्षण एवं प्रोत्साहन करना सरकारों का दायित्व बन जाता है जो यूनेस्को के विश्व विरासत संरक्षण अभिसमय की पुष्टि करते हैं। इसके लिए यूनेस्को अंतरराष्ट्रीय सहायता एवं सहयोग को सुसाध्य बनाता है, वित्तीय एवं अध्ययन में मदद का विस्तार करता है, विशेषज्ञता एवं प्रशिक्षण प्रदान करता है, और अवसंरचना का सृजन करता है।

सरकारों ने प्रतिनिधि सूची में अंकन के लिए विरासत संबंधी तत्वों के नामांकन को अग्रेषित किया है। अत्यावश्यक सुरक्षा सूची में अंकन के लिए पृथक् नामांकन भेजे जाते हैं।

अभी तक आठ भारतीय विरासत अवयवों को प्रतिनिधि सूची में अंकित किया गया है। इसमें रामलीला, कुट्टीयट्टम नाटक रूप, रम्मन पारम्परिक थियेटर एवं वैदिक मंत्र शामिल हैं।

कृष्णाट्टम

कथा प्रचलित है कि राजा मानवेदन को गुरुवायुर मंदिर के प्रांगण में एक वृक्ष के नीचे खेलते हुए कृष्ण का दिव्य दर्शन हुआ था। जब उनकी भाव समाधि टूटी तो उन्होंने उस क्रीड़ा स्थल पर पड़ा हुआ मोर पंख देखा। इस रहस्यमय अनुभव से उन्हें कृष्ण के जीवन पर कृष्णगीति की रचना करने की प्रेरणा मिली। यही कृष्णगीति अष्ट प्रसंगों वाले नाटक कृष्णाट्टम का आधार बनी। भक्त दर्शकों के लिए कृष्णाट्टम का प्रदर्शन मंदिर के देवता के दर्शन के समान है। केरल उसी समय से वैष्णव भक्ति के प्रभाव में आ गया था जब कृष्ण और राधा के प्रगाढ़ प्रेम का काव्य गीत-गोविन्द वहां पहुंचा था। उसे अष्टपदीअट्टम के रूप में अंगीकार किया गया और केरल के विष्णु मंदिरों में गाया जाने लगा। अष्टपदीअट्टम की प्रदर्शन परम्परा में महत्वपूर्ण भूमिका रही और कृष्णाट्टम तथा कथकलि जैसे नृत्यनाट्य के लिए उसी रचना-बंध को स्वीकार किया गया।

जन्म से लेकर मृत्यु तक कृष्ण के जीवन को दर्शाती आठ नाटकों की कड़ी कृष्णाट्टम 17वीं शताब्दी में कालिकट के जमोरिन राजा मानवेदन की संस्कृत कविता *'कृष्ण गीति'* पर आधारित है। संवाद, समूह द्वारा आर्केस्ट्रा पर गाकर/बोलकर अदा किए जाते हैं। कलाकार कथानक को स्पष्ट करने के लिए व्यापक संकेतों का सहारा लेते हैं। इसी प्रकार का एक अन्य नृत्य नाटक *रामट्टम* है, जिसमें राम का जीवन चक्र दर्शाया जाता है।

कुटिअट्टम

नौवीं-दसवीं शताब्दी में केरल में 'चक्यार' अभिनेताओं ने मंदिरों के प्रांगण में भास, कुलशेखरवर्मन इत्यादि द्वारा लिखे गए संस्कृत नाटकों का मंचन प्रारंभ किया। कई दिनों तक विस्तार से प्रस्तुत किए जाने वाले इन नाटकों में भाव-भंगिमाओं का भरपूर प्रयोग होता था या यूं कहें कि हर शब्द की व्याख्या अंग संचालन से की जाती थी। विदूषक मलयालम भाषा के माध्यम से संस्कृत के अनुच्छेदों को समझाता था और इस प्रकार संस्कृत नाटक आम जनता तक पहुंचते थे। क्रिया-व्यापार पर टिप्पणी करता है, हास्य उत्पन्न करता है, और नायक द्वारा बोले गए श्लोकों के साथ प्रतिश्लोक बोलता है। जब उदयन कहता है, 'वासवदता वीणा बजा रही थी, मैं उसे खड़ा देख रहा था और विचारों में इतना खो गया कि मैंने अपने हाथ उठाए और शून्य में ही ऐसे हाथ चलाने

लगा जैसे मैं स्वयं वीणा बजा रहा हूं।' इस पर बिदूषक एक प्रतिश्लोक बोलता है, 'मेरी पत्नी चावल फटक रही थी, मैं उसे देखता रहा और विचारों में ऐसा खो गया कि मैं अपने हाथ ऐसे चलाने लगा जैसे स्वयं चावल फटक रहा हूं।'

दोनों महाकाव्यों पर आधारित भास के तेरह नाटक 1912 में ही प्राप्त हुए। वैसे शताब्दियों से उनके नाटकों के कई अंक कुटिअट्टम में प्रस्तुत हो रहे थे। कुटिअट्टम मूल पाठ के प्रदर्शन में अंतरण की अत्यंत जटिल प्रक्रिया का उदाहरण प्रस्तुत करता है। **कथकलि** और **यक्षगान** जैसे अत्यंत विकसित नाट्य रूपों के समान कुटिअट्टम बहुविधि संचार सरणियों का प्रयोग करता है, जिसमें प्रत्येक सरणी की अपनी निश्चित प्रविधि एवं परिपाटी होती है। संचार की सबसे महत्वपूर्ण सरणी अर्थात् नाट्य संवाद को उसमें छोटी-छोटी लयबद्ध इकाइयों में तोड़कर संगीतात्मक शैली में प्रस्तुत किया जाता है जो वैदिक ऋचाओं के गायन के सदृश होती है। संवाद की यह लयात्मक पद्धति यद्यपि कुछ नीरस प्रतीत होती है, परंतु इसकी अत्यंत रीतिबद्ध शारीरिक गतियों तथा हस्त मुद्राओं से इसका कलात्मक संतुलन रहता है। कुटिअट्टम में प्रस्तुत संस्कृत नाटकों के अंक इस प्रकार हैं 'नागानंद', 'शाकुंतलम', 'आश्चर्य चूड़ामणि', 'सुभद्रा धनंजयम', 'कल्याण सौगंधिकम्' और दो प्रसिद्ध संस्कृत प्रहसन 'मत्तविलास' एवं 'भगवदज्जुकीयम'। भास के नाटकों 'प्रतिज्ञा', 'प्रतिज्ञायोगंधरायण', 'स्वपन्नवासवदत्तम', 'अभिषेक', 'बाल चरित', 'दूतवाक्य', 'कर्णभार', 'दूतघटोत्कच', 'चारूदत्तम', 'मध्यम व्यायोग' और 'पांचरात्र' के अंक भी प्रस्तुत किए जाते हैं।

इस नाट्य रूप ने कृष्णट्टम और रामट्टम के विकास को प्रभावित किया, जिनसे कथकली का शास्त्रीय नृत्य विकसित हुआ।

थेय्यम

यह केरल में पूर्वजों की पूजा का एक रूप है। साथ ही इसमें नर्तक गांव की रक्षा करने वाले देवी-देवताओं का रूप भी धरते हैं। इनकी वेशभूषा काफी आकर्षक होती है।

अंकिआ नाट

असम के महान धार्मिक चिंतक एवं सुधारक महापुरुष शंकरदेव (1449-1568) ने वैष्णव धर्म के मूल्यों व आदर्शों को प्रचारित करने के लिए वैष्णव सत्रों का गठन किया। इसी उद्देश्य से उन्होंने एक नए नाट्य रूप अंकिया नाटक की सृष्टि

की जिसे प्रदर्शन में भाओना कहा जाता है। वैष्णव मत को मानने वाले सत्रों में एक समुदाय के रूप में रहते हैं, और इस नाट्य की प्रस्तुति उनके धार्मिक जीवन का अंग है। अपनी सृजन क्षमता द्वारा शंकरदेव ने यह विशिष्ट नाट्य रूप विकसित किया जिसमें उन्होंने संस्कृत नाटक के कुछ संरचनात्मक तत्व और असम में प्रचलित लोकनाट्य रूपों *ओझापाली, जात्रा* और *चर्चरी* से कुछ तत्व लिए। संस्कृत नाटक की अवनति के पांच सौ साल बाद शंकरदेव ने एक ऐसे नाट्यरूप का सृजन किया जिसने देश के नाट्य इतिहास में एक लंबे अंतराल को भरा और जो अतीत तथा वर्तमान के बीच सेतु बना। गौरतलब है कि अपने नाटकों में शंकर देव ने ब्रुजबुलि का व्यवहार किया जो वैष्णवों के बीच विगत् 100 वर्षों से नाटक की भाषा के रूप में लोकप्रिय हो चुकी थी। ब्रुजबुलि असमिया, मैथिली एवं ब्रजभाषा का सम्मिश्रण है। अभिनेताओं द्वारा अर्द्धलयात्मक रूप में बोली जाने वाली यह बड़ी मधुर लगती है।

नाट्यकर्म के शास्त्रीय रूप एवं स्थानीय परंपराओं का सम्मिश्रण, अंकिआ नट ग्रामीण असम में खेला जाने वाला एकांकी नाटक है। इसे गांव के किसी बड़े हॉल या खुले में बने पण्डाल में खेला जाता है। पढ़े-लिखे और अनपढ़ समान रूप से इसका आनंद उठाते हैं। इसके विषय भी वैष्णव परंपरा से लिए जाते हैं। इसकी भाषा असमिया ब्रजुबुली होती है, जिसमें संस्कृत के श्लोक मिले होते हैं, भावाभिव्यक्ति के लिए गीत भी गाए जाते हैं। रंगे हुए मुखौटे प्रयोग में लाए जाते हैं। जिसका तात्पर्य यही होता है कि धार्मिक प्रभाव पड़े। शंकरदेव ने कई अंकियानाट लिखे हैं।

तेरूकुत्तु

तमिलनाडु में ग्रामीण मनोरंजन एवं संवाद का अनोखा रूप तेरूकुत्तु अपने में नृत्य, नाटक और संगीत सब कुछ समेटे हुए होता है। शाब्दिक रूप से यह 'नुक्कड़ नाटक' है, जो खुले में खेला जाता है। तेरूकुत्तु तमिलनाडु का पारंपरिक नाट्य है और अकेला नाट्य रूप है जिसमें समूची महाभारत की 18 दिन में प्रस्तुति होती है। यह द्रौपदी पूजा से संबंधित है और द्रौपदी अम्मन (मां) के मंदिरों के सामने प्रस्तुत होती है। प्रदर्शन में समूचा ग्राम समुदाय भाग लेता है और दर्शकों एवं प्रस्तुति कर्ताओं की आत्मविस्मृति तथा अविष्टि से जुड़ी हुई आनुष्ठानिक प्रस्तुतियों में योग देता है। इसका नाट्यालेख समुदाय के सदस्यों द्वारा तैयार किया जाता है और उसे प्रदर्शकों के परिवारों में गुप्त रूप से हस्तलेख के रूप

में रखा जाता है। नृत्य भरतनाट्यम से मिलता है परंतु उसकी अपेक्षा कहीं अधिक ओजस्वी होता है।

तेरूकुत्तु की वेशभूषा पारम्परिक होती है। अभिनेता रंगीन धारीदार और पूरी बांह की जैकेट (मिर्जई) पहनते हैं और स्त्री भूमिकाओं वाली रंग-बिरंगी साड़ियां पहनती हैं। हल्की लकड़ी के बने रंगीन कांच से जड़े एवं कागज के फूलों एवं रंगीन लटकनों से सजे अनेक आकृतियों और शैलियों के मुकुट एवं बाजूबंद वेशभाषा की विशिष्टता है। तार स्वर में गायन और ओजस्वी नृत्य द्वारा तेरूकुत्तु भी प्रस्तुति में बराबर एक ओजस्वी लय बनी रहती है। पग संचालन की प्रकृति युद्धपरक होती है। **तेरुकुत्तु** तमिलनाडु में अत्यंत लोकप्रिय है, इसका दर्जा शास्त्रीय संगीत और नृत्य के बाद आता है। इसका प्रदर्शन करने वाले अनेक दल पूरे राज्य में भ्रमण और प्रस्तुति करते रहते हैं।

प्रस्तुति के दौरान रोजाना की समस्याओं पर भी तार्किक रूप से विचार किया जाता है।

यक्षगान

वर्ष 1250 में आंध्रप्रदेश के पक्कूरिकी सोमनाथ रचित 'बहूनाटक' एक जनप्रिय गीति-नाट्य था, जो कालांतर में 'यक्षगान' के नाम से नृत्य-नाट्य के रूप में विकसित हुआ। आरंभ में केवल एक नर्तक या नर्तकी विभिन्न भूमिकाओं का अभिनय करते हुए नृत्य-गीत के साथ नाट्य के विषय की व्याख्या करते थे। बाद में अधिक पात्रों को शामिल किया गया। कहा जाता है कि कुचिपुड़ी गांव के भगवतुलु ब्राह्मण मेला ने इसका संस्कार कर 'कुचिपुड़ी' नृत्य की सृष्टि की थी। इस प्रसंग में उल्लेखनीय है कि महाराष्ट्र में 'ललिता', गुजरात में 'भवाई', नेपाल में 'गंधर्वगान' तथा बंगाल में 'जात्रा' आदि भी आंध्र, कर्नाटक और तमिलनाडु में प्रचलित यक्षगान के प्रारूप हैं। यक्षगान के तीन जनप्रिय नाटक हैं ओबया मंत्री रचित गुरुदाचलम, श्रीन्धा रचित 'कृष्ण हीरामणि' (15वीं सदी) एवं रुद्रकवि रचित 'सुग्रीव विजयम' (16वीं सदी)।

डॉ. कोटा शिवराम कारंत ने इस प्राचीन कला को नया जीवन देने के लिए काफी प्रयास किए। इन्होंने अपनी शैली 'यक्षरंग' भी विकसित की। यह भी पुरुष नृत्य ही था। इसमें पांच या छह किस्म की भूमिकाएं होती हैं और हर नर्तक को एक के लिए प्रशिक्षित किया जाता है। इसमें नृत्य की गति तेज रहती है। यक्षगान के दोनों महाकाव्यों पर आधारित नाटक अधिकांश युद्ध एवं

आनुष्ठानिक युद्ध एवं मरण को निरूपित करते हैं। इसी से यक्षगान में युद्ध एवं मरणम वाले अनेक नाटकों की शृंखला है।

यक्षगान में भी मुखसज्जा अलंकारों एवं मुकुटों से युक्त बड़ी विशिष्ट और जटिल होती है। अभिनेता स्वयं नेपथ्यशाला में बैठकर अपनी सज्जा करते हैं। सिर पर संकेंद्री चक्करों से युक्त रस्सी से तह पर तह बनाते हुए बड़ी-बड़ी आकर्षक पगड़ियां बांधते हैं। पगड़ियों की आकृति और आकार भूमिका पर निर्भर करती है। यक्षगान में विस्तृत पूर्व रंग भी होता है जो नेपथ्यशाला में श्री गणेश की स्तुति से प्रारंभ होता है, फिर सभी अभिनेता मंच पर आते हैं जहां पूर्वरंग की कुछ और विधियां नृत्य और गान के रूप में संपन्न होती है। यक्षगान की प्रस्तुति में सबसे रोचक अंश अभिनेता की नृत्यपरक गतियां होती हैं।

यक्षगान के नृत्य का सार अभिनेता की गतियों की रीतिबद्धता में होता है। उसमें शैलीबद्ध गतियां विशिष्ट विभिन्न भूमिकाओं के लिए प्रवेश और प्रस्थान के अनेक रूप होते हैं। गर्व-भाव, वीरता एवं चुनौती इत्यादि को प्रकट करती हुई नृत्यपरक चाल होती है। इसके अतिरिक्त परम्परागत नृत्यपरक प्रारूप तथा यात्रा करने एवं युद्ध की चालें होती हैं।

बुर्रा कथा

आंध्र प्रदेश का अत्यंत लोकप्रिय गाथा-गीत बुर्रा कथा है जिसे व्यावसायिक गायक पूरे प्रदेश में गाते हैं। वे कथाओं का काफी नवीकरण करते हैं और समकालीन घटनाओं को ऐतिहासिक पात्रों और घटनाओं के समानांतर बना देते हैं। माना जाता है कि बुर्रा कथा का जन्म शैव मत एवं वैष्णव मत के संघर्ष के परिणामस्वरूप हुआ था, बाद में इसका विकास शैव मत के साथ हुआ और यह शैव-चरणों-जंगमों की पारिवारिक परंपरा बन गई। दूसरे आख्यानों की भांति बुर्रा कथा में भी पुराकथाओं, महाकाव्यों और ऐतिहासिक घटनाओं की कथाएं सुनाते हैं।

आंध्र प्रदेश में मौखिक आख्यानों की और भी शैलियां हैं, जैसे **ओगुकथा,** इसका नाम भी इसमें प्रयुक्त होने वाले प्रमुख ताल वाद्य के नाम पर है। लय के आवर्तनों की योजना में मौखिक आख्यानों के आंतरिक प्रारूपों और व्यवस्था को बनाए रखना है। गाए जाने वाले आख्यानों की संगीत संरचना के निर्माण में सांगीतिक प्रारूपों के अनुसार पूरे वाचन में कुछ निश्चित बिंदुओं पर निरर्थक शब्दों और ध्वनि के प्रारूपों के जोड़ से संबंधित आलाप प्रणाली सबसे प्रचलित और परम्परागत तत्व है। कुछ रूपों में जैसे कुमाऊं प्रदेश के रोमांचक गाथा-गीत

राजुला मालूशाही में पूरा लयबंध ध्वनि प्रारूपों में अंतरित कर लिया जाता है। दूसरों में आख्यान की सांगीतिक योजना के अनुसार केवल अंगभूत आवर्त्तन ही है।

लावनी

महाराष्ट्र की लावनी बड़ा ही लोकप्रिय प्रेम गीत है। यह थोड़े-थोड़े सांगीतिक अंतर के साथ गुजरात, मध्य प्रदेश और राजस्थान में भी प्रचलित है। मराठी में **शाहिर** कहलाने वाले लोककवि इन लावनी गीतों के रचयिता होते हैं। इस गीत-शैली को महाराष्ट्र के हास्य व्यंग्य युक्त लोकनाट्य तमाशा में प्रयोग किया जाता है। महाराष्ट्र में लावनी का एक संगीत और नृत्य रूप भी विकसित हुआ है। लावनी को प्रस्तुत करने वाली स्त्रियों के व्यावसायिक दल होते हैं जो लावनी को नाटकीय ढंग से दर्शकों की ओर विलोमक दृष्टि डालते हुए छोटी-छोटी छलांगें लेती हुई प्रस्तुत करती हैं। स्त्रियों के लावनी दल अधिकतर ग्रामीण या अर्धग्रामीण इलाकों में लावनी प्रस्तुत करते हैं। नगरों में कारखानों में काम करने वाले उनके दर्शक होते हैं। मुंबई में एक नाट्यगृह है जहां का व्यवस्थापक इन लावनी दलों को तीन महीने के ठेके पर बुलाता है। उस नाट्यगृह में प्रमुखतः मजदूरों की बड़ी संख्या दर्शक होती है।

भांड पाथेर

कश्मीर में मुसलमानों का एक समुदाय जो अपने को भगत कहते हैं एक विशेष प्रकार का आशु नाटक प्रस्तुत करते हैं जिसे भांड पाथेर (संस्कृत पात्र से) कहा जाता है। इस नाट्य रूप में हास्य व्यंग्य के भावों से पूर्ण छोटे-छोटे प्रहसन खेले जाते हैं। हर प्रहसन में कोई सामाजिक पात्र लिया जाता है। शब्दों और व्यंग्योक्तियों का खेल होता है। पात्र कई भाषाओं का प्रयोग करते हैं। कुछ प्रहसनों में जैसे शिकारगाह में लकड़ी के मुखौटों का प्रयोग भी होता है। इस नाट्य रूप के सबसे बड़े प्रवर्तक सुजान भारत ने पहली बार कई प्रहसन प्रकाशित भी किए हैं।

कृष्ण पारिजात

कर्नाटक के बीजापुर क्षेत्र के मुसलमान कृष्ण पारिजात नामक एक संगीत रूपक (ऑपेरा) प्रस्तुत करते हैं। इसकी कहानी यह है कि एक दिन कृष्ण स्वर्ग से पारिजात पुष्प लाकर रुक्मिणी को दे देते हैं। इस पर उनकी छोटी पत्नी सत्यभामा

अत्यंत रुष्ट हो जाती है, और जिद करती है कि उन्हें भी पारिजात पुष्प लाकर दिया जाए। कृष्ण युद्ध करके इंद्र के नन्दनवन से पारिजात पुष्प का पौधा ही ले आते हैं और उसे सत्यभामा को दे देते हैं, वे प्रसन्न हो जाती हैं। इस शैली में इसी पर इस नाट्य रूप का नाम भी पारिजात है। इसका संगीत प्रमुखतः हिंदुस्तानी संगीत है और उसे बेहद नाटकीयता से गाया जाता है। भागवत (वाचक) गाता है 'यदा यदाहि धर्मस्य' (गीता का प्रसिद्ध श्लोक) और उसी के साथ कृष्ण का प्रवेश होता है। यह कहानी कुचिपुड़ी नृत्य में (भामाकलापम) नाम से प्रस्तुत होती है और वेदान्तम् सत्यनारायण शर्मा-सत्यम्-इसमें सत्यभामा के पात्र के प्रसिद्ध प्रस्तुतकर्ता हैं।

कर्नाटक में वीर शैव संप्रदाय वाले ऊंचे स्वर वाले ढोलों की संगत में गाथा-गीत गाते हैं, जिसे **वीरगासे** कहा जाता है। गायन के साथ वे नृत्य भी करते हैं। ये शिवभक्त होते हैं।

महाराष्ट्र का **पावड़ा** वीर-रस प्रधान गाथा-गीत है। इस गाथा-गीत में महाराष्ट्र के वीर नायकों की गाथा का बखान किया जाता है। गायन के साथ वे डफ, तुनतुने, झांझ और ढोलकी जैसे विभिन्न वाद्य यंत्रों का प्रयोग करते हैं। उनके प्रदर्शन में अत्यधिक उत्साह होता है। उनके गीतों में 1857 के प्रथम स्वाधीनता संघर्ष जैसे विषयों पर भी गाथा-गीत सम्मिलित हैं।

आल्हा

गाथा-गीतों की शैली के गाए जाने वाले मौखिक वाचन जैसे आल्हा में पूरे पाठ में एक ही छंद का प्रयोग होता है, दूसरों में काव्य पाठ एवं संगीत की अंतर्वस्तु की विस्तृत माला प्रयुक्त की जाती है। छंदों की विविधता की एक क्रियात्मक भूमिका भी होती है। कुछ छंद कथा के वाचन अंग के लिए प्रयुक्त होते हैं तो कथा स्थान के विवरण के लिए छंद बदल दिए जाते हैं, इसके अतिरिक्त दो पात्रों के बीच की विवादपरक भूमिका के अवसर पर भी छंद परिवर्तन होता है। तमिलनाडु के मौखिक आख्यान 'विलपट्टू' में प्रमुख और सहायक गायक के बीच की पंक्तियों के लिए विभिन्न छंदों के पदों और गीतों के वाचन और गायन में विविध प्रारूपों को प्रमुख और सहायक गायक तथा समूचे संगीत वृंद के बीच बांट दिया जाता है। मौखिक आख्यानों की संगीत संरचना में लय का तत्व इतना महत्वपूर्ण होता है कि इसकी इतनी निर्णायक भूमिका होती है कि ओडिशा के **दशकथिया** से लेकर तमिलनाडु के **विलपट्टू** तक के नाम उनके प्रमुख ताल वाद्य

पर रखे गए हैं। दशकथिया में कथिया उस काष्ठ ताल वाद्य को कहते हैं जिसे प्रमुख आख्यानक बजाता है और विलपट्टू में विल उस धनुषाकार तार वाद्य को कहते हैं जिसको आख्यान का प्रमुख गायक दो लकड़ियों से बजाता है।

मौखिक वाचन रूपों में पाठ एवं कथा-वाचन की प्राचीन क्लासिकी परम्परा की अविच्छिन्नता के प्रसंग में यह बात भी ध्यान में रखने की है कि यही प्रदर्शन प्रणालियां आगे चलकर मूल प्रदर्शन रूप बन गईं सरल समुदाय आधारित एवं जटिल मंदिर आधारित।

उत्तर भारत के रामलीला और रासलीला तथा अत्यधिक विकसित स्वरूप जैसे कर्नाटक के **यक्षगान** और केरल के **कथकलि** में कथा-गायन का रूप बना रहा। गोवा के गाथा-गीत रूप **रणमाल्यम्** की प्रस्तुति में गाथा-गीत एवं नाटकीय ढांचों का विशिष्ट संयोजन देखने को मिलता है।

नरसिंह अवतार

नरसिंह और प्रह्लाद की विषय-वस्तु पारंपरिक नाट्य में अत्यंत लोकप्रिय है और कई नाट्यरूपों में प्रस्तुत होती है। इसकी लोकप्रियता का कारण है प्रह्लाद की भक्ति दृढ़ता एवं ईश्वर की अपने भक्तों की रक्षा की भावना है। इसकी प्रस्तुति ओडिशा के गंजाम जिले में एक नाट्य रूप प्रह्लाद नाटक में विशेष रूप से होती है। इस नाट्य रूप में और किसी कथानक के नाटक नहीं होते, इसी से एक पारंपरिक नाट्य का नाम ही प्रह्लाद नाटक है।

गीत-गोविंद

12वीं शताब्दी में जयदेव रचित 'गीत-गोविंद' से मंदिर प्रदर्शनों की परम्परा प्रारंभ होती है। इस काव्य रचना का विषय है दिव्य प्रेमी युगल राधा और कृष्ण का प्रेम, कृष्ण की दूसरी गोपियों से प्रेम क्रीड़ा और राधा-कृष्ण का पुनर्मिलन। शृंगारी विषय-वस्तु, काव्य बिम्बों से पूर्ण भक्ति रंजित, रागानुबद्ध गायन और नृत्य के लिए रचित गीतों से युक्त गीत-गोविंद मंदिर-नाटक की परम्परा आरंभ करने के लिए आदर्श रचना सिद्ध हुई। यह कृति जयदेव की काव्य प्रतिभा का प्रमाण तो है ही, इससे यह भी पता चलता है कि इसके पहले इसी प्रकार की अन्य काव्य कृतियां रहीं होंगी जिनका गायन और नृत्य होता रहा होगा। शास्त्रीय नृत्य की सभी शैलियों में इसकी नृत्य प्रस्तुतियां हुई हैं, लघुचित्रों के रूप में इसका चित्रण हुआ है, और केरल का 16वीं शताब्दी का कृष्णाट्टम इसी से प्रेरित है।

भर्तृहरि और लोरिक-चंदा

वाचन गायन की परम्परा में प्रत्येक प्रदेश में दोनों ऐसी कहानियां हैं जो साहित्य एवं मौखिक परम्परा का अंश हैं। छत्तीसगढ़ राज्य में राजा भर्तृहरि की कथा ऐसी ही है। इसका गायन विभिन्न संगीत शैलियों में अनेक प्रदेशों में किया जाता है। इसकी धुन बड़ी प्रभावी होती है। छत्तीसगढ़ में बहुत ही लोकप्रिय पारंपरिक कथा लोरिक चंदा की प्रेम कहानी है जो उत्तर प्रदेश और बिहार में भी प्रचलित है। यह कथा स्थानीय बोलियों में गायी जाती है और इसके कई रूप मिलते हैं।

ढोला-मारू

राजस्थान का लोकप्रिय पारम्परिक गाथा-गीत ढोला-मारू है जो पास के क्षेत्रों बुंदेलखंड और छत्तीसगढ़ में भी प्रचलित है। यह भी एक प्रेम कथा है। गायन शैली अलग-अलग प्रदेशों में बदल जाती है। सभी गायक भावाभिव्यक्ति के लिए सीमित मुद्राओं का प्रयोग करते हैं। पंजाब के प्रसिद्ध गाथा-गीत हीर-रांझा और सोहनी-महिवाल हैं।

धार्मिक और लौकिक संदर्भो के मौखिक आख्यान, उत्सवों की समय-सारणी और कृषि के समय चक्रों के अनुसार, मंदिरों के उत्सव, धार्मिक कृत्यों, पारिवारिक उत्सवों, मेलों और पर्वों के अंश रूप में विश्वासों, विचारों, मूल्यों और सामुदायिक हितों के संचार में समाज में बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। हाल के वर्षों में ये जनसंचार माध्यमों द्वारा बहिष्कृत कर दिए गए हैं और उनकी भूमिका का महत्व कम हो गया है। उनके प्रदर्शन के स्थान और अवसर जनसंचार माध्यमों की मनोरंजन संस्कृति के दबाव से बदल गए हैं, और उन्हें मनोरंजन मेला संस्कृति के संदर्भ में रख दिया गया है।

पाली

असम के **पाली** में एक प्रमुख गायक के साथ गायकों का दल और वाद्यवृंद होता है। प्रमुख गायक महाकाव्यों और पुराणों की कथाओं का गान भी करता है और पाठ भी तथा गायन के बीच टिप्पणी करता है। संक्षिप्त नृत्य टुकड़े भी प्रस्तुत करता है। पाली में कभी-कभी कोई संस्कृत नाटक या काव्य तथा वाचन एवं टिप्पणी के लिए लिया जाता है।

इस प्रकार महाकाव्यात्मक परंपरा पर आधारित भारतीय संस्कृति में पाठ

वाचन और कथा गायन के प्रमुख तत्वों के साथ बड़ा सशक्त प्रदर्शन का भाव है। गाए हुए एवं पाठ के रूप में वाचिक आख्यानों के अनेक रूप हैं। **वारिलीवा,** मणिपुर का **एकल कथा-गायन रूप,** ओडिशा एवं केरल के **दस्ताना पुतली प्रदर्शन,** गोवा का **रणमाल्यम्** गाथागीत, कुमांऊ प्रदेश का **राजुला मालूशाही,** गुजरात का **आख्यान,** मध्य प्रदेश का **पांडवानी,** आंध्र प्रदेश, कर्नाटक एवं तमिलनाडु की **हरिकथा,** हिंदी भाषी प्रदेशों का **वाचिक महाकाव्य आल्हा** और राजस्थान की चित्र-वाचन परंपरा जैसे **पाबूजी की पड़,** और महाराष्ट्र की **चित्रकथी** वाचिक आख्यानों की विविधता अभिव्यक्त करते हैं।

कठपुतली

भारत में कठपुतली नचाने की परंपरा काफी पुरानी रही है। धागे से, दस्ताने द्वारा व छाया वाली कठपुतलियां काफी प्रसिद्ध हैं और परंपरागत कठपुतली नर्तक स्थान-स्थान जाकर लोगों का मनोरंजन करते हैं। इनके विषय भी ऐतिहासिक प्रेम प्रसंगों व जनश्रुतियों से लिए जाते हैं। इन कठपुतलियों से उस स्थान की चित्रकला, वास्तुकला, वेषभूषा और अलंकारी कलाओं का पता चलता है, जहां से वे आती हैं।

राजस्थान की कठपुतली काफी प्रसिद्ध है। यहां धागे से बांधकर कठपुतली नचाई जाती है। लकड़ी और कपड़े से बनीं और मध्यकालीन राजस्थानी पोशाक पहने इन कठपुतलियों द्वारा इतिहास के प्रेम प्रसंग दर्शाए जाते हैं। अमरसिंह राठौर का चरित्र काफी लोकप्रिय है, क्योंकि इसमें युद्ध और नृत्य दिखाने की भरपूर संभावनाएं हैं। इसके साथ एक सीटी-जिसे बोली कहते हैं जैसे तेज धुन बजाई जाती है।

ओडिशा का साखी कुंदेई, असम का पुतला नाच, महाराष्ट्र का कलासूत्री बहुली और कर्नाटक की गोम्बेयेट्टा धागे से नचाई जाने वाली कठपुतलियों के ही रूप हैं। तमिलनाडु की बोम्मलट्टम काफी कौशल वाली कला है, जिसमें बड़ी-बड़ी कठपुतलियां धागों और डंडों की सहायता से नचाई जाती हैं। यही कला आंध्रप्रदेश और कर्नाटक में भी पाई जाती है।

जानवरों की खाल से बनी, खूबसूरती से रंगी गईं और सजावटी तौर पर छिद्रित छाया कठपुतलियां आंध्रप्रदेश, कर्नाटक, ओडिशा और केरल में काफी लोकप्रिय हैं। उनमें कई जोड़ होते हैं, जिनकी सहायता से उन्हें नचाया जाता

है। केरल के तोलपवकूथु और आंध्रप्रदेश के थोलु बोमलता में मुख्यतः पौराणिक कथाएं ही दर्शाई जाती हैं, जबकि कर्नाटक के तोगलु गोम्बे अट्टा में धर्मेतर विषय एवं चरित्र भी शामिल किए जाते हैं।

दस्ताने वाली कठपुतलियां नचाने वाला दर्शकों के सामने बैठकर ही उन्हें नचाता है। इस किस्म की कठपुतली का नृत्य केरल का पावकथकलि है। ओडिशा का कुंधेइनाच भी ऐसा ही है।

पश्चिम बंगाल का पतुल नाच डंडे की सहायता से नचाई जाने वाली कठपुतली का नाच है। एक बड़ी-सी कठपुतली नचाने वाले की कमर से बंधे खंभे से बांधी जाती है और वह पर्दे के पीछे रहकर डंडों की सहायता से उसे नचाता है। ओडिशा के कथिकुंधेई नाच में कठपुतलियां छोटी होती हैं और नचाने वाला धागे और डंडे की सहायता से उन्हें नचाता है।

कठपुतली नाच की हर किस्म में पार्श्व से उस इलाके का संगीत बजता है, जहां का वह नाच होता है। कठपुतली नचाने वाला गीत गाता है और संवाद बोलता है। जाहिर है, इन्हें न केवल हस्तकौशल दिखाना पड़ता है, बल्कि अच्छा गायक व संवाद अदाकार भी बनना पड़ता है।

राजस्थानी कठपुतलियों का कोई जवाब नहीं। वे देश-विदेश घूम आई हैं और उनकी प्रशंसा उन देशों ने भी की है जहां कठपुतली कला को पर्याप्त संरक्षण दिया गया है। एक जमाना था जब राजस्थानी कठपुतलीकार अपने सिर पर कठपुतलियों के विश्व समारोह में भारत का प्रतिनिधित्व करने के बाद तो इस प्राचीन लोककला का सिलसिला ऐसा चला कि इसे अनेक देशों ने अपनाया। कभी राजस्थान के कठपुतलीकार अपनी कठपुतलियों को घोड़ों और गधों पर ले जाया करते थे। किंतु समय के साथ कठपुतलियां वायुयान द्वारा दुनिया भर में पहुंची और प्रतियोगिताओं की प्रतियोगी भी बनी। दो खटिया के सहारे बनाए गए रंगमंच पर प्रदर्शन करने वाली कठपुतलियां दर्शकों को विमोहित करती रहीं और आज भी राजस्थान में कठपुतली प्रदर्शनकर्ताओं की संख्या पच्चीस हजार से अधिक है। किंतु प्रशिक्षित होने के कारण वे इस कला को बनाए रखने में सक्षम नहीं रहे और उनकी आजीविका बनने के बावजूद यह कला विकसित नहीं हो पा रही। राजस्थान में 3,000 वर्षों से अधिक समय से निरंतर प्रदर्शित किया जा रहा 'अमरसिंह राठौड़' का 'कठपुतली प्रदर्शन' अब नहीं दिखता है, और जो कठपुतलीकार अपनी निर्जीव कठपुतलियों में प्राण भर दिया करते हैं, आज दाने-दाने को मोहताज हो गए हैं। भारतीय लोक कला मंडल, उदयपुर ने कला के विकास के लिए भाट कठपुतलियों को प्रशिक्षित किया और उनके दलों ने उन्हीं की शैली में नवीन कथानकों पर आधारित कठपुतली नाटिकाएं प्रस्तुत कीं। सीमित परिवार, पर्यावरण एवं अल्पबचत जैसे विषयों पर भी प्रदर्शन किए, किंतु यह लोककला आधुनिक मनोरंजन के साधनों के कारण धीरे-धीरे विलुप्त होती जा रही है।

कभी इन्हीं कठपुतलीकारों की परम्परा में वह नट भी था, जिसने विक्रमादित्य के समय से प्रसिद्ध 'सिंहासन बत्तीसी' नाटिका की रचना की थी। वह सिंहासन बत्तीसी केवल सिंहासन की ही नहीं थी बल्कि उसकी बत्तीस पुतलियां रात के सम्राट विक्रम का मनोरंजन करके पुनः सिंहासन में प्रतिस्थापित होकर उसकी शोभा बढ़ाती थीं। इन्हीं भाटों की परम्परा में वे भाट भी थे, जिन्होंने पृथ्वीराज चौहान के समय ''पृथ्वीराज संयोगिता'' नाटक तथा नागौर के राजा अमरसिंह राठौड़ के लिए कठपुतली प्रदर्शन किया। दक्षिणांचल और ओडिशा के कठपुतलीकार किसी समय उन्हीं के वंशज थे। बाद में वे उत्तर भारत से महाराष्ट्र, आंध्र और तंजौर की तरफ चले गए और सातवाहन राजाओं से संरक्षण पाकर वहीं रच-बस गए। दक्षिण भारत और ओडिशा की प्रायः सभी कठपुतली शैलियां महाभारत, रामायण और भागवत कथाओं से ओत-प्रोत रहीं। कठपुतली कला के प्रख्यात संरक्षक-पक्षधर स्व. देवीलाल सामर के कारण राजस्थान कठपुतली की सर्वप्रथम प्रतिष्ठा भारतीय लोक कला मंडल, उदयपुर में हुई जहां उसके प्रचार, विकास और शोध कार्य में विशेषज्ञ लगाए गए।

देश में राजस्थानी कठपुतली शैली के अतिरिक्त कठपुतलियों की चार शैलियां और हैं *ओडिशा, बंगाल, बम्बोलोटन* तथा *आंध्र,* किंतु उनके मनोरंजनात्मक तत्व राजस्थानी शैली जैसे प्रबल और शक्तिशाली नहीं हैं।

आंध्र के छाया पुतलीकार यदि अपनी बांसों की टोकरियों में से पुतलियों को बिना पूजन किए निकाल लें तो उनकी धारणा है कि उसी दिन उनके परिवार में कोई अनिष्ट हो जाएगा, इसलिए वे पूजन के बाद ही कठपुतली प्रदर्शन करते हैं। बंगाल के पुतली वाले काली मंदिर से बाहर नहीं निकलते और यही हाल ओडिशा के पुतली कलाकारों का है।

पुतली चालन

पुतली कला का मूल तत्व उसका गति विधान है। इसी से पुतली प्रदर्शन में सबसे महत्वपूर्ण भूमिका संचालन की है। प्रत्येक प्रकार के पुतली प्रदर्शन में संचालन की अपनी युक्तियां और तकनीक होती है जिनका विकास पुतलियों के आकार और प्रारूप, अंगों के जोड़, प्रदर्शन की परिस्थितियों और रूढ़ियों के अनुरूप होता है। पुतली चालन उस विशेष स्वरूप के संवाद एवं संगीत प्रारूपों तथा लयों पर निर्भर होता है क्योंकि गतियां इन्हीं के अनुरूप होती हैं। अलग-अलग पुतली प्रकारों में संचालन भिन्न-भिन्न होता है।

1. दस्ताना पुतलीः पुतली चालक के हाथ में पहन ली जाती है। वह पुतली के नियंत्रण के लिए सभी उंगलियों का प्रयोग कर सकता है परंतु सामान्यतः तर्जनी पुतली के सिर के नीचे होती है। अंगूठा एक हाथ को और तीसरी उंगली दूसरे हाथ को नियंत्रित करती है। गतियां नियमित होती हैं, परंतु इस शैली में पुतली-चालकों के दर्शकों के सामने होने के कारण उनकी मुखाभिव्यक्ति की भी पुतलियों की गतियों को स्पष्ट करने में महत्वपूर्ण भूमिका होती है।

2. ढंड पुतलियांः पश्चिम बंगाल की तीन-चार फीट ऊंची दंड पुतलियों का संचालन बहुत नाटकीय होता है। सिर का जोड़ गरदन पर होता है और दोनों हाथ कंधों से जुड़े होते हैं। पुतलियों को नीचे से संचालित किया जाता है।

3. सूत्रचालित पुतलियांः इस शैली में संचालन का अधिक अवकाश होता है। पुतली के आकार, उसके सूत्रों और जोड़ों की योजना के कारण गतियों में बहुत विविधता लाई जा सकती है। उदाहरणार्थ आंध्र प्रदेश और तमिलनाडु में सूत्र और दंड दोनों से युक्त विशाल पुतलियों की गतियों में पुतली के सिर पर सूत्र का एक सिरा और दूसरा सिरा पुतली-चालक के सिर पर मुकुट की तरह पहने हुए एक मोटे छल्ले से बंधे होने के कारण बहुत विविधता लाई जाती है। राजस्थान की सूत्रचालित पुतलियों में एक या दो सूत्रों से ही अनेक गतियां जैसे झुकना, गले लगाना, हंसना, बोलना और युद्ध करना इत्यादि प्रदर्शित कर दिए जाते हैं। रासधारी पुतली में जिसे अनारकली भी कहते हैं, छह से नौ सूत्र होते हैं, और उनके द्वारा कथक नृत्य की गतियां दिखाई जाती हैं।

4. छाया पुतलियांः पुतली-चालक पुतलियों के आकार, पुतलियों में जोड़ों के प्रारूप और परदे के आकार के अनुसार गतियों में विविधता लाते हैं। ओडिशा की परम्परा के सरल संचालन (एक या दो पुतली चालकों) द्वारा बिना जोड़ की

उन छोटी पुतलियों के संचालन से आंध्र की परम्परा तक, जहां विशाल मानव आकार के जोड़ों वाले अंगों से युक्त पुतलियों के तीन-चार खड़े हुए पुतली-चालकों के संचालन में बड़ी विविधता और विस्तार दिखाई पड़ता है।

आंध्र और कर्नाटक परम्परा के पुतली चालक पारदर्शी पुतलियों का पूरा लाभ उठाते हैं। वे परदे से पुतली की दूरी को बढ़ाते-घटाते हुए छाया के घनत्व में परिवर्तन करते रहते हैं। इस प्रकार पुतलियां कभी बहुत स्पष्ट हो जाती हैं, कभी कुछ धुंधली। छाया में परिवर्तन द्वारा समुचित भावनात्मक वातावरण बनाने और प्रदर्शन की नाटकीयता बढ़ाने में सहायता मिलती है। पुतली-चालक, जो स्वयं ही अपनी पुतलियां बनाते हैं, उनकी गतियों में लयात्मकता और सुंदरता होती है। पुतलियां गतियों को ध्यान में रखकर तैयार की जाती हैं उसी तरह जैसे मुखौटों की संकल्पना और प्रारूप में होता है। पुतलियों का संचालन करते समय पुतली-चालक लय का अनुसरण करते हुए अपने पैरों और शरीर को हिलाते रहते हैं जिससे पुतलियों की गतियां भी सजीव हो उठती हैं।

इसी प्रकार अलग-अलग पुतली संचालन परम्परा को भिन्न-भिन्न राज्यों में भिन्न-भिन्न नामों से जाना जाता है। **केरल** की दस्ताना पुतलियों को **पावा-कुत्तू** (गुड़ियों का नृत्य) कहते हैं। और कथकली अभिनेताओं से समानता रखने के लिए इन्हें पावा **कथकलि** कहा जाता है। **ओडिशा** के दस्ताना पुतलियों के नाच को **कुंढेई नाच** और दंड पुतलियों के नाच को **कथी कुंढेई नाच** कहते हैं। यहां की सूत्र चालित पुतलियों को **सखी कुंढेई** कहते हैं। इसी प्रकार **तमिलनाडु** में **बोम्मलाट्टम** एवं **कुभकोणम** दो पुतली शैलियां हैं। **आंध्र** में **तालबोम्मलट्टा** परंपरा, **कर्नाटक** में **गोम्बेअट्टा** परम्परा तथा **महाराष्ट्र** में **कलासूत्री बाहुल्य** परम्परा है।

आधुनिक पुतली कला की दशा और दिशा

भारत की प्राचीन और समृद्ध पुतली कला के संदर्भ में आधुनिक पुतली कला के संदर्भ में आधुनिक पुतली कला की स्थिति बेहद निराशाजनक है। दिल्ली में कोई पुतली दल नहीं है। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् दिल्ली, कोलकाता और मुंबई जैसे बड़े नगरों में कुछ दल बन गए थे। व्यक्तिगत पुतली चालकों और पुतली दलों के साथ ही कलाओं को प्रोत्साहन देने वाली कुछ संस्थाएं पुतली कला को भी प्रोत्साहित करती थीं। अधिकांश काम राजस्थान की सूत्रचालित

पुतलियों के क्षेत्र में हुआ। काम की नई सुविधा पाकर राजस्थान से पुतली कलाकारों के लगभग पचास परिवार दिल्ली आकर शहर के सीमांत में आकर बस गए। आज वे सभी अपने पुनर्वासन की लड़ाई लड़ रहे हैं।

दिल्ली में कमला देवी चट्टोपाध्याय की प्रेरणा से भारतीय नाट्य संघ ने कुछ काम शुरू किया। राजस्थानी कठपुतली में परम्परागत पुतली चालकों को लेकर पारम्परिक नाट्य शिल्प के विशेषज्ञ इंदर राजदान के निर्देशन में कुछ नाटक नए विषयों को लेकर किए गए। संगीत और नृत्य के प्रशिक्षण में लगी हुई दूसरी सांस्कृतिक संस्था भारतीय कला केंद्र ने भी पुतली कला में रुचि ली और इसके तत्वावधान में कठपुतली शैली में कुछ नाटक प्रस्तुत हुए। उदयपुर में अपनी संस्था लोक कला मंडल में स्व. देवी लाल सामर ने कठपुतली में महत्वपूर्ण काम किया। उन्होंने एक पुतली दल रखा और उसके साथ कई अंतरराष्ट्रीय पुतली समारोहों में भाग लिया। केंद्रीय संगीत नाटक अकादमी, नई दिल्ली पारम्परिक कलाओं को प्रोत्साहित करने की योजना के अंतर्गत पुतली प्रदर्शन और पुतली समारोह करती रही है। अकादमी में भी पुतलियों का काफी बड़ा संग्रह है जिसमें कुछ इसकी दीर्घाओं में लगी हुई हैं।

पुतली कलाकार दादा पदमजी ने श्रीराम सेंटर, नई दिल्ली में काफी काम किया और कठपुतली में प्रयोग किए। उन्होंने मशहूर *ईशारा* नाम का अपना दल बनाया। कोलकाता में रघुनाथ गोस्वामी का काम उल्लेखनीय एवं सराहनीय है। उन्होंने दंड पुतलियों के क्षेत्र में काम किया। सुरेश दत्ता की सूत्र पुतलियों पर आधारित रामायण बेहद लोकप्रिय हुई।

सभी देशों में कठपुतली कला की प्राचीन परंपरा है और रोम, यूनान, मिस्र तथा चीन में तो इन पुतलियों ने धर्म प्रचार किया है। वहां कठपुतलियों के माध्यम से धार्मिक और ऐतिहासिक महापुरुषों के जीवन से संबंधित कठपुतली नाटक रचे गए। यह वह समय था जब नाटक का विकास विश्व में कहीं नहीं हुआ था और नाट्य की आवश्यकता हुई तो उसका आरोपण सर्वप्रथम पुतलियों से ही हुआ।

आज कठपुतली कला का सिलसिला कहीं नहीं रह गया है, लेकिन उसकी आवश्यकता अनुभव की जा रही है। जैसी मौलिकता इस लोककला में दृष्टव्य है, रंगमंच की दूसरी कलाओं में नहीं। गांवों में कठपुतली प्रदर्शन देखने वालों की आज भी कमी नहीं है। आवश्यकता इस बात की है कि सरकार एवं समाज

इस लोककला को बनाए रखने के सार्थक प्रयास करें और पुतली कला को संरक्षण दें।

आधुनिक रंगमंच

जब हम आधुनिक रंगमंच की बात करते हैं तो हमें पिछले डेढ़ सौ वर्षों की गतिविधियों का आकलन करना होगा। पारंपरिक नाट्य-संस्कृति और संस्कृत रंगमंच की पुरानी संकल्पनाओं को विस्तार देते हुए बाहरी संस्कृतियों के साथ सम्पर्क प्रभाव और अपनी आंतरिक आवश्यकताओं के अनुरूप हमारे देश का रंगकर्म विकसित हुआ। नई अंग्रेजी हुकूमत के साथ भारत की सामाजिक-आर्थिक और सांस्कृतिक स्थितियों में जो परिवर्तन परिलक्षित हो रहे थे, उन्होंने ही रंगमंच को भी कई अर्थों में प्रभावित किया।

अंग्रेजों के साथ उनका थियेटर भी भारत आया। किंतु हमारी ढाई हजार साल पुरानी परंपरा की मौजूदगी में उनकी अवधारणाओं के साथ इसका संघर्ष भी प्रारंभ हुआ। थोड़े-बहुत तालमेल के साथ रंगयात्रा जारी रही। वस्तुतः हिन्दी रंगमंच की शुरुआत भारतेंदु हरिश्चंद्र के नाटकों से होती है। पारसी थियेटर तो काफी पहले से मौजूद था परंतु उनकी वेशभूषा, भाषा शैली या यूं कहें कि उनकी रंग-संकल्पना भिन्न थी।

1857 की क्रांति के दौरान चले दमन-चक्र ने रंगमंच को भी नई ऊर्जा दी। इसी समय भारतेंदु ने 'सत्य हरिश्चंद्र' (1875), 'भारत दुर्दशा' (1876), 'अंधेर नगरी' (1881) जैसे नाटक लिखे और उनका मंचन किया। इसके पहले 1868 में 'जानकी मंगल' (शीतला प्रसाद त्रिपाठी) नाटक का मंचन हो चुका था। बंगाल में दीनबंधु मित्र का 'नीलदर्पण' (1860) काफी लोकप्रिय हुआ था। देश के कई प्रदेशों में कई नाट्य संस्थाएं गठित हुईं। इप्टा की स्थापना कई मायनों में महत्वपूर्ण रही। इप्टा के ही हबीब तनवीर, शीला भाटिया, उत्पल दत्त, शंभू मित्र, बलराज साहनी जैसे कलाकारों ने देश में रंगकर्म को स्थापित करने में निर्णायक भूमिका निभाई।

रंगमंच की दुनिया में पारसी रंगमंच विशेष स्थान रखता है। हिन्दी व अन्य रंगमंच ने भी पारसी थियेटर से काफी कुछ ग्रहण किया। किंतु, पारसी नाट्य आंदोलन विक्टोरियाई शैली से प्रभावित था, यहां तक कि मुंबई और कालीकट में पहले जिन नाट्यगृहों का निर्माण हुआ, उनको लंदन के 'ड्यूटी लेन' और

'कावेटे थिएटर' की वास्तुशैली के अनुसार बनाया गया था। इस नाट्य गृह के रंगद्वार, पार्श्व और मंच वन, नदी, पर्वत, प्रासाद एवं दुर्ग के दृश्यों से चित्रित पर्दों से युक्त होते थे। सामने के पर्दे को ड्रॉप कहा जाता था। भव्य दृश्य-विधान, अतिनाटकीयता, रंगमंच पर ज्यादा प्रकाश, भारी-भरकम भड़कीली सीनरी, यूरोपीय शैली के स्तम्भ, वास्तु विधान और फर्नीचर विक्टोरियन शैली की सभी बातें पारसी रंगमंच में अपना ली गई थीं। संगीत में भी पाश्चात्य एवं भारतीय संगीत का मिश्रण होता था। पारसी रंगमंच में लगभग प्रत्येक अंक का अंत झांकी से होता था।

1870 में पहली पारसी थियेटर कंपनी बनाई गई थी। बाद में अन्य कंपनियां भी बनीं। ये हिन्दी, उर्दू, गुजराती, अंग्रेजी कई भाषाओं में नाटक करती थी। आगा हशरा कश्मीरी को पारसी थियेटर का भारतीय शेक्सपीयर माना जाता है।

मुंबई में रहने वाले संपन्न पारसी समुदाय के व्यावसायिक प्रयास के रूप में पारसी रंगमंच में संकरता के सभी तत्व थे। 1853 में आरंभ होकर यह बड़ी लोकप्रियता से तीस और चालीस के दशक तक चलता रहा। यह पहले तो मूक फिल्मों और फिर सवाक् फिल्मों से होड़ न कर सका और समाप्त हो गया। परंतु पहले की मूक फिल्मों और सवाक् फिल्मों में इसका प्रभाव आया। पारसी रंगमंच के लोकप्रिय नाटक जैसे 'इंद्रसभा', 'आलमआरा', या 'खूनेनाहक' (हैमलेट की कहानी) पर फिल्में बनी। सिनेमा में पारसी रंगमंच की मंचन तकनीक और रूढ़िया ले ली गईं जैसे गीतों और नृत्य की अधिकता। यह देखना प्रासंगिक होगा कि व्यावसायिक पारसी रंगमंच के आरंभ से पूर्व कई सालों से बड़ा सक्रिय अव्यावसायिक नाट्य आंदोलन चल रहा था जो अंग्रेजी, हिंदुस्तानी और गुजराती में नाटक करता था। अव्यावसायिक नाट्य कार्रवाई के कारण नाटक के प्रति रुचि उत्पन्न होती गई और उसके दर्शक बन गए। इसका लाभ उठाते हुए धनी पारसियों ने नाट्य कंपनियां बनाईं। इनमें से कुछ नाट्यशालाएं थीं अलफिंस्टन नाट्यगृह (1853), एडवर्ड नाट्यगृह (1860), गेयटी थियेटर (1860), एम्पायर थियेटर (1898), ट्रिवोली थियेटर (1898), नॉवल्टी थियेटर (1898), राष्ट्रीय थिएटर (1898), विक्टोरिया थिएटर, रायल ऑपेरा हाउस, एल्फ्रेड कंपनी, विलिंग्डन सिनेमा और हिंदी नाट्यशाला। मुंबई में स्थापित कुछ पारसी थिएटर कंपनियां और नाट्य क्लब इस प्रकार हैं: 'पारसी नाटक मंडली', अल्फिंस्टन नाट्य क्लब, पारसी स्टेज प्लेयर्स, जोरोआस्ट्रियन नाटक मंडली, ओरियंटल नाटक मंडली,

ओरियंटल ड्रामेटिक क्लब, जोरोआस्ट्रियन ड्रामेटिक क्लब, जोरोऑस्ट्रियन क्लब, पारसी क्लब, अल्बर्ट नाटक मंडली शेक्सपियर नाटक मंडली, विक्टोरियन नाटक मंडली, ओरिजनल विक्टोरियन क्लब, पारसी विक्टोरियन ऑपेरा ट्रूप तथा हिंदी नाटक मंडली इत्यादि। मुंबई के साथ कुछ दूसरे नगरों और बड़े कस्बों में भी नाट्य कंपनियां स्थापित की गईं। राजस्थान एवं कई राज्यों में अपनी थिएटर कंपनियां थीं।

पारसी रंगमंच के प्रमुख तत्व अतिनाटकीयता, रहस्यमयता और सनसनीखेज प्रभाव वाले थे। परम्परागत दृश्यों महल, किला, नदी, पहाड़ आदि के लिए चित्रित परदे होते थे और एक अग्र परदा अंक के अंत की सूचना देने के लिए होता था। नाटक में चरम सीमा के बिंदु पर एक प्रभावी झांकी दृश्य के साथ भी अग्र परदे का प्रयोग होता था। यदि दर्शक उत्साहपूर्ण होते और बराबर ताली बजाते रहते तो अग्र परदा बार-बार उठाया-गिराया जाता था और झांकी दृश्य स्थिर बना रहता था। विस्तृत दृश्यबंध, भव्य दृश्य और करतब वाले दृश्यों पर हमेशा जोर-से तालियां बजती थीं।

वेशभूषा और दृश्यबंध की रचना के लिए पारसी रंगमंच राजा रवि वर्मा की 'कैलेंडर कला' पर निर्भर करता था। 20वीं शताब्दी के आरंभ में राजा रवि वर्मा ने तैल रंगों की तकनीक और चित्रकला की यूरोपीय परम्परा के अनुसार आधुनिक चित्रकला शुरू की थी। वे स्वयं पारसी रंगमंच से पौराणिक विषयों को चुनते थे और दृश्य बनाने के लिए भी इनसे प्रभावित होते थे। उनके चित्र 'सीता स्वयंवर' और 'सीता भूप्रवेशम' पारसी रंगमंच के दृश्य से प्रतीत होते हैं।

इसी प्रकार 'इप्टा' (भारतीय जन नाट्य संघ) की स्थापना 1942 में कोलकाता में हुई। यह भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी का सांस्कृतिक मंच था। इसका तात्कालिक कारण था बंगाल का अकाल जिसमें शासक वर्ग की लापरवाही के कारण तीन लाख लोग भूख के कारण काल-कवलित हो गए। 1944 में कलकत्ता में 'इप्टा' के संस्थापकों में एक बिजन भट्टाचार्य ने 'नवान्न' (नई फसल) नामक नाटक लिखा। उसमें भू-स्वामियों द्वारा किसानों का शोषण नाटकीय रूप में दिखाया गया है। भट्टाचार्य ने एक दूसरा नाटक 'जबानबंदी' भी लिखा। 1942-43 में अल्मोड़ा का उदय शंकर केंद्र, जिसमें आधुनिक सृजनात्मक नर्तकों को प्रशिक्षण देकर विकसित किया जाता था, बंद हो चुका था। इसके परिणामस्वरूप कुछ

नर्तक जैसे शांतिवर्धन, नरेन्द्र शर्मा और शचीन शंकर संगीतकार रवि शंकर के साथ इप्टा के केंद्रीय दल में शामिल हो गए।

इप्टा का आंदोलन हर राज्य में अपनी शाखाओं के साथ फैल गया। उसमें नाट्य कलाकार, नर्तक, संगीतकार, लोक गायक और अभिनेता भी शामिल थे। इस पार्टी में गाथा-गीतों के गायन जैसे आंध्र प्रदेश की 'बुर्रा कथा', और महाराष्ट्र का 'पवाड़ा' इत्यादि भी शामिल कर लिए गए। पार्टी में राजनीतिक मतभेद थे। 1947 में केंद्रीय दल बंद हो गया। अब भी कुछ राज्यों में इप्टा दल हैं परंतु उनका कलात्मक स्तर विशेष अच्छा नहीं है।

महाराष्ट्र में भी संगीतमय रंगमंच का काफी विकास हुआ। बालगंधर्व और खादिलकर ने इस दिशा में उल्लेखनीय कार्य किया। बाद में पृथ्वीराज कपूर ने पृथ्वी थियेटर (जो कि घुमंतू मंडली ही थी) की स्थापना 1944 में की। इनके द्वारा खेले गए यथार्थवादी शैली के सुधारवादी नाटकों ने पारसी रंगमंच की अतिनाटकीयता को संयत किया। पारसी रंगमंच समाप्त हो चुका था और देश का नाट्य जीवन सूना हो गया था। ऐसे में पृथ्वी थिएटर की स्थापना हुई। भले ही यह व्यक्तिगत प्रयास था परंतु इसकी शक्ति और प्रभाव एक आंदोलन का-सा था। राष्ट्रीयता और सामुदायिक एकता के भावों से परिपूर्ण उनके नाटक थे, 'दीवार', 'पठान', 'गद्दार' और 'आहुति'। उन्होंने संस्कृत नाटक 'शंकुतला' भी प्रस्तुत किया। उनका दल का दौरा पूरे उत्तर भारत में होता था और उनकी प्रस्तुतियां अधिकतर सवेरे सिनेमाघरों में होती थीं क्योंकि नाट्यशालाएं तब थी ही नहीं। प्रस्तुति के बाद वे दर्शकों के बीच पैसा इकट्ठा करने के लिए झोली फैलाकर घूमते थे। दुःख की बात है कि उन्हें इसे 1960 में बंद करना पड़ा। परंपरा की इसी कड़ी में कमलादेवी चटोपाध्याय द्वारा स्थापित इंडियन नेशनल थियेटर, जो अखिल भारतीय संस्था थी, की विभिन्न शाखाओं के कार्य आते हैं। इसी संस्था ने छठे दशक के प्रारंभिक वर्षों में पहली बार प्रादेशिक स्तर पर अव्यवसायिक रंगमंच को संगठित करने का कार्य किया।

हिन्दी रंगमंच को यदि जयशंकर प्रसाद से लेकर धर्मवीर भारती तक ने समृद्ध किया तो ईश्वर चंद नंदा और नोरा रिचर्ड्स जैसे नाटककारों ने पंजाबी में अप्रतिम योगदान दिया। दूसरी तरफ राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय (1959) की स्थापना ने नाटकों को उसके अर्थ, व्यक्तित्व, ऊर्जा और संभावनाओं से रू-ब-रू

किया। इस संस्था से प्रशिक्षित रंगकर्मियों ने देश के विभिन्न भागों में जाकर नाट्य मंडलियां बनाई हैं और रंगकर्म के रचनात्मक उपयोग के लिए महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहे हैं।

धर्मवीर भारती, मोहन राकेश, जगदीशचंद्र माथुर, लक्ष्मीनारायण लाल, बृजमोहन शाह, असगर वजाहत, विजय तेंदुलकर, बादल सरकार, मनोज मित्र, महेश एल्कुंचवार, शिवराम कारंत, मोहन उप्रेती, चंद्रवदन मेहता, जयशंकर सुंदरी, प्रवीण जोशी, गोवर्धन पांचाल, प्रो. रामचंद्र शंकर नायक, पुंडलीक नारायण नायक, रोमोला येन्सेम्बम, रमेश पाणिग्रही आदि नाटककारों व रंगकर्मियों ने देश में रंगमंच और उससे जुड़े संस्कारों को स्थापित करने में कोई कोर-कसर नहीं छोड़ी है।

यह सही है कि सिनेमा के आगमन व प्रचार-प्रसार से नाटकों पर प्रभाव तो पड़ा है, किंतु सिनेमा स्वतंत्र विधा नहीं है। इसमें रंगमंच, उपन्यास, कहानी, फोटोग्राफी, नृत्य स्थापत्य, संगीत, मूर्ति-शिल्प, चित्रकला, आदि सभी का योगदान हैं। देखा जाए तो रंगमंच इसके मूल में विद्यमान है। तथापि, नाटकों, खास तौर पर मौलिक नाटकों से रंगमंच को समृद्ध करते हुए ऐसे धरातल का निर्माण अपेक्षित है, जिससे बरसों से चली आ रही हमारी नाट्य परंपरा नई चुनौतियों का सामना करते हुए भी अपनी पहचान बनाए रखे।

भारतीय अंग्रेजी रंगमंच

इसकी शुरुआत तब हुई जब 1837 में कृष्ण मोहन बनर्जी ने *द पर्सक्यूटिड* लिखा। लेकिन भारतीय अंग्रेजी रंगमंच की वास्तविक शुरुआत तब हुई जब 1871 में माइकल मधुसूदन दत्त की *इज दिस कॉल्ड सिविलाइजेशन* कृति साहित्य क्षितिज पर प्रकट हुई। रबीन्द्र नाथ टैगोर एवं श्री अरबिंदो, भारत के दो मशहूर विचारक-कवि, को अंग्रेजी में प्रथम नाटककारों के तौर पर देखा जाता है।

यद्यपि स्वतंत्रता पूर्व का अंग्रेजी रंगमंच अपने कवित्त श्रेष्ठता, थीमेटिक वेरायटी, तकनीकी गुणवत्ता, प्रतीकात्मक महत्ता एवं मानव एवं नैतिक मूल्यों के प्रति प्रतिबद्धता के लिए विचारणीय एवं गौरतलब हैं। स्वतंत्रता पश्चात् भारतीय अंग्रेजी रंगमंच, हालांकि, भारतीय अंग्रेजी साहित्य में सामान्य तौर पर और भारतीय अंग्रेजी रंगमंच में विशेष तौर पर विदेशी देशों की रुचि बढ़ने के कारण लाभान्वित हुआ। आसिफ क्यूरिभ्यो, प्रताप शर्मा एवं गुरचरण दास जैसे भारतीय नाटककारों

ने बड़ी संख्या में इंग्लैंड एवं अमेरिका में सफलतापूर्वक नाटक किए। लेकिन भारत में किसी भी नियमित भारतीय अंग्रेजी रंगमंच संस्थान की स्थापना नहीं की गई।

सिनेमा के आगमन के साथ, नाटक या रंगमंच की लोकप्रियता में बेहद गिरावट आई। हालांकि, इसने स्वतंत्रता पश्चात् काफी प्रोत्साहन प्राप्त किया। 'राष्ट्रीय थियेटर' के सृजन के लिए स्वदेशी रंगमंच रूप की भरसक कोशिश की गई। परम्परागत रंगमंच के साथ प्रयोग किए गए और नई तकनीकियां सामने आईं और पुराने एवं नए रंगमंच को जोड़ना प्रारंभ हुआ। जिससे एक नवीन थियेटर उत्पन्न किया गया। अंतरराष्ट्रीय रूप से जाने-पहचाने लेखकों का अध्ययन किया गया और भारतीय रंगमंच में उनके अर्थपूर्ण व्यवहार के सारतत्व को आत्मासात् किया गया। समकालीन भारतीय रंगमंच, शास्त्रीय एवं यूरोपियन मॉडल से विचलन होकर, थीमेटिक एवं तकनीकी गुणवत्ता के लिहाज से नवोन्मेषी एवं प्रयोगात्मक बना। इसने समकालीन सामाजिक-राजनीतिक मुद्दों के संदर्भ के साथ इतिहास, महान व्यक्तित्वों, भ्रमों, धर्म एवं लोक परम्परा को फिर से खंगालकर विश्व रंगमंच के इतिहास में एक अलग प्रकार की परम्परा की नींव रखी। मोहन राकेश, बादल सिरकर, विजय तेंदुलकर एवं गिरीश कर्नाड द्वारा संवारी गई संचयी थियेटर परम्परा ने समकालीन भारतीय अंग्रेजी थियेटर के लिए पृष्ठभूमि निर्मित की।

नुक्कड़ नाटक (स्ट्रीट प्ले)

नुक्कड़ नाटक भारतीय परम्परा में संचार के एक माध्यम के तौर पर बेहद गहरे तक समाए हुए हैं। स्ट्रीट प्ले या थियेटर ने औपचारिक बंधनों को तोड़कर सीधे तौर पर जनता से जुड़े। इस नाटक रूप का प्रयोग सामाजिक एवं राजनीतिक संदेशों के प्रचार और सामाजिक मुद्दों के संदर्भ में लोगों के बीच जागरूकता फैलाने के लिए किया गया। इन नाटकों में कालाबाजारी एवं भ्रष्टाचार के मुद्दों को उठाया गया। नुक्कड़ नाटकों का प्रयोग चुनावों के दौरान राजनीतिक अस्त्र के रूप में भी किया गया। नुक्कड़ नाटकों में महिला संबंधी मामलों की थीम महत्वपूर्ण रही। 1980 में, मथुरा बलात्कार मामले को लेकर कई नुक्कड़ नाटक हुए ताकि कानूनों को अधिक कड़ा बनाया जाए। *ओम स्वाहा* नुक्कड़ नाटक में दहेज की मांग जैसी बुरी प्रथा को प्रस्तुत किया गया जिसका परिणाम शोषण एवं वधू की मृत्यु तक होती है।

हबीब तनवीर एवं उत्पल दत्त ने 1940 और 1950 में स्ट्रीट थियेटर का प्रयोग राजनीतिक उत्प्रेरक के तौर पर किया। स्ट्रीट थियेटर को 1970 में पुनर्जीवित किया गया और यह आंदोलन पूरे देश में फैला गया। देश में करीब 50 ऐसे समूह हैं, मुख्य रूप से शहरों एवं इनके उपनगरों में, जो स्ट्रीट थियेटर में क्रियाशील हैं।

भारतीय स्ट्रीट थियेटर एक कला रूप के तौर पर विकसित हुआ जिसने आम लोगों की भावनाओं को उजागर किया, इससे एक पूरी तरह से नवीन थिएटर रूप का जन्म हुआ। आम लोगों के दैनंदिन जीवन की समस्याओं एवं रूपों ने भारतीय स्ट्रीट थिएटर में आयाम प्राप्त किया जिसने इसे भारतीय *नाट्य* में एक विशेष वर्ग के तौर पर खड़ा किया।

चार्जशीट (1949) कोलकाता में एक प्रारंभिक स्ट्रीट प्ले था। शुरुआती स्ट्रीट थियेटर मात्र संक्षेप में हुआ करते थे लेकिन 1967 में उत्पल दत्त का *दिन बदलेर पाला* बेहद विस्तृत था।

'स्ट्रीट प्ले' के क्षेत्र में कुछ महत्वपूर्ण नाम लिए जा सकते हैं। जैसे बादल सिरकर, प्रवीर गुहा, सफदर हाशमी, गुरचरण दास इत्यादि नाम हैं।

महिलाओं का थियेटर

1970 में, सामाजिक रूप से संबद्ध थिएटर एवं महिलाओं के आंदोलनों का अभ्युदय हुआ। थियेटर के माध्यम से कई निषेध विषयों को स्वीकृति प्राप्त हुई। 1980 और 1990 में महिलाओं का विषय व्यापक तौर पर भारतीय थियेटर परिदृश्य में आया। यद्यपि 1970 में नारीवादी थियेटर भी एक सांस्कृतिक रूप में सामने आया।

1973 में सफदर हाशमी के जन नाट्य मंच या पीपुल्स थियेटर फ्रंट ने औरत (1979) नामक स्ट्रीट प्ले का मंच किया जिसमें वधू जलाना, पत्नी की पिटाई एवं दहेज जैसे विषयों को उठाया गया। महिला-केंद्रित मुद्दों पर थियेटर के ध्यान ने इंडियन पीपुल्स थियेटर मूवमेंट या आईपीटीए के विकास का मार्ग प्रशस्त किया जो 1943 में सक्रिय हुआ था। पोडली सेनगुप्ता (अंग्रेजी), वर्षा अदलजा (गुजराती), मंजुला पद्मनाभन (अंग्रेजी), त्रिपुरारी शर्मा (अंग्रेजी एवं हिंदी), कुसुम कुमार (हिंदी), गीतांजलि श्री (हिंदी) इरपिंदर भाटिया (हिंदी), नीलम मानसिंह चौधरी (पंजाबी), बीनोदिनी (तेलुगू), बी. जयश्री (कन्नड), शनोली मित्रा (बंगाली), ऊषा गांगुली (हिंदी), शांता गांधी (गुजराती), सुषमा देशपांडे

(मराठी), वीणापानी चावला (मराठी), एवं कुदसिया जाडी (उर्दू) कुछ मुख्य महिला नाटककार हैं।

प्रमुख आधुनिक नाटककार

धर्मवीर भारतीः महाभारत युद्ध के बाद की परिस्थितियों को रेखांकित करता नाटक 'अंधा युग' नाट्यकर्मियों के लिए हमेशा ही चुनौती बना रहा। युद्ध की विभीषिका के बाद हुए विनाश और पीड़ा को दृष्टांकित करता धर्मवीर भारती का यह नाटक निर्देशन से लेकर अभिनय व अन्य पक्षों तक सफल रंगकर्मी की कसौटी है।

मोहन राकेशः 1960 के दशक में जीवन की कठिनाई भरी वास्तविकताओं से जूझती मानवीय संवेदनाओं की दुनिया में उतरकर नाटक लिखने वाले मोहन राकेश ने अपने संवेदनशील मस्तिष्क की उर्वरा शक्ति का भरपूर प्रयोग करते हुए कई नाटक लिखे और नाटककारों में अपना महत्वपूर्ण स्थान बनाया। कालिदास के जीवन पर आधारित 'आषाढ़ का एक दिन' में जीवन की करुणा को बड़े ही सशक्त ढंग से उभारा गया है। 'आधे-अधूरे' में बिखरते हुए मध्यमवर्गीय परिवार का भय और हताशा, जिसमें घर की औरत परिवार को बांधने का प्रयास करती है, का मार्मिक वर्णन किया गया है। 'लहरों के राजहंस' नाटक भी भावनाओं पर आधारित एक मर्मस्पर्शी प्रस्तुति है।

विजय तेंदुलकरः भारतीय रंगमंच को उनके मराठी नाटक 'शांताता कोर्ट चालू आहे' से व्यापक लाभ हुआ। इसमें मध्यम वर्ग की छुपी हुई क्रूरता को बखूबी उभारा गया है। नाटक के पूर्वाभ्यास के दौरान ही एक महिला चरित्र को अपशब्द और उग्रता झेलनी पड़ी थी। 'सखाराम बाइंडर' को हालांकि उसकी कथित अश्लीलता की वजह से प्रतिबंधित किया गया था, किंतु बाद में मुंबई उच्च न्यायालय ने इसके प्रदर्शन पर लगी रोक हटा दी। 'गिधाले' और 'घासीराम कोतवाल' भी इंसान में दबी हिंसा और यौनाचार की गहराई में जाकर पड़ताल करते हैं।

हबीब तनवीरः हबीब तनवीर ने मध्यप्रदेश की लोक परंपरा और आदिवासी नाट्यरूपों का प्रयोग कर भारतीय रंगमंच को नए आयाम दिए हैं। इस दिशा में किए गए अभिनव प्रयोगों को उनके नाटक 'मिट्टी की गाड़ी' में देखा जा सकता है। लोक एवं आदिवासी कलाकारों को लेकर उन्होंने एक नाट्यमंडली बनाई,

जिसने छत्तीसगढ़ी में 'चरनदास चोर' का सफल मंचन किया। इसमें एक ऐसे चोर की कहानी है, जो अच्छे कामों के लिए अपना जीवन दे देता है।

गिरीश कर्नाडः कन्नड़ नाटकों के लेखक गिरीश कर्नाड ने अपने नाटक 'ययाति' और 'तुगलक' से अलग पहचान बनाई। संपूर्ण पुरुष की तलाश में भटकती औरत की मनोदशा का चित्रण 'हयवदन' में किया गया है। यह कथासरित्सागर के एक पौराणिक चरित्र पर आधारित है।

एक रोचक तथ्यः बब्बन खां का उर्दू प्रहसन 'अदरक के पंजे', छोटे परिवार का संदेश फैलाते एक व्यक्ति की कहानी; का पिछले 25 वर्षों में 7000 से भी अधिक बार मंचन हो चुका है। इस नाटक का अन्य सत्ताईस भाषाओं में अनुवाद भी किया गया है।

थियेटर प्रोत्साहन के संस्थान

थियेटर को प्रोत्साहन प्रदान करने के लिए देश में कुछ खास संस्थाएं स्थापित की गईं।

राष्ट्रीय नाटक संस्थान (एनएसडी): नेशनल स्कूल ऑफ ड्रामा एक प्रशिक्षण संस्थान है जो नई दिल्ली में स्थित है। ई. अलकाजी के निर्देशन में इस संस्थान में आधुनिक भारतीय थिएटर के विकास में काफी योगदान दिया। संगीत नाटक अकादमी द्वारा 1959 में स्थापित यह संस्थान 1975 में पूरी तरह से स्वायत्त संस्थान बन गया तथा यह सरकार द्वारा पूरी तरह से वित्तपोषित है। 2005 में इसे डीम्ड विश्वविद्यालय का दर्जा प्रदान किया गया लेकिन संस्थान के अनुरोध पर वर्ष 2011 में इस दर्जे को समाप्त कर दिया गया। यह रंगमंच में प्रशिक्षण प्रदान करता है और देश में थिएटर का प्रचार करता है। इसने अपने विद्यार्थियों के लिए लोक, परम्परागत एवं प्रादेशिक थिएटर रूपों में प्रशिक्षण शुरू किया।

एनएसडी की मंचन इकाईः राष्ट्रीय नाटक संस्थान की रेपर्टरी कंपनी एनएसडी की पेशेवर मंचन इकाई के तौर पर 1964 में स्थापित की गई। इसका उद्देश्य भारत में पेशेवर थिएटर को प्रोत्साहित करना है। इसके पहले अध्यक्ष ओम शिवपुरी थे। इस इकाई ने 70 नाटककारों के काम पर आधारित 120 से अधिक नाटिकाओं का मंचन किया। इसका प्रत्येक वर्ष महोत्सव होता है। यहां सभी नए एवं पुराने नाटकों का मंचन किया जाता है।

संस्कार रंग टोलीः एनएसडी ने 1989 में थिएटर-इन-एजुकेशन कंपनी (टीआईई) या संस्कार रंग टोली की स्थापना की। यह भारत का पहला शैक्षिक संसाधन केंद्र है और यह 8 से 16 वर्ष तक के बच्चों को प्रशिक्षण देता है। यह एक साथ स्कूल एवं वयस्क दर्शकों के लिए निरंतर नाटकों का मंचन करते हैं। इसके वार्षिक थिएटर महोत्सव जश्न-ए-बचपन एवं बाल संगम हैं।

क्षेत्रीय केंद्रः एनएसडी ने पूरे देश में क्षेत्रीय संसाधन केंद्र (RRC) खोले हैं, जिनमें से पहला 1994 में बंगलुरू में स्थापित किया गया। यह एनएसडी का अपनी गतिविधियों के विकेंद्रीकरण की दिशा में एक कदम था।

भारतेन्दु एकेडमी ऑफ ड्रामेटिक आर्टः यह लखनऊ में थिएटर प्रशिक्षण संस्थान है। यह एक स्वायत्त संस्थान है जिसकी स्थापना उत्तर प्रदेश सरकार के संस्कृति मंत्रालय के अधीन की गई है। बीएनए की स्थापना 2 जुलाई, 1975 को उत्तर प्रदेश संगीत नाटक एकेडमी के तहत् जानी-मानी थिएटर व्यक्तित्व-राज बिसारिया के अथक् प्रयासों से हुई। भारत में थिएटर के प्रसार के अन्य संस्थानों में हैदराबाद विश्वविद्यालय का थिएटर कला विभाग, फ्लेम स्कूल ऑफ परफार्मिंग आर्ट्स तथा इलाहाबाद विश्वविद्यालय का सेंटर ऑफ थिएटर एण्ड फिल्म, शामिल हैं।

थियेटर महोत्सव

भारत में थियेटर कला को विकसित एवं लोकप्रिय बनाने के लिए कुछ निम्नलिखित थियेटर महोत्सव आयोजित किए जाते हैं।

पृथ्वी थियेटर महोत्सवः यह भारत में प्रथम थियेटर महोत्सव है। इसका आयोजन पृथ्वी थियेटर द्वारा किया जाता है। इस महोत्सव का प्रारंभ 1978 में पृथ्वी राज कपूर द्वारा किया गया। इसमें नाटक प्रस्तुत किए गए जिसमें वन एक्ट प्ले शामिल है। इनका निर्देशन पेशेवर एवं शौकिया निर्देशकों ने किया। यद्यपि यह मूलतः हिंदी/उर्दू थियेटर महोत्सव है, अंग्रेजी में अच्छे चुनिंदा काम का भी मंचन किया गया।

भारत रंग महोत्सवः नेशनल स्कूल ऑफ ड्रामा, नई दिल्ली द्वारा आयोजित किया जाता है। 1999 में स्थापित, यह एक वार्षिक थियेटर महोत्सव है। यह एशिया का सबसे बड़ा थियेटर महोत्सव माना जाता है जो पूरी तरह से थियेटर को समर्पित है।

नंदलिकर नेशनल थियेटर फेस्टीवलः एक वार्षिक महोत्सव है जो कोलकाता में सबसे बड़ा थियेटर कार्निवल है। अधिकतर प्ले बंगाली में मंचित किए जाते हैं।

1958 में शुरू, **कालीदास समारोह** वार्षिक तौर पर उज्जैन में मनाया जाता है। इसमें नाटक एवं नृत्य के क्षेत्र में जाने-माने कलाकार खिंचे चले आते हैं। समारोह में कालीदास के मूल नाटक को संस्कृत में, हिंदी में एवं अन्य भाषाओं में मंचन किया जाता है।

थेसप्पो एक अखिल भारतीय वार्षिक युवा थियेटर महोत्सव है जिसका आयोजन कबासर थियेटर प्रॉडक्शन (क्यूटीपी) और थियेटर ग्रुप बॉम्बे (टीजीबी) द्वारा किया जाता है। इसका आयोजन प्रत्येक वर्ष दिसंबर माह में पृथ्वी थियेटर एवं एनसीपीए में किया जाता है।

अन्य उल्लेखनीय महोत्सव हैं अक्का महोत्सव, मैसूर, एनआईएनएसएएम सांस्कृतिक महोत्सव, हेगोड्डु; सूर्या महोत्सव, तिरुवनंतपुरम; नेहरू सेंटर द्वारा आयोजित नेशनल थिएटर फेस्टिवल, मुम्बई; सुंदरी महोत्सव, मुम्बई; वेल्वी नेशनल थियेटर फेस्टिवल, मदुरई; और आदिशक्ति रामायण फेस्टिवल, पुदुचेरी।

थियेटर पुरस्कार/सम्मान

थियेटर के क्षेत्र में दिए जाने वाले कुछ प्रसिद्ध सम्मान निम्न प्रकार हैं।

संगीत नाटक अकादमी पुरस्कारः संगीत नाटक अकादमी पुरस्कार संगीत नाटक अकादमी द्वारा दिया जाता है जो भारत में नृत्य, संगीत एवं नाटक संबंधी राष्ट्रीय अकादमी है। यह पुरस्कार संगीत, नृत्य, थियेटर, अन्य परम्परागत/लोक/जनजातीय/नृत्य/संगीत थियेटर, कठपुतली एवं मंचन कलाओं में योगदान एवं छात्रवृत्तियों की श्रेणियों में दिए जाते हैं।

कालीदास सम्मानः एक सम्मानजनक एवं प्रतिष्ठित पुरस्कार है जिसे वार्षिक रूप से मध्य प्रदेश सरकार द्वारा प्रदान किया जाता है। यह सर्वप्रथम 1980 में प्रदान किया गया था। 1986-87 से यह पुरस्कार शास्त्रीय संगीत एवं नृत्य, थियेटर एवं प्लास्टिक आर्ट में प्रत्येक वर्ष उल्लेखनीय उपलब्धि प्राप्त करने के लिए प्रदान किया जाता है।

अध्याय-6

सिनेमा

नृत्य एवं नाटक, ने विगत् वर्षों में एक अभिजात्य गुणवत्ता एवं भावना को हासिल किया। सिनेमा गरीब एवं आम लोगों के मनोरंजन का साधन इसकी सुगम पहुंच एवं सस्ता होने के कारण बना। उल्लेखनीय रूप से, भारत विश्व में सर्वाधिक संख्या में फिल्में बनाने वाला देश है।

हिंदी सिनेमा

ल्युमिए ब्रदर्स ने जब 19 शताब्दी के आखिरी दशक में सिनेमा का आविष्कार किया तब कौन जानता था कि यह आविष्कार आने वाले वर्षों में करोड़ों लोगों के मनोरंजन का अकेला और सस्ता साधन बनने वाला है। फ्रांस में पहले फिल्म प्रदर्शन के लगभग सात महीने बाद बंबई में 7 जुलाई, 1896 को पहली बार ल्युमिए ब्रदर्स की फिल्मों का प्रदर्शन हुआ था। 1899 में एच.एस. भाटवेडकर ने ही पहली न्यूज रील बनाई। पहली फीचर फिल्म बनाने का श्रेय दादा साहब (धुंडीराज गोविंद) फाल्के को जाता है जिन्होंने 1913 में पहली मूक फिल्म 'राजा हरिश्चंद्र' का निर्माण किया था। मूक फिल्मों का निर्माण लगभग दो दशक तक होता रहा। 1934 तक लगभग 1300 मूक फिल्मों का निर्माण हुआ था, 1931 में जब पहली बोलती फिल्म का निर्माण हुआ था, वह वर्ष मूक फिल्मों के चरमोत्कर्ष का भी था। इस वर्ष कुल 200 मूक फिल्मों का निर्माण हुआ था, लेकिन 1932 में यह संख्या घटकर सिर्फ 64 रह गई थी और मूक फिल्मों के निर्माण के आखिरी वर्ष 1934 में सिर्फ 7 ऐसी फिल्में बनीं।

1916 में आर. नटराज मुदलियार ने कीचक वधम नाम की फिल्म दक्षिण में बनाई थी। उसके अगले वर्ष जे.एफ. मदन ने कलकत्ता में सत्यवादी हरिश्चंद्र नामक फिल्म बनाई। 1920 में बंबई, कलकत्ता और मद्रास में फिल्म सेंसर बोर्ड

स्थापित किए गए। इसी वर्ष फिल्मी पत्रिका 'बिजली' बंगला भाषा में कलकत्ता से प्रकाशित होने लगी। 1920 में ही इटली के सहयोग से नल दमयंती नामक फिल्म का निर्माण हुआ जो किसी अन्य देश के सहयोग से बनने वाली प्रथम भारतीय फिल्म थी। मूक फिल्मों की कथावस्तु अधिकांशतः पौराणिक-धार्मिक या कभी-कभी सामाजिक होती थी। 1925 में बाबूराम पेंटर ने सावकारी पाश नाम से मूल फिल्म बनाई जिसे कई फिल्म समीक्षक पहली भारतीय कला फिल्म मानते हैं। वी. शांताराम ने इनमें विज्ञान की भूमिका निभाई थी जिसकी जमीन एक लालची साहूकार द्वारा छीन ली जाती है और उसे मजबूरन शहर आकर मिल में मजदूरी करनी पड़ती है। सावकारी पाश को पहली यथार्थवादी फिल्म भी कहा जा सकता है।

1931 में प्रथम बोलती फिल्म बनने से पूर्व भारत में विदेशी सवाक् फिल्मों का प्रदर्शन शुरू हो चुका था। इन्हीं से प्रेरित होकर आर्देशिर एम. ईरानी ने 1931 में पहली बोलती फिल्म 'आलम आरा' का प्रदर्शन किया। तमिल भाषा में बनी पहली फिल्म कालिदास का निर्माण भी 1931 ई. में हुआ था जिसका निर्देशन एच.एम. रेड्डी ने किया था। सवाक् फिल्मों की संख्या धीरे-धीरे बढ़ने लगी। 1932 में यह संख्या 84 हो गई। 1947 तक लगभग 15 भाषाओं में फिल्में बनने लगी थीं और अकेले 1947 में कुल 280 फिल्मों का प्रदर्शन हुआ था।

तीसरे-चौथे दशक में फिल्में अपनी निर्माण कंपनियों के नाम से पहचानी जाती थीं। बोम्बे टॉकीज प्रभात फिल्म्स, न्यू थियेटर्स, फिल्मिस्तान आदि कुछ प्रसिद्ध फिल्म कंपनियां थीं। दक्षिण में भी ए.वी. मेयप्पन (ए.वी.एम.) जैमिनी आदि कंपनियां स्थापित हुईं।

स्वतंत्रता से पूर्व के दौर में फिल्मों को सेंसर के डर से सीधे तौर पर आजादी की लड़ाई का वाहक बनाना तो संभव नहीं हुआ, परंतु पौराणिक-ऐतिहासिक कथाओं के माध्यम से स्वतंत्रता संग्राम की अंतर्वस्तु को अभिव्यक्ति बराबर दी जाती रही। इसके कारण कई बार ऐसी फिल्मों को प्रतिबंध का भी सामना करना पड़ा। फिल्मों के इस दौर में दूसरा महत्वपूर्ण काम समाज सुधार के कार्य में योग देना रहा। 1936 में बनी 'अछूत कन्या' ने सामाजिक न्याय के प्रश्न को केंद्र में रखा तो इसी वर्ष मराठी में बनी संत तुकाराम को सिनेमा के इतिहास में क्लासिक

का दर्जा प्राप्त है। 1936 का वर्ष भारत में वामपंथी आंदोलन के उदय का दौर था और इसका असर फिल्मों पर भी दिखाई दिया। इस दृष्टि से दुनिया ना माने (1937, हिंदी), पुकार (1939, हिंदी), त्यागभूमि (1939, तमिल), रामशास्त्री (1944, मराठी/हिंदी), रोटी (1942, हिंदी), नीचा नगर (1946, हिंदी) अन्य उल्लेखनीय फिल्में हैं। इन सभी फिल्मों में यथार्थवादी शैली में सामाजिक अंतर्विरोधों को चित्रित करने का सफल और कलात्मक प्रयत्न किया गया था। इस दौर के प्रमुख फिल्मकारों में वी शांताराम, नितिन बोस, पी.सी. बरुआ, धीरेन गांगुली, हिमांशु राय, सोहराब मोदी, चेतन आनंद, मेहबूब खान, के. सुब्रह्मण्यम, वी. दामले, एस. फत्तेलाल, ख्वाजा अहमद अब्बास आदि के नाम गिनाए जा सकते है।

अंग्रेजी शासन के दौरान स्थापित सेंसर बोर्ड बाद में भी बने रहे परंतु राजनीतिक- सामाजिक सिनेमा बनाने में फिल्मकारों को अधिक स्वतंत्रता प्राप्त हुई। तकनीकी दृष्टि से भी अब विश्व सिनेमा काफी आगे जा चुका था जिसका असर भारतीय सिनेमा पर भी स्पष्ट देखा जा सकता था। इस काल में जो फिल्मकार फिल्म निर्माण के क्षेत्र में सक्रिय हुए उन्हें विश्व सिनेमा में होने वाले बदलावों की अधिक पुख्ता जानकारी और गहरी समझ थी। इस दौर की कई फिल्मों को राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय पुरस्कारों से सम्मानित किया गया। पाथेर पांचाली (1955), चारुलता (1964), चेम्मीन (1965), जागते रहो (1956), दो बीघा जमीन (1953) इस दृष्टि से उल्लेखनीय फिल्में थीं। दक्षिण में इसी दौर में एन. टी. रामाराम (तेलुगु), शिवाजी गणेशन और एम.जी. रामचंद्रन (तमिल), प्रेम नजीर (मलयालम) और राजकुमार (कन्नड) के नायकत्व वाली फिल्मों ने विराट लोकप्रियता प्राप्त की और ये अभिनेता क्षेत्रीय नायकों के रूप में लोगों के दिलों पर शासन करने लगे।

1947 के बाद और 1970 के पूर्व तक भारतीय समाज में आशा और आस्था का वर्चस्व कायम था। लोगों को विश्वास था कि नये परिवर्तनों से समाज में ऐसे बदलाव आयेंगे जो आम आदमी के जीवन में खुशहाली लाएंगे।

1970 के आसपास बिगड़ते हालात ने जनता को सामूहिक प्रतिरोध के लिए प्रेरित किया, जिसका नतीजा वामपंथी एवं जनवादी आंदोलन के रूप में दिखाई दिया।

इस नये बदलाव का असर सिनेमा पर दिखाई दिया। इस नये सिनेमा को

नया सिनेमा या समांतर सिनेमा नाम दिया गया। यह यथार्थवाद की परंपरा का ही विकास था परंतु इसने नये प्रयोगों के लिए भी जमीन तैयार की। यह नया सिनेमा दो तरह का था। एक मणि कौल, कुमार शहानी आदि का प्रयोगशील सिनेमा था तो दूसरी ओर श्याम बेनेगल, गौतम घोष, गोविंद निहलानी, सईद अख्तर मिर्जा, जब्बार पटेल का प्रतिबद्ध सिनेमा।

हिन्दी में 'नए सिनेमा' की उल्लेखनीय फिल्में रहीं 'सारा आकाश' (बासु चटर्जी), 'दस्तक' (रजिन्दर सिंह बेदी), 'उसकी रोटी', 'दुविधा' (मणि कौल), '27 डाउन' (अवतार कौल), 'माया दर्पण' (कुमार साहनी), 'अनुभव' (बासु भट्टाचार्य), 'गरम हवा' (एम.एस. सथ्यू) इत्यादि। सत्तर के दशक का अंत आते-आते ऐसे निर्देशक भी सामने आए जिन्होंने उच्च कोटि की कला फिल्में तो बनाईं ही, जिन्हें दर्शकों ने भी भरपूर सराहा। इनमें थीं गोविंद निहलानी की 'अर्धसत्य', 'आक्रोश', सईद मिर्जा की 'मोहन जोशी हाजिर हों,' 'अलबर्ट पिंटो को गुस्सा क्यों आता है', सई परांजपे की 'स्पर्श', मुजफ्फर अली की 'गमन', केतन मेहता की 'होली', बिप्लव राय चौधरी की 'शोध'।

नया सिनेमा का यह दौर ज्यादा लंबे समय तक जीवित नहीं रह सका। नब्बे के दशक में फिर एक बार लोकप्रिय सिनेमा का ही बोलबाला हो गया। यद्यपि इस सिनेमा में रूमानियत और आदर्शवाद का स्थान अब हिंसा और सैक्स ने लिया।

नब्बे के दशक की शुरुआत में कई अच्छी फिल्में सामने आईं 'दृष्टि' (गोविन्द निहलानी), 'मरुपक्कम' (सेतुमाधवन), 'अंजली' (मणिरत्नम), 'एक डॉक्टर की मौत' (तपन सिन्हा), 'वास्तुहार' (अरविंदन की आखिरी फिल्म), 'आगंतुक' (सत्यजीत राय की आखिरी फिल्म)।

आखिरी दशक में महिला निर्देशकों ने भी काफी सफल व अच्छी फिल्में दीं। सई परांजपे के अलावा अपर्णा सेन (36 चौरंगी लेन, परोमा), विजया मेहता (पेस्टन जी), मीरा नायर (सलाम बॉम्बे) ने अपने किस्म की अच्छी फिल्म बनाई हैं।

कला फिल्मों को छोड़ दें तो 'मुख्यधारा' की फिल्मों में हिंसा और अश्लील दृश्यों की भरमार होती गई। हास्य फिल्में भी आईं, लेकिन मुख्य रूप से मारधाड़, उत्तेजक नृत्य और कामुक गीतों वाली फिल्मों की प्रचुरता रही। फिर एक नई

प्रवृत्ति देखने को मिली। नायक अपने उदात्त रूप से ऊबने लगा। 'डर' और 'खलनायक' जैसी फिल्मों ने एंटी-हीरो की छवि पेश की। फिर, नायक अपनी कला की विविधता दर्शाने के लिए घाघरा-चोली से लेकर साड़ी पहन एक अलग ही भूमिका में नजर आए। 'चाची 420' में कमल हसन ने महिला के रूप में लम्बी भूमिका निभाई, जिसे कई कारणों से सराहा भी गया। इन सबके बीच सूरज बड़जात्या की सामाजिक फिल्मों ने काफी धूम मचाई। 'नदिया के पार', 'मैंने प्यार किया', 'हम आपके हैं कौन' जैसी साफ-सुथरी फिल्मों ने दर्शकों को मारधाड़ व अश्लीलता के बीच स्वस्थ मनोरंजन प्रदान किया। दूसरी तरफ दीपा मेहता ने 'फायर' फिल्म बनाकर सांस्कृतिक विवाद खड़ा किया। भारतीय संस्कृति के बेबाक चित्रण के नाम पर कई वर्गों की नाराजगी उन्हें झेलने पड़ी।

भारतीय सिनेमा, जिसे अब उद्योग का दर्जा मिल चुका है, ने 1994 में अपने सौ वर्ष पूरे किए। इस धूमधाम के बीच टेलीविजन चैनलों, वीडियो इत्यादि की वजह से फिल्मों का व्यावसायिक चक्र प्रभावित हुआ है। अब भारतीय सिनेमा का भविष्य कैसा होगा यह इस बात पर निर्भर करता है कि क्या कम बजट की, कम मारधाड़ व चकाचौंध वाली, सामाजिक समस्याओं पर बनी यथार्थवादी फिल्में फिर से अपना स्थान बनाएंगी या निजी चैनलों की बढ़ती लोकप्रियता के सामने प्रभावहीन हो जाएंगी।

1990 के दशक में, रोमांस भरी, मारधाड़ वाली एवं हास्य फिल्मों का निर्माण किया गया। ऐसे दर्शक भी मौजूद थे जो पुरानी कथाओं एवं थीम्स को बेइंतहा पसंद करते थे। नए उभरते सिनेमा ने वैश्वीकरण एवं समय तथा तकनीक के साथ कदमताल किया। उन्नत विशेष प्रभाव, डिजिटल ध्वनि, अंतरराष्ट्रीय अपील, बेहतर पटकथा एवं निगम क्षेत्रों से निवेश सिनेमा के प्रमुख थे। शाहरुख खान, आमिर खान एवं सलमान खान नए सुपर स्टार्स के तौर पर उदित हुए।

नवीन शताब्दी में, बेहद नाटकीय बदलाव आए। नए तरीके एवं शैलियां सामने आयीं और बड़ी संख्या में अभिनेता एवं अभिनेत्रियां इस क्षेत्र में आए लेकिन उतनी ही जल्दी गायब भी हो गए। नए भूमिकाओं, तकनीकों, विषयों एवं तरीकों के अनुप्रयोग पर बल दिया जाने लगा। *तारे जमीं पर, फिर मिलेंगे, दिक्शा,* एवं *पीपली लाइव* जैसी फिल्मों ने लोगों को शिक्षित करने का प्रयास किया। *सरकार, राजनीति, पेज 3,* एवं *फैशन* उन फिल्मों में से थी जिन्होंने समकालीन समाज एवं राजनीतिक परिदृश्य को प्रतिबिम्बित किया।

आजादी की लड़ाई और हिंदी सिनेमा

भारतीय सिनेमा की राष्ट्रीय आंदोलन में कोई भूमिका थी या नहीं, दरअसल यह जांचने का काम भी अभी गंभीरता से नहीं हुआ है। अब तक जो तथ्य सामने आए हैं, उससे यही निष्कर्ष निकलता है कि राष्ट्रीय सिनेमा की धारा कमजोर भले ही रही हो लेकिन महत्वहीन नहीं थी।

वस्तुतः फिल्में देखना या न देखना उस समय सम्पूर्ण मध्यमवर्गीय भारतीय जनमानस का द्वंद्व था। मध्यवर्गीय परिवारों में यदि कोई युवा अच्छी पुस्तकें पढ़ता था तो जहां उसे एक ओर प्रोत्साहन मिलता था वहीं, अच्छी फिल्में देखने पर फटकार की भी आशंका बनी रहती थी। वैसे इस तथ्य से इंकार नहीं किया जा सकता कि भारत में अंग्रेजी राज के खिलाफ राष्ट्रीय आंदोलन ने समाज में जो लहरें पैदा कीं, 1930 के आस-पास उनमें से एक लहर राष्ट्रीय सिनेमा की भी थी, जिसका संघर्ष भारतीय सिनेमा के औपनिवेशिक शोषण से था। पर इसमें कोई संदेह नहीं है कि राष्ट्रीय आंदोलन ने जिन सांस्कृतिक लहरों को जन्म दिया था उनमें से यह सबसे कमजोर लहर थी।

एक तरफ जहां हमारा राष्ट्रीय नेतृत्व सिनेमा की शक्ति से प्रायः अनभिज्ञ था और उसे उपेक्षित दृष्टि से देख रहा था वहीं दूसरी तरफ प्रथम विश्व युद्ध के दौरान हुए अपने अनुभवों से अंग्रेज संप्रभुओं ने सिनेमा की ताकत को अच्छी तरह से पहचान लिया था। अंग्रेजों ने प्रथम विश्व युद्ध के दौरान जहां सिनेमा का इस्तेमाल अपने पक्ष में 'प्रोपेगंडा' के रूप में किया था, वहीं रूसी क्रांति के फलस्वरूप 1917 में रूस द्वारा साम्राज्यवादी युद्ध से अलग हो जाने पर सिनेमा को उन्होंने 'बोल्शेविज्म' के खिलाफ प्रचार के लिए भी इस्तेमाल करने का प्रयास किया। शायद सिनेमा की ताकत के अहसास ने ही युद्ध के अंतिम चरण में यानी 1918 में अंग्रेजों को 'इंडियन सिनेमाटोग्राफ एक्ट' पारित करने के लिए बाध्य किया। इसके अंतर्गत सार्वजनिक प्रदर्शन पूर्व हर फिल्म को सेंसर बोर्ड से प्रमाण-पत्र लेना आवश्यक था। यह सेंसर परोक्ष रूप से पूरी तरह राजनीतिक था और इसके तहत् किसी भी राजनीतिक आंदोलन, व्यक्ति या घटना का चित्रण अथवा व्यवस्था पर प्रश्नचिन्ह लगाने वाले कथानकों पर बने सिनेमा की नियति थी, उसका प्रतिबंधित होना। अर्थात् जब भारत में स्वतंत्रता की लड़ाई जन-आंदोलन की शक्ल अख्तियार कर रही थी, सिनेमा पर सेंसर की पाबंदियां

लगा दी गई। 1916 में एक बार फिल्म बनाने के लिए गवर्नमेंट ट्रेजरी से 3,000 पौंड की धनराशि व्यय करने की संस्तुति दी गई थी। अतः जाहिर है उस व्यवसाय से जुड़े लोगों के लिए सत्ता से बैर लेना काफी महंगा था। आश्चर्य नहीं कि ऐसे में राष्ट्रीय आंदोलन से जुड़ी फिल्में कम ही बनीं, इसके बावजूद ऐसी ढेरों फिल्में बनीं, जिन्होंने राष्ट्रीय जीवन-भावना एवं द्वंद्व को अभिव्यक्ति दी।

मूक सिनेमा के दौर में ही भ्रष्ट औपनिवेशिक संस्कृति के प्रभावों के खिलाफ सामाजिक चेतना से लैस फिल्मों की परम्परा शुरू हो गई थी। पाटनकर बंधुओं द्वारा निर्मित *'शिक्षा एवं वासना'* एवं 'कबीर कलाम' (1919) उल्लेखनीय हैं, जिन्होंने सामाजिक चेतना की अलख जगाने के प्रयासों से सिनेमा को भी जोड़ा। भारत में अंग्रेजों ने जिस नए आर्थिक आचार-विचार को जन्म दिया था, जमींदार एवं साहूकार उसके अभिन्न अंग थे। इन जमींदारों एवं साहूकारों के शोषण को पहली बार 1925 में बाबूराव पेंटर ने 'सावकारी पाश' बनाकर अभिव्यक्ति दी। 1931 में 'आलमआरा' के प्रदर्शन के साथ ही भारत में सवाक् फिल्मों की शुरुआत हुई। यह वह समय था, जब राष्ट्रीय आंदोलन गोलमेज सम्मेलन के उबाऊ दौर से गुजर रहा था और जनता बेचैनी से राष्ट्रीय नेताओं को निहार रही थी। इस समय भारतीय सिनेमा ने जनता की भावनाओं को पर्याप्त अभिव्यक्ति दी। सविनय अवज्ञा आंदोलन का प्रभाव वहन करने के कारण बड़ी संख्या में 1931 से 1934 के बीच फिल्में प्रतिबंधित हुईं जिनमें से कुछ 1937 में कांग्रेस की सरकारों के अस्तित्व में आने के बाद प्रदर्शित हो सकीं।

बीसवीं शताब्दी के तीसरे दशक की अनेक फिल्मों में जमींदार और किसान, साहूकार और सर्वहारा वर्ग तथा मिल मालिक और मजदूरों के संबंधों, उनके शोषण का चित्रण हुआ। किंतु पूरी ईमानदारी से विषय को चित्रित करने का साहस बहुत कम लोगों ने किया। बॉम्बे टाकीज की फिल्म 'जन्मभूमि' (1936) और प्रभात फिलम्स की 'वहां' (1937) या 'बियॉन्ड द होराइजन' में दासता के विरुद्ध क्रांतिकारी स्वरों को सजीवता के साथ चित्रित किया गया था, जिनमें देश के युवा वर्ग के हृदय की कसमसाहट झलकती है। इसी दौर की एक फिल्म 'आजादी' थी जिसमें देश के अंदर व्याप्त गुलामी और दासता की मानसिकता को जड़ से उखाड़ फेंकने का अभिप्राय छिपा था।

व्ही शांताराम का नाम राष्ट्रवादी फिल्मकारों में अग्रणी है। श्री शांताराम

ने हमेशा ज्वलंत सामाजिक और राजनीतिक प्रश्नों को लेकर फिल्म बनाई और भरसक प्रयास किया कि सामाजिक एवं राजनीतिक चेतना के प्रसार में फिल्में महत्वपूर्ण भूमिका निभाएं। 1937 में बनी उनकी फिल्म 'दुनिया न माने' बेमेल विवाह की समस्या को बड़ी शिद्दत के साथ उठाती है। 1939 में उन्होंने 'आदमी' बनाई, जिसमें पहली बार वेश्या को एक हाड़-मांस की भावना प्रवण महिला के रूप में चित्रित करते हुए, वेश्या पुनर्वास की समस्या को गंभीरता से उठाया गया।

चौरी-चौरा काण्ड के फलस्वरूप असहयोग आंदोलन वापस लेने पर सारे देश में गांधी जी की तीव्र आलोचना हुई। उनकी नीतियों से देश के बुद्धिजीवियों का एक वर्ग उनका तीव्र आलोचक बन गया। ऐसे बुद्धिजीवी सिनेमा में भी कार्यरत थे तथा पी.के. आत्रे एवं मास्टर विनयाक ऐसे ही लोगों में थे। इन दोनों ने अपनी फिल्मों 'ब्रह्मचारी' (1938)', ब्रांडी की बोतल' (1939) और धर्मवीर (1937) के माध्यम से गांधी जी की कार्यविधि एवं कार्यक्रमों की आलोचना की।

40 के दशक में भारत की कम्युनिस्ट पार्टी काफी प्रभावशाली हो चली थी। बुद्धिजीवियों को इसने बेहद प्रभावित किया। सर्वहारा की विजय और पूंजीवाद की अनिवार्य पराजय का सिद्धांत सिनेमा के पर्दे पर भी दिखाई देने लगा। 1942 में महबूब खान ने *'रोटी'* बनाई, जिसमें श्रम पर केंद्रित समाज का एक चित्र प्रस्तुत किया गया था और पूंजी पर केंद्रित समाज की निस्सारता को भी केंद्रित किया गया था।। 1943 में ज्ञान मुखर्जी की *'किस्मत'* प्रदर्शित हुई, जिसमें 'दूर हटो ए दुनिया वालो हिंदुस्तान हमारा है' गाना था। युद्धकाल में ब्रिटिश सरकार ने इसे अपने पक्ष में माना किंतु वास्तव में 'दूर हटो ए दुनिया वालो' कहकर राष्ट्रवादियों ने ब्रिटेन को भी चेतावनी दी थी। विमल राय की 'हमराही' (1946) इस दौर की सर्वाधिक प्रगतिशील फिल्म थी। इसमें साधन सम्पन्न और सर्वहारा, पूंजीपति और मजदूर, समाजवाद और पूंजीवाद के बीच की समस्याओं का एक बौद्धिक हल देने का प्रयास किया गया था। रवीन्द्र नाथ टैगोर का गीत 'जन-गण-मन अधिनायक' इस फिल्म में पहली बार इस्तेमाल किया गया था जो 1947 में स्वतंत्रता पश्चात् भारत का राष्ट्रगान बना।

स्वतंत्रता के पश्चात् नेहरू जी के समाजवादी रुझान ने भारतीय फिल्मों की इस धारा को बनाए रखा। बावजूद इसके कि बॉक्स ऑफिस का उदय दूसरे विश्व युद्ध के बाद सिने उद्योग में आए काले धन के कारण हो चुका था। नेहरू जी के समाजवाद और पूंजीवाद के आदर्श मेल का सपना ज्यों-ज्यों टूटा, त्यों-त्यों

भारतीय जनमानस में मोहभंग का दौर शुरू हुआ, जो नेहरू जी के देहांत के साथ तेजी से सामने आया। समाज के हर क्षेत्र में पतन हुआ। मानवीय और नैतिक मूल्य ढहने लगे। इस पतन और द्वंद्व को समझने के लिए राजकपूर सबसे उचित उदाहरण हैं, जो अपनी वामपंथी रुझान वाली फिल्मों 'आवरा' (1951), 'श्री 420' (1955), 'जागते रहो' (1956)', 'बूट पॉलिश' (1954) के कारण रूस में नेहरू जी के बाद सर्वाधिक चर्चित भारतीय हैं। नेहरू जी के समय में ही राजकपूर की एक फिल्म का गाना 'मेरा जूता है जापानी, ये पतलून इंग्लिशतानी, सर पे लाल टोपी रूसी', 'भारत-रूस मैत्री' का प्रतीक बन गया था।

प्रादेशिक सिनेमा

भारत एक विशाल देश है जहां विभिन्न क्षेत्रों में कई भाषाएं बोली जाती हैं। जिसके परिणामस्वरूप क्षेत्रीय फिल्म उद्योग पनपा। तमिल फिल्म उद्योग (कोलीवुड), तेलुगू फिल्म उद्योग, बंगाली फिल्म उद्योग (टॉलीगुंग), कन्नड़ फिल्म उद्योग और मराठी फिल्म उद्योग प्रत्येक वर्ष बड़ी संख्या में क्षेत्रीय फिल्में बनाते हैं।

प्रादेशिक सिनेमा ने कुछ प्रभावशाली एवं दिल को छू जाने वाली फिल्में बनाई हैं। बंगाल में, तपन सिन्हा की *काबुली वाला,* तरुण मजूमदार की *गणदेवता,* और बुद्धदेव दास गुप्ता की *दूरातवा* भारतीय सिनेमा को उल्लेखनीय योगदान है। मलयालम निर्देशकों ने लीक से हटकर फिल्में बनाकर असामान्य प्रतिभा का परिचय दिया है। इनमें रामू करियत की *चेम्मीन* (1965); अडूर गोपालाकृष्णन की *स्वयंवरम्* (1972), *कोडियट्टम, एलियाथयम* एवं *मुखामुखम;* जी अरविंदम् की *उत्तरायणम* एवं *थेम्प*; वासुदेवन नायर की *निरमलायम;* एवं शाजी करुण की पिरावी प्रमुख हैं। कन्नड़ में, उल्लेखनीय निदेशकों में पट्टाभि रामा रेड्डी *(समसकरा),* बी.बी. कारनाथ *(चोम्मना डूडी),* गिरीश कर्नाड (काडू) एवं गिरीश कसरावल्ली (कटश्रद्धा) शामिल हैं।

प्रादेशिक फिल्म उद्योग का विस्तृत विवेचन इस प्रकार है।

असमिया सिनेमा

असमिया सिनेमा की शुरुआत 1935 में चित्रलेखा मूवीटोन बैनर के तहत् रूपकोनवर ज्योति प्रसाद द्वारा निर्मित *जॉयमिति* से की जा सकती है। उस समय

पर, असमिया सिनेमा ने भाबेन्द्र नाथ सेकिया और जाहनू बरुआ जैसे प्रमुख फिल्म निर्माताओं के होते हुए बेहद धीमी गति एवं संवेदनशील शैली से विकसित हुआ। असमिया सिनेमा, इन विगत् वर्षों में, ने राष्ट्रीय पुरस्कार जीतने के बावजूद कभी बेहद लोकप्रिय नहीं हो पाया। वर्ष 2000 में, बॉलीवुड किस्म की असमिया फिल्में ही मुख्य रूप से बनाई गईं।

यहां तक कि यद्यपि प्रथम असमिया फिल्म बुरी तरह से असफल रही, रूपकोनवर ज्योति प्रसाद अग्रवाल की दूसरी फिल्म, *इंद्रमालती* 1937 और 1938 के बीच बनाई गई और 1939 में प्रदर्शित हुई।

भूपेन हजारिका, असम के सुप्रसिद्ध संगीतज्ञ और गायक, ने फिल्म में बेहद अच्छी भूमिका निभाई। *मनोमती,* एक ऐतिहासिक फिल्म, 1941 में रोहिणी कुमार बरुआ द्वारा बनाई गई। इसके बाद पार्वती प्रसाद बरुआ की *रूपही* (1946), कमल नारायण चौधरी की *बदन बरफुकन* (1947), फणी शर्मा की *सिराज,* असित सेन की *बिपलाबी,* प्रबीन फूकन की *प्रघात* और सुरेश गोस्वामी की *रुनुमी* प्रदर्शित हुई।

1950 में, *पियाली फूकन* प्रदर्शित हुई जिसे रूप ज्योति प्रॉडक्शन के बैनर तले गामा प्रसाद अगरवाला ने निर्मित किया और फणी शर्मा द्वारा निर्देशित किया गया। इस फिल्म ने राष्ट्रीय पुरस्कार प्राप्त किया। यह फिल्म तकनीकी रूप से बेहद उन्नत थी। यह फिल्म स्वतंत्रता सेनानी पियाली फूकन के जीवन पर आधारित थी, जिसने ब्रिटिश साम्राज्य के विरुद्ध लड़ाई लड़ी और उसे राजद्रोह के आरोप में फांसी दी गई। 1955 में, निर्देशक निप बरुआ ने *स्मृति परास* फिल्म से अपनी उपस्थिति दर्ज कराई। उन्होंने बाद में *मक आरू मोरम* तथा *रंग पुलिस* जैसी फिल्में बनाईं जिसने राज्य पुरस्कार एवं राष्ट्रीय स्तर पर सम्मान हासिल किया। 1950 में भूपेन हजारिका ने अपने पहली *ईरा बटोर सुर* बनाई और निर्देशित की। प्रभात मुखर्जी की फिल्म *पुबेरून* (1959), जो मातृत्व के विषय पर आधारित थी, को बर्लिन फिल्म महोत्सव में प्रदर्शित किया गया।

1960 के दशक में, सर्वेश्वर चक्रवर्ती की फिल्म *लचित बोरफुकन,* भूपेन हजारिका की फिल्म *शंकुतला,* जिसने प्रेसीडेंट सिल्वर मेडल जीता, निप बरुआ की *नराकसुर,* अनिल चौधरी की *मैत्री स्वर्ग,* ब्रोजेन बरुआ की *इतु सितु बहुतो* और मुक्ता एवं अनवर हुसैन की तेजीमाला उल्लेखनीय फिल्में थीं।

1970-82 की समयावधि के दौरान, 57 असमिया फिल्में बनाई गईं। नये निर्देशक उदित हुए। 1970 के दशक के प्रमुख फिल्म निर्माता समेन्द्र नारायण देब (1970 में अरण्या), कमल चौधरी (1972 में *भेती,* असम की पहली रंगीन फिल्म), मनोरंजन सुर (1973 में उत्तरन), प्रबीन बोरा (1974 में परिणाम), देउती बरुआ (1974 में *ब्रिस्टी*), पुलोक गोगोई (1974 में *खोज*), पदुम बरुआ (1976 में *गोंगा सिलोनिर पाखी),* भवेन्द्रनाथ सेकी (1977 में *संध्या राग*) एवं अतुल बोरदोलोई (1978 में कोलोल) थे।

1980 और उसके बाद, जानू बरुआ, जिन्होंने *अपरूपा, पपोरी, हलोधिया चोराए बाओधान खाई, बोनानी, फिरिंगोटी* एवं *झागो-रोलोई बोहू दूर* का निर्देशन किया; संजीव हजारिका, जिन्होंने *हलाधर* और *मीमांक्क्षा* बनाई; और भवेन्द्रनाथ सेकैया जिन्होंने *संध्या राग, अनिश्बान, अग्निसनान, सरोथी; कोलाहल, अबर्तन, इतिहास* एवं *काल संध्या* बनाई, जैसे उल्लेखनीय निर्देशकों का दौर रहा। सांत्वना बोरदोलोई *अदज्या* और विद्युत चक्रवर्ती *राग बिराग* के लिए जाने जाते हैं, जिसने राष्ट्रीय एवं अंतरराष्ट्रीय पुरस्कार हासिल किए।

बंगाली सिनेमा

बंगाली सिनेमा ने अपने लिए न केवल घरेलू सिनेमा के संदर्भ में जगह बनाई अपितु अंतरराष्ट्रीय परिदृश्य में भी स्थान हासिल किया। बंगाल ने हीरालाल सेन, सत्यजीत रे, मृणाल सेन, गौतम घोष एवं अन्य जैसे भारतीय सिनेमा में फिल्म मेकिंग के सुप्रसिद्ध नाम दिए। यहां तक कि अभिनय में उत्पल दत्त, उत्तम कुमार, दिलीप रॉय, दीपांकर डे, कल्याणी मोंडल, तनुश्री शंकर और रितुपर्णो सेनगुप्ता जैसी प्रसिद्ध कलाकार बंगाल से ही हैं।

जमाई शस्थी 11 अप्रैल, 1931 को मदन थियेटर द्वारा रिलीज प्रथम बंगाली फिल्म थी। इसके बाद 1931 में बी.एन. सिरकर की *देना पाओना* प्रदर्शित हुई। ध्वनि के आने से थियेटर में गुणवत्तापरक फिल्में आईं। न्यू थियेटर की *चंदंदिदा* ने भारतीय फिल्म में पहली बार बैक ग्राउंड संगीत का इस्तेमाल किया। **1930** के दशक के अन्य महत्वपूर्ण कार्य नितिन बोस की *भाग्य चक्र* जिसमें नितिन बोस ने क्रांतिकारी तकनीकों का इस्तेमाल किया; पी.सी. बरुआ की *गृहदाह* (1936) और देवकी बोस की *सोनार संसार* और अन्य *दीदी, मुक्ति, विद्यापति, साथी* एवं *स्ट्रीट सिंगर* शामिल हैं।

1940 के दशक में बिमल रॉय की *उड्यर पाथे* की सफलता ने वास्तविकता या यथार्थवाद के नवीन मानक स्थापित किए। सथयन बोस की *परिवर्तन* और नेमई घोष की *चिन्नामुल* ने इस प्रवृत्ति को प्रकट किया।

1950 के दशक में, सत्यजीत रे की फिल्म *पाथेर पंचाली* (1955) के साथ, बंगाली सिनेमा ने अंतरराष्ट्रीय ध्यान आकर्षित किया। इस फिल्म ने 1956 में सर्वोत्तम मानवीय दस्तावेज के लिए केन्स पुरस्कार प्राप्त किया। सत्यजीत रे ने ग्रामीण, शहरी एवं ऐतिहासिक विषयों पर 30 फिल्में और पांच डॉक्यूमेंटरी बनाईं। उनकी फिल्मों ने अत्यधिक वास्तविकता एवं विचित्र मानव स्वभाव को प्रकट किया। सत्यजीत रे ने कई राष्ट्रीय एवं अंतरराष्ट्रीय दोनों पुरस्कार हासिल किए। उन्हें मार्च 1992 में 'लाइफटाइम एचीवमेंट' के लिए 'स्पेशल ऑस्कर' भी प्रदान किया गया। उन्होंने विश्व के सभी अग्रणी फिल्म समारोहों में अपनी फिल्मों का प्रदर्शन किया। उन्होंने अपनी फिल्मों को स्वयं संगीतबद्ध किया। सत्यजीत रे की सफलता ने ऋत्विक घटक जैसे फिल्म निर्माताओं को प्रेरित किया जिन्होंने अपनी फिल्मों में वंचित शरणार्थियों के दुःख को प्रस्तुत किया (1953 में *नागरिक,* 1958 में *अजनत्रिक,* 1959 में *बारी थेके पालयी,* 1960 में *मेघ टाका तारा,* 1961 में *कमल गंधार,* 1965 में *सुवर्ण रेखा,* 1972 में *तितश एक्ती नादिर नाम* और 1974 में *जुक्ती ताको और गापो)*।

1960 और **1970** के दशक के दो उल्लेखनीय निर्देशक तपन सिन्हा *(काबुलीवाला, आरोही, अतिथि, हैती बाजारे, खुदी तपसम, सफेद हाथी, बंचारमेर बगान, आदमी और औरत, आज का रॉबिनहुड* और *एक डॉक्टर की मौत)* और मृणाल सेन थे जिन्होंने *रात भोर* (1956), *नील आकाशेर नीचे* (1959) और *बाइसे श्रवण* (1960) जैसी फिल्में बनाईं। उनकी 1969 में *भुवन शोम* फिल्म की अद्वितीय कृति के तौर पर प्रशंसा हुई।

1980 के दशक से, बंगाली सिनेमा में गौतम घोष *(मां भूमि, दखल, पार, अंर्तजलि, यात्रा, पद्मा नादिर माझी, देखा, अबार अरानये);* नबयेन्दु चटर्जी *(रनुर प्रथम भाग, चॉपर, सरीसृप, परासरूम कुथास, अत्मजा, सौदा); बुद्धदेव दासगुप्ता (दूरतवा, नीम अन्नापूर्णा, गृहजुदा, अंधी गली, फेरा, बाघ बहादुर, तहादेर कथा, चराचर, लाल दर्जा, उत्तरा,* और *मेंडो मेयर उपारबान)* जैसे प्रमुख फिल्म निर्माताओं का उदय हुआ।

बंगाली फिल्म निर्माण में नई पीढ़ी के फिल्म-निर्माताओं में संदीप रे *(फाटिक चंद उत्तोरन)*, रितोपुर्णो घोष *(उनिश अप्रैल, दहन, बड़ी बाली, चोकर बाली, रेनकोट), अशोक विश्वनाथन (सुनया टेके सुरू)*, मलय भट्टाचार्य (कहिनी), अनूप सिंह *(एकती नादर नाम)*, शेखर दास, गौतम हलधर (भोलो थेको) और उरणी चक्रवर्ती (हेमंतर पारवी) शामिल हैं।

1980 के दशक के अंत तक, कोलकाता में थियेटर सहित एक फिल्म केंद्र *'नंदन'* उदित हुआ। इसकी स्थापना राज्य सरकार द्वारा की गई। यह नियमित रूप से 'कोलकाता अंतरराष्ट्रीय फिल्म महोत्सव' का आयोजन करता है।

भोजपुरी सिनेमा

पहली भोजपुरी फिल्म वर्ष 1963 में प्रदर्शित हुई। इसका नाम *गंगा मैया तोहे प्यारी चदेबो* था, जिसे निर्मल पिक्चर के बैनर तले विश्वनाथ प्रसाद शाहबादी द्वारा निर्मित एवं कुंदन कुमार द्वारा निर्देशित किया गया। इसके बाद केवल एस. एन. त्रिपाठी निर्देशित विदेसिया (1963) और कुंदन कुमार निर्देशित गंगा (1965) जैसी कुछ फिल्में बनाईं गईं।

1980 में, राजकुमार शर्मा द्वारा निर्देशित *माई* (1989); कल्पतरू द्वारा निर्देशित *हमार भौजी* (1983); गोविंद मूनिज द्वारा निर्देशित और सचिन एवं साधना सिंह द्वारा अभिनीत हिंदी-भोजपुरी सुपरहिट एवं रिकार्ड तोड़ फिल्म *नदिया के पार* (1980), जो एक वर्ष तक सिनेमाघरों में हाउसफुल स्थिति में चलती रही, जैसी फिल्में बनीं। लेकिन 1990 तक, यह उदीयमान फिल्म उद्योग पूरी तरह से खत्म होता प्रतीत हुआ। हालांकि, 2000 के दशक में, मोहन प्रसाद द्वारा निर्देशित सिल्वर जुबली हिट फिल्म *संय्या हमार* ने कुछ हद तक भोजपुरी सिनेमा को इस दयनीय स्थिति से उबारा। मोहन प्रसाद द्वारा निर्देशित *पंडितजी बताई ना ब्याह कब होई* (2005), और *ससुरा बड़ा पैसा वाला* (2005) अन्य लोकप्रिय फिल्में हैं। *ससुरा बड़ा पैसा वाला* ने मनोज तिवारी, सुपरिचित एवं लोकप्रिय लोक गायक, को दर्शकों के सम्मुख उतारा। मनोज तिवारी और रवि किशन भोजपुरी फिल्मों के अग्रणी अभिनेता बन गए। भोजपुरी फिल्म उद्योग अब अपना स्वयं का पुरस्कार वितरण समारोह आयोजित करता है और व्यापार पत्रिका *भोजपुरी सिटी* प्रकाशित करता है।

भोजपुरी फिल्म *भोले शंकर* (2008), जिसमें हिंदी फिल्मों के स्टार अभिनेता मिथुन चक्रवर्ती ने अभिनय कर इसमें प्रथम पदार्पण किया, अब तक की सर्वाधिक हिट एवं लोकप्रिय भोजपुरी फिल्म मानी जाती है। सिद्धार्थ जैन द्वारा निर्मित 21 मिनट की फिल्म *उदीध बन* (2008) को बर्लिन अंतरराष्ट्रीय फिल्म महोत्सव के वर्ल्ड प्रीमियर के लिए चुना गया और इसे सर्वोत्तम लघु फिक्शन फिल्म का राष्ट्रीय फिल्म पुरस्कार भी प्राप्त हुआ। फरवरी, 2011 में, पटना में भोजपुरी सिनेमा के 50 वर्षो को मनाने के लिए एक तीन दिवसीय फिल्म एवं सांस्कृतिक महोत्सव आयोजित किया गया।

गुजराती सिनेमा

गुजराती भाषा सिनेमा में पहली बार कलकत्ता (अब कोलकाता) के मदन थिएटर द्वारा निर्मित *मुबई-नी-सेठानी* (1932) में सुनाई दी। *नरसिंह मेहता* (1932) पहली लंबी गुजराती फिल्म थी। इसका निर्माण नानूभाई वकील द्वारा किया गया था। बलवंत भट्ट निर्देशित और विजय भट्ट निर्मित फिल्म *संसार लीला* (1934), और प्रीमियर फिल्म कंपनी द्वारा निर्मित हास्य फिल्म घर जमाई (1935) भी बेहद सफल रहीं।

1940 के दशक में, विष्णु कुमार व्यास की ऐतिहासिक-लोककथा पर आधारित *रनकदेवी* (1945) *गुण सुंदरी* (1947), जो एक सामाजिक फिल्म थी, की तरह जबरदस्त लोकप्रिय हुई। 1948-1951 के वर्षो के रूप छाया बैनर के तले मनहर रशकपूर निर्देशित *जोगीदास खुमान, कहयागरो कंठ, एवं कन्यादान* निर्मित हुई जिसने मनहर रशकपूर, अरविंद पांड्या और चम्पीक्शी भाई नमादा को बेहद प्रसिद्धि दिलाई। 1950 के दशक में मनहर रशकपूर द्वारा निर्मित दो उल्लेखनीय फिल्म *मलेवा जीव* और कांडू मकरानी-दिखाई दीं।

1960 का दशक गुजराती सिनेमा के लिए बेहद अच्छा साबित हुआ। मनहर रशकपूर की सामाजिक विषय पर आधारित फिल्म *मेंहदी रंग लग्या* जबरदस्त हिट हुई जिसने पूर्व के सारे रिकॉर्ड तोड़ दिए। उन्होंने इसी समय *अखण्ड सौभाग्यवती* फिल्म भी बनाई। इसमें बॉलीवुड अदाकारा आशा पारेख ने अभिनय किया। आशा पारेख ने तब से गुजराती टीवी धारावाहिकों को बेहद योगदान दिया। चंद्रकांत संगनानी की फिल्म मारू *जावू पेले पार* कुछ हद तक सफल रही। उन्होंने जागेर-वन-अमि और *ताना रीरी* जैसी फिल्में भी बनाई। नंदवन (गनपतराव

ब्रह्म भट्ट द्वारा निर्मित) और *गुणसुंदरिनों घर संसार* 1960 के दशक की अन्य महत्वपूर्ण फिल्में थीं।

1970 के दशक में एक नए रूप में गुजराती फिल्म उद्योग सामने आया। कांथीलाल राठौड़ की *कांकू* फिल्म ने सर्वाधिक बेहतर गुजराती फिल्म के लिए राष्ट्रीय पुरस्कार हासिल किया और इसे अंतरराष्ट्रीय सम्मान भी प्राप्त हुआ। इस दशक की उल्लेखनीय फिल्में *तन्नारीरी* (1975) *कशिनो डीक्रो, राजा भृतहरि, सोनबाई नी चुनदादी* (1976), होथल पद्मिनी, इत्यादि थीं। राज्य पुरस्कार से सम्मानित फिल्मों में, *जालम संग जडेजा, डाकूरानी गंगा* (1976-77), *मोरी हेल उतारो राजा,* सौभाग्य सिंदूर, *घेर घेर मतिना चूला, वर्म वसूलात* (1977-78), शामिल हैं।

1980 के दशक में, *भावनी भवई* (1980), जिसे केतन मेहता ने निर्मित किया, फिल्म ने गुणवत्तापरक गुजराती फिल्मों को बढ़ावा दिया। इसमें बेहतरीन अभिनय एवं उम्दा सिनेमेटोग्राफी थी। इसने राष्ट्रीय एकीकरण पर बेहतरीन फिल्म का राष्ट्रीय पुरस्कार प्राप्त किया और साथ ही बेहतरीन आर्ट डायरेक्शन हेतु भी राष्ट्रीय पुरस्कार हासिल किया। इसे फ्रांस में नेंट्स महोत्सव में भी पुरस्कार प्राप्त हुए।

विगत् दो दशकों में, गुजराती फिल्म उद्योग में कुछ नया एवं उत्साहजनक नहीं हुआ। 1992 में, संजीव शाह द्वारा निर्देशित फिल्म *हुन हुंशी हुंशीलाल* ने कुछ ध्यान आकर्षित किया। 2009 में, गुजराती फिल्म उद्योग ने 1932 में मात्र दो फिल्मों के निर्माण की तुलना में सबसे अधिक संख्या में मात्र एक वर्ष में सर्वाधिक फिल्में बनाकर पिछले सभी रिकॉर्ड तोड़ दिए। जनवरी से दिसंबर 2009, में 62 गुजराती फिल्में बनीं जिसे सेंसर द्वारा पास कर दिया गया। यह आंकड़ा वर्ष 1982 से अधिक है, जब 49 गुजराती फिल्में बनीं थीं। वर्ष 2010 में अधिकांश फिल्में लोकप्रिय हुईं। विक्रम थाकोर जैसे सुपरस्टार का उदय भी एक महत्वपूर्ण कारक रहा।

वर्ष 2007 में, गुजराती फिल्म उद्योग में अपनी डायमण्ड जुबली मनाई। लेकिन उद्योग लगातार कमजोर होता गया। यद्यपि *भवनी भवई* और *हुन हुंशी हुंशीलाल* ने प्रायः कुछ चमक बिखेरी, गुजराती सिनेमा में अभी भी जीवन-वेशभूषा एवं ड्रामा की अपेक्षा परम्परागत प्रथाओं का अधिक प्रभुत्व है।

कन्नड़ सिनेमा

गुप्पी वीरन्ना, जो थियेटर से घनिष्ठ रूप से जुड़े हुए थे, को कन्नड़ में मूक फिल्म बनाने पर पथ प्रदर्शक के तौर पर देखा जाता है यद्यपि उनकी फिल्म कभी पूरी नहीं हो पायी। हरिभाई आर. देसाई द्वारा शुरू सूर्या फिल्म कंपनी और बोगीलाल सी. दवे की शारदा फिल्म कंपनी ने बॉम्बे में (अब मुम्बई) चार सालों के भीतर (1932 तक) 40 मूक फिल्में बनाईं। 1930 के दशक ने फिल्म कंपनियों के उत्थान को देखा जिसमें कर्नाटक पिक्चर्स कॉर्पोरेशन, सूर्य प्रकाश फिल्म कंपनी, मैसूर पिक्चर्स कॉर्पोरेशन एवं रमेश फिल्म कंपनी शामिल हैं। 1930 के दशक के प्रसिद्ध फिल्मकार कोटा शिवराम कारंथ एवं मोहन भवनानी थे जिन्होंने शूद्रक द्वारा रचित संस्कृत नाटक मृच्छकटिकम् पर आधारित वंसथसेना फिल्म बनाई। यह एक अपवाद के रूप में सामने आई।

कन्नड़ टॉकीज का युग 1934 में *सती सुलोचना* के साथ शुरू हुआ, जिसके बाद भक्त ध्रुव (या ध्रुवकुमार) फिल्म आई। कर्नाटक में पहला स्टूडियो 1937 में वी.आर. थिमैय्या द्वारा मैसूर साउंड स्टूडियो द्वारा शुरू किया गया। नव ज्योति स्टूडियो 1947 में जी.आर. रमैय्या द्वारा स्थापित किया गया, जो 1956 में बंद हो गया, इसने राजसूर्य यज्ञ का निर्माण किया। प्रीमीयर स्टूडियो शुरुआती दौर के मुख्य स्टूडियो में से एक था।

1930 और 1940 के दशक में कन्नड़ फिल्में उनके द्वारा बनाईं गईं जो कन्नड़ भाषी नहीं थे। 1943 तक मात्र 15 फिल्में बनाईं गईं। 1940 के दशक की लोकप्रिय फिल्में थीं *जीवन नाटक, वाणी हेमारेड्डी मालम्मा, नाग कणिका* और *जगन मोहिनी*।

1950 में, कुछ 98 फिल्में बनाई गईं। इस समय की **बेदारा कनप्पा** (1954) बेहद लोकप्रिय एवं प्रभावशाली फिल्म थी जिसने राजकुमार को एक नई शुरुआत दी, जो संभवतः कन्नड़ फिल्मों के बेहद प्रसिद्ध कलाकार हैं। लक्ष्मी नारायण द्वारा निर्मित नांदी (1964), जिसमें राजकुमार ने अभिनय किया, प्रथम कन्नड़ फिल्म थी जिसे राष्ट्रीय मान्यता प्राप्त हुई। 1970 की शुरुआत जबरदस्त हुई। पट्टाभि रामा रेड्डी की *समसकरा* (1970) फिल्म ने कन्नड़ सिनेमा में एक नए आंदोलन की शुरुआत की और सर्वोच्च फिल्म का राष्ट्रीय पुरस्कार हासिल किया। जी.वी. अय्यर निर्मित और गिरीश कर्नाड और बी.वी. कारंथ द्वारा निर्देशित *वमशा*

वृक्ष (1972) बेहद लोकप्रिय हुई। जी.वी. अय्यर ने *हमसागीथा* (1975) में निर्देशित की और प्रशंसा एवं पुरस्कार प्राप्त किए। 1970 के दशक के बहुचर्चित एवं प्रसिद्ध फिल्म निर्माता गिरीश कर्नाड, बी.वी. कारंथ एवं एम.एस. सथ्यू थे।

गिरीश कासरवल्ली ने *घाटश्रृद्धा* (1977) बनाई, और इसके लिए राष्ट्रपति स्वर्ण पदक प्राप्त किया। उन्होंने *अकरमान्ना, मूरी दारूगालू, तबराना काथे, बन्नादा वेशा, माने, करयूरया, थाये साहेब* और *दविया* ने सर्वोच्च फिल्म के लिए राष्ट्रपति स्वर्ण पदक प्राप्त किया।

1990 के दशक में, कन्नड़ सिनेमा ने ऐसी फिल्में नहीं बनाई जैसी पहले बनाई थीं। लेकिन प्रेमा कारंथ *(फणीयम्मा)*, शंकरनाग *(एक्सीडेंट* और *मिनचिना ओटा)*, काशीनाथ (*अनुभव* एवं *अपरिचित*), सदानंद सुवर्ण *(कुबी मट्टू लाया)*, सुरेश हेबलीकर कादीना बेंकी, कृष्णा मसादी *(अवस्थे)*, एस.वी. राजेन्द्र सिंह (*मुटीना हारा, बंधना* एवं *अंथा*) टी.एस. नागरभरना (*जन्मज जोड़ी* और *नागरमंडला*) और सुनील कुमार देसाई *(बेलाडींगला बाले)*। कविथा लंकेश एक जाने-माने फिल्मकार हैं जिन्होंने *देवरी, अलेमारी, बिम्बा* एवं *प्रीति प्रेमा प्रणया* फिल्में बनाईं। अन्य फिल्मकारों में पी.आर. रामदास नायडू (मुसन्जे) और टी. एन. सीताराम *(मतदाना)* उभरकर आये।

मलयालम सिनेमा

पहली मलयालम फिल्म गैर-मलयाली भाषा द्वारा बनाई गई। 1928 में जे.सी. डेनियल द्वारा मूक फिल्म *विगाथा कुमारन* बनाई और यह दर्शकों को पसंद नहीं आई लेकिन यह पहली मलयालम फिल्म थी। दूसरी मलयालम मूक फिल्म *मार्तंड वर्मा* (1931) थी, जिसे सी.वी. रमन पिल्लई ने बनाया। एस. नोटानी द्वारा निर्देशित फिल्म *बालन* पहली सवाक मलयालम फिल्म थी जिसे एक बाहरी व्यक्ति, व्यवसायी एवं स्टूडियो के मालिक टी.आर. सुंदरम ने निर्मित किया। फिल्म में 23 गीत डाले गए। नेटानी ने *गननम्बिका* (1940) का भी निर्देशन किया। *प्रह्लाद* का निर्देशन गुरु गोपीनाथ एवं थाकमनी गोपीनाथ के साथ मिलकर के. सुब्रमण्यम् ने किया। पी.जे. चेरियन पहले मलयाली निर्माता थे जिन्होंने *निर्मला* (1949) फिल्म बनाकर मलयालम फिल्म उद्योग में पदार्पण किया। केरल का प्रथम स्टूडियो 'उदया' अल्लपी में बनाया गया था जिसे के.वी. कोशी और एम. कुनचाको द्वारा स्थापित किया गया। इसने 1951 में *जीवीथनुका* एवं 1952 में नल्लाथंका जैसी हिट फिल्में बनाई।

1960 के दशक में, थकाझी, केसवदेव, पराप्पुरथ, बशीर, एम.टी. वासुदेवन नायर, थोपिल भाषी तथा अन्य जैसे साहित्यिक लेखकों ने फिल्म-निर्माण को प्रभावित करना प्रारंभ कर दिया। इस दशक की महत्वपूर्ण फिल्में थीं 1967 में पी. भास्करन की *इरुट्टीनट अथामाऊ* और 1968 में ए. विन्सेट की *थुलाभरम* (जिसने राष्ट्रीय पुरस्कार जीता), 1961 में मुडीयानया पुथरन, 1963 में *निनामनिन्जा कल्पदुकल,* 1964 में भार्गवी निलायम, 1965 में *मुरप्थेन्न, काव्यमेला,* 1965 में ओडायिल निन्नू, 1967 में *अनविशिचू कांडेथियिल्ला,* 1968 में *अध्यापिका* और 1967 में *कवलम चुनदन*। 1965 में रामू करियात द्वारा निर्मित फिल्म *चेम्मीन* ने राष्ट्रपति स्वर्ण पदक जीता।

1970 के दशक में, अडूर गोपालाकृष्णन की *स्वयंवरम्* (1972) और एम. टी. वासुदेवन नायर की *निर्मलयम्* (1973) जैसी फिल्में 'नवीन सिनेमा' की अग्रदूत बनीं जिसने खूबसूरत अनुभव पर जोर दिया। इस दशक की अन्य गौरतलब फिल्में थीं जी. अरविंदन की *उत्तरायणम* (1974), के.जी. जॉर्ज की *स्वप्नंदनम्* (1975), पी.ए. बेकर की *चुवना वुथुकल* (1976), सी. राधाकृष्णन की *अग्नि* (1978), अडूर की कोड्डियट्टम (1977), अरविंदन की *कंचन सीता* (1977) और *थेम्प* (1978), के.आर. मोहनन की *अश्वत्थामा* (1978), जी.एस. पन्निकर की *इकाकिनी* (1978) पी. पदूमराजन की *पेरूवझियमबलम* (1979) और *ओरीदाथोरू फयालवन,* और भारथन की प्रयाणम।

1980 के दशक की बेहतरीन एवं स्मरणीय फिल्म अरविंदम की चिदंबरम थी जिसने 1985 में सर्वोच्च फिल्म का राष्ट्रीय पुरस्कार प्राप्त किया। इस दशक के बेहद कुशाग्र फिल्म निर्माता जॉन अब्राहम थे जिन्होंने *चेरीयाचंटे कुरूरा क्रियांगल* (1983) और *अम्मा अरियन* (1986) फिल्में बनाईं जो मार्क्सवादी विचारधारा से प्रभावित थीं और केरल की संस्कृति एवं धर्म के पहलुओं को प्रस्तुत करती थीं।

1990 के दशक में महत्वपूर्ण कलाकार एवं अभिनेत्रियां दिखाई दीं: सुरेश गोपी, जयराम, शोभना, उर्वशी, कार्तिक, मेनका, जलजा, गीथा, ललिथा, श्री विद्या, माधवी, सान्थी कृष्णा, फिलोमिना, सुकुमारी एवं कवियूर पोन्नम्मा। थिलाकन, भारत गोपी, नेदुमुदी वेणु, नरेंद्र प्रसाद, जगथी श्रीकुमार, इन्नोसेंट, मुरली, श्रीनिवासन, बालचंद्र मेनन, जगदीश, सिद्धीकी, मुकेश, ओडुविल

उन्नीकृष्णन, राजन पी. देव एवं मामुकोया जैसे अभिनेताओं को उनकी योग्यता ने पहचान दिलाई। प्रमुख पार्श्व गायकों में पी. जयाचंद्रन, एम.जी. श्रीकुमार, जी. वेणुगोपाल, उन्नीमेनन, के.एस. चित्रा और सुजाता मोहन शामिल हैं। गायक के.जे. यसुदास ऐसे गायक हैं जिन्होंने लंबे समय तक मलयालम सिनेमा को अपनी आवाज दी। इस दशक की प्रसिद्ध फिल्मों में *वस्थुहरा (अरविंदन), मथिलिकुल, विधेयन* और *कोथापुरुषन* (अडूर गोपालाकृष्णन) *इन्नेल, निजन गंधर्वन* (पद्मराजन), *थजुवरम, अमाराम* एवं *वेन कालेम* (भर्थन), *देवासुरम,* वमनापकिटू (आई.वी. सासी), *स्वाथम, वनप्रस्थम* (शाजी एन. करुण), *पेरूमथाचन* (अजयान), *अद्वेथम, किलिकम्, थेनमाविन कोम्बाथ, कालापानी* (प्रियदर्शन), *सरगम, परिनायम, ऐन्नू स्वाथम जनकिकुट्टू* (हरिहरन), *पोंथान्मदा, मक्कम्मा* (टी.वी. चन्द्रन), *मझयेथुम मुनपे, उल्लादक्कम, ऐ पुझयुम कडानू, निरम* (कमल), *सुकरूथम* (हरिकुमार) *अभयम* (सिवान), *गुरु* (राजीव अंचल), *कझाकम* (एम. पी. सुकुमारन नायर), *समंथरंगल* (बालचंद्र मेनन), *बूथकन्नाड़ी, ओर-माचेपु, कन्मडम* (लोहिता दास), *सोपनम, पेथरूकम, देसदानम, कलियट्टम* एवं *करुनमन* (जयराज), *देवथिनटे विकरूथिकल, कुलम* (लेनिन राजेंद्रन), *मागरीब, गरशोम* (पी.टी. कुंजु मुहम्मद), *इल्लायम मुल्लम* (के.पी. सासी), *पविथरम्, कन्नेजुथि पोतुमथोटू जलमरमारम* (राजीव कुमार), *सेसनेहम, थलायिना, मंथरम, थूवल कोट्टारम, वीनदुम चिल वेट्ट करयांगल* (सथयन अंथिकाड), *पुथिरूवथिरा नलि* (वी.आर. गोपीनाथ), *जनामदिनम* (सूमा जोसोन), एवं *कमिश्नर, इकालविमन, आरम यमपुरम* (शाजी कईलास)।

2000 के दशक ने बीजू मेनन, मनोज के. जायन, दिलीप, कुनचाको बोबन, पृथ्वीराज, विनीथ, सुधीश, इंद्रजीथ, जयसूर्या, कलाभवन मानी, कृष्णा, मंजूर वारियर, समयुक्था वर्मा, दिव्या उन्नी, प्रवीणा, जोमोल, कात्या माधवन, मीरा जैसमिन, नव्या नायर, नयनथरा, भावना, समवुरूथ सुनील, ज्योथिरमयी, सूजा कर्थिका, पद्मप्रिया और लक्ष्मी गोपालरत्नामि जैसे कलाकारों एवं निर्देशकों के उत्थान को देखा। एक नई प्रवृत्ति देखने को मिली कि मलयालम फिल्मों की अभिनेत्रियां अक्सर गैर-मलयाली पृष्ठभूमि से आने लगीं। यह प्रवृत्ति अन्य दक्षिण भारतीय फिल्म उद्योग में भी देखने को मिलने लगी। लाल जोस *(अचनूरंगाथा वीडू, क्लामेट्स)* बलेसी *(कझचा, थनमात्रा, पालुंकू),* रोशन एंड्रयूज *(उदयनानू,*

थारम, नोटबुक) और मेजर रवि *(कीरथी चक्र)* द्वारा निर्मित फिल्मों ने हाल के समय में बेहद प्रभाव छोड़ा है। इनमें से अधिकतर फिल्में सामाजिक रूप से सशक्त हैं।

मराठी सिनेमा

मराठी सिनेमा भारत में जड़ें जमाने वाले शुरुआती प्रादेशिक फिल्म उद्योगों में से एक था। मूक फिल्में *पुंडलिक* एवं *राजा हरीशचंद्र* महत्वपूर्ण फिल्में थीं जो हर तरीके से पूरी तरह मराठी थीं। प्रसिद्ध फिल्म निर्माता वी. शांताराम ने 1927 में अपनी पहली फिल्म बनाई; उनकी फिल्म *अयोध्याचा राजा* पहली सवाक मराठी फिल्म थी (1932)। इसे हिंदी में भी निर्मित किया गया। 1930 के दशक की मराठी फिल्मों को हिंदी में भी बनाया गया और वे मराठी थियेटर से प्रभावित थीं। 1935 में, मराठी में पहली सामाजिक सवाक फिल्म विनायक द्वारा निर्देशित *विलासी ईश्वर* थी। उन्होंने *छाया, धर्मवीर, देवता, ब्रह्मचारी, अर्द्धगिनी, सरकारी पहुंने* एवं अन्य सामाजिक फिल्में भी बनाई। सामाजिक फिल्म *सूनबाई* (भालजी पंधेरकर द्वारा निर्मित) बेहद लोकप्रिय सिद्ध हुई। *सवकारी पाश* को भारत में पहली यथार्थवादी फिल्म के तौर पर देखा गया। इसका निर्माण 1930 के दशक में बाबूराव पेंटर ने किया।

फिल्म निर्माण के लिए लाइसेंस व्यवस्था 1940 के दशक में लागू की गई जिसने मराठी फिल्म निर्माण को प्रभावित किया। स्वतंत्रता पश्चात् के समय ने शांताराम, बेडेकर, जागीरदार, वसंत जोगलेकर, आचार्य अत्रे, भालजी पंधेरकर एवं बाबूराव पंधेरकर जैसे निर्देशकों को देखा जिन्होंने *अमर भूपाली, वासुदेव बलवंत, मीठ भाकर* और *शायमची आई* जैसी फिल्मों का निर्माण किया। इस समय राजा परांजपे, दत्ता धर्माधिकारी, राम गाबले, अनंत माने, राजा ठाकुर एवं माधव शिंदे जैसे नये निर्देशक उदित हुए।

1960 के दशक में, महाराष्ट्र (गुजरात से पृथक्) का सृजन एक महत्वपूर्ण घटना थी। मराठी फिल्मों के लिए राज्य पुरस्कार की पहल की गई। राज्य पुरस्कार प्राप्त प्रथम फिल्म *प्रपंच* थी। राजा ठाकुर की *रंग्यालया रात्रि आशा, इक्ती, मुम्बाईचा जबाई,* भालजी पांधारकर की *साधी मानसे,* वसंत जोगलेकर की *श्वेतचा मालूसारा,* माधव शिंदे की *कन्यादान* और *धर्मकन्या,* राम गबाले की *छोटा जवान* और एन.बी. कामत की *वावताल* इस दशक की प्रसिद्ध फिल्में थीं। 1980 के

दशक ने शपित, भास्कर चंदावरकर की *अत्याचार* एवं श्रीराम लागू की *झाकोट* जैसी फिल्मों का निर्माण देखा।

1990 के दशक में संजय सुरकार की *चौकट राजा और कैफ,* जब्बार पटेल की *एक होता विदूषक* और *मुक्ता,* महेश कोठारी की *मजा चौकुला,* आमोल पालेकर की *बंगारवदी,* सुमित्रा भावे की *दोघी,* पुरुषोत्तम बेर्डे की *भाषम,* संजय रावल की *वजीर* और अरुण खोपकर की *कथा दोन गणपत रावचिं* जैसी फिल्मों की सफलता देखी।

1990 के दशक में और 2000 के दशक के प्रारंभ में संजय सुरकार (घर-ए-बहार), आमोल पालेकर (ध्यासपर्वा), समित्रा भावे-सुनित सुक्थानकर (वास्थुपरुष, देवराति) गजेंद्र अहीरे (नॉट ओनली मिसेज राउत), संदीप सांवत (श्वास), विपिन नडकरनी (उत्तरायण) तथा चित्रा पालेकर (मति माया) जैसे फिल्म-निर्माताओं ने अविस्मरणीय फिल्में बनाईं।

ओडिया सिनेमा

1934 में, काली फिल्म स्टूडियो में बनी प्रथम ओडिया फिल्म *सीता विवाह* रिलीज हुई। इसे पुरी के मोहन सुंदर देब गोस्वामी द्वारा बनाया गया। इस समय तक ओडिया सिनेमा में कई पेशेवर मंच कलाकार काम करने लगे, जिनमें प्रमुख हैं मनोरंजनदास, रामचंद्र मिश्रा, गोपाल चोटराई, श्रद्धा प्रसन्ना नायक, भंजकिशोर पटनायक, बसंत कुमार महापात्रा और विश्वजीत दास। दूसरी ओडिया फिल्म ग्रेट ईस्टर्न मूवीटोन के बैनर तले कालीचरण पटनायक द्वारा निर्मित ललिता थी।

1950 का दशक सामाजिक-मीमांसिक था जिसमें *रोल्स-28, अमारी गान झिया, केदार गौरी, साप्ता सैया* और *भाई-भाई* जैसी फिल्में बनीं।

पी.के. सेनगुप्ता 1960 के दशक के एक महत्वपूर्ण निर्देशक थे जिन्होंने *श्री लोकनाथ, सूर्यमुखी* एवं *अरुंधती* जैसी फिल्में बनाई जिन्होंने प्रशंसा प्राप्त की और सूर्यमुखी तथा अरुंधती को नेशनल अवॉर्ड प्राप्त हुआ।

1975 में *ममता* फिल्म के हिट हो जाने से ओडिया फिल्म जगत को नई ऊर्जा प्राप्त हुई। 1980 के दशक में सिनेमा की एक नई लहर देखी जा सकती थी। मनमोहन महापात्रा को 1982 में उनकी फिल्म *सीता रति* के लिए राष्ट्रपति पुरस्कार प्राप्त हुआ। उन्होंने *नीराबा झाडा* (1984), *क्लांता अपहरण* (1985), *मझी पहचा* (1987) और *अंधा दिगांत* (1989) भी बनाई। नीरद महोपात्रा की

माया मृगा और सागर अहमद की *धारे अलुबा* को 1984 के मुम्बई के फिल्म महोत्सव में प्रदर्शित किया गया। महमूद हुसैन की *अनवांटेड* को भी प्रशंसा प्राप्त हुई।

ओडिया फिल्म उद्योग 1990 के दशक से विशेष तौर पर आगे बढ़ा लेकिन आलोचकों ने फिल्मों की गुणवत्ता में ह्रास की बात कही। आजकल फिल्म-निर्माण में व्यवसायीकरण एक महत्वपूर्ण कारक बन गया है। इस कारण अधिकतर फिल्मों की शूटिंग विदेशी लोकेशंस पर होने लगीं (*मोटे बोहू, करी ने जा* पहली फिल्म थी जिसकी पूरी शूटिंग विदेशी लोकेशंस पर हुई)। प्रसिद्ध अभिनेताओं एवं अभिनेत्रियों में सिद्धांत महापात्र, अनुभव, सब्यसाची, बुद्धादित्य, आकाश, अरिंदम, अरचिता एवं बरशा प्रियदर्शिनी हैं।

पंजाबी सिनेमा

पहली पंजाबी सवाक् फिल्म *शैला,* जिसे *पिंड दी कुड़ी* के तौर पर भी जाना जाता है, थी और इसमें प्रसिद्ध अभिनेत्री नूरजहां ने अभिनय किया तथा 1936 में कलकत्ता (अब कोलकाता) में के.डी. मेहता द्वारा निर्मित इस फिल्म को लाहौर में प्रदर्शित किया गया। यह फिल्म बेहद लोकप्रिय हुई। के.डी. मेहता ने 1938 में *हीर सियाल* भी बनाई जिसमें नूरजहां के साथ-साथ नए कलाकार बालो एवं एम. इस्माइल थे, और यह फिल्म भी काफी सफल हुई। उनकी फिल्मों में दूसरों को भी प्रेरित किया। स्टूडियो खोले गए और कई कलाकार, फिल्म निर्माता, निर्देशक और तकनीशियन बॉम्बे (अब मुम्बई) और कलकत्ता (अब कोलकाता) से लाहौर आ गए, जिनमें शांता आफ्टे, मोतीलाल, चंद्रमोहन, हीरालाल, नूरजहां, मुमताज शांति, वली, सैयद अताहुल्लाह शाह हाश्मी और शंकर हुसैन प्रमुख थे। 1947 के विभाजन ने पंजाबी सिनेमा को बेहद प्रभावित किया अधिकतर मुस्लिम कलाकार एवं निर्देशक पाकिस्तान चले गए। फिल्म निर्माताओं में *पोश्ती, दो लछियां, भांगड़ा* जैसी फिल्में बनाईं जिन्हें कुछ सफलता प्राप्त हुई। 1950 के दशक में, कॉमेडी का ट्रेंड प्रमुख हो गया थाः मुल्क राज भाखरी की *भांगड़ा* (1958) को मोहन भाखरी ने *जट्टी* के नाम से 1980 में दोबारा बनाया, तथा *जॉनी वाकर* (1957) बेहद हिट हुई।

1960 के दशक में, *सतलज दे कंडे* (1964) एक बड़े बजट की रोमांटिक फिल्म थी जिसे फिल्म निर्देशक पद्म प्रकाश माहेश्वरी ने बनाया, और जो बेहद

हिट हुई और राष्ट्रीय फिल्म पुरस्कार हासिल किया। 1969 में धार्मिक फिल्म *नानक नाम जहाज है* स्वतंत्रता पश्चात् भारत में वास्तविक रूप से पहली बेहद सफल पंजाबी फिल्म थी।

1970 के दशक में, पंजाबी वंश के हिंदी अभिनेता पंजाबी फिल्म में बेहद महत्वपूर्ण बन गए। इस दशक की महत्वपूर्ण एवं लोकप्रिय फिल्मों में, *मेले मितरन दे* (1972), *मन जीते जग जीते* (1973), धार्मिक फिल्म, *दो शेर* (1974), *भगत धन्ना जट, सच्चा मेरा रूप है,* और बेहद सफल फिल्मों, *दुख भंजन तेरा नाम, दाज गिछा, मैं पापी तुम भक्षणहार, पापी तरे अनेक, संतो-बंतो, सरदार-ए-आजम, सवा लाख से एक लड़ाऊं, साल सोलहवां चढ़्या, सत श्री अकाल,* और *शहीद करतार सिंह सरभा* जैसी फिल्में हैं। *विलायती बहू* (1978) पंजाबी सिनेमा में अभी तक की पहली रीमेक फिल्म है। धार्मिक फिल्म *गुरु मान्यो ग्रंथ* तुरंत हिट हुई। *तिल-तिल दा लेखा* ने सर्वोत्तम कहानी के लिए पंजाब राज्य सरकार का पुरस्कार जीता और 1979 की सबसे अच्छी फीचर फिल्म बनी।

1980 के दशक में, *चन परदेशी,* पहली पंजाबी फिल्म थी जिसने राष्ट्रीय पुरस्कार जीता और 1980 में रिलीज हुई। *फौजी चाचा,* मुल्क राज भाखरी की भांगड़ा (1958) और जट्टी को जबरदस्त सफलता मिली। ऊंचा दर बेबे नानक दा (1985) एक धार्मिक फिल्म थी जिसने गुरदास मान को बतौर स्टार पहचान दिलाई। इस दशक की अन्य फिल्में *सरपंच, यारी जट दी, मामला गड़बड़ है, मुहम्मद सादिक की गुड्डो,* और वीरेंद्र की *बेरी* और *लोंग दा लटकारा* थीं। इस समय गुग्गू मिल और योगराज सिंह ने प्रमुख भूमिकाएं अदा कीं।

1990 के दशक में, *कुर्बानी जट्ट दी, दुश्मनी दी आग, बदला जट्टी दा, उडीकन सों दियां,* सों मैनु पंजाब दी, फिल्मों ने प्रशंसा प्राप्त की। सुखदेव आहलुवालिया बेहद सफल निर्देशक के तौर पर उदित हुए। *कचहरी* (1994) जिसमें गुरदास मान ने अभिनय किया, ने राष्ट्रीय पुरस्कार जीता।

2000 के दशक में, *दर्द परदेशां दी, खालसा मेरा रूप है खास, जी आंय नू, असा नू मान वतन दा* (2004), *जीजा जी, देश होया परदेस, मैं तू असि तुसि, यारां नाल बहारां,* और *नालायिक* (सभी 2005 में रिलीज), *कम्बदी कलाई* (2006), *रूस्तम-ए-हिंद* और *मिट्टी वजन मरदी* (2007), *यारियां, मेरा पिंड, लख परदेशी होए, हेवन ऑन अर्थ,* और *सतश्री अकाल* (2008), *जग ज्योदये देह मेले* और *तेरा मेरा कि रिश्ता* (2009) प्रदर्शित हुईं। चविन दरिया, ईश अमितोज

कौर द्वारा निर्देशित, फिल्म सितंबर, 2011 में रिलीज हुई। ईश अमितोज और पंजाब फिल्म उद्योग में पहली महिला थीं जिन्होंने फिल्म निर्देशन, निर्माण एवं लेखन किया।

तमिल सिनेमा

तमिल सिनेमा (इसे कोलीवुड के नाम से भी जाना जाता है) फिल्म निर्माण, राजस्व और विश्वभर में वितरण के संदर्भ में भारत का दूसरा बड़ा फिल्म उद्योग है। इसके दर्शक मुख्य रूप से दक्षिण भारतीय राज्यों तमिलनाडु, केरल, आंध्र प्रदेश और कर्नाटक-से हैं। तमिल सिनेमा ने भारत के अन्य फिल्म निर्माण उद्योगों को सदैव प्रभावित किया है, और चेन्नई तेलुगू सिनेमा, मलयालम सिनेमा, कन्नड़ सिनेमा और हिंदी सिनेमा के लिए सदैव एक दूसरा स्थान रहा है। आधुनिक समय में, तमिल फिल्मों का चेन्नई से सिंगापुर, श्रीलंका, दक्षिण अफ्रीका, मलेशिया, जापान, ओशनिया, मध्य-पूर्व, पश्चिमी यूरोप और उत्तरी अमेरिका के सिनेमा घरों में वितरण किया जा रहा है। तमिल फिल्म उद्योग ने विश्व के अलग-अलग कोनों में रहने वाले तमिल लोगों में फिल्म निर्माण को प्रोत्साहित किया है।

यह 1897 का समय था जब एक यूरोपियन एक्जिविटर ने मद्रास (अब चेन्नई) में विक्टोरिया पब्लिक हॉल में मूक लघु फिल्मों का चयन प्रदर्शन के लिए किया। मद्रास में (अब चेन्नई) मूक फिल्मों के प्रदर्शन के लिए इलेक्ट्रिक थियेटर स्थापित किया गया। लिरिक थिएटर, जो माउण्ट रोड पर बनाया गया, ने अंग्रेजी में नाटकों का मंचन, पश्चिमी शास्त्रीय संगीत आयोजन, और बॉलरूम नृत्य का आयोजन किया। यहां पर मूक फिल्मों का भी प्रदर्शन किया गया।

1916 में, *कीचक वधम,* पहली मूक दक्षिण भारतीय फिल्म थी जिसे रिलीज किया गया। इसे आर. नटराज द्वारा निर्मित एवं निर्देशित किया गया, जिन्होंने भारतीय फिल्म कंपनी लिमिटेड की स्थापना की।

1940 के दशक ने निर्देशकों के पर्दापण का दौर देखा जिसमें एस.एस. बासन भी शामिल हैं। उनकी अलौकिक फिल्म *चंद्रलेखा* 1948 में रिलीज हुई, जो लंबे समय तक सबसे महंगी फिल्म बनी रही। इसका वितरण जैमिनी स्टूडियो द्वारा किया गया जिसकी स्थापना वासन ने 1940 में की थी।

शिवाजी गणेशन *(वीरापांड्या कट्टाबोम्मन, कप्पालोट्टिया धामिझन, पसमलार, बसंथ मालीगाई, थंगपथकम, पटिकाडा पट्टानामा, नवराथरी, वियतनाम*

बिड्रू, मुथल मरियाथाई) और एम.जी. रामचन्द्रन या एमजीआर *(मलाईक्कालन, नाडोली मन्नम, अइराथिल ओरूवन, रिक्शाकरन)* के उदय ने व्यक्ति पूजा को जन्म दिया जिनकी लोगों द्वारा पूजा की जाने लगी (एमजीआर बाद में तमिलनाडु के मुख्यमंत्री बने)। दोनों अभिनेताओं ने 1950 और 1960 के दशकों में तमिल फिल्म उद्योग पर राज किया। जैमिनी गणेशन रोमांटिक फिल्मों के मुख्य अभिनेता थे। इस समय के विशिष्ट निर्देशकों में कृष्ण पंजू, श्रीधर, पी. माधवन, पी. नीलकांतन, ए.पी. नार्गाजन, ए.सी. त्रिलोकचंद्र, के.एस. गोपालकृष्णन और सी. वी. राजेंद्रन शामिल थे।

1970 के दशक ने भारथी राजा *(16 व्याथिनिले, पुथिया वरपुका, सिगप्पू रोजक-कल, किझके पोकुम रेल, वेदम पुटिथू,* और *मुधल ममरियाथे)* जैसे फिल्म-निर्माताओं का उत्थान देखा, जिन्होंने विजुअल तकनीक का प्रयोग किया। इस समय बालू महेंद्रू (अजीयाथा कोलांगल, मूंद्रम पिराई, मूदू पानी, वीडू) ने नए ट्रेंड को स्थापित किया जिनकी फिल्मों में काफी विजुअल अपील, गजब का चरित्र-चित्रण और भाव-चित्रण प्रस्तुत किया गया।

1980 के दशक से, रजनीकांत और कमल हासन लोकप्रिय हुए और सुपर स्टार बन गए।

1990 के दशक में, अरविंद स्वामी, विजय, अजित एवं प्रभुदेवा जैसे अभिनेताओं ने तमिल फिल्म परिदृश्य में प्रवेश किया। खुश्बू, राधिका, गोथामी, सरन्या, रूपिनी, सुकन्या, देवयानी, रम्भा, ज्योतिका, मीरा जैसमिन, भावना, नव्या नायर, ज्योथिरमयी, स्नेहा लोकप्रिय अभिनेत्रियां रहीं। नगमा, रम्भा, सौंदर्या, रोजा एवं सिमरन ने प्रमुख भूमिकाएं निभाईं। सुंदर सी., राजीव मेनन, एस इजहिल, सोल्वा एवं चेरान ने फिल्म उद्योग में प्रवेश किया।

तमिल सिनेमा ने भारत में बेहद प्रतिभाशाली संगीत निर्देशकों को जन्म दियाः इल्लयाराजा, ए.आर. रहमान, हरीस जयराज, देवा, युवान शंकर राजा और श्रीकांत देवा।

2000 के दशक ने नए अभिनेताओं का पदार्पण देखाः जयराम रवि, धनुष, विशाल, आर्य, जीवा भरथ, जयप्रकाश राज, पशुपथि एवं कॉमेडियन विवेक और साथ ही वेदिवेलू। असिन, नयनतारा, त्रिशा कृष्णनन, तमन्ना भाटिया, संध्या, रीमा सेन, भूमिका एवं नमिथा प्रसिद्ध अभिनेत्रियों में से थीं; और पी. वासू, गौथन मेनन, चेरान, हरि, सारन, एम. राजा, सुसी गणेशन, सेल्वा, अमीर एवं बूपथि पंडियन प्रसिद्ध निर्देशकों में से हैं।

तेलुगू सिनेमा

1932 में पहली तेलुगू फिल्म एच.एम. रेड्डी द्वारा निर्मित *भक्त प्रहलाद* थी। इसने परदे पर पौराणिक या अयथार्थ ट्रेंड को शुरू किया जो मंच प्रस्तुति पर आधारित थे चुन्नीभाई देसाई की *पडक्कू पट्टभिसेकम* और *शंकुतला,* ईस्ट इण्डिया फिल्म कंपनी की *रामादासू* और *सती सावित्री* ने मंच कलाकारों को जुड़ते देखा (सी. एस.आर. अजनेयुलू, कनम्बा, बेल्लारी राघव और अन्य)।

1930 के दशक ने सी. पुल्लैया, चित्रपू नरसिम्हा राव और कोचरलकोटा रंगधम्म राव जैसे मशहूर निर्देशकों को देखा। 1930 के तेलुगू सिनेमा के प्रसिद्ध नामों में पी.वी. दास, जिन्होंने 1934 में मद्रास एवं गुंडी में वेल पिक्चर्स स्टूडियो की शुरुआत की; के. रामनाथ, ए.के. शेखर और टी.एस. मुथ्थुस्वामी जिन्होंने तमिल फिल्म *सीता कल्यालणम* का तेलुगू संस्करण बनाया; पी. कन्नमभा और देसारी कोटिरतनम (1935); और एच.एम. रेड्डी, जिन्होंने सफल फिल्म *गृहलक्ष्मी* बनाई (1937)। वे फिल्म जो इस विषय पर आधारित थीं, उनमें *सुमंगली* (बी. एन. रेड्डी), *मालसिला* और *रेतू बिडा* (गुडाबल्ली रामब्राह्मण) शामिल हैं।

अक्कीनेनी नागेश्वरा राव और एन.टी. रामाराव ने तेलुगू सिनेमा पर दो दशकों से भी अधिक समय तक राज किया। बी.एन. रेड्डी *वंदेमातरम, सुमंगली, देवता, स्वर्गसीमा, मालीस्वरी* और *बंगारू पापा* जैसी फिल्मों का निर्देशन कर प्रसिद्ध निर्देशक के तौर पर उदित हुए। एल.वी. प्रसाद की *संसारम* ने सामाजिक ट्रेंड को स्थापित किया जो 1950 के दशक तक हावी रहा। के.वी. रेड्डी, ए. सुब्बा राव, टी. प्रकाश राव, कमलकारा कामेश्वरा राव और तापी चाणक्य (जिनकी फिल्म *रोजुलू मारई* ने कीर्तिमान स्थापित किए) जैसे निर्देशक इस क्षेत्र में पेशेवराना सोच लेकर आए।

1960 और 1970 के उत्तरार्द्ध के दशकों ने शोभन बाबू और कृष्णा जैसे कलाकारों को देखा। इस समय के प्रमुख फिल्म निर्माता थे टी. प्रकाश राव *(ईल्लारीकम),* ए. शुभा राव *(मंची मनासुलू, मारो प्रपंचम, मूगा मनुसूलू),* बापू *(मुथथला मुग्गू, सीता कल्याणम, मनावुरू पंडावुलू),* के राघवेंद्र राव (अडावी रामूडू), के. विश्वनाथ (सीता महालक्ष्मी, प्रेसीडेंट पेरम्मा), वी.वी. राजेंद्र प्रसाद

(दसारा बोलुडू), के कामेश्वरा राव (नर्थन साला), चौधरी प्रकाश राव (वीरंनजनेय, यशोदा कृष्ण), पी. धूंधी (गदाचारी 116), के. बालाचंदर (मारो चरिता), टी. रामराव (यम गोला), दसारी नारायण राव (तथा-मनामुडू), यू. विश्वेश्वरा राव (नग्न सथयम), और विट्टालचार्या।

1980 के दशक की के. विश्वनाथ की सुपरहिट फिल्म, *शंकर भरणम,* ने नए मार्ग खोले। उन्होंने *श्पताप्दी* और सामरा संगमम भी बनाई। जंधालया *(आनंदा भैरवी, श्रीवरिकी, प्रेमा लेखा)* और वेसमी (सितारा, अन्वेषण) प्रसिद्ध निर्देशक थे।

1990 के दशक ने तेलुगू सिनेमा में महत्वपूर्ण फिल्म-निर्माताओं एवं फिल्मों का दौर देखा, जिनमें प्रमुख हैंः बी. नरसिंगा राव की *दासी* और *मती मुनुसूलू,* के. विश्वनाथ की *स्वाथी ग्रियानम* और शुभा संकल्पम, देसारी की *सुरीगड्ू* और कृष्ण वामसी की अंतपुरम।

1990 के दशक से कुछ अभिनेता एवं अभिनेत्रियां तेलुगू सिनेमा पर राज कर रहे हैं जिनमें चिरंजीवी, नागार्जुन, बालकृष्ण, वेंकटेश, चक्रवर्थी, मोहन बाबू, सुमन, तरुण, विजया शांति, सौंदर्या, आमिनी, रंभा, लैला, अर्चना, मीना, असिन और मीरा जैसमिन हैं। महत्वपूर्ण निर्देशक हैं के.एन.टी. शैस्ट्री (थिलादनम) निलाकांता (शो), मोहन कृष्णा इंद्र गंती *(गृहनम),* के. विश्वनाथ *(स्वरभिषेकम),* चंद्रशेखर येलेटी *(ऐथी)* और के. विजया भास्कर (नुवे कवाली)।

अन्य प्रादेशिक फिल्म उद्योग

कोंकणी सिनेमाः कोंकणी सिनेमा का प्रारंभ जेरी ब्रिगांजा (कोंकणी सिनेमा के पिता) द्वारा निर्मित फिल्म *मोसाचो ओन्दो* के साथ हुआ। यह 1950 में रिलीज हुई। अन्य फिल्मों में फ्रैंक फर्नांड की *अमचेम नोविसब* और *निर्मोन* शामिल हैं। *सुखाचेम सपोन* ब्रिगांजा द्वारा निर्मित की गई, जिन्होंने स्वयं की एक प्रोडक्शन कंपनी, हेलेन प्रॉडक्शन, खोली। कोंकणी सिनेमा में अन्य प्रमुख फिल्में हैं *कोर्तूबांचो सोंसार, जीविन आमचेल ओक्सेम, तीसरी चिट, बोगलांत* और *महोजी धोरकन*।

1980 के दशक से, 30 से अधिक कोंकणी फिल्में वीडियो फिल्म और टेलीफिल्म के तौर पर रिलीज की जा चुकी हैं। मुथू कृष्ण दास द्वारा निर्मित *गिरेस्कर* और रिचर केटलिनो द्वारा निर्मित *बोगसेन्हे* विगत दशक की 35 एमएम की दो बड़ी रंगीन फिल्में थीं।

सिंधी सिनेमाः जे.बी.एच. वाडिया, भारतीय फिल्म उद्योग के पथ प्रदर्शक, ने पहली सिंधी फिल्म *एकता* निर्मित की। 1950 और 1960 के दशक ने सैयद हुसैन अली शाह *(उमर मारवी),* टी.एम. बिहारी *(अबना),* डा. ईश्वरदास अतुलालवानी *(राय दयाच),* गोपे भगनारी *(परदेशी प्रीतम),* दीपक आशा *(इंसाफ किथे और लाडली),* रेलूमल मुलतानबी *(झूलेलाल)* गोविंद मालही *(सिंधु-जे-किनारे)* और राजन चावला *(होजामालो)* जैसे निर्देशकों एवं फिल्म निर्माताओं द्वारा निर्मित फिल्मों का दौर देखा। सिंधी फिल्म निर्माताओं ने हिंदी फिल्में भी बनाईं जिनमें से कुछ फिल्म निर्माता हैं के.एम. मुलतानी, बुलो सी. रानी, सी. अर्जुन, जी. पी. सिप्पी, रमेश सिप्पी, एम.एन. सिप्पी, एन.सी. सिप्पी, हरि शिवदासनी, साधना नय्यर, बबीता कपूर, राज सिप्पी, शीला रमानी, उदय कुमार, दीपक आशा और लोकसेन लालवानी।

मणिपुरी सिनेमाः मणिपुरी फिल्म बनाने का पहला प्रयास *मैनु पेमचा* थी जो मणिपुरी लोक कथा पर आधारित थी, हालांकि, ये पूरी नहीं हो सकी। पहली मणिपुरी फिल्म मशहूर बंगाली निर्देशक देबाकी कुमार बोस द्वारा निर्मित *मतांगी मणिपुर* (1972) थी। पहले मणिपुरी फिल्म निर्देशक एस.एन. चंद थे जिन्होंने 1970 के दशक में ब्रोजेनड्रोगी लुहोंगबा और *नगाक-ई-को नागसे* फिल्में बनाईं। इस दशक के अन्य महत्वपूर्ण निर्देशक अरिबाम श्याम शर्मा (*लमजा, परासुरम, शपाभी* 1976 में और *ओलेंगथागी वांगमदासी* 1979 में); एम. नीलामणी सिंह *(खोनजेल)* और बंका *(वांगमा-वांगमा)* थे।

अरिबाम की *इमेगी निंगथेम* (1981) ने सर्वोत्तम मणिपुरी फिल्म के लिए राष्ट्रीय पुरस्कार प्राप्त किया। इसने नेंट्स फेस्टिवल, फ्रांस, 1982 में ग्रांट प्रिक्स पुरस्कार भी जीता। रंगीन फिल्में 1982 में आ पायीं। इस दशक के नए निर्देशकों में इबोहल शर्मा (*थाबा,* 1983) और एम.ए. सिंह (*साना किथेल,* 1982) प्रमुख हैं।

इबोहल शर्मा ने 1983 में *संबल बांगमा* बनाई। *इशानोऊ* और *सनाबी* अरिबाम शर्मा द्वारा निर्मित की गईं। ओकेन अमक चेम (रवोनयेंग, *मेयोफी गी माचा*) और मखोनमनी मोंगसाबा *(चटलेडो ईदी)* नए फिल्म-निर्माताओं में हैं।

मणिपुरी फिल्म उद्योग के विकास हेतु सरकार द्वारा 1981 में मणिपुर फिल्म विकास परिषद् की स्थापना की गई।

कला सिनेमा (आर्ट सिनेमा)

लोकप्रिय सिनेमा के महत्वपूर्ण विषयों से अपेक्षाकृत बचाव की मुद्रा के विरुद्ध 1960 के दशक में फिल्म-निर्माताओं के एक वर्ग से प्रतिक्रिया आई। इसे विभिन्न नामें से 'समानांतर सिनेमा', 'आर्ट फिल्में', और 'नई लहर सिनेमा', से पुकारा गया। इस प्रकार की फिल्में छोटे बजट की होती थीं, और भारतीय परिदृश्य के कटु सत्य पर केंद्रित होती थीं। शायद इसकी प्रेरणा सत्यजीत रे थे जिन्होंने अपनी फिल्मों *पाथेर पांचाली* (1955) और *अपराजितो* (1956) और अपूरसंसार (1959) से भारत को विश्व सिनेमा के मानचित्र पर रख दिया। मृणाल सेन एक अन्य निर्देशक थे जिनका नाम नए प्रकार के सिनेमा से जोड़ा जाता है। उनकी फिल्म *भुवन शोम,* यद्यपि 'न्यू वेव' या आर्ट फिल्म के तौर पर खरी थी, को पूरी लोकप्रियता एवं व्यावसायिक सफलता मिली। उन्होंने *एक दिन प्रतिदिन, मृग्या* और *एकालेर संधाने* जैसी अन्य अच्छी फिल्में बनाई। श्याम बेनेगल ने *अंकुर* (1974), *मंथन* और *निशांत* जैसी फिल्में बनाकर 'आर्ट फिल्मों' के क्षेत्र में अपनी छाप छोड़ी। इन फिल्मों में धनाढ्य एवं जमींदार वर्गों द्वारा ग्रामीण लोगों पर अत्याचार एवं उनके शोषण के विषय को प्रभावी तरीके से प्रस्तुत किया गया। 'न्यू इंडियन सिनेमा' पर कोई भी चर्चा रितविक घाटक के योगदान की उपेक्षा नहीं कर सकती, जिनकी फिल्मों *मेघे ढाका तारा, कोमल गंधार* और *सुवर्ण रेखा* ने परिवर्तन का मार्ग प्रशस्त किया।

हिन्दी फिल्म जगत में 'नया सिनेमा' बसु चटर्जी *(सारा आकाश),* राजिन्दर सिंह बेदी *(दस्तक),* मणि कौल *(उसकी रोटी, दुविधा),* अवतार कौल *(27 डाउन),* कुमार साहनी *(माया दर्पण),* बसु भट्टाचार्य *(अनुभव)* और एम.एस. सथ्यु *(गरम हवा),* जैसे निर्देशकों की महत्वपूर्ण फिल्मों से आया। 1970 के दशक के अंत तक ऐसे बेहतरीन निर्देशक हुए जिन्होंने उच्च गुणवत्ता की खूबसूरत फिल्में बनाई जिसने बड़ी संख्या में दर्शकों की भीड़ भी जुटायी। इनमें से कुछ निर्देशकों में गोविंद निहलानी *(अर्द्ध सत्य, आक्रोश),* सईद मिर्जा *(मोहन जोशी हाजिर हो, अल्बर्ट पिंटो को गुस्सा क्यों आता है)* सांई परांजपे (स्पर्श) मुजफ्फर अली *(गमन),* केतन मेहता *(होली),* और बिपलाव रॉय चौधरी *(शोध)* प्रमुख हैं।

आर्ट सिनेमा क्या है?

इण्डियन न्यू वेव, आमतौर पर भारत में आर्ट सिनेमा या समानांतर सिनेमा के तौर पर जाना जाता है, मुख्यधारा के व्यावसायिक सिनेमा के विकल्प के तौर पर उदित हुआ। यह अपने गंभीर विषय-वस्तु, यथार्थवाद एवं प्रकृतिवाद के लिए जाना जाता है, और इसमें तात्कालिक समय की सम्बद्ध सामाजिक-राजनीतिक प्रकृति होती है। इसका प्रारंभ बंगाली फिल्म उद्योग में सत्यजीत रे, मृणाल सेन, रितविक घाटक और श्याम बेनेगल जैसे निर्देशकों के साथ हुआ। लेकिन अन्य फिल्म उद्योग की तरह महत्व अडूर गोपालकृष्णन और गिरीश कसारवल्ली के समय में हासिल हुआ।

अभ्युदय

आर्ट सिनेमा की शुरुआत 1920 के दशक से मानी जा सकती है, विशेष रूप से वी. शांतराम की 1925 में बनी मूक फिल्म *सावकारी पाश* से, जिसमें एक गरीब कृषक के बारे में बताया गया है जो एक लालची महाजन के चलते अपनी जमीन खो देता है और एक शहर में मिल मजदूरी करने को बाध्य हो जाता है। इस फिल्म की इसके यथार्थवादी चित्रण के लिए बेहद प्रशंसा हुई। शांताराम की *दुनिया ना माने* (1937) ने भारतीय समाज में महिला के साथ होने वाले दुर्व्यवहार की आलोचना की।

सत्यजीत रे, ऋत्विक घाटक, विमल रॉय, मृणाल सेन, ख्वाजा अहमद अब्बास, चेतन आनंद, गुरु दत्त एवं वी. शांताराम जैसे दिगदृष्टा ने 1940 के दशक से आगे आर्ट सिनेमा के आंदोलन को आगे बढ़ाया। उनकी फिल्मों की तकनीकी जादूगरी, सौंदर्यपरकता एवं सादगी और विषयक गरिमा के लिए भारत एवं विश्व में प्रशंसा की गई। रे की *पाथेर पांचाली* (1955), *अपराजितो* (1956) और *वर्ल्ड ऑफ अप्पू* (1959) को केन्स, बर्लिन एवं वेनिस फिल्म महोत्सव में बड़े पुरस्कार प्राप्त हुए।

चेतन आनंद की *नीचा नगर* (1946), एक सामाजिक फिल्म, ने कांस फिल्म महोत्सव में एक बड़ा पुरस्कार जीता। उसके बाद, 1950 और 1960 के दशक में, भारतीय फिल्में कांस फिल्म महोत्सव में बड़े पुरस्कार जीतने की होड़ में लग गई।

आर्ट सिनेमा आंदोलन इटेलियन सिनेमा और फ्रांस के सिनेमा से

प्रभावित हुआ, विशेष रूप से इटेलियन नवयथार्थवाद और फ्रांस के कवित्त यथार्थवाद द्वारा।

इस समय बनाई गई अधिकतर फिल्में राज्य सरकार द्वारा वित्त पोषित होती थीं ताकि भारतीय फिल्म बंधुता से प्रामाणिक कला वंश को प्रोत्साहित किया जा सके। 1960 के दशक में, भारत सरकार ने भारतीय विषयों पर आधारित स्वतंत्र आर्ट फिल्मों को वित्तीयन करना प्रारंभ कर दिया। अधिकतर निर्देशक भारतीय फिल्म एवं टेलीवजिन संस्थान के स्नातक थे। बंगाल फिल्म निर्देशक ऋत्विक घाटक ने *नागरिक* (1952) फिल्म बनाई।

1970 और 1980 के दशक में, आर्ट फिल्मों ने न केवल आलोचक का ध्यानाकर्षण किया अपितु आम लोगों को भी अपनी तरफ खींचना प्रारंभ किया। गुलजार, श्याम बेनेगल, सईद अख्तर मिर्जा, महेश भट्ट और गोविंद निहलानी इस समय के प्रमुख निर्देशक थे। फिल्म निर्माताओं ने अपने तरीके से यथार्थवाद को चित्रित करने का प्रयास किया, यद्यपि उनमें से अधिकतर लोकप्रिय सिनेमा

समानांतर सिनेमा

'समानांतर सिनेमा' का शब्द उन ऑफबीट फिल्मों के लिए किया गया जिनका निर्माण बॉलीवुड में हुआ। इसने एक अलग प्रकार की शैली 'मुम्बईनोर' को जन्म दिया, जो शहरी फिल्में थीं और मुम्बई शहर की सामाजिक समस्याओं को प्रतिबिम्बत करती थीं। 'समानांतर सिनेमा' में व्यावसायिक वॉलीवुड फिल्मों की तरह चमक-दमक नहीं होती। इसमें मणिरत्नम की *दिल से* (1998) और *युवा* (2004), नागेश कुक्कूनर की *3 दीवारें* (2003) और *डोर* (2006), सुधीर मिश्रा की *हजारों ख्वाहिशें ऐसी* (2005), जॉन बरुआ की *मैंने गांधी को नहीं मारा* (2005), पैन नलिन की *वैली ऑफ फ्लावर्स* (2006), नंदिता दास की फिराक (2008), ओनिर की *माई ब्रदर...निखिल* (2005) और *बस एक पल* (2006), अनुराग कश्यप की *देव डी* (2009), और *गुलाल* (2009), पीयूष झा की *सिकंदर* (2009) और विक्रमादित्य मोटवानी की *उड़ान* (2009) शामिल हैं। रेवती की *मित्र, माई फ्रेंड* (2002), अर्पणा सेन की *मिस्टर एवं मिसेज अय्यर* (2002) और *15 पार्क एवेन्यू* (2006), अनंत बलानी की *जार्गर्स पार्क* (2003) पीयूष झा की *किंग ऑफ बॉलीवुड* (2004), होमी अदजानिया की *बीइंग साइरस* (2006), रितुपर्णो घोष की *द लास्ट लीयर* (2007) और सूनी तारापोर बाला की *लिटिल जीजो* (2009) भी समानांतर सिनेमा के अंतर्गत आती हैं।

की कुछ प्रथाओं को अक्सर स्वीकार करते थे। नये अभिनेता आर्ट फिल्मों के परिदृश्य में सामने आए। इनमें शबाना आजमी, स्मिता पाटिल, आमोल पालेकर, ओमपुरी, नसीरुद्दीन शाह, कुलभूषण खरमंदा और पंकज कपूर प्रमुख रूप से शामिल हैं। यहां तक कि व्यावसायिक सिनेमा के कुछ कलाकारों ने भी आर्ट सिनेमा में पदार्पण किया।

अडूर गोपालाकृष्णन ने अपनी फिल्म *स्वयंवरम्* (1972) के साथ भारतीय न्यू वेव को मलयालम सिनेमा तक विस्तारित किया। उनकी फिल्म *एलीपथयम* (1981) को लंदन फिल्म महोत्सव में सदरलैंड ट्रॉफी प्राप्त हुई, और *मथिलुकल* (1989) ने वेनिस फिल्म महोत्सव में बड़े पुरस्कार हासिल किए। जी. अरविंदन, पदमूराजन, जॉन अब्राहम, टी.वी. चंद्रन और शाजी एन करून मलयालम फिल्म उद्योग से इस समय के प्रमुख फिल्म-निर्माता थे। शाजी. एन करून प्रसिद्ध आर्ट फिल्म निर्देशक के तौर पर उदित हुए; उनकी प्रथम फिल्म *पिरावी* (1989) ने 1989 में कान्स फिल्म महोत्सव में 'कैमरा डी' ओर पुरस्कार प्राप्त किया। उनकी दूसरी फिल्म *स्वाहम* 1994 के कान्स फिल्म महोत्सव में पाम डी' ओर पुरस्कार की दौड़ में थी। कन्नड़ फिल्म उद्योग में गिरीश कसारवल्ली, गिरीश कर्नाड और बी.वी. करंथ ने समानांतर सिनेमा का मार्ग प्रशस्त किया। यही काम मणिरत्नम ने तमिल सिनेमा के लिए किया।

आर्ट सिनेमा की विषय-वस्तु को भारी मात्रा में तात्कालिक समय के भारतीय साहित्य से लिया गया। यह समयकालीन भारतीय समाज का एक प्रमुख अध्ययन रहा है, और इसलिए इसका प्रयोग शोधार्थियों एवं इतिहासकारों द्वारा भारतीय जनमानस की बदलती जनांकिकी एवं सामाजिक आर्थिक एवं राजनीतिक प्रवृत्ति का मापन करने के लिए किया जाता है।

कुछ आर्ट फिल्मों ने व्यावसायिक सफलता भी अर्जित की। विमल रॉय की *दो बीघा जमीन* (1953) ने व्यावसायिक एवं आलोचनात्मक दोनों प्रकार की सफलता अर्जित की, और 1954 के कांस फिल्म महोत्सव में अंतरराष्ट्रीय पुरस्कार जीता। ऋर्षिकेश मुखर्जी को 'मिडिल सिनेमा' का अग्रदृष्टा माना जाता है और उन्हें मध्य-वर्ग में बदलावों के चित्रण के लिए जाना गया। गुरुदत्त ने भी आर्ट सिनेमा के जरिए व्यावसायिक सफलता अर्जित की, *प्यासा* (1957) इसका उत्तम उदाहरण है।

बॉलीवुड

बॉलीवुड एक अनौपचारिक शब्द है जिसका प्रयोग लोकप्रिय रूप से मुम्बई में स्थित हिंदी भाषा फिल्म उद्योग के लिए किया जाता है। यह शब्द वास्तविक तौर पर भारतीय फिल्म जगत के केवल एक हिस्से को प्रकट करता है, जिसमें अन्य फिल्म निर्माण केंद्र भी शामिल हैं जो प्रादेशिक भाषाओं में फिल्म बनाते हैं। 'बॉलीवुड' केवल हिंदी सिनेमा के लिए प्रयोग होता है। बॉलीवुड भारत में सर्वाधिक संख्या में फिल्में बनाता है और यह संसार में फिल्म-निर्माण के सर्वाधिक बड़े केंद्रों में से एक है।

'बॉलीवुड' शब्द संयुक्त राज्य अमेरिका (यूएसए) में फिल्म निर्माण के केंद्र 'हॉलीवुड' की नकल से उत्पन्न हुआ है। इसी तर्ज पर अन्य शब्दों की भी उत्पत्ति हुईः लॉलीवुड (लाहौर फिल्म उद्योग), कॉलीवुड (तमिल फिल्म उद्योग), ऑलीवुड (ओडिशा फिल्म उद्योग) और इसी प्रकार अन्य भी।

पश्चिम पर बॉलीवुड का प्रभाव

बॉलीवुड ने हमेशा पश्चिमी विश्व में फिल्मों को प्रभावित किया है, और विशेष रूप से अमेरिकी संगीतमयी फिल्मों की श्रेणी के पुनरुद्धार में वाद्ययंत्रीय भूमिका निभाई है। इन वर्षों में यह एक सच साबित हुआ है। बेज लुअरमैन ने व्यक्तव्य दिया कि उनकी संगीतमय फिल्म *मॉऊलिन रोग* (2001) प्रत्यक्ष तौर पर बॉलीवुड के संगीत से प्रेरित थी। फिल्म ने प्राचीन संस्कृत नाटक मृच्छकटिकम (द लिटिल क्ले कार्ट) को अपनाया और *चाइना गेट* किला के गीत से बॉलीवुड-शैली को शामिल किया। पश्चिमी संगीत वर्ग ने एक नया जीवन प्राप्त किया, और *शिकागो, द प्राड्यूसर, रेंट, ड्रीमगर्ल्स, हेयरस्प्रे, स्वीने टॉड, अक्रास द यूनीवर्स, द फैंटम ऑफ द ओपेरा, एनचेंटेड एंड मामा मियां* जैसी फिल्में निर्मित की गई।

ए.आर. रहमान ने पश्चिम में अपने संगीतमय योगदान द्वारा अपनी जगह बना ली है। उन्होंने एंड्रयू लॉयड वेबर की बॉम्बे ड्रीम्स के लिए संगीत लिखा, और लंदन के वेस्टएंड में *हम आपके हैं कौन* के संगीतमय संस्करण में भूमिका निभायी उन्होंने *लगान* (2001) को संगीतबद्ध किया, जिसे सर्वोत्तम विदेशी भाषा फिल्म के लिए एकेडमी पुरस्कार के लिए नामांकित किया गया। दो अन्य बॉलीवुड फिल्में *देवदास* (2002) और *रंग दे बसंती* (2006) को सर्वोत्तम विदेशी भाषा

फिल्म के लिए बाफ्टा अवॉर्ड हेतु नामांकित की गई। डेनी बॉएले की स्लम डॉग मिलेनियर (2008), जिसने चार गोल्डन ग्लोब और आठ ऐकेडमी अवार्ड जीते, सीधे तौर पर बॉलीवुड फिल्मों से प्रेरित रही।

बॉलीवुड फिल्मी संगीत का प्रभाव लोकप्रिय संगीत में कहीं पर भी देखा जा सकता है। हारुओमी होन्सो और राइयुचि सकामोटो, जो यलो मैजिक ऑर्केस्ट्रा से सम्बद्ध थे, ने 1978 में, इलैक्ट्रॉनिक म्युजिक और बॉलीवुड म्यूजिक के बीच प्रयोगात्मक मिलान पर आधारित एक इलेक्ट्रॉनिक एलबम *कोचीन मून* निकाली। ए.आर. रहमान द्वारा तैयार फिल्मी संगीत सिंगापुर के कलाकार कैली पून, उज्बेकिस्तान के इरोडा दिलरोज, फेंच ला कोशन, एक रैप ग्रुप, अमेरिकी कलाकार सीयारा, और जर्मन बैंड लोवेनहर्ज के लिए हमेशा प्रेरणास्प्रद रहा है। विशिष्ट बॉलीवुड गीतों ने पश्चिम को भी प्रभावित किया है। बॉलीवुड फिल्म *डिस्को डांसर* (1982) के गीत 'आईएमए डिस्को डांसर' ने डेवो की हिट फिल्म *'डिस्को डांसर'* (1988) को बेहद प्रभावित किया। लता मंगेशकर की *'ज्योति'* (1981) फिल्म के गाने 'थोड़ा रेशम लगता है' ने डीजे क्विक और डा. ड्रे द्वारा निर्मित और ट्रुथ हर्ट द्वारा गाए 'एडिक्विट' गीत (2002) को प्रेरित किया। ग्रैमी अवार्ड जीतने वाले गीत 'द ब्लैक आई पीज' (2005) और 'डांट फंक विद माई हार्ट' वॉलीवुड के 1970 के दशक के दो गीतों 'ये मेरा दिल यार का दीवाना' (1978) *डॉन* फिल्म से और 'ए नुझावन है सब' *अपराध* फिल्म (1972) से प्रभावित एवं प्रेरित हुए।

हिंदी फिल्मों में संगीत

अंग्रेजों के आगमन, पश्चिमी संस्कृति के बढ़ते प्रभाव ने राजाओं नबाबों की सामंती व्यवस्था को तो नष्ट किया ही साथ में उनके आश्रय में पलने वाले कलाकार भांड, कब्वाल, नक्काल, गायक, नर्तक-भी बेसहारा हो गए। इन सबको एक बार फिर से आश्रय हिंदी फिल्मों ने ही दिया। सुर-संगीत के तिलिस्म ने हिंदी फिल्मों की परिभाषा ही बदल दी। इसने हमारी अपनी संस्कृति में भी महत्वपूर्ण परिवर्तन कर दिया। 40 के दशक में एक फिल्म बनी थी *'एक थी लड़की'* जिसका गीत 'लाई लम्पा, लाई लम्पा, लारा लम्पा' आज भी होठों पर आ जाता है जिससे गीत-संगीत की शक्ति स्पष्ट हो जाती है।

जाने कब से यह लोकोक्ति हम सुनते आ रहे हैं होनहार बिरवान के होत

चिकने पात। यह उक्ति हिंदी फिल्मों के शैशव काल पर पूरी तरह से चरितार्थ होती है। 1931 में पहली बोलती फिल्म *आलम आरा* रिलीज हुई और हिंदी का पहला गाना संगीतबद्ध हुआ *दे-दे खुदा के नाम पर प्यारे ताकत हो गर देने की*। बजीर मुहम्मद खान द्वारा स्वरबद्ध इस गीत के संगीत निर्देशक थे फिरोज शाह मिस्त्री और बी. ईरानी। 1932 की फिल्म *इंद्रसभा* में 69 गाने थे। अधिकतर संगीतकार शास्त्रीय या नाटक की पृष्ठभूमि से थे और गीतों को गाने का अंदाज खास हिंदुस्तानी शैली में था। 1932-33 के वर्ष हिंदी गीतों के लिए एक और अर्थ में भी महत्वपूर्ण थे। इस समय एक सितारा आया जिसने अपने गीत खुद गाए और उसके गीतों को जबरदस्त मकबूलियत मिली। यह थे कुंदन लाल सहगल हिंदी फिल्मों के प्रथम लीजेंड। मुकेश और किशोर कुमार ने अपने गीतों का आरंभ सहगली शैली में ही किया। *बालम आन बसो मोरे मन में,* कहूं क्या आस निरास भई (देवदास 1935) और इक बंगला बने न्यारा (प्रेसीडेंट 1937) और बाबुल मोरा (स्ट्रीट सिंगर 1938) समय की सभी हदों को पार कर हमारे अवचेतन का एक भाग बन गए हैं। इस समय के कुछ महत्वपूर्ण गायक और संगीतकार थे कानन देवी, के.सी.डे. और सचिन देव बर्मन। अनिल विश्वास, पंकज मलिक, तिमिर बारन और केदार शर्मा ने अपनी संगीत यात्रा का आरंभ इसी समय किया।

संगीत में देश के विभिन्न भागों की आंचलिकता का प्रभाव भी आया। सी. रामचंद्र और वसंत देसाई के संगीतबद्ध गीतों में महाराष्ट्र और गोवा का प्रभाव था वहीं आना मेरी जान संडे के संडे (सी. रामचंद्र) जैसे पश्चिमी अंदाज के गाने भी बेहद प्रसिद्ध रहे थे। 1944 में आयी *रतन* ने नौशाद को प्रसिद्ध संगीतकारों की श्रेणी में ला खड़ा किया। जोहरा बाई अम्बाले वाली का गाया गीत 'अखियां मिला के जिया भरमा के चले नहीं जाना' आज भी उसी शिद्दत से सुना जाता है। उमा देवी (प्रसिद्ध हास्य कलाकार टुनटुन) का अफसाना लिख रही हूं (दर्द) और *अनमोल घड़ी* (1946) का नूरजहां का गीत आवाज दे कहां है अपने समय का ऐसा भाग है जो अमर हो गया और जिसे आज भी सुना जाता है। गाए जा गीत मिलन के (मेला, 1948, मुकेश), सुहानी रात ढल चुकी (*दुलारी,* 1949, मोहम्मद रफी), तू मेरा चांद मैं तेरी चांदनी (दिल्लगी, 1949) जैसे गीतों ने नौशाद को शिखर पर पहुंचा दिया।

हिंदी फिल्मों में संगीत का स्वर्णिम दौर

1949 से 1969 तक के समय को फिल्म संगीत का स्वर्णिम समय माना जा सकता है। मजरूह, प्रेम धवन, राजा मेंहदी अली खान, इंदीवर, साहिर लुधयानवी, शैलेंद्र और हसरत जयपुरी जैसे गीतकारों ने गीतों को कलात्मक ऊंचाइयां दीं। गायकों में मुकेश, किशोर, रफी के साथ-साथ मन्ना डे, तलअत महमूद और हेमंत कुमार थे और सबसे बड़ी बात लता मंगेशकर का होना। इस आवाज का सम्मोहन आज भी सभी के सिर चढ़कर बोल रहा है। इस दौर में शंकर-जयकिशन जैसे संगीतकारों की जोड़ी की तर्ज पर अन्य जोड़ियां भी आईं लक्ष्मीकांत-प्यारेलाल, कल्याणजी-आनंदजी, नदीम-श्रवण इन सब पर और स्वतंत्र संगीतकार जैसे अनु मलिक और हिमेश रेशमिया पर शंकर-जयकिशन का प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है।

शंकर-जयकिशन के साथ दूसरे जबरदस्त संगीतकार उभरे-सचिन देव बर्मन। बर्मन दा चालीस के दशक से ही फिल्मों में थे लेकिन उनकी शैली की छाप इसी समय पड़ी। राजकपूर के साथ के दूसरे सुपर स्टार थे देवानंद। खोया-खोया चांद (काला बाजार), हम बेखुदी में तुमको पुकारे चले गए (काला पानी), मैं जिंदगी का साथ निभाता चला गया और अल्लाह तेरो नाम *(हम दोनों), गाइड, ज्वेलथीफ, तेरे मेरे सपने* जैसी कितनी ही फिल्मों के यादगार गीत आज हमारी थाती हैं। बर्मन दा और बिमल राय की फिल्मों का संगीत भी अलग पहचान बनाता है।

नौशाद चालीस के दशक से ही सक्रिय थे बल्कि प्रसिद्धि में अव्वल नंबर पर टिके थे। अब उन्होंने शकील बदांयूनी के गीतों और मोहम्मद रफी की आवाज के जादू से एक नया संसार बना लिया। इन तीन मुस्लिम कलाकारों ने हिंदी फिल्मों को एक से बढ़कर एक भजन दिए हैं। आज भी 'मन तरपत हरि दर्शन को आज' या 'ओ दुनिया के रखवाले' जैसे भजन अनहद भाव लोक में ले जाते हैं। हिंदी फिल्मों के इतिहास में मील का पत्थर तीन फिल्में *मुगल-ए-आजम, मदर इण्डिया* और *गंगा-जमुना* का अमर संगीत नौशाद की ही देन है।

लेकिन यह युग सुर साम्राज्ञी लता का ही था। हर तरह के गीत उन्होंने गाए। रहस्मय कहीं दीप जले कहीं दिल, आ जा रे परदेसी, या मोहे भूल गए सांवरिया और फिर मोरा रंग लई ले, या दरबार की चकाचौंध में उदासी बेकस पे करम कीजिए और आशा को अहसास दिलाता कैबरे आ जाने जा लता पर

इतना कुछ लिखा-पढ़ा जाने पर भी लता की आवाज को पकड़ पाना सामर्थ्य से बाहर लगता है। लता एक ऐसी गायिका हैं जिन्होंने पुरुष प्रधान फिल्मी दुनिया में न सिर्फ हिम्मत से अपनी जगह बनाई अपितु गायक-गायिकाओं, गीतकारों और संगीतकारों के महत्व को भी स्थापित किया।

यह युग निःसंदेह लता मंगेशकर का था। लेकिन स्वर्णिम युग इंद्रधनुषी होता है इसलिए लता, आशा, गीता दत्त और रफी, मुकेश, किशोर के अलावा ऐसी अनेक जादुई आवाजें थीं जिन्होंने इस युग के कैनवास को पूरा किया। तलअत महमूद के कंपकंपाते स्वर, शमशाद बेगम की आंच पर पकी आवाज, सुरैय्या के मधुर स्वर ऐसी ही आवाजें हैं।

फिल्म संगीत के क्षेत्र में 1970 और 1980 का दशक भी बेहद महत्वपूर्ण रहा। इस दौर में आर.डी. बर्मन एक ऐसे संगीतकार रहे जिनका बल्ला मजबूती से जमा रहा और उन्होंने अपने बेटे समेत सभी संगीतकारों को अपनी मृत्यु तक सशक्त चुनौती दी।

लेकिन बीते जमाने और शंकर-जयकिशन की परम्परा को आगे बढ़ाकर आर.डी. वर्मन के इस युग में भी अपने ढंग से झंडा गाढ़ने वाली एक संगीतकार जोड़ी थी लक्ष्मीकांत-प्यारेलाल। बिंदिया चमकेगी, झूठ बोले कौवा काटे, ओम शांति ओम, खिंजा के फूल पे आती कभी बहार नहीं, सत्यम् शिवम् सुंदरम जैसे गाने न जाने कितनी जुबां पर चढ़े हैं। कल्याणजी-आनंदजी की जोड़ी ने भी पूरे जोश के साथ अपने संगीत-निर्देशन में अनेक यादगार गीत दिए। रोशन के पुत्र राजेश रोशन इस समय के अन्य उल्लेखनीय संगीतकार रहे। उनकी *जूली* के गाने देश की धड़कन बन गए और माई हार्ट इज बीटिंग हिंदी फिल्मों का पहला अंग्रेजी पॉप गाना बना।

1990 और 2000 के दशक ने गीत संगीत को एक नई ताजगी दी और सिद्ध कर दिया कि हिंदी संगीत धारा अवरुद्ध हो तो हो मगर सूखी कभी नहीं है। ये फिल्में थीं महेश भट्ट की *आशिकी* आमिर खान की पहली फिल्म *कयामत से कयामत तक* और सलमान खान की पहली फिल्म *मैंने प्यार किया।* इनका गीत संगीत बेहद लोकप्रिय हुआ और इन्होंने ऐसी फिल्मों के लिए मार्ग खोला। राजश्री प्रोडक्शन की *हम आपके हैं कौन* बहुत वर्षों के बाद गानों पर आधारित फिल्म थी और इस फिल्म का हर गाना लोकप्रियता के शिखर को छू गया। *दिल वाले दुलहनियां ले जाएंगे* और, *हम दिल दे चुके सनम* ऐसी ही फिल्में थीं।

आनंद-मिलिंद, नदीम-श्रवण, जतिन ललित और अनु मलिक इस दौर के संगीतकारों में कुछ प्रमुख नाम हैं। उदित नारायण, एस.पी. बालासुब्रमण्यम हरिहरन, कविता कृष्णमूर्ति प्रसिद्ध गायक रहे। आर.डी. बर्मन की आखिरी फिल्म *1942-ए लव स्टोरी* ने फिर सिद्ध कर दिया कि आर.डी. बर्मन की जगह अनोखी थी और उसे कोई नहीं भर सकता। प्यार हुआ चुपके से और कुछ न कहो जैसे गाने पूरी शिद्दत के साथ आर.डी. बर्मन के संगीत का अहसास करा गए। पर कुल मिलाकर यह समय सस्ते गीत-संगीत और पाश्चात्य तर्जों की नकल का था। ऐसे समय पर ताजी हवा के झोंके की तरह दक्षिण पवन के रूप में ए. आर. रहमान ने पूरे देश को झकझोर दिया।

अपनी पहली ही फिल्म *रोजा* के लिए राष्ट्रीय पुरस्कार से सम्मानित रहमान ने अपने आगमन के साथ एक नए युग का सूत्रपात किया। दिल है छोटा सा, रोजा जाने मन, रुक्मिणी हर दिल की जुबान बन गए। इसके बाद ही दूसरी सुपरहिट बाम्बे के गाने कहना है क्या, हम्मा-हम्मा और भी प्रसिद्ध है। रहमान को तुरंत हिंदी फिल्में मिलीं और *रंगीला* जैसी फिल्मों ने हिंदी फिल्म संगीत को बदलकर रख दिया। शंकर अहसान लॉय, विशाल शेखर, आदेश श्रीवास्तव, विशाल भारद्वाज, एम.एम. करीम, सुखबिंदर सिंह, प्रीतम आदि अन्य संगीतकार हैं।

गुजरते वक्त के साथ युगों का आरंभ एवं अवसान होता है। हिंदी फिल्मों की बयासी वर्षों की इस यात्रा में इसी तरह हर दशक में कोई न कोई परिवर्तन हुआ है।

हिंदी फिल्मों में नृत्य

भारतीय सिनेमा में नृत्य शैलियां भारी मात्रा में भारतीय शास्त्रीय परम्परा, लोक कला परम्परा और पश्चिमी नृत्य परम्परा से ली गई है। लेकिन फिल्मी नृत्य ने इनका उपयोग इनके मूल एवं विशुद्ध रूप में नहीं किया। नृत्य एकल रूप से अभिनेत्री या सुंदरी द्वारा हो सकता है। त्यौहार या उत्सव या बड़े आयोजन पर नृत्य सामूहिक रूप में हो सकता है। नृत्य को फिल्म के विषय के तहत् बुना जाता है (लोक एवं पश्चिमी नृत्य परम्पराओं का समिश्रण)। अक्सर हीरो और हिरोइन द्वारा एक-दूसरे के प्रति अपने प्रेम की अभिव्यक्ति हेतु नृत्य किया जाता है।

हिंदी फिल्मों में, खुशी, दुःख या संताप, विलाप के भावों की अभिव्यक्ति

के लिए नृत्य का इस्तेमाल किया जाता रहा है। ध्यान मात्र इस बात पर नहीं होता कि नृत्य शैली को प्रस्तुत करना है अपितु दर्शकों को खींच लाने के उद्देश्य से लोगों को छू लेने वाला बनाना होता है। गौरतलब है कि 1950 और 1960 के दशक की फिल्मों में अभिनेत्रियों द्वारा किए गए नृत्य को खूबसूरती के साथ प्रस्तुत किया गया जिसने अपना एक विशिष्ट स्थान बनाया। उच्चकोटि की अभिनेत्रियों जैसे वैजयंतीमाला, वहीदा रहमान, आशा पारेख और हेमा मालिनी अपने क्षेत्र में कुशल नर्तकियां थीं और उन्होंने फिल्मों में इसे बखूबी प्रस्तुत किया।

1970 और 1980 के दशकों में, शास्त्रीय संगीत पर आधारित नृत्यों ने अपनी दर्शक आकर्षण खूबी को खो दिया। फिल्में दरबारी शैली नृत्य या लोक नृत्य के साथ पश्चिमी नृत्य शैलियों के खूबसूरत मिश्रण वाली होने लगीं। अभिनेता या अभिनेत्री अक्सर सपोर्टिंग नर्तकों के समूह के साथ नृत्य प्रस्तुति देने लगे।

1990 और 2000 के दशकों में, नृत्य अधिकाधिक पश्चिमी शैली के हो गए। इसने फिल्मी नृत्यों में अधिकाधिक फूहड़ता का समावेश किया।

एक नया तत्व आया जिसे 'आइटम डांस' या 'आइटम नंबर' कहा गया। इन आइटम नंबर ने दर्शकों को खुली अश्लीलता एवं फूहड़ता के कारण अपनी ओर खींचा। ऐसे नृत्यों में ऊंची आवाज, और हाव-भाव, कैंची सांग और सौंदर्यपरकता की कमी वाले विशेषताओं वाले होते हैं। अक्सर शारीरिक रूप से सुंदर एवं आकर्षक महिला (आइटम गर्ल), जिसका मुख्य फिल्म में कोई किरदार नहीं होता है, इस प्रकार के नृत्य को प्रस्तुत करती है। पूर्व में इस प्रकार के नृत्य को दरबारी नर्तक (तवायफ) द्वारा अमीर लोगों को खुश करने के लिए किया जाता था या कैबरे शो होता था। मीना टी. एवं जयश्री टी., हेलेन, बिंदु, पद्मा खन्ना अपने कैबरे नृत्य के लिए प्रसिद्ध थीं। आधुनिक फिल्मों में, आइटम नम्बर को डिस्कोथिक सीक्वेंस, सेलिब्रेशन, या स्टेज शो के रूप में डाला जाता है।

फिल्म पुरस्कार

भारतीय सिनेमा में फिल्म पुरस्कार एक बड़ा आयोजन है। लोकप्रिय फिल्मों एवं कलकारों को सिनेमा में उनके उत्कृष्ट एवं अद्वितीय योगदान के लिए नियमित रूप से पुरस्कार दिए जाते हैं। कुछ महत्वपूर्ण भारतीय फिल्म पुरस्कार इस प्रकार हैंः

फिल्मफेयर अवॉर्ड

फिल्म फेयर अवॉर्ड वार्षिक रूप से टाइम्स ग्रुप द्वारा हिंदी फिल्म उद्योग में अभिनय एवं तकनीकी उत्कृष्टता के लिए प्रदान किया जाता है। यह सबसे पुराने एवं महत्वपूर्ण फिल्म आयोजनों में से एक है, और इसकी सर्वप्रथम स्थापना 1954 में की गई थी। फिल्मफेयर अवार्ड के लिए लोगों और विशेषज्ञ समिति दोनों द्वारा वोट किए जाते हैं। फिल्मफेयर अवॉर्ड को अक्सर हिंदी फिल्म उद्योग का ऑस्कर माना जाता है।

मुम्बई के मेट्रो थिएटर में मार्च 1954 में पहली बार यह अवार्ड कार्यक्रम आयोजित किया गया जिसमें केवल पांच अवार्ड प्रदान किए गएः सर्वोत्तम फिल्म, सर्वोत्तम संगीत निर्देशक। *दो बीघा जमीन* पहली फिल्म थी जिसने सर्वोत्तम फिल्म का पहला पुरस्कार जीता। बिमल रॉय ने *दो बीघा जमीन* के लिए सर्वोत्तम निर्देशक का पुरस्कार हासिल किया। दिलीप कुमार ने *दाग* में अपने अभिनय के लिए सर्वोत्तम अभिनेता का पुरस्कार प्राप्त किया। मीना कुमार को *बैजू बावरा* में अपने अभिनय के लिए यह पुरस्कार मिला, और नौशाद को *बैजू बावरा* में संगीत के लिए यह अवॉर्ड प्राप्त हुआ। साल दर साल इस अवार्ड की श्रेणियों (कैटेगरी) में इजाफा होता गया।

फिल्म क्रिटिक्स अवॉर्ड की एक अलग श्रेणी बनाई गई, और इसका निर्णय लोकप्रिय वोट की अपेक्षा प्रमुख फिल्म आलोचकों द्वारा किया जाता है।

आइफा अवॉर्ड

अंतरराष्ट्रीय भारतीय फिल्म एकेडमी अवॉर्ड (आइफा अवॉर्ड) की शुरुआत वर्ष 2000 में हुई। यह अवॉर्ड भारतीय हिंदी सिनेमा में अभिनय एवं तकनीकी उत्कृष्ट योगदान दोनों के लिए वार्षिक रूप से अंतरराष्ट्रीय भारतीय फिल्म एकेडमी द्वारा प्रदान किया जाता है। विजक्राफ्ट अंतरराष्ट्रीय एटरटेनमेंट प्राइवेट लिमिटेड, एक इवेंट प्रबंधन एवं मनोरंजन एजेंसी, इस अवार्ड समारोह का आयोजन करती है। इस समारोह का आयोजन प्रत्येक वर्ष विश्व के अलग-अलग हिस्सों में किया जाता है। यह अवॉर्ड विगत् वर्ष की फिल्मों को सम्मान प्रदान करता है। वर्ष 2010 तक अमिताभ बच्चन आइफा के ब्रांड अम्बेसडर थे। 2009 में, कुछ पांच विशेष सम्मान दिए गएः स्टार ऑफ द डकेड

(पुरुष एवं महिला), मूवी ऑफ द डेकेड, म्यूजिक ऑफ द डेकेड, और डायरेक्टर ऑफ द डिकेड।

राष्ट्रीय फिल्म पुरस्कार

भारत में राष्ट्रीय फिल्म पुरस्कार सबसे महत्वपूर्ण एवं खास पुरस्कार है। 1954 में प्रारंभ यह पुरस्कार, 1973 से, भारत सरकार के फिल्म महोत्सव निदेशालय द्वारा प्रशासित किया जा रहा है।

सरकार द्वारा नियुक्त राष्ट्रीय पैनल जीतने वाली एन्ट्रीज का चुनाव करता है। यह पुरस्कार भारत के राष्ट्रपति द्वारा नई दिल्ली में आयोजित एक भव्य समारोह में प्रदान किया जाता है। पुरस्कार जीतने वाली फिल्मों को लोगों को दिखाया जाता है।

यह सम्मान समग्र भारतीय सिनेमा में सर्वोत्तम है और साथ-ही-साथ देश के प्रत्येक क्षेत्र एवं भाषा की सर्वोत्तम फिल्म को यह दिया जा सकता है। इसे अमेरिकन एकेडमी अवॉर्ड के समान समझा जाता है। यह सम्मान विगत् वर्ष में निर्मित फीचर फिल्मों के लिए दिया जाता है। निम्न श्रेणियों में सम्मान प्राप्त किया जाता हैः

गोल्डन लोट्स अवार्ड (राजकीय नामः स्वर्ण कमल): यह पुरस्कार पांच श्रेणियों सर्वोत्तम फीचर फिल्म, सर्वोत्तम निर्देशन, सर्वोत्तम बाल फिल्म, सर्वोत्तम लोकप्रिय फिल्म और इंदिरा गांधी पुरस्कार (निर्देशक की सर्वोत्तम फिल्म) में दिया जाता है।

सिल्वर लोट्स अवॉर्ड (राजकीय नामः रजत कमल): 25 श्रेणियों में।

प्रत्येक भाषा में बेस्ट फीचर फिल्म विशिष्ट रूप से संविधान के आठवीं अनुसूची में उल्लिखितः 12 श्रेणियां

संविधान की आठवीं अनुसूची के अतिरिक्त प्रत्येक भाषाओं में बेस्ट फीचर फिल्मः पांच श्रेणियां

दादा साहेब फाल्के लाइफटाइम एचीवमेंट अवॉर्डः यह पुरस्कार जीवनपर्यंत उपलब्धियों के लिए और भारतीय सिनेमा में योगदान के लिए प्रदान किया जाता है। इसका नामकरण भारत के महान फिल्म निर्माता दादा साहेब फाल्के के नाम पर किया गया है। यह सम्मान 20 श्रेणियों से भी अधिक को नॉन फीचर फिल्मों को प्रदान किया जा चुका है।

स्क्रीन अवॉर्ड

स्क्रीन अवॉर्ड (पूर्व में, स्टार स्क्रीन अवॉड) भारत में वार्षिक पुरस्कार समारोह है जो फिल्मों में पेशेवर उत्कृष्टता को सम्मानित करता है। इसकी शुरुआत 1994 में एक्सप्रेस समूह के अध्यक्ष विवेक गोयनका ने की। अवॉर्ड अन्य लोकप्रिय अवॉर्ड के विपरीत ज्यूरी द्वारा निर्णीत को दिया जाता है।

यह पुरस्कार वार्षिक रूप से हिंदी/मराठी फिल्मों और टीवी एवं गैर-फिल्मी संगीत को बड़े समारोह में प्रदान किया जाता है।

स्टारडस्ट अवार्ड

स्टारडस्ट अवॉर्ड हिंदी फिल्मों के लिए एक पुरस्कार समारोह है, जो नई पीढ़ी के सुपरस्टार्स को बधाई देता है जिन्होंने भविष्य पर अपनी छाप छोड़ी है। इसे स्टारडस्ट पत्रिका द्वारा प्रायोजित किया जाता है।

यह वार्षिक पुरस्कार सर्वप्रथम 2003 में शुरू किया गया। इस पुरस्कार में फिल्म उद्योग में नई प्रतिभा के साथ-साथ मौजूद कलाकारों को भी सम्मानित किया। यह पुरस्कार 38 श्रेणियों में दिए जाते हैं।

जी सिने अवॉर्ड

जी सिने अवॉर्ड हिंदी सिनेमा के लिए पुरस्कार समारोह है। इसका आयोजन सर्वप्रथम 1998 में मुम्बई में किया गया था। तब से, इसने भारतीय लोगों के साथ-साथ जी नेटवर्क के दर्शकों के बीच एक प्रमुख पुरस्कार समारोह के तौर पर निरंतर लोकप्रियता हासिल की है।

अन्य प्रमुख भारतीय फिल्म पुरस्कार हैं विजय अवॉर्ड, गोल्डन केला अवॉर्ड और एशियानेट फिल्म अवॉर्ड।

फिल्म संबंधी संस्थान एवं संगठन

केंद्रीय चलचित्र प्रमाणन बोर्ड

केंद्रीय चलचित्र प्रमाणन बोर्ड द्वारा प्रमाणित किए जाने के बाद ही कोई फिल्म भारत में दिखाई जा सकती है। चलचित्र अधिनियम 1952 के अनुसार स्थापित इस बोर्ड में एक अध्यक्ष और कम से कम 12 और अधिक से अधिक 25 गैर सरकारी सदस्य होते हैं। इनकी नियुक्ति सरकार करती है। बोर्ड का मुख्यालय मुंबई में है और इसके नौ क्षेत्रीय कार्यालय हैं बंगलुरू, मुंबई, कोलकाता, हैदराबाद,

चेन्नई, तिरुअनंतपुरम, नई दिल्ली, कटक और गुवाहाटी। सलाहकार पैनल फिल्मों के परीक्षण में क्षेत्रीय कार्यालयों की सहायता करते हैं। इन पैनलों में प्रतिष्ठित शिक्षाशास्त्री, कला समीक्षक, पत्रकार, समाजसेवी, मनोवैज्ञानिक आदि शामिल होते हैं। बोर्ड चलचित्र अधिनियम 1952, चलचित्र (प्रमाणन) नियम, 1983 के प्रावधानों तथा इस संदर्भ में केंद्र सरकार द्वारा जारी निर्देशों के अनुसार फिल्मों की प्रमाणन के लिए जांच करता है। वर्ष 2000 में बोर्ड ने 855 भारतीय फिल्मों और 203 विदेशी फीचर फिल्मों का प्रमाणन किया, साथ ही 1,058 भारतीय और 194 विदेशी लघुचित्रों, 111 भारतीय वीडियों फीचर फिल्म और 38 विदेशी वीडियो फीचर फिल्मों, 503 भारतीय वीडियो लघु फिल्मों और 167 विदेशी वीडियो लघुचित्रों को भी प्रमाणित किया।

भारतीय फिल्म और टेलीविजन संस्थान, पुणे

भारतीय फिल्म संस्थान की स्थापना सूचना और प्रसारण मंत्रालय के तहत 1960 में भारत सरकार ने की थी। 1974 में टेलीविजन शाखा खोलने के बाद इसे भारतीय फिल्म एवं टेलीविजन संस्थान का नाम दिया गया। अक्टूबर, 1974 में ये संस्थान सोसायटी पंजीकरण कानून, 1860 के अंतर्गत एक सोसायटी बन गया। सोसायटी में मशहूर हस्तियां हैं जिनमें फिल्म, टेलीविजन, संचार से जुड़े लोग तथा संस्थान के छात्र और पदेन सरकारी सदस्य शामिल हैं। संस्थान एक संचालक परिषद् के अंतर्गत कार्य करता है जिसका प्रमुख अध्यक्ष होता है। शिक्षा परिषद् संस्थान की शैक्षिक नीतियां और योजनाएं तैयार करती हैं। स्थायी वित्त समिति संस्थान के वित्त से जुड़े मामलों को देखती है। संस्थान के दो खंड हैं फिल्म और टेलीविजन खंड जो दोनों श्रेणियों में पाठ्यक्रम चलाते हैं। इनमें तीन वर्षीय डिप्लोमा पाठ्यक्रम से लेकर फिल्म निर्देशन में स्नातकोत्तर डिप्लोमा, सिनेमाटोग्राफी, ऑडियोग्राफी और फिल्म संस्थान संपादन शामिल हैं। संस्थान अभिनय में दो वर्षीय स्नातकोत्ततर डिप्लोमा पाठ्यक्रम, कला निर्देशन और निर्माण डिजाइन में दो वर्षीय स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम और एक वर्षीय स्नातकोत्तर प्रमाणपत्र पाठ्यक्रम चलाता है।

भारतीय फिल्म एवं टेलीविजन संस्थान फिल्म निर्माण और टेलीविजन निर्माण कला और तकनीक में आधुनिकतम शिक्षा प्रदान करता है। दूरदर्शन और अन्य संस्थाओं के अधिकारियों को सेवारत प्रशिक्षण दिया जाता है। ये संस्थान आधुनिकतम डिजिटल और प्रसारण उपकरणों से लैस हैं जैसे-नॉन लीनियर

बीटे कैम और एबी रोल संपादन तकनीक, डिजिटल कैमरा जैसे सोनी बीवीपी-500 पी, सॉफ्ट क्रोमा कीयर, डिजिटल स्पेशल इफेक्ट्स जेनरेटर, एलियास सॉफ्टवेयर के साथ सिलीकॉन ग्राफिक्स 02 वर्कस्टेशन, आधुनिक फिल्म कैमरा और रिकॉर्डिंग स्टूडियो आदि जो संस्थान के प्राध्यापकों और छात्रों को एक अलग अनुभव प्रदान करते हैं।

राष्ट्रीय फिल्म अभिलेखागार

कला और ऐतिहासिक दस्तावेज के रूप में सिनेमा के संरक्षण का अपना महत्व है। सिनेमा को इसके तमाम रूपों और प्रकारों में संरक्षित करने के लिए ऐसा संगठन जरूरी है जिसका स्थायी ढांचा हो, जिसे फिल्म उद्योग का विश्वास प्राप्त हो और जिसके पास पर्याप्त संसाधन तथा विशेषज्ञता हो। इसीलिए मंत्रालय की मीडिया इकाई के रूप में फरवरी 1964 में भारतीय राष्ट्रीय फिल्म अभिलेखागार की स्थापना की गयी। इसके निम्नलिखित उद्देश्य और लक्ष्य हैं:

1. राष्ट्रीय सिनेमा की विरासत की पहचान और भावी पीढ़ियों के लिए संरक्षण, विश्व सिनेमा का प्रतिनिधित्व करने वाला एक संग्रह तैयार करना।
2. फिल्मों से संबंधित आंकड़ों को वर्गीकृत और अभिलेखबद्ध करना, सिनेमा अनुसंधान तथा इसके नतीजों का प्रचार-प्रसार।
3. देश में फिल्म संस्कृति को बढ़ावा देना और विदेशों में भारत की सांस्कृतिक उपस्थिति सुनिश्चित करना।

अभिलेखागार ने अपने लक्ष्यों को प्राप्त करने की दिशा में अच्छा कार्य किया है। अवधि के दौरान भारतीय राष्ट्रीय फिल्म अभिलेखागार ने अपने संग्रह में 33 फिल्में (22 नयी, तीन प्रतिलिपियां और एलटीएल आधार पर प्राप्त 8), 147 डीवीडी, 416 पुस्तकें, 1134 पांडुलिपियां, 1107 स्टिल्स, 80 गीत पुस्तिकाएं, 814 वॉल पोस्टर और 34 फिल्म फोल्डर/पैम्फलेट जोड़े हैं।

राष्ट्रीय फिल्म विकास निगम

राष्ट्रीय फिल्म विकास निगम का गठन भारत सरकार द्वारा 1975 में किया गया था। पूरी तरह सरकारी स्वामित्व वाली इस संस्था का प्राथमिक उद्देश्य भारतीय फिल्म उद्योग के संगठित, सक्षम और एकीकृत विकास के लिए योजना बनाना और उसे प्रोत्साहित करना है। फिल्म वित्त निगम (एफएफसी) तथा भारतीय मोशन पिक्चर्स निर्यात निगम (आईएमपीईसी) के विलय से 1980 में राष्ट्रीय

फिल्म विकास निगम (एनएफडीसी) का पुनर्गठन हुआ। एफएफसी का गठन 1964 में हुआ। इसका उद्देश्य युवा प्रतिभावान फिल्म निर्माताओं को वित्तीय सहायता उपलब्ध कराना था जबकि आईएमपीईसी का गठन आयात-निर्यात के नियमन और अपरिष्कृत भंडारण के लिए हुआ था। भारतीय फिल्म उद्योग के विकास को समुचित माहौल उपलब्ध कराने के लिए एक निकाय की जरूरत को समझते हुए भारत सरकार ने एफएफसी और आईएमपीईसी का विलय एनएफडीसी में कर दिया। एनएफडीसी ने अब तक 200 से ज्यादा फिल्मों को या तो वित्तीय सहायता दी है या निर्माण किया है। विभिन्न भारतीय भाषाओं में बनी इन फिल्मों को व्यापक पैमाने पर सराहा गया है और इन्होंने राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय स्तर पर कई पुरस्कार भी जीते हैं। निगम का कॉरपोरेट कार्यालय मुम्बई में है जबकि इसके तीन क्षेत्रीय कार्यालय चेन्नई, कोलकाता और दिल्ली में और एक शाखा कार्यालय तिरुवनंतपुरम में है।

फिल्म समारोह निदेशालय

फिल्म समारोह निदेशालय की स्थापना 1973 में की गई। सूचना और प्रसारण मंत्रालय के अधीन इस निदेशालय का उद्देश्य अच्छे सिनेमा को प्रोत्साहन देना है। इसके लिए यह निम्नलिखित वर्गों के तहत् अपनी गतिविधियों का संचालन करता है

1. भारतीय अंतरराष्ट्रीय फिल्म समारोह, 2. राष्ट्रीय फिल्म पुरस्कार तथा दादा साहेब फाल्के पुरस्कार, 3. सांस्कृतिक आदान-प्रदान कार्यक्रम तथा विदेशों में शिष्टमंडलों के जरिए भारतीय फिल्मों के प्रदर्शन का आयोजन, 4. भारतीय पैनोरमा का चयन, 5. विदेशों में अंतरराष्ट्रीय फिल्म समारोहों में भागीदारी, 6. भारत सरकार की ओर से विशेष फिल्मों का प्रदर्शन और 7. प्रिंट संग्रहण तथा अभिलेखन।

ये गतिविधियां, सिनेमा के क्षेत्र में भारत और अन्य देशों के बीच विचारों, संस्कृति तथा अनुभव के आदान-प्रदान के लिए बेजोड़ मंच प्रदान करती हैं। ये भारतीय सिनेमा को सशक्त मंच प्रदान करती हैं तथा भारतीय फिल्मों के लिए व्यावसायिक अवसरों को बढ़ावा देती हैं। देश के भीतर इसने विश्व सिनेमा की नवीनतम प्रवृत्तियां आम जनता, फिल्म उद्योग तथा विद्यार्थियों तक पहुंचाने का काम किया है।

फिल्म प्रभाग

1943 में स्थापित 'इंडियन न्यू परेड' और 'इंफॉर्मेशन फिल्म्स ऑफ इंडिया' का पुनः नामकरण कर जनवरी, 1948 में फिल्म प्रभाग का गठन किया गया। 1952 में सिनेमाटोग्राफ अधिनियम, 1918 का भारतीयकरण किया गया जिसके तहत् वृत्तचित्र फिल्मों का पूरे देश में प्रदर्शन करना अनिवार्य कर दिया गया। फिल्म प्रभाग, 1949 से देशभर के थियेटरों को हर शुक्रवार को एक वृत्तचित्र या एनिमेशन फिल्म या समाचार आधारित फिल्म जारी करता है। प्रभाग ने स्वतंत्रता के बाद का देश का पूरा इतिहास फिल्म के रूप में तैयार किया है। इसका मुख्यालय मुम्बई में है और ये निर्माण, स्टूडियो, रिकॉर्डिंग थियेटर, संपादन कक्ष, एनिमेशन इकाई, कैमरे, वीडियो सेटअप, प्रिव्यू थियेटर जैसी सुविधाओं से लैस है। प्रभाग 15 भारतीय भाषाओं में फिल्मों की डबिंग भी स्वयं करता है। प्रभाग राष्ट्र निर्माण गतिविधियों में अपनी सक्रिय भागीदार को शामिल करने के लिए भारतीय जनता की सोच को विस्तार देने का कार्य कर रहा है। प्रभाग का उद्देश्य राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य पर केन्द्रित राष्ट्रीय कार्यक्रमों के क्रियान्वयन और देश की छवि और विरासत को भारतीय और विदेशियों के समक्ष पेश करने के लिए लोगों को शिक्षित और प्रेरित करना है। प्रभाग का उद्देश्य वृत्तचित्र फिल्म आंदोलन के विकास को गति प्रदान करना भी है जिसका राष्ट्रीय सूचना, संचार और एकता के क्षेत्र में बड़ा महत्व है। प्रभाग वृत्तचित्र, लघु फिल्में, एनीमेशन फिल्में और समाचार पत्रिकाएं तैयार करता है। फिल्म प्रभाग, देशभर के 8,500 सिनेमाघरों, देशभर में फैले गैर-थियेटर क्षेत्रों जैसे क्षेत्रीय प्रचार इकाइयों, राज्य सरकार की सचल इकाइयों, दूरदर्शन, परिवार कल्याण विभाग की क्षेत्रीय इकाइयों, शैक्षिक संस्थाओं, फिल्म समितियों और स्वैच्छिक संगठनों को अपनी सेवाएं प्रदान करता है। राज्य सरकारों के वृत्तचित्रों तथा न्यूज रीलों को भी प्रभाग थियेटर क्षेत्र में प्रदर्शित करता है। फिल्म प्रभाग वृत्तचित्र और फिल्मों के प्रिंट, स्टॉक शॉट, वीडियो कैसेट तथा अधिकारों को देश-विदेश में बेचता है। फिल्म निर्माण के अलावा फिल्म प्रभाग निजी फिल्म निर्माताओं को अपने स्टूडियो, रिकॉर्डिंग थियेटर, संपादन कक्ष और सिनेमा उपकरण भी किराए पर देता है।

वितरण विंग ने खुद को पुनः परिभाषित किया है और राज्य जिलास्तर पर स्वतंत्र रूप से, साथ ही एनजीओ, फिल्म समितियों, शैक्षिक संस्थाओं आदि

के साथ मिलकर फिल्म समारोहों को नियमित गतिविधि बनाया है ताकि जनता तक पहुंचा जा सके और वृत्तचित्र आंदोलन को प्रोत्साहन दिया जा सके। वितरण विंग विदेश मंत्रालय के बाह्य प्रचार प्रभाग के जरिए विदेशों में भारतीय मिशनों को फिल्म प्रभाग की चुनिंदा फिल्मों के प्रिंट भी वितरित करता है। यह रॉयल्टी आधार पर, साथ ही स्टॉक शॉट्स, फिल्म स्ट्रिप्स, वीडियो क्लिपिंग्स आदि की बिक्री करता है। वितरण विंग का प्रचार अनुभाग राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय फिल्म समारोह में फिल्म प्रभाग की फिल्मों की भागीदारी का प्रबंध करता है।

भारतीय बाल फिल्म समिति

भारतीय बाल फिल्म समिति की स्थापना 1955 में बच्चों को फिल्मों के माध्यम से उच्च आदर्शों की प्रेरणा देने वाला मनोरंजन प्रदान करने के उद्देश्य से की गई थी। समिति बच्चों की फिल्मों का निर्माण, संग्रहण, वितरण, प्रदर्शन और संवर्धन करती है। बाल फिल्म समिति का मुख्यालय मुंबई में है और नई दिल्ली तथा चेन्नई में इसके क्षेत्रीय शाखा कार्यालय हैं। सीएफएसआई का मिशन देश-विदेश में बाल फिल्म आंदोलन को फैलाने, प्रोत्साहित कर बाल फिल्मों को बढ़ावा देना है। समिति द्वारा निर्मित संग्रहित फिल्मों का प्रदर्शन राज्य जिलावार बाल फिल्म समारोहों, थिएटरों और स्कूलों में गैर-थिएटर मंचों के माध्यम से वितरकों तथा गैर-सरकारी संगठनों के जरिए किया जाता है।

भारतीय बाल फिल्म समिति की मुख्य बातें इस प्रकार हैं

1. गुरु रविन्द्रनाथ टैगोर की 150वीं जयंती के अवसर पर कोलकाता में भारतीय बाल फिल्म समिति की दो क्लासिक फिल्में दिखाई गईं।

2. बिहार राज्य की स्थापना के 100 वर्ष पूरे होने के उपलक्ष्य में भारतीय बाल फिल्म समिति की एक फिल्म को पूरे राज्य में एकसाथ यूएफओ फॉर्मेट में 98 थिएटरों पर दिखाया गया।

3. हिन्दी फीचर फिल्म 'गट्टू' को बर्लिन अंतरराष्ट्रीय फिल्म समारोह, 2012 में अंतरराष्ट्रीय ज्यूरी का 'स्पेशल मेंशन' मिला। इस फिल्म ने लॉस ऐंजेल्स में भारतीय फिल्म समारोह, 2012 में 'श्रोता पुरस्कार' भी जीता।

4. बच्चों की फिल्मों का समारोह 'मॉनसून धमाल' नौ शहरों में आयोजित किया गया।

सत्यजीत रे फिल्म एवं टेलीविजन संस्थान

सत्यजीत रे फिल्म एवं टेलीविजन संस्थान, कोलकाता को भारत सरकार ने सूचना और प्रसारण मंत्रालय के प्रशासकीय नियंत्रण में एक स्वायत्तशासी संस्थान के रूप में शामिल किया था और इसे पश्चिम बंगाल सोसायटीज पंजीकरण कानून, 1961 के अधीन पंजीकृत कराया गया। फिल्म जगत की मशहूर हस्ती सत्यजीत रे के नाम पर कोलकाता में स्थापित यह संस्थान देश का दूसरा इस प्रकार का संस्थान है। संस्थान, निर्देशन और पटकथा लेखन, सिनामाटोग्राफी, संपादन और ऑडियोग्राफी में तीन वर्षीय स्नातकोत्तर डिप्लोमा पाठ्यक्रम चलाता है। इनके अलावा संस्थान टेलीविजन और फिल्म से संबंधित लघु और मध्यम अवधि के पाठ्यक्रम भी चलाता है।

अध्याय-7

स्थापत्य एवं कला

किसी भी देश की संस्कृति स्वयं को धर्म, दर्शन, साहित्य, संगीत, स्थापत्य एवं कला के रूप में अभिव्यक्त करती है। गौरतलब है कि भारतीय संस्कृति के उन्नयन एवं उसे सतत् रूप से अक्षुण्ण बनाए रखने में यहां की पारम्परिक कलाओं का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। कला का उद्गम, मानव विकास के साथ ही अपने सौन्दर्य बोध को अभिव्यक्ति प्रदान करने से हुआ होगा। इसके अतिरिक्त अपने चारों ओर फैली प्रकृति तथा उसके क्रियाकलापों को उपलब्ध माध्यमों द्वारा रूपाकार प्रदान कर प्रसन्न होना, भय, उत्साह, क्रोध एवं आश्चर्य इत्यादि मनोभावों को उद्दीप्त होने पर उन्हें तद्नुसार मूर्त रूप देना तथा जादू-टोने, अंधविश्वासों एवं शुभ-अशुभ की भावना से प्रेरित होकर, स्वस्तिक, हाथ के छापों, नाशदुम आदि आकृतियों का निर्माण करना, कला सृजन के अन्य कारण रहे होंगे।

कला लोगों की संस्कृति में एक मूल्यवान विरासत है। जब कोई कला की बात करता है तो आमतौर पर उसका अभिप्राय दृष्टिमूलक कला से होता है जैसे वास्तु कला, मूर्तिकला तथा चित्रकला। अतीत में ये तीनों पहलू आपस में मिले हुए थे। वास्तुकला में ही मूर्तिकला एवं चित्रकला का समावेश था।

पुरातात्विक एवं मानवशास्त्रियों द्वारा एकत्रित साक्ष्यों से अनुमान होता है कि कला का सृजन एवं उन्नयन मानव विकास के साथ-साथ होता रहा है। वास्तव में भारतीय कला हमारी संस्कृति के सभी पक्षों को प्रतिबिम्बित करने का एक सशक्त माध्यम रही है और अपनी विशेषताओं के कारण ही एशिया के अधिकांश भागों में कला की परम्पराओं को नूतन रूप प्रदान कर सकी है। सुंदरता एवं उपयोगिता कला के विशेष गुण अथवा लक्षण माने जाते हैं। अतः कलाओं को दो वर्गों में रखा गया है (i) उपयोगी कलाएं एवं (ii) ललित कलाएं। ललित कलाओं के अंतर्गत काव्य, संगीत, चित्रकला, मूर्तिकला तथा स्थापत्य या वास्तुकला को रखा गया है।

कला की भांति 'वास्तु या स्थापत्य कला' के उद्भव एवं विकास का इतिहास भी उतना ही प्राचीन है, जितना कि मानव-सभ्यता का। ऐसा प्रतीत होता है कि आदि मानव का 'आश्रय-स्थल' प्राकृतिक गुफाएं, शिलाश्रय तथा वृक्ष रहे होंगे। यूरोपीय महाद्वीप के अंतर्गत स्पेन तथा फ्रांस के समीपवर्ती प्रदेश में ऐसी अनेक गुफाएं मिली हैं, जिनमें आदि मानव के निवास करने के स्पष्ट प्रमाण प्राप्त हुए हैं। भारत में भी विभिन्न शैलाश्रयों एवं प्राकृतिक गुफाओं में आदि मानव द्वारा निर्मित चित्र, मूर्तियां तथा औजार पाए गए हैं, जो उनके 'आश्रय स्थल होने का संकेत देते हैं। इसी प्रकार, वैदिक कालीन 'पर्ण कुटियों' का निर्माण तथा मौर्य एवं मौर्योत्तर कालीन 'रिलीफ मूर्तियों' में भी साधु-सन्यासियों के निवास हेतु निर्मित कुटियों का प्रदर्शन वास्तुकला के क्रमिक विकास को दर्शाता है।

भारतीय कला में धर्म की भूमिका अथवा आध्यात्मिकता का अत्यधिक प्रभावशाली एवं व्यापक पक्ष दृष्टिगोचर होता है। वास्तव में 'कला और धर्म' का घनिष्ठ संबंध था, परिणामस्वरूप कला 'सम्प्रेषण का माध्यम' बनकर तत्कालीन समाज की आवश्यकता की पूरक बन गई। इसलिए कलाकारों ने भौतिक एवं सांसारिक 'विषय-वस्तु' की अपेक्षा धार्मिक विषयों को चित्रित करने में विशेष रुचि दिखाई।

विद्वानों का मानना है कि भारतीय कला धर्म से प्रेरित हुई। वैसे इस बारे में कुछ नकारने जैसा भी नहीं है। हो सकता है, कलाकारों और हस्तशिल्पियों ने धर्माचार्यों के निर्देशानुसार काम किया हो, पर स्वयं को अभिव्यक्त करते समय उन्होंने संसार को जैसा देखा, वैसा ही दिखाया। यह सही है कि भारतीय कला के माध्यम से जो पावन दृष्टि को ही अभिव्यक्त किया गया, जो भौतिक संसार के पीछे छिपे दैव तत्वों से, जीवन और प्रकृति की सनातन विषमता और सबसे ऊपर मानवीय तत्व से हमेशा अवगत रहती है।

प्राचीन भारत में जहां एक ओर वास्तुशास्त्र विषय पर गम्भीर मौलिक ग्रंथों की रचना हुई वहीं इसके सहायक विषयों मूर्तिकला, प्रतिभा लक्षण शास्त्र एवं आलेख कल्प अर्थात् चित्रकला विषयों पर भी विस्तृत विवरण लिपिबद्ध किए गए। प्राचीन भारतीय साहित्य में वास्तुविद्या संबंधी 177 से अधिक ग्रंथों की रचना हुई है, जिनमें से निम्न ग्रंथ प्रमुख एवं उल्लेखनीय हैं वृहत्संहिता, मानसार, मयमतम, समरांगण-सूत्रधार, विष्णुधर्मोत्तर पुराण, शिल्परत्नसागर तथा

विश्वकर्मीय प्रकाश। इनके अतिरिक्त अग्नि तथा मत्स्य पुराणों, कामिकागम, अंशुभेदागम, सुप्रभेदागम, रूपमण्डन आदि ग्रंथों में भी वास्तु संबंधी विस्तृत संदर्भ उपलब्ध हैं।

वास्तुकला एवं मूर्तिकला

प्राचीन और मध्यकालीन भारतीय वास्तुकला के बारे में एक अद्‌भुत तथ्य यह है कि मूर्तिकला उसका एक अविभाज्य अंग थी। इस संदर्भ में सिंधु घाटी की संस्कृति ही शायद एकमात्र अपवाद है, क्योंकि उसकी इमारतें उपयोगितावादी हैं, पर उनमें कलात्मक कौशल नहीं है। हो सकता है, समय के साथ उनकी अलंकारमय सजावट नष्ट हो गई हो। हालांकि मूर्तिकला विकसित थी।

सिंधु घाटी की मूर्तियां और मोहरें

हालांकि इसे 'सिंधु घाटी' या 'हड़प्पा' संस्कृति कहा गया, पर यह सभ्यता इससे ज्यादा दूर-दूर तक फैली हुई थी और प्रकट रूप से बहुत विकसित थी। पुरातात्विक साक्ष्यों के आधार पर, इस संस्कृति के फलने-फूलने के मुख्य काल उसके परिपक्व शहरी चरण के, 2100 से 1750 ई.पू. के बीच कभी होने का अनुमान है, जबकि सिंधु-घाटी के प्रकार की कलात्मक वस्तुएं मेसोपोटामिया में 2300 ई.पू. के करीब तक मिली हैं। मकानों के निर्माण में सामग्री की उत्कृष्टता तथा दुर्ग, सम्मेलन सभागारों, अनाज के गोदामों, कार्यशालाओं, छात्रावासों, बाजारों आदि की मौजूदगी तथा आधुनिक जल निकास प्रणाली वाले भव्य नगरों के समान वैज्ञानिक ले-आउट देखकर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उस काल की संस्कृति काफी समृद्ध थी। स्वाभाविक था कि कला और शिल्प उस समाज में उन्नत अवस्था में थे। इस सभ्यता की कला के बचे नमूनों में से सबसे खूबसूरत शायद पतली, छड़ी जैसे लड़की की लघु कांस्य मूर्ति है, जिसने अपने हाथों में एक कटोरा पकड़ा हुआ है। चूना पत्थर और लाल पत्थर के दो खंडित धड़ भी हैं, जो हड़प्पा से मिले थे।

इन सभी मूर्तिशिल्पों में से सबसे सुरक्षित हैं एक व्यक्ति का सात इंच ऊंचा सिर और कंधा, जिसके चेहरे पर छोटी-सी दाढ़ी और बारीक कटी हुई मूंछें हैं तथा उसका शरीर एक शॉल में लिपटा है जो बाएं कंधे के ऊपर और दाईं बांह के नीचे से होकर गयी है, जो लगता है कि किसी पुजारी की छवि है। इस मूर्ति

और मोहनजोदड़ो से मिले अन्य दाढ़ी वाले सिरों तथा सुमेरिया के मूर्तिसंग्रह में कुछ समानता है।

टेराकोटा की विविध वस्तुएं भी हैं, जिनमें सभी प्रकार की छोटी-छोटी आकृतियां और अलग-अलग आकारों और डिजाइनों के सेरामिक पात्र शामिल हैं।

सिंधु क्षेत्र में पायी गयी अन्य बहुत सी वस्तुओं में सील (मुहर) की अनेक चौकोर छोटी-छोटी वे आकृतियां भी थीं जिन्हें कई प्रकार के डिजाइनों में अभिचित्रित किया गया था। अनुबंधों के रिकार्ड के लिए थीं। कुछ सीलों में बैल की अनेक आकृतियां बनी हुई मिलीं है, जबकि कुछ अन्य सीलों में अन्य जानवरों की आकृतियां थीं। विशेषज्ञों के मतानुसार, सीलों में अभिचित्रित आकृतियां विश्व के कुछ उन महान उद्धरणों में हैं जो तत्कालीन कलाकारों की महान क्षमता को दर्शाती हैं। इससे स्पष्ट होता है कि उस समय भी कलात्मक आकार देने में कलाकारों का कोई जवाब नहीं था। यद्यपि वे किसी विशेष बैलों की आकृतियां नहीं हैं, फिर भी वे विशेष प्रकार की जातियों का प्रतिनिधित्व करती थीं। दो हजार से अधिक सीलें तथा चार सौ से अधिक विभिन्न प्रकार की सीलों के अन्य आकार सिंधु घाटी में पाये गये तथापि अभी भी उनके बारे में कोई पुष्ट अभिलेख और तत्संबंधी जानकारी अनुपलब्ध है।

सैंधव सभ्यता की 'कला का सर्वोत्तम स्वरूप' मोहनजोदड़ो, हड़प्पा तथा चन्हूदड़ो से प्राप्त मुहरों (ताबीज) एवं मुद्राओं पर अंकित आकर्षक दृश्यों से स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। ये मुद्राएं अधिकतर 'साबुन पत्थर' तथा चीनी मिट्टी से बनी हैं। जिन मुद्राओं पर 'पशु तथा लेख' अंकित हैं वे तो मुद्रा और ताबीज दोनों का काम देती हैं परंतु जिन पर केवल पशु की आकृति है वह संभवतः केवल ताबीज के रूप में ही प्रयुक्त होती थी। इन मुहरों पर मुद्राओं को अधिक चमकीला बनाने के लिए इस पर पुनः किसी 'वस्तु-विशेष' का प्रयोग किया जाता था। ऐसा प्रतीत होता है कि सैंधव सभ्यता के कलाविदों को इसका पूर्णरूपेण ज्ञान था कि कला का सौंदर्य से क्या संबंध है तथा उसकी अभिव्यक्ति किस रूप में होनी चाहिए।

मुहरों पर अंकित कुछ विशिष्ट दृश्यों का अंकन कला की दृष्टि से महत्वपूर्ण माना जाता है। एक मुहर पर अंकित 'तीन सिरों वाला पशु' उल्लेखनीय है, जिसका एक सिर हिरण का, मुख्य शरीर एक शृंगी पशु का तथा सिर भेंड़े का है। इसे

संश्लिष्ट पशु की संज्ञा दी गई है। मैके को एक ऐसी मुद्रा मिली है जिसमें संभवतः 'भगवान त्रिनयन शिव' का चित्रण है। मुद्रा के मध्य में एक तिपाई पर पलथी मारे तथा यौगिक आसन में त्रिमुख शिव बैठे हैं जिनके सिर के ऊपर 'त्रिशूल' जैसी कोई वस्तु रखी है तथा वक्ष पर तिकोना वस्त्र पड़ा है। शिव को नग्न दर्शाया गया है, जिनके दाहिने ओर हाथी अंकित है, बायीं ओर गैंडा और भैंस तथा सामने एक-दो शृंगी हिरण हैं। मुद्रा के ऊपरी भाग में 6 शब्दों का एक लेख है। पशुओं के मध्य संभवतः पशुपति रूप का प्रदर्शन किया गया है। सींगों का सिर पर अंकन संभवतः त्रिशूल का पूर्व रूप है। प्राचीन काल में सींगों का विशेष धार्मिक महत्व प्रतीत होता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि सैंधव सभ्यता के कलाविदों ने मुद्राओं पर अंकित कलात्मक दृश्यों के माध्यम से अपने चातुर्य, सत्यनिष्ठा तथा पर्यवेक्षण शक्ति का सफल प्रयास किया है। वास्तव में इन मुद्राओं एवं ताबीजों का कलात्मक रूपायन सर्वथा अद्वितीय है।

सिंधु सभ्यता में संपादित उत्खननों पर एक विंहगम दृष्टि डालने से ज्ञात होता है कि यहां के निवासी महान निर्माणकर्ता थे उनके स्थापत्य कौशल को समझने के लिए वहां की विकसित 'नगर-योजना' से संबंधित नगर निवेश, सार्वजनिक एवं निजी भवन, रक्षा प्राचीर, सार्वजनिक जलाशय, सुनियोजित मार्ग व्यवस्था तथा सुंदर नालियों के प्रावधान आदि का विधिवत अध्ययन आवश्यक है।

वास्तव में सैंधव सभ्यता अपनी विशिष्ट एवं उन्नत नगर योजना के लिए विश्व प्रसिद्ध है क्योंकि इतनी उच्च कोटि का बस्ती विन्यास समकालीन मेसोपोटामिया आदि जैसी अन्य किसी सभ्यता में नहीं मिलता। इस नगर निवेश के अंतर्गत सभी नगरों को समानान्तर तथा एक-दूसरे को समकोण पर काटती हुई सड़कों के आधार पर बसाया गया है। इस विधि को आधुनिक काल में ग्रिड प्लानिंग कहा जाता है।

सैंधव सभ्यता की स्थापत्य का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण 'वृहद स्नानागार या विशाल स्नानागार' है। संभवतः यह मोहनजोदड़ो का सर्वाधिक महत्व का स्मारक माना गया है। वास्तुकला की दृष्टि से मोहनजोदड़ो एवं हड़प्पा के बड़े धान्यागार भी उल्लेखनीय हैं। पहले इसे स्नानागार का ही एक भाग माना जाता था किंतु

1950 ई. के उत्खननों के पश्चात् यह ज्ञात हुआ कि यह अवशेष एक विशाल अन्नागार है।

सैंधव सभ्यता की नगरीय योजना में वास्तुकला की दृष्टि से मार्गों का महत्वपूर्ण स्थान था। इन मार्गों (सड़कों) का निर्माण एक सुनियोजित योजना के अनुरूप किया जाता था। ऐसा प्रतीत होता है कि मुख्य मार्गों का जाल प्रत्येक नगर को प्रायः पांच-छह खण्डों में विभाजित करता था। मोहनजोदड़ो निवासी नगर निर्माण-प्रणाली से पूर्णतया परिचित थे इसलिए वहां के स्थापत्यविदों ने नगर की रूपरेखा में मार्गों का विशेष प्रावधान किया, तद्नुसार नगर की सड़कें संपूर्ण क्षेत्र में एक-दूसरे को समकोण पर काटती हुई 'उत्तर से दक्षिण' तथा पूरब से पश्चिम की ओर जाती थीं।

वास्तव में सड़कों, जल निष्कासन व्यवस्था, सार्वजनिक भवनों आदि के विशद विवरण पर शिल्पशास्त्र विषयक ग्रंथों में अत्यधिक बल दिया गया है।

वास्तुकला की भांति सैंधव सभ्यता की विकसित एवं समुन्नत अवस्था का मूल्यांकन प्रायः उसकी मूर्तिकला के आधार पर किया जाता है। इस युग की मूर्तियों को, पाषाण मूर्तियों; धातु निर्मित मूर्तियों; और मृण्मूर्तियों में विभाजित किया जाता है।

पाषाण मूर्तियांः सैंधव सभ्यता में प्रस्तर मूर्तियां अपेक्षाकृत कम संख्या में प्राप्त हुई हैं। मोहदजोदड़ो से कुल 12 और हड़प्पा से मात्र दो मूर्तियां प्राप्त हुई हैं। मोहनजोदड़ो से प्राप्त अधिकांश मूर्तियों पर मूलतः लाल अथवा अन्य किसी रंग का लेप था। यहां से प्राप्त पाषाण मूर्तियां अलावस्टर, चूना पत्थर, सेलखड़ी, बलुआ प्रस्तर तथा स्लेटी प्रस्तर से निर्मित की गई हैं। इसी प्रकार हड़प्पा के उत्खनन से प्राप्त दो प्रस्तर मूर्तियां सम्भवतः सैन्धव सभ्यता की कला की सर्वोत्कृष्ट नमूना मानी जा सकती है। यह दोनों मूर्तियां खण्डित हैं। इनमें से एक लाल बलुआ पत्थर का धड़ है। यह संभवतः किसी युवा पुरुष की आकृति है तथा मूर्ति के कंधों और ग्रीवा में छिद्र हैं जो इसका संकेत करते हैं कि सिर और भुजाएं अलग-अलग बनाकर यथास्थान जोड़ी गई थी। यह तत्कालीन कला तकनीक को प्रदर्शित करती है। दूसरी मूर्ति चूने के पत्थर की नृत्य मुद्रा की आकृति है। इसमें शरीर के विभिन्न अंगों का विन्यास कला की दृष्टि से अत्यंत आकर्षक है। इसे सिर तथा भुजा बनाकर जोड़ा गया होगा परंतु सम्प्रति केवल छिद्र ही

उपलब्ध है। ऐसा प्रतीत होता है कि किसी प्रभावशाली कलाकार ने अपने ध्यान की शक्ति से मूर्तरूप की परिपूर्णता को व्यक्त कर दिया है। भारतीय कला में इस प्रकार की असाधारण अभिव्यक्ति कम उपलब्ध है।

धातु मूर्तियांः सिंधु सभ्यता के परिशीलन से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि तत्कालीन कलाकार 'धातु विद्' भी थे क्योंकि वे धातु से निर्मित होने वाली मूर्तिकलाओं की विभिन्न निर्माण पद्धति से पूर्ण परिचित थे। ऐसा प्रतीत होता है कि मूर्ति-निर्माण हेतु धातुओं में, विशेष रूप से 'कांस्य एवं तांबे' का ही प्रयोग किया जाता था। हड़प्पा संस्कृति में मोहनजोदड़ो से प्राप्त नर्तकी की कांस्य मूर्ति कला की दृष्टि से सर्वाधिक कलात्मक मानी जाती है। यह स्त्री मूर्ति बिल्कुल निर्वस्त्र है और बाईं भुजा में एक पात्र है तथा गले में कण्ठाहार है। दुबली-पतली गात यष्टि तथा क्षीण कोटि की मुद्रा, यह संकेत करती है कि यह नृत्यकला में अभ्यस्त किसी नर्तकी की मूर्ति है। वास्तव में इस कांस्य मूर्ति की कलात्मक सुगढ़ता प्राचीन समस्त कला जगत में अनूठी एवं अतुलनीय मानी गई है। इसके अतिरिक्त मोहदजोदड़ो में कुछ सजीव कांसे की पशुओं की आकृतियां प्राप्त हुई हैं जिसमें भैंसा और भेड़ों की मूर्तियां विशेष उल्लेखनीय हैं।

लोथल के उत्खनन से भी तांबें के पक्षी, बैल, खरगोश तथा कुत्ते की मूर्तियां मिली हैं, परंतु इनमें कला की दृष्टि से कुत्ते की आकृति महत्वपूर्ण मानी जाती है। इसी प्रकार कालीबंगा से प्राप्त ताम्र वृषभ मूर्ति कलात्मक रूप से अद्वितीय मानी जा सकती है। इस प्रकार 'धातु-मूर्तियां' न केवल सैंधव-सभ्यता की उच्च कोटि की कला का प्रदर्शन करती है अपितु कलाकारों की तकनीकी ज्ञान के वैशिष्टय का भी बोध कराती है।

मृण्मूर्तियां (टेराकोटा)ः कला के इतिहास के परिशीलन से यह स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है कि विश्व की सभी प्राचीन संस्कृतियों में 'मृण्मूर्ति-कला' सर्वाधिक लोकप्रिय रही है। संभवतः यही कारण है कि सैंधव-सभ्यता में उपलब्ध 'शिल्प-आकृतियों' में मृण्मूर्तियां प्रचुर मात्रा में पाई जाती हैं। मृण्मूर्तियों का कलात्मक विश्लेषण तीन प्रमुख श्रेणियों-पुरुष मूर्तियों, नारी मूर्तियों एवं पशु-पक्षियों की मूर्तियों में विभाजित करके किया जाता है।

ये सभी मृण्मूर्तियां लाल रंग की बदियां गूथी हुई तथा ठोस पकाई मिट्टी से निर्मित हैं जिन पर लाल रंग का लेप है परंतु कभी-कभी चटक रंग भी पाया

जाता है। ऐसी मृण्मूर्तियों को लोक-कला के अंतर्गत रखा जा सकता है। सांचे में ढालकर निर्मित कतिपय मृण्मूर्तियों के अतिरिक्त अधिकांश मूर्तियां हाथ से बनाई गईं हैं। सांचे में ढालकर निर्मित कुछ मृण्मूर्तियों के अतिरिक्त अधिकांश मूर्तियां हाथ से बनाई गई हैं। इनमें मानव-मूर्तियां ठोस हैं जबकि पशु-पक्षियों की मूर्तियां प्रायः खोखली प्राप्त हुई हैं। मोहनजोदड़ो में नारी मृण्मूर्तियों की अपेक्षा पुरुष-मृण्मूर्तियां बेहद कम प्राप्त हुई हैं। हड़प्पा में भी नारी आकृतियों का बाहुल्य है किंतु पुरुष आकृतियां मोहनजोदड़ो में अपेक्षाकृत अधिक हैं।

सिंधु सभ्यता में वास्तु एवं नगर नियोजन

वेदों, पुराणों, रामायण, महाभारत और अन्य हिंदू धार्मिक और ऐतिहासिक ग्रंथों में तो सिंधु संस्कृति की झांकियां मिलती ही हैं। लेकिन, सिंधु संस्कृति का साफ और सही, भव्य और विशाल स्वरूप संसार के सम्मुख तब प्रकट हुआ, जब 1921 में भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण की ओर से एक उत्खनन कर्मी, राखालदास बनर्जी ने सिंध के लरकाना जिले में डोकरी कस्बे के पास मोहनजोदड़ो की खुदाई करवाई, जिससे सदियों से भूमि तले छिपी हुई एक शानदार संस्कृति दुनिया के सामने आई, जिसे देखकर बड़े-बड़े विद्वान आश्चर्यचकित हो उठे। इस, एक खोज ने भारतीय उपखंड के इतिहास को कई हजारों वर्षों की गहराई दे दी।

मोहनजोदड़ो वाली संस्कृति, जिसे साधारणतः सिंधु घाटी वाली संस्कृति के नाम से जाना जाता है, वह ईसा से कोई 2750 या 3250 वर्ष पहले अपनी पराकाष्ठा पर पहुंची थी। हड़प्पा (पंजाब) से लेकर लोथल (गुजरात) और ढोलावीरा (कच्छ) तक फैली इस संस्कृति ने बड़े-बड़े पुरातत्ववेत्ताओं और शास्त्रवेत्ताओं की आंखें चकित कर दी। जाहिर है कि इतने बड़े भूखण्ड में फैली हुई यह संस्कृति रातोंरात तो विकसित नहीं हुई होगी। उसकी भव्यता और ओजस्वता को देखकर कोई भी अंदाजा लगा सकता है कि उसको विकसित होने में कई हजार वर्ष लगे होंगे। 1974 में फ्रांस के पुरातत्ववेत्ताओं के एक दल ने सिंधु संस्कृति के पश्चिमी छोर अफगानिस्तान के मेहरगढ़ में उत्खनन करके जो निशान पाए हैं, उनका इन वैज्ञानिकों ने रेडियो कार्बन विधि से विश्लेषण करके यह नतीजा निकाला है कि यह संस्कृति ईसा से कोई 9,000 वर्ष पहले विकसित हुई होगी।

मोहनजोदड़ो से कपड़ा, खाद्यान्न, बैलगाड़ियों के चक्र और अन्य उपादान जैसे पैरों में पहनने के सुंदर जूते इत्यादि मिले हैं। इसका अर्थ हुआ कि आज

से दस-ग्यारह या कम से कम 5000-6000 वर्ष पूर्व सिंधु घाटी के लोग खेतीबाड़ी करना, अन्न और कपास उगाना जानते थे, उन्होंने कपास से सूत बनाने और हथकरघों के जरिए कपड़ा बुनने का हुनर भी सीख लिया था। वे नाजुक और नफीस मलमल का कपड़ा बुनते थे, जिसे मिस्र, सुमेर, रोम की रानियां और अमीर जादियां बेहद पसंद करती थीं। यानी ऐसे समय, जब विश्व के कई भागों में लोग पहाड़ी कंदराओं में रहते थे और नंगे फिरते थे, उस समय सिंधु घाटी के लोगों ने इतने बड़े क्रांतिकारी आविष्कार कर दिए थे।

सिंधु संस्कृति की सबसे बड़ी आश्चर्यकारी तरक्की तो यह थी कि मोहनजोदड़ो में सुनियोजित ढंग से बने मकान पाए गए हैं। वे मकान पक्की ईंटों से बने हुए और रोशनीदार और हवादार थे। शहर में गंदे पानी के विकास के लिए जमीन के अंदर छिपी नालियां और मोरियां व गट्टर भी मिले हैं और सफाई के लिए आजकल प्रचलित 'मेनहोल' जैसी व्यवस्था भी पाई गई है। प्रसिद्ध नगर नियोजक प्रोफेसर प्रेलस फोर्ड का कहना है कि यूरोप में इतना सुनियोजित सफाई का प्रबंध उन्नीसवीं सदी तक उपलब्ध नहीं था। सिंधु के सुमेर और बैबीलोन से व्यापारिक संबंध थे। सुमेर में उत्खनन द्वारा मोहनजोदड़ो वाली मोहरें और मुद्राएं मिलीं हैं। मेसोपोटामिया के लोगों ने सिंधु के लोगों से गणित, ज्योतिष, और लिखने व पढ़ने की विद्याएं सीखीं। गणित यकीनन सिंध से ही मेसोपोटामिया में पहुंची, जो आजकल ईराक कहलाता है, और वहां अरबों ने यह विद्या अपनाई, जिसका प्रमाण यह है कि अरबी भाषा में अंकों को आज भी हिन्दसा कहते हैं, जो मौलिक रूप से सिंध-सा है।

सिंधु सभ्यता की नगर-योजना, गृह-निर्माण, मुद्रा, मुहरों आदि के बारे में अधिकांश जानकारी मोहनजोदड़ो से प्राप्त होती है। मोहनजोदड़ो का सबसे प्रसिद्ध भवन वह स्नानागार है जो उत्तर से दक्षिण में 11.89 मी लम्बा, 7.01 मी. चौड़ा और 2.44 मी. गहरा है। इस तक पहुंचने के लिए दोनों तरफ सीढ़ियां हैं। कुण्ड के तल को डामर से जलरोधी बनाया गया था। इसके लिए पानी पास ही एक कक्ष में बने बड़े कुएं से आता था। पानी निकालने के लिए भी एक ढलवां नाली थी। कुण्ड के चारों तरफ मण्डप और कमरे बने हुए थे। विद्वानों का मत है कि इस स्थान का उपयोग राजाओं, या पुजारियों के धार्मिक स्थान के लिए किया जाता था। मोहनजोदड़ो के किले के टीले में पाई गई एक और महत्वपूर्ण इमारत

है, अन्न भण्डार। इसमें ईंटों से निर्मित 27 खण्ड हैं जिनमें प्रकाश के लिए आड़े-तिरछे रोशनदान बने हुए हैं। अन्न भण्डार के नीचे ईंटों से निर्मित खांचे थे, जिनसे अनाज को भण्डारण के लिए ऊपर पहुंचाया जाता था। हालांकि कुछ विद्वानों ने इस इमारत को अन्न भण्डारण का स्थान मानने के बारे में संदेह व्यक्त किया है, किन्तु इतना निश्चित है कि इस इमारत का निर्माण किसी खास कार्य के लिए किया गया होगा।

विशाल स्नान-कुण्ड के एक तरफ एक लम्बी इमारत (230 × 78 फुट) है, जिसके बारे में अनुमान है कि वह किसी बड़े उच्चाधिकारी का निवास स्थान रहा होगा। इसमें 33 वर्ग फुट का खुला प्रांगण है और उस पर तीन बरामदे खुलते हैं। महत्त्वपूर्ण भवनों में एक सभा-कक्ष भी था। इस सभा-कक्ष में पांच-पांच ईंटों की ऊंचाई की चार चबूतरों की, पक्तियां थीं। यह ऊंचे चबूतरे ईंटों के बने हुए थे और उन पर लकड़ी के खंभे खड़े किए गए थे। इसके पश्चिम की तरफ कमरों की एक कतार में एक पुरुष की प्रतिमा बैठी हुई मुद्रा में पाई गई है।

सिंधु सभ्यता के समय में मिस्र देश में लाखों लोग गुलामों की जिंदगी जी रहे थे। वे पिरामिड बनाने के लिए ढाई-ढाई टन वजन के पत्थर सिर पर ढोकर ऊंचे स्थलों तक पहुंचाते थे या देवी-देवताओं के मंदिरों के निर्माण के लिए रोटी के बदले सारा दिन काम करके गुलामों वाली जिंदगी व्यतीत करते थे। ऐसे समय में भी सिंधु घाटी के लोग अपने पक्के एवं हवादार घरों में रहते थे। मोहनजोदड़ो से व्यक्तिगत साफ-सफाई के लिए बड़े-बड़े सार्वजनिक स्नानघर तो मिले हैं, लेकिन कोई मंदिर या पूजास्थल नहीं मिला। इसका तात्पर्य हुआ कि लोग अपने तन, मन और शहर की शुद्धि और साफ-सफाई से ही संतुष्ट थे।

मोहन जोदड़ो से स्त्रियों और पुरुषों के साज-सज्जा का सामान, अच्छे-अच्छे वस्त्र और आभूषण भी प्राप्त हुए हैं। सोने, ताम्बे और धातुओं के आभूषण तो इतने मनमोहक, कलामय और चमकीले हैं कि किसी को भी गुमान नहीं होगा कि वे पांच-छह हजार वर्ष पुराने हैं।

हड़प्पा सभ्यता के नगरों की संरचना और बनावट में असाधारण प्रकार की एकरूपता थी। प्रत्येक नगर दो भागों में बंटा होता था। एक भाग में ऊंचा दुर्ग होता था जिसमें शासक और राजघराने के लोग रहते थे। नगर के दूसरे भाग

में शासित और गरीब लोग रहते थे। हड़प्पा, मोहनजोदड़ो और कालीबंगन बस्तियों की नगर योजना में कुछ समानताएं हैं। ये शहर दो भागों में विभाजित थे। इन शहरों के पश्चिम में किला बना होता था और बस्ती के पूर्वी सिरे पर नीचे एक नगर बसा होता था। यह दुर्ग या किला ऊंचे चबूतरे पर, कच्ची ईंटों से बनाया जाता था। ऐसा प्रतीत होता है कि दुर्ग में बड़े-बड़े भवन होते थे जो संभवतः प्रशासनिक या धार्मिक केंद्रों के रूप में काम करते थे निचले शहर में रिहायशी क्षेत्र होते थे। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा में किलों के चारों ओर ईंटों की दीवार होती थी। कालीबंगन में दुर्ग और निचले शहर दोनों के चारों ओर दीवार थी, निचले शहर में सड़कें उत्तर से दक्षिण की ओर जाती थीं और समकोण बनाती थीं। स्पष्टतः सड़कों और घरों की पंक्तिबद्धता से पता चलता है कि नगर योजना के बारे में वे लोग कितने सचेत थे। फिर भी, उन दिनों नगर आयोजकों के पास साधन बेहद सीमित थे। यह पूर्वधारणा मोहनजोदड़ो और कालीबंगन से मिले प्रमाणों पर आधारित है, जहां गलियां और सड़कें अलग-अलग ब्लाकों में अलग-अलग तरह की है और मोहनजोदड़ो के एक भाग मोनार क्षेत्र में सड़कों तथा इमारतों की पंक्तिबद्धता शेष क्षेत्रों से बिल्कुल भिन्न है। मोहनजोदड़ो का निर्माण एक सी सपाट इकाइयों में नहीं किया गया था। वास्तव में, इसका निर्माण अलग-अलग समय में हुआ। हड़प्पा और मोहनजोदड़ो में भवनों और इमारतों के लिए पक्की ईंटों का इस्तेमाल किया गया। कालीबंगन में कच्ची ईंटें प्रयोग की गईं। सिंध में कोटदीजी और अमरी जैसी बस्तियों में नगर की किलेबंदी नहीं थी। गुजरात में स्थित लोथल का नक्शा भी बिल्कुल अलग-सा है। यह बस्ती आयताकार थी जिसके चारों ओर ईंट की दीवार का घेरा था। इसका कोई आंतरिक विभाजन नहीं था, अर्थात् इसे दुर्ग और निचले शहर में विभाजित नहीं किया गया था। शहर के पूर्वी सिरे में ईंटों से निर्मित कुण्ड सा पाया गया, जिसे इसकी खुदाई करने वालों ने बंदरगाह के रूप में पहचाना है। कच्छ में सुरकोटड़ा नामक बस्ती दो बराबर के हिस्सों में बंटी हुई थी और यहां के निर्माण में मूलतः कच्ची मिट्टी की ईंटों और मिट्टी के ढेलों का इस्तेमाल किया गया था।

हड़प्पा सभ्यता के निवासी पकी हुई और बिना पकी ईंटों का इस्तेमाल कर रहे थे। ईंटों का आकार एक जैसा होता था। इससे पता चलता है कि प्रत्येक मकान मालिक अपने मकान के लिए ईंटें स्वयं नहीं बनाता था, बल्कि ईंटें बनाने

का काम बड़े पैमाने पर होता था। इसी तरह, मोहनजोदड़ो जैसे शहरों में सफाई की व्यवस्था उच्च कोटि की थी। घरों से बहने वाला बेकार पानी नालियों से होकर बड़े नालों में चला जाता था जो सड़कों के किनारे एक सीध में होते थे। इस बात से फिर यह संकेत मिलता है कि उस जमाने में भी कोई ऐसी नागरिक प्रशासन व्यवस्था रही होगी जो शहर के सभी लोगों के हित में सफाई संबंधी जरूरतों को पूरा करने के लिए निर्णय लेती थी।

औसत दर्जे के नागरिक निचले शहर में भवन समूहों में रहा करते थे। यहां भी घरों के आकार-प्रकार में विधिवताएं हैं। एक कोठरी वाले मकान शायद दासों के रहने के लिए थे। हड़प्पा में अन्न भण्डार के नजदीक भी इसी प्रकार के मकान पाए गए हैं। दूसरे मकानों में आंगन और बाहर तक कमरे होते थे और अधिक बड़े मकानों में कुंए, शौचालय एवं गुसलखाने भी थे। इन मकानों का नक्शा लगभग एक जैसा था   एक चौरस प्रांगण और चारों तरफ कई कमरे। घरों में प्रवेश के लिए संकीर्ण गलियों से जाना पड़ता था। सड़क की तरफ कोई खिड़की नहीं होती थी। इसका मतलब यह हुआ कि मकान की ईंट की दीवारों का मुंह सड़क की ओर होता था।

हड़प्पा सभ्यता के मकानों और नगरों के विवरण से पता चलता है कि ऐसे लोग भी थे जिनके पास बड़े-बड़े मकान थे। उनमें से कुछ तो विशिष्ट तरणताल में नहाते थे। अन्य लोग बैरकों में रहते थे। यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि बड़े-बड़े मकानों में रहने वाले लोग धनी वर्ग के थे जबकि बैरकों में रहने वाले लोग मजदूर और दास वर्ग के रहे होंगे।

हड़प्पा, मोहनजोदड़ो और कालीबंगन में, किले के क्षेत्रों में बड़ी विशाल इमारतें थीं जिनका प्रयोग विशेष कार्यो के लिए किया जाता होगा। यह तथ्य इस बात से स्पष्ट होता है कि ये इमारतें कच्ची ईंटों से बने ऊंचे-ऊंचे चबूतरों पर खड़ी की गई थीं। इनमें से एक इमारत, मोहनजोदड़ो का प्रसिद्ध 'विशाल स्नान कुण्ड' है।

भौतिक विशेषताओं की एकरूपताओं के कारण हड़प्पा, मोहनजोदड़ो और घग्घर क्षेत्र में जीवन-निर्वाह के एक जैसे तरीके सामने आए। किंतु अन्य ऐसे स्थान भी थे, जहां जीविका के स्वरूप में वहां की परवर्ती भौगोलिक विशेषताओं के कारण विविधता थी। हड़प्पा सभ्यता के लोगों की नगर योजना अत्यंत कुशल

थी। हड़प्पा-सभ्यता के नगरों में मकान और वहां की जलनिकास प्रणाली को देखकर हड़प्पा के सभ्यता के लोगों की अनोखी भौतिक उपलब्धियों का पता चलता है।

हड़प्पा युग के मिट्टी के बर्तनों, औजारों, और उपकरणों में काफी हद तक एकरूपता पाई जाती है। हड़प्पा सभ्यता की मुहरें, मनके कारीगरी के सुंदर नमूने हैं लेकिन उनकी प्रस्तर मूर्तिकला और पक्की मिट्टी की लघु मूर्तियां तकनीकी उत्कृष्टता में समकालीन मिश्र और मेसोपोटामिया की कला का मुकाबला नहीं कर सकतीं। हड़प्पा सभ्यता की जीवन निर्वाह व्यवस्था अनेक फसलों की खेती और पालतू जानवरों पर निर्भर करती थी। इससे वहां की अर्थव्यवस्था नगरों में बसे लोगों का भरण-पोषण करने में समर्थ हो सकी। नगरों में रहने वाले लोग अपने अन्न का उत्पादन स्वयं नहीं करते थे। उनके लिए खाद्यान्न निकटवर्ती क्षेत्रों से आता था।

हड़प्पाकालीन संस्कृति की विशेषता वहां असंख्य छोटे-बड़े नगरों की उपस्थिति थी। हड़प्पा और मोहनजोदड़ो जैसे शहरों के अलावा अल्लाहदीनों जैसी बहुत-सी छोटी बस्तियों से भी ऐसे प्रमाण मिले हैं जो शहरी अर्थव्यवस्था के सूचक हैं। इस सभ्यता में आंतरिक व्यापार बेहद तेज था। विनिमय कार्यकलाप 10 लाख से 30,000 वर्ग किलोमीटर तक के क्षेत्र में होते थे। यह विनिमय कार्यकलाप इस तथ्य से भी स्पष्ट हो जाते हैं कि हड़प्पा सभ्यता की छोटी-सी बस्ती अल्लाहदीनों में भी मुहरें, मुद्राकंण अर्द्धकीमती पत्थरों के मनके और धातु के बर्तन पाए गए हैं। इनमें से अधिकांश वस्तुएं, आयात की जाती थीं। नौगम्य जलमार्गों तथा परम्परागत भू-भागों पर हड़प्पाकालीन बस्तियों का स्थित होना उस बात की ओर संकेत करता है कि हड़प्पा सभ्यता के लोग व्यापार विनिमय गतिविधियों में संलग्न थे। समकालीन पश्चिमी एशियाई संस्कृतियों के साथ उनके संबंधों की पुष्टि की जा चुकी है।

मिट्टी के बर्तन बनाना, धातुओं के काम, मालाएं बनाना तथा अन्य शिल्प कलाएं हड़प्पा सभ्यता का अंग थी। यह हड़प्पा में दस्तकार तथा नगर स्थित श्रमिकों के अस्तित्व का द्योतक है। संभवतः समाज वर्गों में विभाजित था, ऐसे भी संकेत मिलते हैं कि हड़प्पा में किसी न किसी प्रकार की राजनैतिक संरचना विद्यमान थी। नगरों में प्रमुख सामाजिक वर्ग प्रशासक, पुजारी, व्यापारियों तथा बड़ी संख्या में श्रमिकों के सामाजिक वर्ग रहे होंगे।

कुछ बड़ी इमारतें सामूहिक पूजा अथवा धार्मिक संस्कारों की ओर संकेत करती हैं। भारी संख्या में देवी-देवताओं तथा अन्य आराध्यों की पूजा किए जाने के प्रमाण प्राप्त हुए हैं। प्रमुख रूप से मातृ देवी, शिव तथा कई प्रकार के पशु एवं वृक्ष आराध्य थे। कुछ समष्टि रूपी मिथकीय पशु भी धार्मिक विश्वासों का अंग थे। मुर्दों के अंतिम संस्कार का सर्वाधिक प्रचलित तरीका दफनाना था न कि दाह संस्कार। कब्रों में कई प्रकार के आभूषण तथा अन्य वस्तुएं भी प्राप्त हुई हैं।

मुख्य नगरों में यह विशेषता दिखाई देती है कि वहां के निवासी विभिन्न धार्मिक रीतियों का पालन करते थे। इससे यह स्पष्ट होता है कि मुख्य नगरों का गठन विभिन्न सामाजिक समूहों के राजनैतिक एवं आर्थिक एकीकरण से हुआ। इसके अतिरिक्त मुख्य नगरों में भिन्न धार्मिक रीतियों के अनुयायी विभिन्न क्षेत्रों के व्यापारी निवास करते होंगे। वे लोग अपनी राजनैतिक तथा आर्थिक रीतियों का पालन करते रहे होंगे।

नगर निवेशः सिंधु सभ्यता में सम्पादित उत्खननों पर एक विहंगम दृष्टि डालने से ज्ञात होता है कि यहां के निवासी महान निर्माणकर्ता थे उनके स्थापत्य कौशल को समझने के लिए वहां की विकसित नगर योजना (टाउन प्लानिंग), सार्वजनिक एवं निजी भवन, रक्षा प्राचीर, सार्वजनिक जलाशय, सुनियोजित मार्ग व्यवस्था तथा सुंदर नालियों के प्रावधान आदि का विधिवत् अध्ययन आवश्यक है।

वास्तव में सिंधु सभ्यता अपनी विशिष्ट एवं उन्नत नगर योजना के लिए विश्व प्रसिद्ध है क्योंकि इतनी उच्च कोटि का 'बस्ती विन्यास' समकालीन मेसोपोटामिया आदि जैसी अन्य किसी सभ्यता में नहीं मिलता। इस नगर निवेश के अंतर्गत सभी नगरों को समानांतर तथा एक-दूसरे को समकोण पर काटती हुई सड़कों के आधार पर बसाया गया है। इस विधि को आधुनिक काल में 'ग्रिड प्लानिंग' कहा जाता है। इस प्रकार चार सड़कों से घिरे आयतों में 'आवासीय भवन' तथा अन्य प्रकार के निर्माण किए गए हैं।

यथार्थ रूप में, 'भवन निर्माण कला' सैंधव सभ्यता के नगर नियोजन का सबसे महत्वपूर्ण पक्ष था। इन नगरों के स्थापत्य में 'पक्की सुंदर ईंटों' का प्रयोग उनके विकास के लम्बे इतिहास का प्रमाण है। ईंटों की चुनाई की ऐसी विधि

विकसित कर ली गई थी जो किसी भी मानदण्ड के अनुसार वैज्ञानिक तथा 'आधुनिक इंग्लिश बाण्ड' से अधिकांशतः मिलती जुलती थी।

सैंधव सभ्यता के नगरों के आम लोगों के मकान के मध्य में एक आंगन होता था, जिसके तीन अथवा चारों ओर पांच कमरे, एक रसोईघर तथा स्नानागार रहता था। अधिकांश घरों में एक कुआं भी होता था। 'जल निकास' की सुविधा की दृष्टि से 'स्नानागार' प्रायः गली की ओर स्थित होते थे। स्नानघर के फर्श में अच्छी प्रकार की पक्की ईंटों का प्रयोग किया जाता था। सम्पन्न लोगों के घरों में शौचालय भी बने होते थे। उत्खनन में मोहन जोदड़ो से जो भवनों के अवशेष मिले हैं उनके 'द्वार' मुख्य सड़कों की ओर न होकर 'गलियों की ओर' खुलते थे। खिड़कियों के चिन्ह कहीं-कहीं मिले हैं। अनुमानतः खिड़कियों की अपेक्षा 'गवाक्षों' अथवा 'झरोखों' से होकर हवा एवं प्रकाश की दृष्टि से अपेक्षाकृत उपयोगी समझा जाता था।

भवन निर्माण के लिए मोहनजोदड़ो तथा हड़प्पा में 'पकी हुई ईंटों' का प्रयोग किया गया है। सभी ईंटें पुलिनमय मिट्टी से बनी हैं। मकानों की दीवारों की चुनाई के समय ईंटों को पहले लम्बाई के आधार पर पुनः चौड़ाई के आधार पर जोड़ा गया है। चुनाई की इस पद्धति को इंग्लिश बॉण्ड कहते हैं। जबकि लोथल, रंगपुर एवं कालीबंगा में भवनों के निर्माण में कच्ची ईंटों का भी प्रयोग किया गया है। कालीबंगा में पक्की ईंटों का प्रयोग केवल नालियों, कुओं तथा दहलीज के लिए किया गया था। वस्तुतः मिस्र देश में रोमन कला तक पक्की ईंटें प्रयुक्त हुईं।

सैंधव सभ्यता की नगर योजना के अंतर्गत 'द्वितीय' भवनों का भी निर्माण किया गया होगा क्योंकि ऊपरी भवन खण्ड में जाने के लिए 'सीढ़ियां' बनी थीं जिसके अवशेष अभी तक विद्यमान हैं।

सिंधु सभ्यता की नगरीय वास्तु या स्थापत्य कला का उत्कृष्ट उदाहरण वहां की सुंदर 'नालियों की व्यवस्था' से परिलक्षित होता है। इसका निर्माण पक्की ईंटों से होता था ताकि गलियों के 'जल एवं मल' का निकास निर्बाध रूप से होता रहे। ऐसी नालियों की चौड़ाई एवं गहराई आवश्यकतानुसार निर्धारित की जाती थी। सभी प्रमुख मार्गों एवं गलियों के दोनों ओर 'ईंटों की सुंदर पक्की नालियां बनाई गई थी। अधिकतर नालियां 25 इंच गहरी तथा 9 इंच चौड़ी

होती थीं। भवनों के छत पर लगे परनाले भी उनसे जोड़ दिए जाते थे। लोथल में अनेक ऐसी नालियों के अवशेष मिले हैं जो एक-दूसरे से जुड़ी हुई थी। इन नालियों को बड़े आकार की ईंटों से ढक दिया जाता था। प्रत्येक भवन की नाली को सड़क के किनारे की बड़ी नाली से जोड़ दिया जाता था। उल्लेखनीय है कि सड़कों के किनारे की नालियों में थोड़ी-थोड़ी दूर पर 'मानुस मोखे' (मेनहोल्स) का समुचित प्रावधान रहता था।

हड़प्पा-मोहनजोदड़ो में कुछ ऐसी भी नालियां मिलीं जो 'सोख्ता गड्ढों' (Soakpits) में गिरती थीं। इन नालियों में कहीं-कहीं 'दन्तक मेहराब' भी पाए गए हैं। नालियों की नियमित सफाई की व्यवस्था थी जिनका स्पष्ट संकेत किनारे पड़े बालू के ढेर से मिलता है। स्वच्छता के प्रति लोग जागरूक थे इसलिए स्थान-स्थान पर 'कूड़ेदानों' का प्रावधान था।

इस प्रकार की ढकी नालियां, भवनों में शौचालय एवं स्नानगृह की व्यवस्था नगर योजना के विकसित तकनीक का परिचायक है, जो अन्यत्र सुलभ नहीं था। यहां बड़ी नालियां 18 इंच तक चौड़ी हैं और उनमें ईंटों की जुड़ाई 'कंकड़ के चुने' अथवा 'फूके हुए संगजराहत के चूने' से की गई हैं। प्रत्येक घर की नालियां सड़क की मुख्य नाली से मिली रहती थी। वास्तव में नालियों की ऐसी सुंदर व्यवस्था तत्कालीन अन्य किसी सभ्यता में नहीं मिलती। इस प्रकार सैंधव सभ्यता के नगर योजना के अंतर्गत 'भवन-निर्माण' प्रायः सभी आवश्यकताओं तथा सुविधाओं को दृष्टि में रखकर बनाए गए थे किंतु खिड़कियों के प्रावधान का किसी स्थल से कोई निश्चित संकेत उपलब्ध नहीं होता। ऐसा प्रतीत होता है कि मोहनजोदड़ो तथा हड़प्पा नगरों का भवन तथा निर्माण की तकनीक सादा होते हुए भी उच्च कोटि की थी। लोथल तथा कालीबंगा के कतिपय भवनों में अण्डाकार तथा आयताकार 'वेदी या अग्निकुण्ड' की उपलब्धता वहां के निवासियों की याज्ञिक अनुष्ठान में आस्था को प्रदर्शित करती है।

सैंधव सभ्यता की वास्तुकला से प्राप्त सार्वजनिक भवन, देवालय, अन्नागार तथा वृहद् स्नानागार आदि स्मारकों के अध्ययन से होता है। मोहन जोदड़ो के दुर्ग (citaded) पर जो पुरातात्विक-उत्खनन हुए हैं उससे सभ्यता की सात सतहें प्रकाश में आई हैं। यह उत्खनन कार्य बौद्ध स्तूप के समीप किया गया था। कोटला (citadel) के ऊपरी स्तर पर जो महत्वपूर्ण स्मारक मिले हैं उनमें

विशाल या वृहद स्नानागार, विद्यालय या पुरोहित निवास, अन्नागार, सभा भवन विशेष उल्लेखनीय हैं।

प्राक् मौर्य युगीन कला

छठी शताब्दी ई.पू. के प्रारंभ से 324 ई. पूर्व में चंद्रगुप्त मौर्य के सत्तासीन होने तक के मध्य का काल 'प्राक्-मौर्य काल' के रूप में जाना जाता है। पुरातात्विक साक्ष्यों के अनुरूप यद्यपि इस काल-खण्ड में कुछ स्मारक ही प्रकाश में आए हैं जो तत्कालीन स्थापत्य एवं कला की दृष्टि से उल्लेखनीय हैं किंतु इस कालावधि के कई वैदिक एवं बौद्ध ग्रंथों विशेषकर जैसे महर्षि पाणिनी का अष्टाध्यायी, दीर्घनिकाय एवं महाउम्मग जातक के अनुशील से कला एवं वास्तु के क्षेत्र में महत्वपूर्ण उपलब्धियों का स्पष्ट संकेत प्राप्त होता है।

इस युग में राजभवनों के अतिरिक्त मंदिरों एवं पूजा-स्थलों का भी निर्माण किया जाता था जिन्हें 'देवकुल तथा चेतिय' कहते थे। इसके विपरीत ग्रामीण-अंचलों के भवन-निर्माण में लकड़ी, बांस, घास-फूस तथा मिट्टी एवं गारे का प्रयोग किया जाता था। ऐसे पर्णशालाओं का उल्लेख जातकों में भी है। जातकों में ईटों एवं प्रस्तर निर्मित भवनों की भी चर्चा है।

इस काल में लौरिया नंदन गढ़ के शवधानों का विशेष महत्व है क्योंकि ये तत्कालीन वास्तु एवं कला के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। प्राक् मौर्यकालीन पिपरहवा स्तूप भी अपना एक स्थान रखता है जो उत्तर प्रदेश के बस्ती जिले में अवस्थित है। यह पूर्णतया ईंटों से निर्मित स्तूप है जिसमें बड़े आकार की ईंटों तथा मिट्टी के गारे का प्रयोग किया गया है। इस स्तूप की वास्तुकला बेहद सुंदर है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि सैंधव सभ्यता के विनाश और मौर्य युग के प्रारंभ के मध्य के अंतराल में भारतीय स्थापत्य एवं कला के विकास का प्रमाण मिलता है।

मौर्यकालीन कला

हड़प्पा युग और मौर्य काल के बीच के अनेक पुरातात्विक अवशेष हमारे पास नहीं हैं। ऐसा संभवतः इस वजह से हुआ, क्योंकि उस काल में भवन पत्थर के नहीं बनते थे। मौर्य शासन काल हमारे सांस्कृतिक इतिहास का एक महत्वपूर्ण युग है।

यद्यपि मौर्यों द्वारा निर्मित भवनों के अवशेष हमारे बीच नहीं हैं पर मौर्य

शासन काल की कई बातों का जिक्र ग्रीक इतिहासकार मेगास्थनीज ने अपनी पुस्तक 'इण्डिका' में किया है। इसमें मौर्यों की राजधानी पाटलिपुत्र शहर के वैभव एवं उसकी सत्ता के बारे में भी उल्लेख किया गया है। पाटलिपुत्र शहर दस मील लंबा और दो मील चौड़ा था, जो मजबूत लकड़ी की दीवारों से घिरा हुआ था। उसमें 500 टॉवर और 64 दरवाजे थे। उसके भीतर शाही महल था जो अपने आकार में ईरान के शाही महल की नकल पर बना था। चंद्रगुप्त के पौत्र अशोक ने बौद्ध धर्म अपनाया और कला तथा प्राचीन सभ्यता संस्कृति के विकास के लिए बौद्ध मिशनरियों की गतिविधियों का विस्तार किया। 400 ईसवीं के आसपास जब चीनी बौद्ध यात्री फाह्यान भारत आया, तब उसने शाही महल को खड़े हुए देखा था। शाही महल के साथ-साथ दीवारों, दरवाजों तथा अन्य कलाकृतियों को देखकर वह इतना प्रभावित हुआ कि उसे विश्वास ही नहीं हुआ कि उनका निर्माण मानव कलाकारों-चित्रकारों के हाथों हुआ होगा।

स्तंभः अशोक ने अपने शासन काल में स्तंभों का निर्माण बड़े पैमाने पर कराया था। इन स्तंभों को उसने बौद्ध धर्म, संस्कृति एवं सभ्यता के प्रचार-प्रसार के साथ अन्य महत्वपूर्ण कार्यों एवं घटनाक्रमों के प्रतीक के रूप में लगवाया था। अशोक के शासनकाल के दौरान लगाये गये श्वेत-भूरे पत्थर उसके पूरे राज्य में देखे जा सकते थे। अशोक द्वारा लगाये गये उन स्तंभों में से अनेक स्तंभों में बौद्ध धर्म (बौद्ध कानून) की इबारतें भी लिखी हुई थीं। स्तंभों के माध्यम से उसने बौद्ध धर्म का प्रचार-प्रसार किया।

अशोक के शासन काल में लगे स्तंभ तकरीबन 40 फीट ऊंचे होते थे। उन स्तंभों में कलाकृतियां भी अभिचित्रित थीं। उनमें पुष्पदल, घंटी-जैसी आकृतियों के साथ-साथ जानवर भी चित्रित होते थे। स्तंभ के चारों ओर जानवरों की आकृतियां दिखायी देती थीं, जिनमें सिंह, बैल अथवा हाथी मुख्यतः होते थे।

रामपुरवा से मिले वृषभस्तंभ (जो अब नयी दिल्ली के राष्ट्रीय संग्रहालय में है) में वृषभ को कुछ इस तरह से दिखाया गया है जिस तरह के चित्र सिंधु घाटी की खुदाई से प्राप्त पुरानी सीलों पर चित्रित थे। माना जाता है कि वे प्राचीन परंपरा की वे एक कड़ी के रूप में हैं। सारनाथ, जहां बुद्ध ने अपना पहला व्याख्यान दिया, वहां सिंह स्तंभ लगे थे। उस स्तंभ में बैल, घोड़ा, सिंह और हाथी क्रमवार अंकित थे, उनके बीच में चक्र था जो वाहन का प्रतीक था। ऐसा लगता है

गुफा स्थापत्य कला

गुप्त काल से पहले मुख्य वास्तु कला केवल स्तूप, उनके द्वार मार्ग एवं रेलिंग के अतिरिक्त कृत्रिम गुफाओं तक ही सीमित थी। इन गुफाओं का धार्मिक उद्देश्यों के लिए निर्माण किया जाता था। प्रारंभ में गुफाओं के जो स्वरूप मिलते हैं, उनसे पता चलता है कि पहले लकड़ी द्वारा निर्मित गुफाएं ही बनती थीं, जो धार्मिक कार्यक्रम स्थलों के लिए होती थीं। उनके आस-पास घास-फूस की झोपड़ियां होती थीं। प्रारंभिक दो गुफाएं बाराबर (गया के निकट) में और नागार्जुनी पहाड़ियों में स्थित हैं, जो बिल्कुल असज्जित हैं। गुफाओं की भीतरी दीवारें अच्छी तरह से पुती हुई हैं, जिसे निःसंदेह अशोक स्तंभों की पुताई करने वाले कर्मचारियों ने ही किया होगा।

बाद में गुफा मंदिर और गुफा मठ भारत के कई भागों में पाये गये, किंतु पश्चिमी दक्षिण भारत में ही सबसे अधिक संख्या में गुफा मंदिर मठ मिले जिनका निर्माण सातवाहन साम्राज्य और उनके बाद के वंशजों ने किया था। जिन गुफाओं का उत्खनन किया गया उनमें ये गुफाएं ही सबसे बड़ी और सबसे प्रसिद्ध कृत्रिम गुफाएं हैं।

प्रारंभ में भारत में पत्थर काटकर जो गुफाएं बनीं वे अशोक (273-232 ईसा पूर्व) और उसके पौत्र दसरथ के समय बनायी गयीं थीं। बहरहाल इस पत्थरजनित वास्तुकला को अशोक ने ही अपनाया और उसका विकास किया। अशोक ने ही इनको प्रभावकारी ढंग से और लोकप्रिय वास्तुकला शैली के रूप में विकसित किया। उसने देश में इस तरह की 1200 गुफाओं का निर्माण किया जिनका बाद में उत्खनन कर पुरातत्ववेदियों ने देश के कई भागों में पता लगाया। इस स्थापत्य कला को तीन चरणों में बांटा जा सकता है प्रारंभिक चरण दूसरी शताब्दी ईसा पूर्व से दूसरी शताब्दी ईसवी तक, दूसरा पांचवीं शताब्दी व सातवीं शताब्दी से लेकर दसवीं शताब्दी तक। इस वास्तुकला का विकास मुख्यतः पश्चिमी घाट में हुआ और देश के अन्य भागों में विकास अंशतः ही हुआ। पत्थरजनित वास्तुकला भारत के लिए इसलिए मेल खा रही थी, क्योंकि भारत में पहाड़ों और पत्थरों की संख्या बहुतायत में है। उत्खनन के बाद जो ढांचे मिले, वे काफी मजबूत थे और वर्षो तक नष्ट न होने वाले थे।

प्रारंभिक बौद्ध वास्तु कला दूसरी शताब्दी ईसा पूर्व से लेकर दूसरी शताब्दी ईसवी तक है। पश्चिमी भारत में उत्खनन का प्रारंभिक चरण, विशेषरूप से प्रारंभिक बौद्ध धर्म से जुड़ा हुआ है, जिसका तात्पर्य बुद्ध की पूजा है जो प्रतीकवाद का प्रतिनिधित्व करता है। उत्खनन कुछ इस तरह हुआ (1) चैत्य अथवा प्रार्थना सभागार और (2) विहार अथवा मठ। दोनों का ही निर्माण पत्थरों से हुआ था। उनका जो ढांचा मिला, वह अस्थायी तौर पर यानी कम ही मजबूत रहा, क्योंकि उसमें लकड़ी जैसी चीजों का आर्थिक इस्तेमाल किया गया था।

इन प्रारंभिक मंदिरों की प्रमुख विशेषताएं यही थीं कि उनमें दो प्रतिष्ठान थे। प्रत्येक एक दूसरे से जुड़े थे और उनमें एक चैत्य यानी प्रार्थना सभागार तथा दूसरा एक मठ यानी विहार था, जो वहां के पुजारियों के रहने के काम में आता था। चौकोर केंद्रीय सभाकक्ष को उससे सटे एक बरामदे अथवा पोर्टिको द्वारा खोजा जा सकता था, इसके अतिरिक्त द्वार मार्ग होते थे जो कमरों में जाते थे। ये कमरे सन्यासियों के लिए होते थे। प्रारंभिक बौद्ध वास्तु कला के उदाहरण अभी भी कारला, कन्हेरी, नासिक, भाजा एवं बेडसा तथा अजंता में देखे जा सकते हैं।

दूसरा चरण पांचवीं शताब्दी से शुरू हुआ। इस चरण की विशेषता यह थी कि इसमें स्थापत्य कला में लकड़ी का प्रयोग बिल्कुल खत्म कर दिया गया और वास्तु कला प्रतिरूप प्रमुख रूप से बुद्ध की प्रतिमाओं को ही ध्यान में रखकर तैयार किए गये तथापि विशेष रूप से चैत्य की उत्खनन योजना प्रारंभिक चरण की वास्तुकला के समान ही थी। कभी-कभी बुद्ध की प्रतिमाएं काफी बड़े आकार की बनायी गयीं। विहार में भी कुछ परिवर्तन किये गये। भीतरी कक्ष, जो पहले मंदिर के पुजारियों के लिए होता था, उनमें भी बुद्ध की प्रतिमाओं को स्थापित किया गया।

महायान स्कूल के बौद्धों ने भी उन्हीं वृहद वास्तु कला सिद्धांतों को अपनाया, जो उनके पूर्ववर्ती लोगों यानी हीनयान बौद्धों ने अपनाये थे, उनकी वास्तु कला में भी चैत्य और विहार बनाये गये।

बाद में हिंदुओं और जैनियों ने बौद्ध वास्तु कला परंपरा का विस्तार किया तथा उनमें कुछ सुधार भी किया। उन्होंने अपने धार्मिक तौर तरीकों और जरूरतों के हिसाब से उसमें कुछ निश्चित संशोधन भी किये।

द्रविड़ पत्थर जनित शैली की मुख्य विशेषता मंडप और रथ थी। मंडप एक खुला बरामदा-जैसा था जो पत्थर से बनाया जाता था। यह एक साधारण कक्ष के आकार का होता था जिसमें दो या दो से अधिक कक्ष होते थे जो धर्मगुरुओं के ठहरने के लिए होते थे। रथ का निर्माण भी एक बड़े पत्थर को काटकर किया जाता था।

एलिफैंटा गुफाएंः बम्बई हॉर्बर के पास एलिफैंटा के द्वीप में इस तरह की गुफाएं आठवीं शताब्दी ईसवी की हैं। इस द्वीप का नाम एलिफैंटा इसलिए पड़ा, क्योंकि ये एक विशाल हाथी के आकार की गुफाएं थीं जिनका प्रयोग कई तरह से किया जाता था।

गणेश गुफा ब्राह्मी मंदिर के प्रारंभिक उदाहरणों में एक है और यह पत्थर जनित है। इसके बाहर बरामदा है जहां बनी हाथियों की मूर्तियां वास्तु कला का एक अनोखा उदाहरण हैं। प्रत्येक भवन के आखिरी हिस्सा के वर्गाकार खम्भे दीवार से लगे हुए हैं। उन्हें इस तरह बनाया गया है जैसे वे द्वारपाल हों। इसका उत्कृष्ट उदाहरण तीन

चेहरों वाली एक मूर्ति (त्रिमूर्ति) है जो शिव के माहेश्वर रूप का प्रतिनिधित्व करती है। बायां चेहरा शिव का भयंकर पुरुष रूप प्रदर्शित करता है जबकि दांया भाग सुंदर है और स्त्रियोचित सौंदर्य से भरा दिखायी देता है। इस मूर्ति का दूसरा पक्ष त्रिमूर्ति ब्रह्मा (सृष्टिकर्ता), विष्णु (पालनकर्ता) और शिव (सहांरकर्ता) का भाव उत्पन्न करता है। गुफा में प्रमुख उल्लेखनीय वास्तुकृतियां हैं शिव-पार्वती का विवाह, भैरव, तांडव नृत्य में शिव, कैलाश को हिलाते राक्षसराज रावण, अर्द्धनारीश्वर आदि।

कन्हेरी गुफाएंः बम्बई के निकट ये गुफाएं बौद्ध वास्तुकला के हीनयान चरण से संबंधित हैं, जबकि चैत्य सभागार में बुद्ध की पांचवीं शताब्दी की प्रतिमा इसके बाद की वास्तु कला परंपरा को दर्शाती हैं कुल मिलाकर यहां 100 से अधिक गुफाएं हैं। उनकी मुख्य विशेषता सीढ़ी का ऊंचा पायदान तथा पत्थरजनित स्थान हैं जो धार्मिक गुरुओं के आराम के लिए होता था। यद्यपि कई गुफाएं वास्तु कला का महान उदाहरण नहीं है, लेकिन पुरातात्विक दृष्टिकोण से उनकी महत्ता अधिक है क्योंकि वे दूसरी शताब्दी से नौंवी शताब्दी के दौरान की हैं।

जोगेश्वरी गुफाएंः ये गुफाएं सेलेटे के द्वीप में है जिसमें मूलतः बंबई द्वीप भी शामिल है। यद्यपि इनका स्वरूप काफी बिगड़ चुका है, क्योंकि वे महायान बौद्ध कला के अंतिम चरण से संबंधित है। यहां के मंदिरों-मठों में ब्राह्मी प्रभाव खत्म हो गया है। वे एक सभाकक्ष के केंद्र में स्थित हैं जहां एक से अधिक प्रवेश हैं। ये गुफाएं आठवीं शताब्दी के मध्य काल की बनी हुई हैं।

मांडपेश्वरः इनका भी अपना महत्व है क्योंकि ये एकमात्र ऐसी ब्राह्मी गुफाएं हैं जो ईसाई धर्म स्थल के रूप में परिवर्तित हुई हैं। यहां तक कि आज भी वहां ईसाई अनाथालय बना हुआ है, जो प्राचीन पुर्तगाली चर्च तथा पास के एक फ्रांसीसी मठ द्वारा चलाया जाता था। यहां की तीन गुफाएं आठवीं शताब्दी की हैं।

कारला, भाजा एवं बेडसा गुफाएंः कारला गुफाएं बौद्ध स्थापत्य कला के हीनयान काल की हैं। इन गफाओं की प्रमुख विशेषता बृहत् व भली-भांति संरक्षित चैत्य का निर्माण है। जिसके प्रवेश द्वार पर दो विशाल स्तम्भ स्थित हैं। जिन पर एक बड़े चक्र के सहारे खड़े शेरों का समूह अंकित है। ये स्तम्भ अपनी पूर्व दशा में लगभग 50 फीट ऊंचे रहे होंगे क्योंकि अब इनका अधिकांश भाग नष्ट हो चुका है। मुख्य द्वार के पश्चात् विशाल दालान है जिसकी सुसज्जित रेलिंग व हर कोने पर स्थित हाथी अलंकार पूर्ण कला की स्थिति को दर्शाते हैं। अंदर का स्थान अथवा चैत्य सभागार में एक स्तंभावलि गुंबज एवं सूर्य की रोशनी हेतु एक खिड़की है। इस खिड़की से सूर्य की रोशनी बड़े अद्‌भुत तरीके से छन-छन कर ऐसे आती है जिसकी किरणें जब स्तूप, स्क्रीन, खम्भों के आधे भाग एवं पार्श्व भाग के अंधेरे हिस्से में पड़ती हैं तो बेहद कलात्मक लगती हैं।

भाजा की 18 गुफाएं बौद्ध धर्म सन्यासिनियों के लिए बनायी गयी थीं। इनका निर्माण ईसा पूर्व की दूसरी शताब्दी में किया गया था। समय के थपेड़ों के साथ मुख्य गुफा (नं.-12) का प्रवेश एवं मुख्य द्वार अब खुल गया है और यह सभाकक्ष का पूरा परिदृश्य दिखाता है। खम्भे ढलान पर हैं किंतु खंभों पर किया गया कलात्मक कार्य अत्यंत उत्कृष्ट है। स्तूप अत्यंत समतल है और दो भागों में है। ऐसा माना जाता है कि उसकी दीवारों में मूलतः कलाकृतियां उत्कीर्ण की गयीं थीं, जो अब बहुत कम बची हैं। दक्षिण दिशा की अंतिम गुफा में शिल्प का उत्कृष्ट नमूना देखने को मिलता है, इसमें प्रमुख है हाथी के ऊपर बैठा राजकुमार व रथ पर सवार राजकुमार की मूर्ति तथा शस्त्रों से सजी तीन मूर्तियां।

बेडसा स्थित गुफाएं भाजा में मिली गुफाओं से कुछ बाद की हैं। कारला में पायी गयी गुफाओं में चैत्य एक बड़ा सभागार है, लेकिन बेडसा में चैत्य छोटा है। उसमें चार खंभे हैं, जिसमें घोड़े, बैल तथा हाथी उत्कीर्ण किये गये हैं, उसमें पुरुष एवं महिला सवार बैठे दिखाए गये हैं। उसकी छत दस फीट ऊंचे एवं 26 अष्टभुजीय खम्भों पर टिकी है।

एलोरा एवं अजंता गुफाएंः एलोरा और अजंता गुफाएं औरंगाबाद के निकट स्थित हैं।

चालुक्य एवं राष्ट्रकुट शासकों ने छठीं शताब्दी ईसवी के मध्य से लेकर लगभग 12वीं शताब्दी के आखिर तक दक्षिण में शासन किया था। दोनों ही धर्म सहिष्णु तथा सब धर्मों को मानने वाले शासक थे और उनकी उदारता के किस्से मशहूर थे। उनके शासनकाल में ही पत्थर जनित मंदिर निर्माण की तकनीक विकसित होकर परिपक्वता की ऊंचाइयों तक पहुंची। दक्षिण में राष्ट्रकूट शक्तियों के उदय से बौद्ध धर्म का प्रभाव कम हुआ, लेकिन कलात्मक गतिविधियां इसके बावजूद निरंतर जारी रहीं।

पत्थर जनित वास्तु कला पश्चिमी भारत में पहुंची, क्योंकि पश्चिमी क्षेत्र ने निर्माण एवं वास्तु के लिए उचित स्थान प्रदान किया। हालांकि इस तरह की किसी भी गुफा का उपयोग नहीं किया गया। इस प्रकार वास्तु कला बड़े पैमाने पर एक तरह की मूर्ति कला थी। पत्थर जनित जो निर्माण किया गया, उसकी देखभाल एवं उसकी समय-समय पर मरम्मत की भी आवश्यकता थी, और यही कारण है कि आज भी बहुत से मंदिर अच्छी हालत में हैं। वास्तु कला में जो तकनीक और जो साधना इस्तेमाल की जाती थी, वह आज भी आधुनिक तकनीक के समक्ष एक गूढ़ 'रहस्य है। यह जानकर आश्चर्य होगा कि पत्थर जनित जो निर्माण कार्य हुआ, वह अक्सर ऊपर से नीचे हुआ क्योंकि नीचे के पत्थर प्राकृतिक रूप से एक प्लेटफार्म का स्वरूप प्रदान करते थे और इससे मचान की आवश्यकता खत्म हो गयी।

अजंता गुफाओं को 1829 में एक शिकारी गश्तीदल ने खोजा था। वे पत्थरों को काटकर इस तरह बनायी गयी थीं और इस तरह गहरी घाटी के किनारे स्थित थी जैसे चंद्रकार हों। पूर्णरूपेण वे बौद्धों की थीं और करीब 200 ईसा पूर्व से 650 ईसवी के मध्य बनायी गयी थीं। यह जानकर आश्चर्य होगा कि चीनी बौद्ध यात्रियों स्वेनसांग व फाह्यान ने भी अपनी यात्राओं में अजंता गुफाओं का उल्लेख किया था।

29 गुफाओं में चार चैत्य सभाकक्ष हैं जो अलग-अलग आकार के हैं एवं शेष विहार हैं। इन गुफाओं की सज्जा समय के साथ बदलती रही। इन गुफाओं द्वारा हीनयान व महायान पक्ष प्रत्यक्ष रूप से परिलक्षित होता है। जहां हीनयान मत की गुफाएं साधारण मानी जाती हैं वहीं महायान मत की गुफाएं अत्यधिक अलंकारिक व बुद्ध की मूर्तियों से युक्त हैं। ये गुफाएं इसलिए अनोखी एवं दुर्लभ समझी जाती हैं क्योंकि इनमें कला के तीनों रूप-वास्तु कला, मूर्ति कला एवं चित्र कला का सम्मिश्रण मिलता है। दीवारों में चित्र बनाने के लिए जो तकनीक अपनायी गयी, उसमें गोबर और चावल की भूसी को मिलाकर एक घोल तैयार किया गया जिसे गुफा की छत दीवारों में लगाया गया था। कभी-कभी ईंटों के पिसे बुरादे को भी मिश्रित किया गया। फिर प्लास्टर किया गया और उस प्लास्टर में रंगों का प्रयोग किया गया। गुफा में दीवारों पर मूर्तियां चित्रित करने के पहले उनमें कई तरह के घोलों का मिश्रण चढ़ाया गया, साथ ही रंगों का प्रयोग करने से पहले सतह को नम रखने के लिए सफेद प्लास्टर को लगाया गया। रेखांकन पहले लाल रंग से किया गया। रंगों का प्रयोग स्थानीय रंगों द्वारा किया गया और नीले रंग को छोड़कर बाकी सारे रंग निकट की पहाड़ियों से एकत्र किये गये। चित्रकला की प्रेरणा *जातक* की प्रसिद्ध बौद्ध कहानियों से ली गयी।

गुफा नं. 13, 12, 10, 9 और 8 (पुरातात्विक निर्माण क्रमानुसार) हीनयान काल की हैं, जबकि गुफा नं. 11, 14, 15, 16, 17, 19, 18 एवं 20 तथा संभवतः गुफा नं. 6 और 7 भी बाद के महायान काल की हैं जो तकरीबन 580 ईसवी तक रहा। गुफा नं. 1 से 5 तथा 21 से 29 में भी महायान की विशेषताएं मिलती हैं। ये गुफाएं 500 से 650 ईस्वी के बीच की हैं। गुफा 19 और गुफा 26 (चैत्य) एवं गुफा 1 और 16 (विहार) अच्छी स्थिति में हैं। गुफा नं. 16 अत्यंत महत्वपूर्ण गुफाओं में है, क्योंकि वास्तुकला के दृष्टिकोण से यह सर्वाधिक उत्कृष्ट है, यह मठ में व्याख्यान देते हुए बुद्ध की विशाल प्रतिमा है। गुफा में प्रसिद्ध भित्ति चित्र 'द डांइग प्रिंसेस' भी है। एलोरा गुफाएं इसलिए अनोखी हैं, क्योंकि पर्यटक वहां एक ही स्थान पर वास्तुकला की तीन शैलियां देख सकता है। 12 बौद्ध, 4 जैन एवं 16 ब्राह्मी गुफाएं यहां एक के पास एक स्थित हैं। अजंता गुफा मंदिर के विपरीत एलोरा गुफाएं पहाड़ी

के ढलान की ओर स्थित हैं। फलतः अधिकांश मंदिरों में आंगन है और कहीं-कहीं एक बाहरी दीवार अथवा चट्टान है जहां से प्रवेश किया जाता रहा है। 10वीं शताब्दी में अरबी भूगोल शास्त्री मसूदी एवं यूरोपीय भूगोल शास्त्री थेवनाट 1667 में इन मंदिरों में पहुंचे थे तथा अपने यात्रावृतांत में उन्होंने इन मंदिरों का उल्लेख किया था।

बौद्ध मंदिरों का उत्खनन 350 से 700 ईसवी में हुआ। ब्राह्मी मंदिरों की तुलना में ये मंदिर शांत और अलग हैं। गुफा नं. 10, जो एलोरा में अकेला चैत्य है, एक सांचे की तरह है और अजंता और एलिफैंटा के संस्मृति रूप में है। इसे विश्वकर्मा कहा जाता है। शिल्पी महापुरुष विश्वकर्मा को यह समर्पित है।

गुफा नं. 11 और 12, भारत की उन कुछ गुफाओं में से हैं जो एक मंजिल से अधिक मंजिलों वाली हैं।

दूसरा समूह ब्राह्मी गुफाओं का है जिनका उत्खनन सातवीं और आठवीं शताब्दी के प्रारंभिक काल के मध्य हुआ। गुफा नं.-18, *रावण की खाई* (रावण द्वारा उत्खनित) बौद्ध मंदिरों से अलग है। इसमें 4 खंभे सामने पार्श्व में हैं, 12 स्तंभ केंद्रस्थ सभागार में हैं और उसके बाहर सभागार के आखिर में एक चैत्य है। दक्षिण दीवार में शैव मूर्तियां चित्रित हैं, उत्तरी दीवार में वैष्णव (विष्णु), दुर्गा, लक्ष्मी मूर्तियां व विष्णु के प्रतीक वाराह की मूर्तियां अभिचित्रित हैं। चैत्य के अंदर दुर्गा की एक मूर्ति भी है। गुफा नं. 15 *दसावतार गुफा है*।

कैलाश मंदिर शिव को समर्पित है। कैलाश मंदिर को हिंदुओं की एक महान उपलब्धि माना जाता है। यह मंदिर कैलाश पर्वत में शिव के निवास का प्रतीक है। इसका उत्खनन राष्ट्रकूट के शासक कृष्णा-I के शासनकाल में हुआ। यह संभवतः एक शिला पर किए गए उत्खनन कार्य का संसार का सबसे महान नमूना है। वास्तुकला में ऊपर से नीचे तक उत्खनन कार्य किया गया। वास्तुशिल्पियों ने एक चट्टान को तब तक तराशा, जब तक उसने एक मंदिर का रूप नहीं ले लिया। चट्टान की निचले स्तर तक छंटाई की गयी और अनुमान है कि 30 लाख घन फीट पत्थरों की छंटाई की गयी। विचारणीय बात यह है कि इसके उत्खनन में कितने वर्ष लगे होंगे और कितना श्रम किया गया होगा तब जाकर यह महान आकार रूप ले पाया होगा। उसके बाद वहां शिव की मूर्ति तैयार हो पायी। इस महान कार्य की तारीफ परसी ब्राउन ने इस तरह की "यह मिट्टी की साज सज्जा कलात्मक रूप के सभी प्रतिमानों से श्रेष्ठ है, यह एक महानतम आध्यात्मिक उपलब्धि है, जिसके प्रत्येक भाग का विशेष अर्थ है।"

कैलाश विशाल आंगन के मध्य स्थित है जिसमें हाथी तथा अन्य जानवरों की

मूर्तियां अभिचित्रित हैं। मुख्य मंदिर शिव को समर्पित है। मंदिर एक कुर्सी जैसे स्थान पर बना है और उसमें हाथियों एवं सिंहों के भित्तिचित्र सुंदर ढंग से अंकित हैं। मंदिर के बाहर ऊंचाई पर सीढ़ियां हैं और सांचा दो मंजिल का है। भिक्षु सभागार और सांचा दोनों ही चट्टान को काटकर बनाये गये हैं।

मंदिर का ऊपरी भाग तीन श्रेणीय है। आगे का भाग छतरी या गुंबज-जैसा प्रतीत होता है। अंदर का भाग एक खंभीय सभागार है जो स्वस्तिकाकार केंद्रस्थ पार्श्व में स्थित है। दीवार में जो भित्तिचित्र अंकित हैं उनमें रामायण के दृश्य हैं। ये भित्तिचित्र उत्कृष्ट चित्रकला एवं शिल्पकला के अनुपम उदाहरण हैं। मंडप के सम्मुख शिव के बैल नंदी विराजमान हैं। जिसके दोनों तरफ स्थित दो खंभे ध्वजस्तंभ कहलाते हैं। इनमें शिव उपासना पद्धति को प्रतीकात्मक ढंग से उत्कीर्ण किया गया है, जो उत्कृष्ट कलात्मक कार्य है।

पांच एलोरा गुफाओं का अंतिम भाग जैन का है। इसमें सबसे रोचक इंद्रसभा (देवों के राजा इंद्र का सभाकक्ष) एवं जगन्नाथ सभा (ब्रह्मांड के स्वामी का सभाकक्ष) हैं। इंद्र सभा दो मंजिला चैत्य है जो चट्टान को 200 फीट की गहराई तक काटकर बनाया गया है और एक चौकोर आंगन में पत्थर जनित द्वार-मार्ग से जुड़ा है। उसके दायीं ओर एक हाथी की आकर्षक मूर्ति बनी हुई है। ऊपरी मंजिल 12 उत्कृष्ट मूर्तिकला युक्त खंभों पर टिकी है। निचला हिस्सा तथा ऊपरी मंजिल सुंदर ढंग से अभिचित्रित की गयी हैं। ऊपरी हिस्से में 24 जैन तीर्थंकरों की मूर्तियां उत्कीर्ण हैं। छत का ऊपरी भाग एक विशाल कमल पुष्पाकार के रूप में है। प्रत्येक सभाकक्ष सिरे का आखिरी भाग एक विशाल चैत्य है जहां महावीर की प्रतिमा स्थित है। माना जाता है कि यह मंदिर जैन समुदाय द्वारा बनाये गये प्रारंभिक मंदिरों में से एक है।

जगन्नाथ सभा भी इंद्रसभा की तरह ही निर्मित है, लेकिन वह इंद्रसभा से छोटी है। चैत्य में भी एक छोटी उपशाला है जिसमें एक तोराण है और उसके भीतर महावीर की मूर्ति स्थित है। जगन्नाथ सभा की दीवारें मूर्तियों से अभिचित्रित हैं और खम्भे भी सर्वोत्तम जैन परंपराओं से अलंकृत हैं। पहाड़ी के ऊपर जहां जैन गुफाएं हैं, वहां पारसनाथ की एक पत्थर जनित प्रतिमा स्थित है और एक भवन द्वारा यह 200 वर्षों से अधिक समय से संरक्षित है।

ऐहोल, पट्टाडकाल एवं बादामीः इन तीनों स्थानों की वास्तुकला पारंपरिक हिंदू मंदिरों की तरह हैं तथा ये 600 और 650 ईसवी के मध्य बने थे। सबसे पहले ऐहोल है जहां करीब 60 मंदिर हैं और उनमें करीब 30 मंदिर एक अहाते के भीतर एक दीवार से घिरे हैं।

सबसे प्राचीन लाद-खान कहलाता है, जहां ड्योढ़ी में हम *आसन* की स्थापना पाते हैं बाद में यह आसन मध्यकालीन हिंदू मंदिरों में अनिवार्य रूप से पाया गया। दुर्गा मंदिर एक निम्न तलीय मंदिर है और उसके ऊपर एक छोटा पिरामिडाकार बुर्ज अथवा *शिखर* है जो हिंदू मंदिरों का एक महत्वपूर्ण हिस्सा रहा है। दुर्गामंदिर भी मूर्तिकला का एक अनुपम उदाहरण है।

ऐहोल में बने आखिरी मंदिरों में मेगुती का जैन मंदिर भी 634 ईसवी में बना। इसमें पत्थरों के छोटे टुकड़ों का इस्तेमाल किया गया जो भवन निर्माण तकनीक की प्रगति दिखाता है। मंदिर नं. 53 (ब्राह्मी) एवं मंदिर नं. 39 (जैन) मेगुती मंदिर के साथ हैं जो द्रविड़ शैली का प्रभाव दिखाता है जिसकी विशेषता कई मंजिलों में चौकोर पिरामिडाकार का होना है। इनकी सजावट भी उनके मुकाबले कम है। यह पारंपरिक चालुक्य वास्तुकला की विशेषता दर्शाता है।

पट्टाडकाल के मंदिर भी हिंदुओं एवं जैनों के हैं जो चालुक्यों के साथ-साथ द्रविड़ शैली से जुड़े हैं। इनमें से अधिकांश सातवीं से आठवीं शताब्दी ईसवी के मध्य बने। चालुक्य मंदिरों की सामान्य विशेषता यह होती है कि उनमें भूतल में काफी जगह होती है। पापनाथ का मंदिर चालुक्य शैली में बना हुआ है। द्रविड़ शैली के मंदिरों में वीरूपाक्ष सबसे अच्छा भाग होता था। ये अलग तरह के होते हैं, जिनकी पहचान उनके चौकोर पिरामिडाकार शिखरों द्वारा होती है। इन शिखरों ने बाद में गुम्बद का रूप ले लिया। यद्यपि वे उतने सुंदर नहीं थे जितने चालुक्य शैली के थे, लेकिन फिर भी उनकी अपनी खुद की कुछेक निश्चित विशेषताएं थीं।

छठी शताब्दी के प्रारंभ में चालुक्य अत्यंत मजबूत शक्ति थे। वटापी (बादामी) उनके महान शासक पुलकेसिन-II की राजधानी थी, जिसे 640 ईसवी में पल्लवों द्वारा जीता गया था। 653 ईसवी में राष्ट्रकूटों ने उस पर कब्जा कर लिया।

वहां के मंदिरों में तीन ब्राह्मी (550 से 580 ईसवी) और एक जैन मंदिर है जो 650 ईसवी के आस-पास का है। ये सभी मंदिर ऐहोल के समय से ही वास्तुकला की प्रगति का संकेत देते हैं। कुछ निश्चित विशेषताएं उन सभी में हैं जैसे खम्भायुक्त बरामद, स्तंभयुक्त सभाकक्ष एवं छोटा चौकोर कक्ष (एक मूर्ति के लिए चैत्य), जो पत्थरों को काटकर बनाया गया था। विरूप गणों के एक भाग को छोड़कर उसका बाहरी हिस्सा समतल होता था। अंदर का भाग अत्यंत सुंदर मूर्तिकला से सुसज्जित होता था। सजावट उत्कृष्ट होती थी, किंतु समान्य योजना कुल मिलाकर अनिश्चित होती थी, क्योंकि हिंदू मंदिर उस समय तक विकास के प्रारंभिक चरण में थे।

विष्णु को समर्पित मंदिर एक पुरातात्विक इतिहास है जो बताता है कि उसका निर्माण 573 ईसवी में हुआ था और वह सभी मंदिरों में सबसे बड़ा है। दो मंदिर

चट्टान को काटकर बनाये गये हैं और प्रत्येक के अगले भाग में चार खंभों की एक स्तंभावलियां हैं जो बारामदे की शक्ल प्रदान करती हैं। दो खंभे केंद्रीय कक्ष के प्रवेश द्वार के रूप में हैं।

जैन मंदिर, ब्राह्मी मंदिरों की नकल हैं। किंतु आकार में छोटे हैं। जैन धर्म की परंपरा के अनुकूल वे विशेष आकार के हैं, पत्थर जनित वास्तु कला का यह चरण एक अस्थायी दौर था और शीघ्र ही यह कला पूरी तरह से ओझल हो गयी।

नासिक गुफाएंः नासिक के दक्षिण-पश्चिम में मुख्य मुम्बई रोड पर 23 बौद्ध गुफाओं का एक अत्यंत महत्वपूर्ण समूह है जो बौद्ध वास्तुकला के हीनयान काल से संबंधित है तथा यह ईसा की पहली शताब्दी का है। जब बुद्ध ने शारीरिक रूप से अपनी उपस्थिति दर्ज कहीं करायी थी तो उनकी आध्यात्मिक उपस्थिति एक सिंहासन व खड़ाऊं अथवा पदचिन्हों द्वारा व्यक्त की जाती रही। गुफाओं का

यह समूह पाण्डू लेना कहलाता था जो पहाड़ियों के सुंदर परिसर के आखिरी छोर में तीन शंक्वाकार चोटियों पर स्थित था। इसमें तीन बड़े सभागार और एक सुंदर मंदिर था।

जूनागढ़ गुफाएंः अपरकोट एक प्राचीन किला था जो ईसा की 16वीं शताब्दी के आखिर एवं 14वीं शताब्दी के मध्य का ऐतिहासिक दस्तावेज है। इसका प्रवेश एक सुंदर द्वारमार्ग है जो हिंदू तोरण द्वार का एक उत्कृष्ट नमूना है। अपरकोट में अनेक आश्चर्यजनक बौद्ध गुफाएं हैं जो प्राचीन काल में बौद्ध भिक्षुओं की महान शरणस्थली रही हैं। कुछ गुफाएं तो दो या तीन मंजिल ऊंची हैं। ये गुफाएं 300 ईसवी के मध्य की हैं और अपने विशाल सभागार, एवं उससे जुड़ी घुमावदार सीढ़ियों, की बनावट के कारण अत्यंत महत्वपूर्ण कलात्मक योगदान को दर्शाती हैं। ऊपरी कक्ष में एक छोटा स्थान है तथा एक गलियारे से घिरा टैंक है; जो उत्कृष्ट शिल्पकला से उत्कीर्ण छह सुंदर खंभों पर टिका है।

बाघः मध्य प्रदेश के बाघ में नौ बलुई पत्थर युक्त बौद्ध गुफाएं हैं जो सुंदर भित्तिचित्र एवं पत्थरों पर उत्कीर्ण उत्कृष्ट शिल्पकला से युक्त हैं इनका निर्माण संभवतः छठी शताब्दी ईसवी में हुआ, किंतु वे अजंता भित्तिचित्र से पहले की भी हो सकती है।

उंडावल्लीः आंध्रप्रदेश में विजयवाड़ा के निकट स्थित उंडावली गुफाएं सातवीं शताब्दी के मंदिरों वाली हिंदू गुफाएं हैं जो पीछे से एक ग्रेनाइट पहाड़ी की ढलान को पांच श्रेणियों में काटकर बनायी गयी हैं। इन गुफाओं का मुख्य आकर्षण विष्णु की एक झुकी मूर्ति है जो ग्रेनाइट के एक अकेले पत्थर को काटकर बनायी गयी है। बुद्ध को भी यहां विशेष स्थान एवं सम्मान दिया गया है।

प्रसिद्ध स्तूप

मौर्य एवं गुप्त काल के दौरान प्राचीन स्तूपों को बड़ा किया गया एवं उनका सौंदर्यीकरण किया गया। इनमें तीन विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं जो मध्य प्रदेश के सांची एवं भरहूत तथा निचली कृष्णा घाटी के अमरावती क्षेत्र में स्थित हैं।

भरहूत स्तूप संभवतः ईसापूर्व की दूसरी शताब्दी के मध्य के हैं। अपनी शिल्पकला के कारण वे इसलिए महत्वपूर्ण हैं, क्योंकि अब स्तूप स्वतः विलुप्त हो गये हैं। *जातक* कथाओं से ली गयी घटनाओं का चित्रण इतना सजीव व कला समृद्ध है कि बरबस दर्शकों का ध्यान आकर्षित करता है। सुंग शिल्पकारों ने वस्तुतः आश्चर्यजनक कार्य किया है।

सांची स्तूप भी अत्यंत प्रसिद्ध हैं। इनके मूल आकार में दो बार परिवर्तन कर इन्हें विस्तारित किया गया, जिससे ये बढ़कर लगभग 120 फीट के व्यास की गोलाई में पहुंच गये। ये स्तूप ईसापूर्व की दूसरी शताब्दी के हैं। इनकी तब सुदृढ़ चिनाई की गयी थी और यह कार्य नियमित जारी रहा तथा बाद में एक ऊपरी छतीय रास्ता जोड़ा गया। पुरानी लकड़ी की रेलिंग के स्थान पर पत्थर की रेलिंग लगायी गयी जो शिल्पकला का एक अनुपम उदाहरण हैं। रेलिंग में भी आश्चर्यजनक सजावट की गयी, जो जातक से ली गयी कहानियों के चित्रण में दिखाई देती हैं। इसके साथ ही बुद्ध का जन्म, ज्ञान प्राप्ति, प्रथम उपदेश एवं बुद्ध का महाप्रयाण, अशोक से जुड़ी अनेक ऐतिहासिक घटनाएं, उनके तीर्थयात्रियों से जुड़ी कुछ घटनाएं, गांव के दृश्य, महल के दृश्य, जंगल के दृश्य, जंगल में हाथियों, बंदरों एवं अन्य जानवरों, चिड़ियों एवं पुष्पों, निर्दयी शिकारियों, सैनिकों, प्राचीन संगीत यंत्रों एवं उसे बजाते लोगों आदि के दृश्य भी अंकित हैं। पत्थर को उच्च कुशल तकनीक से अत्यंत सुंदर ढंग से तराश कर ढका गया है उनमें कुछ गहरी नक्काशी, कुछ बाहरी नक्काशी तथा कुछेक में चारों ओर नक्काशी की गयी है। देखने से नक्काशी अत्यंत साधारण पर, प्राकृतिक लगती है और इसमें किसी भी प्रकार का कोई विदेशी प्रभाव अथवा संकेत नहीं दिखायी देता है।

अमरावती स्तूप पूर्ण रूप से 200 ईसा के आसपास पूरा हुआ था। अमरावती स्तूप में तराशा हुआ द्वारफलक है, जो बुद्ध के जीवन की कहानी दर्शाता है। मूर्तिकला अत्यंत सुंदर एवं आदर्शरूप लिये है जो पहली बार बुद्ध को एक दैव शक्ति के रूप में दिखाती है जो पूजा-अर्चना को स्वीकार कर रहे हैं। इनका उत्खनन करीब 1779 में हुआ और इसके अवशेष टुकड़ों में पड़े हैं। अधिकांश टुकड़ों को भवन निर्माण उद्देश्यों के कारण शताब्दियों से वहां से हटाया जाता रहा है। स्तूप अवश्य 600 वर्ग मी. के आसपास के घेरे में रहे होंगे। इनकी सतह को भरहुत शैली में ढका गया था,

किंतु कुछ विशेषताएं मथुरा एवं गांधार मूर्तिकला से भी जुड़ी हैं। फूलों का निष्पादन, फूलपत्तियां, सूचीपत्र-नक्काशी, कमरे की छत के ठीक नीचे बनी नक्काशी पदक आदि को बेहद सुंदर ढंग से चित्रित किया गया है, जो अपने आकार एवं शिल्प कला का अनुपम उदाहरण है। कुछ पत्थर जनित मूर्तियां घेरे में रखी गयी हैं। अमरावती की अवशेष मूर्तियां, जो 'संगमरमर' के टुकड़ों के रूप में जानी जाती हैं, ब्रिटिश संग्रहालय पहुंच गयी हैं। (चूना, पत्थर, संगमरमर की छाप देते हैं)।

नागार्जुना कोंडा स्तूप भी शक-सातवाहन काल के हैं जो महायान बौद्ध धर्म को दर्शाते हैं। उनमें अभिचित्रित मूर्तिकला एवं उनमें की गयी साज-सज्जा अत्यंत अनोखी है। ये स्तूप सद्भाव के प्रतीक हैं। अमरावती, भरहुत एवं सांची में यक्ष एवं नागों के स्थानीय धार्मिक पंथ को भी पूर्ण श्रद्धासुमन अर्पित किया गया है।

बाद के स्तूपों में दो अत्यंत प्रसिद्ध स्तूप सारनाथ और नालंदा में हैं। सारनाथ स्तूप गुप्त काल के दौरान ही पूर्णरूपेण तैयार हुआ, लेकिन अब उनके भीतरी भाग का अवशेष ही बचा है। एक स्तूप नालंदा में है जो नष्ट होने की स्थिति में है। यह ईटों की पिरामिड़ का प्रभाव दर्शाता है और इसके छत तक सीढ़ियां जैसी दिखायी देती हैं। गुप्त एवं पाल के शासन में इन स्तूपों में कई संशोधन किये गये।

कि वह स्तंभ धर्म का वाहन था। यह स्तंभ मूल रूप से विशाल पत्थर का है जिसमें पहिये हैं और उस स्तंभ के ऊपर सिंहों की आकृतियां अंकित हैं। उस स्तंभ में अंकित आकृतियां प्राचीन कला का अद्भुत नमूना हैं और उसमें चित्रित कलाकृतियां, इस खूबसूरती से ढाली गयीं कि जिनकी प्रसिद्धि आज भी विद्यमान है। इसी के साथ वे भारत की प्राचीन महान कलात्मक उपलब्धियों की भी परिचायक हैं।

एकाश्म-स्तम्भ (मोनोलिथिक पिलर्स): वास्तुकला के क्षेत्र में मौर्यो की प्रमुखता 'शिल्प स्तम्भों के निर्माण कौशल में है। ये स्तम्भ निःसंदेह रूप से अशोक कालीन मूर्तिकला के सार हैं। इन स्तम्भों को भारतीय कला मर्मज्ञों ने अशोक कालीन कला का नवनीत कहा है। वास्तव में इनके निर्माण में शिल्प का अद्भुत कौशल तो परिलक्षित होता है साथ ही इनकी कल्पना भी नितांत मौलिक है। अशोक कालीन इन पाषाण स्तम्भों की संख्या तीस बतलाई जाती है परंतु इनमें से अनेक नष्ट हो चुके हैं। दिल्ली, मेरठ, इलाहाबाद (उ.प्र.), कोसम, लौरिया अरराज (चम्पारन, बिहार), लौरिया नदनगढ़ तथा रामपुरवा (जनपद चम्पारन, बिहार) के पाषाण स्तम्भों पर अशोक के प्रथम से षष्ट्म स्तम्भ-लेख अंकित हैं।

अशोक के सातों स्तम्भ लेख केवल दिल्ली में ही उपलब्ध हैं। इसी प्रकार सारनाथ, सांची, लुम्बिनी एवं निग्लीव के पाषाण स्तम्भों पर लघु स्तम्भ लेख' उत्कीर्ण है।

अशोक के ये शिलास्तम्भ अथवा 'लाट' स्थूलाकार या पिण्डाकार लम्बे, सुडौल, चिकने 'एकाश्म' हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि इस प्रकार के स्वतंत्र खड़े स्तम्भों की परम्परा भारतीय वास्तुकला की समस्त शैलियों में पाई जाती हैं। बौद्धों में इन पर अभिलेख खुदवाए गए तथा शीर्ष पर पशु प्रतीक बनवाए गए। मौर्यकालीन पाषाण-स्तम्भों का निर्माण का एक ही लम्बी शिला को 'तराश' कर किया गया और इसमें कहीं भी जोड़ नहीं है।

शैलकर्त्त-गुहाः अशोक के शासनकाल में दक्षिण एशिया की सबसे विशिष्ट और अति महत्वपूर्ण पत्थर निर्मित वास्तु कला परंपरा भी देखने को मिलती है। बिहार में गया के निकट बाराबार और नागार्जुनी पहाड़ियों में पत्थर निर्मित वास्तु कला की अनेक शृंखलाएं परिलक्षित हैं। उनमें अभिचित्रित अनेक अभिलेखों से यह पता चलता है कि वे कुछ आजीवक संन्यासियों, संभवतः जैन धर्म के अनुयायियों को निवास हेतु दी गईं थीं। पुरातात्विक दृष्टिकोण से वे भारत में पत्थर निर्मित वास्तुकला शैली का एक प्रारंभिक उदाहरण हैं। तत्कालीन युग में बनने वाले लकड़ी और घासफूस के ढांचों का वे प्रतीक हैं। सुदामा और लोभास ऋषि गुफाएं दो प्रसिद्ध ऋषि आश्रम थे। उन गुफाओं में प्रवेश द्वार के साथ-साथ वृत्ताकार कमरे, गोलाकार छत और गोलीय कोठरियां बनीं होती थीं।

स्तूपः अशोक के शासनकाल के पहले भी भारत में स्तूप जैसी चीजें ज्ञात थीं। मूलरूप से वैदिक आर्यो ने ईंटों और साधारण मिट्टी से उनका निर्माण किया था। मौर्य काल के पहले इस तरह के स्तूपों के उदाहरण नहीं मिलते हैं। अशोक के शासन काल में बुद्ध के शरीर को ध्यान में रखकर स्मृति चिन्हों का निर्माण किया गया और यही स्तूप पूजा के साधन बने। बौद्ध कला और धर्म में स्तूप को भगवान बुद्ध के स्मृति चिन्ह के रूप में स्वीकार किया गया। स्तूप अंदर से कच्ची ईंटों से तथा बाहरी खोल पक्की ईंटों से बनाये गये और फिर उनमें हल्का प्लास्टर चढ़ाया गया। स्तूप को ऊपर से लकड़ी अथवा पत्थर की छतरी से सुसज्जित किया गया और प्रदक्षिणा के लिए चारों ओर लकड़ी का मार्ग भी बनाया गया।

यद्यपि स्तूप निर्माण का संबंध बौद्ध धर्म से जोड़ा जाता है किंतु इसकी परम्परा प्रायः वैदिक काल में आरम्भ हो गई थी क्योंकि ऋगवेद में 'स्तूप' शब्द

दो बार आया है। शुक्ल युजुर्वेद तथा शतपथ ब्राह्मण में समाधि के ऊपर मिट्टी का ऊंचा-टीला बनाने के स्पष्ट उल्लेख हैं। ऐसे मिट्टी के टीले (समाधि) महापुरुषों की मृत्यु के पश्चात् 'भस्म अवशेषों' को भूमि के नीचे गाड़कर निर्मित किए जाते थे। बौद्ध साहित्य में स्तूप शब्द का प्रयोग 'मृतदेह के भस्मावशेषों' के ऊपर निर्मित समाधि के अर्थ में हुआ है। कालान्तर में स्तूप शब्द बुद्ध तथा उनके प्रमुख अनुयायियों के जीवन की किसी घटना विशेष से संबंधित स्थान उस स्मृति को जीवित रखने के उद्देश्य से **स्मारक** रूप में निर्मित किए जाने लगे। बौद्ध परम्परा के अनुसार सम्राट अशोक ने प्राचीन स्तूपों से बुद्ध की 'शरीर-धातु' निकलवा कर उसके ऊपर 84,000 स्तूपों का निर्माण करवाया था, परंतु यह कथन स्पष्टतः अतिरंजित प्रतीत होता है। चीनी यात्री ह्वेनसांग ने तक्षशिला, श्रीनगर, थानेश्वर, मथुरा, कौशाम्बी, श्रावस्ती, कपिलवस्तु, कुशीनगर, वाराणसी (सारनाथ), वैशाली एवं गया आदि विभिन्न स्थानों पर अशोक द्वारा निर्मित स्तूप देखे थे।

मौर्यकालीन स्तूपों में अशोक द्वारा निर्मित अधिकांश स्तूप नष्टप्राय हो चुके हैं। इनमें सारनाथ का 'धर्मराजिका स्तूप', भरहुत, सांची तथा बोधगया के स्तूप, मूलतः, अशोक द्वारा निर्मित माने जाते हैं। सारनाथ के धर्मराजिका स्तूप का भग्नावशेष अशोक स्तम्भ के समीप ही विद्यमान है जिसके चारों ओर 'मनौती स्तूप' निर्मित है। सारनाथ का ईंटों का बना गोलाकार मौर्यकालीन स्तूप लगभग 60 फुट व्यास का रहा होगा और यह स्तूप एक-दूसरे के ऊपर क्रमशः छः बार आच्छादित किया गया था।

मौर्यकालीन लोक कला (Folk Art)

मौर्ययुगीन कलाकारों ने तत्कालीन सामाजिक एवं धार्मिक जीवन से संबंधित ऐसे महत्वपूर्ण लोकप्रिय शिल्प का भी सृजन किया है जिसके अंतर्गत विशालकाय 'यक्ष-यक्षिणी' प्रस्तर मूर्तियां, मृण्मूर्तियां मनके एवं मृतपात्र विशेष रूप से उत्तरी काले-चमकीले मृतपात्र उल्लेखनीय हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि मौर्यकाल में मूर्ति शिल्प का समुचित विकास हुआ था जिनमें विशालकाय यक्ष-यक्षिणी पाषाण मूर्तियां कलात्मक दृष्टि से महत्वपूर्ण मानी जाती हैं। सम्भवतः यक्षों की मूर्तियां मथुरा से शिशुपालगढ़ (ओडीशा) वाराणसी से विदिशा एवं पाटलिपुत्र से शूरपारक तक के विस्तृत क्षेत्र में पाई गई है।

मथुरा के अतिरिक्त पटना से प्राप्त दो पक्ष प्रतिमाएं, राजघाट से प्राप्त 'त्रिमुख यक्ष' प्रतिमा तथा विदिशा, पद्मावती (ग्वालियर, मध्य प्रदेश), शिशुपालगढ़ (ओडीशा) तथा कुरुक्षेत्र (हरियाणा) से प्राप्त यक्ष-मूर्तियां परखम मूर्ति से साम्य रखती हैं। इसी प्रकार यक्षिणी की मूर्तियों में महरौली, पटना नगर के दीदारगंज से प्राप्त 'चामर-गहिणी यक्षी की प्रतिमा' तथा बेसनगर की यक्षी विशेष उल्लेखनीय हैं। ये यक्ष तथा यक्षी मूर्तियां 'लोक धर्म' की प्रमुख आधार थीं तथा इन्हें सर्वत्र देवी-देवताओं के रूप में पूजा करने की परम्परा थी।

उत्खननों में अहिच्छत्र, मथुरा, हस्तिनापुर, अतिरंजी खेड़ा, कौशाम्बी, भीटा, शृंगवेरपुर, राजघाट, बुलंदीबाग, कुम्रहार (पटना) एवं बसाढ़ आदि से मृण्मूर्तियां प्राप्त हुई हैं, जिनमें पशु-पक्षी के अतिरिक्त मानव-मूर्तियां भी सम्मिलित हैं। इन मानव-मूर्तियों में से कतिपय सांचे में ढालकर निर्मित की गई थीं। इन विभिन्न प्रकार की मृण्मूर्तियों से लोक कला एवं लोक जीवन पर विशेष प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

मृण्मूर्तियों की भांति मनके भी मौर्यकाल के महत्वपूर्ण अंश माने जाते हैं। कौशाम्बी, शृंगवेरपुर, राजघाट, वैशाली, कुम्रहार एवं चम्पा आदि पुरास्थलों के उत्खनन में मौर्यकालीन स्तर से गोमेद, रेखांकित करकेतन, तामडा प्रस्तर तथा मिट्टी के बने मनके प्राप्त हुए हैं। इनका आकार षड्ज, पंचभुजाकार, चतुरस्त्र, वृत्ताकार एवं बेलनाकार है तथा ये अधिक लोकप्रिय है तथा तत्कालीन समाज की रुचि के परिचायक हैं। इनमें से अधिकांश मनके कलात्मक दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं।

मौर्ययुगीन लोककला का मूल्यांकनः प्राचीन भारतीय इतिहास में मौर्यो का इतिहास बेहद महत्वपूर्ण रहा है। चंद्रगुप्त ने जिस बड़े साम्राज्य की नींव डाली, उससे देश की राष्ट्रीय संस्कृति पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा। अशोक के शासनकाल में तो एक नया सांस्कृतिक युग ही आया जिस दौरान कला के रूप और विषय में बहुमुखी समृद्धि आई। अशोक ने बड़े-बड़े लाटों पर बुद्ध के अहिंसा के संदेश लिखवाए, यह स्तम्भ देश के भिन्न भागों में प्राप्त है, और दर्शनीय हैं।

मौर्यकला के अभी दो रूप मिलते हैं एक तो सम्राट की इच्छानुसार निर्मित। चंद्रगुप्त के राजसभा और अशोक के स्तंभ इसके उदाहरण हैं। दूसरी लोककला

की वह शैली जो यक्ष-यक्षी की मूर्तियों में मिलती हैं। मौर्यकला परिवर्तन का संक्रांति काल था, जो काष्ठ-शिल्प से बदलकर पाषाण शिल्प में परिवर्तित हो गया। इसका प्रमाण मथुरा, ओडीशा, वाराणसी, विदिशा और पाटलीपुत्र से शर्परिक तक उन स्थानों से प्राप्त महाकाय यक्ष मूर्तियां हैं।

यह स्पष्ट है कि मौर्यकालीन लोककला की शैली का अपना निजी अस्तित्व था जिसने शुंग, कुषाण और गुप्त कला पर भी गहरा प्रभाव डाला। वैसा प्रभाव मौर्यकालीन राजकीय शैली पर संभवतः नहीं डाल सका। वर्तमान में हनुमान की बनी मूर्ति महाबलशाली आकृति में देखी जाती है। उत्तर भारत के कुछ अखाड़ों में बड़े आकार की मूर्ति बनाकर पहलवानों द्वारा पूजे जाने का प्रचलन है।

मौर्यकालीन लोक कला के अन्य अवशेषों में मृण्मूर्तियां हैं। कला पारसियों के अनुसार सभी प्राप्त मृण्मूर्तियां मातृदेवी की हैं। मातृदेवी की यह परम्परा सिंधु सभ्यता के बाद भी जारी रही। ऐसा समझा जाता है कि मौर्यकाल में मिट्टी से बनी मूर्तियां बनाने का श्रेय उन मध्यमवर्गीय परिवारों को है, जो शहर में रहते थे, क्योंकि पूजक बौद्ध एवं तीर्थंकर के बाद मातृदेवी की पूजा करते थे। मूर्ति हाथ से बनाई जाती थी।

पटना के बुलंदीबाग से प्राप्त मृण्मूर्तियों में एक नर्तकी की मूर्ति का विशेष महत्व है। नर्तकी का वेष एवं भाव केरल की कथकली नृत्य से साम्य रखता है। सिर के ऊपर अलंकृत अर्द्धचंद्राकार तश्तरी के समान शिरोभूषा, कमर से नीचे चौड़ा घाघरा, कमर में गहने, दायां हाथ बांह तक उठा हुआ, कान में कुण्डल मोटी चूड़ी पहने, मुड़ा हुआ हाथ सीने पर टिका है तो अपने आप में अनूठा है।

इस प्रकार प्राप्त सभी मृण्मूर्तियां मौर्य एवं शुंगकाल के सामाजिक स्वरूप एवं स्त्रियों की सौंदर्य विषयक मनोभावों को चित्रित करती हैं। प्राप्त मृण्मूर्तियों के मोहक स्वरूप को अभी भी देखकर दर्शक मंत्रमुग्ध हो जाएं तो कोई आश्चर्य नहीं। इस प्रकार देखा जाए तो मौर्य शिल्पियों ने उस सामाजिक परंपरा को ही अपनाया जो लोक व्याप्त थीं, उन्होंने प्रकृति को ही अपनी कला का लक्ष्य बनाया।

शुंग एवं सातवाहन युगीन कला

मौर्यों के बाद उत्तर भारत में (184 ईसा पूर्व) मुख्यतः सत्ता में शुंग रहे। सातवाहनों के पास दक्षिण पश्चिम क्षेत्र था। इन दोनों के शासनकाल में कला रचनात्मक गतिविधि के चरण में पहुंची, जिसने बौद्ध धर्म के सहारे और उसको मुख्य स्रोत

बनाते हुए घरेलू कलात्मक आंदोलन का एक साथ प्रतिनिधित्व किया। इस युग को प्रारंभिक कला के रूप में कला के इतिहास का दौर कहा जाता है।

मौर्ययुगीन बौद्ध मतावलम्बी दीर्घशासन-काल के उपरांत सनातन हिंदू धर्म को पुनः प्रतिष्ठापित करने के लिए 'शुंग-सातवाहन युग' सदैव स्मरणीय रहेगा। परंतु आश्चर्य का विषय है कि हिंदू धर्म के कुछ वास्तु-स्मारकों के अतिरिक्त अन्य सभी महत्वपूर्ण पुरावशेष बौद्ध-धर्म से ही संबंधित पाए गए हैं। इस युग की 'वास्तु-रचनाओं में भरहुत-स्तूप तथा सांची का महास्तूप स्थापत्य की दृष्टि से उत्तर-भारत के स्तूपों में सबसे प्राचीन एवं महत्वपूर्ण माने जाते हैं। इसी प्रकार दक्षिण-भारत में आंध्र प्रदेश के गुण्टूर जनपद में आंध्रकालीन अमरावती, नागार्जुनीकोण्डा, भट्टित्रोलु तथा कृष्णा जनपद के जगय्यपेटा एवं घण्टशाल स्तूप भी संरचना तथा कलात्मक दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। इसके अतिरिक्त अन्य प्रमुख स्तूपों में बोधगया तथा तक्षशिला का धर्मराजिका स्तूप भी अपनी वास्तुगत विशेषतः एवं ऐतिहासिक महत्व की दृष्टि से महत्वपूर्ण माने जाते हैं।

शुंग-सातवाहन युग की कला का प्रभाव उत्तर भारत के बोध गया, सांची और भरहुत में बौद्ध आश्रमों के प्रवेश द्वार और रेलिंग में स्पष्ट रूप से देखने को मिलता है, जिन्हें स्तूप कहा जाता है, तो पश्चिमी भारत में पीतल खोरा, कोण्डाने और भाजा में पत्थर निर्मित गुफा-आश्रमों के चिन्ह स्पष्ट परिलक्षित हैं। भारतीय कला क्षेत्र में कला का जो प्रारंभिक दौर है वह कला के विकास का रचनात्मक युग है, जिसकी नींव इस तरह से रखी गयी कि वह भारतीय वास्तु और शिल्प के उच्च बौद्धिक और शहरी स्तर के विकास में सहयोग कर सके। फिर भी कला के विकास का यह प्रारंभिक दौर सौंदर्यपूर्ण आंदोलन का युग रहा जो कुषाण के शासन काल में कला के विकास के महानतम युग में प्रविष्ट हुआ।

कुषाण काल

साम्राज्यवाद का कुषाण युग, इतिहास का एक महानतम आंदोलन रहा, यह उत्तर पूर्वी भारत तथा उत्तर पश्चिमी पाकिस्तान, (वर्तमान अफगानिस्तान) तक फैला था। ईसवीं की पहली शताब्दी से तीसरी शताब्दी के बीच कुषाण एक राजनीतिक सत्ता के रूप में विकसित हुए और उन्होंने इस दौरान अपने राज्य में कला का बहुमुखी विकास किया। भारतीय कला जगत का परिपक्व युग यहीं से प्रारंभ होता है।

कनिष्क-प्रथम, जो कुषाण राज परिवार का तीसरा सदस्य था, ने अपने शासन काल में पूर्ण रूप से आधिपत्य स्थापित किया और उसके शासनकाल में बौद्ध धर्म और बौद्ध कला, सांस्कृति गतिविधियों का बड़े पैमाने पर प्रचार-प्रसार और विकास हुआ। कुषाण शासनकाल में कुषाण कला के दो मुख्य क्षेत्र थे। कलात्मक गतिविधियों का केंद्र उत्तर-पश्चिम की काबुल घाटी के क्षेत्र का गांधार अंचल और पेशावर के आसपास का ऊपरी सिंधु क्षेत्र मथुरा में जहां हेलनी और ईरानी कला का विकास हुआ और उत्तर भारत में कुषाणों की शीतकालीन राजधानी भी भारतीय शैली की कला का प्रचलन रहा।

कुषाण कला की जो सबसे प्रमुख बात रही, वह यह थी कि उसने सम्राट को एक दैवीय शक्ति के रूप में ही प्रतिपादित किया। कई संदर्भों से इस बात को स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। उनमें एक उदाहरण तो कुषाण शासन काल के सिक्के हैं। इसके अतिरिक्त महत्वपूर्ण आश्रम हैं, जिनसे पता चलता है कि सम्राट को किस तरह दैवीय शक्ति के रूप में प्रचारित किया जाता था। पहले बौद्ध कलाकार अपनी कलाकृतियों में बुद्ध के अस्तित्व और उनकी उपस्थिति का ही मुख्यरूप से रेखांकन करते थे, वहीं कुषाण शासनकाल में बुद्ध को एक मानवीय रूप में प्रस्तुत किया गया। हालांकि अभी तक यह स्पष्ट नहीं है कि बुद्ध की पहली मूर्ति कहां बनी। अधिकांश भारतीय शिक्षाशास्त्रियों की राय है कि बुद्ध की पहली मूर्ति मूल रूप से मथुरा में ही बनायी गयी न कि गांधार में जैसा कहा जाता है।

गांधार शैलीः गांधार मूर्ति कला की सबसे उत्कृष्ट मूर्ति वह है जिसमें बुद्ध को एक योगी के रूप में बैठे हुए दिखाया गया था। एक सन्यासी के वस्त्र पहने, उनका मस्तक इस तरह से दिखायी दे रहा है जैसे उसमें आध्यात्मिक शक्ति बिखर रही हो, बड़ी-बड़ी आंखें, ललाट पर तीसरा नेत्र और सिर पर उभार। ये तीनों संकेत यह दिखाते हैं कि वह सब सुन रहे हैं, सब देख रहे हैं और सबकुछ समझ रहे हैं। यद्यपि बुद्ध के ये तीनों रूप विदेशी कला द्वारा भी प्रभावित हैं। बहरहाल शुद्धरूप से भारतीय प्रतीत होती यह मूर्ति यह दर्शाती है कि कला घरेलू और विदेशी तत्वों का मिलाजुला रूप है। गांधार क्षेत्र की कला में कला के जो महत्वपूर्ण तत्व हैं और उनकी जो शक्ति है वह उत्तर पश्चिमी भारत की बौद्ध कला में देखी जा सकती है और यह प्राचीन देवताओं का प्रतिनिधित्व एवं उनके

रूप दिखाती हैं। इसी तरह का प्रभाव खुदाई से निकले पत्थरों में भी देखा जा सकता है, यह पत्थर चाहे अपनी कलात्मक शैली या अपने दैवीय रूप को दिखाते हों लेकिन, उनका रोमन वास्तुकला से साम्राज्यवादी समय से ही गहरा संबंध रहा है, मूर्ति की स्थिति, शरीर का आकार और उसका वास्तु ढांचा स्पष्टतः रोमन मॉडल पर ही आधारित है।

गांधार स्थापत्य कला की अनेक कला कृतियां बुद्ध के जीवन काल से जुड़ी हुई हैं अथवा बुद्ध की अन्य भावभंगिमाओं को लेकर बनायी गयी हैं। बुद्ध की मूर्तियों में अधिकांशतः उन्हें हमेशा सन्यासी वस्त्रों में ही दिखाया गया है, जिनके बाल छोटे थे। बोधिसत्व अथवा बौद्ध सन्यासियों को शरीर के ऊपरी भाग में निःवस्त्र दिखाया जाता रहा जो लुंगी, गमछा और आभूषण पहने रहते थे, उनके बाल लंबे दिखाये गये हैं। एशिया की सभी बौद्ध कलाओं में, (बुद्ध, जिन्होंने ज्ञान प्राप्त कर लिया, अथवा बोधिसत्व, जो इस लक्ष्य की प्राप्ति के पथ पर थे) उक्त चीजें परिलक्षित हैं। भारतीय संदर्भ में गांधार की शैली एक अलग रंग लिये हुए है। गुप्त काल की बुद्ध मूर्तियों में आध्यात्मिक छवि का अभाव है तथापि यह कहना न्यायोचित होगा कि वे मूर्तियां, सुंदर, सुसज्जित एवं सजीवता लिये हुए हैं।

गांधार शैली के विकास के दो चरण हैं पहला पत्थर निर्मित मूर्ति कला का चरण तथा दूसरा महीन प्लास्टर निर्मित मूर्ति कला का चरण, जोकि चौथी शताब्दी में भी अनवरत रहा।

गान्धार स्थापत्य के प्राचीनतम स्मारक तक्षशिला तथा उसके समीपस्थ क्षेत्रों में प्राप्त हुए हैं। स्थापत्य की दृष्टि से तक्षशिला में सबसे महत्वपूर्ण स्तूप 'धर्मराजिका' था जिसे अब चीर स्तूप कहते हैं। यह गोलाकार स्तूप एक ऊंची मेधि पर निर्मित था जिसके चारों दिशाओं में चार सोपान बने हैं। इस स्तूप के निर्माण में प्रस्तर का प्रयोग किया गया है।

पश्चिमोत्तर भारत के गान्धार प्रदेश में जिस समय 'गांधार वास्तु शैली' का उद्भव हुआ, उस कालखण्ड के समकालीन शताब्दियों में मध्य दक्षिण भारत में ईंटों द्वारा निर्मित स्तूप, काष्ठ निर्मित चैत्यशाला तथा शैलकर्त्त विहारों का निर्माण बौद्ध-धर्म के हीनयान सम्प्रदाय की प्रचलित परम्पराओं के अनुरूप हो रहा था। परंतु इस क्षेत्र में एक भिन्न प्रकार का 'कला आंदोलन' प्रारम्भ हुआ। वास्तव में जो कला शैली आज गान्धार वास्तु के नाम से प्रसिद्ध है वह यवन,

पार्थियन, सीथियन, तथा भारतीय संस्कृतियों का मिश्रित स्वरूप है। अतः भारत की तत्कालीन बौद्ध कला भी इससे प्रभावित हुई क्योंकि उस समय तक वह जिस 'मानवकृति विहीन' केवल प्रतीकवादी शैली का अनुसरण कर रही थी उसे यथार्थ रूप में एक तर्कसंगत एवं वास्तविकतावादी शैली का नवीन आधार प्राप्त हो गया। परिणामस्वरूप 'बौद्ध वास्तु एवं मूर्तिकला' अपने नवीन कलेवर में विकसित हुई और बौद्ध धर्म को प्रतिष्ठापित करने में महत्वपूर्ण योगदान किया। इस क्षेत्र के बहुसंख्यक ध्वंसावशेषों से यह परिलक्षित होता है कि यहां कभी बौद्ध धर्म अपने चरमोत्कर्ष पर रहा होगा।

कुषाणकालीन गान्धार शैली का प्रमुख विषय था बुद्ध एवं बोधिसत्व की मूर्तियों का निर्माण। उल्लेखनीय है कि कई पाश्चात्य विद्वान बुद्ध-मूर्ति के प्रथम निर्माण का श्रेय गान्धार कला को ही देते हैं। उनका अभिमत है कि यूनानी प्रभाव के कारण गान्धार शिल्पियों ने सर्वप्रथम 'बुद्ध प्रतिमा' का आविष्कार किया तदन्तर समकालीन मथुरा कला में उसका अनुसरण किया गया, परंतु इस तथ्य की प्रामाणिकता पुष्ट साक्ष्यों के अभाव में संदिग्ध है।

गान्धार कला की विषय-वस्तु में बुद्ध एवं बोधिसत्व की मूर्तियों के अतिरिक्त प्रस्तर फलकों पर बुद्ध के जीवन तथा उनके धर्म संबंधी प्रमुख घटनाओं से मुक्त दृश्यों को रूपायित किया गया है। जैसे मायादेवी की लुम्बिनी यात्रा, बुद्ध जन्म, महाभिनिष्क्रमण, सम्बोधि, धर्म चक्र प्रवर्तन, महापरिनिर्वाण, बौद्ध देवी-देवता, माया, गौतमी, प्रजापति, ब्रह्मा, शक्र, मार, कुबेर आदि। यथार्थ रूप में गान्धार कला में बौद्ध कला का क्षेत्र अत्यंत महत्वपूर्ण एवं व्यापक है।

गान्धार शैली गान्धार क्षेत्र में पल्लवित एवं विकसित होने के कारण इस कला को 'गान्धार कला' कहा जाता है। इसके मुख्य केन्द्र नगरहार (आधुनिक जलालाबाद), हड्डा, बामियान, ओहिन्द, उद्भाण्ड (अफगानिस्तान) तथा पेशावर जिले के शाहजी-की-ढेरी, तख्ते-ए-बाही, पुरुषपुर, पुष्कलावती-चारसद्दा, सहरी-बहलोल, जमालगढ़ी, माणिक्याला (रावलपिण्डी जनपद) एवं तक्षशिला आदि थे।

गान्धार कला की विशेषताएं: • इस शैली का मुख्य विषय बुद्ध तथा बौद्ध धर्म संबंधी वृत्तातों का दृश्यांकन तथा ब्राह्मण एवं जैन धर्म संबंधी मूर्तियों का अभाव।

• यह यूनानी प्रभाव से उत्पन्न होने पर भी आंतरिक एवं बाह्य रूप से भारतीय है।

• इस शैली की मूर्त रचना में 'भूरे तथा स्लेटी' रंग के पत्थरों का प्रयोग किया गया है, यद्यपि चूने तथा बालू के मिश्रण से तैयार प्लास्टर से भी बुद्ध मूर्तियों की रचना की गई।

• गांधार शैली में ऊंचे घुटने तक के जूते, चुन्नटदार अधो वस्त्र, महीन सलवटों दार वस्त्र, विशेष महत्वपूर्ण हैं। इन यूनानी वस्त्रों को गौतमबद्ध, बोधिसत्व अथवा माया देवी की मूर्तियों पर देखा जा सकता है।

• बुद्ध को मूंछ युक्त प्रदर्शित करना गान्धार कला की विशिष्टता है, क्योंकि मथुरा अथवा किसी अन्य भारतीय शैली में बुद्ध की मूंछे नहीं बनाई गई हैं।

• विशिष्ट केश-विन्यास तथा बुद्ध के शीश पर घुंघराले बालों का चलन भी गान्धार कला में प्रारम्भ हुआ।

• गान्धार शैली के उदय के पूर्व 'भारतीय मूर्ति विधान' में प्रभा मण्डल का अभाव था, इसका स्पष्ट प्रयोग गान्धार शैली में ही प्रारम्भ हुआ।

• 'हेलेनिस्टिक कला' के प्रभाव के कारण बुद्ध प्रतिमा के शरीर सौष्ठव पर विशेष ध्यान के परिणामस्वरूप इन मूर्तियों की 'मुख-मुद्रा प्रायः भाव शून्य प्रतीत होती है।

• गान्धार कला की मूर्तियों की शैली भारतीय है परंतु इनके कलाकार यूनानी थे। इसलिए यह कला दो संस्कृतियों का मिश्रण है।

गान्धार शैली, कलात्मकता, शैली सामाग्री तथा अभिव्यक्ति के रूप में उत्कृष्ट एवं मौलिक है। बुद्ध की मूर्तियों में गान्धार शैली के सम्यक दर्शन होते हैं। बुद्ध की प्रतिमा में लक्षणों तथा भावों में अंतर मिलता है। चारसदा के समीप स्वार ढेरी से प्राप्त बुद्ध मूर्ति में प्रभामण्डल नहीं है। संभवतः बुद्ध की प्रतिमा में 'प्रभामण्डल' का निर्माण एवं संघाटी में सिलवटों का निरूपण हेलेनिस्टिक काल की यूनानी कला एवं रोमन कला के अनुकरण से आरंभ हुआ। उल्लेखनीय है कि गान्धार शैली के पूर्व भारतीय मूर्ति विधान में 'प्रभामण्डल' का प्रयोग उपलब्ध नहीं था।

कश्मीर स्थापत्य के प्राचीनतम खण्डहर हरवान तथा उष्कुर से प्राप्त हुए हैं। ये सम्भवतः गान्धार वास्तुशैली के अंतर्गत तख्त-ए-बाही में प्राप्त विहारों

के समान है। त्रिभुजाकार छज्जे तथा उनके नीचे बने त्रिदलीय मिहिराभ मंदिरों की पिरामिडीय आकार वाली छतें तथा खड़ी धारियों वाले स्तम्भ जो यूनानी शास्त्रीय कालीन या डोरिक व आयनिक स्तंभों की याद दिलाते हैं, जो इस शैली की विशेषताएं हैं।

पन्जीर नदी के तट पर बसे कपिशा कुषाणों की ग्रीष्मकालीन राजधानी थी और पुरातात्विक दृष्टि से यह अफगानिस्तान का सर्वाधिक प्राचीन एवं महत्वपूर्ण नगर है। यहां बहुत से दंत फलक प्राप्त हुए हैं। उत्खनन में हाथी दांत की कला-कृतियों के अतिरिक्त कनिष्क के प्रासाद क्षेत्र से कुछ शीशे एवं कांसे की कृतियां मिली हैं जिन पर यूनानी प्रभाव है।

तक्षशिला से प्राप्त अन्य वास्तु स्मारकों में 'जाण्डियाल का मंदिर' भी अपना प्रमुख स्थान रखता है। यह मंदिर दूसरी शताब्दी ईसा पूर्व का माना गया है तथा इसकी स्थापत्य रचना यूनानी वास्तु से प्रभावित है। इस मंदिर की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि इसके बरामदे के स्तम्भों के शीर्ष 'कोरिन्थियन शैली' के होकर 'आयोनिक' शैली के अनुरूप निर्मित हैं। इनकी स्तम्भ-नालें एक ही पत्थर में न बनाकर यूनानी ढंग से छोटे-छोटे बेलनाकार खण्डों को डमरुओं द्वारा जोड़कर निर्मित किए गए हैं।

मथुरा शैलीः ईसा काल की प्रथम तीन शताब्दियां मथुरा शैली मूर्तिकला का स्वर्णिम काल हैं। महायान बौद्ध धर्म के नये आदर्शों ने तत्कालीन मूर्ति शिल्पकारों को प्रेरित किया था। भारतीय पुरातत्वशास्त्रियों के अनुसार, बुद्ध मूर्तियों का निर्माण इस शैली के कलाकारों का महान योगदान है। इन मूर्तियों में प्रयुक्त पत्थर सफेद-लाल था, जो शताब्दियों तक अपनी उत्कृष्ट कलात्मक गुणवत्ता के रूप में विद्यमान रहा। यह शैली जैनों, ग्रीकों एवं रोमनों की शैलियों से भी प्रभावित थी। जैन शैली द्वारा प्रभावित एक स्तूप की रेलिंग में चित्रित एक आकर्षक महिला, की आकृति जो अत्यधिक आभूषणों से युक्त है, प्राचीन भारतीय कला की यादगार और उल्लेखनीय कलाकृति। सन्यास और धर्मपरायणता के संदर्भ में मठ की इन मूर्तियों में कहीं भी अश्लीलता और कामोत्तेजना की भावभंगिमा नहीं दिखाई देती है।

भारतीय कला के इतिहास, मथुरा की कुषाण कला में इसलिए अत्यंत महत्वपूर्ण है, क्योंकि उसने प्रतीकवाद और मूर्ति शिल्पवाद को अपनाया और

बाद में उसे स्वीकार कर लिया। उदाहरण के लिए, पहली बार मथुरा में देवी-देवताओं की मूर्तियों की रचना की गयी। बुद्ध मूर्तियों का प्रभाव चारों ओर फैला और चीन के कला केंद्रों तक पहुंचा। इस शैली की कुछ उल्लेखनीय कलाकृतियों में वेमा कदफीज और कनिष्क की मूर्तियां, महिलाओं के चित्र सहित अनेक रेलिंग स्तंभ, बैठे हुए कुबेर एवं ध्यानरत बौद्ध प्रतिमाएं, प्रमुख हैं।

आधुनिक काल के मथुरा जनपद का भौगोलिक क्षेत्र प्राचीन शूरसेन राज्य के नाम से प्रख्यात था। जिस प्रकार गान्धार क्षेत्र में विकसित कला को 'गान्धार कला' से सम्बोधित किया गया, उसी प्रकार मथुरा क्षेत्र में पल्लवित एवं विकसित कला को मथुरा कला कहते हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि कुषाणकालीन शिल्पी 'तक्षण कला' में अनुपम कौशल प्राप्त कर चुके थे, परिणामस्वरूप उन्होंने बुद्ध एवं बोधिसत्वों का ही मूर्तन नहीं किया अपितु समसामयिक वैष्णव, शैव-देवताओं, जैन-तीर्थंकरों तथा कुषाण वंशीय शासकों की मूर्तियों का भी निर्माण करके अपनी कला की सार्थकता सिद्ध करने में सफल रहे। मथुरा कला की मूर्तियों में सर्वधर्म समभाव के सिद्धांत को देखा जा सकता है। यथार्थ रूप में 'सहिष्णुता' इस कला की आत्मा कही जा सकती है। सम्भवतः यही मुख्य कारण है कि बौद्ध, जैन तथा ब्राह्मण धर्म की मूर्तियों को समान स्थान दिया गया है। यहां की मूर्तियां विशेषतया मथुरा, सारनाथ तथा कोलकाता के संग्रहालयों में सुरक्षित हैं।

मथुरा कुषाणकाल में 'बुद्ध एवं बोधिसत्व' की मूर्तियों के निर्माण के एक प्रधान केंद्र के रूप में लोकप्रिय हो गया था। संभवतः इसलिए यहां से निर्मित मूर्तियों की उत्तर, मध्य तथा पूर्वी भारत में मांग थी। पेशावर, कौशाम्बी, श्रावस्ती, सारनाथ, पटना, राजग्रह, सांची, लुम्बिनी तथा बंगाल प्रान्त के बेरचम्पा आदि स्थलों से प्राप्त मूर्तियां इसकी लोकप्रियता की परिचायक हैं। मथुरा तथा गान्धार शैलियों में बुद्ध की मूर्तियों का निर्माण सर्वप्रथम कहां हुआ? दोनों शैलियों से उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर यह मत प्रतिपादित किया जा सकता है कि बुद्ध तथा बोधिसत्व की प्रतिमाओं का निर्माण कार्य संभवतः दोनों कलाओं में साथ-साथ प्रारंभ हुआ।

मथुरा कला अपनी मौलिकता, सुंदरता तथा रचनात्मक विविधता एवं बहुसंख्यक सृजन के कारण भारतीय कला में विशिष्ट स्थान रखती है। मथुरा

कला में बुद्ध एवं बोधिसत्वों की प्रतिमाओं के साथ-साथ वैष्णव एवं शैव देवताओं तथा जैन-तीर्थंकरों एवं कुषाण वंशीय शासकों की मूर्ति निर्माण को भी इसमें समावेशित किया गया। ज्ञातव्य है कि इन सभी धर्मों से संबंधित ''विषय-वस्तुओं का चयन'' केवल धार्मिक आधार पर ही नहीं अपितु समसामयिक सामाजिक जीवन को भी शिल्पकारों ने अपने विषयों के अंतर्गत समुचित स्थान प्रदान किया है। इसके अतिरिक्त मथुरा कला में यक्ष-यक्षी नाग-नागी, एवं मही माता (मातृदेवी) जैसे श्रीलक्ष्मी, गजलक्ष्मी वसुधारा, अम्बिका, महिषासुरमर्दिनी एवं हारीति आदि सप्तमातृकाओं को भी समायोजित किया गया है।

मथुरा शैली की विशेषताएंः • सफेद चित्तिदार लाल पत्थर से निर्मित मूर्तियों का निर्माण हुआ, जो प्रस्तर भरतपुर एवं सीकरी में बहुतायत से मिलते हैं।

• गान्धार शैली में बैठी हुई बुद्ध-मूर्तियां पद्मासन अथवा कमलासन पर हैं जबकि मथुरा शैली में बुद्ध सिंहासनासीन हैं तथा पैरों के समीप सिंह की आकृति है।

• मथुरा शैली की मूर्तियों के 'मुख पर आभा' एवं प्रभामण्डल है तथा दिव्यता एवं आध्यात्मिकता की अभिव्यंजना विशेष उल्लेखनीय है।

• इस शैली में शरीर का धड़ भाग नग्न, वस्त्रहीन है। दाहिना हाथ 'अभय मुद्रा' में और वस्त्र सलवटों युक्त है।

• मथुरा शैली की एक विशिष्टता है कि इसकी मूर्तियां 'आदर्श प्रतीक' भाव युक्त हैं।

• इस शैली की मूर्तियां विशालता के लिए विख्यात हैं।

• मथुरा शैली की मूर्तियां पृष्ठालंबन रहित, बनावट गोल तथा 'मस्तक मण्डित हैं मस्तक ऊर्जा से अलंकृत एवं श्मश्रु रहित है।

• मथुरा कला में भाव की कल्पना एवं अलंकरण की नीति सर्वथा भारतीय है।

• जैन तीर्थंकर, बुद्ध, बोधिसत्व एवं कुछ ब्राह्मण धर्म के देवी-देवताओं का प्रथम बार अंकन हुआ है।

ऐसा प्रतीत होता है कि कुषाण काल में 'सप्तमातृका पूजा' के रूप में देवी के विविध अवतारों को भी मान्यता प्राप्त थी। तद्नुसार धार्मिक आचार्यों ने उसकी नवीन व्याख्या प्रस्तुत की और मथुरा शिल्पियों ने 'सप्त-मातृका' की कल्पना

को मूर्तिरूप प्रदान किया। इनमें ब्रह्मा की वाराही, नृसिंह की नरसिंही तथा यम की चामुण्डा विशेष उल्लेखनीय है। प्रारम्भिक काल में ये बिल्कुल सादी दिखलाई गई परंतु कालान्तर में इन्हें 'मातृका-पट्टों' में आयुध एवं वाहन के साथ अंकित किया जाने लगा। इस प्रकार मथुरा कला में कुषाण-युगी शिल्पियों ने लक्ष्मी, गजलक्ष्मी, महिषमर्दिनी दुर्गा, हारीति एवं सप्त-मातृकाओं की बहुसंख्यक मूर्तियों का अंकन किया।

जैसाकि इससे पूर्व यह उल्लेख किया गया है कि मथुरा कुषाणकाल में धार्मिक सहिष्णुता का एक अद्वितीय केंद्र था। यहां के प्रतिमा फलकों में उत्कीर्ण अर्द्धनारीश्वर, चतुर्भुजी विष्णु, गजलक्ष्मी एवं कार्तिकेय की प्रतिमाएं इसकी परिचायक हैं। मथुरा कला के अध्ययन से यह भी प्रमाणित होता है कि कुषाण काल में जैन, बौद्ध एवं ब्राह्मण धर्मों के मतावलम्बियों में कितना पारस्परिक सौहार्द था। अतएव यह कहना अप्रासंगिक नहीं होगा कि मथुरा की मूर्तिकला अपनी मौलिक उद्भावनाओं, सामंजस्य, प्रवणता तथा चारुत्व की विविधता के कारण भारतीय कला में अपना विशिष्ट स्थान रखती है। इसे सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की 'परिचायिका' के रूप में स्वीकार किया जा सकता है।

गुप्त कालः महान युग

भारतीय कला के इतिहास में गुप्त काल को इसलिए महान युग कहा जाता है क्योंकि कलाकृतियों की संपूर्णता और परिपक्वता जैसी चीजें इससे पहले कभी नहीं रहीं। इस युग की कलाकृतियां, मूर्तिशिल्प, शैली एवं संपूर्णता, सुंदरता, एवं संतुलन जैसे अन्य कला तत्वों से सुसज्जित हुईं।

गुप्त धर्म से ब्राह्मण थे और उनकी भक्ति विशेष रूप से विष्णु में थी, किंतु उन्होंने बौद्ध धर्म और जैन धर्म के लिए भी उदारता दिखायी। पौराणिक हिंदू धर्म में तीन देवता हैं विष्णु, शिव एवं शक्ति। शिव के प्रति उनमें विशेष अनुराग था यानी शिव अग्रणी देवता थे। यद्यपि दक्षिण और दक्षिण पूर्व में शैववाद का विकास हुआ तथा दक्षिण-पश्चिम मालाबार के कुछ भागों में एवं पूर्वी भारत में शक्तिवाद का विकास हुआ। कृष्ण पर आधारित वैष्णववाद था जो मुख्यतः भारत के उत्तरी एवं मध्यम भाग में केंद्रित रहा। इन सभी धार्मिक देवताओं की पूजा सब जगह होती रही और उनके मंदिर एवं उनकी मूर्तियां सब जगह प्रतिष्ठापित हुईं।

मंदिर शैलीः नागर, द्रविड़ एवं वेसर

देवी-देवताओं की मूर्तियों को रखने के स्थान मंदिरों की स्थापना संभवतः ईसापूर्व की दूसरी शताब्दी में हुई। ईसा पूर्व की दूसरा सदी में हुए उत्खनन में मिले देवगृह को देखकर पता चलता है कि वह बेहद छिन्न-भिन्न था। वह अत्यंत शीघ्र खत्म होने वाली वस्तुओं से बना था। उनमें वास्तुकलात्मक सिद्धांतों के पालन की गुंजाइश कम थी। यह गुप्त काल था, जब भवनों के निर्माण में ईंटों और पत्थरों का प्रयोग होना प्रारंभ हुआ। गुप्त काल में ही भारतीय मंदिरों का निर्माण कार्य भी प्रारंभ हुआ। उस दौरान प्रयोग के तौर पर दो प्रमुख शैलियों का ही प्रयोग किया जाता था।

गुप्त काल के मंदिर मुख्यतः पांच प्रकार के होते थे। (i) समतल छत और कम ऊंचे खंभों वाले चौकोर भवन जैसे मंदिर उदाहरणतः ऐरान के विष्णु और वाराह मंदिर और तिगावा का कंकाली देवी मंदिर। इन मंदिरों के केंद्र यानी गर्भगृह में एक प्रवेश द्वार और एक मंडप होता था। (ii) प्रथम शैली के बने मंदिरों में एक चीज और जोड़ दी गयी प्रदक्षिणा उदाहरणार्थ भूमारा (म.प्र.) का शिव मंदिर तथा ऐहोल का लाधखान (iii) कम और समतल शिखरों वाले चतुर्भुज मंदिर जैसे दसावतार मंदिर (झांसी के देवगढ़ में बना पत्थर का मंदिर) एवं भीतरगांव (कानपुर जिले) के ईंट के मंदिर। इन मंदिरों का आधार एक ऊंचा चबूतरा होता है और उसके ऊपर महलनुमा विशाल मंदिर का निर्माण किया जाता है। (द्वितीय और तृतीय शैली के मंदिर में कई मंजिले और शिकारा शैली के मंदिरों का निर्माण उत्तर और दक्षिण दोनों भागों में एक साथ हुआ) (iv) आयताकार मंदिर जिनकी छत्त गोलाकार होती थी। जैसे सेजारला (कृष्णा जिले) में कपोतेश्वर के मंदिर। (v) गोलाकार मंदिर जो आयताकार स्वरूप लिये हुये होते थे इस तरह के मंदिरों का एक उदाहरण बिहार के राजगीर का मनियार मठ है। (चतुर्थ एवं पंचम शैली के मंदिर प्रारंभिक अवस्था के अवशेष के रूप हैं और उनके बाद के मंदिरों के विकास में कोई खास प्रभाव नहीं दिखायी देता।)

नागर एवं द्रविड़ शैलीः *शिल्पशास्त्र* भौगोलीकरण के हिसाब से तीन तरह की शैलियों को मान्यता देता है नागर, द्रविड़ एवं वेसारा। नागर-उत्तरी क्षेत्र, द्रविड़ दक्षिण, वेसारा-विंध्यास एवं कृष्णा के बीच का क्षेत्र। ये मंदिर वस्तुतः अपने भौगोलीकरण के आधार पर नहीं बने हैं, बल्कि अपने-अपने क्षेत्र की प्रचलित शैली का ही संकेत करते हैं। वस्तुतः तीनों शैलियां आगे चलकर दो में ही बदल गयीं नागर और द्रविड़।

नागर शैली के मंदिर चौकोर रूप लिये होते थे। वे देखने में अलग तरह के

प्रतीत होते थे, बाहर से भी उनमें अनेक उभार हैं। *रथाकाश* प्रत्येक उभार के मध्य भाग एक अनोखा स्वरूप लिये हुए हैं। शिकारा भी इनमें इस तरह से उत्कीर्ण कर उभारा गया है जो अंदर की ओर प्रतीत होता है और अमलका के चारों ओर अंडाकार परत है। इस प्रकार इस शैली की जो दो प्रमुख विशेषताएं हैं उनमें एक उसका अनोखा आधार बनाने की योजना है और दूसरा वक्रीय शिकारा है।

द्रविड़ शैली में गर्भगृह परिक्रमा कक्ष के भीतर स्थित हैं और पिरामिड आकार के शिखरों को विभिन्न स्वरूपों और आकारों में कई मंजिलों में बनाया गया है। भारत में मंदिर निर्माण वास्तुकला मध्य काल के आखिर में अंतिम और पूर्ण चरम बिंदु पर पहुंची। इसमें एक विशेषता उभर कर सामने आयी वह थी मूर्तिकला और वास्तुकला की दृष्टव्यता। इसका निर्माण उच्चतम तकनीकी दक्षता के साथ किया गया था। यद्यपि द्रविड़ शैली वंशानुगत पनपी, पर नागर शैली ने बड़े पैमाने पर अपनी जगह बनायी। यह शैली क्षेत्रवार तो विकसित हुई ही, साथ ही प्रत्येक क्षेत्र नें अपनी-अपनी खुद की तकनीक और दक्षता से इसका विकास किया। दक्षिण अथवा भारतीय मंदिर मिश्रित शैली के बने मंदिरों के रूप में जाने जाते हैं। उन्होंने नागर और द्रविड़ दोनों शैलियों से अपने लिए आकार और स्वरूप के तत्वों को अपनाया।

भारतीय कला में स्थापत्य का सभी काल-खण्डों में विशिष्ट स्थान रहा है। सामान्यतः स्थापत्य को ही वास्तुकला अथवा वास्तुशिल्प की संज्ञा दी जाती है। गुप्तकाल में चूंकि कला का सर्वतोमुखी विकास हुआ, स्थापत्य कला का क्षेत्र भी इससे वंचित नहीं रहा। वास्तव में स्थापत्य कला के क्षेत्र में जितनी तीव्र एवं व्यापक गतिविधि इस काल में देखने को मिलती है, वैसे न तो इससे पूर्व और न ही इसके बाद के युग में दृष्टिगोचर होती है। गुप्तकला की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि यह कला-आंदोलन किसी एक क्षेत्र विशेष में सीमित न होकर सम्पूर्ण भारत तथा भारत की सीमाओं के बाहर दूरस्थ क्षेत्रों तक पल्लवित एवं विस्मृत हुआ। यथार्थरूप में इस काल में राजनैतिक स्थिरता तथा आर्थिक समृद्धि से संस्कृत साहित्य की प्राणभूत 'स्थापत्य कला' को एक नई राष्ट्रीय दिशा के साथ सार्वभौम समृद्धि प्राप्त हुई, परिणामस्वरूप इस युग ने एक गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया।

गुप्तकालीन वास्तु के सूक्ष्म अनुशीलन से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि वास्तु रचना के दोनों ही पक्षों सौंदर्य तथा शिल्प में नवीनतम एवं सृजनात्मकता का सूत्रपात हुआ। सौंदर्यशीलता के संदर्भ में यह कहा जा सकता है कि इस काल

में नव-कल्पनाओं एवं अपूर्व प्रतिमानों का अभ्युदय हुआ तथा अपरिमित सृजनशीलता को प्रश्रय मिला।

गुप्तकालीन समस्त वास्तु-रचनाओं को उनमें प्रयुक्त भवन-सामग्री के आधार पर तीन श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है (i) ईंट निर्मित स्थापत्य; (ii) गढ़े पत्थरों से निर्मित स्थापत्य; तथा (iii) शैलकृत गुहा वास्तु। इन तीनों ही माध्यमों में हिंदू तथा बौद्ध धार्मिक भवनों का निर्माण हुआ। इसके अतिरिक्त गुप्तकालीन स्तम्भों में कीर्तिस्तम्भ, ध्वजस्तम्भ एवं स्मारक स्तम्भ भी उल्लेखनीय है।

ईंट निर्मित स्थापत्यः गुप्तकालीन 'ईंट-निर्मित वास्तु' को मुख्यतया दो भागों (i) हिंदू देवालय; एवं (ii) बौद्ध चैत्य, विहार एवं स्तूप। वास्तव में गुप्तकालीन ईंट-निर्मित मंदिरों की संख्या कम है। इनमें से प्रमुख रूप से भीतरगांव का विष्णु मंदिर, सिरपुर मंदिर समूह, अहिच्छत्र के ध्वस्त मंदिर तथा तेर के मंदिर उल्लेखनीय हैं। ईंट निर्मित स्थापत्य की अपनी भी कुछ विशेषताएं हैं। गुप्तकाल तथा उसके आस-पास निर्मित स्मारकों में निर्माण संबंधी गुणवत्ता का पूरा ध्यान रखा गया है एवं कल्पना का सहारा लेकर सभी सम्भव प्रयोग भी किए गए हैं। सांचों में ढालकर तैयार की गई समतल एवं सपाट ईंटें जुड़ाई के समय अच्छी तरह एक-दूसरे पर बैठ जाती थी। जुड़ाई के लिए मिट्टी के पतले पलस्तर का प्रयोग किया गया है जिससे ईंट प्रायः एक-दूसरे से सट गई हैं। जुड़ाई के पलस्तर में चूने के प्रयोग का यद्यपि शिल्पियों को ज्ञान था परंतु इस विधि का प्रयोग सीमित है।

दरवाजों और खिड़कियों के बीच छोड़े गए अंतरालों को पाटने के लिए तीन विधियों का प्रयोग किया गया है (i) काठ अथवा पत्थर का लिन्टल डालकर, (ii) रोड़ेदार विधि द्वारा, तथा (iii) ईंटों को मेहराब के सिद्धांत के अनुरूप एक दूसरे के सहारे टिकाकर। इसी प्रकार ईंट निर्मित स्मारकों में अंलकरण हेतु तीन विधियों का प्रयोग किया जाता था (i) प्रथम तकनीक के अनुरूप ईंटों की चुनाई के पूर्व आवश्यकतानुसार गढ़ लिया गया (ii) चुनाई के उपरांत निर्मित सतहों को छेनी-हथौड़ी से काट छीलकर अलंकरण किए जाते थे (iii) अंतिम तकनीक अलंकारिक रिलीफ गढ़तो मूर्तियों एवं सजावटी फलकों को गीली मिट्टी में ही अंतिम रूप देकर पका लिया जाता था तथा चुनाई के समय उन्हें यथा स्थान

दीवारों में स्थित कर दिया जाता था। कभी-कभी स्टक्कू पलस्तर द्वारा भी सीधे तौर पर किए गए 'अलंकरण' पाए गए हैं। सम्पूर्ण उत्तर-भारत के अनेक स्थानों से गुप्तकालीन 'पकाई मिट्टी' की प्रचुर मात्रा में मूर्तियों का प्राप्त होना यह प्रमाणित करता है कि इन स्थलों पर कभी पकाई ईंटों के अनेक मंदिर रहे होंगे। उत्खननों में कौशाम्बी, सारनाथ श्रावस्ती, वैशाली तथा नालन्दा आदि स्थलों से ईंटों के बने गुप्तकालीन 'स्तूप' एवं विहारों के अवशेष प्राप्त हुए हैं जो तत्कालीन स्थापत्य-पर प्रकाश डालते हैं।

गढ़े हुए पाषाण खण्डों से निर्मित स्मारकः ईंट निर्मित वास्तु के अतिरिक्त इस काल खण्ड में गढ़ कर तैयार किए गए पाषाण खण्डों को एक के ऊपर एक रखकर भवनों का निर्माण किया गया। इस तकनीक का प्रयोग हिंदू तथा बौद्ध दोनों प्रकार के स्थापत्य स्मारकों में किया गया। यद्यपि यह परम्परा गुप्तकालीन शिल्पियों के लिए नवीन नहीं थी। परंतु इस युग में पाषाण खण्डों को छील-तराश तथा उत्कीर्ण कर चिनाई-विधि का प्रचुर प्रयोग मंदिर वास्तु में परिलक्षित होता है। वास्तव में ब्राह्मण-धर्म के पुनरुत्थान के परिणामस्वरूप मंदिर स्थापत्य को विशेष प्रोत्साहन प्राप्त हुआ और भिन्न देवालयों में विभिन्न मूर्तियां स्थापित की गई, परंतु सभी मंदिरों की वास्तुकला में समता दिखलाई पड़ती है।

गुप्तकालीन मंदिर स्थापत्य की सामान्यतः विशेषताएं इस प्रकार हैं (i) सभी मंदिरों की स्थापना ऊंचे चबूतरों पर की जाती थी।

(ii) मंदिरों के ऊपर चढ़ने के लिए चारों दिशाओं में सोपान का प्रावधान होता था।

(iii) प्रारंभिक मंदिरों की छतें चपटी होती थीं परंतु बाद के गुप्तकालीन मंदिरों में शिखर का प्रादुर्भाव सामान्यतः दृष्टिगोचर होता है।

(iv) सभी मंदिरों की बाहरी दीवारें सादी होती थीं।

(v) गर्भ-गृह में सामान्यतः एक ही द्वार रहता था जिसमें मूर्ति की स्थापना होती थी।

(vi) इन मंदिरों के 'द्वार-स्तम्भ' अलंकृत थे तथा द्वारपाल के स्थान पर गंगा-यमुना की मूर्तियों को स्थान दिया गया है।

(vii) गर्भगृह के चारों तरफ 'प्रदक्षिणापथ' बनता था जो छत से ढका रहता था दर्शनार्थी सीढ़ियों द्वारा सर्वप्रथम इसी स्थान पर आते थे तदंतर गर्भगृह में प्रवेश करते थे।

(viii) गुप्तकालीन मंदिरों के स्तम्भों के सिरे पर एक 'वर्गाकार प्रस्तर' रहता था जिन पर सिंहों की चार मूर्तियां रहती थीं।

शैलकर्त्त गुहा वास्तुः गुप्तकालीन स्थापत्य का एक महत्वपूर्ण पक्ष शैलकर्त-गुहाएं भी हैं। वास्तव में मौर्यकाल में गुहा-भवनों का जो कार्य शिल्पकारों ने आरंभ किया वह तकनीक इस युग में अपनी चरम सीमा पर पहुंच गई थी। नवीन प्रतिमानों के आविष्कार, चिंत्राकन की कोमलता, खुदाई की सूक्ष्मता, कल्पनाशील-सृजन तथा संयोजन की सुंदरता कतिपय ऐसे वास्तु पक्ष हैं जिनमें इस काल खण्ड के शिल्पियों को अकल्पनीय दक्षता एवं कौशल की उत्कृष्टता परिलक्षित होती है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस युग में प्रायः एक ही केंद्र पर हिंदू तथा बौद्ध दोनों धर्मो से संबंधित गुहा-भवनों का निर्माण बिना किसी द्वेष भाव के निरंतर चलता रहा।

अध्ययन की दृष्टि से गुप्तकालीन शैलकर्त्त गुहाओं को दो वर्गो में विभाजित किया जा सकता है (i) हिंदू धर्म से संबंधित गुहायें, (ii) बौद्ध धर्म की शैलकर्त्त गुहाएं।

उदयगिरि की गुहाएं हिंदू धर्म से संबंधित हैं। यह स्थान सांची से 3 कि.मी. तथा बेसनगर से 3.25 कि.मी. की दूरी पर हैं। यहां की गुहा शृंखला में गुफा संख्या-1 सबसे प्राचीन मानी जाती है इसकी छत स्वतः प्राकृतिक पर्वत के निकले हुए अग्रभाग से बनी है, जिसके सामने चार स्तम्भों वाला बरामदा विद्यमान है जो चिनाई करके निर्मित किया गया है।

उदयगिरी की दो शैलकर्त्त गुहाओं में गुप्त सम्राट चंद्रगुप्त द्वितीय के शासनकाल के अभिलेख अंकित हैं। इनमें से एक गुफा की भीतरी दीवार पर अंकित अभिलेख से ज्ञात होता है कि इसका निर्माण चंद्रगुप्त द्वितीय के सेनापति वीरसेन द्वारा हुआ था। शैलकर्त्त शैव-मंदिर के भीतर एक चौकोर गर्भगृह है जिसकी छत सपाट है। इसके सामने स्तंभों पर आधारित आयताकार अग्रमण्डप बनाए गए हैं। इस गुहा का वैशिष्टय यह है कि यह हिंदू मंदिर का प्राचीन रूप है।

उदयगिरी के हिंदू गुहा मंदिर अपने 'वास्तु विधान' में बौद्ध शैलकर्त्त गुहाओं से सर्वथा भिन्न हैं। क्योंकि बौद्ध गुफाओं की भांति सम्पूर्ण गुफा को चट्टान काटकर नहीं बनाया गया है। अपितु उसके भीतरी भाग के पर्वत को तराशकर निर्मित किया गया तथा मण्डप भाग के प्रस्तर खण्डों को चिनकर बनाने की विधि इन

गुफा मंदिरों की विशिष्टता मानी जाती है। इस समूह में बीना की गुफा भी एक महत्वपूर्ण शैलकर्त्त गुफा मानी जाती है। इस गुहा में अग्रमण्डप के चार सामान्य स्तंभों के अतिरिक्त दोनों ओर एक-एक लघु स्तम्भ बनाए गए हैं

गुप्तकालीन मंदिर शैलीः विदिशा के निकट **ऐरान** में एक वैष्णव क्षेत्र है, जो मंदिरों की एक महान शृंखला के रूप में स्थित है, उन मंदिरों में उत्कीर्ण मूर्ति कला गुप्त काल के दौरान विकसित की गयी थी। ऐरान (प्राचीन एराकाइना) में मिले अभिलेख, समुद्रगुप्त के शासनकाल से लेकर छठी शताब्दी के प्रारंभ में हूण आक्रमण के समय की कलात्मक गतिविधियों के दस्तावेज हैं। यहां मिली वाराह की एक वृहद् मूर्ति पांचवीं शताब्दी के प्रारंभ में ऐरान व उदयगिरि के मध्य कलात्मक विकास व मूर्ति कला के परस्पर संबंधों को दर्शाती है। जिसमें देवी देवताओं की शक्ति को पूरी तरह से शरीर के भाव और उसकी भंगिमा द्वारा प्रदर्शित किया गया है।

तिगवा का विष्णु मंदिरः मध्य प्रदेश के जबलपुर जिले में तिगवा नामक स्थान के ऊंचे टीले पर यह मंदिर स्थित है। गढ़े हुए पत्थरों से निर्मित यह मंदिर गुप्तकालीन स्थापत्य का एक सुंदर उदाहरण है। इसका निर्माण काल 5वीं शती का माना जाता है। गर्भगृह के सामने चार स्तंभों पर आधारित बाहर की ओर निकला हुआ एक अग्रमण्डप है। स्तम्भों के शीर्ष पर कलश या पूर्णघट एवं कलशों के ऊपर तीन भागों में विभक्त पीठिका है। वास्तव में गर्भगृह के प्रवेश द्वार में तीन शाखाएं हैं जिनमें अगल-बगल की पट्टियां ही पुष्पवल्ली से अलंकृत है।

यद्यपि तिगवा के विष्णु मंदिर में स्थापत्य की दृष्टि से सुरुचि का अभाव प्रतीत होता है परंतु इसका रूपाकार नूतनस्फूर्ति नवयौवन तथा नवीन चेतना की भावना से अनुप्राणित है।

देवगढ़ की गुप्तकालीन कलाः जैसाकि विदित है कि गुप्तकाल भारतीय कला इतिहास का स्वर्ण युग है और इसमें रचनात्मक कला का अद्वितीय प्रतिबिम्ब विद्यमान है। प्राचीन व्यापारिक मार्ग पर होने के कारण देवगढ़ समय-समय पर विभिन्न राजवंशों जैसे गुप्त, परमार, गुर्जर-प्रतिहार, चंदेल वंश के शासन के दौरान एक सक्रिय व्यापारिक एवं धार्मिक नगर के रूप में फला-फूला। वैसे तो देवगढ़ प्राचीन काल से मध्यकाल तक के भारतीय मूर्तिकला तथा वास्तुशिल्पीय वैभव की कई धाराओं को प्रभावित करता है, पर अपने दशावतार मंदिर के कारण

भारतीय कला इतिहास में इसका विशिष्ट स्थान है। उल्लेखनीय है कि इस देवस्थान में गुप्तकालीन मंदिर वास्तु एवं शिल्पकला के सभी परिपक्व लक्षण देखे जा सकते हैं।

देवगढ़ में गुप्तकाल के दो मंदिर, **दशावतार** एवं **वराह** विभिन्न भग्नावस्थाओं में हैं। देवगढ़ पहाड़ी पर स्थित **वराह मंदिर** अब पूर्णतया विनष्ट स्थिति में है। मंदिर के गर्भगृह में श्रीविष्णु की प्रतिमा उदयगिरी (मध्य प्रदेश) की गुफाओं में उत्कीर्ण गुप्तकालीन वराह की प्रतिमा जैसी ही थी। दुर्भाग्यवश अब केवल उस प्रतिमा के एक पैर का पंजा ही लुप्त गर्भगृह की पीठिका पर अवशिष्ट है।

दशावतार मंदिर का निर्माण पांचवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में तब किया गया था जब ब्राह्मणवाद का पुनर्जागरण अपने चरम पर था। आज मंदिर के जो हिस्से मौजूद हैं वे मूल भव्य मंदिर की एक छाया मात्र हैं, लेकिन वर्तमान में भी जो दृष्टिगोचर होता है वह अद्भुत है और गुप्तकाल की वास्तु एवं मूर्ति शिल्पकला का अप्रतिम उदाहरण है। गुप्तकाल के प्रारंभ में बने हिंदू धर्म स्थल भारतीय मंदिर वास्तुशिल्प के पूर्व चरणों की विशेषताओं को दर्शाते हैं। ये मंदिर लघु आकार के होते थे, जिनमें एक वर्गाकार गर्भगृह होता था। गर्भगृह के प्रवेश द्वार के सम्मुख लघु अनुपात वाले मण्डप निर्मित किए जाते थे। वे मूलतः पूजित प्रतिमा के धर्म स्थल होते थे, न कि भक्तों के एकत्र होने का स्थान। उनकी छत सामान्यतः चपटी होती थी। तिगवा, मध्य प्रदेश का 'कंकाली देवी मंदिर' एवं 'दर्रा-मुकन्दरा', राजस्थान का 'भीम का चौरी मंदिर' गुप्तकाल के प्रारंभ में निर्मित कुछ ऐसे ही उदाहरण हैं।

अन्य कई गुप्तकालीन मंदिरों की तरह दशावतार मंदिर गढ़े हुए बलुआ पत्थरों से बना हुआ है, जिसका प्रयोग स्वतंत्र मंदिर निर्माण की तकनीक में एक सुदृढ़ कदम था। इन पत्थरों को किसी गारे के बिना परस्पर जोड़ा गया है। यह मंदिर गुप्तकाल के प्रारंभिक काल में निर्मित (चपटे छतों एवं लघु अर्थ मण्डपों वाले) एवं मध्यकालीन उत्तर भारत में निर्मित (खजुराहो एवं कोणार्क जैसे उच्च शिखरों तथा विशाल मण्डपों वाले) हिंदू धर्म स्थलों के मध्य एक अनूठी कड़ी है। पंचायतन शैली में निर्मित इस मंदिर-प्रांगण में मुख्य मंदिर के चारों कोनों पर अन्य चार छोटे मंदिर बने हुए थे। इन लघु मंदिरों के अवशेष अब उपलब्ध नहीं हैं पर उनके आधार-चिन्ह अवश्य दिखाई देते हैं।

दशावतार मंदिर उत्तरी भारत में प्रायः देखे जाने वाले मंदिर-वास्तुशिल्प की शिखर (नागरा) शैली के अनुरूप सर्वप्रथम निर्मित मंदिरों में से एक है। इसी कारण इस मंदिर को भारतीय मंदिर निर्माण के वास्तुगत विकास क्रम में महान प्रगति का परिचायक माना जाता है। कला इतिहासकारों का मत है कि गुप्तकालीन शिल्पकारों ने पूर्व की कुछ शताब्दियों के दौरान प्रचालित धार्मिक प्रथाओं तथा प्रतिमा शास्त्र संबंधी विकास से प्रेरणा ली होगी। प्रतिमा विज्ञान कला के सुस्पष्ट स्वरूपों की विरासत के साथ गुप्तकालीन कलाकारों ने श्रीविष्णु से संबंधित पुराण कथाओं तथा अवतारों को दशावतार मंदिर की बाह्य दीवारों पर अत्यंत कलात्मकता से निरूपित किया था। मंदिर में विशेष रूप से श्रीविष्णु के दशावतारों को प्रदर्शित किया गया था, जिससे इसका नाम दशावतार मंदिर पड़ा।

गुप्तकाल के रचनात्मक उत्साह की लहर तथा इसके पीछे मौजूद गहन धार्मिक प्रयोजन को दशावतार मंदिर की मूर्तिकला में बखूबी अनुभूत किया जा सकता है। निःसंदेह देवगढ़ की शिलाकला की प्रकृति धार्मिक है तथापि सुखी-समृद्धि दैनिक जीवन के कार्यकलापों का चित्रण भी यहां परिलक्षित होता है।

देवगढ़ की शिल्पकला में लोक विश्वास एवं सौंदर्यपरक दर्शन का निदर्शन कराती यहां की मूर्तियों में कलाकारों ने अपनी अथक् साधना से भौतिकता के बंधन से मुक्त शाशवत आनंद की स्थिति की अभिव्यक्ति की है। इन मूर्तियों में गुप्तकालीन मूर्तिकला की सभी उत्कृष्टताएं यथा सूक्ष्म गढ़ाई, स्पष्ट रूपरेखा, अर्द्ध-पारदर्शी एवं तनग्राही वस्त्र, अर्द्ध उन्मीलित नयन, तन की सुकुमारता, मुखमंडल पर अद्भुत ओज एवं मधुर मुस्कान, कटावदार पत्रलताएं इत्यादि सहज ही परिलक्षित होते हैं।

गुप्तकालीन मूर्तिकलाः गुप्तकाल में मूर्ति रचना के लिए प्रस्तर, धातु तथा मिट्टी का प्रयोग किया गया। मथुरा, पाटलीपुत्र एवं सारनाथ इस युग के मूर्ति-निर्माण के विशिष्ट केंद्र थे। परंतु यदि सारनाथ को उस समय की मूर्ति-निर्माण कला का 'यंत्रालय' कहा जाए तो कोई अतिश्योक्ति नहीं होगी। गुप्तकालीन मूर्तिकला में भद्रता, सौंदर्य एवं शालीनता का अद्भुत समन्वय दृष्टिगोचर होता है। वास्तव में शिलाशास्त्र तथा लोक परम्परा को आधार बनाकर इस युग में जो कला विकसित हुई, वह विशुद्ध भारतीय आदर्शों एवं परम्पराओं पर आधारित रही। कलाओं ने नग्नता के स्थान पर संयमित सौंदर्य की प्रधानता दी है जिसमें कला शैली

की सरलता और अभिव्यक्ति की सहजता दर्शनीय है। गुप्तकालीन सिद्धहस्त कलाविदों की अमर कीर्ति हिंदू प्रतिमा रचनाओं में परिलक्षित होती है, विशेषकर भगवान विष्णु तथा उनके अवतारों की मूर्तियां उल्लेखनीय हैं।

गुप्तकाल में विष्णु एवं शिव की प्रतिमाएं विशेष रूप से उपलब्ध हुई। किंतु इस काल में सूर्य की प्रतिमा अधिक संख्या में नहीं हैं। इस कालखण्ड में भगवती-दुर्गा का विशेष उल्लेख नहीं हैं परंतु भारतीय धर्म एवं संस्कृति में प्रकृति या ईश्वर के साथ शक्ति का संबंध अभिन्न माना गया है। देवी की शक्ति के रूप में उपासना गुह्यसूत्र एवं महाभारत काल में पूर्व का माना गया है। इससे स्वयं प्रमाणित होता है कि देवी दुर्गा की पूजा एक महान-शक्ति के रूप में अभीष्ट प्राप्त करने हेतु की जाती थी।

गुप्तकालीन हिंदू प्रतिमाएं जिन स्थानों से प्राप्त हुई हैं उनमें पहाड़पुर (राजशाही-उत्तर बंगाल) का महत्वपूर्ण स्थान है। यहां के मंदिर की दीवारों पर बनी रामायण एवं महाभारत की कथाओं के साथ 'राधा-कृष्ण' की मूर्ति विशेष उल्लेखनीय है। इन सुंदर एवं अद्‌भुत कृष्ण तथा राधा की मूर्तियों का वेश, अलंकरण एवं मुद्रा आदि का आकर्षक शिल्पांकन किया गया है।

गुप्त मूर्ति कला की सफलता प्रारंभिक मध्यकाल की प्रतीकात्मक छवि एवं कुषाण युग की कलापूर्ण छवि के मध्य निर्मित एक संतुलन पर आधारित है।

हिंदू, बौद्ध एवं जैन कलाकृतियां मध्य भारत सहित देश के अनेक भागों में पायी गयीं। ये मूर्तियां अपनी मूर्ति कला में अद्वितीय हैं। बेसनगर से गंगा की मूर्ति, ग्वालियर से उड़ती हुई अपस्राओं की मूर्तियां, सोंडानी से मिली हवा में लहराते गंधर्व युगल की मूर्ति, खोह से प्राप्त एकमुख लिंग, और भुमारा से अन्य कई प्रकार की मिली मूर्तियां उसी सुंदरता, परिकल्पना और संतुलन को प्रदर्शित करती हैं जैसाकि सारनाथ में देखा जाता है।

भगवान हरिहर (आधा शिव और आधा विष्णु) की मानवाकार प्रतिमा मध्यप्रदेश में मिली है। अनुमान है कि यह पांचवीं ईस्वी के पूर्वार्द्ध की रचना है। विष्णु का आठवां अवतार कहे गए कृष्ण की प्रतिमाएं भी 5वीं सदी ई. के आरंभिक काल से मिल रही हैं। वाराणसी से प्राप्त एक मूर्ति में उन्हें 'कृष्ण गोवर्धनधारी' के रूप में अंकित किया गया है। जिसमें उन्हें बाएं हाथ के सहारे गोवर्धन पर्वत उठाए दिखाया गया है जिसके नीचे वृंदावनवासी जल प्रलय से

बचने के लिए एकत्रित हुए थे। वह भयावह जलवृष्टि इंद्र ने भेजी थी, जो वृंदावनवासियों की अपने प्रति उपेक्षा से क्रोधित हो उठे थे।

भारतीय ललित कला के विकास में गुप्त शासकों का महत्वपूर्ण योगदान था, परिणामस्वरूप गुप्तकलाविदों ने अपने अभूतपूर्व कौशल से कला के क्षेत्र में एक नवीन युग का सूत्रपात किया। इसका साक्षात् दृष्टान्त हमें गुप्तकालीन प्रस्तर एवं धातु निर्मित बौद्ध मूर्तियों में स्पष्टतया परिलक्षित होता है। बौद्ध मूर्तिशास्त्र में सारनाथ बौद्धों का प्रधान तीर्थ स्थान माना गया है। उल्लेखनीय है कि गुप्तकालीन बौद्ध मूर्तियों में पांच मुद्राएं ध्यान मुद्रा, भूमिस्पर्शमुद्रा, अभय मुद्रा, वरद मुद्रा, तथा धर्मचक्र मुद्रा अधिकांशतः मिलती हैं।

सारनाथ संग्रहालय में बुद्ध की अनेक ऐसी खण्डित मूर्तियां हैं जिनमें सिर अथवा हाथ का अभाव है। गुप्तकालीन बुद्ध की बैठी हुई प्रतिमाएं सारनाथ कला केंद्र में विविध मुद्राओं में प्राप्त हुई हैं। भगवान बुद्ध ने बुद्धत्व प्राप्त करने के पूर्व 'सम्बोधि प्राप्त हेतु' जो अनेक अवतार धारण किए थे उन्हें बोधिसत्व कहते हैं। ऐसे बोधिसत्वों की प्रतिमाएं भी प्रस्तरों पर अंकित मिली हैं। इन मूर्तियों की विशेषता यह है कि इनका शरीर अलंकारों से सुशोभित पाया गया है।

बुद्ध की प्रतिमाएंः गुप्तकालीन मूर्तिशिल्प में बुद्ध धर्म का शांति आदर्श अत्यंत भव्यता से बुद्ध की मूर्तियों में अभिव्यक्त हुआ है। उनके चेहरे की भाव मुद्रा और मुस्कान उस परम समरसता की अनुभूति को दर्शाती है, जिसे उस महाज्ञानी ने प्राप्त किया था। इन मूर्तियों के शिल्प की हर रेखा में सौंदर्य और भाव का परम्परागत स्वरूप दर्शाया गया है। कायिक स्थिति, हस्त मुद्राएं और अन्य सभी लक्षण प्रवृत्ति-प्रतीकों के रूप में उपस्थित हैं मस्तक अंडाकार, भौंहे कमान जैसी, पलकें कमल की पंखुड़ियां, अधर आम्रफल की तरह, कंधों की गोलाई हस्तिशुण्ड जैसी, कटि सिंह की और उंगलियां फूलों जैसी।

सांची के विशाल स्तूप के प्रवेश द्वारों पर पांचवीं सदी में रखी गयी बुद्ध की चार प्रतिमाएं उस कोमलता, लालित्य और प्रशांति को दर्शाती हैं, जो समृद्ध और परिपक्व गुप्तकालीन शिल्प विधा की विशेषताएं हैं। बुद्ध की काया की रूपरेखाओं में दर्शित लालित्यपूर्ण अनुकूलन मूर्तिशिल्प के उस विकास क्रम को व्यक्त करता है, जिसे प्रारंभिक गुप्तकालीन कोणीय स्वरूप का अगला चरण कहा जा सकता है। बुद्ध की प्रतिमाएं मथुरा में भी मिली हैं, जो बौद्ध धर्म का सुसम्पन्न केंद्र रहा था। इनमें एक सबसे प्राचीन प्रतिमा 5वीं सदी ई. की है,

जो पूर्ववर्ती प्रतिमाओं के भारी आयतन अपनाने के बावजूद कुषाणकालीन आदिरूपों से कई दृष्टियों से भिन्न है। शाक्यमुनि की उत्कीर्ण उत्तिष्ठ मुद्रा में प्रतिमा पूर्णतः भिक्षु के परिधान में हैं, जिसकी तहें समानांतर छल्लों में दर्शित हैं। बुद्ध के सिर के पीछे प्रभामंडल भी बनाया गया है।

इस काल में बौद्ध मूर्तिशिल्प का एक अन्य सक्रिय केंद्र सारनाथ था, जहां बुद्ध की खड़ी और बैठी प्रतिमाएं बनाई गईं। सारनाथ में नए सौंदर्यपरक आदर्श का अधिक विकसित रूप दिखाई देता है। सारनाथ के खंडहरों में मिली बुद्ध की अपेक्षाकृत अधिक उभार वाली मूर्ति को गुप्तकालीन मूर्तिकला का सर्वसुंदर और भव्य प्रतिमान कहा जा सकता है। हल्के रंग के बलुई पत्थर से बनी इस प्रतिमा में बुद्ध को बैठकर अपना प्रथम उपदेश देते हुए दर्शाया गया है। प्रतिमा की पीठिका के नीचे घुटनों के बल झुके हुए दो भिक्षुओं को न्यायचक्र की पूजा करते दिखाया गया है। इस न्याय चक्र को बुद्धि का प्रतीक मानते हैं। सारनाथ की इस बुद्ध प्रतिमा में उत्कृष्टता से चित्रित प्रभामंडल इसकी विशेषता है।

पाल शैली

बिहार और बंगाल के पाल और सेन शासकों, के समय में (8 से 12वीं सदी) बौद्ध और हिंदू दोनों ने ही सुंदर मूर्तियां बनाईं। इसके लिए काले बैसाल्ट पत्थरों का प्रयोग किया गया। पाल शैली की विशेषता इसकी मूर्तियों में परिलक्षित अंतिम परिष्कार है   मूर्तियां अतिसज्जित और अच्छी पॉलिश की हुई हैं   मानो वे पत्थर की न होकर धातु की बनी हों। पाल शैली की प्रस्तर मूर्तियां नालंदा, राजगीर और बोधगया में मिलती हैं। मूर्ति शिल्प की दृष्टि से नालंदा कला के तीन चरण माने गए हैं   बुद्ध और बोधिसत्व की मूर्तियों का महायान चरण, सहजयान मूर्तियां और अंतिम कापालिक प्रणाली का कलाचक्र।

चालुक्य शैली

छठी शताब्दी ईसवी के मध्य से बादामी के चालुक्यों और आठवीं शताब्दी के मध्य में उन्हें प्रभावी रूप से ध्वस्त कर देने वाले राष्ट्रकूटों के साथ ही वेंगी के पूर्वी चालुक्यों ने ताप्ती और उत्तरी पेन्नार नदियों के बीच क्षेत्र में इस छोर से उस छोर तक अनेक गुफा मंदिर छोड़े हैं। वेंगी के चालुक्य एक सहवर्ती शाखा के थे, जिसने सातवीं शताब्दी के आरंभ से पुलकेशिन द्वितीय के साहसी भाई कुब्ज विष्णुवर्धन के अंतर्गत आंध्र तट पर स्वाधीन रूप से शासन करना आरंभ

कर दिया था और इस काल में अबाध रूप से शासन करते रहे। गुफा मंदिर बादामी, ऐहोल, एलोरा, भोकरदन, एलिफेंटा, जागेश्वरी, पूना, अर्वालेम (गोवा) माहुर, आद्विसोमनपल्ली, विजयवाड़ा, मोगुलराजापुरम, उंदवल्ली, सीतारामपुरम, पेनमागा और भैरवकोंडा में मिलते हैं। जबकि चालुक्य अधिकांशतया हिंदू मतानुयायी थे, फिर भी उन्होंने जैन मत को प्रोत्साहन दिया।

वेंगी में शासन करने वाली चालुक्यों की पूर्वी शाखा ने, नरम चट्टानों में उत्खनन करने के बावजूद अपने गुफा मंदिरों में एक अलग पद्धति और डिजाइन का अनुसरण किया, जिसमें पल्लव संबद्धताओं सहित पूर्वी आंध्र और उत्तरी तमिलनाडु या तौडेमण्डलम में जो कुछ प्रचलित था, शामिल किया गया, और इस प्रकार बादामी चालुक्यों द्वारा कन्नड़ परंपरा और संस्कृति के लिए जो कुछ किया गया, उसके विपरीत उन्होंने एक स्पष्ट आंध्र परम्परा का प्रारंभ किया।

मंदिर निर्माण की वेसारा शैली को ही चालुक्य शैली कहा जाता है। इसे कर्नाटक शैली भी कहते हैं, क्योंकि इसका विकास इसी क्षेत्र में हुआ था। किंतु इस शैली को मौलिक नहीं कहा जा सकता। यह पूर्ववर्ती द्रविड़ शैली की ही एक शाखा है, जिसमें कुछ परिवर्तन करने से इसे पृथक् शैली का रूप प्राप्त हुआ। इसका आरंभ 7वीं और 8वीं सदी के प्रारंभिक चालुक्य राजाओं के शासन काल में देखा जा सकता है। ऐहोल (प्राचीन आर्यपुर), बादामी और पट्टाडकाल में द्रविड़ और नागर मंदिर भी साथ-साथ बनाए जा रहे थे। इस तरह दोनों के सम्मिश्रण से एक नई संकर वास्तुशैली विकसित हुई।

द्रविड़ शैली की तरह चालुक्य मंदिरों में दो प्रमुख भाग होते हैं   'विमान' और 'मंडप', जिन्हें 'अंतराल' के माध्यम से आपस में जोड़ा जाता है। समय के साथ-साथ कई तलों वाले विमान छोटे होते गए। एक दूसरे के ऊपर बनी अलंकृत आकृतियां नागर शिखर की खड़ी पट्टियों की तरह हैं। द्रविड़ शैली के विपरीत चालुक्य मंदिरों में गर्भगृह के चारों ओर आच्छादित परिक्रमा पथ नहीं होता। मंदिर की बाहरी दीवारों पर किए गए अलंकरण में द्रविड़ और नागर वास्तु विचारों का समन्वय दिखाई देता है। विशिष्ट नागर शैली में रथ प्रतिकार, मंदिरों की दीवारों में अंतराल प्रस्तुत करते हैं तो निश्चित अंतरों पर भित्ति स्तंभों की उपस्थिति द्रविड़ अभिकल्पन का प्रभाव दर्शाती है। चालुक्य शैली के मंदिरों की एक विशेषता बाहरी सतहों पर समृद्ध त्रिआयामी अलंकरण है। मंदिर के अंतर्भाग

में स्तंभ, दरवाजों की चौखटें और छतों की अंदरूनी सतहों पर बहुत ही बारीक उत्कीर्णन है।

बादामी के निकट पट्टकदल में विरुपाक्ष मंदिर लगभग 70 ई. में बनाया गया था। यह कांची के कैलाशनाथ मंदिर की अनुकृति है और इसमें उच्च स्तरीय वास्तु कौशल दिखाया गया है। एलोरा का रामेश्वर गुफा मंदिर भी चालुक्य काल (7वीं शताब्दी) का है। गुफा के अंदर नृत्यलीन चतुर्भुज शिव उपस्थित हैं। इसी सदी में एलोरा में बने दशावतार गुफा मंदिर में एक अत्यंत सुंदर मूर्ति है, जिसमें हिरण्यकश्यप की मृत्यु दर्शाई गई है।

राष्ट्रकूट कला

753 ईस्वी में दक्कन में राष्ट्रकूट चालुक्यों के उत्तराधिकारी शासक बने। कृष्ण द्वितीय के काल में बना एलोरा का कैलाश मंदिर पत्थरों को काटकर मंदिर बनाने की वास्तुकला का सजीव व सशक्त उदाहरण माना जा सकता है। शिला को काटकर बड़ी बारीकी से बनाए गए मंदिर की समस्त खूबियां इसमें हैं।

संभवतः आठवीं सदी के उत्तरार्ध में पश्चिमी तट के निकट एक द्वीप पर एलिफेंटा के गुफा मंदिर का निर्माण किया गया था। यह मंदिर शिव को समर्पित था, जिनकी महेश के रूप में (त्रिमूर्ति के नाम से लोकप्रिय) बनी प्रतिमा भारतीय वास्तुकला के सर्वश्रेष्ठ नमूनों में गिनी जाती हैं। प्रतिमा के तीन मुख शिव को जनक, पालक और संहारक के रूप में दर्शाते हैं।

आठवीं शताब्दी के अंतिम चतुर्थांश के साथ आरंभ होने वाले इस आरंभिक काल के राष्ट्रकूट पक्ष पर आते हुए हमारे पास एक अच्छे उदाहरण के रूप में पट्टदकल के बाहरी भाग में स्थित अवशिष्ट जैन विमान मंदिर है। यह मूलभूत रूप से तिमंजिला संधार विमान है, आधार से शिखर तक वर्गाकार, जिसमें से नीचे के दो तल प्रकार्योचित हैं। स्तंभों पर उत्कीर्णन भी अपने मूल आकार और पुष्टता को खो चुके हैं और मात्र पारंपरिक आकारों में बदल गए हैं जैसे कि परवर्ती चालुक्य मंदिरों में मिलते हैं।

पल्लव कला

दक्षिण भारतीय स्थापत्य के प्राचीनतम उदाहरण पल्लव वंश कालीन हैं। ये आंध्र वंश के उत्तराधिकारी थे एवं कांचीपुरम इनकी राजधानी थी। पल्लव शैली का भारतीय स्थापत्य के इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि इससे ही दक्षिण

भारतीय स्थापत्य का प्रारंभ होता है। इसे कालक्रम एवं वास्तु सामाग्री की दृष्टि से दो भागों प्रथम काल (625-690 ई.) तथा द्वितीय काल (690-900 ई.) में बांटा गया है। प्रथम काल में मुख्यतः शैलकर्त्त-विधि से ही वास्तु निर्माण हुआ जबकि द्वितीय काल में उत्कीर्ण पाषाण खण्डों एवं सामान्य निर्माण तकनीक से मंदिरों का निर्माण हुआ। इन दोनों कालों में भी केवल दो-दो प्रमुख शासक हुए। प्रथम काल में एक महेन्द्र वर्मन समूह और दूसरा नरसिंह वर्मन समूह। इसी प्रकार द्वितीय काल में एक राजसिंह समूह और दूसरा नंदी वर्मन समूह हुआ।

दक्षिण में पल्लव राजाओं ने सातवीं ई. में कई सुंदर स्मारकों का निर्माण करवाया। महेंद्रवर्मन (600-625 ई. तथा उसका पुत्र नरसिंह वर्मन 625-670 ई., जिसे महामल्ल के नाम से जाना जाता था) महान वास्तु प्रेमी थे। इन पल्लव शासकों ने पत्थरों को तराशकर तीन निर्माण करवाए। महाबलीपुरम् (मामल्लपुरम) में पत्थर काटकर गुफाएं बनाई गई हैं, जिन्हें *'मंडप'* के नाम से जाना जाता है। इनमें अद्भुत मूर्ति शिल्प के दर्शन होते हैं। इनमें एक *आदिवाराह गुफा* है। (7वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में निर्मित), जिसमें राजा महेंद्रवर्मन और उसकी दो रानियों की प्रतिमाएं हैं। रानियों का छरहरा रूप देखते ही बनता है। दुर्गा गुफा में महिषासुरमर्दिनी की मूर्ति है। पंचपांडव गुफा में दो उभरी हुई कृतियां हैं एक में कृष्ण ने गोवर्धन पर्वत उठा रखा है और दूसरे में उन्हें गाय दूहते दिखाया गया है।

पांच एकाश्मीय मंदिर, जिन्हें *'रथम'* कहा जाता है, महामल्ल के शासनकाल में बनाए गए थे। मण्डपों, गुफाओं तथा शैल फलकों पर रिलीफ मूर्तियों के अतिरिक्त महाबलिपुरम के एक और पक्ष, अर्थात् यहां के एकाश्म मंदिर, एक नए प्रकार की अभिव्यक्ति हैं। पश्चिमी कला समीक्षकों ने इन्हें 'सैवन पगोडास' नाम दिया था। इनमें से प्रत्येक एक बड़ी शिला को भीतर-बाहर से काट-तराश कर एक समूचे मंदिर का आकार प्रदान किया गया है। संभवतः इन्हें समकालीन ऐसे ही आकार के काष्ठ निर्मित मंदिरों की तर्ज पर बनाया गया है। ये भवन दक्षिण भारतीय विमान शैली के मंदिरों का प्रारंभिक स्वरूप होने के कारण महत्वपूर्ण हैं। प्रस्तर काटकर मंदिर बनाने की कला के ये आरंभिक नमूने हैं, जिनमें मंदिर के ऊपरी भाग को अलग-अलग शैलियों में उत्कीर्ण किया गया है। *धर्मराज* रथम सबसे ऊंचा है। इसमें स्वयं महामल्ल की प्रतिमा है। *द्रौपदी रथम* अत्यंत कलात्मक है। इसकी अभिकल्पना स्पष्टतः किसी फूस वाली कुटिया की अनुकृति है।

पल्लव स्मारकों की तीसरी श्रेणी *तीर्थम* या खुले में रखी किसी चट्टान पर उकेरकर बनाई गई आकृतियां हैं। सातवीं सदी की पल्लव मूर्तिकला गुप्तकालीन शिल्प से भिन्न है। इनमें छरहरापन है, गतिशीलता है, मुख अंडाकार है और कपोल अस्थियों में अधिक उभार है। डॉ. कुमार स्वामी का कहना है कि पशुओं के उत्कीर्णन में यह शैली अन्य सब शैलियों से बढ़िया है। एक अन्य प्रसिद्ध तीर्थम अर्जुन का पश्चाताप है, जिसमें वस्तुतः गंगावतरण का दृश्य दिखाया गया है।

आठवीं सदी में राजसिंह (नरसिंह वर्मन द्वितीय) के शासनकाल में निर्माण की शैलकृत प्रविधि को छोड़ दिया गया और उसके स्थान पर पत्थर की चिनाई से मंदिर बनाए जाने लगे।

मामल्लपुरम के तट पर बना जलशयन स्वामी का मंदिर तराशे हुए पत्थरों से बनाया गया है, जिसमें उत्कृष्ट शिल्प कौशल का प्रयोग है। उसी के शासनकाल में बना कांचीपुरम का कैलाशनाथ मंदिर भी बेजोड़ है। 700 ई. में बने इस मंदिर में तीन अलग-अलग हिस्से हैं एक गर्भगृह है, जिसमें पिरामिड के आकार का स्तंभ है, एक मंडल है और एक आयताकार प्रांगण, जिसमें कई देवताओं के छोटे-छोटे मंदिर बने हुए हैं। इसे आरंभिक द्रविड़ शैली का एक उल्लेखनीय निर्माण माना जा सकता है। यह भी कहा जा सकता है कि आरंभिक पल्लव मंदिरों में द्रविड़ शैली को निश्चित स्वरूप और अनूठापन प्राप्त हुआ।

कांजीवरम (प्राचीन कांचीपुरम) दक्षिण भारत के सबसे प्राचीन एवं प्रसिद्ध नगरों में से एक है। कांजीवरम पल्लव स्मारकों से भरा पड़ा है, तथा यहां इस शैली के स्थापत्य का प्रारंभ से लेकर सोलहवीं शताब्दी तक के क्रमबद्ध इतिहास का अध्ययन किया जा सकता है। कैलाशनाथ यहां का सबसे प्रमुख मंदिर है। कांचीपुरम् के दूसरे प्रमुख बैकुण्ठपेरूमल मंदिर का निर्माण, कैलाशनाथ मंदिर के एक दशक बाद हुआ, एवं इसमें वास्तु संबंधी परिपक्वता अधिक है। पल्लवों की यह प्रायः अंतिम महान उपलब्धि है। यह आकार में कैलाशनाथ मंदिर से बड़ा है। कांचीपुरम के अन्य मंदिरों में एकम्बरेश्वर है, जिसमें विशाल गोपुर, पुष्करिणी तथा स्तंभ युक्त विशाल कक्ष तथा 'एक सहस्त्र स्तंभ कक्ष है। इसके अतिरिक्त ऐरावतेश्वर, मंतगेश्वर तथा इरवानेश्वर इत्यादि पल्लव कालीन मंदिर हैं। इन सभी की छतें पिरामिडीय एवं मण्डप से घिरे हुए हैं।

इस कला आंदोलन ने यद्यपि अपनी प्रतिभा के बड़े-बड़े स्मारक नहीं छोड़े, फिर भी यह अपने अदम्य उत्साह तथा सक्रिय चेतना के लिए उल्लेखनीय है। कहना न होगा कि दक्षिण भारत में बौद्धों ने ईसा की प्रारंभिक शताब्दियों में अमरावती के रूप में स्थापत्य कला की जो मशाल जलाई उसे सिंह-विष्णु राजाओं ने प्रज्जवलित रखा। बाद में यही मशाल चोलों तथा अन्य परवर्ती राजाओं के हाथों में पहुंचकर और जोर से प्रकाशित हो उठी।

पल्लव शैलकर्त्त वास्तु शैली की मूर्तिकला की अपनी अलग विशेषता है जो आगे चलकर कैलाश मंदिर, एलोरा तथा एलीफैंटा तक विकसित हुई। इसमें एक ममस्पर्शी संवेगात्मक गुण विद्यमान है, जो अन्यत्र कम ही देखने को मिलता है। बांस रिलीफ आकृतियों में उल्लेखनीय संयम तथा परिष्कृत सादगी के दर्शन होते हैं। यहां से यह मूर्तिशिल्प अपने समस्त गुणों के साथ दक्षिण पूर्व एशिया में जावा एवं कम्बोडिया तक पहुंचा। यहां कुछ स्थानीय प्रभावों को छोड़कर इसकी मूल भावना अपरिवर्तित बनी रही।

चोलकालीन स्थापत्य शैली

पल्लवों की विरासत चोल राजाओं (10वीं से 11वीं शताब्दी) के हिस्से आई, जिन्होंने इसे एक नई शिल्पदृष्टि से और आगे बढ़ाया। ईसा की प्रथम सहस्राब्दी की अंतिम कुछ शताब्दियों में दक्षिण के पल्लव, चोल, पाण्ड्य, चालुक्य तथा राष्ट्रकूट आदि राजवंशों के बीच आपसी युद्ध होते रहे। इस शक्ति परीक्षण में अंततः चोलों का वर्चस्व स्थापित हो गया, तथा एक शताब्दी के भीतर ही उनकी शक्ति अपने चरमोत्कर्ष पर पहुंच गई। चोल वंश पल्लवों का उत्तराधिकारी राजवंश था, अतः उन्हें पल्लवों की कला सम्पदा भी विरासत में मिली थी, जिसे चोल शासकों ने इस सीमा तक समृद्ध किया कि उनके शासन काल में द्रविड़ स्थापत्य एवं शिल्पकला अपने चरमोत्कर्ष पर पहुंच गई। मंदिरों के निर्माण में जिस द्रविड़ शैली का आरंभ पल्लवों के काल में हुआ, चोल नरेशों के काल में उसका अत्यधिक विकास हुआ। चोल शासन काल में स्थापत्य के साथ मूर्तिकला के क्षेत्र में भी अत्यधिक उन्नति हुई। चोलकालीन कांस्य मूर्तिकला विशेष रूप से संसार प्रसिद्ध है। ये कांस्य मूर्तियां बड़ी मात्रा में दक्षिण पूर्व एशिया के देशों में भी पाई गई हैं, क्योंकि ये क्षेत्र लम्बे समय तक चोलों के प्रभाव में रहे।

11वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में राजराज तथा राजेंद्र चोल के राज्यकाल में चोल साम्राज्य चरमोत्कर्ष पर था। चोल सम्राटों ने अपनी शक्ति और ऐश्वर्य का प्रदर्शन भव्य तथा उत्तुंग शिखर मंदिरों के निर्माण में किया। चोल शिल्पियों ने चट्टान काटकर बनाए गए मंदिरों की प्रणाली छोड़कर एक स्वतंत्र रूप से खड़े पत्थर के मंदिर बनाने पर अपना ध्यान केंद्रित किया। चोल मंदिरों में पूजा-स्थल के केंद्रीय कक्ष पर बल दिया जाता था जिसमें प्रवेश के लिए एक या दो बड़े कक्षों को मंदिरों के आकार के अनुसार पार करके जाना पड़ता था और उनके ऊपर लगभग पिरामिड की शक्ल का एक लम्बा शिखर होता था जो मंदिर के आकार के अनुपात में होता था। मंदिर को चारों ओर घेरकर एक चौक होता था साथ ही चारों ओर की दीवार के अंदर की ओर खम्भों की श्रेणी होती थी, जैसा कि तंजौर तथा गंगई कोंडा चोलपुरम् के मंदिरों में है। प्रवेश के लिए शिखर की शैली की तर्ज पर बने हुए अलंकृत प्रवेश-द्वार होते थे। धीरे-धीरे इन प्रवेश द्वारों पर अधिक बल दिया जाने लगा, यहां तक कि ये शिखर से बराबरी करने लगे जैसाकि मदुरई के मीनाक्षी मंदिर और त्रिचनापल्ली के निकट स्थित श्रीरंगम मंदिर से स्पष्ट है।

चोलकालीन मंदिर-स्थापत्य कला को दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। प्रथम वर्ग में दसवीं शताब्दी तक निर्मित प्रारंभिक चोल मंदिर हैं, जिनमें तिरुकट्टलाई का सुंदरेश्वर मंदिर, नरतमालै का विजयालय मंदिर एवं कदम्बर मलाई मंदिर विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। दूसरे वर्ग के चोलकालीन मंदिर स्थापत्य कला का युग तंजावुर के वृहदीश्वर मंदिर के साथ प्रारंभ होता है। यह मंदिर द्रविड़ मंदिर-स्थापत्य कला शैली का पूर्ण विकासमान रूप है और इसके निर्माण के दो शताब्दियों बाद तक चोलों ने सम्पूर्ण सुदूर दक्षिण एवं श्रीलंका में शृंखलाबद्ध रूप में अनेक मंदिरों का निर्माण कराया। चोलों ने मंदिरों के निर्माण के लिए प्रस्तर खण्डों एवं शिलाओं का प्रयोग किया। इस काल के मंदिरों का आकार बहुत विशाल और इनका धार्मिक कार्यों के अतिरिक्त सामाजिक, सांस्कृतिक एवं शैक्षिक प्रयोजनों के लिए भी उपयोग किया जाता था।

तंजौर का भव्य शैव मंदिर, जो राजराजेश्वर अथवा वृहदीश्वर नाम से प्रसिद्ध है, का निर्माण राजराज प्रथम के काल में हुआ था। भारत के मंदिरों में सबसे बड़ा तथा लम्बा यह मंदिर एक उत्कृष्ट कलाकृति है जो दक्षिण भारतीय स्थापत्य

के चरमोत्कर्ष को द्योतित करती है। भारतीय वास्तु कलाकारों द्वारा बनाए गए मंदिरों में यह विशाल मंदिर है। इस मंदिर के चार भाग एक-दूसरे से सम्बद्ध एक ही धुरी पर बने हुए हैं। नंदी मण्डप, अर्द्ध मण्डप तथा गर्भगृह एवं सारा मंदिर एक चारदीवारी के भीतर बना हुआ है। मंदिर का सबसे महत्वपूर्ण अंग है गर्भगृह एवं शिखर (विमान)।

चोलों के वैभवकाल में बनाया गया दूसरा मंदिर गंगैकोंड चोलपुरम का मंदिर है। इसका निर्माण राजराज के पुत्र राजेन्द्र चोल के शासनकाल में हुआ। इसकी शैली तंजौर मंदिर की शैली के ही समान है। इस मंदिर का विमान, बृहदीश्वर मंदिर की ही भांति, तीन भागों में विभक्त है। मंडप कम ऊंचा है लेकिन इसमें 150 स्तम्भ हैं। इस स्तम्भ युक्त मंडप में हमें बाद में आने वाले मंदिरों के सहस्त्र स्तम्भ वाले मण्डपों की शुरुआत परिलक्षित होती है। तंजौर मंदिर में शक्ति, संतुलन और गांभीर्य अधिक है जबकि गंगैकौंड चोलपुरम के मंदिर में मार्दव, सौंदर्य और विलास अधिक है। इन दो विशाल स्मारकों से सिद्ध होता है कि चोल काल में वास्तुकला चरमोत्कर्ष पर थी। इन मंदिरों के निर्माण के साथ ही ऐसा दिखाई देता है कि वास्तुकला की गतिविधि का प्रबल वेग क्षीण हो चला था। इसके बाद कोई विशेष उल्लेखनीय मंदिर नहीं बने।

राजेन्द्र चोल के उत्तराधिकारियों के समय में भी मंदिर निर्माण की गति जारी रही। इस दौरान कई छोटे-छोटे मंदिरों का निर्माण किया गया। इनमें मंदिरों की दीवारों पर अलंकृत चित्रकारी एवं भव्य मूर्तियां उत्कीर्ण हैं। राजराज द्वितीय तथा कुलोत्तुंग तृतीय द्वारा बनवाए गए क्रमशः दारासुरम का ऐरावतेश्वर मंदिर तथा त्रिभुवनम् का कम्पहरेश्वर का मंदिर चोल शैली की कुछ परम्पराओं को बारहवीं शती उत्तरार्द्ध तक ले जाते हैं। इन मंदिरों का निर्माण भी तंजौर मंदिर की योजना पर किया गया है। इनके अतिरिक्त तिरुवरूर का त्यागराज मंदिर भी उल्लेखनीय है, परंतु इसमें प्राचीन मंदिर का पुनर्निर्माण मात्र ही किया गया है।

चोलों ने अपनी महानता एवं गौरव गाथा के झण्डे तक्षण कला के क्षेत्र में भी गाड़े हैं। चोलों ने पत्थर तथा धातु की बहुसंख्यक मूर्तियों का निर्माण किया। उनके द्वारा निर्मित मूर्तियों में देवी-देवताओं की मूर्तियां ही अधिक हैं। कुछ मानव मूर्तियां भी प्राप्त होती हैं। चूंकि चोलवंश के अधिकांश शासक उत्साही शैव थे, अतः इस काल में शैव मूर्तियों का निर्माण ही अधिक हुआ।

सर्वाधिक सुंदर मूर्तियां नटराज (शिव) की हैं। इनकी पूजा दक्षिण में विशेष रूप से होती है। नटराज की एक विशाल प्रतिमा त्रिचनापल्ली के तिरुभरंग कुलम में प्राप्त हुई है। चोल मूर्तिकला मुख्यतः वास्तुकला की सहायक थीं और यही कारण है कि अधिकांश मूर्तियों का उपयोग मंदिरों को सजाने में किया जाता था।

चित्रकला का विकास चोलों की महत्वपूर्ण विशेषता रही है। इस युग के कलाकारों ने मंदिरों की दीवारों पर अनेक सुंदर चित्र उत्कीर्ण करवाए। बृहदीश्वर मंदिर की दीवारों के चित्र आकर्षक एवं कलापूर्ण हैं। इन चित्रों में पौरिणकता का बाहुल्य है। यहां शिव की विविध लीलाओं से संबंधित चित्रकारियां प्राप्त होती हैं। इसमें प्रमुख चित्रकारियां हैं, राक्षस का वध करती हुई दुर्गा तथा राजराज को सपरिवार शिव की पूजा करते हुए प्रदर्शित किया गया है।

इस प्रकार चोल राजाओं का शासन काल स्थापत्य, तक्षण कला तथा चित्रकला का चरमोत्कर्ष काल रहा है।

चोल एवं पल्लव स्थापत्य की तुलनात्मक विवेचनाः चोल शैली पल्लव शैली की उत्तराधिकारिणी थी, और चोलों ने इस वास्तु परम्परा को और आगे विकसित ही किया। पल्लव मंदिरों के सबसे प्रमुख निर्माण चोल काल में पहुंचकर और अधिक प्रभावशाली एवं विशाल हो गए। इसी प्रकार पल्लव मंदिरों में गोपुर जहां अपने अत्यंत प्रारंभिक रूप में हैं, वहीं चोल मंदिर में ये वृहद एवं भव्य आकार के होते गए हैं, जैसे वृहदेश्वर तंजावुर का गोपुर। दूसरी ओर पल्लव वास्तु के 'सिंह आधार वाले' स्तंभ चोल काल में लुप्त हो गए तथा उनका स्थान सादे वर्गाकार स्तंभों ने ले लिया। इसी प्रकार पल्लव द्वारपाल मूर्तियां दो हाथों वाली तथा सामान्य हैं, जबकि चोलकाल में चार भुजाओं वाली व दैत्यों जैसी भयानक हैं। पल्लव देवगोष्ठों के ऊपर सादे तोरण मिहिराभ बनाए गए थे जो चोल काल में आकर वृत्ताकार एवं अलंकारिक हो गए। मूर्तिकला के अंतर्गत पल्लवों ने अनेक प्रकार के लोकातीत पशु बनाए थे, जबकि चोलों ने जगती की भित्तियों पर 'याली' (एक काल्पनिक पशु) फलक बनाए हैं। पल्लवकालीन मंदिरों की एकाकी रचनाएं चोल शैली के अंतर्गत विकसित मंदिर परिसरों में परिवर्तित हो गई, जिनमें विस्तृत प्रांगण, प्राकार तथा परिखा का भी निर्माण कराया गया।

पाण्ड्य वास्तु शैली

भारतीय प्रायद्वीप के दक्षिण-पूर्वी तट पर चोलों के पश्चात् पाण्ड्यों ने सत्ता संभाली। इनका राज्य 'चोलोमण्डल' प्रदेश सहित धुर दक्षिण में त्रावणकोर एवं कन्याकुमारी तक फैला हुआ था। इनकी राजधानी मदुरा थी, जिसका यह नाम पवित्र 'मथुरा' नगर के नाम पर रखा गया था।

यद्यपि पाण्ड्यों ने दृश्य कलाओं को प्रोत्साहित किया, परंतु वे अच्छे भवन-निर्माता सिद्ध न हो सके। और उन्होंने नवीन मंदिरों के निर्माण से हटकर प्राचीन एवं पूर्व निर्मित भवनों को स्थापत्य की दृष्टि से और अधिक सुंदर बनाने का प्रयत्न किया। इसी कारण से उन्होंने मंदिरों के चारों ओर परकोटों तथा उनमें प्रवेश द्वारों अथवा गोपुरों का निर्माण कराया।

पाण्ड्य स्थापत्य काल, होयसल और परवर्ती चालुक्य काल का प्रायः समकालीन है, जो दक्षिणी प्रायद्वीप के पश्चिमी तटों, मैसूर या कन्नड भाषी क्षेत्र में एक भिन्न शैली को विकसित एवं पोषित कर रहे थे।

पाण्ड्य शैली के गोपुर में प्रमुख चार गोपुर हैं (i) जम्बुकेश्वर मंदिर का 'सुंदर पाण्ड्य गोपुरम'; (ii) चिदम्बरम् मंदिर का पूर्वी भित्ति में निर्मित गोपुर; (iii) विरुवन्नमवाई मंदिर की भीतरी भित्ति की पूर्वी दीवार में निर्मित गोपुरम तथा; (iv) कुंबकोनम मंदिर का गोपुरम। इन सबमें चिदम्बरम् मंदिर का गोपुर इस शैली का विशिष्ट उदाहरण है। ये सभी ग्यारहवीं से चौदहवीं शताब्दी के मध्य बनाए गए।

गोपुरों के अतिरिक्त पाण्ड्य शासकों ने कुछ मंदिर तथा एक शैलकर्त्त मंदिर का भी निर्माण कराया। प्रारंभिक पाण्ड्य मंदिरों तथा कुछ अन्य निर्माणों में मूर्तियों को पत्थर में काटा गया तो वहीं बाद में गचकारी द्वारा अलंकरणों का पर्याप्त प्रयोग हुआ। मूर्तिशिल्प की पाण्ड्य शैली पल्लवों तथा प्रारंभिक चालुक्यों के अधिक निकट थी।

होयसल शैली

होयसल शैली (1050-1300 ई.) का विकास कर्नाटक के दक्षिणी क्षेत्र में हुआ। ऐसा कहा जा सकता है कि होयसल कला का आरंभ ऐहोल, बादामी और पट्टदकल के प्रारंभिक चालुक्य कालीन मंदिरों में हुआ, लेकिन मैसूर क्षेत्र में विकसित होने

के पश्चात् ही इसका विशिष्ट स्वरूप प्रदर्शित हुआ, जिसे 'होयसल शैली' के नाम से जाना गया। अपनी प्रसिद्धि के चरमकाल में इस शैली की एक प्रमुख विशेषता स्थापत्य की योजना और सामान्य व्यवस्थापन से जुड़ी है। एक महत्वपूर्ण स्मारक हासन जिले में बेलूर स्थित केशव मंदिर है। इसका निर्माण विष्णुवर्धन ने करवाया था। तलकाड़ में चोल शासकों पर उसकी विजय के उपलक्ष्य में निर्मित इस मंदिर के इष्ट देव को वस्तुतः अपने केशव रूप में विष्णु ही विजय नारायण कहा गया। मंदिर के मुख्य भवन में हैं सामान्य कक्ष, अंतर्गृह, जो द्वारमंडप से जुड़ा है, एक खुला स्तंभ मंडप और केंद्रीय कक्ष। किंतु वास्तविक वास्तुयोजना के हिसाब से होयसल मंदिर केशव मंदिर और हेलबिड के मंदिर, सोमनाथपुर और अन्य दूसरों से भिन्न हैं। स्तम्भ वाले कक्ष सहित अंतर्गृह के स्थान पर इसमें बीचों-बीच स्थित स्तंभ वाले कक्ष के चारों तरफ बने अनेक मंदिर हैं, जो तारे की शक्ल में बने हैं।

कई मंदिरों में दोहरी संरचना पायी जाती है। इसके प्रमुख अंग दो हैं और नियोजन में प्रायः तीन, चार और यहां तक कि पांच भी हैं। हर गर्भगृह के ऊपर बने शिखर को जैसे-जैसे ऊपर बढ़ाया गया है, उसमें आड़ी रेखाओं और सज्जा से नयापन लाया गया है, जो शिखर को कई स्तरों में बांटते हैं और यह धीरे-धीरे कम घेरे वाला होता जाता है। वस्तुतः होयसल मंदिर की एक विशिष्टता संपूर्ण भवन की सापेक्ष लघुता है। तथापि 1117 ई. में बना बेलूर स्थित केशव मंदिर अपनी अधिसंरचना के बिना भी (जिस रूप में यह आज खड़ा है) अपने उत्कृष्ट सौंदर्य को अभिव्यक्त करने में सक्षम है। इस मंदिर की कुछ अतिप्रशंसित मूर्तियां, जिन्हें कन्नड़ भाषा में 'मदनकाइस' कहा जाता है, को मंडप की प्रलम्ब छत के नीचे रखा गया है। मंदिर का आंतरिक भाग भी उतना ही भव्य है, जितना बाहरी। मंडप के हर स्तंभ पर खूबसूरत नक्काशी की गई है। कुछ पर आकृतियां हैं तो कुछ पर अन्य रूप तथा कुछ सहज गोलाई लिए हुए हैं। मंदिर में प्रवेश मार्ग के दोनों तरफ विशाल वैष्णव द्वारपाल हैं।

होयसलों की राजधानी हेलबिड (प्राचीन द्वारसमुद्र) में सबसे प्रमुख भवन होयसलेश्वर मंदिर है। यह मंदिर शिव को समर्पित है। इसे अलंकृत निर्माण शैली का एक श्रेष्ठ उदाहरण माना जा सकता है। मान्यता है कि इसका निर्माण कार्य 1121 ई. में प्रारंभ हुआ था और विष्णुवर्धन के पुत्र और उसके उत्तराधिकारी नरसिंह प्रथम के वास्तुकारों ने 1160 ई. में इसे पूरा किया था। इसमें दो एकसमान

मंदिर हैं, जो एक ही विशाल आधार मंच पर बने हैं। दोनों क्रुसाकार दीर्घा के माध्यम से आपस में जुड़े हुए हैं।

नरसिंह तृतीय द्वारा निर्मित मंदिरों में सोमनाथपुर का प्रसिद्ध केशव मंदिर है (जिसे सोमनाथ भी कहा जाता है)। यह अलंकृत शैली में बना एक वैष्णव मंदिर है।

वास्तुशिल्प नियोजन के अतिरिक्त होयसल शैली की कुछ अन्य विशेषताएं भी थीं। इसमें बलुई पत्थर के स्थान पर पटलित या स्तरित चट्टान का प्रयोग किया गया क्योंकि इस पर तक्षण कार्य अच्छी तरह से किया जा सकता है। शिल्पकारों द्वारा एकाश्मक अखंडित चट्टान को बड़ी लेथ पर घुमाकर इच्छित आकार देने की क्रिया के चलते स्तंभों को विशिष्ट रूप मिल जाता था और इन मंदिरों को निरंतर समृद्ध होते वास्तु अलंकरण से अलंकृत किया भी जाता था।

ओडिशा के मंदिर

सातवीं शताब्दी के प्रारंभ से लेकर तेरहवीं शताब्दी के मध्य तक ओडिशा में नागर शैली के अंतर्गत एक विशिष्ट मंदिर शैली का विकास हुआ, जिसे भारतीय स्थापत्य के इतिहास में ओडिशा शैली के नाम से जाना जाता है।

ओडिशा शैली के अधिकांश मंदिर प्राचीन भुवनेश्वर में केंद्रित हैं। परंतु दो अन्य अति प्रमुख मंदिर, 'सूर्य मंदिर' कोणार्क तथा जगन्नाथ मंदिर, पुरी, यहां से कुछ किलोमीटर के अंतर पर स्थित हैं। ओडिशा समूह के प्राचीनतम, मुखलिंगम मंदिरों का निर्माण सातवीं शताब्दी में तथा अंतिम 'कोणार्क मंदिर' का निर्माण तेरहवीं शताब्दी के मध्य में हुआ।

ओडिशा मंदिरों को विकासक्रम तथा शैली के अनुसार चार समूहों (i) मुखलिंगम समूह; (ii) प्रारंभिक समूह; (iii) मध्ययुगीन समूह; तथा (iv) अंतिम समूह में विभाजित किया जाता है।

मुखलिंगम समूह के मंदिर, निकटवर्ती दन्तपुर से राज्य करने वाले पूर्वी गंग राजाओं द्वारा बनवाए गए। इसमें कुल तीन मंदिर सोमेश्वर, मुखलिंगेश्वर तथा भीमेश्वर आते हैं।

प्रारम्भिक समूह के अंतर्गत कुल सात मंदिर हैं परशुरामेश्वर, वैताल द्योल, उत्तरेश्वर, ईश्वरेशवर, सुत्रुगनेश्वर, भरतेश्वर तथा लक्षमणेश्वर। इन सात में से अंतिम तीन आकार में छोटे थे, जो अब खण्डहर हो चुके हैं।

मध्यवर्ती काल में निर्मित पांच प्रमुख मंदिर हैं मुक्तेश्वर, लिंगराज, ब्रह्मेश्वर, रामेश्वर तथा जगन्नाथ मंदिर। इन सभी मंदिरों का निर्माण 900 से 1100 ई. के मध्य हुआ। ये मंदिर अपने पूर्ववर्ती काल के मंदिरों से अधिक विकसित एवं उन्नत हैं।

अंतिम समूह में लगभ्लग एक दर्जन मंदिरों का निर्माण हुआ, जिनमें अनंत वासुदेव, सिद्धेश्वर, केदारेश्वर, जागेश्वर, राजा रानी तथा कोणार्क इत्यादि प्रमुख हैं। ये सभी आकार में छोटे हैं तथा केवल कोणार्क मंदिर को छोड़कर सभी भुवनेश्वर नगर में स्थित हैं।

भुवनेश्वर में एक अपेक्षाकृत छोटा किंतु अत्यंत सुंदर मुक्तेश्वर मंदिर है। इसे प्रायः ओडिशा की वास्तुकला का 'रत्न' कहा जाता है। इस मंदिर का महत्व केवल इसके सौंदर्य और वास्तुकला की सर्वांग संपूर्णता में ही निहित नहीं है, वरन यह ओडिया वास्तुकला के विकासक्रम में 'आरंभिक' और 'परवर्ती' निर्माण शैलियों का महत्वपूर्ण संक्रमण बिंदु भी है।

पुरी के निकट स्थित कोणार्क के 'सूर्य मंदिर' को 'ब्लैक पगोडा' भी कहा जाता है। यह उत्तर भारत के विशाल हिंदू मंदिरों में सबसे प्रमुख और अंतिम है। इसे ओडिया मूर्तिकारों द्वारा वास्तुकला के सर्वांग विधानों के साथ अलंकृत मूर्तिकला के सामंजस्य प्रयासों के भव्य और गौरवशाली चरमोत्कर्ष के रूप में देखा जा सकता है। सम्राट नरसिंह देव (1238-64 ई.) द्वारा बनवाया गया यह मंदिर सुसज्जित अश्वों द्वारा खींचे जाने वाले और विशाल पहियों वाले सूर्यदेव के आकाशरथ की परिकल्पना पर आधारित है। पीठिका मंच और प्रमुख कक्ष के अग्रभाग उत्कीर्णित चित्रवल्लरियों से सुसज्जित हैं, जिनमें पृथ्वी पर जीवन के आनंद और सूर्य की ऊर्जाप्रदायी शक्ति-अर्क-को प्रतिबिम्बित किया गया है। कोणार्क में उत्कीर्णित दृश्यों में प्रेमरत युगल या मिथुन हैं। हालांकि इन असंख्य दृश्यों को अज्ञात शिल्पियों ने बनाया है, ये नक्काशियां भारतीय कला के सर्वश्रेष्ठ उदाहरणों में गिनी जा सकती हैं और इनसे साफ पता चलता है कि उस समय भारत में तकनीकी प्रदर्शन और कलात्मक उत्प्रेरण का कितना उच्च स्तर रहा होगा। दुर्भाग्यवश, यह मंदिर पूरा न हो सका और इस समय वह खंडहर की स्थिति में पड़ा है।

लिंगराज मंदिर ओडिशा की मध्यकालीन शैली का विशालतम एवं सर्वप्रमुख मंदिर है। ओडिशा शैली के अन्य मंदिरों की भांति लिंगराज मंदिर की बाहरी सतह को अत्यंत अलंकारपूर्ण बनाया गया है। गुलाबी बलुए पत्थर से निर्मित मंदिर की भित्तियों में कभी-कभी क्लोराइट शीस्ट पत्थर की मूर्तियां अलग से बनाकर देवगोष्ठों के बीच सज्जित की गई हैं। इसमें संदेह नहीं कि लिंगराज का पर्वताकार मंदिर, अपनी संपूर्ण भव्यता, उच्च परिकल्पना, उन्नत तकनीकी क्षमता तथा सौंदर्य बोध के कारण, भारतीय स्थापत्य के इतिहास का अनुपम रत्न है।

पुरी स्थित जगन्नाथ मंदिर देश के चार धामों अथवा सबसे महत्वपूर्ण तीर्थों में से एक है। लम्बाई एवं चौड़ाई में यह लिंगराज मंदिर से बड़ा है तथा इसे एक ऊंचे स्थान पर बनाया गया है। लिंगराज मंदिर की भांति इस मंदिर में भी, श्रीमंदिर, जगमोहन, नाट मंदिर तथा भोग मण्डप को एक ही अक्ष-रेखा में बनाया गया है। इनमें से अंतिम दोनों कक्षों को चौदहवीं-पंद्रहवीं शताब्दियों में जोड़ा गया है। इसके उपरांत अठारहवीं शताब्दी में इस मंदिर की व्यापक मरम्मत की गई जिसमें सीमेंट का खुलकर प्रयोग करने के कारण इसकी मौलिक सुंदरता भी प्रभावित हुई। पुरी मंदिर के विभिन्न अंगों के आपसी अनुपात लिंगराज मंदिर से अधिक सुंदर हैं। मंदिर के ठीक सामने 'एकाश्म गरुड़ स्तम्भ' सूर्य मंदिर कोणार्क से लाकर यहां गाड़ा गया है।

पुरी का जगन्नाथ मंदिर तथा राजा-रानी का मंदिर ओडिशा वास्तुशैली के उत्कृष्ट नमूने हैं।

सामान्यतः ओडिशा के मंदिरों में स्तंभ नहीं होता और उनकी छतों को आंशिक रूप से लोहे के गार्डरों पर टिकाया जाता था यह एक महत्वपूर्ण तकनीकी नवीनता थी। इन मंदिरों का बाह्य भाग तो बड़ी भव्यता से सजाया गया है, लेकिन आंतरिक भाग को असज्जित ही छोड़ दिया गया (केवल मुक्तेश्वर मंदिर इसका अपवाद है)।

चंदेल शैली : खजुराहो

बुंदेलखंड के चंदेल नरेशों के शासनकाल में 10वीं ई. और 11वीं ई. के दौरान वास्तुकला की एक महानशैली विकसित हुई। खजुराहो मंदिर समूह के रूप में उत्तर भारतीय नागर शैली अपने शीर्ष बिंदु को प्राप्त हुई। खजुराहो के मंदिर स्थापत्य सौंदर्य की दृष्टि से अद्वितीय हैं। गुप्तकाल में तराशे हुए पाषाण खण्डों

से चुनाई विधि द्वारा मंदिर निर्माण की जिस परम्परा का श्रीगणेश हुआ था, खजुराहो पहुंचकर वह अपने चरमोत्कर्ष बिंदु को प्राप्त हुई। चंदेल राजाओं ने खजुराहो में 84 मंदिरों का निर्माण कराया था, परंतु वर्तमान में केवल 30 मंदिर ही बचे हैं। इन मंदिरों में हिंदू धर्म के सभी मतों शैव, वैष्णव, शाक्त एवं जैन आदि से संबंधित मंदिर हैं परंतु उनमें शैलीगत कोई विशेष अंतर नहीं है। खजुराहो मंदिरों के निर्माता चंदेल शासकों की राजधानी संयोगवश मुस्लिम आक्रमणकारियों से बची रही, इसलिए यहां के अनेक मंदिर भी बच गए। इन मंदिरों का काल प्रायः दसवीं से तेरहवीं शताब्दी के मध्य माना जाता है। खजुराहो मंदिरों को परम्परागत रूप से एक परकोटे द्वारा घिरा हुआ न बनाकर ऊंची 'आधार पीठिकाओं' पर बनाया गया है। पृथक् पीठिकाओं पर निर्मित प्रत्येक मंदिर अपने आप में एक संपूर्ण संयोजन है। इस शैली की प्रमुख निर्माण उपलब्धि मध्यप्रदेश के खजुराहो में बने सुंदर मंदिरों का समूह है। सबसे कलापूर्ण है एक शैव मंदिर, जिसे 'कंदरिया महादेव' के नाम से जाना जाता है। इसका निर्माण काल 1000 ई. है। अन्य मंदिर विष्णु और जैन धर्मगुरुओं को समर्पित हैं। ये मंदिर ऊंची वेदिकाओं पर बने हैं। खजुराहो के मंदिर में एक गर्भगृह, एक सभागार और एक मंडप होता है। इन सबको उनकी समग्रता में पूर्ण माना जाता था, जबकि ओडिशा के मंदिरों में उन्हें अलग-अलग अभिकल्पित कर बाद में गलियारों से जोड़ दिया जाता था। शिखर अपनी पूरी लम्बाई में वक्रता लिए होता है और मध्य शिखर से लघु शिखर निकलते हैं। इन प्रक्षेपों की शीर्ष चक्रिकाएं, जो ऊर्ध्व गति को अवरुद्ध करती दिखती हैं, इस कला की अद्वितीय विशेषता है। समानता के बावजूद पूरे मंदिर का सर्वांग प्रभाव एक व्यवस्थित नैसर्गिक अभिवृद्धि का है। मंदिर के कक्ष और द्वार मंडप भी लघुतर लाटों से मंडित हैं, जिनसे ऊपर उठती हुई दृष्टि मुख्य शिखर तक जाती है और इससे किसी पर्वतमाला जैसा आभास होता है। अलंकृत नक्काशीदार प्रस्तर भवनों की एकरसता भंग होती है। ओडिशा के मंदिरों के विपरीत खजुराहो के मंदिर में अंदर और बाहर दोनों स्थानों पर मूर्ति सज्जाएं हैं और अत्यंत सुंदर ढंग से बनाई गई कलश वाली छतें भी हैं। विश्वनाथ के शिव मंदिर और चतुर्भिया के विष्णु मंदिर में पंचायतन व्यवस्था को दर्शाया गया है इसमें चारों कोनों में चार अतिरिक्त मंदिर बने हुए हैं।

खजुराहो और ओडिशा मंदिर शैलियों की तुलना

प्रायः खजुराहो मंदिरों की तुलना ओडिशा शैली के मंदिरों से की जाती है। यह स्वाभाविक ही है क्योंकि दोनों शैलियों के बीच अनेक समानताएं तथा असमानताएं हैं। शिखरों का आकार, गर्भगृह तथा अन्य मण्डप (जिनमें मात्र नामों का ही अंतर है) प्रायः बहुत मिलते-जुलते हैं। इसके विपरीत ओडिशा मंदिर समूह जहां एक लम्बी वास्तु परम्परा का परिणाम है, वहीं खजुराहो के मंदिर मात्र सौ वर्ष के अंतराल (950 ई. से 1050 ई. के मध्य) ही निर्मित हुए। ओडिशा की तुलना में खजुराहो के शिखर पिरामिडिय आकार के न होकर 'गुम्बजाकार' हैं तथा उनके कोमल वक्र ओडिशा मंदिरों से अधिक अनुप्रेरक हैं। खजुराहो मंदिरों का 'वास्तु-शिल्प' एवं रूपाकार ओडिशा मंदिरों की अपेक्षा अधिक परिष्कृत एवं सुरुचिपूर्ण हैं। दोनों शैलियों के बीच एक और विशेष अंतर यह है कि खजुराहो मंदिरों के आंतरिक भाग मूर्तिशिल्प एवं अनेक कलापूर्ण अलंकरणों से सज्जित हैं, जबकि ओडिशा के मंदिरों के आंतरिक भाग पूर्णतया सादे हैं। खजुराहो मंदिर पन्ना की खानों से प्राप्त हल्के बादामी रंग के बलुए पत्थरों से निर्मित हैं। इसके विपरीत ओडिशा के मंदिर, ग्रेनाइट तथा लेटराइट आदि पत्थरों के माध्यम से बनाए गए हैं। ओडिशा मंदिरों का पत्थर खजुराहो मंदिरों से अधिक कठोर था एवं उसमें बेहद बारीक और कोमल नक्कासी संभव नहीं थी। खजुराहो के पत्थर देखने में सुदर्शन तथा पोत (टेक्सचर) की दृष्टि से भी मोहक हैं। खजुराहो समूह के मंदिरों का निर्माण एक ऊंचे चबूतरे पर किया गया है जबकि ओडिशा समूह के सभी मंदिर 'परकोटे' के अंदर हैं जो उनकी मुख्य वास्तुगत विशेषता है।

विजयनगर वास्तु शैली

विजयनगर की राजधानी हम्फी थी और इसके सबसे लोकप्रिय राजा कृष्णदेवराय थे। इन्हें कई मंदिरों, स्तंभ मंडपों और गोपुरम (इन्हें विशेष रूप से 'रायगोपुरम' कहा जाता था) के निर्माण का श्रेय दिया जाता है।

चौदहवीं शताब्दी में उत्तर से आए मुस्लिम आक्रमणकारियों के हाथों पाण्डयों का पतन हो गया। अब दक्षिण-पूर्वी तटीय भारत में विजयनगर ही मात्र ऐसा राज्य बचा था, जिसने आगामी लगभग दो शताब्दियों तक हिंदू स्थापत्य परम्पराओं को अक्षुण्ण बनाए रखने का प्रयास किया तथा इस्लामी आक्रमणकारियों को कृष्णा नदी पार कर दक्षिण में बढ़ने से रोके रखा। इसकी राजधानी विजयनगर

अरबी, पुर्तगाली और इतालवी यात्रियों के वृत्तांतों के अनुसार, प्रचुर रूप से धनी एवं शान-शौकतपूर्ण तथा एशिया के प्रमुख नगरों से एक थी।

चौदहवीं शताब्दी के मध्य से दक्षिण भारतीय स्थापत्य के विभिन्न तत्वों में एक विशेष परिवर्तन दिखाई देने लगता है। यह बात विजयनगर के वर्तमान खण्डहरों को देखकर स्पष्ट समझी जा सकती है। इस शैली के भवन चोल भवनों के विपरीत अकेला विशाल भवन न होकर, औसत अनुपातों के छोटे-छोटे भवन समूहों के रूप में बनाए गए हैं। ये अपनी विशिष्ट वास्तु शैली तथा समृद्ध मूर्ति सज्जा के लिए अपनी पृथक् पहचान बना सके। इस शैली के वर्चस्व में आने से पूर्व, मंदिरों के चारों ओर एक के बाद एक रक्षा भित्तियों तथा गोपुरों के घेरे बनाकर उन्हें बड़ा आकार दिया जाता था। परंतु इस काल में देवमूर्ति को मानव गुणों के अधिक निकट लाते हुए कई अन्य भवन बनाने की प्रथा चल पड़ी। इसके अंतर्गत कई पूरक भवनों का भी निर्माण होने लगा, जिनके स्थान निर्धारित थे। इसमें से एक 'अम्मा मंदिर' मुख्य मंदिर के उत्तर पश्चिम में बनाया जाता था। यह मंदिर प्रतिष्ठित देवता की सहधर्मिणी का देवालय था। एक और निर्माण 'कल्याण मण्डप' इन देवी-देवता के वार्षिक विवाहोत्सव के लिए बनाया जाता था।

विजयनगर शैली की विशेष चरित्रगत पहचान उसके स्तंभों में निहित है। कठोर पत्थर में निर्मित इन स्तंभों में संयोजित आकृतियों ने इन्हें वास्तु योजना का प्रमुख अंग बना दिया है। इनके आधार पर 'पूर्ण-घट' आकार कुछ धंसा कर बनाए गए हैं, परंतु इनमें सबसे सुंदर वे हैं जिनकी नाल में लगभग राउण्ड मूर्तियां जुड़ी हुई हैं। अन्य विषयों के अतिरिक्त इनमें सबसे प्रमुख आकृति घुड़सवारों की है जिनके उद्धृत अश्व पिछले पैरों पर खड़े हैं, तथा अगले आक्रमण की मुद्रा में उठे हुए हैं। अन्य स्तंभों में पंखों वाले काल्पनिक पशु बनाए गए हैं। स्तंभ के ब्रैकेट भी अत्यंत अलंकृत हैं।

पाण्डव शैली की भांति विजयनगर शासकों ने भी कुछ भवनों का निर्माण तो स्वयं कराया तथा अन्य कुछ निर्मित भवनों या मंदिरों के कुछ भाग इनके काल में जोड़े गए। उदाहरणतया, पंद्रहवीं शताब्दी के मण्डपों में जम्बुकेश्वर मंदिर का बाहरी घेरा, हम्पी के विट्ठल मंदिर की महान शृंखला, कांची का एकम्बरेशवर मंदिर, सत्रहवीं शताब्दी के त्रीरंगम का 'अश्व मण्डप' अथवा 'सहस्र स्तंभ कक्ष'

एवं मदुरई में तिरुमलाई नायक की चौल्त्री इत्यादि। विजयनगर शैली के निर्माताओं ने कभी-कभी वर्णसंकर रचनाएं भी की, जिनमें सबसे प्रमुख शृंगेरी का विद्याशंकर मंदिर है।

विठ्ठलस्वामी मंदिर (जिसका निर्माण 1513 ई. में शुरू हुआ और जो कभी पूरा न हो सका) को विजयनगर वास्तुशैली का सर्वश्रेष्ठ नमूना माना जाता है। इसमें मुख्य मंदिर के स्तंभ वाले कक्ष, गौण देवालय और अलंकृत स्तंभ, आकृतियों का निरूपण और पशुओं का चित्रण है। मंदिर निर्माण योजना में दीवारों से घिरा एक वृहदाकार स्थान होता है, जिसमें कम से कम पांच पृथक् भवन बने होते हैं। तीन गोपुरम से होकर प्रांगण में जाते हैं, जबकि मुख्य प्रवेश द्वार पूर्व दिशा में है। यह नीची जगह पर ग्रेनाइट का और ऊंची जगह पर ईंटों से बना है। विशिष्ट दक्षिणात्य शैली में ऊपर उठती हुई मंजिलें क्रमशः छोटी होती जाती हैं।

विजयनगर शैली के खास मंदिरों में अम्मान मठ और कल्याण मंडप आते हैं। ये मुख्य मंदिर से मिलते जुलते हैं, पर आकार में छोटे हैं। अम्मान मठ देवी को समर्पित है। विशिष्ट अवसरों पर मुख्य मंदिर और अम्मान मठ की कांस्य प्रतिमाएं अपने स्थानों से उठाकर कल्याण मंडप तक प्रदर्शन और पूजा के लिए लाई जाती थीं। वर्गाकार बना और अलंकृत स्तंभों की पंक्ति से घिरा व मध्य भाग में ऊंचा उठा प्लेटफार्म वाला यह खुला किंतु भव्य मंडप विजयनगर शैली का उत्कृष्ट नमूना है।

एक अन्य उल्लेखनीय भवन लेपाक्षी की नृत्यशाला है। इसमें शिव के चारों तरफ स्तंभों पर बनी संगीतमय आकृतियां हैं। वेलोर का उत्सव कक्ष भी विलक्षण है, जिसमें स्तंभों पर अश्वारोहियों तथा अन्यों की आकृतियां बनी हुई हैं।

विजयनगर के इन स्मारकों में वास्तुकला की भव्यता शिल्पीय अलंकरण की तुलना में कहीं अधिक मुखर है। संपूर्ण आयोजन में मूर्तियों का एक विशेष महत्व था। मंडपों में बने स्तंभों पर अनेक प्रकार की आकृतियां बनी हैं, जिनमें से कुछ तो अत्यंत दर्शनीय और मनोरंजक हैं। उदाहरण के लिए एक ऐसी शिल्प प्रविधि थी, जिससे बनाई गई आकृति का एक हिस्सा दूसरी में भी शामिल हो जाता था। लेपाक्षी में वीरभद्र मंदिर में एक अलंकृत स्तंभ पर तीन आकृतियां बनाई गई हैं, जिनके चार पैर हैं लेकिन फिर भी हर आकृति अपने आप में संपूर्ण

लगती है। ये सभी आकृतियां कम उभार वाली हैं, और उन्हें देखकर ऐसा लगता है मानो वे सर्वांग संपूर्ण त्रिआयामी तक्षण न होकर रेखांकन हों।

इस युग की प्रतिमाएं विशालकाय एकाश्मीय उत्कीर्णन हैं। लेपाक्षी मंदिर के पास बैठे हुए नंदी की मूर्ति को इस देश का सबसे बड़ा एकाश्म नंदी माना जाता है। इससे भी कहीं अधिक प्रभावशाली विजयनगर में 'उग्र नरसिंह' की बैठी हुई मुद्रा में बनी मूर्ति है।

नायक परंपरा के तहत् मदुरा स्थापत्य शैली

विजय नगर साम्राज्य के पतन के बाद नायकों का उदय हुआ। इन्होंने भी विजय नगर की समृद्ध कलात्मक परंपरा को आगे बढ़ाया।

नायक वंश के शासक, वेल्लौर, जिन्जी, तंजावुर तथा इकेरी के महान दुर्गों से शासन कर रहे थे। परंतु 1565 ई. में मुसलमानों द्वारा विजयनगर राज्य का अंत कर दिए जाने के उपरांत इस केंद्रीय सत्ता के पतन के कारण नायक स्वतंत्र हो गए तथा उन्होंने 'मदुरा' नगर को अपनी राजधानी बनाकर शासन प्रारंभ कर दिया। इन नायक शासकों, विशेषकर तिरुमलाई नायक के संरक्षकत्व में कुछ उत्कृष्टतम वास्तु रचनाओं का निर्माण हुआ। धार्मिक वास्तु के क्षेत्र में नायकों ने पाण्डव स्थापत्य नीति एवं शैली का ही अनुसरण किया। मदुरा शैली के अंतर्गत भी उपलब्ध भवनों का पुनरुद्धार कर उनमें गोपुर तथा विमान इत्यादि जोड़कर उन्हें विस्तृत एवं परिष्कृत किया गया, जिससे उनमें और भव्यता आ गई। इसी काल में प्रतिष्ठित देवी-देवताओं की शोभा-यात्रा का प्रचलन हो जाने के कारण मंदिर की भूमान योजना को भी विस्तार देना पड़ा तथा परकोटों की संख्या बढ़ानी पड़ी। परंतु नए-पुराने निर्माणों के ये सम्मिश्रण कभी-कभी विचित्र लगते हैं।

इस युग की वास्तुकला का सर्वाधिक प्रसिद्ध उदाहरण है मदुरै का मीनाक्षी-सुंदरेश्वर मंदिर। इसका निर्माण सत्रहवीं सदी के मध्य में तिरूमलाई नायक के काल में हुआ था। इस विशाल मंदिर संकुल में वस्तुतः दो मंदिर भवन हैं एक सुंदरेश्वर के रूप में शिव को समर्पित है और दूसरा देवी मीनाक्षी के रूप में उनकी पत्नी को। बहुधा पूरे संकुल को मीनाक्षी मंदिर कहा जाता है। मंदिर के हर स्थान पर ताखों भित्ति स्तंभों और अन्य आकृतियों की भरमार है।

मुख्य मंदिर से जरा अलग हटकर बना विशाल सरोवर इस मंदिर का एक अन्य प्रमुख आकर्षण है। इसके चारों तरफ सीढ़ियां बनी हैं और एक स्तंभयुक्त

द्वार मंडप भी है। इस सरोवर का उपयोग आनुष्ठानिक स्नान हेतु किया जाता था। दक्षिण भारतीयों के जीवन में इस मंदिर का विशेष महत्व था और यह उनके सामाजिक व आर्थिक जीवन का अभिन्न अंग था। यह अपने आप में एक शहर जैसा था, इसके बाह्य प्रांगण में कभी-कभार बाजार भी लगता था और यहां हमेशा लोगों का आना-जाना लगा रहता था।

इस काल में प्रतिष्ठित देवता के दोनों पक्षों आध्यात्मिक तथा सांसारिक को ध्यान में रखकर निर्माण किए गए। मदुरा स्थापत्य शैली में न तो कोई नवीन निर्माण विधि अपनाई गई और न ही किसी नए प्रकार के स्थापत्य का विकास हुआ। इनमें प्रायः प्रारंभ में एक केंद्रीय देवालय तथा उसके चारों ओर खुला प्रांगण बनाया गया। आगे चलकर आवश्यकताओं में अभिवृद्धि के साथ उसके चारों सपाट छत द्वारा छाए हुए स्तंभयुक्त मण्डपों का निर्माण कर दिया जाता था, एवं कुछ स्थान छोड़कर इन निर्माणों को घेरती हुई आयताकार रक्षाभित्ति एवं प्रवेश के लिए एक से चार प्रवेश द्वार ऊंचे गोपुरों के रूप में बना दिए जाते थे। इस प्रकार क्रमशः एक के बाद एक सात प्राकारम तक बनाने के उदाहरण मिलते हैं।

नायकों का प्रमुखतम निर्माण मदुरा स्थित मीनाक्षी मंदिर है। इसे आदर्श मानकर श्रीरंगम (त्रिचनापल्ली), तिरुवरूर, रामेश्वर तथा चिदम्बरम् इत्यादि मंदिरों का निर्माण किया गया। इनमें से अधिकांश में चार घिरे हुए अहाते हैं तथा सभी के मुख्य तत्व आपस में मिलते-जुलते हैं।

दक्षिण भारतीय विकसित मंदिरों में तीन प्रमुख अंग हैं (क) गोपुर (ख) स्तंभ एवं स्तंभ युक्त विशाल मण्डप तथा (ग) पुष्करिणी या स्नानागार।

नायकों द्वारा निर्मित अन्य मंदिरों में तिरुवरूर, तिरुवन्नमलाई, तिरुनेलवल्ली श्री विल्लीपुत्तु तथा सुब्रह्मणियार इत्यादि प्रमुख हैं।

राजपूतकालीन स्थापत्य कला (राजस्थान एवं गुजरात)

गुप्तकालीन महान वास्तुकला शैली का प्रभाव प्राचीन राजपूताना (वर्तमान दक्षिण-पूर्व राजस्थान प्रदेश) तथा मध्य भारत के विशाल भू-भाग पर भी पड़ा था। इसी परम्परा में आठवीं से दसवीं शताब्दी के मध्य बहुत बड़ी संख्या में मंदिरों का निर्माण हुआ प्रतीत होता है।

जयपुर जिले में स्थित अबानेरी में गुर्जर प्रतिहार वंशीय अनेक सुन्दर मंदिर

थे जिनमें से अधिकांश अब विनष्ट स्थिति में हैं। हर्षत माता मंदिर इनमें सर्वप्रमुख है। इसी प्रकार जोधपुर के ओसिया कस्बे में सोलह मंदिर स्थित हैं, जिनका निर्माण गुर्जर प्रतिहार शासकों ने आठवीं से दसवीं शताब्दी के बीच करवाया था। इनमें हिंदू एवं जैन दोनों संप्रदायों के मंदिर हैं।

मध्य भारत के अंतर्गत मध्य प्रदेश में भी समकालीन मंदिर मिले हैं। इनमें से सबसे प्रसिद्ध ग्यारसपुर का मंदिर है। पास ही सागर शहर के निकट मंदिरों का एक समूह भी इसी श्रृंखला की एक कड़ी है।

राजपूत काल के अंतर्गत दसवीं से तेरहवीं शताब्दी के मध्य पश्चिमी गुजरात और दक्षिणी राजस्थान में व्यापक वास्तुकला आंदोलन के दर्शन होते हैं।

इस शैली की सर्वश्रेष्ठ वास्तुकृतियों का निर्माण सोलंकी शासन काल में हुआ, जिनकी राजधानी आधुनिक 'पाटन' नगर थी। यहां के अधिकांश मंदिर भग्नावस्था में हैं, क्योंकि तेरहवीं शताब्दी के अंत में यहां विदेशी इस्लाम वादियों ने इस क्षेत्र में अधिकार कर लिया तथा अपनी मस्जिदों के निर्माण के लिए यहां के उत्कृष्ट मंदिरों को गिराकर आवश्यक भवन सामग्री जुटाई।

'मोधेरा या मोडेहरा का सूर्य मंदिर' इस शैली का एक प्रमुख मंदिर है। इस मंदिर के जो भी अपशिष्ट हैं वह यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त हैं कि इसका संपूर्ण नियोजन उच्चकोटि का था। ऊंची जगती पर निर्मित इस मंदिर में परिक्रमा सहित गर्भगृह तथा इससे जुड़ा आच्छादित स्तम्भ युक्त विशाल कक्ष अथवा गूढ़ मण्डप है। मुख्य भवन के सामने परंतु उससे पृथक् एक अन्य सभाकक्ष है। इसके समक्ष एक अत्यंत सुरुचिपूर्वक उत्कीर्ण तोरण द्वार है। इस तोरण के नीचे से सीढ़ियां प्रारंभ हो जाती हैं जो मंदिर के सामने निर्मित विशाल सीढ़ी युक्त सरोवर में उतरती हैं। इस आयताकार जलाशय में उतरने के लिए अनेक समतल भूमियों एवं सीढ़ियों का जाल-सा बुना गया है।

दक्षिण राजस्थान में माउण्ट आबू में पर्वत श्रृंखलाओं के ऊपर 'संगमरमर द्वारा निर्मित' मंदिरों का एक समूह है। ये मंदिर गुजरात के सोलंकी मंदिरों के समकालीन हैं। गुजरात शैली की भांति यहां के मण्डप भी स्तम्भ युक्त एवं छिछले गुम्बजों वाले हैं।

माउंट आबू (राजस्थान) के विमल, तेजपाल और वास्तुपाल मंदिरों में जो शैली अपनाई गई (13वीं सदी), वह खजुराहो की वास्तुशैली से मूलतः भिन्न

नहीं है। ऊंची वेदिकाओं पर बने इन मंदिरों के शिखर अनेक लघु बुर्जियों से सज्जित हैं। छतें उभरी हुई व बुर्जियों के रूप में हैं। इस शैली की सबसे बड़ी विशेषता इसकी अति सूक्ष्म और खूबसूरत सज्जा है। छत इस तरह बनाई गई है कि वह कलशनुमा दिखती है, और एकदूसरे को काटती चपटी, आड़ी कड़ियों वाले स्तंभों पर टिकी है। छत में बने कोष्ठक केंद्रीय भाग में एकदूसरे से मिलकर मेहराब का निर्माण करते प्रतीत होते हैं, जबकि वास्तव में मेहराब का प्रयोग नहीं किया जाता था।

'भगवान आदिनाथ' अथवा प्रसिद्ध दिलवाड़ा मंदिर अपने समूह का सबसे प्रसिद्ध मंदिर है। मंदिर का सर्वश्रेष्ठ अंग 'स्तम्भ युक्त मण्डप' ही है। आदिनाथ मंदिर से ही संलग्न तथा इसी शैली व भवन सामग्री में नेमिनाथ या तेजपाल मंदिर का निर्माण किया गया है।

गुजरात में काठियावाड़ क्षेत्र के समुद्र तट पर स्थित सोमनाथ का शिव मंदिर, पश्चिम भारत का एक अत्यंत पवित्र एवं प्रसिद्ध मंदिर रहा है।

ग्वालियर नगर-दुर्ग के भीतर निर्मित पांच मंदिरों का एक समूह है। ये मंदिर अपनी विशिष्ट निर्माण शैली के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। यहां के पांच में से तीन मंदिर अधिक विशिष्ट हैं, जिनका निर्माण अनुमानतः ग्यारहवीं शताब्दी के अंतिम चरण में हुआ। ये मंदिर हैं   तेली का मंदिर; सास-बहू का मंदिर; और भोजपुर का शिव मंदिर।

अन्य विशाल स्मारकों में हैं   धाबुई का द्वार मार्ग, चित्तौड़ का जयस्तंभ (12वीं सदी) और चित्तौड़ में ही राणा कुम्भा का कीर्ति स्तंभ (12वीं सदी)। इनमें शिल्पकारों का कौशल बखूबी परिलक्षित होता है।

भारतीय-इस्लामी वास्तुकला

बारहवीं शताब्दी के अंतिम दशक में मुसलमानों का भारत से स्थायी सम्पर्क स्थापित हुआ। उत्तर भारत में मुस्लिम साम्राज्य की स्थापना से वास्तुकला की दो महान परंपराएं निकट आईं। निश्चित रूप से दोनों परंपराओं के सर्वश्रेष्ठ गुणों के संश्लेषण और संलयन से एक नई शैली सामने आई, क्योंकि दोनों में बुनियादी अंतर था। मुसलमानों की इबादत और अन्य मजहबी कार्य हिंदुओं से पूर्णतः अलग थे। भारत में मस्जिद और मकबरे ही मुस्लिम वास्तु कला के केंद्र थे   इनकी संकल्पना भी हिंदुओं से भिन्न थी। दोनों की निर्माण विधियां भिन्न थीं: मुस्लिम

देशों में इमारतें ईंट, चूना और गारा मसाले से बनती थीं, इसलिए स्थापत्य शैली मेहराबदार थी यानी चाप, गुंबद इत्यादि पर आधारित थी। भारत में निर्माणकार्य में पत्थरों का उपयोग होता था, इसलिए वास्तुशिल्प शहतीय या बीम आधारित था। इसमें स्तंभ, लिंटल और पिरामिडनुमा बुर्ज थे। इसी प्रकार साज-सज्जा व अलंकरण की अवधारणाएं भी अलग थीं। मुसलमानों के मामलों में विभिन्न धार्मिक विश्वास इसके मूल में थे। मुसलमान धार्मिक निषेधों के अधीन जीवित तत्वों को चित्रकारी में स्थान नहीं देते थे। उनकी साज-सज्जा में चौरस सतह पर बेलबूटों, ज्यामितीय आकारों या फूलकारी को महत्व दिया जाता था। कई तरीके से शिलाओं पर लेखन, पच्चीकारी तथा चित्रसज्जा होती थी। हिंदू शिल्पी समृद्ध अलंकरण में माहिर थे, जिसमें नैसर्गिक और विशेषकर मानव आकृतियां होती थीं।

भारत में मुस्लिम शासकों के आगमन से भवन निर्माण के क्षेत्र में अब तक मंदिरों और अन्य धार्मिक भवनों में अपनाई जा रही शैली से भिन्न नई-नई शैली का समावेश किया जाने लगा। इस शैली का मुख्य आकर्षण मेहराब और गुम्बद थे और निर्माण की यह चापाकार शैली भारतीय भवन निर्माण की स्तम्भों, बीमों और लिन्टरों की त्रिकोणीय शैली से अलग थी और वंश की कृत्रिम मेहराबों और गुम्बदों के बाद कुतुबमीनार के साथ बने अलाई दरवाजे से असली गुम्बदों और मेहराबों के निर्माण की शुरुआत हुई।

इस निर्माण शैली में विभिन्न मान्यताएं उभर कर आईं। इस्लामी शैली में भारतीय शैली का भी मिश्रण किया गया और इसका नमूना सजावटी ब्रैकटों, बालकॉनियों, लम्बाकार ढांचों में और छतरियों, मीनारों और अर्द्ध-गुम्बदीय द्वि-प्रवेश द्वारों में स्पष्ट दिखाई पड़ता है। इस्लाम में मूर्ति पूजा के वर्जन से इमारतों तथा अन्य ढांचों को व्यापक ज्यामितीय तथा अरबस्क डिजाइन से सजाया गया। कम उभार से पत्थर पर नक्काशों, प्लास्टर में गढ़े, चित्रित जड़ाऊ डिजाइन बेहद आकर्षक थे।

इस्लाम धर्म में शव के दफन की प्रथा से मकबरे का निर्माण उसकी एक अलग विशेषता थी जिसमें एक गुम्बद वाला कमरा जिसे इजरा कहा जाता है, बीच में पश्चिम की ओर मेहराब के साथ स्मारक और फिर जमीन के नीचे कमरा बनाकर कब्र बनाई जाती थी बाद में जिसके आस-पास बगीचे का विकास भी शुरू किया गया। बगीचे के बीच में चार वर्गाकार कक्षों से घिरे इस परिसर को

चार बाग कहा जाता था। जानकार लोग बगीचे विकास की इस चारबाग पद्धति को मुगलों की मूल भूमि काबुल घाटी से लिया जानते हैं। जहां भू-दृश्य एवं भू-भाग के अनुरूप बगीचे और आवासीय परिसर बनाए जाते थे। मुगलों ने भारत में भिन्न भू-भाग को देखते हुए इस बगीचा शैली में खूबसूरती से फेरबदल कर दिया। गुम्बद स्थापत्य की द्वि-गुम्बद तथा जड़ाऊ सजावट की पियत्रा-दूरा शैली को शुरू करने का श्रेय भी मुगलों को जाता है।

भारत में इस्लाम के आगमन पर दो परस्पर भिन्न शैलियों ने स्थानीय परिस्थितियों और निर्माण सामग्री की उपलब्धता के आधार पर देश के अलग-अलग भागों में एक-दूसरे की विशेषताओं को अपनाते हुए स्थापत्य कला को समृद्ध किया।

यदि मुसलमानों ने हिंदुओं की सौंदर्य और मजबूती को अपनाया तो मीनारों और अर्धगुम्बदाकार दोहरे द्वारों का चलन भी मुसलमानों ने दिया। इस दौर के सभी स्मारक इस सम्मिश्र संस्कृति के भिन्न तत्वों के परस्पर संलयन को बखूबी प्रकट करते हैं।

भारतीय इस्लामिक वास्तुकला को दो चरणों में विभाजित किया जा सकता हैः पठान काल (1206 से लगभग 1550 ई.) जो सूरी वंश के शेरशाह सूरी के साथ समाप्त होता है और मुगल काल (1505 से 1707 ई.), जो अकबर से प्रारंभ होकर औरंगजेब तक चलता है। पहले चरण को अनिश्चितता और अचिंतन रचना वाला काल बताया गया। दूसरे यानी मुगल काल में ही 'इस्लामी वास्तुकला की सार्वजनिक भारतीय शैली' सही अर्थों में सामने आई।

प्रारंभिक काल

1191-98 के दौरान दिल्ली में कुतबुद्दीन ऐबक द्वारा बनवाई गई *कुव्वतुल-इस्लाम मस्जिद* से ही भारत में नई वास्तु शैली का प्रारंभ माना जाता है। यद्यपि अपनी अभिकल्पना में यह वैसी ही है, जैसी एक मस्जिद होनी चाहिए, किंतु इसमें प्रयुक्त सामग्री हिंदू भवनों की टूट-फूट से प्राप्त की गई थी। इसीलिए यह आवश्यक समझा गया कि इबादत खाने के सामने इस्लामी तरीके का मेहराबदार पर्दा बनाया जाए।

कुतबुद्दीन ऐबक ने *कुतुबमीनार* (1206-36) का निर्माण प्रारंभ तो करवाया, लेकिन इसे पूरा करवाया इल्तुतमिश (अल्तमश) ने। बाद में फिरोज तुगलक और

सिकंदर लोदी द्वारा उसकी मरम्मत करवाई गई। कुव्वतुल इस्लाम मस्जिद के पास बनी इस मीनार को वास्तुकला का उत्कृष्ट नमूना माना जा सकता है। इसकी पांच मंजिलें हैं, जिनकी ऊंचाई ऊपर जाकर कम होती गयी है। नीचे की तीन मंजिलें धूमिल पीले और लाल बलुई पत्थर से बनी हैं, जिसे मौलिक निर्माण के दायरे में रखा जा सकता है। इसमें कोणीय और लम्बी गोल झिर्रियां हैं। ऊपर की बाकी दो मंजिलें बाद में जोड़ी गईं, जो गोलाकार हैं और उन पर संगमरमर लगा है। यह मीनार अपनी समरूपता और सज्जा की दृष्टि से अद्‌भुत है।

अजमेर में **अढ़ाई दिन का झोंपड़ा** कुतुबुद्दीन ऐबक ने बनवाया था, जिसका मेहराबदार पर्दा इल्तुतमिश ने लगवाया था। इसका इबादतखाना काफी खूबसूरत है और इसकी पश्चिमी दीवार में सफेद संगमरमर का सुंदर पच्चीकारी वाला मेहराब बना है। यह मेहराब अपनी सजावट व अलंकरण के हिसाब से काफी खूबसूरत बन पड़ा है।

आरंभिक काल के भवनों में मेहराब और गुम्बद के निर्माण का तरीका एक-सा ही रहा महरौली में गयासुद्दीन बलबन के मकबरे को गढ़े हुए पत्थर से बने मेहराब का, पहला उदाहरण बताया जाता है, परंतु इसके निर्माण की तिथि अभी भी निश्चित नहीं हो पाई है।

खिलजी काल (1290-1320) में डाटदार मेहराब और गुम्बद का प्रयोग पूरी तरह स्थापित हो चुका था।

अलाई दरवाजा अलाउद्दीन खिलजी की उस महत्वाकांक्षी योजना का अंग था, जो उसने दिल्ली में कुव्वतुल इस्लाम मस्जिद के विस्तार के लिए तैयार करवाई थी। भारतीय इस्लामी वास्तुकला के एक शानदार प्रतीक के रूप में मशहूर इस भवन में आकार की समरूपता, सर्वांग सम्पूर्णता और सूक्ष्म पच्चीकारी है। इसके निर्माण में लाल बलुई पत्थर और बाहरी दीवारों पर संगमरमर लगाने से आकर्षक रंग प्रभाव उत्पन्न हुआ है।

दिल्ली में **हजरत निजामुद्दीन औलिया का मकबरा** इस्लामी सिद्धांतों के अनुसार बनाई गई मस्जिद का सबसे पुराना उदाहरण है। मध्य में बने कक्ष के प्रवेश मेहराब में कोष्ठकों पर बीम बनाई गई है, जो बाद की सभी पूर्व मुगल इमारतों में नियमित रूप से इस्तेमाल की गई।

तुगलक काल में भारतीय इस्लामिक वास्तुकला ने नए आयाम हासिल किए। सामान्य तौर पर इस अवधि की वास्तुकला विशाल, खुरदरी पर सादी

है। मोटी और ढलवां दीवारें, गुम्बदों के सहारे के लिए छोटे मेहराब, कई गुम्बदों वाली छतें और भवनों के बाहरी कोणों पर क्रमशः पतली होती गई मीनारें इसकी खास पहचान हैं। चापाकार और बीम दोनों को मिला दिया गया है। इसकी वास्तुशैली की आडम्बरहीनता और सरलता को देखकर ऐसा लगता है कि लाल बलुई पत्थर और संगमरमर का प्रयोग त्यागकर मोटे प्लास्टर वाली चिनाई की दीवारें बनाईं गईं। खिलजियों के समय में दीवारों पर की जाने वाली समृद्ध साज-सज्जा व अलंकरण के स्थान पर सरल और पारस्परिक अभिरचनाएं की गईं। इस काल की कुछ महत्वपूर्ण इमारतों में तुगलकाबाद का किला है, जो नगर-महल-किला शृंखला का पहला उदाहरण माना जा सकता है। अब खंडहर हो चुका गयासुद्दीन का मकबरा भारतीय इस्लामी वास्तुकला के नए चरण का प्रतीक है और इसने परवर्ती मकबरों के लिए मॉडल का काम किया। इसमें आदिलाबाद का किला, दिल्ली में फिरोजशाह की राजधानी, (जिसे कोटला फिरोजशाही के नाम से जाना जाता है), दिल्ली के हौजखास में कुछ इमारतें, (जिसमें फिरोजशाह का मकबरा और आंशिक रूप से दो मंजिलें विद्यालय के अवशेष हैं)। निर्माण की आडम्बरहीन शैली के बावजूद इस युग की वास्तुकला भवनों के सर्वांग सम्पूर्ण अनुपात और सीधे-सादे उपयोगों की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। इस काल की इमारतों ने दक्कन, जौनपुर और मालवा की क्षेत्रीय वास्तुशैली को भी काफी प्रभावित किया।

सैयद काल इतना अल्पकालिक रहा कि इस दौरान कोई बड़ी इमारत अस्तित्व में नहीं आई। किंतु इस समय के अष्टकोणीय मकबरे अपनी एक विशिष्ट पहचान रखते हैं। इन मकबरों की साज-सज्जा में नीली टाइलों का प्रयोग किया गया है। इससे भवनों का रंग प्रभाव बढ़ जाता है। प्लास्टर के ऊपर बारीक नक्काशी और रंगों से चित्र बनाए गए हैं। गुम्बद पर कमल, गुलदस्ते और अन्य सजावटी स्वरूपों के व्यापक प्रयोग ने बाद की शैली को भी काफी हद तक प्रभावित किया।

लोदी काल के भवन निर्माण में कल्पना के उपयोग और नक्शों की तुखर विविधता के संकेत मिलते हैं। रंगीन टाइलों की सजावट अधिक समृद्ध और बहुल है। इस काल की मकबरा वास्तुकला दो प्रकार की है। यद्यपि दोनों में ही सलेटों ग्रेनाइट दीवारों का उपयोग किया गया है। एक के अष्टभुजाकार डिजाइन

में बरामदे हैं और छतों के कोण बाहर निकले हुए कोष्ठकों पर टिके हैं भवन एक मंजिले हैं जैसे सिकंदर लोदी का मकबरा। दूसरे के वर्गाकार नक्शे में कोई बरामदा नहीं है किंतु भवन के बाहरी भाग को दो और कभी-कभी तीन मंजिला होने का आभास दिया गया है। दीवारों से घिरा विस्तृत सज्जित उद्यान मकबरों को चारों ओर से घेरे रहता है। इससे पूरी भवन शृंखला में एक सौंदर्य का समावेश हो जाता है।

मध्य चौदहवीं सदी में विकसित समस्त क्षेत्रीय भवन निर्माण शैलियों में गुजरात शैली सबसे विशद्, सर्वाधिक महत्वपूर्ण और सर्वाधिक भव्य है। भारत-इस्लामिक वास्तुकला की गुजरात शैली स्तंभ और लिंटल प्रणाली के व्यापक प्रयोग के लिए जानी जाती है। बंद कक्ष नक्शे वाली मस्जिद के केंद्रीय भाग में नैसर्गिक प्रकाश की समुचित व्यवस्था के लिए खिड़कियों वाला अंतर्भाग होता है जो आसपास की छतों से ऊपर उठता हुआ दिखाई देता है। दो स्तंभों पर तोरण जैसी अर्धगोलीय मेहराब मस्जिद में सुंदर मीनारों का व्यवस्थित उपयोग और अति अलंकृत भारी पुश्तों का संयोजन इस शैली की प्रमुख विशेषता है। मकबरों के कक्षों के चारों ओर या मेहराबों में समृद्ध और पत्थर की नाजुक जालियां, खिड़कियां और आले तथा सुंदर डिजाइनों की नक्काशीदार कोष्ठकों पर टिकी बाल्कनी वाली खिड़कियां थी। गुजराती वास्तुकला महमूद बेघर्रा के शासन काल में अपने चरम उत्कर्ष पर थी। अहमदाबाद की मस्जिदों में रानी रूपमती (लगभग 1460 ईस्वी में) वाले भवन में मुस्लिम मेहराब के साथ स्वदेशी लिंटल या बीम का प्रयोग विशेष रूप से उल्लेखनीय है। मीनार की पुश्तों पर की गई सजावट बहुत सुंदर और विविधतापूर्ण है। पत्थर में पच्चीकारी जो गुजरात शैली की विशिष्टता है, उसका सर्वश्रेष्ठ रूप रानी सबराय या रानी सराय (1514 ई.) के मकबरे और मस्जिद में दिखाई पड़ता है। उसकी नाजुक नक्काशी और चमकीले उत्खनन और श्रेष्ठ डिजाइन तथा मस्जिद की अलंकृत मीनारों का शिल्प अद्‌भुत है।

मालवा शैली मूलरूप में चापाकार है। इसकी कुछ मौलिक विशिष्टताएं थीं जैसे मेहराब के स्तंभ का बीम के साथ कुशल व सुरुचिपूर्ण उपयोग, ऊंचे टैरेस जहां सुरुचिपूर्ण ढंग से बनी सीढ़ियों से पहुंचा जाता है, भवनों का भव्य और गौरवपूर्ण आकार, उनकी कुशल चिनाई, एक केंद्रीय गुंबद के चारों ओर

गुम्बद वाली छतरियों का व्यापक उपयोग और संयत अलंकरण, मनोहारी रंगसज्जा जिसमें आंशिक रूप से विभिन्न रंग वाले पत्थरों तथा संगमरमर और चटख रंगों वाली चमकीले टाइलों का उपयोग आदि प्रमुख है। इस शैली की मस्जिदों में मीनारें नहीं हैं। इस शैली के कुछ प्रमुख उदाहरण हैं अशर्फी महल, हिंडौला महल और जहाज महल यह दो छोटी झीलों के बीच बना हुआ है और अपने मेहराबदार कक्षों तथा खुली छत वाले पैवेलियनों, मुखर डिजाइनों वाले जलाशयों और चटख रंगों वाली पालिशदार टाइलों की सज्जा के लिए प्रसिद्ध है। अन्य उल्लेखनीय भवन हैं बाज बहादुर का महल, रानी रूपमती की छतरी, नीलकंठ महल और कालियादह महल। ये भवन इस काल के निर्माताओं की समृद्ध और खुशनुमा रुचियों के प्रतीक हैं। इनमें तालाबों, फब्बारों और सोपानी प्रभावों के रूप में जल का कल्पनापूर्ण उपयोग किया गया है।

जौनपुर (शर्की) शैली पर तुगलक काल की इमारतों का गहरा प्रभाव पड़ा था, लेकिन इसकी भी कुछ अपनी विशिष्टताएं थीं जैसे तोरण के पास विशाल स्तंभों वाली जालियां, जो पूजा कक्ष के या इबादतगाह के मध्य और बगल के खंडों को एक शानदार और मुखर स्वरूप प्रदान करती थीं।

दक्कन ने 14वीं और 17वीं सदी के बीच अपनी एक विशिष्ट वास्तुकला शैली का विकास किया। दक्कन शैली के प्रारंभिक निर्माण पर तुगलक वास्तुशैली का प्रभाव नजर आता है। बाद में इसने फारस की निर्माण कला से प्रभाव ग्रहण किया। फिर भी इसने अपनी एक अलग पहचान विकसित की। कल्पना की भव्यता और संरचनात्मक सिद्धांतों का सही सही अनुपालन उसके प्रमुख तत्व थे। बाद के परिपक्व चरण में संरचनात्मक स्वरूप और अलंकरण शैली में हिंदू प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। जैसे काले पत्थर से बने चिकनाए हुए तक्षित द्वारपक्ष और इसकी छज्जों को सहारा देने के लिए लगाई गईं सुंदर कोष्ठकें।

दक्कन में बहमनियों के पांच उत्तराधिकारी वंशों में आदिलशाही और कुतुबशाही वास्तु कला की दृष्टि से सबसे उल्लेखनीय थीं।

आदिलशाही नवाबों के काल में दक्कन शैली कल्पना, निर्माण विधियों, अलंकरण और सजावट की दृष्टि से एक परिष्कृत निर्माण शैली के रूप में उभर कर आई। इसकी विशिष्टताओं में तीन मेहराबों वाले महल का अग्र भाग था, जिसमें बीच की मेहराब बाकी दोनों से चौड़ी होती थी। उभरा हुआ गुम्बद आकार

में लगभग गोल था। लम्बी, पतली, मस्जिद मीनारें, स्तंभ के स्थान पर विशाल आकार के चिनाईदार पायों का अधिक उपयोग, नक्काशीदार कोष्ठक पर बने बड़े, बाहर को निकले छज्जे या कार्निस और व्योम रेखा से ऊपर निकलते लम्बमान प्रक्षेप जिन पर छोटे-छोटे गुम्बद होते थे अन्य विशेषताएं थीं। बीजापुर के भवन एक अन्य विशिष्ट कारण से उल्लेखनीय हैं छतों के अंदरूनी भाग पर किया काम जिसे देखने से ऐसा लगता है मानो उन्हें बिना किसी सहारे के बनाया गया है, क्योंकि पत्थरों की पट्टिकाओं को लोहे के हुकों तथा मजबूत मसाले से एक साथ जोड़ा गया है। पत्थर पर बारीक कलात्मक नक्काशी इन भवनों की एक अन्य विशेषता है।

बीजापुर शैली का सर्वश्रेष्ठ स्मारक **गोल गुम्बद** है। मुहम्मद आदिल शाह का यह मकबरा उसके अपने जीवन काल में ही बनाया गया था। यह अपने विशाल अर्द्धवृत्ताकार गुम्बद तथा फुसफसाते गलियारे के लिए प्रसिद्ध है। यह चार कोनों पर चार बुर्जियों वाला एक विशाल घन है। गुम्बद खंभों पर खड़ा है। कहते हैं गोल गुम्बद की गुम्बदी छत दुनिया में सबसे बड़ी है।

बहमनियों के बाद **गोलकुंडा** की कुतुबशाही निर्माण शैली दक्कन में अधिक प्रचलित थी। इसकी प्रमुख विशेषताओं में, इसका नमूना भवनों के मुखाग्र या मुहानी तथा मुंडेरों और मीनारों पर की गई बारीक सजावट सम्मिलित है। कुतुबशाही भवनों पर हिंदू शैली का प्रभाव सज्जा के रूपांकन पर प्रकट है। इसके संरचनात्मक स्वरूप और शेष कला सज्जा पर ईरानी प्रभाव है। इस शैली के भवनों में **गोलकुंडा के शाही मकबरे** प्रमुख हैं। इसमें भी सर्वश्रेष्ठ है मुहम्मद कुली कुतुबशाह का मकबरा। इसे दोहरे टैरेस पर बनाया गया है तथा शानदार गुम्बद और मीनारों से सजाया गया है। इसके अंदर ऊपर की ओर तीन गलियारे बने हैं। कुतुबशाही स्मारकों में सबसे शानदार है हैदराबाद की चारमीनार। जो संभवतः शाही दरवाजे के रूप में प्रयुक्त होती थी। अपनी कल्पना में अत्यंत भव्य और कारीगरी में पूर्णतः उत्कृष्ट इस इमारत के बीच में वर्गाकार प्रांगण है। जिसमें चारों दिशाओं में ऊंची मेहराबों वाले दरवाजे हैं तथा कोनों पर हैं चार सुंदर मीनारें हैं। इमारत के विभिन्न भाग अत्यंत संतुलित हैं और इसकी साज-सज्जा अत्यधिक सुंदर है।

भारतीय-इस्लामिक वास्तुकला की **कश्मीर शैली** अन्य किसी भी क्षेत्रीय

शैली से अलग है। क्योंकि इसमें मुख्य भवन निर्माण सामग्री के रूप में लकड़ी का उपयोग किया गया है। इन भवनों पर उस क्षेत्र के बौद्धमत का प्रभाव भी दिखाई देता है।

सूरकालीन वास्तुकला को लोधी शैली का नवीनतम और सबसे भव्य स्वरूप कहा गया है। इसके दो चरण हैं पहला चरण बिहार के सासाराम में मकबरों का समूह है। इनमें सौंदर्य के साथ-साथ एक प्रकार का गांभीर्य भी है। दूसरा चरण दिल्ली स्थित पुराने किले में शेरशाह की मस्जिद है। इसमें समृद्ध साज-सज्जा की गई है। सासाराम में शेरशाह का मकबरा एक झील के बीच में बना हुआ है। इसकी नींव सीढ़ीदार तहखाने से शुरू होती है जो पानी के अंदर से सीधा ऊपर उठता दिखाई देता है। इसके ऊपर एक वर्गाकार टैरेस है जो मकबरे के प्रांगण की भूमिका निभाता है और यह अष्टभुजाकार है। यह तीन घटते हुए चरणों में अभिकल्पित है। तीसरे चरण पर एक चौड़ा नीचा गुम्बद बना हुआ है।

मुगल काल

मुगलों ने सोलहवीं शताब्दी के आरंभ में बाबर के रूप में भारत में प्रवेश किया था। फरगना और काबुल के इस तैमूरी शासक ने दिल्ली के लोदी सुल्तान को तथा मेवाड़ के राजपूत राजाओं को 1526-27 में परास्त किया। उसके बेटे हुमायूं ने बंगाल, मालवा और गुजरात पर अधिकार करने के असफल प्रयास किए। अस्थिरता के अस्थायी दौर के बाद वह अंततः देश में अपने पैर जमाने में सफल हो ही गये। इस घटना के साथ ही भारत में भारतीय-इस्लामिक कला और वास्तु शिल्प का महत्वपूर्ण दौर शुरू हुआ।

बाबर और हुमायूं दोनों में से कोई भी अपने नए साम्राज्य का सुख भोगने के लिए बहुत दिन जीवित नहीं रहे। यह जलालुद्दीन मुहम्मद अकबर (1556-1605) का शासन काल था, जिसमें देश की कलाओं में असाधारण परिवर्तन देखने में आए। उसी के शासन काल में विशिष्ट मुगल वास्तुकला ने साकार रूप ग्रहण किया।

भारत में हर कहीं मुगल भवनों में एक विशिष्ट रूप से समान निर्माण शैली देखने में आई जिसकी विशेषताएं थीं चार केंद्रों वाले मेहराब सहित भव्य अग्रभाग, अर्ध गुम्बदीय छतें, आपस में एक-दूसरे को विभाजित करते मेहराब

वाले प्रकोष्ठ, उभरे हुए लघु ग्रीवा वाले गुम्बद, उलटे कमल के आकार के शिखर और कलश, पत्थर और संगमरमर में नक्काशी, पच्चीकारी, गोमेद और सूर्यकांत जैसे कठोर उपरत्नों का जड़ाऊकाम, मुलम्माकारी आदि। भारतीय-इस्लामिक वास्तुकला को इस शैली का संरचनात्मक योगदान दोहरे गुम्बद के रूप में है।

लाल बलुआ पत्थर और सफेद मार्बल के मिश्रण से मुगलकालीन भवन शैली, फारसी स्थापत्य और भारतीय शैली का आकर्षक संगम है जो सन् 14वीं शताब्दी के दिल्ली के सुल्तानों के स्थापत्य कला के अलाई दरवाजे के रूप में झलकता है। लाल बलुआ पत्थर पर सफेद संगमरमर की खूबसूरत सजावट के अन्य उदाहरण जमाली-कमाली (सन् 1528-29) किला-ए-कुहना मस्जिद (सन् 1534 ई.) तथा अत्गा खां का मकबरा (1556-67) हैं।

वास्तविक मुगल शैली में प्रथम स्मारक **हुमायूं का मकबरा** है जिसका निर्माण उसकी विधवा ने 1569 ई. में करवाया था। यह भारत भूमि पर विशिष्ट तैमूर रूप की पहली इमारत और मुगलों द्वारा विकसित मकबरा उद्यानों की शृंखला की पहली कड़ी है। ऊंचे और चौड़े वर्गाकार मंच पर खड़ी इस इमारत के पार्श्व में छोटे मेहराबदार मुख वाले कक्ष हैं। इस मकबरे की योजना और रूप में गहरा विदेशी, मुख्यतः मध्य एशियाई, फारसी प्रभाव नजर आता है। अपने नियोजन में यह मकबरा वर्गाकार है लेकिन, इसके कोण समतलित हैं। अपने विभिन्न भागों के सर्वांग संपूर्ण समानुपात, बलुआ पत्थर तथा सफेद संगमरमर का खूबसूरत विरोधाभास और मुखर मेहराबों के बड़े वक्रो और गुम्बद के बड़े आयतन के कारण यह मकबरा वास्तुकला की एक महान उपलब्धि है।

हुमायूं के मकबरे के निर्माण में तीन तरह के पत्थर नामतः लाल बलुआ पत्थर, सफेद पत्थर तथा स्फटिक का इस्तेमाल किया गया है। अहाते की दीवारें तथा दो द्वार स्थानीय स्फटिक से बने हैं और उनके ऊपर लाल बलुआ पत्थर संगमरमर लगाया गया है। मुख्य मकबरे के चबूतरे की सीढ़ियों को भी स्फटिक से सज्जित किया गया है। स्फटिक, दिल्ली के पथरीले क्षेत्र में ही मिल जाता है जबकि लाल बलुआ पत्थर, आगरा के निकट तातपुर की खदानों से लाया गया और सफेद संगमरमर, राजस्थान की प्रसिद्ध मकराना खदानों से आया।

विशाल बगीचे में निर्मित चार कक्षों और अनेक छोटे वर्गाकार ढांचों से घिरा यह मकबरा मुगलकालीन चार बाग का नमूना है जिसमें छोटे-छोटे अंतराल

पर जलमार्ग और जलकुण्ड और उन पर सेतु बनाए गए हैं। मकबरे के चारों ओर अनगढ़े पत्थरों की दीवार है और इसके पश्चिम एवं दक्षिण में प्रवेश द्वार बनाए गए हैं।

अकबर वास्तुकला का गुणी संरक्षक था। उसकी भवन निर्माण योजनाएं अनेक और विविध थीं, जो अधिकांशतः लाल बलुए पत्थर की बनी हैं और उनमें संगमरमर का सीमित उपयोग हुआ है। उदार दृष्टिकोण वाले और सुरुचि सम्पन्न अकबर ने स्वदेशी भवन निर्माण परम्पराओं को संरक्षण दिया। इसके फलस्वरूप उसके काल की इमारतों का सशक्त वास्तुशिल्प पूर्णतः स्वदेशी तथा विदेशी निर्माण शैलियों का विवेकपूर्ण समन्वयन है। अकबर के भवनों का केंद्रीय भाव बीम पर आधारित निर्माण हैं। चापाकार प्रणाली का उपयोग मुख्यतः सजावट के उद्देश्यों से किया गया है। अलंकरण मुख्यतः नक्काशी और मुखर जड़ाऊकाम का है। छेददार जालियां, दीवारों तथा कलापूर्ण अंदरूनी छतों पर सोने से या रंगों से चित्रण किया गया है।

अकबर का प्रथम विशिष्ट निर्माण यमुना के किनारे आगरा का लाल किला था। योजना में अनियमित अर्धवृत्ताकार, इसकी बड़ी मोटी दीवारें कंक्रीट और भराव की थीं, जिसके ऊपर बारीकी से तराशे गए लाल बलुआ पत्थर के बड़े-बड़े टुकड़े लगाए गए हैं। किले के अंदर उपस्थित वर्तमान भवन वे हैं जिनका निर्माण शाहजहां के शासन काल में किया गया था। किले की अकबरकालीन इमारतों में केवल जहांगीरी महल बचा हुआ है लाल बलुआ पत्थर का बना विशाल वर्गाकार महल, जिस पर की गई नक्काशी और निर्माण शैली पर हिंदू प्रभाव स्पष्ट है।

अकबर की असाधारण वास्तुकला परियोजना **फतेहपुर सीकरी** नगर का निर्माण था। यह आगरा से 36 किलोमीटर पश्चिम में है। इसका निर्माण उसने अपने पहले बेटे जहांगीर के जन्म के उपलक्ष्य में करवाया था। यहां के सारे भवन पूरी तरह लाल बलुआ पत्थर से बने हैं। रिहायशी भवनों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं पंचमहल, खुली छतरियों वाला पंचमंजिला भवन, इसकी अभिकल्पना पारस्परिक हैः **जोधाबाई का महल** बाहर से एकदम सादा है पर अंदर कलापूर्ण पच्चीकारी वाली छजलियां और पत्थर की छेददार खिड़कियां तथा अलंकृत आले हैं। स्वदेशी वास्तुशिल्प की छाप वाला एक मंजिला भवन है **तुर्की**

की सुल्ताना का महल। सुंदर पत्थर मढ़े प्रांगण और जल प्रवाहिकाएं तथा भवन के अंदर और बाहर की सतहों पर सुंदर पच्चीकारी की गई है। सरकारी भवनों में दीवान-ए-खास असाधारण है। यह अपनी आंतरिक सज्जा तथा ऊपर की ओर बनी गैलरियों के लिए असाधारण है जोकि कोनों से बाहर निकलती हैं। इसमें एक केंद्रीय स्तंभ है जिस पर लगे सुंदर कोष्ठकों पर गोलाकार सिंहासन आधारित है जो उससे निकलते पुलों के माध्यम से गैलरियों से जुड़ा हुआ है। **जामा मस्जिद** एक शानदार इमारत है। यह अपने सामान्य स्वरूप में तो इस्लामिक है लेकिन इसके निर्माण में विशेषकर इबादत के पार्श्वीय हिस्से और आच्छादित मार्ग को बनाने में हिंदू शैली का उपयोग भी किया गया है। उत्कीर्णन, चित्रकारी तथा पच्चीकारी के काम में अद्‌भुत सजावट है। बुलंद दरवाजा एक अन्य प्रभावशाली स्मारक है। इसका निर्माण अकबर द्वारा दक्कन के विजय अभियान से लौटने के उपलक्ष्य में किया गया था और यह मस्जिद का दक्षिणी द्वार है। रूपाकार में यह मुख्य रूप से फारसी है और इसका अर्धगोलाकार गुम्बद, जिसमें इसका वास्तविक दरवाजा लगा हुआ है इस युग की वास्तुकला की परिपाटी को अभिव्यक्त करता है। **शेख सलीम चिश्ती का मकबरा** सफेद संगमरमर का बना हुआ है। उस पर किया गया जाली का काम बहुत सुंदर है। नाजुक ज्यामितीय आकार गुजरात शैली की याद दिलाते हैं। इसकी गहरी कार्निस दुर्लभ स्वरूप वाली कोष्ठकों पर टिकी है और शानदार पच्चीकारी चंदेरी में बने शहजादी के मकबरे की याद दिलाती है।

जहांगीर काल की वास्तुकला कमोबेश अकबर युगीन वास्तुशिल्प को ही आगे बढ़ाती है। इस युग का सबसे महत्वपूर्ण स्मारक **अकबर का मकबरा** (1612-13) है जो आगरा के निकट सिकंदरा में है और जिसकी अभिकल्पना अकबर ने अपने जीवनकाल में ही की थी। संगमरमर की जालियों का काम और उपासना कक्ष जो चारों ओर से पीठिकाओं पर बने स्तंभों और रमणीय बेलबूटों से सजी दीवारों, टाइल सज्जा तथा स्वर्ण व अन्य रंगों में रेखांकन से अद्‌भुत प्रभाव उत्पन्न करता है। कुछ विद्वान यह मानते हैं कि इसकी वास्तु कल्पना बौद्ध विहारों के सिद्धांतों पर की गई है। यह मकबरा चारबाग और सुंदर बाग के मध्य में बना हुआ है, इसकी दक्षिण की ओर रमणीय आयतन प्रचुर पच्चीकारी सज्जा और चार सुंदर मीनारों से, (जो नई किंतु पूरी तरह विकसित शैली की

थीं और जिन्हें उत्तर भारत में पहली बार लागू किया गया था) बहुत प्रभावशाली नजर आता है।

एत्मादुदौला का मकबरा (1626) नूरजहां द्वारा बनवाया गया था। यह पूरी तरह संगमरमर का बना है और इस पर जड़ाई का सुंदर काम किया गया है। यह अकबर और शाहजहां की शैलियों के बीच एक सम्पर्क सेतु का काम करता है। दोनों शैलियों की इस सम्मिश्र शैली ने नाजुक और परिष्कृत स्वरूप ग्रहण कर लिया है। इसकी पूरी सतह पर मूल्यवान पत्थरों का जड़ाऊ काम बहुत ही दर्शनीय है। खुर्सान के प्रधानमंत्री ख्वाजा मुहम्मद शरीफ के बेटे और नूरजहां के पिता मिर्जा गियास बेग को एतमादुदौला या 'महान खजांची के नाम से जाना जाता है और उन्हें यह नाम उनके दामाद सम्राट जहांगीर द्वारा दिया गया। 1622 और 1628 के बीच जहांगीर की पत्नी नूरजहां ने अपने पिता का सुंदर मकबरा बनवाया जो यमुना नदी के बायीं ओर स्थित है। इसके नीचे की ओर आरामबाग, चीनी का रौजा जैसे अन्य प्रसिद्ध स्मारक हैं।

चारों ओर से ऊंची दीवारों से घिरे 165 मीटर के विशाल बगीचा परिसर के मध्य में स्थित यह मुख्य मकबरा, मुगलकालीन चार बाग मकबरा शैली का प्रतीक है। इसके पूर्व में इसका भव्य प्रवेश द्वार बनाया गया है। नदी के तट पर केंद्रीय कक्ष और गलियारे के साथ एक ऐसा ही भव्य जलमण्डल बनाया गया है। इस बगीचे की सिंचाई नदी तट पर खड़ी की गई पानी की टंकियों से लघु जलमार्गों के माध्यम से की जाती थी।

लाल बलुआ पत्थर के ऊंचे चबूतरे पर बना यह मकबरा वर्गाकार है। मुख्य मकबरे के केंद्रीय मेहराब के सामने इस चबूतरे पर चार टैंक हैं और प्रत्येक छोर पर बीच में एक-एक फव्वारा है।

एतमादुद्दौला का यह मकबरा, उस समय की सजावटी पद्धति, रूपों तथा शैलियों की प्रदर्शनी का उत्कृष्ट नमूना है। ऐसा माना जाता है कि जड़ाऊ कार्य के इस उत्कृष्ट नमूने के बाद ही ताजमहल में ऐसा सजावटी कार्य किया गया। मकबरे के तल को कई लम्बी पट्टियों और बॉर्डरों से सजाया गया है सीधे और लम्बे पैनल भी बनाए गए हैं।

मकबरे में ज्यामितीय तथा पच्चीकारी के साथ-साथ जानवरों की आकृतियां भी बनाई गई हैं। इनमें मयूर की आकृति का अधिक प्रयोग किया गया है।

इस्लामी कला में मानव-आकृतियां इस्तेमाल नहीं होती परंतु यहां सजावटों में मानव-अकृतियों का भी उपयोग किया गया है। कई गुलदस्तों में छतरी की सजावट की गई है और गुलदस्ते के अंदर एक मानव आकृति को रखा गया है। अतः कहा जा सकता है कि एतमादुद्दौला का यह मकबरा सजावटी जड़ाऊ कला के साथ-साथ मुगल स्थापत्य के संक्रमण काल का उत्कृष्ट नमूना है। **अब्दुल रहीम खानखाना का मकबरा** हुमायूं के मकबरे और ताज महल के बीच एक महत्वपूर्ण सूत्र का काम करता है। लाहौर के पास शाहदरा (पाकिस्तान) में **जहांगीर का मकबरा** एक बाग के बीचोंबीच बना हुआ है। इसकी प्रमुख अलंकरण विशेषताएं हैं संगमरमर की सतह पर समृद्ध जड़ाऊ काम, चमकीली पालिशदार टाइलें और चित्रकारी।

अकबर की सबल, शक्तिशाली आरंभिक मुगल शैली आगे चलकर शाहजहां काल में सुंदर और लावण्यपूर्ण हो गई। उसका युग संगमरमर की इमारतों का था। स्वाभाविक रूप से सतह अलंकरण की तकनीक संगमरमर पर उपरत्नों के कलात्मक जड़ाऊ काम में परिवर्तित हो गई। उसमें फूल, पत्तियां बनने लगीं। निर्माण शैली में संरचनात्मक रूप से भी बदलाव आया मेहराब का वक्र या घुमाव बहुदलीय आकार का हो गया। स्तंभों के आधारों पर बेलबूटों की पच्चीकारी होने लगी। शाहजहां के भवनों के गुम्बद अपने उभरे हुए स्वरूप में आंखों को बहुत अच्छे लगते हैं। शाहजहां ने अपनी निर्माण गतिविधियां आगरा के किले में बदलाव लाने से शुरू कीं। **दीवान-ए-खास** महल सुंदर दोहरे स्तंभों वाले बेलबूटों की पच्चीकारी से सजा था जिसमें उत्तर भारत में पहली बार बंगाल की वक्ररेखी कार्निस उपयोग में लाई गई थी। शीश महल आदि में संगमरमर का बहुत कलात्मक काम किया गया है। किले में सबसे अधिक प्रभावशाली इमारत **मोती मस्जिद** (1655) है। लाल बलुए पत्थर के आधार मंच पर स्थित इस मस्जिद में तीन सुंदर गुम्बद हैं। दिल्ली (शाहजहांनाबाद) स्थित **लाल किला** मोटी दीवारों से घिरा शानदार निर्माण है। दीवारों में जगह-जगह ऊंचे बुर्जों पर छतरीदार गुम्बदों का सिलसिला है। इसमें जाने के दो मुख्य द्वार हैं दिल्ली गेट और लाहौरी गेट। अंदर बने महल अपने सममित नियोजन के कारण विशिष्ट लगते हैं। बीच में एक सजावटी संगमरमरी नहर है, जिसमें ढालू प्रपति और सीढ़ीदार झरने हैं। दीवान-ए-खास समृद्ध और विविध शैलियों में सजाया गया है उपरत्नों का जड़ाऊ

काम, कम उभार वाले बेलबूटों तथा फूलों की पच्चीकारी स्वर्ण तथा अन्य रंगों की सजावट है। दीवान-ए-खास में एक शानदार सिंहासन, एक सफेद संगमरमर की छतरी वाले पैवेलियन जैसी संरचना है सिंहासन के फलकों पर मूल्यवान रंगीन पत्थरों के जड़ाऊ काम में एक जगह आरफियस को अपनी वीणा के साथ चित्रित किया गया है। यह माना जाता है कि यह काम यूरोपीय कलाकार आस्टिन द बोर्दे ने किया होगा। दिल्ली की जामा मस्जिद (1656) दुनिया की सबसे भव्य मस्जिदों में से एक है। इबादतगाह का अग्र भाग लाल बलुए पत्थर और सफेद संगमरमर से मढ़ा हुआ है और तीन सुंदर गुम्बदों पर (जो सफेद संगमरमर से बने हैं) काले संगमरमर की धारियों से सजावट की गई है यह संरचना संपूर्ण मस्जिद को सौंदर्य और गौरव प्रदान करती है।

शाहजहां युग की तथा भारतीय-इस्लामिक वास्तुकला की सबसे शानदार इमारत आगरा के **ताजमहल** को माना जाता है (1647-48)। इसे शाहजहां ने अपनी पत्नी मुमताज महल के मकबरे के रूप में बनवाया था। जिसकी मृत्यु 1631 में अपने चौदहवें बच्चे को जन्म देते समय हुई थी। इसका स्वरूप फारसी उस्ताद ईसा ने तैयार किया था। इसे पूरा होने में 14 वर्ष का समय लगा था। आज इसे दुनिया की सबसे प्रसिद्ध इमारतों में से एक माना जाता है। यह भवन एक टैरेस पर बना है जिसके कोनों पर बहुत ही सुंदर मीनारें खड़ी हैं। मकबरे की इमारत आयाम और आकार की दृष्टि से अपने में बहुत सादी है। वास्तुकला की दृष्टि से अपने रूप में यह हुमायूं के मकबरे की तरह है। लेकिन इसके प्रत्येक भाग का लयात्मक विन्यास और जिस दक्ष ढंग से ताजमहल का हर भाग एक-दूसरे से जुड़ा हुआ है वह इसे एक महान कलाकृति का रूप प्रदान करता है। ताज के अप्रतिम सौंदर्य के पीछे इसकी निर्माण सामग्रियों का चुनाव और साज-सज्जा की प्रक्रिया भी है। जिस तरह का संगमरमर उपयोग में लाया गया है वह प्रकाश के साधारण परिवर्तन के प्रति भी अत्यंत संवेदनशील हैं, इस तरह ताज में हर समय हर क्षण का बदलता रंग रूप प्रतिबिम्बित होता रहता है। मुख्य आकर्षण जालियों की विशेष कारीगरी, उपरत्नों की जड़ाई, वानस्पतिक साज-सज्जा, पच्चीकारी व फूल-पत्तों की रंगकारी है। सबके रूप सुंदर और रंग आंखों को आनंद देने वाले हैं। यह कहा जाता है कि ताज चाहे कितना भी सुंदर क्यों न लगता हो, अगर उसे उसके सुंदर परिवेश से अलग कर दिया जाए तो उसका

सौंदर्य और आकर्षण आधा रह जाएगा। इसके अलंकृत उद्यान, सरों वृक्षों की लम्बी कतारें, फब्बारों से सज्जित नहरें और ऊंचाई पर बना हुआ कमल ताल ये सब ताज महल के सामान्य वास्तु शिल्प में इस तरह एकरूप हो गए हैं कि उन्होंने इस मकबरे को एक अप्रतिम सौंदर्य प्रदान कर दिया है।

शाहजहां के बाद मुगल वास्तुकला में शैली और भवनों की संख्या दोनों ही दृष्टियों से गिरावट आई। कलाओं के प्रति औरंगजेब की विशेष अरुचि ने भी निसंदेह इस गिरावट में अपना योगदान दिया होगा। परवर्ती मुगल वास्तुकला का सबसे महत्वपूर्ण भवन औरंगजेब की पत्नी रबिया दुर्रानी का मकबरा है। यह औरंगाबाद में स्थित है। कुल मिलाकर वास्तुकला की दृष्टि से यह एक अत्यंत ही सामान्य भवन है। हालांकि इसमें काफी कलाकारी की गई है और इसके चारों ओर सुंदर उद्यान बना हुआ है। लाल किले में औरंगजेब द्वारा निर्मित **मोती मस्जिद** चमकदार सफेद संगमरमर की सुंदर इमारत है, जिसमें पूर्ववर्ती कुशल शिल्पकारी की झलक दिखाई देती है। यह कहा जा सकता है कि औरंगजेब की मृत्यु के साथ ही मुगल वास्तुकला के पतन की प्रक्रिया भी अपने निम्नतम स्तर तक जा पहुंची।

सफदरजंग के मकबरे (लगभग 1753 ईस्वी) के निर्माण द्वारा इस शैली में आए अवसान को रोकने का प्रयास दिखाई देता है। उद्यान शृंखला के वर्गाकार स्मारकों की महान परंपरा में बना यह मकबरा एक बड़े आच्छादित वर्गाकार टैरेस पर निर्मित है। मुख्य मकबरा दो मंजिला है जो पीताभ बलुआ पत्थर पर बारीक कारीगरी के साथ बनाया गया है।

गौरवशाली भारतीय-इस्लामिक वास्तु परम्परा मुगलों के साथ, या सही अर्थों में शाहजहां के साथ अस्त हो गई थी पर फिर भी यह किसी सीमा तक अवध के नवाबों के संरक्षण में फलती-फूलती रही। सन् 1784 में आसफुद्दौला द्वारा लखनऊ में बनवाये गये **बड़ा इमामबाड़ा** की आंतरिक सज्जा उल्लेखनीय है। अवध शैली का सर्वाधिक मुखर नमूना इमामबाड़ा का मुख्य प्रवेश द्वार है, जिसे रूमी दरवाजा कहा जाता है। यह अपनी प्रचुर मुखरता और सौंदर्य मिश्रण, समानुपातिक संतुलन और स्वरूप की विविधता के लिए जाना जाता है। परवर्ती अवध वास्तुकला पर यूरोपीय प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है।

भारतीय इस्लामिक वास्तुकला मैसूर के सुल्तानों हैदर अली और टीपू सुल्तान

के शासन काल में भी पल्लवित हुई। सुल्तान के ग्रीष्मकालीन आवास के लिए बना **दरिया दौलत बाग** अपने लालित्य पूर्ण समानुपातों, शोख चटख रंगों में समृद्ध सज्जा, युद्ध दृश्यों के भित्तिचित्रों और गद्दीनशीनों के जीवंत चित्रों के लिए जाना जाता है।

सिख शासकों ने अपनी निर्माण शैली के लिए मुगलों से प्रभाव ग्रहण तो किया लेकिन इसे मिलाकर एक नई वास्तु शैली का विकास भी कर लिया। सिख वास्तु कला का सबसे महत्वपूर्ण प्रतीक **अमृतसर का स्वर्ण मंदिर** (1764) है। यह एक बड़े सरोवर के मध्य में स्थित है और मुख्य भूमि से एक पक्के सेतु द्वारा जुड़ा हुआ है। इसकी नींव गुरु रामदास द्वारा रखी गई थी और इसका निर्माण उनके बेटे अर्जुन देव द्वारा पूर्ण किया गया था। *पर्सी ब्राउन* के अनुसार सिख वास्तुकला की विशिष्टताएं थीं छतरियों की बहुलता जो प्राकारों, कोणों और महत्वपूर्ण बिंदु या प्रक्षेपों को सज्जित करती हैं। अनिवार्यतः धारीदार गुम्बद का उपयोग जो कांसे या तांबे से मढ़ा होता था। पतली, अर्धवृत्ताकार कार्निस वाले झरोखों का अधिक प्रयोग, जिनके नीचे कोष्ठक बने होते हैं और समस्त मेहराबों पर प्रचुरता से बेल बूटाकारी की सज्जा होती है।

मुगलों के समानांतर चली राजपूत वास्तु शैलियां अत्यंत सुंदर और रोमानी हैं। अधिकतर इमारतों पर तरह-तरह के आकार की छजलियां हैं और एक तरफ से खुले लम्बे-लम्बे गलियारे हैं, जिन्हें कलात्मक ढंग से खचित-सज्जित कोष्ठकों पर टिकाया जाता है। एक अन्य महत्वपूर्ण स्वरूप तक्षित, आच्छादित कार्निस हैं जो धनुष जैसी छायाएं उत्पन्न करती हैं।

यूरोपीय प्रभाव

यूरोपीय लोग व्यापार करने के लिए भारत में आए थे। उन्होंने अनेक स्थानों पर अपनी बस्तियां बसाईं। इन बस्तियों में उन्होंने फैक्टरियों के अतिरिक्त यूरोपीय शैली के मकान भी बनाए। जब भारत में उनके पैर बखूबी जम गए तो उन्होंने सुदृढ़ किले और भव्य गिरजाघर जैसी अधिक मजबूत इमारतें बनानी शुरू कर दीं। उनके बनाए किलों का कोई वास्तुकालिक महत्व नहीं था। गोवा में पुर्तगालियों ने आइबेरियन वास्तुकला शैली में शानदार गिरजाघर बनाए और अंग्रेजों ने अपेक्षाकृत कम महत्वाकांक्षी ढंग से इंग्लैंड के गांवों में बने गिरिजाघरों से मिलते जुलते चर्च बनाए।

इस प्रकार भारत में एक विशिष्ट शैली के भवन बनने लगे। लेकिन विक्टोरियन शैली अपने आप में मौलिक उद्‌भावनापरक न होकर नकल थी, इसलिए उसमें इतनी सामर्थ्य नहीं थी कि वह भारतीय-इस्लामिक वास्तुकला की तरह भारत में भारतीय-ब्रिटिश वास्तुकला का भी आरंभ कर सके। विक्टोरियन वास्तुकारों ने भारत में। पूर्वीय या ओरियंटल शैलियों की नकल करने की गलती की। इस्पात के सहारे ईंटों वाले गुम्बदार भवन विक्टोरियाई शिल्पकला का सबसे भद्दा रूप था। कुल मिलाकर उन्नीसवीं सदी की अंग्रेज वास्तुकला किसी भी तरह यहां प्रचलित पुराने स्थापत्य की तुलना में नहीं ठहर सकी।

18वीं शताब्दी में कुछ दूसरे ब्रिटिश अफसरों ने वास्तुकला की *पल्लडियन शैली* को भारत में शुरू करने के प्रयास किए थे। लखनऊ में जनरल मार्टिन द्वारा बनवाई गई *'कांसटेंशिया'* इमारत भारत में उस निर्माण शैली का सबसे अच्छा उदाहरण है। क्रमिक रूप से टैरेसदार छतों से ऊपर उठता एक केंद्रीय बुर्ज इस शैली की विशिष्टता है।

19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में कुछ यूरोपीय निर्माताओं ने भारतीय और पश्चिमी वास्तुकलाओं के कुछ तत्वों की मिलीजुली निर्माण शैली के प्रयोग का प्रयास किया। इस अभियान का अग्रदूत एक सिविल सर्वेंट एफ.एस. ग्राउस था। जयपुर का संग्रहालय और मद्रास की मूर मार्किट इसी वास्तुकला के उदाहरण हैं। पंजाब के मशहूर भवन निर्माता सरदार रामसिंह ने लाहौर में सेंट्रल म्यूजियम और सीनेट हाऊस का खाका तैयार किया। सी. विट्टेट ने बम्बई में गेटवे ऑफ इंडिया का खाका बनाया। इसमें उन्होंने मुगल वास्तुकला के अनेक तत्वों का भी समावेशन किया था। विक्टोरिया युग के अनेक भवनों में कोलकाता और चेन्नई के गिरजाघर, शिमला और लाहौर के कैथेड्रल, लाहौर उच्च न्यायालय और कोलकाता उच्च न्यायालय भवन उल्लेखनीय हैं। लेकिन इनमें से किसी भी भवन को वास्तु कला के महान प्रतीक की संज्ञा नहीं दी जा सकती। विक्टोरियाई काल के अंत में भारत ने राष्ट्रीय जागरण और आंदोलन के युग में प्रवेश किया। इस युग के वास्तुशिल्प में उस काल की साम्राज्यवादी आवश्यकताओं तथा राष्ट्रीय आकांक्षाओं के सम्मिलन का प्रतिबिम्ब झलकता था। ब्रिटिश लोग रानी विक्टोरिया की स्मृति में एक मेमोरियल हॉल बनवाकर भारत में उसकी स्मृति को चिरस्थायी रूप देना चाहते थे। लेकिन कोलकाता के इस विशाल भवन की शैली ओरियंटल रखी गई ताकि भारतीय जनमानस संतुष्ट हो सके। दुर्भाग्यवश विक्टोरियान

मेमोरियल हाल के वास्तुकार इसे भारतीय-ब्रिटिश निर्माण शैली का एक उल्लेखनीय नमूना नहीं बना सके। इस भवन पर भारतीय विशिष्टताएं थोप दी गईं और उस पर गुम्बद लगा दिया गया जिसके बल पर यह ताज महल जैसा दिखना तो दूर उसकी भौंडी नकल भी नहीं बन सका। इसी तरह मुम्बई में प्रिंस ऑफ वेल्स म्यूजियम का निर्माण करते समय ओरिएंटल विशिष्टताओं की नकल करने का प्रयास भी सफल नहीं हो सका।

जब 1911 में भारत की राजधानी कलकत्ता से दिल्ली स्थानांतरित करने का निश्चय हुआ तो ब्रिटिश शासकों के सामने भारत में शानदार भवनों के निर्माण का महान अवसर उपस्थित हुआ। मुख्य वास्तुकार सर एडविन लुटियंस और उसके साथी सर एडवर्ड बेकर ने पहले नव-रोमन शैली में भवनों के खाके तैयार किए। लेकिन भारतीय पृष्ठभूमि में ये रूप अनुपयुक्त मालूम पड़े। दिल्ली के लिए फिर से योजना तैयार करने से पहले ब्रिटिश वास्तुकारों ने बौद्ध, हिंदू और इस्लामिक निर्माण शैलियों की विशिष्टताओं का अध्ययन किया। अंततः जब राजधानी ने अपनी भव्य इमारतों के साथ स्वरूप ग्रहण किया तो वायसरीगल महल के शीर्ष पर बौद्ध स्तूप जैसा एक बड़ा गुम्बद या शिखर नजर आया। अधिकतर भवनों में हिंदू अलंकरण और इस्लामिक शैली के तत्व विद्यमान थे। भारतीय वास्तुकला की विभिन्न शैलियों को यूरोपीय शैली में संश्लेषित करने के इस अपूर्व प्रयोग का सबसे बड़ा दोष यह रहा कि तथाकथित सौंदर्य और संरचनात्मक भव्यता के नाम पर सादगी, आधुनिकता और उपयोगिता को बहुत हद तक छोड़ दिया गया था। इस प्रयोग ने न तो भारत के वास्तुकलात्मक मूल्यों के लुप्त गौरव को फिर से जीवित किया और न ही यह नए युग के अनुरूप एकदम अलग और नए निर्माण के स्वरूप को ही प्रकट कर सका। अधिकतर भवन देखने में भारी भरकम, विशाल और मजबूत तो थे लेकिन साथ ही संकीर्ण, चारों ओर से बंद और स्वरूप में मध्य कालीन प्रतीत हुए। सर जॉन मार्शल द्वारा एक अच्छा काम यह किया कि उन्होंने मुगल शैली से प्रेरणा लेते हुए सुंदर उद्यानों की शृंखला को विकसित किया।

स्वतंत्रता पश्चात्

भारत के स्वाधीन होने तक पूरी दुनिया में एक सार्वभौम वास्तुकला का युग आ चुका था, जो किसी भी विशिष्ट शैली की सीमा में न बंधते हुए विज्ञान तथा आधुनिक भवन सामग्रियों की आवश्यकताओं के अनुरूप था, जिसे पूरी दुनिया

में स्वीकृति मिली और उपयोग में लाया गया। फैरो कंक्रीट के आगमन से पूरी दुनिया में न केवल वर्तमान वास्तुशिल्पीय अवधारणा में क्रांति आ गई, बल्कि इसने विभिन्न देशों को विशाल निर्माण की एक समान शैली अपनाने पर भी विवश कर दिया। केवल जलवायु ही वह तत्व था जिसके कारण इसमें स्थानीय स्तरों पर कुछ संशोधन परिवर्तन करने पड़े। हाल के समय में निर्माण की परंपरागत सामग्रियों, जैसे मिट्टी, के उपयोग के भी सफल प्रयोग किए गए हैं। वास्तुकला के नक्शों को इस विचार से तैयार किया जाता है कि सरलता से उपलब्ध उन निर्माण सामग्रियों का उपयोग किया जाए जो किसी स्थान विशेष की जलवायु के अनुकूल हों। जिनसे नैसर्गिक संवाहन या वायु संचार में भी सहायता मिले।

इस संदर्भ में ल्यूरी बेकर का नाम उल्लेखनीय है जिन्होंने केरल में सामूहिक आवास निर्माण में क्रांति ला दी थी। गरीबों के वास्तुशिल्पी के रूप में मशहूर बेकर का मूल निर्माण सिद्धांत भवनों का पर्यावरण या परिवेश में विलयन, जहां तक संभव हो निर्माण को भूदृश्य के अनुरूप रखना और स्थानीय रूप से उपलब्ध निर्माण सामग्रियों का अधिकाधिक उपयोग करना था ताकि स्टील और सीमेंट का कम से कम इस्तेमाल करना पड़े। उन्होंने फिल्टर स्लैब निर्माण विधि लागू की। मेहराबों और टोडों के प्रभावशाली उपयोग से पुनःसंवर्धित लिंटलों के उपयोग की बिल्कुल आवश्यकता ही नहीं पड़ी। उन्होंने मकानों के अंदर वायु संचार और ऊष्मीय सुविधा की दृष्टि से सफलतापूर्वक नए दृष्टिकोण अपनाए। निर्मित केंद्र तथा कॉस्टफोर्ड जैसे संगठन इस देश में असंख्य गरीबों के लिए आश्रय उपलब्ध कराने के लिए वास्तुशिल्पीय क्रांति के अग्रदूत बने हैं, और इस समय इसी बात की आवश्यकता भी है।

धातु मूर्ति शिल्प

भारतीय मूर्ति शिल्प केवल पत्थर तक ही सीमित नहीं है। कांसा भी इसका एक महत्वपूर्ण माध्यम रहा है। शक-कुषाण काल की कुछ छोटी कांस्य मूर्तियां मिली हैं। गुप्त काल में कांस्य और ताम्र मूर्तिकला का उत्कर्ष देखने को मिलता है। इस युग की सर्वाधिक प्रभावशाली मूर्ति 'सुल्तानगंज बुद्ध' की मूर्ति है। यह लावण्यमयी प्रतिभा पारदर्शी परिधान में सज्जित है। पाल कालीन कांस्य प्रतिमाएं बहुत बड़ी संख्या में मिलती हैं और निश्चय ही उनका निर्यात नेपाल और तिब्बत को हुआ था जहां वे स्थानीय धातु शिल्प शैलियों के लिए आदि रूप बनीं।

भारतीय कांस्य मूर्ति कला की दक्षिणा शैली दसवीं से तेरहवीं शताब्दी के बीच पुष्पित पल्लवित हुई। यह शैली इतनी सुरुचि सम्पन्न और मौलिक उद्भावनाओं से परिपूर्ण थी कि इसे धातु शिल्प का सर्वश्रेष्ठ स्वरूप माना गया। ऐसा प्रतीत होता है कि इस कला का उद्भव पल्लव काल (7वीं-8वीं शताब्दी ईस्वी) में हुआ था लेकिन इसका चरमोत्कर्ष चोल काल में देखने में आता है। भारतीय कला की एक महान रचना नटराज शिव हैं। इसमें देवत्व के गतिशील नृत्य के माध्यम से सृष्टि के उद्भव और संहार की प्रक्रियाओं को दर्शाया गया है। इस ब्रह्माण्ड और इसके उद्गम में निहित गति और स्थिरता की महान अतोंद्रोय समस्या को नटराज शिव की नृत्यलीन प्रतिमा में बहुत ही अच्छे ढंग से प्रदर्शित किया गया है। नटराज शिव की अनेक धातु प्रतिमाएं मिली हैं लेकिन इनमें सर्वश्रेष्ठ है तिरुवेलंगुडु (चित्तूर जिला लगभग 1100 ईस्वी) से प्राप्त प्रतिमा, जो चेन्नई संग्रहालय में सुरक्षित है।

चित्रकला

भोपाल के निकट भीमबेटका में गुफा चित्रों का सबसे बड़ा प्राचीनतम संग्रह मिला है जो नवपाषाण युग की हैं और इनमें समाज के दैनिक क्रियाकलापों को दिखाया गया है शिकार, नृत्य तथा शरीर-सज्जा। सबसे पुराने चित्र पशुओं के हैं, जैसे बैल, रीछ, बाघ आदि। लगता है इन रंग चित्रों का जादुई महत्व था। *पर्सी ब्राउन* के अनुसार ऐसे प्राचीनतम चित्र, जिनका काल निर्धारण किया जा सकता है, सरगुजा में रामगढ़ पहाड़ी की जोगीमारा गुफाओं की दीवारों पर मिलते हैं। अनुमान है ये भित्तिचित्र ईसा पूर्व पहली शताब्दी में बने थे।

भारत में चित्रकला के उद्गम के सम्बंध में कहा जाता है कि ब्रह्मा ने एक राजा को शिक्षा दी कि कैसे एक ब्राह्मण के मृत बेटे का चित्र बनाकर उसे पुनर्जीवित किया जा सकता है। बाद में ब्रह्मा ने उसे जीवित कर दिया था। सृष्टि के जनक के रूप में ब्रह्मा विश्वकर्मा से भी संबंधित हैं। जो देवताओं के वास्तुकार तथा कला व शिल्प के जनक हैं।

चित्रकला और अन्य अनेक कलाओं के सम्बंध में किसी समय अनेक भारतीय ग्रंथ उपलब्ध थे। परंतु समय के हेर-फेर के साथ अधिकांश ग्रंथ नष्ट हो गए। यद्यपि कुछ ग्रंथ ऐसे हैं जो आज भी उपलब्ध हैं। वात्स्यायन का काम-सूत्र इन्हीं में से एक है। इसका प्रारंभ करते हुए लेखक ने कहा है कि प्राचीन शास्त्रों के

संग्रह और उन शास्त्रोक्त विद्याओं के प्रयोग का अनुसरण करके बड़े यत्न से उन्हें संक्षेप में लिखकर उन्होंने काम-सूत्र की रचना की है। काम-सूत्र में जिन 64 कलाओं का उल्लेख है उनमें चित्रकला का स्थान चौथा है।

काम-सूत्र की जय मंगला नामक टीका में चित्रकला के 6 अंग कहे गये हैं रूप-भेद, प्रमाण, भाव, लावण्य योजना, सादृश्य और वर्णिका भंग।

रूप-भेद

रूप-भेद का अर्थ है ऐसी आकृति जिसकी किसी दूसरी आकृति से समानता न हो। इस प्रकार हम लम्बी, छोटी, गोल, चौरस, मोटी, पतली, सफेद या काली किसी भी वस्तु को ग्रहण कर सकते हैं। वस्तु के भीतर जो सौंदर्य है उसको हम अपने अनुमान, चिंतन और भावनाओं द्वारा पहचान सकते हैं। इसी विभिन्नता को एक में संजोकर रखना ही रूप-भेद है।

उदाहरण के रूप में किसी नारी के स्वरूप को एकाएक आंखों द्वारा नहीं पहचाना जा सकता। गोद में बच्चा लिए हुए नारी को हम माता कह सकते हैं। उसी के हाथ में झाड़ू देखकर नौकरानी की संज्ञा दी जा सकती है और कभी उसी को फटे चिथड़ों में दिखाकर दुखियारी का रूप दिया जा सकता है। यदि इन माध्यमों को हटा दिया जाए तो न तो हम उसे माता कह सकेंगे, न नौकरानी और न दुखियारी। परंतु उसके आंतरिक रूप को हम आत्मा के माध्यम से ही पहचान सकते हैं।

किसी भी चित्र में रूप-रेखाएं जितनी भी स्पष्ट, स्वाभाविक और सुंदर होंगी, चित्र उतना ही सुंदर बन पाएगा। किसी भी चित्र-रचना में यह विशेष गुण होना आवश्यक है। इसी गुण के द्वारा विभिन्न रुचियों वाले विभिन्न व्यक्ति उस चित्र से आनन्द उठा सकते हैं। किंतु ऐसा तभी संभव है जब चित्र के रूप-भेदों की बारीकियों का ध्यान रखा गया हो। रूप-भेदों से अनभिज्ञ होने के कारण चित्र की वास्तविकता को नहीं आंका जा सकता।

प्रमाण

प्रमाण का अर्थ है चित्र की सीमा, लम्बाई-चौड़ाई का निर्धारण करना। प्रमाण के द्वारा ही मूल वस्तु की यथार्थता का ज्ञान उसमें भरा जा सकता है।

उदाहरण के रूप में विशाल समुद्र की रचना एक छोटे-से कागज पर कर

देना और उसके सभी गुणों और विशेषताओं की सहज रूप से पहचान करवा देना चित्रकार की प्रमाण-शक्ति के द्वारा ही सम्भव हो सकता है। प्रमाण के द्वारा ही हम मनुष्य, पशु-पक्षी आदि की भिन्नता और उनके विभिन्न भेदों को ग्रहण कर सकते हैं। उनके समस्त अंगों का समावेश किस क्रम से होना चाहिए अथवा देवी-देवताओं और मनुष्यों के चित्रों में क्या अंतर होना चाहिए ये सभी बातें प्रमाण द्वारा ही निर्धारित की जा सकती हैं।

भाव

भाव चित्र की अनुभूति से उभरते हैं। स्वभाव, मनोभाव और उसकी व्यंग्यात्मक प्रक्रिया का भाव ही हमारे शरीर में अनेक स्थितियां पैदा करता है। भाव-व्यंजन के दो रूप हैं प्रकट और अप्रकट। प्रकट भाव को हम आंखों द्वारा देख सकते हैं, परंतु अप्रकट स्वरूप को व्यंजना द्वारा ही समझा जा सकता है। उसको हम अनुभव करके ही जान सकते हैं।

लावण्य-योजना

लावण्य सौदर्य में लुभावनापन होने को कहते हैं। रूप, प्रमाण तथा भाव के साथ-साथ चित्र में लावण्य होना भी आवश्यक है। भाव जिस प्रकार मनुष्य के भीतरी सौंदर्य का बोधक है उसी प्रकार लावण्य चित्र के बाहरी सौंदर्य का बोधक है। लावण्य-योजना के द्वारा ही चित्र को नयनाभिराम बनाया जा सकता है। कभी-कभी किसी विशिष्ट भाव के कारण चित्र में भी रूखापन आ जाता है तब लावण्य ही उसको दूर करता है। परंतु चित्र में लावण्य-योजना उचित रूप में होनी चाहिए। 'उचित रूप में' इसी बात को इस प्रकार कहा जा सकता है कि लावण्य मानो कसौटी पर सोने की रेखा है अथवा साड़ी पर एक सुंदर किनारी।

सादृश्य

किसी मूल वस्तु की नकल अथवा उसकी दूसरी आकृति बनाना अथवा उसकी समानता का नाम ही सादृश्य है। उदाहरण के लिए हम जिस वस्तु का चित्रण फिर करते हैं उसमें यदि मूल वस्तु के गुण-दोष समाहित न हों तो वह वास्तविक कृति नहीं कही जा सकती। स्पष्ट रूप से समझने के लिए कहा जा सकता है कि यदि किसी चित्रकार को कृष्ण व राम के चित्र बनाने हैं तो उसे उन दोनों की विशेषताओं का ज्ञान होना आवश्यक है। इस प्रकार राम और कृष्ण के चित्र में विशिष्ट भिन्नता यह होगी कि कृष्ण का मुकुट मोरपंख का होगा जबकि राम

का मुकुट इस प्रकार का नहीं होगा। कृष्ण के हाथ में बंसी होगी और राम के हाथ में धनुष-बाण।

सादृश्य द्वारा ही दर्शक चित्र को तुरंत पहचान लेता है कि वह चित्र किसका है। जिसको पहचानने में दर्शक को किसी प्रकार की दुविधा न हो वही चित्र शुद्ध चित्र कहा जाएगा। केवल सादृश्य द्वारा ही यह संभव है।

वर्णिका-भंग

चित्र में अनेक रंगों की मिली-जुली भंगिमा को वर्णिका-भंग कहते हैं। वर्णिका-भंग के द्वारा ही चित्रकार को इस बात का ज्ञान होता है कि किस स्थान पर किस रंग को भरना चाहिए तथा किस रंग के साथ कौन-सा रंग लगाना चाहिए। रंगों के भेद-भाव से ही हम वस्तुओं की भिन्नता अंकित करने में समर्थ हो सकते हैं। इसके लिए दीर्घ अभ्यास की आवाश्यकता होती है। यह उसी प्रकार है जिस प्रकार कि वर्ण-ज्ञान के बिना जप और पूजन आदि व्यर्थ हैं।

चित्रकला के परवर्ती विकास क्रम को देखने से पता चलता है कि भारतीय चित्रकारों ने इन्हीं सिद्धांतों के आधार पर काम किया था। नष्ट हो जाने वाली सामग्री पर बने उन प्राचीन चित्रों का अब कोई नमूना नहीं मिलता। ऐतिहासिक युग की प्राचीनतम उपलब्ध कलाकृति रामगढ़ की जोगीमारा गुफा में पीले और गेरूए रंग से बनी मानवाकृतियों और जलचरों के समूह चित्र हैं। इन्हें देखने से पता चलता है कि इन कलाकारों को अपने कार्य का अच्छा ज्ञान व अभ्यास था। जो प्राचीनतम चित्र आज उपलब्ध हैं अच्छी स्थिति में वे अजंता ऐलोरा, बाघ व सित्तनवासल गुफाओं में बने हुए हैं।

गुफा एवं भित्तिचित्र

भित्तिचित्र ठोस संरचना की दीवारों पर किया गया एक व्यापक कार्य है। भारत में, भित्तिचित्र कार्य के प्रमाण प्राचीन समय से ईसापूर्व दूसरी शताब्दी से 8वीं-दसवीं शताब्दी ई. तक मौजूद हैं। भारत के चारों ओर ऐसे कई स्थान हैं जो भित्तिचित्रों के लिए जाने जाते हैं, मुख्य रूप से प्राकृतिक गुफाओं एवं शैलकर्त्त गुफाओं में। इस समय की महान उपलब्धियों में अजंता, बाघ, सित्तनवासल, अरमामलई गुफाएं, रावण छाया शैल आश्रय, और एलोरा की गुफाओं में कैलाशनाथ मंदिर हैं। इस समय के शैलचित्रों की कथाएं या विषय मुख्य रूप से बौद्ध, जैन एवं हिंदू धर्मों से लिए गए हैं।

अजंता, बाघ, सित्तनवासलः अजंता में 29 गुफाएं हैं ये सभी अर्धगोलाकार चट्टानी कगार में खुदाई करके बनाई गई हैं। गुफा संख्या 9,10,19 और 26 चैत्य हैं, और बाकी विहार या भिक्षु आवास हैं। 9 और 10 नंबर की गुफाओं में बने चित्र शुंगकालीन हैं (ईसा पूर्व पहली सदी) बाकी चित्रों के पीछे गुप्तकालीन प्रेरणा है। इन चित्रों के विषय हैं सज्जा, आकृति रेखांकन और विषयपरक विवरण। इन भित्तिचित्रों में मुख्यतः बुद्ध के जीवन और जातकों के प्रसंग दर्शाए गए हैं। एक से दूसरे दृश्य के बीच कोई विभाजक रेखा नहीं है। एक चित्र दूसरे में, और दूसरा तीसरे में मिलता जाता है। गौण आकृतियां तथा चित्रकला की प्रक्रिया अत्यंत कुशलतापूर्वक दृष्टि को हर चित्र की केंद्रीय आकृति की ओर आकर्षित करती है। चित्रांकन में परिप्रेक्ष्य नहीं है, लेकिन पृष्ठभूमि की आकृतियों को चित्र में आगे बनी आकृतियों से कुछ ऊपर रेखांकित करके गहराई का भ्रम दिया गया है। यह प्रभाव आकृतियों को दीवार से अलग उभरते हुए दर्शाता है। अलंकरण रूपों में अभिरचनाएं, कुंडलित सज्जापट्टी, पशु आकृतियां, फूल और पेड़ हैं। सुंदर आकृतियां अथवा असाधारण और मिथकीय चरित्र, जैसे सुपर्ण, गरुड़, यक्ष, गंधर्व और अप्सराओं की आकृतियों को चित्रों में स्थान के आपूरण में मुक्त भाव से उपयोग में लाया गया है। गुफा संख्या 1 और 2 के चित्र इस शृंखला में नवीनतम हैं और वे सातवीं शताब्दी की रचना हो सकते हैं। 'मृत्युशय्या पर राजकुमारी' के दृश्य चित्र में दर्शित कारुणिकता और भाव प्रवणता की अभिव्यंजना तथा एक कथा के माध्यम से बताने की स्पष्ट शैली को भूरि-भूरि प्रशंसा मिली है। मां और शिशु विषय पर बने चित्रों की शृंखला को अजंता कला का एक सर्वाधिक आकर्षक उदाहरण कहा गया है। सिंहों और हाथियों के शिकार वाले दृश्य प्रकाश और छाया के रंग संयोजन में बनाए गए हैं जिनका कला के संसार में कोई सानी नहीं है और यह पूरी शृंखला विचित्र रीति से नैसर्गिक और आधुनिक है। शिल्पकला तथा अजंता में बने चित्रों में शरीर सौष्ठव और आत्मिक भाव की अभिव्यंजना है जो यथार्थ की भारतीय अवधारणा की अपनी विशिष्टता है।

मालवा में बाघ की चित्रकारी अजंता शैली का ही एक विस्तार कही जा सकती है और आकल्पन वैविध्य, सबल चित्रांकन और अलंकरण की गुणवत्ता की दृष्टि से उन्हें अजंता के चित्रों के समकक्ष ही कहा जा सकता है।

दक्षिण में यह शास्त्रीय परंपरा सित्तनवसल, कांचीपुरम, मलयादिपट्टी और तिरुमलैपुरम में दृष्टिगोचर होती है। सित्तनवसल के चित्र जैन विषयों और बिम्ब प्रतीकों पर आधारित हैं। जबकि अन्य केंद्रों में उनकी भावभूमि की प्रेरणा शैव या वैष्णव है। चोलकालीन भित्ति चित्र (11वीं शताब्दी) भी कला की दृष्टि से अत्यंत मूल्यवान हैं। आरंभिक लघु चित्र, जैसे बड़े आकार के दीर्घ भित्ति चित्र शैली की प्रतिक्रिया के रूप में उभरे थे। लघु चित्रकला पूर्वी और पश्चिमी भारत में 9वीं से 11वीं शताब्दियों में विकसित हुई।

भीम बैठका के शैलचित्रः भारत की नदी घाटी सभ्यताओं में नर्मदा-घाटी सभ्यता का अपना विशिष्ट स्थान है। उल्लेखनीय है कि यही भू-भाग है जहां आदि मानव की सभ्यता से लेकर ताम्र-पाषाण युगीन सभ्यताओं के साथ-साथ ऐतिहासिक युग का इतिहास भी दृष्टिगोचर होता है। दरअसल यह सम्पूर्ण क्षेत्र विन्ध्य व सतपुड़ा पहाड़ी की उपत्यकाओं में आदि मानव द्वारा चित्रित शैलचित्रों के रूप में चिन्हित, आदमगढ़ (होशंगाबाद), भीम बैठका (रायसेन), पान भूराड़िया आदि के लिए जाना जाता है। भीमबैठका के शैलचित्र समूहों को यूनेस्को द्वारा विश्व धरोहर स्थल के रूप में सम्मिलित किया गया है।

भीमबैठका में आदि मानव का निवास पूर्व पाषाणकाल अर्थात् लगभग 6 से 8 लाख वर्ष पूर्व जाना गया है, परंतु शैलचित्रों का प्रारंभ उत्तर पाषाण काल या मध्याश्म काल से माना गया है (लगभग 10,000 वर्ष पूर्व) जिनका क्रम निरंतर मध्य युग तक चलता है।

भीमबैठका में पांच सौ से अधिक शैलाश्रय हैं जिनमें शैलचित्र हैं। इनके बनाने में लाल, सफेद तथा हरे रंग का प्रयोग किया गया है। लाल रंग के चित्र लाल गेरू तथा हेमेटाइट पत्थर से बनाए गए थे जिनके कुछ टुकड़े पुरातात्विक उत्खनन से भी प्राप्त हुए हैं। हरे रंग के चित्र बेहद कम मात्रा में मिलते हैं। शैलचित्रों में तत्कालीन राजनैतिक, आर्थिक एवं सामाजिक जीवन की विशेष रूप से जानकारी होती है। खान-पान, रहन-सहन, पहनावा, पशुपालन तथा आखेट विषयक जानकारी वास्तव में अत्यंत ही महत्वपूर्ण हैं। प्रारंभिक चित्रों में घोड़े के चित्र नहीं मिलते हैं। बाद के चित्रों के प्रदर्शित युद्ध दृश्य में घुड़सवार दिखाए गए हैं जिनके ऊपर बैठे सवारों की वेशभूषा कुषाणकालीन व गुप्तकालीन प्रतीत होती है।

भीमबैठका के शैलचित्रों में प्रमुख रूप से आखेट दृश्य, युद्ध दृश्य, पशु पक्षी एवं जलचर दृश्य, व्यक्ति चित्र, नृत्य, धार्मिक चित्रण किया गया है और आंशिक रूप से उत्कीर्ण लेख पाए गए हैं।

प्रारंभिक लघु चित्रकला

बड़े पैमाने पर भित्ति चित्रकला के प्रतिक्रिया स्वरूप, नवीं से ग्यारहवीं शताब्दी में पूर्वी एवं पश्चिमी भारत में सूक्ष्म चित्रकला का विकास हुआ। लघु चित्रकला पुस्तकों एवं एलबम के लिए ताड़पत्रों, कागज एवं कपड़ों जैसे नाशवान पदार्थों पर बेहद छोटे पैमाने पर की गई।

पूर्व में बंगाल की **पाल शैली** (नवीं से बारहवीं शताब्दी) की चित्रकला का विकास ताड़पत्रों और कागज की पांडुलिपियों तथा उनके काष्ठ आवरणों पर चित्रांकन से हुआ। ये सभी चित्रांकन बौद्ध धर्म की वज्रयान शाखा से प्रेरित हैं। इस कला की विशिष्टताएं घुमावदार रेखांकन, दमित रंग प्रयोग और सादा संघटन है। फिर भी लघु चित्रकला पुस्तक चित्रण की कोई अलग शैली नहीं है। वस्तुतः ये दीवार चित्रों के संक्षिप्त रूप ही हैं। उनका लोक कला से कुछ लेना देना नहीं है क्योंकि उनमें पहले से ही विकसित आकृति और प्रविधि विद्यमान है जो बाघ और अजंता चित्र शैली की निरंतरता से गहनता से जुड़ी हुई है। औपचारिक और मनोवैज्ञानिक रूप से लघु चित्र अपने स्वरूप में पारम्परिक हैं। शैली की दृष्टि से वे पाल और सेन काल के प्लास्टिक कला के चित्रित समरूप ही हैं।

पाल शैली का प्रतिरूप है लघु चित्रकला की **अपभ्रंश शैली,** जो पश्चिम भारत में पांच शताब्दियों (11वीं से 15वीं सदी) की निरंतर परंपरा के रूप में प्रचलित रही। इसके दो चरण हैं पहला है ताड़पत्रों पर चित्रित पांडुलिपियों का और बाद वाला चरण कागज पर चित्रांकन का है। सर्वश्रेष्ठ चित्रकारी संक्रमण कालीन (1350-1450 ईस्वी) है जब कागज ताड़पत्रों का साथ देने के लिए सुलभ हो गया था। इन आकृति चित्रों की विशिष्टताएं कोंणीय चेहरे जिनका सिर्फ 3/4 भाग ही दृष्टिगोचर होता है, व नुकीली नाक व बड़ी आंखें, सादगीपूर्ण अलंकरण तथा अनेक प्रकार के विवरण चित्र द्वारा प्रकट होते हैं। इनकी विषयवस्तु तीन प्रकार की है आंरभिक चरण में जैन धर्म ग्रंथ और बाद में वैष्णव विषय, जैसे गीत-गोविंद और भौतिक प्रेम।

संक्रमण काल

इस्लाम के आगमन के बाद का संक्रमण काल 14वीं शताब्दी में एक सांस्कृतिक नवजागरण का परिणाम था। यह युग संश्लेषण का था जिसमें पश्चिमी भारत में चित्रकला की पारंपरिक शैली ही बची रह सकी।

विजयनगर काल की चित्रकला शैली की जड़ें दक्कन में एलोरा और दक्षिण में चोलकालीन चित्रों में निहित थी। लोकप्रिय और सर्वाधिक संरक्षित चित्र वीरभद्र मंदिर में हैं। छत के फलक 11 मीटर तक लम्बे हैं (एक की लम्बाई तो 18 मीटर है), चित्रित सीमांत अमूर्त रूपांकनों को उनकी वास्तुशिल्पीय संरचना से अलग करते हैं।

लेपाक्षी चित्रकला की विशेषता उनकी धरती वर्णता और नीले रंग का नितांत अभाव है। वस्तुतः सारे प्राथमिक रंगों का यहां उपयोग नहीं हुआ है। आकृतियों के रूप और उनके परिधान विवरण काले रंग में रेखांकित हैं तथा अन्य रंगों का उपयोग सपाट ढंग से किया गया है। इन चित्रों में चेहरे प्रत्यक्ष रूप से दृष्टिगोचर नहीं होते अपितु उनका आधा भाग ही दिखाई देता है। वृक्ष, चट्टानें और भूदृश्य के दूसरे तत्व वस्त्र रूप में संयोजित हैं, जिनमें खाली स्थान का भराव किया गया है और दृश्यांकन करते समय वास्तविक दृश्य संगम की सभ्यता के अनुरूपेण का कोई प्रयास नहीं किया गया है। पूर्ववर्ती भारतीय परंपराओं की तरह यथार्थवाद इनकी मुख्य चिंता नहीं रही है।

सल्तनतकालीन चित्रकला में भारत में नई आई फारसी चित्रकला और पारम्परिक भारतीय शैलियों के सम्मिलन के प्रयास दिखाई देते हैं। *नियामतनामा* की चित्रित पांडुलिपि (आरंभिक 16वीं सदी) में फारसी और जैन चित्र शैलियों का सम्मिलन दिखाई देता है। सल्तनत कालीन प्रयासों से प्रमुख शैलियां विकसित हुईं मुगल, राजस्थानी और दक्कनी इनका विकास लगभग साथ-साथ, करीब 1550 ईस्वी के आसपास हुआ था। सभी में कुछ तत्व समान थे लेकिन हर शैली ने अपनी अलग पहचान भी सुरक्षित रखी थी।

मुगल शैली

सोलहवीं शताब्दी में जब प्रथम बार स्थायी रूप से मुगल हमारे देश में आए, तब यहां की चित्रकला जीवित रहते हुए भी मृतप्राय हो रही थी। परंतु उनके

आगमन के साथ ही हमारी सुप्त चित्रकला में फिर से शक्ति और जीवन का संचार हुआ और नए कला-पारखियों के सौजन्य और सहयोग से वह पुनः अपने विकास के मार्ग पर चलने के लिए तत्पर हो गई।

मुगल स्वभाव से ही कलाप्रेमी थे। बुद्धिमान और स्वतंत्र विचारों के होने के कारण प्रकृति प्रेम उनमें कूट-कूट कर भरा था। इस्लाम के प्रादुर्भाव से पूर्व ही उनका चित्रकला-प्रेम पूरी तरह विकसित हो चुका था। अपनी कलाप्रियता को वह कभी छोड़ नहीं सके।

बाबर और हुमायूं के राजदरबारों में फारसी चित्रकला की तैमूरी शैली चालू रही। अकबर के काल में एक शैली का आरंभ हुआ जो आश्चर्यजनक रूप से अपनी प्रकृति में तो भारतीय थी पर जिसका निर्देशन दो फारसी उस्तादों ने किया था। वे थे मीर सैयद अली और ख्वाजा अब्दुस समद। बसावन, दशवंथ और केशुदास जैसे हिंदू चित्रकार अकबर के दरबार में बहुत प्रसिद्ध थे।

मुगलकाल में चित्रकला के विकास की ओर सर्वप्रथम सम्राट अकबर का ध्यान आकृष्ट हुआ। उस समय तक भारत के पारस्परिक गृहयुद्ध प्रायः समाप्त हो चुके थे और जनसामान्य पुनः सुख और समृद्धि की गोद में अपना जीवन व्यतीत करने की तैयारी कर रहा था। अकबर प्रारंभ से ही बुद्धिमान और विवेकशील था। उसने चित्रकला के महत्व को समझा और कलाकारों को समुचित राजाश्रय प्रदान किया। कला के प्रचार-प्रसार और उसके संवर्द्धन के संबंध में उसने इस्लाम के कठमुल्लाओं की एक नहीं सुनी।

अकबर के दरबारी अबुलफजल के अनुसार तत्कालीन भारतीय चित्रकारों का काम अनुपमेय था और संसार में कोई भी उनकी बराबरी नहीं कर सकता था। वस्तुतः इस बात में किसी को भी कोई संदेह नहीं हो सकता है कि अकबर और जहांगीर का काल भारतीय मुगल चित्रकला का स्वर्णिम काल था।

उन दिनों विशेषकर दो ही प्रकार के चित्र बने मिनिएचर और पोट्रेट। जाहिर है, मिनिएचर में बड़े चित्र नहीं बनते थे। आमतौर पर उनमें दृश्यों का ही अंकन होता था, जैसे युद्ध, दरबार अथवा शिकार के दृश्य। इसके विपरीत पोट्रेट में आमतौर पर व्यक्तियों की छवि का ही चित्रण किया जाता था और उनके अंग-प्रत्यंग बड़ी सावधानी के साथ रेखांकित किए जाते थे।

अकबर के समय के जिन प्रमुख चित्रकारों के नाम आज हमें मिलते हैं उनमें

अधिकांश हिंदू थे। तत्कालीन इतिहास में जगन्नाथ, बसावनलाल, हरबंस, केशव, मुकुंद और जसवंत आदि चित्रकारों का उल्लेख मिलता हैं। अबुलफजल के अनुसार केशव, मुकुन्द और जसवंत सामूहिक रूप से एक साथ चित्रों का अंकन करते थे। जगन्नाथ को मयूरों के चित्र में विशेषज्ञता प्राप्त थी और बसावन दरबार संबंधी चित्र और पृष्ठभूमि के रेखांकन में सिद्धहस्त थे। फतेहपुर सीकरी की दीवारों पर जो चित्र बने हुए हैं उन्हें इन्हीं कलाकारों की देन कहा जा सकता है।

अबुल फजल ने मुगल वंश का विस्तृत इतिहास लिखा था *अकबरनामा* इसमें अकबर के दरबार और साम्राज्य के प्रशासन प्रबंध का विस्तृत और क्रमवार विवरण था *(आइन-ए-अकबरी/ अकबर की संस्था)*। अकबर विवरण के वे अंश चुनता था जिन्हें वह चित्रित कराना चाहता था और फिर नियमित रूप से चित्रकारों के काम का निरीक्षण भी किया करता था। अबुल फजल ने इस महान रचना को 1590 ई. में अकबर को भेंट किया था। अकबरनामा में सौ से भी अधिक ऐसे चित्र हैं जिन्हें 'अत्युत्तम कलाकृतियां' माना गया है।

अकबरनामा में बने चित्र मुगल दरबार की गतिविधियां दर्शाने वाले असाधारण दस्तावेज हैं। इनमें महान राजपूत दुर्ग चित्तौड़ और रणथम्भौर की युद्धपराजय का चित्रण, शिकार दृश्य, दरबार में आने वाले राजदूत, एक शहजादे के जन्म पर मनाई जाने वाले हर्ष-उल्लास के दृश्य और फतेहपुर सीकरी के निर्माण के दृश्य हैं।

कुछ चित्रों में सुदूर क्षितिज के दृश्य हैं जिनमें दूरी का भ्रम देने के लिए नीले रंग का प्रयोग किया गया है। यह तरीका यूरोपीय कलाकारों से सीखा गया था। अकबर के शिल्पकारों ने पश्चिमी कला से प्रत्यक्ष सम्बंध स्थापित किया था। उसने 1575 में गोआ की पुर्तगाली बस्ती में कुछ चित्रकारों को भेजा था ताकि वे दुर्लभ कृतियां लेकर आएं और विदेशी शिल्प और कौशल भी सीख सकें।

यथार्थवाद मुगल शैली की चित्रकला का प्रमुख तत्व है। इसके अधिकांशतः विषय तत्कालीन भव्य दरबारी गतिविधियों पर आधारित हैं। माप में मुगल चित्र छोटे हैं और फारसी पुस्तक चित्रण कला से भी इसका संबंध जोड़ा जा सकता है।

अकबर द्वारा मुगल शैली में लघु चित्रकला को प्रोत्साहन दिया गया। जहांगीर ने इस परंपरा का अनुपालन किया। बादशाह तथा शाही घराने के सदस्यों के

अतिरिक्त मुगल कलाकारों ने फकीरों, साधु-संतों, नर्तकियों, सैनिकों, प्रेमियों, सुलेखकों, तथा चित्रकारों के लघु चित्र भी बनाए। यद्यपि जहांगीर के काल में समूह चित्रांकनों को प्रश्रय दिया जाता था, परंतु कलाकार ज्यादातर एकल चित्र ही बनाया करते थे।

बाबर के प्रकृति प्रेम को जहांगीर ने पूर्णता से ग्रहण किया था और उसने कलाकारों को दुर्लभ पशु-पक्षियों के चित्र बनाने के काम में लगाया था। कुछ पशु-पक्षियों के संपूर्ण चित्र उपलब्ध हैं जैसे हिमालय महोख, नर मीरू (विक्टोरिया और अल्बर्ट संग्रहालय, लंदन में संग्रहीत) और बाज (प्रिंस आफ वेल्स म्यूजियम, बम्बइ)। समझा जाता है ये सभी चित्र कलाकार मंसूर ने बनाए थे। ये अद्‌भुत चित्र हैं, जो न केवल विवरण की परिशुद्धता बल्कि रंग की नाजुक समझ और बारीक ब्रश कार्य की दृष्टि से महान कलाकृतियां हैं। कलाकारों ने खेल के मैदान के अत्यंत रोमांचक दृश्य भी चित्रित किए हैं। 'लाल फूल' शीर्षक चित्र मंसूर द्वारा बनाया गया सर्वश्रेष्ठ पुष्प चित्रांकन है।

जहांगीर-काल में चित्रकला की एक नवीन शैली का भी प्रचलन हुआ, जिसे फ्लोरेन्स पेंन्टिग कहते हैं। उसके अंतर्गत फूल और पत्तियों के विविध प्रकार के चित्र बनाए जाते हैं। दिल्ली और आगरा के किलों की दीवारों पर इस शैली के बेहद अच्छे नमूने मिलते हैं। आज कपड़ों पर हम जो विभिन्न प्रकार के डिजाइन देखते हैं यह फ्लोरेंस शैली ही थी। इस प्रकार अकबर द्वारा प्रारंभ की गई भारतीय मुगल चित्रकला का पूर्ण विकास हम जहांगीर के काल में देखते हैं।

जिस कला की आराधना में जहांगीर ने अपना सम्पूर्ण जीवन व्यतीत कर दिया वह उसके निधन के बाद स्वयं मृत हो गई। इसका कारण यह था कि बाद के मुगल सम्राटों को चित्रकला में अपेक्षित रुचि नहीं रह गई थी।

शाहजहां के काल में चित्रकला को वास्तुकला जितना महत्व नहीं दिया गया। हालांकि इस कला में तकनीकी दृष्टि से अवश्य निखार आया, लेकिन यह घिसीपिटी एकरस-सी हो गयी और पहले जितनी जीवंत नहीं रही। औरंगजेब के शासन काल में मुगल दरबारों में कला का पतन हो गया।

दक्कन चित्रकला

दक्कन सल्तनत की अकबर के समय से भी पहले से अपनी स्वतंत्र सांस्कृतिक परंपरा थी। दक्कनी शैलियां मुगल चित्रकला की समकालीन थीं। हालांकि उसने

अपना परंपरागत स्वरूप विजयनगर और बहमनी राज दरबार से प्राप्त किया था। इब्राहिम आदिल शाह के समय में बीजापुर के राज भवन की चित्रकला अत्यधिक ऊंचाई तक पहुंची।

गोलकुंडा के चित्र फलों, सुगंधित फूलों और पालतू जानवरों में राजकीय रुझान दर्शाते हैं। बाद में इनकी जगह हैदराबादी शैली ने ली, जो कि कार्यान्विति में कोमल व मुगल परंपरा जैसी थी।

राजस्थानी चित्रकला

राजस्थानी चित्रकला का उद्‌गम आरम्भिक 16वीं सदी के सल्तनत काल को माना जा सकता है। इसी काल में राजस्थान में चित्रकला की उपशैलियां भी विकसित हुईं। लेकिन मेवाड़, आमेर, बूंदी और मालवा केंद्रों के आरंभिक चित्र 17वीं सदी के आरंभ से ही मिलने शुरू होते हैं। सभी शैलियों में कुछ समान तत्व भी हैं जो इस बात का संकेत है कि ये सभी उपशैलियां एक सामान्य राजस्थानी चित्र शैली से निकली हैं। ये चित्र समकालीन साहित्यिक कृतियों और संगठित रूढ़ियों से गहन रूप से प्रभावित हैं और इन्हीं के रूपांकनों को अपना आधार बनाया है। अपनी संरचना और रंग संयोजन में ये सभी उपशैलियां सज्जात्मक हैं।

मेवाड़ः 1605 में मेवाड़ के पहाड़ी क्षेत्र में तैयार की गई रागमाला चित्र-शृंखला के साथ हम इस शैली के विशिष्ट चित्रकला कार्य को देखते हैं। मेवाड़ शैली के चित्रों में मुख्यतः कृष्ण के जीवन तथा गोपियों के साथ उनके रास-रंग, हिंदी काव्य के नायक-नायिका विषयों और भारतीय रागों (रागमाला) का स्वरूप चित्रण किया गया है। भागवत तथा रामायण संदर्भों पर आधारित चित्र अपेक्षाकृत व्यापक फलक पर अवधारित और चित्रित हैं। दृश्यों में अंकित सैकड़ों आकृतियां तत्कालीन सामाजिक जीवन की पृष्ठभूमि में अपनी-अपनी भूमिकाएं निभाती दिखती हैं। ग्रामीण जीवन, विवाह समारोह, शोभायात्राएं, नृत्य और संगीत तथा सामाजिक सम्मिलन और राजमहलों का जीवन जैसे विषय इनमें अंकित किए गए हैं।

पक्षियों और पशुओं के चित्रांकन से इस शैली के गुजराती उद्‌गम का पता चलता है। घोड़ों और हाथियों के चित्रों के यथार्थपरक स्वरूप पर शाहजहां काल का मुगल प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है। हालांकि दृश्यावली में मुगल शैली के प्रकृतिवाद का अभाव है, लेकिन इसका चरित्र कल्पनाशील है जो अपने

परंपरागत चित्रांकन के बावजूद अद्वितीय सौंदर्यशाली हैं। घने पेड़, कमल पुष्पों से भरी नदी और गहन नील बादलों से धरती पर गिरती वर्षा की बूंदें, आकाश में कौंधती विद्युत का संकेत देती स्वर्ण रेखाएं, बहुत ही नयनाभिराम दृश्य प्रस्तुत करती हैं। सन् 1652 के बाद मेवाड़ चित्रशैली की प्रगति के बारे में कुछ विशेष पता नहीं चलता, लेकिन रागमाला चित्र-शृंखला और सुचित्रित भागवत पुराण को देखने से यह निश्चित लगता है कि मेवाड़ चित्रशैली की समृद्ध परंपरा 17वीं शताब्दी के अंत तक चलती रही थी।

मारवाड़ः चित्रकला को मारवाड़ ने अपने आधारों पर विकसित किया और मुगल यथार्थवादी प्रवृत्तियां पृष्ठभूमि में आने लगीं। जोधपुर मारवाड़ शैली के एक मुख्य केंद्र के रूप में उभरकर आया और राजा उदयसिंह द्वारा मुगलों के साथ संधि करने के समय से आरंभ राजपूत चित्रकला प्रवृत्तियों को दरबार में प्रश्रय मिलना रुक गया। उन्हें पुराना समझा जाने लगा। लेकिन सन् 1750 के बाद से राजपूत तत्व एक बार फिर उभरने लगे और यद्यपि परवर्ती राजपूत कलाकार मुगल चित्रण तकनीकों को अधिक पसंद करते रहे, यह धीरे-धीरे सच्ची राजपूत चित्र शैली में बदल गई। जोधपुर शैली के सर्वाधिक महत्वपूर्ण चित्र राजपरिवार तथा सामंतों द्वारा घुड़सवारी करते हुए बनाए गए हैं। जोधपुर और नागौर शैली के चित्रों में मानव आकृतियों के चौड़े मीन नेत्र और पेड़ों के रीतिबद्ध चित्रण में अत्यंत मुखर अभिव्यक्तियां प्रकट हुई हैं।

18वीं शताब्दी तक राजस्थानी चित्रकला राजस्थान के हर राजदरबार में अपना स्थान बना चुकी थी। बूंदी, जयपुर, किशनगढ़, बीकानेर और कोटा इस शैली के नए केंद्र बने थे। वैसे यह शैली आत्मा से हिंदू थी और 15वीं शताब्दी से देश की कला व संस्कृति पर अपना व्यापक प्रभाव जमा चुके वैष्णववाद के रूप में लोकप्रिय हिंदू संस्कृति के पुनर्जागरण से प्रेरित थी।

किशनगढ़ः अठारहवीं सदी की राजस्थानी चित्रकला की एक महत्वपूर्ण शैली के रूप में किशनगढ़ शैली विकसित हुई। जोधपुर शैली की ही एक उपशाखा यह किशनगढ़ शैली वल्लभी सम्प्रदाय के अनुयायी और भगवान कृष्ण के भक्त राजा सामंत सिंह (1748-64) के व्यक्तित्व से जुड़कर समृद्ध हुई। राजदरबार के चित्रकारों में निहालचंद का नाम सबसे प्रसिद्ध था। उन्होंने एक ऐसी असाधारण रीतिबद्ध शैली विकसित की, जिसमें उनकी कृतियों का छरहरापन और उनकी

बादामी आंखें प्रमुखता लिए हुई थीं। सुंदरता के लिहाज से इनमें गेयता का तत्व था। इन चित्रों में राधा और कृष्ण के प्रेम प्रसंगों की ही बहुलता थी।

जयपुरः सवाई प्रताप सिंह (1778-1803) के समय से ही जयपुर की चित्र शैली ने बिल्कुल नया रूप धारण किया। मुगल साम्राज्य अपने अंतिम दौर में था। इसीलिए राजपूती कला पर इसका कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। यह समय सामान्य अराजकता, असुरक्षा, अनैतिकता और अत्यधिक विलासिता का भी था। अतएव, विवेक की सुविधा के लिए धर्म का नया दृष्टिकोण सामने आया। उदाहरण के लिए कृष्ण की रासलीला प्रेम संबंधी लौकिक मनोरंजन बन गई। यह सब कुछ चित्रकला में प्रतिबिम्बित हुआ। हालांकि पारम्परिक अभिव्यक्तियां बनी रहीं, किंतु चित्रकला सजावटी कला बन गई।

बूंदीः दक्षिण-पूर्व राजस्थान में बूंदी और कोटा के रजवाड़ों में संगति अनुसार दिलचस्प चित्र शैलियां विकसित हुई। **बूंदी की चित्रकला** में राव छत्रसाल और भाऊ सिंह के दरबारी दृश्य प्रमुखता लिए रहे और पूरी 17वीं तथा 18वीं सदी के दौरान कुलीनों, प्रेमियों और राजप्रसाद की महिलाओं के दृश्य ही चित्रित किए जाते रहे।

कोटाः कोटा का रजवाड़ा 1625 में एक मुगल आदेश के अंतर्गत बनाया गया था और कुछ कलाकार ऐसे थे, जिन्होंने दोनों जगहों पर कार्य किया। कोटा में एक अज्ञात कलाकार ने हाथियों की लड़ाई और अपने शाही संरक्षकों की बारीक चित्रकारी कर इसे और परिष्कृत और कल्पनाशील बनाया। कोटा 18वीं सदी में बनाए गए आखेट दृश्यों के कारण अत्यंत प्रसिद्ध हो गया, किंतु दरबारी चित्रकला 19वीं सदी तक जारी रही। कोटा चित्रकारी के अंतिम महान संरक्षक या यूं कहें कि राजपूती चित्रकला के अंतिम संरक्षक राव राम सिंह द्वितीय (1827-1865) थे, जिन्होंने अपने कुलदेवता के मंदिर में पूजा-अर्चना के दृश्यों, परंपरागत शिकार, दरबार और जलसों के दृश्यों को बड़ी ही खूबसूरती से चित्रण हेतु प्रोत्साहित किया।

पहाड़ी चित्रकला

हालांकि राजस्थान की चित्रकला को इंगित करने के लिए 'राजपूती चित्रकला' का शब्द बहुधा प्रयोग में लाया गया है, लेकिन पंजाब के पहाड़ी इलाकों के छोटे हिंदू रजवाड़ों में भी महत्वपूर्ण और भिन्न चित्रशैली विकसित हुई। हिमालय की

तराई का यह लम्बा और कम फैलाव वाला क्षेत्र राजस्थान की ही भांति कई स्वतंत्र राज्यों में बंटा था, जो चेनाब, रावी, व्यास, सतलज और यमुना की समृद्ध घाटियों में फैला था। इनमें से अधिकांश राज्य जैसे वसोहली, चम्बा, गुलेर, जम्मू, नूरपुर, कुल्लू, गढ़वाल, कांगड़ा और अन्य कई बर्फीली चोटियों और अनुपम भू-दृश्यों के बीच स्थित थे। इन पर परम्परागत राजपूत परिवारों का शासन था, जो आपस में विवाह या अन्य कारणों से एक दूसरे के सम्बंधी भी थे।

इन पहाड़ी राज्यों की चित्रकला, जिसे पहाड़ी कला कहा गया, न तो आकस्मिक रूप से विकसित हुई थी और न ही वहां के लोगों से बिल्कुल अलग किस्म की थी। यह पहाड़ियों के गीत, संगीत और धार्मिक विश्वासों से सराबोर और उनकी भावनाओं और अनुभवों की गहराइयों में रची-बसी थी।

पहाड़ी शैली का प्रेरक तत्व और निमग्न होने का भाव प्रेम है। यहां के लघुचित्रों में कृष्ण की बाल लीलाओं और उनके ग्वाले सखाओं या राधा के साथ उनके प्रेम-प्रसंगों, अन्य लीलाओं या बांसुरी बजाने का चित्रण है, पर प्रमुख विषय पुरुष के स्त्री से प्रेम या स्त्री के पुरुष से प्रेम से ही लिया गया है, जिसमें राधा और कृष्ण का प्रेमिका व प्रेमी के रूप में सांकेतिक चित्रण है।

अपने पहले चरण में यह चित्रशैली **बसोली** राज्य में विकसित हुई। राजा कृपाल सिंह (1678-1694) के शासन काल में यह शैली अपना एक अलग ही कलेवर लिए विकसित हुई, जो परंपरागत लोककला और मुगल शैली का मेल भी हो सकती थी।

18वीं शताब्दी के प्रारंभ में कई चित्रशालाएं खुली, जिनमें बसोली शैली ही स्थानीय तत्वों के साथ निरूपित होती रही। रसमंजरी, भागवत पुराण, गीत गोविंद, बारमासा और राजमाला पर आधारित हजारों लघुचित्रों को मिलाकर व्यापक चित्र बनाए गए।

यह शैली अपनी शुरूआती सजीवता और चेतनता, गहरी रेखाओं और चटक रंगों के कारण 1740 तक बनी रही, इसके बाद उत्तर भारत की राजनीतिक उथल-पुथल ने लघुचित्रों की कला को प्रमुखता से प्रभावित किया। नादिरशाह के आक्रमण और मुगल बादशाह मुहम्मद शाह की उदासीनता और 1750 में अफगानी बादशाह अहमद शाह अब्दाली के सामने पंजाब के सूबेदार के आत्मसमर्पण से स्थिति और बदतर होती चली गई।

नए लोगों के आगमन से स्थानीय कलाकारों के मेल और उनकी सम्मिलित प्रतिभा से उपजे परिष्कार का असर पहाड़ी कलाकारों पर पड़ा, जिन्होंने बसोली शैली की 'प्राकृत प्रखरता' का क्रमशः त्याग कर दिया। **गुलेर और जम्मू** इस नई चित्रशैली के महत्वपूर्ण केंद्र रहे और इस परिवर्तित शैली में बनी कलाकृतियां पहाड़ी कला के मध्यकाल की मानी गईं।

गुलेर की नई शैली मुख्यतः प्रभावी कलाकारों के परिवार की ही एक शैली थी, जो संभवतः जम्मू व कश्मीर मूल के रहे होंगे और गुलेर में बस गए होंगे। तथापि, इस परिवार के सदस्य पंडित सेऊ की अगुवाई में इन पहाड़ी क्षेत्रों के कई केंद्रों में कार्य करते थे। वैसे गुलेर में पनपी शैली बाद के चरण की सबसे भिन्न शैलियों में से थी, जिसमें उन महिलाओं का प्रशांत व सौम्य चेहरा चित्रित किया जाता था, जिनके प्रेमी उनके पास नहीं थे। इसके विपरीत बसोली शैली की नायिकाएं उदास और आवेशाकुल रहती थीं। पंडित सेऊ के पुत्र नैनसुख को गुलेर शैली का सर्वाधिक प्रसिद्ध और प्रवर्तक कलाकार माना जाता है।

कृष्ण की लीलाओं को समर्पित कई लघुचित्र गुलेर शैली के ही हैं और उन्हें मध्य युग की इस शैली के सर्वोत्कृष्ट रूप में चित्रित किया गया है।

जम्मू और गुलेर दोनों स्थानों पर मुगलों का आंशिक प्रभाव देखा जा सकता है। जम्मू में मुगल शैली के साथ सामंजस्य बिठाने के प्रयास दिखते हैं तो गुलेर में मुगल और बसोली शैलियों का बेहतर सामंजस्य है। यहां के चित्रों में मनोरम तरलता तथा स्वाभाविकता है। व्यक्ति चित्रों में मुद्राओं और भाव-भंगिमाओं की विशेष भूमिका रही और चेहरे से ही पूरे चरित्र की पहचान हो जाती थी। इन नई विशेषताओं के साथ बसोली शैली की अन्य खूबियां भी विद्यमान रहीं।

कांगड़ाः कांगड़ा की एकांत घाटी में कलाकारों ने जिन चित्रों का निर्माण किया, उनका स्थायी महत्व है। राजा संसार चंद, जहां महान योद्धा और कुशल राजनीतिज्ञ था, वहीं उसमें कला के प्रति भी अगाध प्रेम था। उनके दरबार में चित्रकारों का जमघट लगा रहता था। उनके काल में कांगड़ा शैली का अच्छा विकास हुआ।

कांगड़ा शैली वस्तुतः दर्शनीय और रोमांटिक है। इसमें पौराणिक कथाओं तथा रीतिकालीन नायिकाओं के चित्रों की प्रमुखता है। कांगड़ा शैली के चित्रों में सर्वाधिक प्रभावशाली आकृतियां स्त्रियों की हैं।

कांगड़ा कलम के चित्रकार सदैव स्त्री चित्रों की दिशा में सचेष्ट रहे हैं, सर्वदा ही उन्होंने भारतीय परम्परा के अनुसार उसके आदर्शरूप को ही ग्रहण किया है। लारेंस विलियम का मानना है कि कांगड़ा शैली नितांत निजी है और उसका आधार प्राचीन भित्तिचित्र हैं। इस शैली की एक उपशाखा सिख शैली के रूप में 19वीं सदी में पंजाब के महाराजा रंजीत सिंह के शासनकाल में पल्लवित हुई।

मंडी कलम चित्र शैलीः पहाड़ी चित्रशैली में यह एक महत्वपूर्ण स्थान रखती है। मंडी कलम की शुरुआत सोलहवीं शताब्दी में हुई जब मुगलकाल का दौर परवान पर था। कांगड़ा कलम की तरह मंडी कलम को उतनी ख्याति नहीं मिल पाई। मंडी राज्य की स्थापना के साथ ही मंडयाली लोक संस्कृति और लोक कला के उत्थान की प्रक्रिया आम जनमानस के बीच शुरू हुई। जिसमें पहाड़ी चित्रशैली में महत्वपूर्ण स्थान रखने वाली मंडी कलम भी एक है।

मंडी कलम की शुरुआत मंडी के शासक केशव सेन के शासन काल में हुई, जो मुगल सम्राट अकबर का समकालीन था। मंडी चित्रशैली में लोककला और राजसी वैभव का समावेश रहा है। साधारण जनमानस के हाथों संवरी और कुशल चितेरे के संरक्षण में बढ़ी मंडी कलम निचले स्तर की आम गृहिणी से लेकर राजदरबार में संरक्षण प्राप्त चित्रकार की तूलिका तक से उकेरी गई। गृहिणियों द्वारा घर के आंगन में लिखणू और डहर के रूप में तथा पंडितों और विद्वानों द्वारा जन्मपत्रियों, धार्मिक और तांत्रिक पुस्तकों, पांडुलिपियों से लेकर आदमकद तस्वीरों, भित्ति चित्रों और कपड़ों पर मंडी कलम उकेरी गई। यहां तक कि कामशास्त्र के रंगीन चित्रों को भी बारीकी से उकेरा गया है।

मंडी कलम का विकास 17वीं शताब्दी में अधिक हुआ है। इस दौरान बहुत सारे चितेरे मुगल शासक औरंगजेब के भय से पहाड़ों की ओर रुख कर चुके थे। मंडी रियासत में भी ऐसे कुछ चितेरों को पनाह मिली, जिसके कारण मंडी कलम पर मुगल चित्रशैली का प्रभाव भी देखने को मिलता है। मंडी कलम में तत्कालीन वेशभूषा, जनजीवन और नायिकाओं के तीखे नैन-नक्श बारीकी से उकेरे गए हैं। मंडी रियासत के सबसे पुराने राजमहल दमदमा महल की दीवारों पर आज भी मंडी कलम के चित्र उकेरे हुए हैं। हालांकि उनका रंग फीका पड़ गया है।

मंडी कलम के चितेरों में पं. ज्वाला प्रसाद और पं. भवानीदत्त शास्त्री का

नाम भी लिया जा सकता है। वास्तव में सदियों पुरानी इस पहाड़ी चित्रशैली की परम्परा को आगे बढ़ाने वाला आज कोई चित्रकार मौजूद नहीं है। लेकिन ग्रामीण अंचलों में आज भी यह लोक कला के रूप में महिलाओं द्वारा बनाए जाने वाले लिखणु, डहर और छापे के माध्यम से जिंदा है।

तंजावुर चित्रकला

17वीं से 19वीं शताब्दी तक तंजावुर शैली की चित्रकला काफी प्रसिद्ध थी, जो तंजौर के मराठा शासकों साराभोजी द्वितीय (1797-1833) और शिवाजी द्वितीय (1833-58) और मैसूर में मुम्मादि कृष्णराजा वोदयार (1799-1865) (जिसने टीपू सुल्तान की मृत्यु के बाद साम्राज्य में हिंदू शासन पुनर्स्थापित किया) के काल में फली-फूली।

विष्णु, शिव और कृष्ण कलाकारों को प्रिय थे। परंपरागत रूप से, चित्रकार मूर्ति शिल्प के सिद्धांत का पालन करते थे, क्योंकि ये चित्र पूजा और आनुष्ठानिक कार्यों के लिए बनाए जाते थे, ना कि प्रदर्शन के लिए, जैसा कि आजकल होता है।

तंजौर शैली में एक चित्र को बनाने में लगभग तीन हफ्ते लगते थे। जो पद्धति इस्तेमाल की जाती, वह बहुत ही मजेदार होती थी। ये चित्र जैक की लकड़ी पर बनाए जाते थे, जिस पर अविरंजित वस्त्र चिपकाया जाता था। (तेलुगू में इसे 'गादा' कहते हैं) इसके ऊपर चूना-पत्थर, चाक पाउडर, गोंद और शहद के मिश्रण को प्रतिमा के रेखाचित्र के ऊपर तहों में लगाया जाता था। इसके बाद हजारों बिंदुओं वाले परंपरागत रूप को इस मिश्रण के साथ समुद्भृत किया जाता था। पीछे की तरफ से पृष्ठ भूमि के कुछ भागों को उभारा जाता था तथा साड़ी की किनारी, फर्नीचर, वस्त्र और आभूषणों को इस मिश्रण द्वारा अतिरिक्त तह दी जाती थी।

एक बार सूखने के बाद इसमें रत्न लगाए जाते थे, पहले हीरे, माणिक्य और लाल का उपयोग होता था और सोने की पत्तियां इमली और शक्कर के घोल से तैयार गोंद द्वारा चिपकाई जातीं थीं। अंत में सजावट की जाती थी।

परंपरा के अनुसार रंगों का इस्तेमाल शुद्ध और समतल होता था। पृष्ठभूमि हमेशा लाल और हरी चित्रित की जाती थी। हरे रंग के वस्त्र पार्वती के लिए बनाए जाते थे। बाल गोपाल को सफेद दिखाया जाता था, जबकि वयस्क कृष्ण

नीले दर्शाए जाते थे। आकृति के बाहरी किनारे गहरे लाल व भूरे रंग के होते थे। कला इतिहासकारों के अनुसार परम्परागत तंजौर कला ऐसे लोगों की देन थी, जो उस समय अपने देवी-देवताओं में अपने लिए राहत व सांत्वना तलाश रहे थे और अपनी पहचान के लिए तत्पर थे, यह उस समय की बात है जब देशी राजाओं ने अपने आपको विदेशियों (अंग्रेजों) के हाथों बेच डाला था।

हालांकि तंजौर शैली की चित्रकला को उच्चकोटि की कला नहीं माना जाता है, फिर भी इस शैली का ऐतिहासिक महत्व है। मराठा काल, जिसमें यह शैली पनपी व विकसित हुई, और उसके बाद आधुनिक चित्रशैली के आगमन तक भारत की दृश्यमान कलाओं की परंपरा अवरुद्ध ही रही।

मैसूर चित्रशैली

1565 ईस्वी में जब विजयनगर साम्राज्य का पतन हुआ, तो इस पर निर्भर रहने वाले चित्रकारों एवं उनके परिवारों को बड़ा धक्का लगा। हालांकि, चित्रकारों के परिवारों के पुनर्वास के लिए राजा बोदयार (1578-1617) ने उन्हें जरूरी सेवाएं प्रदान कीं। राजा बोदयार के उत्तराधिकारियों ने भी विभिन्न मंदिरों के निर्माण एवं महलों के चित्रकारी के माध्यम से चित्रकारों का संरक्षण किया। हालांकि हैदरअली और टीपू सुल्तान का ब्रिटिश साम्राज्य के विरुद्ध युद्ध के परिणामस्वरूप कोई भी पेंटिंग अक्षुण्ण नहीं रह सकी। 1799 में टीपू सुल्तान की मृत्यु के पश्चात्, राज्य मैसूर के पूर्व राजवंश परिवार के पास पहुंच गया। मैसूर के राजा मुमादी कृष्णराजा वोदयार (1799-1868) ने मैसूर की प्राचीन परम्परा का पुनरुद्धार किया और कला को अपना संरक्षण प्रदान किया। मैसूर स्कूल की मौजूद अधिकतर पेंटिंग्स इसी शासनकाल की हैं। अधिकतर चित्रकारी को मैसूर के जगन मोहन महल की दीवारों पर देखा जा सकता है। इन चित्रों में मैसूर शासकों, उनके पारिवारिक सदस्यों और भारतीय इतिहास में महत्वपूर्ण व्यक्तित्वों को उकेरा गया है। शैलचित्रों में पुराणों एवं महाकाव्यों से लिए गए दृष्टांतों को प्रदर्शित किया गया है।

आधुनिक चित्रशैली

भारत में चित्रकला के आधुनिक युग की शुरूआत वर्तमान शताब्दी के साथ आरंभ हुई। इतने थोड़े से समय में भारतीय चित्रकला ने जो प्रगति की उसका श्रेय वर्तमान पीढ़ी के उन सभी कलाकारों को है, जिन्होंने आर्थिक, सामाजिक और

राजनीतिक परिस्थितियों की चिंता किए बिना अपनी साधना जारी रखी। ये कलाकार विभिन्न वर्गों से सम्बंधित हैं। आधुनिक चित्रकला के छः प्रमुख स्कूल और स्थान माने जाते हैं। ये स्थान हैं कोलकाता, मुंबई, दिल्ली, चेन्नई, हैदराबाद और जयपुर।

वस्तुतः आधुनिक चित्रकला का इतिहास बंगाल स्कूल से आरंभ होता है। यह आधुनिक चित्रकला की पृष्ठभूमि है। भारत में बंगाल स्कूल की स्थापना का श्रेय ई.बी. हैवल और अबनींद्रनाथ टैगोर को दिया जाता है। दोनों ने मिलकर खो चुके मूल्यों को पुनर्जीवित करने और अपनी स्वदेशी कला को नया कलेवर देने का प्रयास किया। हालांकि, इन्होंने एक बार फिर प्राचीन काल के विषय ही चुने गए, लेकिन भारतीय चित्रकारों को उनके गौरवशाली अतीत की याद दिलाते हुए आत्मविश्वास के साथ कुछ नया करने की प्रेरणा भी मिली।

इसके पहले उन्नीसवीं शताब्दी के अंत में यूरोपीय शैली को अपनाने वाले भारतीय चित्रकारों में मदुरै के अलाग्री नायडू और त्रावणकोर के राजा रवि वर्मा के नाम उल्लेखनीय हैं। अलाग्री नायडू को रवि वर्मा अपना गुरु मानते थे। रवि वर्मा ने अलाग्री नायडू और भारत भ्रमण पर आए थियोडोर जेन्सन से चित्रकला की शिक्षा प्राप्त की थी। उनका जन्म 1848 में और देहांत 1904 में हुआ। उन्होंने अपनी आयु के लगभग तीस वर्ष भारतीय चित्रकला की साधना में लगाए। प्रकाशन के समुचित साधनों के अभाव में रवि वर्मा ने मुम्बई में लीथोग्राफ प्रेस खोला और अपने चित्रों को प्रकाशित कर कला जगत को अपनी कला से परिचित करवाया। उनके बाद ही चित्रकला में नए आंदोलन का सूत्रपात हुआ। नए आंदोलन के प्रवर्तक थे रामानंद चटर्जी, अर्द्धेन्दु गांगुली, अवनींद्रनाथ ठाकुर तथा नंदलाल बोस।

कुछ चित्रकार ऐसे भी हैं, जिन्होंने बंगाल स्कूल के साथ-साथ देश के सांस्कृतिक तत्वों का अपनी कला में समावेश किया और नई परंपरा का सूत्रपात किया। इनमें जैमिनी राय और अमृता शेरगिल के नाम प्रमुख हैं। इनका विचार था कि बंगाल स्कूल पाश्चात्य परंपरा पर आधारित है। कनु देसाई और रविशंकर रावल आदि ने देश प्रेम को ही अपनी साधना का मुख्य विषय बनाए रखा। परंतु राष्ट्र प्रेम की यह भावना स्थायी नहीं थी, क्योंकि स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद अनेक कलाकार दूसरी दिशाओं की ओर बढ़े। इनमें सबसे प्रभावी कलाकार वे हैं, जिन्होंने देश-काल की सीमाओं को लांघकर अपनी कला को सार्वभौमिक कला

का रूप दिया। सर्वप्रथम इनमें रवींद्रनाथ ठाकुर का नाम आता है। इनके चित्रों में निरपेक्षता का प्राचुर्य है। इस वर्ग के चित्रकार कई हैं, लेकिन अनेक ने अपनी निजी शैली अपना ली है। इन चित्रकारों में कंवल कृष्ण, वीरेन डे, कृष्ण खन्ना, मोहन सामंत, कुलकर्णी, हुसैन, रामकुमार, सतीश गुजराल, शांति दवे, फ्रांसिस न्यूटन सूजा, तैयब मेहता, किरण सिन्हा, पद्मसी, हरिकिशन लाल और बेन्द्रे के नाम प्रमुख हैं। रामकिंकर, हेब्बार, विनोद बिहारी मुखर्जी, चावड़ा, गादे, गायतोंडे, अजित चक्रवर्ती तथा कृष्ण रेड्डी चित्रकारों को समन्वयवादी विचारधारा का कलाकार माना जा सकता है। इनमें से कुछ पर विदेशी चित्रकला का प्रभाव भी है।

प्रमुख आधुनिक चित्रकार

अवनींद्रनाथ टैगोरः टैगोर आधुनिक कला के अग्रणी चित्रकार थे। अपनी कला के द्वारा इन्होंने भारतीय कला की प्राचीन व मध्ययुगीन विशेषताओं की खोज की व प्राचीन काल से कला में प्रयुक्त हो रहे मनोभावों का प्रयोग कर आधुनिक जीवन में कला का संचार किया। इनके चित्रों में दार्शनिक भाव की भी पर्याप्त झलक देखने को मिलती है। इनकी एक प्रमुख कृति 'शाहजहां व ताज' में चित्रकार के भावों की गहराई को रंगों व रेखाओं द्वारा भलीभांति समझा जा सकता है। टैगोर के मार्गदर्शन में कलाकारों के नए युग का सूत्रपात हुआ जिन्होंने अपने चित्रों में भारतीयता के विभिन्न स्वरूपों का चित्रण किया।

नंदलाल बोसः भारतीय चित्रकला के नए स्कूल में अनेक विशिष्ट चित्रकार थे जिनमें नंदलाल बोस प्रमुख थे। उनकी कला में पौराणिक विषय दिखाई दिए, साथ ही कलाकार की अपनी भावनाएं भी प्रदर्शित हुईं। सार्थक मौलिकता वाले ऐतिहासिक विषय फिर से उठाए गए और उन्होंने आसपास के वास्तविक जीवन को भी अपनी कलाकृतियों में उकेरा। मोटी रेखाओं और सादे रंगों के इस्तेमाल के कारण नंदलाल की कला असाधारण थी। अजंता की तरह यह भी भारतीय कला की परंपरागत पद्धति थी। नंदलाल की श्रेष्ठ कृतियों में *उमा की तपस्या, प्रणाम, वसंत, शिव और पार्वती तथा गोपिनी* शामिल हैं। रेखाचित्रों के साथ नंदलाल के प्रयोग सबसे अधिक सफल रहे हैं।

सारदा उकिलः पुरातन परंपराओं को अनुप्राणित करने की कोशिश में सारदा उकिल ने भारतीय चित्रकला के लिए नए क्षितिज खोले। मानव रूप को दर्शाने

के लिए वह प्राकृतिक लक्षणों के स्थान पर आदर्शवादी अवधारणाओं पर निर्भर रहे। उनकी कला की विषय वस्तु उनकी कल्पना से उपजती थी। उन्होंने रंग-योजना के ज्यादा शांतिकर और खुशनुमा मिश्रण तथा केवल काले तथा सफेद रंगों के प्रयोग की शुरूआत कर प्रचलित रंग तकनीक को भी बदल डाला। अपनी कल्पनामय रचनाओं के अतिरिक्त उन्होंने भावनात्मक पृष्ठभूमि के साथ ऐतिहासिक विषयों पर भी काम किया है। उन्होंने चित्रों की एक शृंखला में बुद्ध के जीवन की झांकी प्रस्तुत की। कला के आधुनिक स्कूल में उकिल का योगदान मौलिक, प्रभावशाली और मूल्यवान है।

मुहम्मद अब्दुर रहमान चांगताईः आधुनिक स्कूल के एक और मशहूर कलाकार मोहम्मद अब्दुर रहमान की कला में खुशनुमा रंग योजना में रोमानी विषय होते थे। साथ ही बारीक रेखाओं में नाजुक और खूबसूरत आकृतियां होती थीं। कांगड़ा कलाकृतियों के प्रभाव के साथ-साथ उनकी चित्रकला में प्राचीन फारसी ढंग की छाया स्पष्ट नजर आती थी। पर कलाकार की मौलिकता रंग संयोजन की प्रक्रिया में दिखाई देती थी, जो आंखों को बांध लेती थी, साथ ही विषयों को उपयुक्त उत्कृष्टता भी देती थी। चांगताई ने प्रयोगधर्मिता के क्षेत्र में अद्भुत सफलता हासिल की थी।

क्षितिंद्रनाथ मजूमदारः आधुनिक स्कूल के एक अन्य कलाकार के रूप में उन्होंने भारतीय विषयों के संदर्भ में कला को नया रूप देने में काफी सफलता हासिल की थी। महाकाव्यों के उपाख्यानों, महान संतों के जीवन और वास्तविक जिंदगी के आध्यात्मिक और उपासना संबंधी दृश्य उनके लिए प्रेरणा के स्रोत थे। उनका रंग संयोजन भी आकर्षक होता था। मजूमदार की चित्रकला की उल्लेखनीय बात परंपरागत पौराणिक विषयों की आकृतियों के रूप में आधुनिक आकृतियों का चित्रण थी।

ए.के. हलधरः कला के क्षेत्र में काव्यात्मक लय पर काम करते हुए इन्होंने इस क्षेत्र में नवीनता पैदा की। इन्होंने रंग संयोजन और रेखाओं की गतिशीलता में काव्यात्मक संरचना की खूबसूरती और सामंजस्य को दर्शाने की कोशिश की। अत्यंत सूक्ष्मता से रंगे गए उच्च गुणवत्ता के आलंकारिक रूप उनकी कला के एक अन्य पहलू को दर्शाते थे।

जैमिनी रॉयः बुनियादी रूप से यूरोपीय ढंग के तैल-चित्रों के चित्रकार जैमिनी भारतीय नजरिए से कला का अध्ययन करने के लिए गांव की तरफ लौटे। पूरी

तरह से देशज सामग्री के साथ काम करते हुए वह लोक कला की परंपरा से अत्यधिक प्रभावित हुए। उन्होंने अपने रंगों और रूप निर्माण के साथ लोक शैलियों का इस्तेमाल करते हुए कला की दुनिया में एक नया आंदोलन छेड़ दिया। उन्होंने भित्ति-चित्रों, लघु-चित्रों और व्यक्ति-चित्रों की श्रेष्ठ कृतियां बनाईं।

एम.एफ. हुसैन (मुहम्मद फिदा)ः पंढ़रपुर (महाराष्ट्र) में जन्मे हुसैन का परिवार जब इंदौर पहुंचा तो उन्होंने स्कूल जाना शुरू किया, पर पढ़ाई की ओर उनका ध्यान नहीं था। 18 वर्ष की आयु में तैल-रंगों में बने व्यक्तिचित्र के लिए इंदौर की एक प्रदर्शनी में उन्हें स्वर्ण पदक दिया गया। इस पर उन्होंने बंबई के जे.जे. स्कूल ऑफ आर्टस में दाखिला लिया और होर्डिंग्स पर सिनेमा के विशालकाय पोस्टर बनाने शुरू कर दिए। तभी उन्होंने चित्रकला को अपना व्यवसाय बनाने का निर्णय लिया। साथ ही विशिष्ट प्रणेता और प्रवर्तक अमृता शेरगिल के चित्रों से अत्यंत प्रेरित और प्रभावित भी हुए। उन्होंने रजा और सैजा के साथ मिल कर कलाकारों का प्रगतिशील समूह (1948) बनाया। अपनी पहली एकल प्रदर्शनी बंबई (1950) में लगाई। इस प्रदर्शनी के एक चित्र को पेरिस के 'सैलोन डि माई' में लगाया गया। उनके चित्र जिंदगी की हलचल के प्रतीक बन गए। उन्होंने एक प्रतीकात्मक फिल्म *थ्रू दि आइज ऑफ ए पेंटर* (1966) बनाई, जिसे बर्लिन फिल्मोत्सव में गोल्डन बियर पुरस्कार मिला। चित्रकला की अपनी महाभारत और रामायण शृंखला के लिए उन्होंने प्राचीन भारत का अध्ययन किया। आज उन्हें भारत का अग्रणी चित्रकार माना जाता है। उनके प्रकृति चित्र भारतीयता से सराबोर होते हैं। उनका बाद का काम निरूढ़ है, बेहद प्रतीक रूप में है और अमूर्त प्रकृति का है पर उनमें से प्रत्येक भारतीय लोकाचार पर खरा उतरता है।

शेरगिल, अमृताः अपने चित्र *कनवरसेशन* के लिए वह ग्रैंड सैलोन की एसोसिएट चुनी गईं। वह इस सम्मान को पाने वाली सबसे कम उम्र की कलकार तथा प्रथम एशियाई थीं। उनके सबसे बेहतरीन चित्रों में शामिल हैं *सीस्टा, हिलसाइड, एलिफेंट्स बादिंग इन ग्रीन पूल* तथा *दि न्यूड्स।*

कला जगत के शिलास्तम्भ

भारत कला जगत पर ज्वलंत नक्षत्रों के रूप में प्रकाशमान कलाकारों पर एक सरसरी नजर डालें तो एक सीमा तक यह कला के इतिहास की पुनरावृत्ति ही होगी।

सर्वप्रथम *राजा रवि वर्मा* का उल्लेख करना आवश्यक है। वस्तुतः कला के विकास के लए जिस उर्वरा भूमि की अपेक्षा होती है वह उस समय न थी जब कि राजा रवि वर्मा का उदय हुआ। राजा रवि वर्मा ही सबसे पहले कलाकार थे जिन्हेंने एक नई प्रेरणा दी, एक नई दिशा अपनाई और अभिव्यक्ति की नव्य पद्धतियों का सूत्रपात किया। इनका जन्म 1848 में मध्य केरल स्थित कोट्टायम नगर से बीस मील दूर किलीमनूर गांव में हुआ था। त्रावणकोर के राजघराने से उनका बहुत नजदीक का रिश्ता था। बचपन से ही इन्हें चित्र बनाने का बेहद शौक था। एक बार उनके मामा राजराज वर्मा भगवान विष्णु का चित्र बना कर उसमें रंग भर रहे थे। बीच में उठकर वे किसी काम से बाहर गए। इतने में बालक रवि वर्मा अकस्मात् वहां आ पहुंचे। अधूरा चित्र पड़ा देखा तो तुरंत बालोचित उत्सुकतावश उसे पूरा करने बैठ गये। साथ ही विष्णु के साथ गरुड़ का चित्र भी नीचे अंकित कर दिया। इनके मामा चुपचाप यह सब क्रिया दूर से देख रहे थे। बालक की इस तन्मयता से वे अभिभूत हो उठे। उनहेंने खुश होकर आशीर्वाद दिया 'बेटा तुम आगे चलकर एक बड़े चित्रकार बनोगे।' चौदह वर्ष की आयु में वे त्रिवेंद्रम के राजमहल चले आये जहां उन्हें दरबारी चित्रकार रामास्वामी नायडू से कला प्रशिक्षण में प्रोत्साहन मिला। गहरे लाल, नीले, हरे, सुनहरे, जामुनी मूल रंगों का प्रयोग करके इन्होंने परंपरागत लालित्य को तेजोद्दीप्त रूपाकारों में ढाला और कृत्रिम औपचारिकताओं से परे यथार्थ छवियों की-सी मांसल सजीवता प्रदान की। राजा-महाराजा, अमीर-उमरावों और अभिजात वर्ग में इनके चित्रों की धूम थी। ऊंची कीमत देकर वे उन्हें खरीदते और अपने भवनों एवं राजप्रसादों की शोभा बढ़ाते। बड़ोदरा, मैसूर, उदयपुर के राजप्रासादों, हैदराबाद के सालारजंग म्यूजियम और नई दिल्ली की नेशनल आर्ट गैलरी में भी उनके अनेक चित्र सुरक्षित हैं।

लगभग तीस वर्षों तक वे उस समय कला साधना में जुटे रहे जबकि भारतीय कला अंधकार के गर्त में समाई हुई थी। मुगल एवं राजपूत कला का केवल रूढ़ियों का ढांचा मात्र अवशेष था और पहाड़ी कला के अंतिम कलाकार मोलाराम की मृत्यु के पश्चात् लगभग दो दशकों तक भारतीय कला के समूचे सूत्र विछिन्न हो चुके थे और उसके ओर-छोर का कुछ पता न था। राजा रवि वर्मा के उदय और कला-साधना ने आनंद कुमारस्वामी और ई.बी. हैवेल जैसे मनीषियों का

ध्यान इस ओर आकृष्ट किया। बंगाल के पुनरुत्थान आंदोलन की उषाबेला में राजा रवि वर्मा शुक्रतारे की भांति अवतीर्ण हुए और आने वाले प्रभात को दिशा-निर्देश कर गए। आधुनिक चित्रकला के द्वार पर एक अडिग प्रहरी की भांति उन्होंने एक ओर प्राचीन और अर्वाचीन का गठबंधन किया, तो दूसरी ओर पाश्चात्य और भारतीय कला-आदर्शों का अपने ढंग से समन्वय स्थापित किया।

भारतीय चित्रकला की सर्वांगीण उन्नति के लिए महाशक्ति के रूप में आचार्य *अवनींद्रनाथ ठाकुर का* अभ्युदय उस समय हुआ था जबकि यहां चिर-सृजनाकांक्षा उन्मुक्त विचरण छोड़ कर विदेशी कंचन-काया में परिवर्तित हो चुकी थी। वर्तमान कला-धारा का कोई ऐसा प्रमुख पक्ष नहीं है जिसका श्रीगणेश इस कला-साधक के हाथों न हुआ हो। देशी झांकियां और वे मधुर स्वप्न, जो उनके भीतर बचपन से संचित होते गए थे, कालांतर में उनकी आत्मा के सच्चे प्रतीक बन कर रंग और रेखाओं में बिखर गए। उन्होंने स्वयं लिखा है, 'जोड़ासांको भवन के अंतःपुर में प्रसाधन के समय जो सुंदर मुख दिखाई देते थे, मन ने उन सबका संग्रह कर लिया।'

बाल्यावस्था में इन्हें अपने भाई गगनेन्द्रनाथ ठाकुर और रवि काका अर्थात् रवींद्रनाथ ठाकुर से चित्रांकन की प्रेरणा मिली थी। रामायण, महाभारत, पुराण, दर्शन और अन्य महत्वपूर्ण धार्मिक एवं ऐतिहासिक आख्यानों से उन्होंने कितने ही ऐसे विषय चुने जो रंग और तूलिका के योग से एकदम सजीव हो उठे हैं। अवनींद्र के चित्रों में उनकी आत्मा प्रतिबिम्बित हो उठी और अंतर के रस में डूब कर 'भारत माता', 'राधा कृष्ण' और 'उमरखैयाम' की चित्रावली, 'तिष्यरक्षिता', 'शकुंतला', 'कजरी', 'देवदासी', 'अभिसारिका', 'भगवान् तथागत', 'हर पार्वती', 'सती', 'गणेशजननी', 'दुर्गा', 'कमला', 'अर्जुन', 'विरही यक्ष', 'पनिहारिन', 'मां', 'संथाल युवती', 'बालक', 'मयूर', 'नर्तकियां', 'अंजना', 'मांझी', 'वियोगिनी', 'ध्यानमग्ना', 'प्रेयसी', 'पुजारिन', 'सुप्ता', 'युवती', 'एक युवती और दो सखियां', 'स्वतंत्रता का स्वप्न', 'पद्म पत्र में अश्रुबिंदु', 'वैतालिक', 'रेगिस्तान में संध्या', 'औरंगजेब का बुढ़ापा', 'रवींद्रनाथ का महाप्रयाण', 'दीनबंधु एण्ड्रूज', 'कृष्ण मंगल', के तैंतीस चित्र इस प्रकार कितनी ही उत्कृष्ट कृतियां उनकी भावनाओं की सच्ची प्रतीक बनकर प्रकट हुई, जो कलाकारों का सदैव पथ-प्रदर्शन करती रहेंगी। उनके चित्रों में प्रेम, आकर्षण, भक्ति, वात्सल्य और

पार्थिव-अपार्थिव सम्मोहक भाव हल्के-गहरे रंगों में उभर आए हैं। उनकी मानवता और उदार समन्वयशील प्रवृत्तियां इतनी खुलकर व्यक्त हुईं कि जीवन के अनेकों स्तरों पर उनका अवतरण हुआ।

भारतीय कला में जब नये अंकुर फूट रहे थे तब *गगनेन्द्रनाथ ठाकुर* ऐसी मौलिक प्रतिभा लेकर अवतीर्ण हुए जिन्होंने अपनी संकल्पशील उद्दाम तेजस्विता से सर्वथा नई दिशा अपनाई। इनमें और अन्य कलाकारों में यह अंतर था कि अब तक के कला सिद्धांत, रूप, प्रयोग, तकनीक एवं प्रवृत्तियां का इन्होंने ढंग से पाश्चात्य पद्धति पर परीक्षण और संस्कार किया। ओ.सी. गांगुली के शब्दों में 'अत्यंत सूक्ष्म समानांतर रेखाओं से इन्होंने बड़े ही आकर्षक 'हिमालय में बरसाती मैदान' का नजारा प्रस्तुत किया है। प्रकाश और छाया की असमाप्त त्रिकोण रेखाओं से एक बंदी राजकुमारी का अनूठा अफसाना व्यंजित किया है तथा एक 'नृत्य करती बालिका' के लहंगे की झिलझिलाती तहों से घनाकृति उभारी है जिसने मूल विषय को अपने आप में आवृत नहीं किया है।' पौराणिक विषयों और कल्पित आख्यानों को लेकर यदा-कदा बनाए गए उनके चित्र भी बड़े ही सुंदर बन पड़े हैं। 'मां से विदा लेते समय चैतन्य का भक्तिविह्वल कीर्तन' तथा अन्य कितने ही चित्रों में इस बंगाल के संत की विमोहक भाव-भंगिमाओं के दर्शन होते हैं। ये अवनींद्रनाथ ठाकुर के बड़े भाई थे। इकहत्तर वर्ष तक की आयु भोग कर कला को एक अर्से तक अपना अमूल्य योगदान देते रहे। बर्लिन और हैम्बर्ग में इनके चित्रों की प्रदर्शनियां हुईं और विदेशी कला मर्मज्ञों ने 'एक्सप्रेशनिज्म' (अभिव्यक्तिवाद) के सफल चित्रण के लिए इनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। 1914 में पेरिस में, 1927 में अमेरिका में और 1934 में लंदन में इनकी कला को समर्थन मिला और इस प्रकार उन्हें विश्वव्यापी ख्याति प्राप्त हुई।

नंद लाल बोस की गतिशील, सशक्त अंतर्प्रेरणा का उल्लेख करते हुए विश्वकवि टैगार ने एक स्थल पर लिखा था

''अवनींद्रनाथ ठाकुर के पश्चात् जो सबसे विख्यात कलाशिल्पी भारत को विरासत के रूप में मिला उनमें नन्दलाल बोस से बढ़कर उस पीढ़ी में कोई और न था।'' उन्हें अवनींद्रनाथ ठाकुर जैसे महान कलागुरु की प्रेरणा का बल मिला, किंतु कल्पना वैभव, पर्यवेक्षण शक्ति, उच्च कलाकारिता और अपने दृष्टिकोणों

के उत्कर्ष पर पहुंचने में वह अपने गुरु से भी आगे बढ़ गए, नन्दलाल के चिंतन का अक्षय कोष और जीवन की विविधताएं ही नई-नई कला-शैलियों के रूप में प्रवर्तित हुईं जो भारतीय कला को निश्चित दिशा प्रदान करती गईं। अवनींद्रनाथ ठाकुर द्वारा जिस 'बंगाल आर्ट' की स्थापना हुई थी उसके स्वरूप का परिष्कार करने में उन्होंने कुछ उठा न रखा। उन्होंने सीधे अजंता और बाघ गुफाओं के चित्रांकन से प्रेरणा प्राप्त की थीं। 1922 में रवींद्रनाथ ठाकुर नन्दलाल को शांतिनिकेतन के 'कला-भवन' का अध्यक्ष बना कर ले आये। दो वर्ष बाद जब रवींद्रनाथ ठाकुर चीन गये तो इन्हें भी अपने साथ ले गये। चीनी-जापानी कला-परंपराओं को आत्मसात् कर और तैकबान, क्वान्जान, हिशिदा, आराई आदि कलाकारों की कला से उनकी कला-शैली, रूप-विधान और सृजन-चमत्कारों में संकीर्ण परिधियों से परे जीवन की विविध अनुभूतियों का समावेश हुआ। सूक्ष्म को पकड़ने-आंकने की उनमें अद्भुत क्षमता थी। नन्दलाल सृजन में कलात्मक संपूर्णता के कायल थे। उनके सृजन में वे तत्व उभरे जो सशक्त, प्रभावशाली और मुखर होकर प्रत्येक घटना और विभिन्न प्रेरक-स्रोतों के छोरों को छू सके। उनकी भाव-प्रवणता कभी शांत न हुई, उनकी अंतर्निहित शक्ति कभी खंडित नहीं हुई। अपनी अद्भुत कला-सृष्टि से उन्होंने समूची कला को नाप डाला। उन्होंने स्वयं लिखा है 'स्वकीयता क्या है? कोई रचना करते समय विषय के अंतर्निहित सत्य को अपने चित्र-सम्मत रस के भीतर से या अपने प्रकृतिगत कौशल के भीतर से विशिष्ट रूप देना ही स्वकीयता है।' एक सर्जक कलाकार के पूर्णत्व को उन्होंने पा लिया था सीमार माझे असीम तुमि' अर्थात् तुम सीमा के भीतर असीम हो। नंद बाबू ने एक सहस्र से भी अधिक चित्रों का निर्माण किया था। उनकी प्रारंभिक कृतियां अजंता और बाघ गुफाओं से प्रभावित तो थीं ही, हिंदू 'देववाद' के भी वे प्रबल समर्थक थे। पौराणिक और धार्मिक विषयों से प्रेरित 'सती', 'शिव का विषपान', 'शिव-विलाप', 'शिव-ताण्डव', 'उमा की तपस्या', 'विरहिणी उमा', 'युधिष्ठिर की स्वर्ग-यात्रा', 'दुर्गा', 'यम-सावित्री', 'कैकेयी', 'अहिल्या', 'सुजाता', 'कर्ण', आदि चित्र बड़े ही उत्कृष्ट बन पड़े हैं। 'वीणावादिनी', 'नटीर पूजा', 'नटीर नृत्य' और अन्य कितने ही रेखाचित्रों में रेखाएं सजीव होकर बोल उठी हैं। 'गांधारी', 'कृष्ण और अर्जुन' चित्रों में उनके अद्भुत सृजन-शिल्प का परिचय मिलता है। कहीं ऊषा की-सी जीवस्पर्शी रंगमयता

उभर आई है और कहीं प्रकृति की मनोरम दृश्यावलियां मुखर हो उठी हैं। 'बसंत', 'जगन्नाथ मंदिर के गरुड़-स्तम्भ के पास श्री चैतन्य', 'स्वर्णकुम्भ', 'स्वप्न', 'नये मेघ', आदि में ज्योतिर्मय रंगों का सौंदर्य प्रस्फुटित हो उठा है। नंद बाबू ने भित्तिचित्रों का भी अत्यंत सफलतापूर्वक चित्रांकन किया। लेडी हेरिंगहम नामक अंग्रेज महिला की प्रेरणा से ही जो उन्होंने अजंता के भित्तिचित्रों का चित्रांकन किया। 1921 में उन्होंने बाघ-गुफा के चित्रों की प्रतिकृतियां तैयार कीं। लखनऊ, फैजपुर और हरिपुरा के अखिल भारतीय कांग्रेस के तीन अधिवेशनों के पंडालों की कलात्मक सज्जा भी उन्होंने महात्मा गांधी के आग्रह से अपने हाथों से सम्पन्न की थी। हरिपुरा में ऐसे लोकचित्रों को आंका जो सर्वसाधारण की समझ में भी आ सकें। उन्होंने मिट्टी की मूर्तियां और लकड़ी पर भी खुदाई करके आकृतियां निर्मित कीं। चीनी-जापानी और फारसी पद्धति के अनेक चित्र बनाये। रामायण, हरिपुरा और सप्तम की चित्रावलियां तथा कालीघाट के पटचित्रों से प्रेरित बंगाली लोककला की बारीकियां भी उनकी कला में उभर आई थीं। नंदलाल ने कला को प्राणों में ढाल लिया था। वह जैसे उनके जीवन के साथ एकाकार-सी हो गई। उनके शब्दों में-'सौंदर्य के अभाव से मनुष्य केवल रस के क्षेत्र में ही वंचित नहीं होता, अपने मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य की दृष्टि से भी वह क्षतिग्रस्त होता है।' नंद बाबू कला की तकनीक और समस्त नियम-उपनियमों से ऊपर उठ कर सृजन करते रहे। कला उनके लिए जीवन के हर पक्ष में समा गई थी। 16 अप्रैल, 1966 को उनका देहावसान हो गया, किंतु युग की वाणी को शाश्वत मुखरता प्रदान करता हुआ उनकी गरिमामय कलासाधना का पथ आज भी प्रशस्त है।

इस युग के युगांतरकारी कलाकार अवनींद्रनाथ ठाकुर की छत्रछाया में *असितकुमार हल्दर* को भी अपने सहयोगी नन्दलाल बोस और सुरेन गांगुली जैसे अनेक वरिष्ठ कलाकारों के साथ चित्रकला सीखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। 1890 में जोड़ासांकू स्थित टैगोर-भवन के कलामय वातावरण में इनका जन्म हुआ। अल्पावस्था में ही ग्रामीणों के पट-चित्रण से इनका बाल-औत्सुक्य जगा और बाद में अपने दादा राखाल दास से, जो उस समय लंदन यूनिवर्सिटी में संस्कृत के अध्यापक थे, अपनी कलाभिरुचियों को विकसित करने में विशेष प्रेरणा एवं प्रोत्साहन मिला।

असित हल्दर की असाधारण प्रतिभा हर प्रकार की परिस्थितियों में व्यंजित

होती गई। विश्वकवि ने अपने एक पत्र में इन्हें लिखा थाः 'तुम केवल चित्रकार ही नहीं हो, कवि भी हो। यही कारण है कि तुम्हारी तूली से रसधारा झरती है।'

असित हल्दर के चित्रों में पार्श्व से ऊपर की ओर उठने वाली धूमिल-सी रेखाएं और कोमल मृदु रंग कविता की तरह फैल जाते हैं। 'उसकी बपौती' चित्र में छिपते हुए सूर्य के सघन होते अंधकार में एकाकी साधु की प्रतिच्छवि अंकित है। 'नये-पुराने' और 'वसंत-बहार' में उत्फुल्ल बाल्यावस्था के साथ जर्जर वृद्धावस्था का बड़ा ही कचोटता हुआ तुलनात्मक दिग्दर्शन है। 'ताल और प्रकाश' 'नववधू', 'संगीत', 'असीम जीवन' आदि चित्रों में आत्मा की गहराई उड़ेल दी गई और मुसीबत के दिनों में, एक हताश मां, जो निर्धनता के कारण कलंकित जीवन बिताने को बाध्य हुई है, अपने असहाय बालक को अंक में चिपकाए बैठी है। उनके पौराणिक चित्र 'हर-पार्वती', 'शिव', 'लक्ष्मी', 'कच-देवयानी' आदि में जीवन की आधार-भूमि बहुत क्षीण है। फिर भी उनकी रेखाएं और रंग-विधान में सादगी, सरलता और चारु भव्यता है।

अपनी विशिष्ट शैली से हटकर असित हल्दर ने भावात्मक विषयों को भी भौतिकवादी पद्धति से निरूपित किया। 'प्रारब्ध' शीर्षक चित्र में कितने ही अमूर्त भाव मूर्त हो उठे हैं।

युग-प्रवर्तक अवनींद्रनाथ ठाकुर जब कला-जागरण का मंत्र लेकर आगे बढ़े तो *के. वेंकटप्पा* भी उनके अग्रगण्य शिष्यों में से एक थे। उन्होंने कलागुरु और अन्य साथियों के साथ कला की सीमाओं को व्यापक बनाने में अद्‌भुत योग दिया था। इन्होंने लघु चित्रण की तकनीक को अपनाया जो अधिकांशतः राजपूत शैली और किंचित् मुगल पद्धति की छाप लिये है। इनकी भाव-व्यंजना सूक्ष्म और सांकेतिक होते हुए भी स्पष्ट और बोधगम्य है। इनके रेखांकन में हाथ की सफाई और सौम्य सौष्ठव है। लघु चित्रण ने उनकी व्यंजना को अधिक प्रखर बना दिया है।

'ऊटी' के विभिन्न प्रकृति चित्रणों में इनकी बहुमुखी अभिव्यक्ति के दर्शन हुए। प्रकृति से इनकी कला का रागात्मक सम्बंध है। अनन्य निरीक्षण ने प्राकृतिक उपादानों के प्रति इनकी संवेदना को इतना अधिक उभारा है कि वे उसकी अंतरंग सुषमा में विभोर हो उठे हैं।

वेंकटप्पा के सौंदर्यबोध की दूसरी विशेषता उनका हठयोग है। उनका रोबीला

आडम्बरहीन व्यक्तित्व हर किसी के समक्ष खुलकर नहीं बिखरता। इनके अनेक चित्रों में अंतर की कुंठा उभर आई है। *स्वर्णमृग, लंका तक पुल का निर्माण* आदि चित्रों में भीतर की उल्लासपूर्ण गरिमा के दर्शन होते हैं, फिर भी जीवन की नैसर्गिक निष्कृतियों से वे एकदम वंचित नहीं हैं। 'स्वर्णमृग' में मारीच दूर खड़ा हुआ राम के समीप बैठी जानकी का ध्यान आकर्षित कर रहा है। उसकी छाया पोखर के जल में प्रतिबिम्बित हो रही है। राम के मुखारविंद पर भावी संकट की द्योतक मायूसी और मलिनता है। सीता भयभीत-सी कौतूहलपूर्ण दृष्टि से आदर्श हिंदू पत्नी की भांति पति से पूर्ण आश्वस्त है। मदोन्मत्त रावण बादलों के अंधकार में खोया हुआ दानवी घृणा को साकार कर रहा है।

उनके कुछ अन्य चित्र 'बुद्ध और उनके अनुयायी', 'मृगतृष्णा', 'पक्षी', 'गौचारण' आदि उनकी सूक्ष्म सौंदर्य-दृष्टि और कल्पनाप्रवण रूप-विधान की विशेषता झलकाते हैं। इनके सुप्रसिद्ध चित्र 'संगीत मण्डली' में राजपूत और मुगल चित्रण पद्धति का अनुसरण किया गया है।

ये भित्ति-चित्रण में भी अत्यंत दक्ष थे। मैसूर के महाराज स्वर्गीय श्रीकृष्ण राजेन्द्र जी के आग्रह से इन्होंने दरबार हाल के अम्बाविलास में बुद्ध और राम के जीवन-प्रसंगों का आकर्षक चित्रांकन किया था। 'शिक्षक के रूप में बुद्ध' और 'हनुमान को अंगूठी देते हुए राम' चित्र प्राचीन और अर्वाचीन चित्रण परंपरा के अद्भुत समन्वय के दिग्दर्शक हैं।

अवनीन्द्रनाथ ठाकुर की छत्रछाया में *शैलेंद्रनाथ* कला की अनेक नवीनताओं और विशेषताओं को लेकर अवतरित हुए। शैलेंद्र के कृतित्व में 'बंगाल स्कूल' की विशिष्ट कला-धाराएं उतार पर आ गई थीं। प्राथमिक चित्रों, यथा 'यशोदा और बालक कृष्ण' में राजपूत तथा मुगल कला के निष्प्राण अनुकरणशील तत्व दृष्टिगोचर होते हैं। 'यक्षपत्नी' उनकी अकृत्रिम अभिव्यक्ति है। 'वनवासी यक्ष' में मूर्त प्रत्यक्षीकरण की विलक्षणता और कोमल भाव को अत्यंत सूक्ष्मता से ग्रहण किया गया है।

शैलेंद्र ने मानव-जीवन के 'सत्यं, शिवं, सुंदरम्' में ही कलात्मक पूर्णता के दर्शन नहीं किये, वरन् कुरूप और असुंदर में भी निर्माणोन्मुख विद्यादायिनी शक्ति और अभिव्यंजना की रसात्मकता की इन्होंने कल्पना की। एक जगह इन्होंने कहा है 'चित्रकार तो एक साधक है, वह सदा सत्य के अनुसंधान में ही लगा रहता है और सत्य की ओर ही उसकी समस्त शक्ति केंद्रित रहती है।'

आधुनिक कला के क्षेत्र में अध्यात्म को आधार मानकर जीवन की समग्रता के आत्मिक ऐक्य में आस्था रखने वाले कलाकारों में *क्षितीन्द्रनाथ मजूमदार* अग्रणी हैं। ये भी अवनींद्रनाथ ठाकुर के प्रधान शिष्यों में से बंगाल स्कूल के सहयोगी और कला के पुनर्जागरण में योग देने वालों में से एक हैं।

क्षितीन्द्र मजूमदार के चित्रों की विशेषता यह है कि इनके रंग और रेखाएं किसी रूप विशेष की द्योतक न होकर इनकी आंतरिक अभिव्यक्ति में तद्रूप हो उठे हैं। वे एक अंतर्दर्शी कलाकार तो हैं ही, कवि हृदय भी रखते हैं। मजूमदार उन थोड़े से कलाकारों में से हैं जिन्हें सच्ची अंतःप्रेरणा की अनुभूति है। यही कारण है कि उन्होंने कला में एक नई दिशा चुनी है और अभिव्यक्ति का नूतन ढंग अपनाया है। कलकत्ता म्यूजियम, भारत कला भवन वाराणसी, कलकत्ता का आशुतोष म्यूजियम, नेशनल गैलरी ऑफ मॉडर्न आर्ट आदि कला-संग्रहालयों में उनके चित्र सुरक्षित हैं।

शारदाचरण उकील उन अग्रणी आचार्य कलाकारों में से हैं जिन्होंने समय के प्रवाह को पहचानकर अपनी रंग एवं तूलिका द्वारा तात्कालिक कला में विविधता का समावेश किया। भाव-व्यंजना की दृष्टि से इनकी कला अंतरंग गहराई और मार्मिक गूढ़ता लिए है, अथवा कहें कि लौकिक अभिव्यक्ति की लघुता के परे वह असीम की उपलब्धि अर्थात् संसृति के सनातन सौंदर्य की दिग्दर्शक है जिसमें कलाकार की तटस्थ एवं निस्संग साधना के उपकरण द्रष्टव्य हैं। 'संदेश' चित्र में एक गोपिका कृष्ण की बांसुरी को उत्सुक नेत्रों से निहार रही है और कृष्ण ऊपर लटके हुए इंद्रधनुषी बादलों में छिपे बैठे हैं। एक दूसरे चित्र में विरहिणी सीता की दयनीय मुद्रा का बड़ा ही भव्य चित्रण हुआ है।

शारदा उकील की कला की विस्तृत भावभूमि आध्यात्मिक है। इनके विचार में 'चित्र ऐसा होना चाहिए कि सारी मानवता को अभिभूत कर ले। किसी एक ही व्यक्ति के लिए अथवा एकांगी दृष्टिकोण को लेकर आंका गया चित्र सर्वग्राही नहीं हो सकता। चित्र आदर्श होना चाहिए।' उकील अवनींद्रनाथ ठाकुर के प्रमुख शिष्यों में से थे। पाश्चात्य कला मर्मज्ञ रोयेन्सटाइन ने इनके सम्बंध में लिखा था, 'उकील की कृतियों की भावुकता रवींद्रनाथ ठाकुर के गीतिकाव्य जैसी है, उसकी अभिजात और कलागत विचारमग्नता प्रेक्षक को भारतीय आत्मा में झांकने का ऐसा ही सुअवसर देती है जैसे कि भारतीय संगीत।' उकील ने दिल्ली में

'शारदा कला केंद्र' की स्थापना कर एक बहुत बड़ा कार्य सम्पन्न किया। इस संस्था ने कितने ही सुप्रसिद्ध कलाकारों को जन्म दिया।

प्रमोद कुमार चटर्जी की प्रारंभिक कला-चेतना हिमाच्छादित पर्वतों की उज्जवल गरिमा में जाग्रत हुई। एक घरेलू अप्रिय प्रसंग ने इन्हें तरुणावस्था में ही घर छोड़ने को बाध्य किया था और जीवन-संघर्षों से श्रांत-क्लांत वे हिमालय के प्रशांत प्रदेश की ओर चल पड़े थे। कालांतर में कितने ही पवित्र स्थलों का उन्होंने निरीक्षण किया, कैलाश और मानसरोवर की अलभ्य सुषमा के दर्शन किये, तिब्बत और वहां की कला को निरखा-परखा। इस खानाबदोश शिल्पी के तूलिका-स्पर्श ने उस सजीव कला को मूर्तिमान किया, जिसमें निराकार की अनुभूति और गहरा आध्यात्मिक चिंतन निहित था। तिब्बत में भ्रमण करते हुए इन्हें एकांत साधना का सुअवसर मिला था। भ्रमणशील जीवन में जो संस्कार भीतर रम गये थे, वे नये स्वर में फूट पड़े। पुरानी स्मृतियों ने इनमें एक नई प्रेरणा जगा दी। धार्मिक चित्रों के अतिरिक्त प्रमोद कुमार चटर्जी ने योद्धाओं और ऐतिहासिक महापुरुषों के चित्र भी अंकित किये। 'भगीरथ और गंगा', 'नर्तकी आम्रपाली', 'श्यामांग शारदा' और 'अश्विनीकुमार' आदि चित्र आध्यात्मिक भाव से प्रेरित हैं।

वीरेश्वर सेन की प्राथमिक कलाकृतियों में जलरंगों का प्रयोग हुआ है। प्रारंभ में इन्हें वृक्षों और पर्वतों के चित्रांकन में रुचि थी। 'शृंगार' चित्र में एक मुड़े-तुड़े वृक्ष और एक अस्पष्ट-से धुंधले पर्वत की ओट में सुंदर बंगाली महिला चौकी पर बैठी हुई हाथ में दर्पण लेकर एक परिचारिका द्वारा केशों की शृंगार-सज्जा में संलग्न है। 'दमयंती' में शाल वृक्ष की मोटी शाखा की छाया तले मिट्टी के टीले पर नल की राजमहिषी दमयंती जीर्ण वस्त्रों में अपना लावण्य समेटे बैठी है। 1932 में इन्होंने हिमालय की कुल्लू घाटी में स्थित विश्वविश्रुत कलाकार निकोलाई रोरिक के स्थान पर जाकर उनसे भेंट की, तत्पश्चात् वे कश्मीर गए और वहां के प्राकृतिक सौंदर्य को निरखा-परखा। स्वप्न और सत्य के सूक्ष्म बिंदु तक पहुंचने के लिए उन्होंने बिम्ब-विधान की प्रक्रिया को प्रायः हल्के और छायादार रंगों में आंका। शुरू में उनकी कला-प्रतिभा बंगाल-स्कूल की छाया तले पनपी थी। उस समय उन्होंने 'दूधवाली', 'उषा', 'स्नान के बाद' आदि चित्रों में नारियों के सुंदर चित्र अंकित किये थे।

अपने वृहदाकार चित्रों में गतिमय स्फूर्ति लाने के लिए उन्होंने पेस्टल में चित्रांकन अधिक पसंद किया। 'स्वर्ण पर्वत' में नील वर्ण पहाड़ियों की सुनहरी चोटियां और देवदार के काले वृक्षों के बीच इठलाती, बलखाती जलधारा, 'जीर्ण आवरण' में पर्वत से नीचे ढुलकता हुआ बर्फ और 'सोते सिंह' में भूरा, गुलाबी और नीला रंग अत्यंत कौशल से प्रयुक्त हुआ है। 'तीर्थयात्री' चित्र में जलरंगों में बद्रीनाथ के दर्शनों के इच्छुक यात्रियों को दुर्गम पथ पर चढ़ते हुए दिखाया गया है और 'नीली पहाड़ियों में सुनहरे, भूरे, हरे और नीले रंगों का अद्‌भुत समन्वय है।'

वीरेश्वर सेन की कला के सौंदर्य-पक्ष में प्रकृति का मोहक आकर्षण, अनुभूति की गहनता और सृजनात्मक निष्ठा है। बंगाल के स्कूल की प्रचलित कलारूढ़ियों और आज के कतिपय वादों-'क्यूबिज्म', 'सुर्रियलिज्म' आदि से उन्हें नफरत थी। उनके मत में भारतीय कला विश्व की कला से विशेष भिन्न नहीं रही, हां उसके विकास की परिस्थितियां और वातावरण भिन्न अवश्य रहा। कला सदैव से एक व्यापक संस्कृति की संदेशवाहिका और उसके स्तर एवं स्थितियों की सूचक रही है। उनकी कृतियां समय से ऊपर उठकर अमर कला का प्रतिनिधित्व कर सकी हैं।

देवी प्रसाद रायचौधरी 'बंगाल स्कूल' की कला-प्रेरणाओं और प्रभावों को मद्रास तक ले गये थे। रायचौधरी की कलात्मक प्रतिभा की कुंजी उनके उद्दाम व्यक्तित्व में निहित है। उनमें एक ऐसी आत्मव्यंजक कचोट है जो सीधे मर्म पर कशाघात करती है। वे मूर्तिकार भी हैं और चित्रकार भी दोनों में पृथक् ढंग से अपनी विशृंखल भावनाओं को ढाला है। कहते हैं ''रायचौधरी की उंगलियों के समक्ष मिट्टी झुक जाती है। वे उसका निर्माण नहीं करते, झपट्टा मारकर उसे निखारते हैं। मानो उनके मस्तिष्क की उथल-पुथल, संत्रस्त चेतना और अंतर की सारी कठिनता उसमें विश्राम पा जाती है।''

अपनी तरुणवस्था में उन्होंने बुजुर्ग कलाकारों की तकनीक को अपनाया, पर किसी एक ही प्रवृत्ति को स्वीकार करना अथवा कूप-मंडूक बने रहना इन्हें रुचिकर न हुआ। रायचौधरी की मूर्ति-कला पर रौदा और बोरदेले का प्रभाव पड़ा है। किंतु मैलोल और इप्सटाइन की भांति उनकी कला 'आधुनिक' नहीं हो सकी। रायचौधरी को प्रकृति से लगाव था, पर उसका कृत्रिम चित्रण कर वह उसे

विमस्यकारी आनंदोपभोग का साधन नहीं बनाना चाहते थे। इसके विपरीत मानवीय सौंदर्य के संदर्भ में रखकर उसकी समस्त आंतरिक शक्ति को प्रकाशित कर वह सरल किंतु भव्य रूपरेखा में उसे बांधना चाहते थे। 'लेपचा कुमार' के अतिरिक्त 'नेपाली लड़की', 'भोटिया औरत' और 'तिब्बत की बालिका' ने भी उन्हें आकर्षित किया है। रायचौधरी आकृति-चित्रों में सर्वाधिक सफल हुए हैं। इनके महत्वपूर्ण पोट्रेट-चित्रों में 'रवींद्रनाथ ठाकुर' जो रूपहले-सुनहले रंगों में रूपायित हुआ, 'अवनीन्द्रनाथ ठाकुर', 'ओ.सी. गांगुली', 'मि. पर्सी ब्राउन', 'मिसेज ब्लैकवेल' तथा कुछ अन्य आकृति-चित्रों में रंगों की समृद्ध सुसज्जा है। 'मुसाफिर', जिनमें एक मनहूस, दाढ़ी वाले राहगीर का चित्र खींचा गया है, बड़ी ही सजीवता से आंके गए खतरनाक रास्तों में मानव के संघर्ष और घोर श्रम का दिग्दर्शन कराया गया है। गांधीजी की डांड़ी यात्रा की विशाल मूर्तियां इनकी विशाल रचनाएं हैं जो दिल्ली में प्रस्थापित है।

रायचौधरी की बहुमुखी प्रतिभा अनेक रूपों और विभिन्न धाराओं में विकसित हुई है। इनकी कला की अपनी निजी शैली और खूबी है।, फिर भी, सभी शैलियां और कला परंपराएं उनमें समाहित हो गई हैं। रायचौधरी का महत्व पाश्चात्य एवं पूर्व की कला तकनीकी एवं दृष्टिकोणों के सामंजस्य तक ही सीमित नहीं है, अपितु मद्रास स्कूल के रूप में अपनी निजी कला-शैली प्रस्थापित कर कला के क्षेत्र में इन्होंने युगांतर उपस्थित कर दिया है।

पुलिन बिहारी दत्त कलकत्ता में देवी प्रसाद रायचौधरी और प्रमोद कुमार चटर्जी के समकालीन थे और उन्हीं की भांति अवनींद्रनाथ ठाकुर के शिष्य भी, पर एकांत अनुभूति और रागात्मक संस्पर्श में सभी से निराले थे। तत्कालीन गवर्नर लार्ड रोनाल्ड शे, जो सौंदर्य-प्रेमी और कला-मर्मज्ञ था, इनके बनाये चित्रों को देखकर इतना मुग्ध हुआ कि इस किशोर कलाकार से मिलने को आतुर हो उठा और स्वयं मिलकर पीठ ठोकने तथा चित्रों के सृजन के लिए दाद देने का लोभ संवरण न कर सका। 'सन्यासी के वेश में बुद्ध', 'सिद्धार्थ और यशोधरा', 'अशोक', 'उत्सव का दिन' आदि उनके कुछ सुप्रसिद्ध चित्र नव्य बंगाल कला शैली और परंपरा का निर्वाह करते हुए धुंधले रंग, सुकोमल रेखाओं और हल्के ब्रुश से अवनींद्र ठाकुर से प्रेरित होकर आंके गए हैं। 'मीरा' इनकी एक ऐसी ही असाधारण कृति है। कृष्ण-प्रेम में विह्वल 'मीरा' के भाव-बिम्ब का बड़ा ही

अपूर्व गत्यात्मक चित्रण है। अपने इष्ट बालक कृष्ण की मूर्ति के समक्ष उसकी नृत्य भंगिमा और 'मेरे तो गिरिधिर गोपाल दूसरो न कोई' की अविभाज्य अनुभूति चित्र की घनीभूत एकप्राणता में रम गई-सी प्रतीत होती है। 'बुद्ध का रंगीन चित्र, भी बड़ा ही मार्मिक और प्रभावशाली है। 'आजादी का गीत' और 'चिंतनरत वृद्धा' में भावव्यंजना सुंदर है। उन्होंने न केवल ड्राइंग बनाने की शिक्षा दी हैं, अपितु भारतीय जीवन में सच्चे अर्थों में वास्तविक सौंदर्य को खोजने की प्रवृति भी जागृत की है।

मुकुल चंद्र की सृजन-प्रतिभा विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर और कलागुरु अवनीन्द्रनाथ ठाकुर-इन दो महान कलाचार्यों की छाया तले पनपी थी। जब मुकुल शांतिनिकेतन में थे तो विश्वकवि के साथ इन्हें जापान और अमेरिका जाने का सुअवसर मिला था। सेन फ्रांसिस्को, शिकागो और न्यूयार्क में इनके चित्रों की प्रदर्शनियां हुई। अमेरिका के प्रवास में 'एचिंग' ने इन्हें विशेष प्रभावित किया और शीघ्र ही इसमें इन्होंने दक्षता भी प्राप्त कर ली। भारतीय कला-परंपरा में एचिंग बिल्कुल नई चीज थी। मुकुल चंद्र ही कदाचित पहले कलाकार थे जिन्होंने इस दिशा में बड़े ही प्रभावशाली ढंग से कार्य किया। मुकुल की एचिंग कलाकृतियों में इन सभी गुणों का समावेश है। 'अजंता की राह पर', 'चांदनी रात में गंगा' और 'पवित्र वृक्ष' आदि आदर्श कला-कृतियां हैं। इनके चित्र 'विक्टोरिया एण्ड एलबर्ट म्यूजियम' और 'प्रिंस ऑफ वेल्स म्यूजियम' को सुशोभित कर रहे हैं। इन्होंने गांधी जी से लेकर अन्य राष्ट्रीय महान नेताओं के पोट्रेट भी चित्रित किये हैं।

जीवन के अपराह्न में रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने स्वयं कहा था ''अब तक मैं अपनी भावनाओं को साहित्य तथा संगीत में व्यक्त करने का अभ्यस्त रहा हूं, पर मेरी आत्मा की अभिव्यक्ति के तरीके अपूर्ण रहे, अतएव मैं भावनाओं के प्रकटीकरण के लिए चित्रित रेखाओं का सहारा लेने की दिशा में आगे बढ़ रहा हूं।'' महाकवि ने अपनी सतरंगी कल्पनाओं की कूची के वैभव से अपने जीवन-काल में सैकड़ों-हजारों चित्र सृजे। छोटे-बड़े, सादे-रंगीन उन्होंने सैकड़ों चित्र बना डाले। फूल, पत्ती, पौधे, पशु और मानवाकृतियां उनके अपने मन की स्फूर्ति से स्फुरित होकर स्वतंत्र सत्ता बन कर प्रकट हुई। नन्दलाल बोस ने इनकी कला की अभ्यर्थना में कहा था ''उनकी चित्रकला में व्यंजना की नई प्रणाली है।''

आधुनिक भारतीय कलाकारों में *जैमिनी राय* का नाम अग्रगण्य है। युद्ध के दिनों में तो अंग्रेज और अमेरिकी सैनिक, (जो कलकत्ता में नियुक्त किये जाते थे), दल के दल बना कर इनके स्टूडियो में आते थे और इनके बनाये चित्रों को खरीदने में दिल खोल कर व्यय करते थे। उन्होंने विदेशी कला का अनुकरण करने की अपेक्षा भारतीय कला-पद्धति को अपनाना ही उचित समझा। इन्होंने अपनी एक व्यक्तिगत विशिष्ट शैली का आविष्कार किया। जैमिनी राय के चित्रों में एक प्रकार की अनौपचारिकता है जो कला को लीक से हटकर एक नई दिशा की ओर उत्प्रेरित करती है।

भारतीय नारी-कलाकारों में *अमृता शेरगिल* का नाम विशेष महत्वपूर्ण है, क्योंकि उन्होंने अल्पकाल में ही आधुनिक कलाकारों में अपना विशिष्ट स्थान बना लिया था। बुडापेस्ट में अमृता ने जन्म लिया था। उनके पिता खास पंजाब के रहने वाले थे, किंतु माता हंगरी की थीं। बाल्यावस्था में चित्रकला की ओर उनकी विशेष अभिरुचि थी। अमृता शेरगिल ने अपने चित्रों में पहाड़ी दृश्यों का बहुत सुंदर चित्रण किया है। 'नव-युवतियां', 'कहानी-वक्ता', 'नारी' आदि चित्रों में भारतीय और पाश्चात्य संस्कृति के सफल समन्वय की अद्वितीय झांकी मिलती है। 'तीन बहनें', 'पनिहारिन' 'वधू-शृंगार' आदि चित्रों में उनके जीवन का निगूढ़ सौंदर्य सन्निहित है। उनका 'प्रोफेशनल मॉडल' एक अमर चित्र है, जिसमें मार्मिक भावों की सुंदर अभिव्यंजना हुई है। अमृता शेरगिल की कला पर अजंता की चित्रकला का विशेष प्रभाव है। 5 दिसंबर, 1941 में लाहौर में अमृता शेरगिल का देहावसान हुआ। अपनी 29 वर्ष की अल्पायु में ही उन्होंने इतनी ख्याति प्राप्त कर ली थी कि वे विश्व-प्रख्यात कलाकार मानी जाने लगी थीं।

लोक चित्रकला परम्परा

सृष्टि के जन्म के साथ ही कला का उद्गम एवं विकास भी आरंभ हुआ। इसे हम मानव संस्कृति का विकास भी कह सकते हैं। प्रत्येक युग में मानव संस्कृति का विकास उन युगों की विभिन्न परिस्थितियों के अनुसार विभिन्न प्रकार से हुआ है। इसी विकास क्रम में स्थानीय परम्पराओं तथा कलाओं ने जन्म लिया। प्रत्येक जनपद, नगर, ग्राम व कस्बों में इन लोक कलाओं की अद्भुत छाप देखने को मिलती है। अपनी अनुभूतियों की स्वतंत्र अभिव्यक्ति मनुष्य के जीवन का

प्रमुख उद्देश्य रहा है विभिन्न लोक कलाओं में प्रतीकात्मक शैली के अमूर्त आलेखन, चित्रण, रेखांकन आदि द्वारा सामाजिक, धार्मिक रीति-रिवाजों एवं परम्पराओं को अभिव्यक्त किया गया है। किसी भी प्रकार की प्रसिद्धि की अपेक्षा किए बिना लोक कला की यह धारा हमारे पारिवारिक, सांस्कृतिक और धार्मिक जीवन की परम्पराओं के साथ जुड़कर आगे बढ़ती रही है तथा बिना किसी प्रलोभन, आश्रय तथा प्रोत्साहन की अपेक्षा किए एक प्रांत से दूसरे प्रांत को जोड़कर लोक मानव की आत्मा को जोड़ती रही है। यह हमारे देश की समग्र संस्कृति एवं सभ्यता के विकास की निधि है।

पत्तचित्र

पत्तचित्र एक परम्परागत चित्रकला शैली है जिसका उद्गम एवं पल्लवन ओडिशा में हुआ। *पत्तचित्र* शब्द संस्कृत भाषा से लिया गया है जिसका अर्थ है कपड़े/कैनवास पर चित्रकारी। *पत्तचित्र* कला में प्रयोग किए जाने वाले परम्परागत रंग लाल, नीला, काला एवं सफेद हैं, जिन्हें हिंगुला, रामराजा, हरितला, लैम्प की कालिख एवं नारियल के जले हुए खोपरों जैसे प्राकृतिक स्रोतों से प्राप्त किया जाता है। ब्रुश को घरेलू जानवरों के बालों से तैयार किया जाता है। चित्रकार शुरुआती चित्र के लिए पेंसिल या चारकोल का इस्तेमाल नहीं करते, लेकिन साधारण तरीके से या तो हल्के लाल या पीले रंग के ब्रुश से प्रत्यक्ष तौर पर चित्रण करते हैं। तब इनमें रंग भरे जाते हैं।

ये चित्रकला विशेष रूप से जगन्नाथ एवं वैष्णव पूजा से प्रेरित हैं; इसके विषय जयदेव के *गीत-गोविंद, नवगुंजरा, रामायण* एवं *महाभारत* से लिए गए हैं। विषय शिव एवं शक्ति पूजा से भी प्रेरित हो सकते हैं। भक्ति आंदोलन के अभ्युदय के साथ राधा एवं कृष्ण के चित्र नारंगी, लाल एवं पीले जैसे विविध रंगों में पेंट की गई। कुछ चित्रों में सामाजिक दृश्यों को भी चित्रित किया गया है। ये चित्र ओडिशा के प्राचीन शैलचित्रों, विशेष रूप से पुरी, कोणार्क एवं भुवनेश्वर के धार्मिक केंद्रों को प्रतिबिम्बित करते हैं, जो 5वीं शताब्दी ईसा पूर्व तक के हैं। रघुराजपुर गांव के आस-पास का क्षेत्र *पत्तचित्र* चित्रकला का सुप्रसिद्ध केंद्र है। यह शैली लोक एवं शास्त्रीय तत्वों का सुंदर मिश्रण है। वेशभूषा में मुगल प्रभाव दिखाई देता है। अधिकतर चित्रों की पृष्ठभूमि को फूल एवं पत्तियों से

सजाया गया है जिसमें अधिकांशतया लाल रंग का प्रयोग किया गया है। पेंटिंग्स को सुंदर एवं सजीले बार्डर से फ्रेम किया गया है।

ओडिया भाषा में ताड़पत्र *पत्तचित्र* को **तालपत्तचित्र** के नाम से जाना जाता है। ताड़पत्रों को पेड़ से तोड़ने के बाद कुछ समय के लिए रख दिया जाता है ताकि वह सख्त हो जाए। तब इन्हें आपस में सिलकर एक कैनवास तैयार किया जाता है। तब इन पर काली या सफेद स्याही का इस्तेमाल करके आकृतियां बनाई जाती हैं। पाम के किनारे पंखों की तरह सुगमता से मुड़ जाते हैं और बेहतर संरक्षण के लिए एक सुघटित ढेर में रखे जाते हैं।

इस चित्रकला में रेखाएं गहरी स्पष्ट एवं तीखी होती हैं। सामान्य तौर पर इसमें कोई भू-दृश्य, परिदृश्य एवं दूरगामी दृश्य (डिस्टेंट व्यू) नहीं होता।

मधुबनी चित्रकला

भारत के सभी क्षेत्रों में लोक कला का स्वच्छंद विकास हुआ है। भारत के अन्य क्षेत्रों की अपेक्षा मिथिला क्षेत्र की लोक कला की समृद्ध एवं उन्नत परम्परा है। मिथिला की पारम्परिक चित्रकला जो मधुबनी चित्रकला के नाम से भी जानी जाती है, आज भी उतनी ही सजीव है जितनी कि वह आज से लगभग तीन हजार वर्ष पूर्व थी। मिथिला की लोक चित्रकला का आज विश्व में विशेष स्थान है। आज मधुबनी पेंटिंग्स नाम से प्रसिद्ध इस चित्रकला की अलौकिक कला-कृतियां देशी-विदेशी कला मर्मज्ञों का मन मोह लेती हैं। मधुबनी जैसाकि नाम से ही स्पष्ट है 'शहद के वन'। यह क्षेत्र अपनी हरियाली तथा सदा लहलहाती फसलों, रंग-बिरंगे फूलों से भरे बागों व फूलों से लदे वृक्षों के लिए प्रसिद्ध था। इसी कारण इस क्षेत्र को लोग मधुबन कहने लगे और यहां की चित्रकला मधुबनी चित्रकला के नाम से प्रसिद्ध हुई।

इस चित्रकला में साधारणतः चित्रांकन का कार्य तीन प्रकार से किया जाता है **भित्तिचित्र, पट्टचित्र** तथा **भूचित्रण** (अरपिन)। मिथिला में चित्रांकन के यह तीनों प्रकार मिथिलावासियों के जीवन का अभिन्न अंग हैं।

भूमिचित्रण (अरिपन) की परम्परा मिथिला में बेहद प्रचलित है और इसमें मिथिला की संस्कृति परिलक्षित होती है। यह वैदिक संस्कृति का प्रतिफल है। अरिपन के मूल में धार्मिक भावना प्रबल रही है जिसकी प्रेरणा महर्षियों से मिली होगी। मिथिला में सामान्यतः कोई ऐसा वर्ग नहीं है जिसके घर में किसी पर्व

के अवसर पर अरिपन को अनिवार्य नहीं माना जाता हो। प्रत्येक शुभ अवसर के लिए पृथक्-पृथक् अरिपन बनाने का विधान है तथा सभी अरिपनों की पृष्ठभूमि में कुछ-न-कुछ धार्मिक भावना अंतर्निहित है। इनमें अंकित सभी रेखाएं एवं चिन्ह प्रतीक बोधक होते हैं तथा अट्ठारह पुराणों तथा अन्य शास्त्रों के गूढ़ तत्वों पर आधारित हैं।

मिथिला में मुख्य से रूप से तुसारी पूजा का अरिपन, पृथ्वी अरिपन, चतु:शंख अरिपन, षड़दल अरिपन, अष्टदल अरिपन, स्वास्तिक अरिपन, कोजागर का अरिपन, सुसरात्रि का अरिपन, मधुश्रावणी पूजा का अरिपन, षष्टी पूजा का अरिपन, स्त्रियों का दशापात अरिपन, उबटन लगाने का अरिपन, कल्याणदेई पूजा का अरिपन, सांझ अरिपन, मौहक अरिपन, तुलसी पूजा का अरिपन इत्यादि अरिपन निर्मित किए जाते हैं।

मिथिला में भूचित्रण के समान **भित्तिचित्र** की भी समृद्ध परम्परा है। धार्मिक भित्तिचित्र में शिव-पार्वती, राधा-कृष्ण, विष्णु, दुर्गा-काली, लक्ष्मी-सरस्वती, दशावतार की प्रमुखता रहती है। इन चित्रों के दार्शनिक तथ्य से लोक जीवन सतत् उद्वेलित होता है, जो लौकिक एवं परलौकिक जीवन-परम्परा का द्योतक है। भित्तिचित्र में वर-कन्या, हाथी-मछली, सुग्गा (तोता)-मैना, सूर्य-चंद्र-कमल, शंख आदि के सभी चित्र रहते हैं। इसमें हाथी-घोड़ा ऐश्वर्य के, सूर्य-चंद्र दीर्घ जीवन और हंस-मयूर सुख-शांति के प्रतीक हैं।

मिथिला की चित्रकला में **कोहबर चित्रण** अथवा कोहबर लेखन का एक विशेष महत्व है तथा इसमें मंगल सूचक मान्यताएं अंतर्निहित हैं। कोहबर लेखन मिथिला की ज्यामितिक एवं तांत्रिक पद्धति की चित्रकला है जिसमें अनेक प्रतीक चिन्हों का निरूपण किया जाता है। कोहबर में बांस, तोता, कछुआ, मछली, कमल वृद्धि का प्रतीक है तथा कमल का पत्ता स्त्री प्रजनेंद्रीय का। उसी प्रकार तोता ज्ञान अथवा ज्ञान के विकास का प्रतीक है। भित्तिचित्रों में नयना योगिन, पुरैन, दही का भरिया, मछली का भरिया, सरोवर, गोपी चीर हरण लीला, कटहल का पेड़, केला का भरिया, मोर का चित्र, अनार का पेड़, आम का पेड़, सामा-चकेवा के चित्रण, जट-जट्टिन एवं सल्हेस के चित्रण प्रमुखता से किए जाते हैं।

मिथिला में **पट्टचित्रों** की भी अपनी विशेषता है। जिसका विकास प्राचीन भारतीय चित्रकला एवं नेपाल की पट्टचित्रकला से हुआ है। अट्ठारहवीं शताब्दी

में यहां पट्चित्रों की रचना खादी पर भी की जाने लगी। पुनः कागज की सहज उपलब्धता से कलाकारों ने अपनी प्रतिभा एवं भावना को कागज पर भी उतारना शुरू किया। साथ ही घर के भीतर कमरों के साज-सज्जा के लिए प्रयोग में लाया जाने लगा।

यों तो सम्पूर्ण मिथिला क्षेत्र की लोक कला का भाव एवं कलाशैली सामान्यतः एक ही है परंतु स्थान विशेष एवं वर्ग विशेष की लोक चित्रकला में कुछ विभिन्नताएं भी अवश्य हैं।

मिथिला चित्रकला की प्रमुख उन्नायिकाओं में नीलू यादव, जगदम्बा देवी, सीता देवी, गंगा देवी, बौआ देवी, भास्कर कुलकर्णी, अनमना देवी, त्रिपुरा देवी, चंद्रकलादेवी, बअुदेवी, हीरादेवी, कर्पूरी देवी, उर्मिला झा, सावित्री देवी, श्यामा देवी, जानकी देवी, चंद्रप्रभा देवी, पूना देवी, त्रिवेणी देवी, गौरी देवी, मालती देवी एवं चंद्रमुखी देवी प्रमुख नाम हैं।

मिथिला चित्रकला को अंतरराष्ट्रीय कलेवर देने में एक जापानी व्यक्ति हासेगावा ने जापान में एक मिथिला संग्रहालय बनाया है जो विश्व में अपनी तरह का एक अनोखा संग्रहालय है जिसमें मिथिला चित्रकला के दुर्लभ चित्रों का संकलन है। जर्मनी की शोधकर्ता एरिक स्मिथ ने भी मधुबनी की चित्रकला पर शोधकार्य किया है। अमेरिका के रेमंड्स का भी मिथिला चित्रकला के अर्थतंत्र में बड़ा योगदान है। यह कला अब देश की सीमाओं को लांघकर अंतरराष्ट्रीय स्तर पर ख्याति अर्जित कर रही है।

मिथिला की लोक चित्रकला में न केवल मिथिला अपितु सम्पूर्ण भारतवर्ष का आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक प्रतिबिम्ब झलकता है। ये चित्र जीवन की कविता के दृश्यमान हैं। सही मायने में यह कला परम्पराओं का एक सम्मिश्रण है, जो वंश परम्परा के अनुसार एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को विरासत में हस्तांतरित होती रही है।

ऐपण

वात्स्यायन-कामसूत्र की चौसठ कलाओं में से एक कला अल्पना भी है। उत्तराखण्ड में अपनायी जाने वाली लोक कला ऐपण भी मूलतः पूरे भारत में अपनायी जाने वाली इसी लोककला का ही एक रूप है, जो अपने आप में कुछ विशिष्टताएं समाहित किए हुए हैं। ऐपण परम्परा महाराष्ट्र से प्रारंभ होकर पूरे देश में प्रसारित

हुई है। इस कला को राजस्थान में मांडवा या महरना, मधुबनी, कहजर, बंगाल में अल्पना, गुजरात में सतिया, महाराष्ट्र में रंगोली, बिहार में अरिपन, ओडिशा में अल्पना, दक्षिण भारत में कोलम, आंध्र प्रदेश में भुग्गल, मध्य प्रदेश में चौक पूरना तथा उत्तर प्रदेश में सांझी के नाम से जाना जाता है।

उत्तराखण्ड में यह कला देश के अन्य भागों में बनाई जाने वाली रंगोली की तरह ही बनाई जाती है, फर्क सिर्फ इतना है कि रंगोली में रंग मिश्रित बुरादे, आटे, फूल, पत्तियों को उपयोग में लाया जाता है, परंतु ऐपणों में लाल मिट्टी, गाय के गोबर, गेरू, बिस्वार इत्यादि को प्रयोग में लाया जाता है। मुख्यतः इस कला के दो रूप सामने आते हैं आनुष्ठानिक एवं कलात्मक।

अनुष्ठान के समय में बनाए जाने वाले ऐपण आनुष्ठानिक एवं कल्पना के आधार पर विभिन्न आकृतियों का प्रयोग कर बनाए जाने वाले ऐपण कलात्मक ऐपणों के अंतर्गत आते हैं। विभिन्न मंगल कार्यों में बनाए जाने वाले ऐपणों को चौकी की संज्ञा दी गई है तथा भिन्न-भिन्न कार्यों में बनाई जाने वाली चौकियों को पृथक्-पृथक् नाम से जाना जाता है। इन अलग-अलग आकृतियों के पीछे एक विशिष्ट चिंतन और उद्देश्य निहित होता है।

मिट्टी के घरों में ऐपण देने के लिए गोबर और लाल मिट्टी का प्रयोग किया जाता है। लिपाई के बाद मुख्य द्वार (देहरी) में गेरू भिगोकर लगाया जाता है जिसके सूखने के बाद बिस्वार, जो चावल को भिगोने के बाद पीसकर गाढ़े पाने के रूप में बनाया जाता है, से विभिन्न चित्र, आकृतियां, बसनधारे (सीधी रेखाएं) चौकोर, तिरछी, गोलाकार रेखाएं अंकित की जाती हैं। ऐपण सर्वप्रथम घर के मंदिर उसके बाद आंगन से देवस्थान तक बनाए जाते हैं जिसमें लक्ष्मी के पैर बनाना भी जरूरी समझा जाता है। कहीं-कहीं बिस्वार में सगुन के लिए हल्दी भी मिलाते हैं।

कुमाऊं के कुछ ऐपण एवं चौकियों में ज्योति, बारबूंद, पट्टा, डिकर, प्रकीर्ण, वसनधारा, जन्मदिन चौकी, नामकरण चौकी, विवाह चौकी, सरस्वती पीठ, देवी पीठ, लक्ष्मी पीठ, लक्ष्मी पौ, शिवार्चन पीठ, शिव शक्ति पीठ, नौ बिंदुओं की स्वास्तिक तेरह बिंदुओं की देवी पीठ, देहली ऐपण, भद्र, नींबू आदि आते हैं।

पटुआ कला

बंगाल की पटुआ कला का इतिहास 1000 साल पहले का है। पटुआ, कुम्हारों की तरह, देवी-देवताओं की लोकप्रिय *मंगल* कहानियों को चित्रित करने वाले

चित्रकार थे। सदियों से पीढ़ी-दर-पीढ़ी ये स्क्रॉल पेंटर या पटुआ पैसे और भोजन के लिए गांव-गांव जाकर कहानियां सुनाते हैं। अधिकतर पश्चिम बंगाल के मिदनापुर जिले या 24 परगना और बीरभूम जिलों से आए हैं और स्वयं को *चित्रकार* कहते हैं। कटावदार डिजाइन या कागज का खर्रा (स्क्रॉल) एकसमान या विभिन्न आकारों के पेपर शीट से बनता है जिन्हें आपस में सिला जाता है और साधारण पोस्टर रंग से पोता जाता है। आजकल यह सिनेमा के दुष्परिणाम या साक्षरता प्रोत्साहन जैसे सामाजिक और राजनीतिक मुद्दों पर टिप्पणी करते हैं।

कालीघाट चित्रकला

कालीघाट चित्रकला 19वीं शताब्दी के कलकत्ता (अब कोलकाता) के शहरी जीवन के परिवर्तन का उत्पाद थी। तत्कालीन ब्रिटिश साम्राज्य की राजधानी कलकत्ता (अब कोलकाता) में कालीघाट मंदिर की तीर्थस्थान के तौर पर बढ़ती महत्ता ने ग्रामीण बंगाल से प्रवासी स्क्रॉल पेंटर्स को मंदिर के आस-पास इकट्ठा कर दिया, और वे इस चित्रकारी को करने लगे। ये मिल पेपर पर पानी के रंगों की मदद से चिड़ियां एवं बछड़े के बालों से बने ब्रुश के साथ ये चित्रकारी करते थे। हिंदू देवी-देवता इस चित्रकारी के विषय थे।

पैटकर चित्रकला

झारखण्ड की पैटकर चित्रकला भारत में सबसे प्राचीन चित्रकलाओं में से एक है, और इसे राज्य के आदिवासी लोगों द्वारा बनाया जाता है। चित्रकला की यह प्राचीन सांस्कृतिक विरासत बंगाली समाज के बेहद सुप्रसिद्ध देवी मां मनसा से सम्बद्ध हैं। चित्रकला का विषय बेहद सामान्य है मृत्यु के बाद मानव जीवन का क्या होता है। दुर्भाग्यवश, यह कला रूप पतन की ओर अग्रसर है और जल्द ही विलुप्त हो जाएगा।

कोहवर एवं सोहरई चित्रकला

कोहवर एवं सोहरई चित्रकला झारखंड की बेहद कोमल एवं सुंदर कला है, लेकिन यह कलारूप विलुप्ति के संकट का सामना कर रही है। ये चित्रकला पवित्र या धर्मनिरपेक्ष हो सकती हैं, लेकिन महिला संसार से प्रासंगिक हैं। यह चित्रकारी विशेष रूप से विवाहित महिला द्वारा विवाह के और फसल के दौरान की जाती

है और इस कौशल को कुल की सबसे युवा महिला को हस्तांतरित कर दिया जाता है।

कलमकारी

जैसाकि नाम से स्पष्ट होता है, *कलमकारी* कलम के साथ की जानी वाली चित्रकला है, जो तीव्र नोंक वाली बांस की होती है जो रंग के प्रवाह को विनियमित करती है। यह चित्रकारी सूती कपड़े पर की जाती है। कलमकारी का प्राचीन इतिहास है। आंध्र प्रदेश में श्रीकलाहस्ति एवं मछलीपट्नम इसके प्रमुख केंद्र हैं, और यह आज भी यहां निरंतर जारी है। श्रीकलाहस्ति के कलाकार दीवार पर लटकाने वाली तस्वीरों को बनाते हैं। इसका मुख्य विषय हिंदू धर्म से है। श्रीकलाहस्ति के कुछ दस्तकार भी खूबसूरत कपड़ा चित्रकारी बनाते हैं। कलमकारी के रंग सब्जियों से बनाए जाते हैं। मछलीपट्नम के कलाकार विभिन्न रूपों के कमल के फूल, रथ के पहिए, तोता, फूल एवं पत्तियों के डिजाइन का प्रयोग करते हैं।

वरली चित्रकला

वरली (महाराष्ट्र-गुजरात सीमा क्षेत्र पर रहने वाले मूल निवासी) लोगों ने 2500 या 3000 ईसा पूर्व इस चित्रकला परम्परा को शुरू किया था। उनकी शैल चित्रकला मध्य प्रदेश के भीमबैठका में 500 से 10,000 ईसा पूर्व में की गई शैलचित्रकारी से मिलती-जुलती है। इनकी चित्रकारी में वृत्तों एवं त्रिभुजों का प्रयोग किया गया है जिसमें वृत्त सूर्य एवं चंद्र को प्रतिम्बित करते हैं जबकि त्रिभुज पर्वतों और शंकुधारी वृक्षों के प्रतीक हैं। वर्ग का प्रयोग मानव खोज को दर्शाता है जिसका प्रयोग भूमि के टुकड़े का संकेत करता है। चित्रों में पालघटा को उकेरा गया है जो देवी मां है और जीवन को दर्शाती है। प्रत्येक पेंटिंग्स का मूल आकार वर्गाकार है, जिसे *चौक* या *चौकट* के तौर पर जाना जाता है। दो त्रिभुज अपनी ऊपर नोंक पर मिलते हैं जिसका प्रयोग मानव एवं जंतु शरीर को दर्शाने के लिए किया जाता है।

पारम्परिक चित्रकारी सामान्यतः घर के भीतर की जाती है। पत्तियों, शाखाओं, मिट्टी और गाय के गोबर से बनी दीवारें चित्रकारी के लिए एक लाल पृष्ठभूमि प्रदान करती हैं। चित्रकारी करने के लिए केवल चावल के आटे एवं गोंद से

बने सफेद मिश्रण का प्रयोग किया जाता है। वॉल पेटिंग्स केवल विवाह या फसल कटाई जैसे विशेष अवसरों पर की जाती है।

थगंका चित्रकला

सिक्किम की मुख्य चित्रकला (तिब्बत की भी) थगंका है जिसमें भगवान बुद्ध के उच्चतम आदर्शों को प्रस्तुत किया जाता है। थगंका चित्रशैली को सूती कपड़े पर बनाया जाता है और प्रायः रेशम से फ्रेम किया जाता है। इसमें बौद्ध धर्म से संबंधित विभिन्न देवताओं एवं दर्शन को चित्रित किया जाता है। परम्परागत रूप से थगंका बौद्ध गुरुओं और विशिष्ट जाति समूह द्वारा बनाई जाती थी, और यह कौशल एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित किया जाता रहा। अब यह कला लोगों के एक बड़े भाग तक फैल गई है और इसने व्यावसायिक पहलू भी ग्रहण कर लिया है। इस कला रूप से प्राप्त धन ने कलाकारों को इस कला को जिंदा रखने में मदद करने के साथ-साथ बौद्ध मठों की भी मदद की है।

थगंका के तीन प्रकार हैं। प्रथम प्रकार में बुद्ध के जीवन, उनमें जन्म, उनके जीवन के भ्रम दूर होना, उनकी ज्ञान की खोज और उनकी जीवन के प्रति समझ को चित्रित किया गया है। दूसरे प्रकार में बौद्ध धर्म के जीवन एवं मृत्यु के प्रति विश्वास को प्रतिबिम्बित किया गया है। तीसरे प्रकार की थगंका चित्रों में ऐसे चित्र बनाए जाते हैं जिनका प्रयोग ध्यान एवं समाधि या देवताओं की पूजा करने के लिए किया जाता है। ऐसे पेंटिंग्स को सामान्यतः सफेद पृष्ठभूमि पर बनाया जाता है। *थगंका* में रंगों का बेहद महत्व है। सफेद रंग पवित्रता को प्रतिबिम्बित करता है, स्वर्णिम रंग जन्म या जीवन, ज्ञान और परिनिर्वाण का द्योतक है, लाल रंग चाहत की तीव्रता प्रेम एवं घृणा दोनों का प्रतिनिधित्व करता है, काला रंग क्रोध, पीला रंग करुणा एवं हरा रंग चेतना को दर्शाते हैं। *थगंका* में प्रयुक्त होने वाले सभी रंग प्रकृति से प्राप्त होने वाले सब्जियों या खनिज रंगों से तैयार किए जाते हैं।

दस्तकारी

भारतीय दस्तकारी की परंपरा काफी पुरानी है। प्राचीन काल से ही इसका उल्लेख मिलता है, जब भारत कपास के लिए दुनिया भर में प्रसिद्ध था और मुख्य रूप से वस्त्र, रंगों एवं हाथी दांत के लिए एक प्रमुख व्यापारिक केंद्र था। पश्चिमी

तथा सुदूर पूर्व देशों के नाविक यहां से वापसी में सोने-चांदी के बदले हाथ से बुने गए सूती वस्त्र एवं हस्तकला के अन्य सामान ले जाते थे। तथापि, मुगल काल की शुरुआत में ही भारतीय दस्तकारी ने काफी प्रसिद्धि पाई। वस्त्र निर्माण व आभूषण निर्माण का काफी विकास हुआ। मखमल बनाने की नई कारीगरी सामने आई। लेकिन जैसे-जैसे मुगल शासन कमजोर पड़ता गया, दस्तकारी को मिलने वाला संरक्षण समाप्त होता गया। अंग्रेजों के साम्राज्यवादी युग में व्यापारिक दृष्टि से भारतीय दस्तकारी को काफी हतोत्साहित होना पड़ा। भारतीय दस्तकारी का मुकाबला सस्ते, आयातित एवं मशीननिर्मित उत्पादों से हुआ। महात्मा गांधी के स्वदेशी आंदोलन ने कुछ हद तक हस्तकला की प्रस्थिति में जान फूंकने का प्रयास किया। आजादी के बाद सरकार का प्रयास दस्तकारी उपयोग के लिए विकासात्मक कार्यक्रम शुरू करने, कई परंपरागत दस्तकारियों को पुनर्जीवित करने, नए केंद्रों का पता लगाने और इस समृद्ध सांस्कृतिक विरासत से अधिकाधिक लोगों को अवगत कराने का रहा है।

भारतीय दस्तकारी को समग्र रूप से तीन भागों में बांटा जा सकता है

(i) लोक दस्तकारीः इस श्रेणी में वैसी दस्तकारी को रखा जा सकता है, जिसे कुछ चुनिंदा लोगों के लिए गांव के कारीगर तैयार करते हैं, या फिर लोगों द्वारा अपने प्रयोग के लिए की जाने वाली दस्तकारी को इस वर्ग में रखा जा सकता है।

(ii) व्यावसायिक दस्तकारीः किसी खास समूह के दस्तकारों द्वारा बनाई जाने वाली दस्तकारी इसमें आती है। ये दस्तकार खास किस्म की हस्तकला में दक्षता रखते हैं। यह दस्तकारी व्यावसायिक उद्देश्य के लिए होती है।

(iii) दस्तकारी की एक श्रेणी ऐसी भी है, जो धार्मिक स्थानों से जुड़ी है।

वस्त्र निर्माण

भारतीय वस्त्र निर्माण के कई तरीके थे और इनके डिजाइनों में भी काफी विविधता होती थी। भौगोलिक और मौसमी प्रभाव द्वारा निर्धारित होने के बावजूद इनमें एक किस्म की समानता थी। उदाहरण के तौर पर गंगा के मैदानी भागों में मुलायम और हल्के रंग के कपड़े ज्यादा बनते हैं।

बुने हुए **सूती कपड़ों** में जामदानी या इनले तकनीक ज्यादा उपर्युक्त बैठती

है। मलमल की बुनाई में इसी का इस्तेमाल किया जाता है। पश्चिम बंगाल में, यह तकनीक काफी लोकप्रिय है। यहां बुनकर सफेद पृष्ठभूमि पर हल्के रंगीन पैटर्न डालकर साड़ी बनाते हैं। टांडा क्षेत्र में भी ऐसा ही चलन है। वहां पैटर्न में कुछ ज्यादा विस्तार देखने को मिलता है। उत्तर प्रदेश के बनारस, आंध्र प्रदेश के वेंकटगिरी, मणिपुर के मोरांगफी तथा तमिलनाडु के कोडियलकरूपार की साड़ियों में यह तकनीक देखने को मिलती है। *पैठनी* तकनीक में साड़ी तथा चुनरी के पल्लू व किनारी की बुनाई में धागे एक दूसरे से गुंथे रहते हैं। यह तकनीक कपड़ों पर दस्तकारी वाली बुनाई से समानता रखती है। पहले यह विधि चंदेरी में लोकप्रिय थी। अब सिर्फ पैठान में जिंदा है। छोटे चेक तथा पूरक रंगों से मुक्त माहेश्वर की सूती साड़ी, कर्नाटक की इलकाल साड़ी, आंध्रप्रदेश की साड़ियां, खास तौर पर नारायणपेत साड़ी, तमिलनाडु की परंपरागत सिल्क पैटर्न पर आधारित कांजीवरम, मदुरै, सलेम तथा कलाक्षेत्र साड़ियां तथा केरल की बिना रसायनों से धुले धागों से बनी करालकुडी साड़ी का नाम प्रमुखता से लिया जा सकता है।

बुने हुए **रेशम** के कपड़े में सोने की जरी का काम होता है। कुछ में यह काम ज्यादा और कुछ में हल्का होता है। एक किस्म गंगा-यमुना की है। लोकप्रिय अम्रू रेशमी जरी बालूचरी एवं तंचोई तकनीक (जरी लगाने की चीनी तकनीकी पर आधारित) बनारस में बखूबी इस्तेमाल होती है। बनारस रेशम की बुनाई के एक प्रमुख केंद्र के रूप में जाना जाता है। बालूचरी तकनीक काफी हद तक लघु चित्रकला शैली से ली गई है। दक्षिण भारत की कांजीवरम, कुंबकोणम तथा तंजौर की साड़ियां भारी, आकर्षक और रेशम की चौड़ी किनारी के लिए प्रसिद्ध हैं।

सूत की कताई और रंगाई की **बांधनी** तकनीक शुरू में फलक अलंकरण की एक किस्म थी, जो कच्छ, जामनगर, राजकोट, जोधपुर, जयपुर तथा राजस्थान के अन्य इलाकों में प्रचलित थी। बहुरंगी और तिरछे डिजाइन वाली लहरिया और मोथरा तकनीक राजस्थान में विशेष तौर पर प्रयुक्त होती है। बुनाई से पहले कच्चे एवं सूखे सूत की कताई व रंगाई को पटोला या इकत कहा जाता है। आंध्र प्रदेश में इसे चिलका तथा ओडिशा में बंधा कहा जाता है। अब यह अपने आप में नई शैली बन गई है।

छपाई

कपड़े पर छपाई के लिए कई तकनीकें इस्तेमाल में लाई जाती हैं। एक तकनीक में खांचे वाले लकड़ी के टुकड़ों का इस्तेमाल रसायनों से धुले सूती या रेशमी कपड़ों पर छपाई के लिए किया जाता है। दूसरी में लेप का इस्तेमाल कर बिना रंगे भागों की छपाई की जातीं है। कपड़े पर छपाई की बाटिक तकनीक के लिए जयपुर, बाड़मेर, पाली, सांगनेर (राजस्थान), कच्छ, अहमदाबाद, बड़ौदा (गुजरात)। मध्यप्रदेश में नंदरा और उज्जैन छपाई के लिए प्रसिद्ध है। फर्रुखाबाद (उ.प्र.) तथा दक्षिण में मछलीपत्तनम एवं तंजौर इसके प्रमुख केंद्र हैं।

सौराष्ट्र की 'हीर' **लोक कसीदाकारी** काफी प्रसिद्ध है। इसमें रेशमी कपड़े पर काफी, आकर्षक ज्यामितीय आकृतियां बनाई जाती हैं। पंजाब में सूती या रेशमी कपड़े पर की जाने वाली कसीदाकारी को 'बांध' के नाम से जाना, जाता है। इसमें 'चोप' पर विशेष बल होता है। हरियाणा तथा पंजाब की 'फुलकारी', हिमाचल प्रदेश की दोनों सतहों पर होने वाली कसीदाकारी 'चंबा रूमाल' तथा विशेष तौर पर कर्नाटक के 'कसुटी' में कई धागों का प्रयोग किया जाता है।

कश्मीरी शॉल उत्कृष्ट किस्म के ऊन पर गहन डिजाइन के लिए प्रसिद्ध है तथा ये हस्तशिल्प के बेहतरीन नमूने हैं। यहां का *कानी* (बना हुआ पश्मीना शॉल), *दोरुखा* (दोनों ओर इस्तेमाल किया जाने वाला शॉल) तथा *शहतूस* काफी प्रसिद्ध है। बौद्धधर्म से जुड़े हुए लोग कुल्लू शॉल को प्रयोग में लाते हैं। यह चेक पैटर्न पर बना होता है। सैनिकों के शॉल के नाम से जाना जाने वाला नागालैण्ड का 'तुसुंगकोटेपसु' भी काफी प्रसिद्ध है।

दरी एवं दस्तरखाना

फर्श पर बिछाई जाने वाली दरी सामान्य तौर पर महीन सूती कपड़े से बुनी जाती है। इसमें डिजाइनों की पूरी रेंज विद्यमान है। इसमें पंजाब, हरियाणा तथा राजस्थान की पंजा दरी, उत्तर प्रदेश की जाह नमाज दरी (नमाज पढ़ने के लिए इस्तेमाल में लाई जाने वाली दरी), तमिलनाडु के सलेम की सघन पैटर्न वाली नवलगुंड तथा रेशम और सूती कपड़े से बनने वाली भवानी दरी, वारंगल की बंधा (इकत) दरी, (इसमें सूती धागे की पहले कताई और रंगाई की जाती है), को शामिल किया जा सकता है। कश्मीर की दरी में पारसी तथा मध्य एशियाई दस्तकारी का प्रभाव है। फर्श पर बिछाने के लिए कश्मीर की और भी कई चीजें प्रसिद्ध हैं नमदा, गाबा तथा हुकरग जैसे विशेष किस्म के कम्बल।

मृद्भांड

भारत में बिना शीशे की पालिश वाले मिट्टी के बर्तन सर्वोत्कृष्ट माने जाते हैं। इस किस्म में अलवर के हल्के 'कागजी' बर्तन, कांगड़ा के काले रंग के मिट्टी के बर्तन, आजमगढ़ (उ.प्र.) तथा कच्छ के काले मृद्भांड (इस पर सिलवर का पैटर्न भी बना रहता है), आभूषणों की तरह पैटर्न से अलंकृत पोखरन के मृद्भांड और कश्मीर के मिट्टी के पतले बर्तन शामिल हैं। इसमें सर्वाधिक प्रसिद्ध नीले रंग के मिट्टी के बर्तन हैं। ये बर्तन परंपरागत तरीके से नहीं बनाए जाते हैं। जयपुर और दिल्ली इसके प्रमुख केंद्र हैं। रामपुर और खुर्जा में लाल मिट्टी के विभिन्न किस्म के बर्तन बनाए जाते हैं। उत्तर प्रदेश का चुनार सुराही के लिए प्रसिद्ध है। वहां सुराही को आकर्षक बनाने के लिए भूरे शीशे का प्रयोग किया जाता है।

मृणमूर्ति टेराकोटा

मिट्टी से बनी देवी-देवताओं की मूर्तियों का प्रयोग आमतौर पर त्यौहारों में होता है। मिथिला बिहार, की 'शामा चक' की मिट्टी से बनी मूर्तियां, पश्चिम बंगाल के 'बांकुरा' के घोड़े की मूर्तियां, राजस्थान में हाथ से बनी गणेश की मूर्तियां और तमिलनाडु की अयनार की मूर्तियों का उल्लेख इस क्रम में किया जा सकता है।

आभूषण

आभूषणों का प्रयोग मुख्यतः महिलाएं अपने को संवारने में करती रही हैं। आदिवासी समुदाय में इनका महत्व बुरी आत्माओं को दूर भगाने के लिए है। इसीलिए देवी-देवताओं की मूर्तियों के आकार वाले ताबीजों एवं लटकनों का प्रयोग भी ये करते हैं। अलग-अलग अंगों के लिए इन आभूषणों की पूरी किस्म मौजूद है। उदाहरण के लिए, चेहरे को अलंकृत करने हेतु, नाक, कान और ललाट के आभूषण हैं। 'नथ' और 'फुली' इसी में आते हैं। हाथों को सजाने के लिए चूड़ी, गजरा, करधा, बैंज, बाजू, चूड़ा का नाम लिया जा सकता है। गले के लिए हार या लॉकेट हैं। पैर की अंगुलियों के लिए 'बिछुआ' का प्रयोग किया जाता है। आदिवासी एक विशेष प्रकार की बिंदी का प्रयोग करते हैं। चांदी से बनी यह बिंदी पूरी ललाट को ढंके रहती है। सौराष्ट्र तथा महाराष्ट्र में चांदी की बनी

हुई 'हंसली' का प्रयोग गर्दन की सुंदरता के लिए किया जाता है। राजस्थान और पंजाब में इनकी अपेक्षा कुछ हल्की हंसली पहनी जाती है। कुल्लू में नाक में महिलाएं 'नथ' या 'बुलाक' पहनती हैं। कुल्लू और किन्नौर में चांदी की बजाय पीपल के पत्ते से बना एक आभूषण 'पीपल पत्र' माथे पर पहना जाता है। कश्मीर में कानों को सजाने के लिए 'कानबाली' तथा 'झुमका', पश्चिम बंगाल में बालों की सजावट के लिए 'तारकांता' तथा 'पानकांता' का प्रयोग होता है। ओडिशा और केरल के स्वर्णाभूषण भी काफी प्रसिद्ध हैं।

धातु से बनी सामग्री

देवी देवताओं की मूर्तियों से लेकर घरेलू इस्तेमाल की वस्तुएं बनाने में धातुकला से सम्बंधित कई तकनीकियों का इस्तेमाल होता है। मिश्रित धातु से सामान बनाने के लिए केरल, ओडिशा, पश्चिम बंगाल तथा बिहार प्रसिद्ध हैं। चादरनुमा धातु का सामान बनाने की कला में तंजौर, तमिलनाडु में मद्रास, उत्तर प्रदेश में वाराणसी तथा गुजरात में भुज का नाम प्रमुखता से लिया जा सकता है। इसके अतिरिक्त एक और धातु कला है, जिसमें धातु को ढालकर उससे सामान बनाया जाता है। उत्तर प्रदेश में मुरादाबाद तथा हरियाणा में जगाधरी इसके प्रमुख केंद्र हैं। कांसे को ढालकर मोम की तरह मुलायम बनाकर उससे सामान बनाने की (साइरे परड्यू) गुम हो गई कला को एक बार फिर विकसित किया गया है। धातु की सतह को अलंकृत करने के लिए नई तकनीकों का प्रयोग किया जाता है। इसमें प्रमुख हैं 'गंगा-यमुना तकनीक, केरल की कोफ्तगारी बिदरी तांबे पर चांदी मढ़ना जिंक वेसेल्स, तंजौर का प्लेट का कार्य तथा, कश्मीर का निएलों।

प्रस्तर कला

भारत प्रस्तर कला में काफी समृद्ध रहा है। यह यहां के कई प्राचीन स्मारकों को देखने से स्पष्ट होता है। देवी देवताओं की मूर्तियों तथा पूजा स्थल पत्थरों को तराशकर बनाए जाते रहे हैं। पत्थरों में संगमरमर का प्रयोग बहुतायत में होता रहा है। मकराना का संगमरमर काफी प्रसिद्ध है। जयपुर और आगरा भी संगमरमर पत्थर के लिए प्रसिद्ध हैं। राजस्थान का डूंगरपुर तथा मैसूर काले पत्थरों के लिए जाने जाते हैं। तमिलनाडु के महाबलीपुरम में कठोर ग्रेनाइट पत्थरों का प्रयोग किया गया है। ओडिशा की पाषाण कला अनुष्ठानों और रीति-रिवाजों तथा धार्मिक मान्यताओं से गहराई से जुड़ी हुई है।

हाथी दांत की कला

यह एक प्राचीन कला है, जो विभिन्न जगहों पर अपने-अपने ढंग से विकसित हुई है। इसका सबसे ज्यादा चलन दिल्ली (हाथी दांत से बने आभूषण), राजस्थान तथा गुजरात (चूड़ियां बनाने में), वाराणसी, उत्तर प्रदेश (बुद्ध तथा कृष्ण की मूर्तियां बनाने में), पश्चिम बंगाल (खेलने वाली नाव तथा दुर्गा की प्रतिमा बनाने में) तथा केरल (देवी-देवताओं की मूर्तियां बनाने) में है।

हड्डी तथा सींग से सम्बद्ध कला

ओडिशा में जानवरों की आकृति बनाने के लिए तथा हिमालय के क्षेत्रों में धार्मिक कर्मकांडों के लिए आभूषण तैयार करने में हड्डी का प्रयोग किया जाता रहा है। सींग, विशेषकर भैंस के सींग का इस्तेमाल कंघी, बटन, डिब्बी, कलश जैसे सामानों के निर्माण में किया जाता है। इस कला के प्रमुख केंद्र कटक, परलाकिमेदी (ओडिशा), सराय तारीन (उ.प्र.), त्रिवेंद्रम तथा मैसूर हैं।

काष्ठ कला

काष्ठ कला की परंपरा काफी पुरानी है तथा हर क्षेत्र की अपनी अलग शैली है। असम की मिथकीय मूर्तियां तथा वहां के पूजा स्थल (नामधर) परंपरागत ढंग से लकड़ी से बने हैं। गुजरात के सांखेड़ा के फर्नीचर, अहमदाबाद में मकानों की बालकनी तथा ओसारा, पश्चिम बंगाल के गांवों में बने मकानों के बीम व खम्भे, ओडिशा के रथों और मंदिरों में काष्ठकला के उत्कृष्ट नमूने दिखाई देते हैं।

दक्षिण भारत में लकड़ी को तराशकर बनाए गए रथ काफी प्रसिद्ध हैं। कर्नाटक लकड़ी से बने बक्से के लिए जाना जाता है। केरल के मकानों में बीम, खंभे, चौखटें, छत से संबंधित सामान लकड़ी के बने होते हैं। कश्मीर में घरेलू इस्तेमाल के अधिकांश सामान लकड़ी से बनाए जाते हैं। यहां तक कि लकड़ी की बनी मस्जिदें भी वहां देखने को मिल जाती हैं। लकड़ी से जुड़ी लोक कला बस्तर, आंध्रप्रदेश के तिरूपति और निर्मल गांवों में तथा राजस्थान के बासी गांव में देवी-देवताओं की मूर्तियों व खिलौनों में दिखाई देती है। तंजौर लकड़ी से बनी गुड़ियों के लिए प्रसिद्ध है।

चटाई बुनाई

विभिन्न सामानों से चटाई की बारीक बुनाई की जाती है। तमिलनाडु के तिरुनेल्वेली में 'पट्टमढ़ई' नामक चटाई, मणिपुर में 'फाक' बेंत की चटाई, केरल की घास से बनी अत्यंत सघन पैटर्न वाली 'कोरा' चटाई तथा पश्चिम बंगाल की 'शीतलापट्टी' तथा 'मधुर कोठी' चटाइयां प्रसिद्ध हैं।

टोकरी बुनाई

स्थानीय परंपराओं के अनुरूप टोकरी बुनाई कई तरह से की जाती है। उत्तर-पूर्व का क्षेत्र अच्छी किस्म की बेंत तथा बांस से बनी टोकरी के लिए काफी प्रसिद्ध है। बंगाल की बांस से बनी टोकरी 'कुलास', तमिलनाडु की 'चेट्टीनड़' टोकरी और मैसूर की बेंत की टोकरी काफी लोकप्रिय है। जंगली घास 'सरकंडा' तथा ताड़ के पत्ते से बनी पंजाब की टोकरी, मानसूनी घास 'मूंज' से बनाई गई उत्तर प्रदेश की टोकरी, बरसाती घास से बनी हुई बिहार की टोकरी तथा एक किस्म के मुलायम पौधे से बनी हुई कश्मीर की टोकरी उल्लेखनीय हैं।

फर्श तथा दीवार अलंकरण

फर्श की सजावट आमतौर पर त्यौहारों के अवसर पर की जाती है। इसमें चावल के दाने एवं सिंदूर वगैरह से चित्रक्रम में प्रतिकृति बनाई जाती है। पश्चिम बंगाल में इसे 'अल्पना', बिहार तथा उत्तर प्रदेश में 'अरिपन', महाराष्ट्र तथा गुजरात में 'रंगोली', दक्षिण भारत में 'कोलम' कहा जाता है।

त्यौहारों के अवसर पर दीवारों पर चित्र वगैरह बनाकर उसे सजाया जाता है। हरियाणा, उत्तर प्रदेश तथा राजस्थान में नवरात्र के अवसर पर दीवारों पर मिट्टी से 'सांझी' बनाई जाती है। गाय के गोबर से भी दीवारों को सजाया जाता है। कच्छ के 'ढेभबरिया रावरीज' का नाम इस क्रम में लिया जा सकता है।

दस्तकारी क्षेत्र का मूल्यांकन

दस्तकारी आज भी भारतीय संस्कृति एवं समाज का एक विविध पहलू है। दस्तकारी भारत में मानव इतिहास के प्रारंभ से संस्कृति से घनिष्ठ रूप से गुंथा हुआ है। दस्तकारी गांवों, कस्बों, अदालतों और धार्मिक संस्थानों के दैनंदिन जीवन का एक अभिन्न अंग रहा है। भारत में मौजूद विभिन्न प्रकार की दस्तकारी एवं कौशल और पूरी सदी उनके निरंतर विकास ने पूरे विश्व में भारत को एक अद्वितीय

स्थान प्रदान किया। विश्व में हम उन चुनिंदा देशों में हैं जहां पूरे देश में कई लोगों द्वारा दस्तकारी कौशल किया जाता है।

दस्तकारी क्षेत्र बड़ी संख्या में लोगों को आजीविका प्रदान करता है और भारत की विदेशी आय में एक बड़ा योगदान देता है। कालीन उद्योग, हीरे-जवाहरात उद्योग के साथ दस्तकारी भारत के कुल निर्यात में पांचवे हिस्से की भागीदारी करती है। एक आकलन के अनुसार दस्तकारी क्षेत्र में 12 मिलियन से अधिक कलाकार कार्यरत हैं। हालांकि, आज भारत दस्तकारी के विश्व उद्योग में मात्र 2 प्रतिशत की भागीदारी रखता है जबकि चीन में सरकारी सहायता एवं समर्थन के बूते उसकी इस क्षेत्र में वैश्विक भागीदारी 17 प्रतिशत की है।

भारत में दस्तकारी क्षेत्र को एक बड़ा संकट देश एवं विदेश में औद्योगिक विनिर्माण से है, जो बड़ी मात्रा में सस्ते उत्पाद उत्पन्न करते हैं और त्वरित तौर पर बदलते प्रारूप एवं फैशन की मांग को पूरा करते हैं। आज व्यापार नीतियों के वैश्वीकरण एवं उदारीकरण का अर्थ है अन्य देशों से गुणवत्तापरक दस्तकारी सामान भारत में प्रवेश कर सकता है और भारत में दस्तकारी उद्योग के साथ प्रतिस्पर्धा कर सकता है। देश के भीतर दस्तकारी उद्योग को बहुराष्ट्रीय कंपनियों के साथ प्रतिस्पर्द्धा करनी पड़ रही है क्योंकि युवा लोग ब्रांडेड कपड़े एवं लाइफस्टाइल उत्पाद खरीदते हैं।

दस्तकारी क्षेत्र की महत्ता को समझते हुए भारत में सरकारी नीति को परिवर्तित करने की आवश्यकता है। इसके लिए दस्तकारी से रोजगार एवं आय अवसरों को सुनिश्चित करना होगा। दस्तकारी के घरेलू एवं अंतरराष्ट्रीय दोनों बाजारों के विस्तार द्वारा इसे एक आर्थिक गतिविधि बनाने की आवश्यकता है। विलुप्ति के संकट से जूझ रहे दस्तकारी कौशल के परम्परागत सुंदरता का संरक्षण करना होगा, और फिर से उन्हें भारत के दैनंदिन जीवन का एक अभिन्न अंग बनाना होगा।

अध्याय-8

भाषा एवं साहित्य

भाषा एवं संस्कृति एक-दूसरे से इस तरह जुड़ी हुई हैं कि उन्हें उस जुड़ाव से अलगाना एक असंभव कार्य है। स्पष्ट है वे अविच्छिन्न हैं। तथापि दो भिन्न अवधारणाएं होते हुए भी वे एक-दूसरे को समृद्ध करती हैं, यह निर्विवाद है। प्रत्येक भाषा एक सांस्कृतिक इकाई की उपज होती है। किंतु कालांतर में प्रत्येक भाषा अपनी एक अलग संस्कृति का निर्माण करती चलती है।

भाषा और संस्कृति राज्य और सभ्यताओं की तरह जड़ और मरणशील नहीं होते। राज्य राजनीतिक कारणों से समाप्त हो सकते हैं या भौगोलिक विस्तार पा सकते हैं, ठीक यही स्थिति सभ्यताओं की है कि सभ्यताएं प्राकृतिक तथा मानव निर्मित आक्रोश से समाप्त हो सकती हैं किंतु भाषाएं एवं संस्कृतियां जो लोक में गहरे जमीं होती हैं अपने रूपों में विकास या रूपांतरण कर सकती हैं किंतु समूल रूप से नष्ट नहीं होतीं।

संस्कृति या संस्कृतियों से अनेक भाषाओं का विकास होता है। इस आधार पर हम कह सकते हैं कि संस्कृतियों की अनेक भाषाएं होती हैं। यह निर्विवाद है कि भाषा संस्कृति की महत्वपूर्ण संवाहिका है और इसी बिंदु से भाषा और संस्कृति के अंतर्सबंधों की पड़ताल की जा सकती है।

कुल मिलाकर भाषा संस्कृति की ऐसी इकाई है जो स्वयं में, अपने भाषिक निर्माणों में, एक किस्म की रचनात्मकता को प्रश्रय देती है। संस्कृति का यही सकारात्मक पक्ष भाषा को संस्कृति के साथ एकमेक किए रहता है।

भारत की साहित्यिक परंपरा 4000 वर्षों से भी अधिक पुरानी है और इस दौरान संस्कृत की प्रधानता थी पहले वैदिक और बाद में शास्त्रीय रूप में। करीब चार हजार वर्ष पहले, हड़प्पा के निवासी लिखना जानते थे, लेकिन दुर्भाग्यवश उस लिपि को अभी तक पढ़ा नहीं जा सका है। इसीलिए उनकी भाषा के बारे

में हम कुछ नहीं जानते। पाणिनी के व्याकरण ने संस्कृत को जब तक मानकीकृत किया तब तक (लगभग 5वीं ईसा पूर्व), अन्य भाषाएं विकसित हो चुकी थीं आम आदमी की भाषा, प्राकृत या मध्य भारतीय-आर्य भाषाएं (हालांकि ये शब्द बाद में प्रचलन में आए)। प्राकृत भाषाएं भौगोलिक और क्षेत्रीय कारकों पर आधारित विभिन्न स्थानीय बोलियों में लिपिबद्ध की गईं। मध्य भारतीय-आर्य भाषाओं को तीन चरणों में बांटा गया है, जो 500 ई.पू. से 1000 ई. तक का है। पहले चरण में पाली है और अशोक के शिलालेख हैं। अपने संकुचित अर्थ में प्राकृत दूसरे चरण में लागू होती है और इसकी कई बोलियां हैं महाराष्ट्री, शौरसेनी, मगधी, अर्धमगधी। तीसरे चरण में अपभ्रंश है।

आधुनिक भारतीय-आर्य भाषाओं का उदय 1000 ई. के बाद हुआ, जब क्षेत्रीय भाषाओं का विभाजन एक निश्चित स्वरूप अख्तियार कर रहा था। यही स्वरूप आज भी विद्यमान है। इन भाषाओं का प्रमुख समूह उत्तर भारत से मध्य भारत तक फैला है। इन भाषाओं में साहित्यिक विकास अलग-अलग समयों पर हुआ। मुस्लिम प्रभाव से परे आधुनिक भारतीय-आर्य भाषाएं भी उसी तर्ज पर विकसित हुईं। मध्य कालीन भाषाओं के विपरीत इन आधुनिक भाषाओं की एक अलग विशेषता थी तत्सम शब्दों का व्यापक प्रयोग 18वीं शताब्दी के बाद अंग्रेजी हुकूमत और यूरोपीय संपर्क के प्रभाव से और मुद्रण के आविष्कार से साहित्यिक विषयों का क्षेत्र विस्तृत हुआ और उसमें आधुनिकता आई। यही प्रक्रिया आज भी चली आ रही है।

द्रविड़ भाषाओं में तमिल, तेलुगू, कन्नड़ और मलयालम हैं, जिनमें साहित्यिक विधा के लिए सबसे पहले तमिल का विकास हुआ। विद्वानों के अनुसार द्रविड़ भाषाएं भारतीय-आर्य भाषाओं से पहले अस्तित्व में आईं। इसकी तीन शाखाएं थीं (i) बलूचिस्तान में बोली जाने वाली *'ब्रहूई'* की उत्तरी शाखा, बंगाल और ओडिशा में बोली जाने वाली *कुरुख* और *मल्तो;* (ii) तेलुगू और *कुई, खोंड* इत्यादि जैसी देसी बोलियों सहित केंद्रीय शाखा, तथा; (iii) तमिल, कन्नड़ और मलयालम के अलावा *तुलु, बडगा, टोडा, कोडागु* इत्यादि जैसी देसी बोलियों सहित दक्षिणी शाखा। तमिल भाषा संस्कृत या प्राकृत से बिना किसी प्रतियोगिता के विकसित हुई क्योंकि तमिल क्षेत्र आर्यों के विस्तार के केंद्र से काफी दूर था। अन्य तीनों द्रविड़ भाषाओं की तुलना में तमिल पर ही संस्कृत का सबसे कम प्रभाव पड़ा।

8वीं अनुसूची की भाषाएं

भारतीय संविधान की आठवीं अनुसूची में (2011-12 में) 22 भाषाएं सूचीबद्ध की गईं। ये हैं असमिया, बंगाली, बोडो, डोगरी, गुजराती, हिंदी, कन्नड़, कश्मीरी, कोंकणी, मैथिली, मलयालम, मणिपुरी, मराठी, नेपाली, ओडिया पंजाबी, संस्कृत, संथाली, सिंधी, तमिल, तेलुगू एवं उर्दू।

संस्कृत और अन्य भारतीय-आर्य भाषाओं के सबसे कम शब्द इसमें हैं। कन्नड़ और तेलुगू के विकास में बाधा आई क्योंकि उनका क्षेत्र आंध्र साम्राज्य के अधीन था, जिसकी प्रशासनिक भाषा प्राकृत थी। लेकिन, 9-10वीं सदी तक दोनों भाषाओं में पर्याप्त साहित्यिक कार्य किए गए।

दो अन्य विभिन्न भाषाएं, निषाद या ऑस्ट्रिक (सबसे पुरानी और देशज) और किरात या हिंद-चीन 3000 से भी अधिक वर्षों से विद्यमान थीं।

भारत में कोई आम भाषा नहीं रही। जब संस्कृत की प्रमुखता थी और उसका व्यापक प्रयोग होता था, तब भी यह सिर्फ विद्वानों एवं शिक्षितों की भाषा थी। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद आम भाषा का सवाल पैदा हुआ और बहुत ही कम अंतर से हिन्दी को भारत की राष्ट्रीय भाषा बनाने का निर्णय लिया गया। भारतीय संविधान की आठवीं अनुसूची में 22 भाषाएं सूचीबद्ध की गई हैं।

साहित्य अकादमी ने सांवैधानिक रूप से मान्यताप्राप्त भाषाओं के अतिरिक्त अंग्रेजी, डोगरी, मैथिली और राजस्थानी को अपने क्रियाकलापों के लिए अनुमोदन दे रखा है। भारतीय भाषाएं, उनके विकास, लेखक व उनकी कृतियों की विस्तारपूर्वक व्याख्या आगे की गई है

संस्कृत

भारतीय सभ्यता की निरंतरता में संस्कृत का महत्वपूर्ण व उल्लेखनीय योगदान रहा है। अपने उत्कर्ष काल में यह भाषा दक्षिण भारत सहित भारत के सभी क्षेत्रों में बोली व लिखी जाती थी। यद्यपि तमिल ने कमोवेश अपनी स्वतंत्र साहित्यिक परंपरा बनाए रखी, अन्य सभी भाषाओं ने संस्कृत के शब्द भंडार से भरपूर शब्द लिए और उनका साहित्य संस्कृत की विरासत से अभिभूत रहा। संभवतः विश्व की सबसे प्राचीन भाषा संस्कृत है। वैदिक काल से विकसित

शास्त्रीय संस्कृत का समय 500 ई.पू. से लगभग 1000 ई. तक रहा। स्वतंत्र भारत में इसे आठवीं अनुसूची में स्थान दिया गया है, लेकिन किसी भी राज्य की यह राजभाषा नहीं है।

वस्तुतः *ऋग्वेद* के सूक्त ही संस्कृत साहित्य के आदि तत्व हैं। काफी समय तक मौखिक परंपरा के तहत् आगे चलने वाले इन सूक्तों ने न केवल धर्म का उद्देश्य पूरा किया, अपितु ये भारत में आर्य समूहों के लिए सामान्य साहित्यिक मानक भी बने। 1000 ई.पू. के बाद आनुष्ठानिक कार्यों के निष्पादनार्थ गद्यात्मक साहित्य *ब्राह्मण;* के रूप में विकसित हुआ किंतु इनमें भी संक्षिप्त और असंगत शैली में कथा-वाचन के उदाहरण मौजूद हैं। संस्कृत के इतिहास की एक अन्य महत्वपूर्ण उपलब्धि है पाणिनी का व्याकरण *'अष्टाध्यायी'*। संस्कृत के जिस रूप का वर्णन उन्होंने किया है, उसे सार्वभौमिक रूप से स्वीकार किया गया और वे सर्वदा के लिए नियत हो गए। संभवतः इसी समय जब पाणिनी संस्कृत भाषा को व्याकरण के नियमों में बांध रहे थे, लेखन की शुरुआत हुई।

कालजयी साहित्य के क्षेत्र में संस्कृत का महाकाव्य एक अन्य महत्वपूर्ण उपलब्धि था। महाभारत की कथा बरसों मौखिक रूप से सुनाई जाती रही। द्वैपायन या व्यास ने सबसे पहले इस युद्ध की गाथा गाकर सुनाई थी। वैशम्पायन ने इसे और विस्तृत किया; लोभहर्षन एवं उग्रश्रवा ने पूरा महाभारत गाया, जिसे विद्वानों ने इतिहास कहा। कुरुक्षेत्र के मैदान में कौरवों और पाण्डवों के बीच 18 दिनों तक चलने वाले इस युद्ध और सत्य की विजय की कहानी को 100 ईसा पूर्व के आसपास महाकाव्य रूप में लिपिबद्ध किया गया। *रामायण,* पारम्परिक रूप से जिसके रचयिता बाल्मिकी माने जाते हैं और उन्हें भवभूति और अन्य 'आदि कवि' कहते हैं, पहली सदी ईसा पूर्व के आसपास रचा गया। ऊपरी तौर पर यह मर्यादापुरुषोत्तम राम की कहानी है, किंतु इसमें मानवीय भावनाओं के अविस्मरणीय अंतर्द्वन्द्व की भी कहानी है।

अश्वघोष (पहली शताब्दी) के महाकाव्य सबसे प्राचीन और सम्पूर्ण महाकाव्य की श्रेणी में आते हैं। उनके *बुद्धचरित* और *सौंदरनंदा* में कविता के माध्यम से इस संसार की नश्वरता का बौद्ध दर्शन दर्शाया गया है। पांचवीं शताब्दी में कालिदास हुए, जिनके *कुमारसंभव* में शिव के पुत्र कार्तिकेय की उत्पत्ति की कथा है और *रघुवंशम* में राजा दिलीप से लेकर राम की पूरी वंशावली का वर्णन है।

छठी शताब्दी में भारवी हुए। इनके महाकाव्य कीरातर्जुनीय में महाभारत के एक प्रसंग का विस्तारपूर्वक वर्णन है।

संस्कृत साहित्य में व्यापक विविधता है। नाट्य साहित्य की चर्चा नाटक वाले अध्याय में की जा चुकी है। कथा परंपरा का *पंचतंत्र* में निरूपण किया गया है, जो वाकाटकों के काल में चौथी शताब्दी में विष्णुशर्मन द्वारा लिखा गया। बाण की *कादम्बरी* (7वीं शताब्दी) एक युवक की बुजदिली और अवसर गंवाने पर लिखा गया एक उपन्यास है। 11वीं शताब्दी में रचित गोधाला का *उदयसुंदरी* एक रोमांटिक उपन्यास है। राजा भोज की *शृंगार मंजरी* प्रेम के विभिन्न प्रकारों पर लिखा गया एक मनोरंजक चित्रमय उपन्यास है। सोमदेव का *कथासरितसागर* कहानियों का विशाल संकलन है। क्षेमेन्द्र के उपन्यास भ्रष्ट मंत्रियों और धूर्तों पर व्यंग्यात्मक प्रहार हैं। उनकी कृतियों में हैं *कलाविलास, दर्पदलन, देशोपदेश।*

वैज्ञानिक, तकनीकी और दार्शनिक उद्देश्यों हेतु संस्कृत गद्य का प्रयोग सबसे पहले पातंजलि के *महाभाष्य* में लक्षित होता है, जो पाणिनी के व्याकरण व कात्यायन की *वर्तिका* पर टिप्पणी है। इस अवधि के पश्चात् और ईस्वी की शुरुआती शताब्दियों में काफी तकनीकी और वैज्ञानिक साहित्य सामने आया। आर्यभट्ट और भास्कर ने गणित और खगोल विद्या पर लिखा, चरक और सुश्रुत ने चिकित्सा पर और कौटिल्य ने राजनीति और प्रशासन पर लिखा।

साहित्यिक आलोचना का एक अन्य ऐसा क्षेत्र है, जिसमें संस्कृत साहित्य काफी समृद्ध है। इसमें भरत का नाट्यशास्त्र सबसे पुराना है। भामा (5वीं सदी) प्राचीनतम आलोचक हैं, जिनकी कृतियां उपलब्ध हैं। इन्होंने नाटक, महाकाव्य, गीतिका, गद्यात्मक जीवन-चरित और उपन्यास पर लिखा है। दंडी (7वीं शताब्दी) ने गद्य और पद्य दोनों में रचनाएं कीं, जो बाद में काफी प्रसिद्ध हुईं। वामन, रुद्रट्ट, आनंदवर्धन, कुंतक, उद्भट्ट, लोल्लट और धनंजय कुछ ऐसे ही विख्यात आलोचक हैं, जिन्होंने साहित्यिक अवधारणाओं का विश्लेषण किया है और उन्हें समृद्ध बनाया है। भोज (11वीं सदी) महान भारतीय आलोचकों में से एक हैं। इन्होंने सर्वाधिक संदर्भों एवं उक्तियों का उल्लेख किया है। इससे इनके चयन और समालोचन में उनकी सुरुचि का पता चलता है।

संस्कृत की सत्ता को 1200 ई. के आसपास मुसलमान आक्रांताओं के आक्रमण के समय चुनौती मिली। तथापि, संस्कृत साहित्य की परंपरा उतने ही प्रभावी ढंग से कायम रही और इस दौरान अनेक संस्कृत रचनाएं सामने आईं।

राजस्थान, ओडिशा और दक्षिण में संस्कृत साहित्य की परंपरा जारी रही। कुछ उल्लेखनीय नाम हैं अमरचंद्र, सोमेश्वर, बालचंद्र, वास्तुपाल, राजकुमारी गंगा, अहोवाला, डिंडिमा, गोपाल। केरल के राजा मानवेद ने *कृष्णगीति* नाटक लिखा। यह कथकली जैसा ही है, लेकिन इसके गीत संस्कृत में हैं। कुछ प्रहसन और हास्यरूपक भी लिखे गए, जिनमें *नीलकंठ* और *वेंकटध्वरिन* प्रसिद्ध हैं। अंग्रेजी शासन का संस्कृत पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। अंग्रेजी की स्वीकार्यता और आधुनिक भारतीय भाषाओं के बढ़ते प्रयोग के बावजूद संस्कृत में रचनाएं हुई और आज भी हो रही हैं। आज संस्कृत भाषा का आधुनिक भाषाओं के लिए शब्दस्रोत के रूप में प्रयोग हो रहा है। उनके लिए शब्द निर्माण की जितनी क्षमता संस्कृत में है, उतनी आधुनिक भाषाओं के अपने स्रोतों में नहीं है।

असमिया

हालांकि असमिया भाषा की मौजूदगी सातवीं शताब्दी से ही है, लेकिन इस भाषा का साहित्य 13वीं शताब्दी से ही विकसित हो सका। प्रारंभिक काल में रुद्रकुंडली ने महाभारत के 'द्रोण पर्व' का अनुवाद किया और माधव कुंडली ने रामायण की नाटकीय घटनाओं को असमिया भाषा में प्रस्तुत किया। हेमा सरस्वती को उनके 'प्रह्लादचरित' के आधार पर असमी का पहला कवि कहा जा सकता है। महान संत कवि शंकरदेव ने गीत लिखे और गीतों वाले कई एकांकी नाटक भी लिखे। इन्हें *अंकिया नाट* के नाम से जाना जाता है। असमी गद्य को भट्टदेव ने निश्चित स्वरूप दिया, इन्होंने *भागवत* और *गीता* का अनुवाद किया। आधुनिक असमिया से बुरनजी का नाम जुड़ा है।

आधुनिक असमिया भाषा का काल 1819 में अमेरिकी बेप्टिस्ट मिशनरीज द्वारा असमिया में बाइबल के प्रकाशन द्वारा किया गया। मिशनरी ने 1836 में शिवसागर में प्रथम छापाखाना स्थापित किया और लिखने में स्थानीय असमिया बोली का प्रयोग करना शुरू कर दिया। 1846 में, उन्होंने एक मासिक संस्करण निकालना शुरू किया जिसे अरुणोदोई के नाम से जाना गया, और 1848 में नाथन ब्राउन ने असमिया व्याकरण पर प्रथम पुस्तक प्रकाशित की। इसने असम में असमिया भाषा को आधिकारिक भाषा के तौर पर पुनर्प्रस्तुत करने की दिशा में जबरदस्त प्रोत्साहन दिया। मिशनरी ने एम. ब्रोनसन द्वारा 1867 में संकलित प्रथम असमिया-अंग्रेजी शब्दकोश का प्रकाशन किया। ब्रिटिश शासकों ने 1836

में असम में बंगाली भाषा को थोपा। निरंतर अभियान के कारण, 1873 में असमिया को राज्य भाषा के रूप में पुनर्स्थापित किया गया।

उन्नीसवीं शताब्दी में आकर असमी साहित्य में पुनर्जागरण आया। इसके प्रणेता थे चंद्रकुमार अग्रवाल, लक्ष्मीनाथ बेजबरुआ और हेमचंद्र गोस्वामी। इन्होंने मासिक *जानकी* निकाली और रोमांटिक युग में प्रवेश किया। असमी के आधुनिक उपन्यास के क्षेत्र में पद्मनाथ गोहाई बरुआ और रजनीकांत बोरदोलोई का नाम आता है। लक्ष्मीनाथ बेजबरुआ ने लघु कथाओं के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया।

ज्योति प्रसाद अग्रवाल, विरिंची कुमार बरुआ, हेम बरुआ, अतुल चंद्र हजारिका, नलिनी बाला देवी, नवकांता बरुआ, मामोनी रायसोम गोस्वामी, भावेन्द्र नाथ सैकिया, सौरव कुमार सलिहा असमिया साहित्य के प्रमुख लेखक हैं।

हेमचंद्र बरुआ (1835-96) का महत्वपूर्ण कार्य उनका *हेमकोश* था, जो एक एंग्लो-असमिया शब्दकोश था और 1900 में उनके मरणोपरांत प्रकाशित हुआ। अरुणोदोई में बरुआ के लेखों, उनके शब्दकोशों, और उनके व्याकरणबद्ध पाठ्य पुस्तकों ने असमिया को सरलीकृत किया और स्थानीय लोगों द्वारा असमिया के प्रयोग को मजबूती प्रदान की गई। इनमें *असमिया व्याकरण* (1873), *असमिया लोरार व्याकरण* (1892), और *पाठसालिया अभिदान* (1892) प्रमुख हैं। उनके साहित्य ने सामाजिक सुधार के लिए भी चिंता प्रकट की। गुनाभिराम बरुआ के *राम-नवमी* (1858) को प्रथम आधुनिक असमिया नाटक के तौर पर देखा जाता है। वह प्रथम असमिया कथाकार (आनंदरम देखियाल फूकनार जीवन सरित, 1880) भी थे। बरुआ ने असमिया साहित्यिक निबंधन के विकास में भी योगदान दिया।

जोनाकी काल को असमिया साहित्य में रोमांटिक युग के तौर पर भी जाना जाता है। इस समय के असमिया लेखकों को उनके समकालीन विक्टोरियन्स से अधिक रोमांटिक समझा जाता था।

केंद्रीय विषय भगवान के प्रति आस्था से हटकर संसार, इसकी सुंदरता, मनुष्य दैवीय प्रतिबिम्ब के रूप में और व्यक्ति की आनंद एवं सुंदरता की चाहत हो गए। असोम साहित्य सभा का गठन 1917 में किया गया। साहित्य सभा ने विचारों के विनिमय, असमिया साहित्य, कला एवं संस्कृति को लोकप्रिय बनाने,

और अपने अभिसमयों, जर्नल्स, एवं प्रकाशनों के माध्यम से साहित्यिक चर्चा एवं विचार-विमर्श को मंच प्रदान करके सुसाध्य बनाया।

जोनाकी का प्रकाशन सर्वप्रथम 9 फरवरी, 1889 को चंद्रकुमार अग्रवाल द्वारा किया गया। बाद के *जोनाकी* संपादकों में लक्ष्मीनाथ बेजबरुआ और हेमचंद्र गोस्वामी शामिल थे। इस समय के साहित्य में इन तीन लेखकों का प्रभुत्व था। बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के महत्वपूर्ण लेखकों में, जिन्होंने प्रथम बार जोनाकी में प्रकाशन किया, रघुनाथ चौधरी; भोलानाथ दास; और आनंदचंद्रा अग्रवाल थे। अन्य महत्वपूर्ण कवियों में अम्बिकागिरी रायचौधरी (*तुमी*); जतिन्द्रनाथ दुआरा; पार्वती प्रसाद बरुआ; और ज्योति प्रसाद अग्रवाल शामिल थे जिन्होंने असमिया साहित्य के एक अलग पहलू को परिभाषित किया।

आज के असमिया साहित्य में कविता, उपन्यास, लघु कथाएं, नाटक, एवं एक अलग प्रकार के साहित्य जैसे लोकगीत, विज्ञान गल्प, बाल साहित्य, कथाएं एवं अनुवाद की व्यापक शृंखला शामिल है।

आधुनिक कविता आधुनिक जीवन (शहरी जीवन) के तेजी से बदलते प्रतिरूप पर ध्यान देती है और वैयक्तिक प्रतिक्रिया को प्रकट करती है। नवकांत बरुआ, नीलामोनी फूकन, निर्मलप्रभा बोरदोलाई, और हीरेन भट्टाचार्य, समीर तंती में कवित्त दृष्टि है जिसने तृतीय विश्व की दशाओं को प्रतिबिम्बित किया है। इनके कार्यों में *युद्ध भूमीर कविता* (1985) और *शोकाकोल उपत्यका* (1990) शामिल है। भाबेन बरुआ और हीरेन दत्ता स्वतंत्रता पश्चात् के प्रमुख आधुनिक कवि हैं। भूपेन हजारिका के गीतों एवं कविताओं ने विविध विषयों को आच्छादित किया जिसमें अत्यंत वैयक्तिक से लेकर बेहद राजनीतिक तक शामिल हैं।

एक अन्य समकालीन उपन्यासकार जिनके विषय अक्सर राजनीतिक होते हैं, होमेन बोरगोहें हैं। आधुनिक प्रमुख उपन्यासकारों में निरूपमा बोरगोहें, नीलिमा दत्ता, और मामोनी रेसोम गोस्वामी शामिल हैं। लक्ष्मीनंदन बोराह ने साधारण जीवन विशेष रूप से ग्रामीण जीवन (*गंगा सिलोनिर पाखी, निशर पुरोबी, और ममित मेघोर सनह*) पर ध्यान केंद्रित किया। जोगेश दास ने हमारे समाज के बंधनकारी प्रकृति पर टिप्पणी की, विशेष रूप से महिलाओं की दशा को लेकर (1959 में *जोनाकिर जुई,* 1963 में *निरूपाई-निरूपाई*)। देवेन्द्रनाथ आचार्य ने अपने उपन्यासों *कल्पपुरुष* (1967), *अन्य जोग अन्य पुरुष* (1971), और *जन्गाम*

(1982) में प्रथम बार एक अलग प्रकार की शैली में लिखा। रोंग बोंग तेरांग का उपन्यास *रोंगमिलिर हानही* (1981) कारबी समाज को साहित्य की मुख्यधारा में लेकर आया। शिलाभद्र ने *मधुपुर* (1971), *तरंगगिनी* (1971), *गोधूलि* (1981) और अनुसंधान (1987) में एक नए विषय एवं रूप के साथ प्रयोग किया। अन्य समकालीन फिक्शन लेखकों में चंद्रप्रसाद सैकिया, मेदिनी चौधरी, अरुणाचली लूम्मर दाई, त्रिलोकीनाथ गोस्वामी, स्नेही देवी, हीरेन गोहन, और गोविंद प्रसाद शर्मा शामिल हैं।

आधुनिक असमिया नाटक ने भी सामाजिक विश्लेषण एवं संरचनात्मक प्रयोग को प्रस्तुत किया। शेक्सपीयर एवं इबसेन जैसे पश्चिमी नाटकों के अनुवाद आधुनिक असमिया नाटक का एक महत्वपूर्ण पहलू है। असोम नाट्य सन्मिलन का गठन 1959 में किया गया और इसके नियमित वन-एक्ट प्ले प्रतिस्पर्द्धाओं ने इस रूप के विकास में बेहद मदद की। दुर्गेश्वर ठाकुर का *निरोदेश;* प्रबीन फूकन का *त्रितिरंगा;* भवेन्द्रनाथ सैकिया की *पुटोला-नास;* और भूपेन हजारिका की *ईरा बटोर सुर* प्रमुख वन-एक्ट प्ले हैं। महत्वपूर्ण संख्या में आधुनिक नाटकों ने परम्परागत लोक कला एवं शास्त्रीय रूपों को भी पुनर्जीवित किया है।

1917 में, ओक्सओम झेहिटो झोभा को असमिया समाज के संरक्षक के तौर पर स्थापित किया गया, जो कि असमिया भाषा एवं साहित्य के विकास के मंच के तौर पर था। झोभा का प्रथम अध्यक्ष पदमनाथ गोहेन बरुआ थे। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद के लेखकों में सैयद अब्दुल मलिक, जोगेश दास और बीरेंद्र कुमार भट्टाचार्य (जिन्हें उनके उपन्यास *मृत्युंजय* के लिए 1979 में ज्ञानपीठ पुरस्कार मिला) है। असमी साहित्य पर पश्चिमी प्रभाव भी देखा जा सकता है।

समकालीन लेखकों में अरूपा कलिटा पटंगिया, मोनीकुंटला भट्टाचार्य, मौसुमी कोंडोली, मोनालिसा सैकिया और अमृतज्योति महंत थे।

बंगाली

लगभग 1000 ई. के आसपास बंगाली को एक पृथक् भाषा के रूप में पहचान प्राप्त हुई। बंगाली साहित्य की शुरूआत 11वीं-12वीं शताब्दी में लिखे गए गीतों से मानी जाती है। नाथ साहित्य बौद्ध सहजिया संप्रदाय के दर्शन से प्रेरित था। 14वीं शताब्दी में वैष्णववाद बंगाल में फैला और चांदीदास ने भक्तिगीतों की

रचना की, जिनका साहित्य पर भी प्रभाव पड़ा। रामायण का रूपांतरण भी 15वीं शताब्दी में काफी लोकप्रिय हुआ। कृतिवास ओझा द्वारा रूपांतरित इस महाकाव्य की प्रस्तुति का पूर्व में उतना ही सम्मान किया जाता है, जितना उत्तर में तुलसीदास के 'रामचरितमानस' का। 16वीं शताब्दी में एक भिन्न प्रकार का वैष्णव साहित्य विकसित हुआ प्रकृति के हिसाब से यह आत्मचरित जैसा था और इसके केंद्र में चैतन्य का व्यक्तित्व था। इस शैली की उत्कृष्ट कृति कृष्णदास कविराज की *चैतन्य चरितामृत* है।

मंगल काव्य किसी देवी या देवता की उसके विरोधियों पर जीत और संघर्ष की स्तुति में लिखी गई लम्बी कविताएं बंगाली में संस्कृत की कृतियों को पेश करने के बाद काफी लोकप्रिय हुईं। ये मंगल काव्य तीन प्रकार के हैं मानस मंगल, चंडी मंगल, और धर्म मंगल।

उन्नीसवीं सदी में आधुनिक बंगाली साहित्य अस्तित्व में आया। बंगाली गद्य के विकास में ईसाई मिशनरियों की भूमिका को भी सराहना होगा। विलियम कैरे ने बंगाली व्याकरण लिखा, अंग्रेजी-बंगाली शब्दकोश का संकलन किया और बाइबिल का बंगाली में अनुवाद कराया। 1800 में कलकत्ता में फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना से भी बंगाली साहित्य को काफी बढ़ावा मिला। राजाराम मोहन राय के पर्चों व निबंधों ने भी वांछित भूमिका निभाई। ईश्वरचंद्र विद्यासागर और अक्षय कुमार दत्त ने बंगाली गद्य की असीम संभावनाओं को प्रदर्शित किया और भाषा के प्रयोग को अनुशासित किया। इनके अतिरिक्त बंकिमचंद्र चटर्जी ने अपने उपन्यासों व कहानियों के बल पर बंगाली गद्य को प्रतिष्ठित किया। इन्हें भारत में आधुनिक उपन्यासों का जनक माना जाता है। यद्यपि इनके पहले भी सामाजिक और ऐतिहासिक उपन्यास लिखे गए थे जैसे पियारी चंद्र मित्रा का 'आलालेर घरेर दुलाल'। इसी से ही उपन्यास के विकास की संभावना बनी थी। लेकिन बंकिमचंद्र ने उपन्यास को एक महत्वपूर्ण साहित्यिक विधा के रूप में स्थापित किया। शरतचंद्र चटर्जी भी 12वीं शताब्दी के प्रारंभिक काल के एक अन्य स्थापित उपन्यासकार थे।

बंगाली भाषा की भाव प्रवणता और गेयता को समुचित स्थान कविता में मिला। माइकल मधुसूदन दत्त ने परंपरा तोड़ते हुए बंगाली कविता में नए प्रयोग किए। वह अपनी अतुकांत कविता *मेघनाबंध* के लिए जाने जाते हैं। यह रामायण

के किसी प्रसंग की व्याख्या है। इसके अतिरिक्त उनकी कुछ चतुर्दशपदी कविताएं भी हैं। बीसवीं शताब्दी में देशभक्ति की सरगर्मी ने काजी नजरूल इस्लाम जैसे कवि दिए।

कलकत्ता में ही बंगाल का आधुनिक नाटक जन्मा। बंगाल का पहला मौलिक नाटक *कलीन कुलसर्वस्व* था। इसे पंडित रामनारायण ने कुलीन ब्राह्मणों के बीच बहुपत्नी प्रथा को लेकर सामाजिक प्रहसन के रूप में लिखा था। मधुसूदन दत्त ने भी कई नाटक लिखे। इसके बाद दीनबंधु मित्र का *नीलदर्पण* और *कमाले कामिनी* आया। गिरीशचंद्र घोष भी एक अच्छे नाटककार थे। बंगाली नाटकों ने राष्ट्रवाद और सामाजिक परिवर्तन के विचारों को आम आदमी तक पहुंचाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

बंगाली साहित्य को रविंद्रनाथ टैगोर की कृतियों में अपना अभीष्ट प्राप्त हुआ। टैगोर ने वैष्णव गीतिमयता, लोकसाहित्य के ओज और पश्चिमी प्रभावों का सुमिश्रण कर बंगाली साहित्य को नया तेवर दिया। कृष्णा कृपलानी ने कहा, "उनकी रचनाओं में पद्य क्या और गद्य क्या, हर विधा संपूर्णता को प्राप्त हुई। उपन्यास, लघुकथा; नाटक, निबंध और साहित्यिक आलोचना सभी उनके हाथों परिपक्व हुए....भारत के सांस्कृतिक पुनर्जागरण में टैगोर सबसे महत्वपूर्ण सृजनात्मक शक्ति थी और इसमें श्रेष्ठता भी टैगोर ने ही प्राप्त की।"

टैगोर के बाद भी बंगाली साहित्य समृद्ध होता रहा। दो नाटककार बड़ी तेजी से बंग्ला थिएटर में बड़े बदलाव लेकर आए। एक नरुल मोमेन थे जिन्होंने पहला आधुनिक और प्रयोगात्मक नाटक बनाया, और जिन्हें आधुनिक बंगाली नाटक के पथप्रदर्शक के रूप में देखा जाता है, और अन्य दूसरा बिजोन भट्टाचार्य था।

द्विजेन्द्रलाल रे, जतीन्द्रमोहन बागची, कुमुद रंजन मुलिक, काजी नजरूल इस्लाम, अशरफ अली खान, फारूख अहमद, जीबेनंदा दास के साथ बुद्धदेव बोस ने टैगोर विरासत को आगे बढ़ाने के प्रमुख प्रयास किए।

शरतचंद्र चट्टोपाध्याय बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के एक बेहद लोकप्रिय उपन्यासकार थे जिनकी विशेषज्ञता का क्षेत्र समकालीन ग्रामीण बंगाल में महिलाओं के जीवन एवं परेशानियों को उद्घाटित करने में थी। इस शताब्दी के प्रसिद्ध उपन्यासकारों में हुमायूं अहमद, जगदीश गुप्ता, बलाई चन्द मुखोपाध्याय

(बनफूल), सैयद शम्सूल हक, अख्तरुज्जमन इलियास, बिमल कार, समरेश बसु और मणिशंकर मुखर्जी शामिल हैं। प्रसिद्ध लघु कथा लेखकों में रबीन्द्रनाथ टैगोर, जगदीश गुप्ता, ताराशंकर बंधोपाध्याय, बिभूति भूषण बंधोपाध्याय, राजशेखर बसु (परासुरम), शिवराम चक्रवर्ती, सुबोध घोष, नरेन्द्रनाथ मित्रा, ज्योर्तिरिन्द्र नंदी, देबेश रॉय, सत्यजीत रे, रतन लाल बसु, सैयद वलीउल्लाह, शौकत ओसमान, हसन अजीजुल हक और शाहीदुल जाहिर शामिल हैं।

राजशेखर बसु बंगाली साहित्य में व्यंग्यात्मक लघु कथा के सुप्रसिद्ध लेखक थे। विभूतिभूषण की *पाथेर पांचाली* और आरण्यक संवेदनशील उपन्यास हैं। ताराशंकर बंधोपाध्याय का *गण देवता* और *आरोग्य निकेतन* को बहुत पढ़ा जाता है। अन्य महान उपन्यास *पदमंदिर मगही* है जिसे मणिक बंधोपाध्याय ने लिखा है। आशापूर्णा देवी के *प्रथम प्राथी श्रति* के लिए उन्हें ज्ञानपीठ पुरस्कार प्राप्त हुआ। सुभाष मुखोपाध्याय बंगाली के एक प्रसिद्ध कवि हैं जिनके *पदतिक* और *जा रे कागजीर नौका* में सामाजिक प्रतिबद्धता प्रकट होती है। उन्हें भी ज्ञानपीठ पुरस्कार प्राप्त हुआ।

हंगरी जनरेशनः (या हंगरियलिज्म) को हाल ही के समय का बंगाली साहित्य में लीक से हटकर आंदोलन माना जाता है। इस आंदोलन के सुप्रसिद्ध कवि हैं मलय रॉय चौधरी, शक्ति चट्टोपाध्याय, बिनॉय मजुमदार, समीर राय चौधरी, फाल्गुनी रॉय, शैलेश्वर घोष, प्रदीप चौधरी, सुबो आचार्य, अरुणेश घोष, और त्रिदिव मित्रा। संदीपन चट्टोपाध्याय, बासुदेव दासगुप्ता, सुबिमल बासक, मलय रॉय चौधरी और समीर रॉय चौधरी इस आंदोलन के फिक्शन-लेखकों में से हैं। वर्ष 2011 में, निर्देशक श्रीजित मुखर्जी ने हंगरी जनरेशन आंदोलन को मुख्यधारा के सिनेमा (बैसी स्राबोन) में शामिल किया वहीं गौतम घोष ने 'हंगरियालिस्ट' के विरुद्ध कवि की भूमिका चित्रित की।

प्रकल्पना आंदोलनः यह प्रकल्पना फिक्शन की एक नई शैली रही है जिसका प्रारंभ 1960 के दशक के उत्तरार्द्ध से हुआ। यह भारत में एकमात्र द्विभाषी (बंगाली-अंग्रेजी) साहित्यिक आंदोलन रहा है जिसकी जननी बंगाली साहित्य रही है और इसमें सुप्रसिद्ध अंतरराष्ट्रीय लेखकों एवं कलाकारों ने भागीदारी की। वट्टचरजा चंदन, दिलीप गुप्ता, आशीष देव, बबलू रॉय चौधरी, श्यामोली मुखर्जी

भट्टाचटर्जी, बोधयान मुखोपाध्याय, रामरतन मुखोपाध्याय, निखिल भौमिक, अरुण चक्रवर्ती और अभिजीत घोष जैसे उल्लेखनीय बंगाली कवियों, लेखकों एवं कलाकारों ने इस आंदोलन का प्रतिनिधित्व किया।

बोडो

बोडो, भारत-तिब्बत परिवार की भाषा की एक शाखा, तिब्बत-वर्मा भाषा की बारिक प्रभाग के अंतर्गत बारिश खण्ड की एक शाखा है। उत्तरी-पूर्वी भारत एवं नेपाल के लोग बोडो भाषा बोलते हैं। यह भाषा असम की राजकीय भाषाओं में से एक है, और भारत में विशेष संवैधानिक दर्जा रखती है।

यद्यपि बोडो एक प्राचीन भाषा है, तथापि बीसवीं शताब्दी के दूसरे दशक तक इसका लिखित साहित्य नहीं था। ईसाई मिशनरियों ने बोडो व्याकरण एवं शब्दकोष पर कुछ पुस्तकें प्रकाशित कीं। रेवरेंड सिडनी एंडले ने *एन आउटलाइन ऑफ द काचरी ग्रामर* (1884) का संकलन किया और पुस्तक पर एक मुख्य मोनाग्राफ लिखा। जे.डी. एंडरसन की 'ए क्लेक्शन ऑफ बोडो फोकटेल्स एंड राइम्स' (1895) ने बोडो के मूल रूप के अतिरिक्त अंग्रेजी में अनुवादित सत्रह बोडो लोक कथाओं को शामिल किया।

सामाजिक-राजनीतिक जागरण और 1913 से बोडो संगठनों द्वारा जारी आंदोलन ने 1963 में बोडो प्रभुत्व वाले क्षेत्रों में बोडो भाषा को प्राथमिक स्कूल में शिक्षा के माध्यम के रूप में स्थापित किया। वर्तमान में, बोडो भाषा शिक्षा के सेकेंडरी स्तर तक शिक्षा का माध्यम बन गई है। बोडो भाषा में बड़ी संख्या में कविता, नाटक, लघु कथाएं, उपन्यास, जीवन कथाएं, यात्रा वृतांत, बाल साहित्य एवं साहित्यिक आलोचना से सम्बद्ध पुस्तकें मौजूद हैं। यह भाषा आधिकारिक तौर पर देवनागरी लिपि में लिखी जाती है, हालांकि रोमन लिपि एवं असमिया लिपि के प्रयोग का भी इसका एक लम्बा इतिहास है। यह कहा जाता है कि यह भाषा मूल रूप से दियोधाई लिपि में लिखी जाती थी जो अब विलुप्त हो चुकी है।

बोडो साहित्य सभा का गठन 16 नवम्बर, 1952 को असम जिले के कोकराझार जिले के बसुगांव, डिमासा के नेता जॉय भद्र हेगजेर की अध्यक्षता में किया गया। इस सभा में असम, पश्चिम बंगाल, मेघालय, नागालैंड, त्रिपुरा और नेपाल के प्रतिनिधि होते हैं।

डोगरी

डोगरी एक इंडो-आर्य भाषा है, जो मुख्यतः जम्मू में, लेकिन उत्तरी पंजाब, हिमाचल प्रदेश और अन्य स्थानों में भी बोली जाती है। इसे 2 अगस्त, 1969 को साहित्य अकादमी, दिल्ली की जनरल कौंसिल के भाषायी पैनल की निष्पक्ष अनुशंसाओं के आधार पर 'आत्मनिर्भर आधुनिक साहित्यिक भाषा की मान्यता प्रदान की गई। डोगरी भाषा को दिसंबर 2003 में भारतीय संविधान में भारत की राष्ट्रीय भाषा का दर्जा प्रदान किया गया।

डोगरी पश्चिमी पहाड़ी भाषा समूह की एक सदस्य है। मूलतः यह टिकरी लिपि में लिखी जाती थी लेकिन अब भारत में इसके लिए देवनागरी लिपि का प्रयोग किया जाता है। डोगरी भाषा का अपना व्याकरण एवं शब्दकोश है। इसके व्याकरण का आधार संस्कृत है। डोगरी का जन्म सौरसेनी प्राकृत से हुआ, लेकिन इसने धीरे-धीरे बड़ी संख्या में अरबी, पारसी एवं अंग्रेजी शब्दों को अपना लिया।

इस भाषा का पूर्व में संदर्भ अमीर खुसरो द्वारा दी गई भारतीय भाषाओं की सूची में मिलता है (इस सूची में सिंधी, लाहौरी, कश्मीरी, धुरसंमुदरी, तिलांगी, गुजराती, मालबरी, गौंडी बंगाली, अवधी एवं देहलवी भी शामिल हैं)। डोगरी का निरंतर विकास *राजौली* से हुआ जिसे बाली राम द्वारा मूल रूप से पारसी में लिखा गया और तेहलदास द्वारा डोगरी में इसका अनुवाद किया गया। डोगरी में कविता का कुछ काम दात्तू (18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध) और रुद्रदत्ता, गंगा राम और लक्खू, (19वीं शताब्दी) द्वारा किया गया। ज्योतिषी विश्वेश्वर ने *लीलावती,* गणित पर संस्कृत में कार्य, का अनुवाद डोगरी (1873) में किया। श्रीरामपुर के ईसाई मिशनरियों ने डोगरी में *न्यू टेस्टामेंट* का अनुवाद किया। कैरी ने 1916 में अपनी भारतीय भाषाओं की सूची में डोगरी का उल्लेख किया।

डोगरी कवियों में कवि दात्तू, प्रोफेसर रामनाथ शास्त्री और पद्‌म सचदेवा शामिल हैं। राजा रंजीत देव के दरबार से जुड़े डोगरी कवि दात्तू को उनके काम *बारह मासा, कमल नेत्र, भूप बिजोग, बीर बिलास* और अन्य कार्यों के लिए उच्च स्थान प्राप्त हैं।

20वीं शताब्दी में, डोगरी कविता, गद्यांश, उपन्यास, लघु कथाओं एवं नाटकों ने अपना एक खास मुकाम बनाया है। आज करण सिंह डोगरी साहित्य में एक महत्वपूर्ण नाम है, जिन्होंने उपन्यासों, यात्रा वृत्तातों एवं दार्शनिक लेख लिखे

हैं। उन्होंने प्रसिद्ध डोगरी गीतों का अंग्रेजी में अनुवाद किया है। उनके कामों में नवीन भारत की ओर (1974), हिंदुत्ववादः शाश्वत् धर्म (1999), और वेलकम द मूनराइज (1965) शामिल हैं।

गुजराती

गूर्जर अपभ्रंश की एक बोली से गुजराती निकली है। इसकी अलग पहचान 12वीं शताब्दी में बनी। इसके विकास के प्रारंभिक चरणों में जैन प्रभाव देखा जा सकता है। जैन लेखकों ने 'रास', एक लोक नृत्य, को श्रुतिमधुर नाट्य काव्य बना दिया।

गुजराती भाषा में शुरुआती लेखन जैन लेखकों ने किया। *रसस* लंबी कविताएं होती थीं जो आवश्यक रूप से नायकवादी, रोमांटिक या वर्णनात्मक प्रकृति की होती थीं। शालीभद्र सूरी का *भारतेश्वर बाहुबलीरस* (1185 ईस्वी), विजयसेना की *रवंतगिरी-रस* (1235 ईस्वी), अंबादेवा की *समरारस* (1315 ईस्वी) और विनयप्रभा की *गौतम स्वामीरस* (1356 ईस्वी) इस रूप के बेहद स्वर्णिम उदाहरण हैं। इस काल की अन्य उल्लेखनीय *प्रबंध* या वर्णनात्मक कविताओं में श्रीधर की *रन्नमल्ला चंदा,* मेरूतुंगा की *प्रबोधचिंतामणि,* पदमनाभ की *कन्हादेद प्रबंध* और भीमा की सदायवत्स कथा शामिल हैं।

गुजराती की पहली साहित्यिक कृति थी सालिभद्र लिखित *भारतेश्वर बाहुबली रास* (1185 ई.)। काव्य का संक्षिप्त और अधिक गीतमय रूप है 'फागु', जिसका मुख्य विषय होता है 'विरह'। गद्य को जैन विद्वानों ने विकसित किया। माणिक्यसुंदरीसुरी का *पृथ्वीचंद्र* काव्यात्मक पद्य का उत्कृष्ट उदाहरण है।

पंद्रहवीं शताब्दी के मध्य तक भक्ति आंदोलन के अंतर्गत हिंदुत्व ने साहित्यिक कार्यों के लिए प्रेरणा स्रोत का काम किया। नरसी मेहता गीतों और कविताओं का विशाल संकलन छोड़ गए हैं, जिसमें सबसे प्रसिद्ध हैं *गोविंद गमन* और *सुदामाचरित*। यद्यपि मीराबाई को लेकर कुछ मतभेद हैं वह गुजराती साहित्यिक परंपरा से सम्बद्ध हैं या राजस्थानी से? नकारा और विष्णुदास इसी काल के लेखक हैं, जिन पर वेदांतिक विचारों का प्रभाव था। भालना ने बाण की *कादम्बरी* को गुजराती में काव्य रूप में पेश किया।

नरसिंह मेहता के साथ मीरा एवं दयाराम *सगुण भक्ति धारा* के अग्रणी योगदानकर्ता थे। श्यामल भट्ट बेहद सृजनशील एवं उत्पादक कवि थे (*पद्‌मावती,*

बतरीस पुतली, नंदा बतरीसी, सिंहासन बतरीसी और *मदन मोहन*)। दयाराम (1767-1852) ने धार्मिक, नैतिक एवं रोमांटिक गीत लिखे जिनमें *भक्ति पोषण, रसिक वल्लभ* और अजमल आख्यान प्रमुख हैं। परमानंद, ब्रह्मानंद, वल्लभ, हरिदास, रणछोड़ और दीवाली बाई इस काल के अन्य प्रमुख 'संत कवि' थे।

19वीं शताब्दी के मध्य से, गुजराती अधिक पश्चिमी प्रभाव में आए, जिसका कारण औपनिवेशिक रेजीडेंस था। गुजराती साहित्य दलपतराम (1820-1898) से जिन्होंने *विनयचरित* लिखा और नार्मड (1833-1886) से जिन्होंने प्रथम गुजराती शब्दकोश *नरमकोश* लिखा, से सम्बद्ध है। नार्मड की *रुक्मिणी, हरन* और *वीरसिंह* को सर्वोच्च कृति माना जाता है। भोलानाथ साराभाई की *ईश्वर प्रार्थनामाला* (1872), नवलराम की *भट्ट नु भोपालु* (1867) और *वीरमति* (1869), और नदशंकर मेहता की कराना घेलो (1866) गुजराती का पहला उपन्यास इस काल के अन्य महत्वपूर्ण कार्य हैं। रणछोड़लाल उदयराम देव (1837-1923) को गुजराती में नाटक लेखन कौशल में परम्परा तोड़ने वाला माना जाता है। अन्य प्रमुख नाटककारों में दलपतराम, नार्मड एवं नवलराम हैं। गोविंदराम त्रिपाठी (1855-1907), जिन्होंने सरस्वती चंद्र लिखा, गुजराती साहित्य के प्रमुख उपन्यासकारों में थे।

गांधीजी के प्रभाव के काल के दौरान, गुजरात विद्यापीठ सभी साहित्यिक गतिविधियों का मुख्य केंद्र बन गया। उपन्यास, लघु कथाएं, डायरी, पत्र, नाटक, निबंध, आलोचना, जीवन कथा, यात्रा वृत्तांत और सभी प्रकार के पद्यांश गुजराती साहित्य में लिखे जाने लगे।

आधुनिक गुजराती गद्यलेखन को के.एम. मुंशी ने एक नई ऊंचाई दी। 1940 के दशक के दौरान कम्युनिस्ट कविता में एक नवीन उत्थान हुआ और इसने गुजरात में प्रगतिशील साहित्य के आंदोलन को प्रेरित किया। उमाशंकर, सदाराम, शेष, स्नेहरश्मि एवं बेतई जैसे कवियों ने सामाजिक बदलाव और स्वतंत्रता संघर्ष में योगदान दिया। रबीन्द्रनाथ टैगोर से प्रेरित, उमाशंकर जोशी ने टैगोर की शैली में लेखन द्वारा गुजराती साहित्य को समृद्ध किया। उनके लेखन में *प्राचीन, महाप्रस्थान,* निपीथ (1967 में ज्ञानपीठ पुरस्कार) प्रमुख हैं।

चंद्रवंदन मेहता, उमाशंकर जोशी, जयंती दलाल एवं चुन्नीलाल माडिया प्रमुख नाटककारों में से थे और काका कालेलकर, रतिलाल त्रिवेदी, लीलावती

मुंशी, ज्योतिन्द्र देव और रामनारायण पाठक इस समय के प्रमुख निबंधकारों में थे।

1940 और 1950 के दशक में, कविता का प्रभुत्व रहा। राजेन्द्र शाह, निरंजन भगत, वेणीभाई पुरोहित, प्रहलाद पारिख और बालमुकुंद देव प्रमुख कवि थे।

स्वतंत्रता-पश्चात् गुजराती कविता ने बेहद आत्मपरकता प्रकट की और नवीन दर्शनों, विचारों एवं कल्पना को उभारा। कविताएं बेहद आत्मपरक एवं पश्विक होती थीं। इस समय के कवियों में सुरेश जोशी, गुलाम मोहम्मद शेख, हरिन्दर देव, चीनू मोदी, नलिन रावल और आदिल मंसूरी थे।

स्वातंत्र्योत्तर काल में गद्यलेखन साहित्य के दो भिन्न प्रारूप थे परम्परागत एवं आधुनिक। परम्परागत प्रतिरूप को नैतिक मूल्यों के लेखकों (गुलाबदास ब्रोकर, मनसुखलाल झावेरी, विष्णु प्रसाद त्रिवेदी एवं अन्य) ने प्रतिबिम्बित किया। आधुनिक प्रतिरूप में अस्तित्ववाद, स्पष्टवाद एवं प्रतीकात्मकता से प्रभावित लेखक (चंद्रकांत बख्शी, सुरेश जोशी, मधु रॉय, रघुवीर चौधरी, धीरूबेन पटेल, सरोज पाठक एवं अन्य) शामिल हैं। विट्ठल पांड्य, सारंग बरोट, दिनकर जोशी, हरकिशन मेहता, अश्विनी भट्ट ने ऐसे उपन्यास लिखे जिन्होंने लोगों का दिल जीत लिया। पन्नालाल पटेल के उपन्यास *मानवी नी भवाई* को 1985 में ज्ञानपीठ पुरस्कार प्राप्त हुआ।

1980 के दशक के मध्य के पश्चात्, गुजराती साहित्य में भगवती कुमार शर्मा, विनेश अंटानी, ध्रुव भट्ट, योगेश जोशी, बिंदु भट्ट, कांजी पटेल जैसे लेखकों को पसंद किया जाने लगा जो उपन्यासों में एक नई ताजगी लेकर आए।

गुजरात विद्या सभा, गुजरात साहित्य सभा, और गुजराती साहित्य परिषद् अहमदाबाद में स्थापित साहित्यिक संस्थान हैं जो गुजराती साहित्य के विकास को प्रोत्साहित करते हैं।

हिंदी

हिंदी शब्द का प्रयोग कुछ ऐसी बोलियों के लिए किया जाता है, जिन्होंने पिछली पांच शताब्दियों में अपने भिन्न साहित्यिक रूपों को विकसित किया है। पहले भी और आज भी ब्रज भाषा है, जिसमें सूरदास ने गाया, अवधी है जिसमें तुलसीदास ने लिखा, राजस्थानी है जिसमें मीराबाई ने गाया, भोजपुरी है जो कबीर की मातृभाषा रही, मैथिली है जिसमें विद्यापति ने काव्य को ऊंचाई प्रदान की।

जिसे आज हम हिंदी कहते हैं, उसके पीछे विशाल विरासत है। लेकिन अपने वर्तमान मानक साहित्यिक रूप में यह अपेक्षाकृत हाल की है उन्नीसवीं शताब्दी के पहले दशक के आसपास की। यह दिल्ली और इसके आसपास बोली जाने वाली पश्चिमी भारतीय-आर्य बोली, खड़ी बोली, पर आधारित है।

हिंदी साहित्य का प्रारंभिक काल 'आदिकाल' कहलाता है। चौदहवीं शताब्दी के मध्य तक इसका समय रहा। ध्यातव्य है कि विद्वानों ने 7वीं और 10वीं शताब्दी के बीच हिंदी की उत्पत्ति मानी, लेकिन 12वीं शताब्दी के अंत में और 13 शताब्दी के प्रारंभ में ही हिंदी साहित्य अपने शैशव काल को पार कर सका। आदिकाल के कवियों में सिद्ध, जैन कवि, नाथपंथी और वीर रस के कवि थे। चंदबरदाई के *पृथ्वीराज रासो* को इस काल की प्रथम प्रस्तुति माना जाता है (राजस्थानी बोली की हिंदी में)। हिंदी के प्रयोगधर्मी अग्रदूतों में अमीर खुसरो का नाम आता है।

चौदहवीं शताब्दी के मध्य से लेकर सत्रहवीं शताब्दी के मध्य तक भक्ति काव्य हिंदी साहित्य में छाया रहा। निर्गुण पंथियों के बेमिसाल कवि कबीर थे, जिन्होंने ईश्वर को निराकार माना। इसी पंथ के ही गुरु नानक थे। सगुण पंथियों ने ईश्वर के अवतार की बात कही और वैष्णववाद के कवियों ने राम और कृष्ण की स्तुति में गीत गाए। सूरदास और विद्यापति ने कृष्ण की महिमा गाई तो तुलसीदास ने राम को मर्यादा पुरुषोत्तम बनाया। इसके बाद रीति काल काव्य आया। इसमें सौंदर्य को प्रधानता दी गई। इस काल में ऐतिहासिक कविता व महाकाव्य की भी रचना हुई। मलिक मुहम्मद जायसी ने *पद्मावत* लिखा। भाषा तो इसकी हिंदी थी, लेकिन शैली इसकी फारसी मसनवी रही। इसके पात्र भी फारसी थे।

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हिंदी ने आधुनिक काल में प्रवेश किया। हिंदी को अब अपना फैलाव बढ़ाना था, जिसमें कई धाराओं का समावेश हो सके और संस्कृत के अगाध सरोवर से निरंतर सहायता मिलती रहे। भारतेंदु को आधुनिक हिंदी साहित्य का जनक माना जाता है। उन्होंने अपनी स्वेच्छा से अपने गद्य लेखन और नाटकों के लिए खड़ी बोली को चुना, जबकि अपनी कविता के लिए ब्रजभाषा को वरीयता दी। उनके लेखन में परंपरा और नूतनता का अद्भुत समन्वय दिखता है। उनका लेखन उन लेखकों के लिए मार्गदर्शक बना, जिन्होंने हिंदी को समृद्ध और आधुनिक बनाया।

महावीर प्रसाद द्विवेदी ने साहित्यिक गतिविधियों को नया ओज प्रदान किया और गद्य लेखन में नए प्राण फूंके। मैथिलीशरण गुप्त ने भी समन्वय की परंपरा बनाए रखी। उन्होंने महाकाव्य परंपरा को पुनजीर्वित किया। यह ऐसा काल था, जब सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक समस्याएं लेखन का आधार बनती थीं। इस शैली के लेखक थे माखन लाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', और राष्ट्रकवि रामधारी सिंह दिनकर।

इसके बाद छायावाद आया। छायावाद की वृहत्रयी जयशंकर प्रसाद, सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' और सुमित्रानंदन पंत ने नए युग का प्रादुर्भाव किया। जयशंकर प्रसाद की *कामायनी* 1936 में प्रकाशित हुई। इसमें उन्होंने समय के थपेड़े से जूझते मनुष्य की मनोदशा और उसकी जीवन यात्रा का वर्णन किया है। छायावाद की एक अन्य प्रमुख लेखिका थीं महादेवी वर्मा। इन लेखकों ने प्रकृति को काफी महत्व दिया।

छायावाद के बाद दो प्रतिस्पर्धी 'वाद' आए प्रगतिवाद और प्रयोगवाद। प्रगतिवादियों की प्रेरणा का स्रोत था मार्क्सवाद। यशपाल, नागार्जुन, रामेश्वर शुक्ल और नरेश मेहता इस शैली के पुरोधा थे। प्रयोगवाद का बीड़ा उठाया सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय' ने। *शेखर एक जीवनी* उनकी चर्चित कृति है। अन्य लेखक थे धर्मवीर भारती, गिरिजा कुमार माथुर, लक्ष्मीकांत वर्मा।

कहानी लेखन में प्रेमचंद का नाम बड़े ही सम्मान से लिया जाता है। उन्होंने समकालीन जीवन की सच्चाइयों को हिंदी कहानियों और उपन्यासों में बखूबी उतारा। ग्रामीण परिवेश का सजीव चित्रण करने में उनका कोई सानी नहीं था। प्रगतिवाद में प्रेमचंद का बहुमूल्य योगदान रहा है। इनके बाद कहानी उस ऊंचाई को न छू पाई।

निर्मल वर्मा एक हिंदी लेखक, उपन्यासकार, कार्यकर्ता एवं अनुवादक थे। उन्हें हिंदी साहित्य में 'नयी कहानी' साहित्यिक आंदोलन के प्रणेता में से एक माना जाता है जो उनके प्रथम कहानी संग्रह *परिन्दे* में पहली बार प्रतिबिम्बित हुआ। श्रीलाल शुक्ल ने 25 से अधिक पुस्तकें लिखीं जैसे मकान, सूनी घाटी का सूरज, पहला पड़ाव और बिसरामपुर का संत। उनके उपन्यास ने भारतीय समाज में नैतिक मूल्यों के पतन पर ध्यान दिया। उनके लेखों ने व्यंग्यात्मक शैली में भारत में ग्रामीण एवं शहरी जीवन के नकारात्मक पहलुओं को उद्घाटित किया।

उनके सर्वोत्तम कार्य *राग दरबारी* को अंग्रेजी एवं 15 भारतीय भाषाओं में अनुवाद किया गया।

नाटक के क्षेत्र में, वास्तव में प्रथम मौलिक नाटक गोपाल चंद्र का *नहुसा नाटक* था। लेकिन यह गोपाल चंद्र का बेटा था 'भारतेन्दु' जिन्होंने सही अर्थों में संस्कृत तकनीक एवं पश्चिमी नाटक के बीच हिंदी गद्यांश-नाटक को शामिल करने के समझौते को प्रभावित किया।

भारतेंदु हरीशचंद्र, हिंदी थिएटर और नाटक लेखन के पथ-प्रदर्शक, ने *सत्य हरीशचंद्र* (1875), भारत दुर्दशा (1876) और अंधेर नगरी (1878) लिखा। 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में, जयशंकर प्रसाद ने स्कंदगुप्त (1928), चंद्रगुप्त (1931) और ध्रुवस्वामिनी (1933) जैसे अपने नाटकों के लिए मान्यता प्राप्त की।

औपनिवेशिक प्रतिबंध की परवाह न करते हुए, लेखकों ने धर्ममीमांसा, इतिहास, और महान नायकों से विषय अपनाए और उन्हें राजनीतिक संदेश पहुंचाने का वाहक बनाया। बाद में स्ट्रीट थिएटर ने इस ट्रेंड को समाप्त किया। आईपीटीए से प्रेरित हबीब तनवीर के नये थिएटर ने यह 1950-90 के दशकों में यह किया और सफदर हाश्मी के जन नाट्य मंच ने ऐसा 1970-80 के दशकों में किया। यद्यपि स्वतंत्रता पश्चात् के समय में, हिंदी नाटक लेखन ने बेहद संक्षिप्तता एवं प्रतीकात्मकता का प्रदर्शन किया। इस समय के मुख्य नाटककारों में जगदीश चंद्र माथुर *(कोणार्क)*, उपेन्द्रनाथ अश्क *(अंजो दीदी)*, मोहन राकेश [*अषाढ़ का एक दिन* (1958), *आधे अधूरे*, और *लहरों के राजहंस*], धर्मवीर भारती (अंधा युग), सुरेंद्र वर्मा और भीष्म साहनी शामिल हैं।

साहित्यिक आलोचना के क्षेत्र में, आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने प्राचीन संस्कृत कवित्त एवं आधुनिक पश्चिमी आलोचना का संश्लेषण किया।

अमरकांत हिंदी साहित्य के एक प्रमुख लेखक हैं। उनके उपन्यास *इन्हीं हथियारों से* को 2007 में साहित्य अकादमी पुरस्कार प्राप्त हुआ।

कन्नड़

450 ई. से कन्नड़ अभिलेख प्राप्त होते हैं। कन्नड़ की सर्वप्रथम साहित्यिक कृति नौवीं सदी की है, हालांकि इससे भी पुरानी कृतियों के संदर्भ उपलब्ध हैं। किसी जैन द्वारा लिखित *वोद्दराधना* इस भाषा की सबसे प्राचीन कृति मानी जाती है। तथापि, कन्नड़ की उपलब्ध प्राचीनतम कृति है *कविराजमार्ग*। इसे राष्ट्रकूट राजा

नृपतुंग अमोधवर्श द्वारा लिखित मानते हैं। दसवीं शताब्दी में लेखन की 'कम्पू' शैली को और अधिक निखारा गया। पम्पा इस कला का अग्रदूत था और उसे कन्नड़ कविता का जनक माना जाता है। महाकाव्य की परंपरा को आगे बढ़ाने वालों में पोन्ना और रन्ना थे। पम्पा, पोन्ना और रन्ना को त्रिरत्न माना जाता है और 'स्वर्ण युग' का प्रयोग भी इन्हीं के काल के लिए किया जाता है।

लेखन में *वाचन शैली* की शुरूआत करने वाले वसवेश्वर के साथ 12वीं शताब्दी में इस शैली में क्रांतिकारी परिवर्तन आए। आम जिन्दगी से उठाए गए ये 'कथन' मानव की समानता और श्रम की प्रतिष्ठा के पोषक थे। 1260 ई. में कन्नड़ का पहला मानक व्याकरण *शब्दमणि दर्पण* केसिराज के लिखा। होयसल राजाओं ने संरक्षण में कई उत्कृष्ट साहित्यिक कृतियां लिखी गईं।

14वीं-16वीं शताब्दी के दौरान विजयनगर के राजाओं और उनके सामंतों के अधीन कन्नड़ साहित्य का खूब संवर्धन हुआ। कुमार व्यास का लिखा कन्नड़ *भारत* विशिष्ट रचना है। जैन, वीरसैव और ब्राह्मणों ने कविताएं और संतों के जीवन-चरित लिखे। कुछ प्रमुख नाम हैं रत्नाकर वरनी *(भारतेश्वर चरित)*, अभिनववादी विद्यानंद *(काव्यसार)*, साल्व *(रस रत्नाकर)*, नानजुंदा कवि *(कुमार रामणे काथे)*, भीम कवि *(बासव पुराण)*, चामरस *(प्रभुलिंग-लिलाइ)*, नरहरि *(तोरवे रामायण)*। वैष्णव आंदोलन के दौरान पुरंदरदास और कनकदास के शाश्वत् गीत सामने आए। सत्रहवीं शताब्दी के एक महान कवि लक्समीसा थे, जिन्होंने *जैमिनी भारत* लिखा। सर्वजना आम आदमी के कवि थे।

विजयनगर साम्राज्य के पतन के साथ, मैसूर रियासत (1565-1947) और केलाड़ी नायको के साम्राज्य (1565-1763) ने विभिन्न विषयों पर साहित्यिक पाठ्य सामग्री के सृजन को प्रोत्साहन दिया। नाटकीय प्रस्तुति के साथ कवित्त साहित्य के अद्वितीय एवं स्थानीय रूप को *यक्षगान* कहा गया जिसने 18वीं शताब्दी में लोकप्रियता हासिल की। 16वीं शताब्दी में यक्षगान के उदय के साथ आधुनिक कन्नड़ थिएटर का प्रवेश हुआ। *यक्षगान* का संघटन राजा कांतिवीर नरसराजा वोदियार-II (1704-1714) और मुमादी कृष्णराजा वोदियार (1794-1868) के शासन से सम्बद्ध है, जो इस समय के बेहतरीन लेखक थे जिन्होंने 40 से अधिक कृतियों का सृजन किया जिसमें एक कवित्त रोमांस भी शामिल है जिसे *सौगंधिका परिणय* कहा गया। राजा चिक्का देवराज वोदियार

(1673-1704) ने *गीथा-गोपाला* लिखा, जो संगीत पर लिखा गया प्रसिद्ध लेख था।

यह प्रथम लेखन था जिसने कन्नड़ भाषा में वैष्णव मत का प्रचार किया। *जैमिनी भारत,* शप्तपदी में लिखा गया उसका *महाभारत* संस्करण, एक लोकप्रिय कविता है। वैष्णव आंदोलन ने पुरंदरदशा एवं कनक-दशा के अमर गीतों को प्रस्तुत किया।

आधुनिक कन्नड़ साहित्य उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में प्रारंभ हुआ और इसने दो पहलुओं को अपने में समेटा पश्चिमी विचारों का समावेश और प्राचीन युग की पुनर्खोज। लक्ष्मीनरनप्पा (मुड्डना) ने कुछ अच्छे गद्य लिखे। बी.एम. श्रीकांथैय्या *(इंगलिश गीतगलू)* ने कन्नड़ कविता को आधुनिक दिशा दी। डी. वी. गुंडप्पा और के.वी. पुट्टप्पा भी उच्च कोटि के कवि थे। सबसे अधिक प्रसिद्धि डी.आर. बेंद्रे को मिली। पुट्टप्पा *(रामायण दर्शनम)* और बेन्द्रे *(नकुथांथी)* को ज्ञानपीठ पुरस्कार भी मिला है। कन्नड़ में लिखे गए उपन्यासों ने भी अपनी छाप छोड़ी। एम.एस. पुट्टन्ना ने कन्नड़ भूमि की महक अपने उपन्यासों में समाहित की। के. शिवराम कारंत भी श्रेष्ठ उपन्यासकारों में आते हैं। इन्होंने *चोमना डुडी* और *मराली मन्निगे* और अन्य कई उपन्यास लिखे। इन्हें ज्ञानपीठ पुरस्कार भी मिल चुका है। मस्ती वेंकटेश अय्यंगर, ज्ञानपीठ पुरस्कार विजेता, को कन्नड़ लघु कथा का जनक माना जाता है। ज्ञानपीठ पुरस्कार प्राप्त एक अन्य लेखक हैं प्रो. वी.के. गोकक, जो कवि और उपन्यासकार हैं। बासवप्पा शास्त्री, टी.पी. कैलाशम और संसा अच्छे नाटककारों में गिने जाते हैं। आज कन्नड़ साहित्य पी. लंकेश, निसार अहमद, गिरीश कर्नाड, यू.आर. अनंतमूर्ति के हाथों फल-फूल रहा है।

19वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में, महाराजा कृष्णराजा वोदियार-III और उनके दरबारी कवियों ने कवित्त के पुराने रूप *चम्पू* को छोड़कर संस्कृत काव्यों एवं नाटकों की तरफ रुख किया। केम्पू नारायण द्वारा रचित *मुद्रामंजूषा* (1823) कन्नड़ का प्रथम आधुनिक उपन्यास है। आधुनिक कन्नड़ साहित्य का विकास भारत में औपनिवेशिक काल और कन्नड़ कार्यों एवं शब्दकोशों का यूरोपीय भाषाओं एवं अन्य भारतीय भाषाओं में उनका अनुवाद और यूरोपीय शैली के समाचार-पत्रों एवं पीरियोडीकल्स का कन्नड़ में पदार्पण द्वारा हुआ। 19वीं शताब्दी में, यूरोपीय प्रौद्योगिकी के साथ अंतर्क्रिया, नवीन छपाई तकनीकियों ने आधुनिक कन्नड़ साहित्य को जबरदस्त बढ़ावा दिया।

प्रथम कन्नड़ समाचार-पत्र *मैंगलौर समाचार* था जिसका प्रकाशन 1843 में हरमन मोगलिंग द्वारा किया गया; और इसी समय भाष्यम भाष्याचार्य ने मैसूर में *मैसूरू रितंता बोधिमी* नामक प्रथम पीरियोडीकल्स का प्रकाशन किया।

1970 के दशक के पूर्वार्द्ध से, लेखकों के एक नवीन समूह ने ऐसे उपन्यासों एवं कहानियों का लेखन प्रारंभ किया जिन्हें एंटी-'नव्य' कहा गया। इस शैली को *नवयोत्तरा* कहा गया और इसने अधिक सामाजिक उत्तरदायित्व की भूमिका अदा की। इस शैली के प्रसिद्ध लेखक पूरणचंद्र तेजस्वी और देवनूर महादेव थे। हाल ही में नाटकीय साहित्य के विकास एवं प्रभुत्व में आशातीत वृद्धि हुई। बंध्या (विद्रोही) और महादेव के *मरीकोंडाबरू* और *मुदाला सीमेलि कोल गीले इत्येदि* जैसे दलित साहित्य इस शैली के उदाहरण हैं।

कश्मीरी

कश्मीरी साहित्य का इतिहास कम-से-कम 2,500 वर्ष प्राचीन है। पतंजलि, *महाभाष्य* के लेखक जिन्होंने पाणिनी के व्याकरण पर टिप्पणी की, और द्रिधबाला, आयुर्वेद पर *चरक संहिता* का संशोधन किया, इसी क्षेत्र से पैदा हुए। दसवीं शताब्दी के आसपास कश्मीरी भाषा ने स्वयं को अपभ्रंश परिवार से अलग कर लिया। प्रारंभ में कश्मीरी कविता संस्कृत की शैव रचनाओं का विस्तार मात्र थी, जैसे अभिनवगुप्त का *तंत्रसार*। बौद्ध एवं वैष्णव धर्म का प्रभाव भी 14वीं सदी के कश्मीर साहित्य पर पड़ा। लाल देद, 14वीं शताब्दी की अग्रणी कश्मीरी कवयित्री थीं। मध्य एशिया से आए इस्लाम ने भी अपना प्रभाव डाला। इस्लाम और हिंदू प्रभावों के मेल से नंद ऋषि ने कविताएं लिखीं। आज भी इन्हें कश्मीर में बड़ी श्रद्धा से याद किया जाता है। कश्मीरी भाषा के प्रयोग की शुरुआत कवि लालेश्वरी या लाल देद (14वीं शताब्दी) के साथ हुई। नुंदा रेशी ने प्रभावशाली कविताओं का लेखन किया। हब्बा खातून (16वीं शताब्दी), रूपा भवानी (1621-1721), अरनिमल (1800 ईस्वी), महमूद गामी (1765-1855), रसूल मीर (1870 ईस्वी), परमानंद (1791-1864), मकबूल शाह क्रलावरी (1820-1976) अन्य कवियों में शामिल हैं। शम्स फाकिर, वहाब खार, सोच क्राल, समद मीर, और अहद जरगार जैसे सूफी कवियों का आवश्यक रूप से उल्लेख किया जाना चाहिए। कश्मीरी पर फारसी और उर्दू का प्रभाव इस्लामी सम्पर्क के बाद चिन्हित हो गया।

एक अलग किस्म के गीत *लाड़ी-शाह* की रचना उन्नीसवीं शताब्दी के अंत में की गई।

कश्मीरी साहित्य का आधुनिक काल 20वीं शताब्दी के प्रारंभ से शुरू हुआ। महजुर ने पश्चिमी विचार एवं साहित्य तथा उत्तर भारत की अन्य आधुनिक भाषाओं में हुए विकास को समेटते हुए रचनाएं कीं। अब्दुल अहद आजाद, दयाराम गंजू, जिंदा कौल, गुलाम हसन बेग 'आरिफ' आधुनिक युग के कुछ प्रसिद्ध कवि हैं। 1950 के दशक के दौरान, बड़ी संख्या में सुशिक्षित युवा कश्मीरी लेखक के रूप में स्थापित हुए, जिन्होंने कविता एवं पद्यांश दोनों में लिखना प्रारंभ किया और आधुनिक कश्मीरी साहित्य को समृद्ध किया। इनमें प्रमुख नाम हैं दीनांथ नदीम, रहमान राही, गुलाम नबी फिराक, अली मुहम्मद शाहबाज, मुश्ताक कश्मीरी, अमीन कामिल, अली मोहम्मद लोन, अख्तर मोहियुद्दीन, सोमनाथ जुत्शी, मुजफ्फर आजिम, और सर्वानंद कौल 'प्रेमी'। बाद के लेखकों में हरिकृष्ण कौल, मजरूह राशिद, रतनलाल शांत, हृदय कौल भारती, रफीक राज, तारिक शहराज, शफी शौक, नजीर जहांगीर, एमएच जाफर, शहनाज राशिद, शबीर अहमद शाबिर निसार आजम, जावेद अनवर, शबीर मगामी और मोती लाल केमू ने ख्याति प्राप्त की। आधुनिक कवियों गुलाम अहमद महजूर, अब्दुल अहद आजाद और जिंदा कौल प्रमुख हैं।

जम्मू-कश्मीर कला, संस्कृति एवं भाषा अकादमी द्वारा प्रकाशित *सिराजा;* कश्मीर विश्वविद्यालय के कश्मीरी विभाग द्वारा प्रकाशित *अनहर;* नेब अंतरराष्ट्रीय कश्मीरी पत्रिका, वाख; और कोशुर समाचार अग्रणी प्रकाशन हैं जो समकालीन कश्मीरी साहित्य का प्रतिनिधित्व करते हैं।

कश्मीरी लिपि मुद्रण की दृष्टि से कठिन मानी जाती है। यही वजह है कि इस भाषा की रचनाओं का संसार सीमित है।

कोंकणी

कोंकणी साहित्य की प्राचीन मौलिक धरोहर का अधिकांश भाग नष्ट हो चुका है। भाषा की दृष्टि से यह मराठी और हिंदी के करीब है तथा देवनागरी इसकी लिपि है। 16वीं शताब्दी में कृष्णदास शर्मा द्वारा मराठी से किया गया महाभारत और रामायण की कहानियों का अनुवाद रोमन लिपि में मौजूद है।

17वीं शताब्दी में बहुत-सारा ईसाई साहित्य कोंकणी में लिखा गया। लेखकों में प्रमुख हैं फादर जोआचिम दे मिरांडा, जिन्होंने सबसे लम्बी कोंकणी सूक्ति लिखी, *रिगलो जेसु मोलांटम* और डोना बरेटो, जिन्होंने *पेपिएंस जेराथिनी* लिखी।

20वीं शताब्दी में प्रारंभ हुआ आधुनिक युग शेनॉय गोएम्बब, बी.बोरकर *(पैमजोनम),* एम.सरदेसाई (उपन्यासकार एवं कवि), रेगिनाल्डो फर्नांडिस और वी.जे.पी. सकथाना (दोनों उपन्यासकार) की कृतियों का युग रहा।

मैथिली

मैथिली भाषा, भारत के पूर्वी क्षेत्र और नेपाल के दक्षिण-पूर्वी क्षेत्र में बोली जाने वाली, अवहथ्या, मैथिली अपभ्रंश, से उत्पन्न हुई जबकि मैथिली अपभ्रंश का उद्गम अवधी अपभ्रंश से हुआ। परम्परागत रूप से मैथिली भाषा मैथिली लिपि (इसे तिरहुता, मिथिलक्षर भी कहा जाता है) और कैथी लिपि में लिखी गई।

मिथिला के शिक्षितों एवं बौद्धिक वर्गों ने अपने साहित्यिक कार्य के लिए संस्कृत का प्रयोग किया और मैथिली आम जन की भाषा थी। *वर्णरत्नाकर* मैथिली में किया गया प्रथम कार्य था जिसे 1324 के लगभग ज्योतिरिश्वर ठाकुर ने किया। यह किसी भी उत्तरी भारतीय भाषा में पाया जाने वाला प्रथम गद्य नमूना है।

प्रारंभिक मैथिली साहित्य (700-1350 ईस्वी) में *श्लोक, गीत* और *दोहा* शामिल थे। श्रपद (700-780 ईस्वी), चंद्रमानी दात्ता जिनकी *मिथिला भाषा रामायण* और *महाभारत* पूरी तरह से मिथिलक्षर लिपि में लिखी पाई गई। उमापति एवं शंकरदातान प्रमुख साहित्यिक व्यक्तित्व थे।

मध्य मैथिली साहित्य (1350-1830 ईस्वी) में थिएटर मंचन की कृतियों का प्रभुत्व रहा। प्रमुख मैथिली लेखकों में विद्यापति, श्रीमंत शंकरदेव, गोविंददास, विष्णुपुरी, कामसनारायण, महेश ठाकुर, कर्ण जयनंद, कान्हा रामदास, नंदीपति, लालकवि, मानाबौद्धा, साहेब रामदास, बुद्धिलाल और रत्नपानी हैं। मैथिली के उल्लेखनीय एवं बेहद प्रसिद्ध साहित्यिक व्यक्तित्व कवि विद्यापति (1350-1450) हैं, जिन्होंने मैथिली में लेखन की प्रथा प्रारंभ की। उन्होंने मैथिली में हजारों अमर गीतों का सृजन किया जिनका विषय राधा-कृष्ण की प्रेम गाथा, शिव एवं पार्वती का घरेलू जीवन और मोरांग के श्रमिकों एवं उनके परिवारों की दयनीय दशा का चित्रण था। इसके अतिरिक्त उन्होंने संस्कृत में कई लेख लिखे।

मैथिली में कई भक्ति गीत वैष्णव संतों द्वारा लिखे गए। उमापति उपाध्याय ने *परिजातहरण* नामक नाटक मैथिली में लिखा। पेशेवर नाटक मंडलियों,

अधिकतर दलित वर्ग से आते हैं जिन्हें किर्तनीया के तौर पर जाना जाता है, ने समारोहों एवं राजा के दरबारों में इस नाटक का मंचन करना प्रारंभ कर दिया। लोचन (1575-1660 ईस्वी) ने रागतरंगिणी लिखा, जो मिथिला में व्याप्त राग, ताल एवं गीतों का वर्णन करने वाला संगीत के विज्ञान पर एक महत्वपूर्ण लेख है।

16वीं-17वीं शताब्दियों में, मैथिली बेहद प्रसिद्ध हो गई। माला वंश की मातृभाषा मैथिली थी, जो व्यापक रूप से पूरे नेपाल में फैल गई। इस दौरान तकरीबन 70 मैथिली नाटकों का सृजन किया गया।

औपनिवेशिक काल के दौरान मैथिली के प्रयोग ने बेहद कम विकास किया, क्योंकि जमींदारी राज का भाषा के प्रति बेहद बेपरवाह नजरिया था। मैथिली भाषा के प्रयोग को हालांकि, एम.एम. परमेश्वर मिश्रा, चंदा झा, मुंशी रघुनंदनदास और अन्य लोगों का प्रोत्साहन एवं सहयोग प्राप्त हुआ।

आधुनिक युग में मैथिली का विकास विभिन्न पत्रिकाओं एवं जर्नल्स के कारण हुआ। *मैथिली हिटा साधना* (1905), *मिथिला मोड* (1906), और *मिथिला मिहिर* (1908) के प्रकाशन ने लेखकों को प्रोत्साहित किया। 1910 में प्रथम सामाजिक संगठन मैथिल महासभा ने मिथिला एवं मैथिली के विकास के लिए कार्य करना प्रारंभ किया। इसने मैथिली को प्रादेशिक भाषा का दर्जा दिलाने के लिए अभियान शुरू किया। कलकत्ता विश्वविद्यालय ने 1917 में मैथिली को मान्यता प्रदान की और अन्य विश्वविद्यालयों ने इसका अनुसरण किया। बाबू भोलादास ने *मैथिली व्याकरण* लिखा, और *गद्यकुसुमंजलि* और *मैथिली* जर्नल का संपादन किया।

वर्ष 1965 में, साहित्य अकादमी द्वारा आधिकारिक रूप से मैथिली को स्वीकार किया गया; वर्ष 2003 में मैथिली को भारतीय संविधान की आठवीं अनुसूची में एक मुख्य भारतीय भाषा के रूप में मान्यता प्रदान की गई। अब मैथिली भारत की 22 भारतीय भाषाओं में से एक है।

मलयालम

पाचा मलयालम यानी विशुद्ध मलयाली में लिखे लोक-गीतों और वीर रस के गीतों का समय बताना कठिन है। 10वीं शताब्दी के आस-पास मलयालम ने अपनी पहचान बनाई। साहित्य की भाषा के रूप में मलयालम पर अपने शुरुआती

दिनों में तमिल का प्रभाव था। इसी समय चिरमन ने *रामचरितम* (12वीं शताब्दी) लिखा। इसके बाद निरनम की कृतियां हैं, जिन पर तमिल का प्रभाव कम दिखता है। संस्कृत ने भी मलयालम पर प्रभाव डाला, नतीजतन *मणिप्रवलम* नामक साहित्यिक बोली की विशेष किस्म सामने आई। 14वीं शताब्दी में 'लीलाथिलकम' लिखा गया। यह व्याकरण है और यह खास तौर पर मणिप्रवलम में रची गई रचनाओं के लिए था। ऐसी रचनाएं या तो *संदेश काव्य* थीं या *चम्पू। संदेश काव्य* में सबसे प्रसिद्ध है *उन्ननली संदेशम* (14वीं शती)। इसके लेखक का पता नहीं है। *चम्पू* में उत्कृष्ट कृति है *उन्नियतिचरितम*। पंद्रहवीं शताब्दी में संस्कृत या तमिल मुहावरों के अत्यधिक प्रयोग से बचने की मुहिम चली। इसके प्रणेता थे रामा पनिक्कर, जिन्होंने *कन्नस्सा रामायणम* लिखा।

रामानुज एझुथाचेन (16वीं शताब्दी) ने कविताओं में चमत्कार दिखाया। इनका *अध्यात्म रामायण* और *भागवतम* मलयालम साहित्य की सर्वत्कृष्ट रचनाओं में आता है। हालांकि इनके साहित्यिक ओज की पूर्ण झलक चेरूस्सेरि नम्बूदरी के *कृष्णगाथा* में देखी जा सकती है। एझुथाचेन ने *किलिपट्टु* या तोते के गीत को काफी लोकप्रिय बनाया।

अठारहवीं शताब्दी में कंचन नाम्बियार हुए, जो साहित्य को आम आदमी तक ले गए। *थुल्लाल्स* कथारूप में इन कविताओं में सामाजिक आलोचना और प्रहसन भरा पड़ा था। इसी समय *अट्टा-कथा* लिखी गयी। यह कथकली नर्तकों के लिए था। कोट्टरकारा थम्पूरन का *रामनट्टम* सबसे पहली और संपूर्ण *अट्टा कथा* है।

उन्नीसवीं सदी में दो कारणों से साहित्यिक भाषा के रूप में मलयालम के विकास को प्रोत्साहन मिला पहला, शिक्षा की नई प्रणाली, जिसके मूल में मिशनरी थे और दूसरा, 1857 में मद्रास विश्वविद्यालय की स्थापना। सभी कक्षाओं के लिए पाठ्य पुस्तकें बनाकर इस भाषा के विकास हेतु कार्यक्रम निर्धारित करने का श्रेय केरल वर्मा को जाता है। वेनमणि कवियों ने संस्कृत की बेड़ियां तोड़ी और जनसाधारण तक साहित्य को पहुंचाने के लिए एक लोकप्रिय वाक्यविन्यास और मुहावरों का विकास किया। इसके अलावा बेंजामिन बुले और हरमैन गुंडर्ट जैसे मिशनरी थे, जिन्होंने शब्दकोश बनाए। राजराजा वर्मा ने मलयालम को अधिकृत व्याकरण *केरल पाणिनियम* दिया और मलयालम छंदों का मानकीकरण

किया। कुमारन असन और वल्लठोल नारायण मेनन ने आधुनिकता को बढ़ावा दिया। वल्लठोल ने मलयालम साहित्य में राष्ट्रवाद को महत्वपूर्ण स्थान दिया। असन ने सामाजिक सरोकारों को अपने लेखन का आधार बनाया। उल्लूर एस. परमेश्वर अय्यर ने शास्त्रीय और आधुनिक दोनों का समुचित समन्वय प्रारंभ किया। 1930 के दशक तक एक नई क्रांति सामने आई। चंगमपुझा कृष्णा पिल्लै इसके अगुआ थे। प्रतीकवाद को प्रमुखता मिली और ज्ञानपीठ पुरस्कार विजेता जी.शंकर कुरूप इसके प्रबल प्रणेता थे।

केरल में प्रगतिशील साहित्य का उदय 1940 के दशक के उत्तरार्द्ध में हुआ। बेक्कोम मुहम्मद बशीर [*बाल्यकाल सखी,* और *तुप्पकोरानेन्दा-रूनू* (1951)] ने अपनी अद्वितीय शैली और समझ द्वारा मुस्लिम समुदाय को चित्रित करने वाली कृतियों की रचना की।

मलयट्टूर रामकृष्णनन् अपनी कृतियों-*वेरूक्कल* एवं *यंत्रोम* के माध्यम से लोकप्रिय हुए। थकाजी शिवशंकरा पिल्लई ने निम्न समुदाय पर केन्द्रित *रनटिटनगझि* लिखा।

19वीं शताब्दी के अंत और 20वीं शताब्दी के प्रारंभ पर, सामाजिक क्रांति के प्रयास के चलते, वी.टी. भट्टथिरिपद (वी.टी.), एम.आर. भट्टथिरिपद (एम. आर.बी.), और एम.पी. भट्टथिरिपद (एम.पी.), ने सामाजिक बुराइयों पर केंद्रित कार्य किया। वी.टी. के नाटक *अत्तुकल्लयिल निन्नू* अरंगथेक्कू और आत्मकथा कार्य कन्नीरूम किन्नावुम, एम.आर.बी. का *मरक्कूतेक्कूलिले महानरकम* और लघु कथाएं एवं यात्रा वृतांत, और एम.पी. की *रितुमति* प्रसिद्ध हैं। मूथिरिंगोड भावथरथन नम्बूदिरिपाद ने *अफांटे मकल* और ललिथम्बिका अंथेरजनम ने *अग्निसाक्षी* लिखी जिसमें समुदाय में परम्परागत एवं आधुनिक तत्वों के बीच मतभेदों को प्रतिबिम्बित किया गया।

के. सारस्वती अम्मा ने अपने कार्य में मुक्ति उन्मुख एवं महिला की अत्यंत शक्ति को उजागर किया (लघु कथाएं *चोलमरंगल,* और *ओरुकट्टिनटे ओटुविल)*। के. सुरेन्द्रन ने अपने कार्य *तालम* और *कट्टूकुरंगु* में मानव मस्तिष्क की जटिलता को प्रस्तुत किया है। एम.पी. नारायण पिल्लई ने *परिनामम* के माध्यम से सामाजिक मूल्यों पर टिप्पणी की। वी.के.एन. *विवाहपिट्टेन्नू, पिट्टामहन, अरोहनम, पायन्स* और *छाथम* के रूप में अपने उच्च व्यंग्यात्मक शैली के लिए जाने जाते हैं।

सारा जोसेफ *अलाहृयुट्टे पेनमक्कल* उपन्यास के लेखक हैं। आनंद एक ऐसे लेखक हैं जिन्होंने जीवन के अत्यंत दुःख एवं पीड़ा को अपने उपन्यासों एवं लघु कहानियों में चित्रित किया है *(मारूभूमिकल उनतकून्नाटू, अरामटे विराल,* और *नाल्लमेट अनी)*।

मलयालम फिक्शन के समकालीन प्रमुख लेखकों में जचिरियाह, एन.एस. माधवन, ग्रेसी, टी.वी. कोचूबावा, के.बी. श्रीदेवी, वल्साला, गीथा हिरणनयन, रोजमेरी, ए.एस. प्रिया, के.एल. मोहनवर्मा, पुन्नतिल, कुनहाबदुला, सी.आर. परमेश्वरम्, अशोकन चारूविल, वैसखान, उन्नीकृष्णन तिरुविझियोडु, सेथू. अरविंदक्शन और सी.वी. बालकृष्णन शामिल हैं।

थाकाझी शिवशंकर पिल्लै *चेम्मीन* और एस.के. पोट्टेकट ने उपन्यास लेखन में ज्ञानपीठ पुरस्कार प्राप्त किए। अन्य चर्चित उपन्यासकार हैं मोहम्मद बशीर, ओ.वी. विजयन और एम.टी. वसुदेवन नायर। नाटक के क्षेत्र में ई.वी. कृष्णा पिल्लै,सी.जे. थॉमस, जी.शंकर पिल्लै प्रमुख हैं।

हाल ही के समय के दौरान मलयालम साहित्य ने बेहद शक्ति एवं सृजनात्मकता का प्रदर्शन किया है।

मणिपुरी

मणिपुर साहित्य मणिपुरी भाषा में लिखा गया (जो है मीटिलोन)। इसे मीटि साहित्य के तौर पर भी जाना जाता है। मणिपुरी साहित्य हजारों वर्ष पुराना है जब इसकी सभ्यता फली-फूली। लेकिन 1729 में, मेडिंगू पमहेबा (1709-1748) के शासन के दौरान, पूया मेथबा (प्राचीन मणिपुरी धर्म ग्रंथों का जलना), ने प्राचीन मणिपुरी ग्रंथों एवं सांस्कृतिक इतिहास का विध्वंस कर दिया। इसने मणिपुरी साहित्य के एक नए युग का सूत्रपात किया।

मीटि के लेखन का एक लंबा इतिहास रहा। यह पूरी तरह स्पष्ट नहीं है कि *मीटि पुया* (प्राचीन धर्मग्रंथ) और *मीटि मायेक* (मणिपुरी लिपि) पहली बार कब अस्तित्व में आए। हालांकि लिखित संविधान *लोईयम्बा शिनयेन* (1110), मेडिंगू लोईयम्बा (1074-1122) के शासन काल के दौरान, संकेत करता है कि इस युग में लेखन कार्य प्रारंभ हो चुका था।

प्रारंभिक मणिपुरी साहित्य में रीति-रिवाज, इतिहास, या लोक कथाएं गद्य एवं कवित्त रूप में शामिल किए गए हैं। प्राचीन मीटिलोन (मणिपुरी भाषा) का

उल्लेखनीय कार्य है नुमित कप्पा, ओउग्रि, खेनचो, साना लामोक (12वीं शताब्दी) हिजिन हिराव, निंगथाउरोन (17वीं शताब्दी)।

सबसे प्राचीन साहित्यिक कार्यों में से एक नुमित कप्पा मीटिलोन के साथ मणिपुरी लिपि में लिखा गया जो कवित्त रूप में था। टी.सी. होडसन प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने अपनी पुस्तक में *मेथीस* मीटिलोन साहित्यिक कार्य का अंग्रेजी में अनुवाद किया।

मणिपुरी साहित्य एवं संस्कृति में भारी बदलाव मेडिंगू चरेरोंगबा (1697-1709) और उनके उत्तराधिकारियों के शासन के दौरान आया। 18वीं शताब्दी की समाप्ति के साथ, मैत्राबक (मणिपुर) ने अपनी संस्कृति, अर्थव्यवस्था एवं राजव्यवस्था का संपूर्ण विकास प्राप्त किया।

अंगोम गोपी मेडिंगू पमहेबा के शासनकाल के दौरान प्रसिद्ध कवि एवं बुद्धिजीवी थे। वे न केवल मीटिलोन (मणिपुरी भाषा) में निपुण थे अपितु संस्कृत और बंगाली भाषा में भी पारंगत थे। उन्होंने क्रितिबास की *रामायण* और गंगादास की *महाभारत* का मीटिलोन में अनुवाद किया। उन्होंने *परिखित, लंगका कांड, अरण्य कांड, किष्किण्डा कांड, सुंदर कांड,* और *उत्तर कांड* का भी लेखन किया।

मणिपुरी साहित्य के इतिहास में स्वर्णिम समय 1779 में रचित उपन्यास थे। यह वह समय था जब धार्मिक पुस्तकें मुख्यधारा में थीं। *साना माणिक* को सबसे पहला मणिपुरी उपन्यास माना जाता है।

मेडिंगू चिंगथांगखोम्बा के ज्येष्ठ पुत्र, नबानंदा युबराज, राजघराने से एक प्रसिद्ध लेखक थे, और उन्होंने रामकृष्ण दास की *विराट पर्व* का मीटिलोन *(विराट शथुप्लोन)* में अनुवाद किया।

लेनिनधन नओरिया फूलो (1888-1941) मीटि संस्कृति के पुनर्जागरण एवं पुनर्रुद्धार आंदोलन के अग्रदूत थे। मणिपुरी कविता में उनके महान योगदान में *युमलई लेरोन* (1930), *अपोकपा मैपुगि टुंगनाफाम* (1931) टेंगबनबा अमाशुंग लेनिंगथॉऊ लैबो (1933) और अथोईबा शेरेंग (1935) शामिल हैं। उनके प्रमुख गद्य कार्य में *मीटि येलहोउ मायेक* (1931) *मीटि हाओबेम वारी* (1934), *एगि वारेंग* (1940) आते हैं। हीजैम इराबोट ने 1922 में प्रथम पत्रिका *मीटि* का प्रकाशन किया। इस समय तक, आधुनिक मणिपुरी साहित्य खबेरकपम चाओबा, लामाबेम कमाल और हीजैम अंगनघल के कार्यों से एक मान्यता प्राप्त लेखन बन गया।

आधुनिक मणिपुरी कविता को स्पष्ट रूप से दो समूहों लामाबेम कमाल और उनके समकालीनों की कविता जो प्रारंभिक चरण को प्रस्तुत करती है और अधिक आधुनिक युवा कवियों की कविताएं जो समकालीन विश्व की तस्वीर को प्रकट करते हैं।

मीनाकेतन की शैली बेहद नई एवं वैयक्तिक है। निलाबिर शर्मा, गौरकिशर, आर.के. इलबांगबम प्रसिद्ध कवि हैं। युवा कवियों समरेन्द्र, नीलकांत, पद्मकुमार, श्री वीरेन, इबोमचा, इबोहल, इबोपिश्क, मधुबिर, ज्योतिन्द्र और इबेमपिश्क की कविताओं ने अंधविश्वास, क्रोध, परम्परागत मूल्यों पर प्रश्न करना और समाज में आस्था एवं अखण्डता के अभाव पर अत्यधिक गहरी समझ एवं दृष्टि को अभिव्यक्त किया।

अनुवाद के क्षेत्र में, *नबदविपचंद्र* बेहद प्रसिद्ध है, जो माइकल मधुसूदन की *मेघनंद बाधा काव्य* का मणिपुरी में अनुवाद है। टैगोर की *गीतांजलि* का अनुवाद ए. मीनाकेतन और कृष्ण मोहन द्वारा किया गया। गौरकिशर ने कालीदास की *मेघदूत* का मणिपुरी में अनुवाद किया। कासीराम की *कुमारसंभव, किर्ताजुनियम, रघुवंश काव्य,* क्रितिवास की *रामायण* और *भगवद् गीता* का अनुवाद मणिपुरी में किया गया। प्रारंभिक नाटकों में ललित का *सती खोंगनेग* और *अरेप्पा मारूप,* लेरनेमयुम इबुंघल का *नरसिंह,* डोरेन्द्रजीत का *मोरंग थोईबी,* बीर सिंह का *बीर तिकेन्द्रजीत,* बीरमंगोल का *चिंगू खोंगनेग थाबा,* श्यामसुंदर का *मेनू पेमचा* और बोरमानी का *केग लंजा* प्रमुख हैं।

समकालीन नाटककार नए विषयों एवं तकनीक के साथ नाटकों को लेकर सामने आए। उनके शोध एवं खोज में सुगमता से राजनीतिक एवं सामाजिक-आर्थिक समस्याओं को प्रस्तुत किया गया। इनमें अग्रणी नाटककार जी.सी. टोंगब्रा, नेत्रजित, एम.के. बिनोदिनी देवी, रामचरण, कान्हलाल, ए. सुमोरेंद्रो, टोमचाऊ और सनाजाओबा हैं। रतन थिरूयेम ने वर्ष 1976 में 'कोरस रेपटरी थिएटर' की इंफाल में नींव रखी।

20वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में, लामाबेम कमाल, खबेररकपम चाओबा और हीजैम अंगघल ने मणिपुरी में प्रथम मौलिक उपन्यास लिखने का प्रयास किया। आर.के. शीतलजीत, एच. गुनो, थोईबी देवी, आर.के. इलांगबम, राम सिंह, इबोहल, भाग्य, नोबीचंद, इबोमचा, चितरेश्वर, एम.के. बिनोदिनी और पाचा मीटि

का नाम अन्य समकालीन उपन्यासकारों के होते हुए भी बेहद उल्लेखनीय है। सूरचंद सरमा, श्यामसुंदर, रघुमनी सरमा और निशान सिंह का नाम प्रसिद्ध अनुवादकों में लिया जा सकता है।

मणिपुरी में आलोचनात्मक साहित्य ने लोकप्रियता हासिल की। *अरबिया मणिपुरी साहित्यगी इतिहास* (पंडित खेलचंद्र) और *मणिपुरी साहित्यगी अश्म्बा इतिहास* (कलाचंद शास्त्री) ने मणिपुरी साहित्य के प्रारंभिक एवं मध्यकाल का सर्वेक्षण किया। *मैती उपन्यास* (मीनाकेतन) और *मणिपुरी साहित्य अमासुंग साहित्यकार* (दीनामनी) ने प्रमुख मणिपुरी उपन्यासों का आलोचनात्मक सर्वेक्षण किया। चंद्रमणि का *साहित्यगी नैनबा वारेंग,* कलाचंद शास्त्री का *शेरेंग लेटेंगे,* गोकुल शास्त्री का *साहित्य मिंगशेल* पंडित ब्रजबिहारी शर्मा का *अलंगकर कौमुदी* और लोरेमबेम इबोयेइमा का *अलंगकर ज्योति* भी प्रसिद्ध आलोचनात्मक कृतियां हैं।

मराठी

महाराष्ट्री अपभ्रंश काफी पहले मराठी भाषा के रूप में विकसित हो चुका था, लेकिन इसका साहित्य तेरहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में सामने आया। लगभग 300 वर्षों तक यह साहित्य काव्य रूप में मुख्यतः धार्मिक और दार्शनिक रहा। इस भाषा की प्रथम उल्लेखनीय कृति मुकुंदराजा की *विवेक सिंधु* को माना जाता है। मुकुंदराजा नाथपंथी थे। एक अन्य धार्मिक सम्प्रदाय महानुभाव ने मराठी पद्य एवं गद्य के क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान किया। भक्ति आंदोलन के दौरान महान ज्ञानदेव हुए, जिनकी *भावार्थ दीपिका* (लोकप्रिय ज्ञानेश्वरी) और *अमृतानुभव* महाराष्ट्रवासियों के लिए मानक धर्मग्रंथ थे। इसी परंपरा में नामदेव और एकनाथ थे।

सत्रहवीं शताब्दी में मराठी साहित्य को समृद्ध बनाने की दिशा में ईसाई मिशनरियों ने महत्वपूर्ण योगदान दिया। फादर थॉमस स्टीफंस का कृष्टपूरन इसका उल्लेखनीय उदाहरण है। हिंदू साहित्य में तुकाराम के बेजोड़ *अभंग* थे, जिन्होंने अपनी गीतात्मक प्रबलता के बल पर जनसाधारण को सीधे तौर पर अपने प्रभाव क्षेत्र में ले लिया। इस काल की लौकिक कविता को *पोवदस* वीर रस की कविताएं और *लावणी* रोमांटिक एवं शृंगारपरक, में अभिव्यक्ति मिली।

उन्नीसवीं शताब्दी में मराठी साहित्य में आधुनिकता का प्रवेश हुआ। कविता के क्षेत्र में के.के. दामले उर्फ केशवसुत ने नए प्रतिमान स्थापित किए। प्रेम, प्रकृति, सामाजिक चेतना और नव-रहस्यवाद उनके विषय रहे। 1930 तक कवियों के एक समूह *रवि किरण मंडल* ने नए विषयों में प्रवेश किया। इनमें उल्लेखनीय कवि हैं माधव त्रियंबक पटवर्धन और यशवंत दिनकर पेंढारकर।

पहला मराठी व्याकरण और पहला शब्दकोश 1829 में आया। पत्रिकाएं लोकप्रिय हुई। बाल गंगाधरशास्त्री जाम्बलेकर, जिन्होंने दैनिक *दर्पण* (1831) और *दिग्दर्शन* (1841) प्रारंभ किया तथा भान महाजन, जिन्होंने *प्रभाकर* की स्थापना की, गद्य के नए रूप के प्रणेता थे। कृष्णहरि चिपलंकर और गोपाल हरि देशमुख के निबंधों ने लोगों में उनकी विरासत के बारे में जागरूकता पैदा की। विष्णुशास्त्री चिपलुंकर ने 'केसरी' (1881) की स्थापना की, जो बाद में लोकमान्य तिलक के अधीन अखिल भारतीय महत्व का हो गया। कई राष्ट्रीय नेताओं ने अपने लेखन से भाषा को समृद्ध किया जैसे ज्योतिबा फुले, गोपाल अगरकर, एन.सी. केलकर, वी.डी. सावरकर और निःसंदेह बाल गंगाधर तिलक।

सामाजिक उपन्यासों के क्षेत्र में हरिनारायण आप्टे का योगदान उल्लेखनीय है। वी.एस. खांडेकर को 1974 में *जयति* के लिए ज्ञानपीठ पुरस्कार मिला। एक अन्य मराठी लेखक थे वी.वी. शिखाडेर, जिन्हें कुसुमगराज के नाम से भी जाना जाता है। इन्हें भी इनकी काव्यात्मक एवं अन्य रचनाओं के लिए यह पुरस्कार मिला था। बी.एस. मारधेकर का *रात्रिचा दिवस* मराठी का चर्चित उपन्यास रहा। एस.एन. पेंडसे की पुस्तक 'रथचक्र' भी काफी सराही गई।

मराठी नाटक का उद्गम इसके धार्मिक उत्सवों से हुआ। इस रूप को अन्ना साहेब किर्लोस्कर के कार्य में परिपक्वता प्राप्त हुई। विजय तेंदुलकर एवं सी. टी. धनोल्कर जैसे नाटककारों ने अंतरराष्ट्रीय स्तर के नाटक लिखे।

अभिधन्नतर और शब्दवेध के साथ सम्बद्ध कवियों की तथाकथित आधुनिक कविता के साथ 1990 के दशक में मराठी समझ एवं संवेदनशीलता में एक भारी बदलाव शुरू हुआ। 1990 के दशक के बाद, 'द न्यू लिटिल मैंगजीन मूवमेंट' ने ध्यान आकर्षित किया और इसका श्रेय मान्य जोशी, हेमंत दिवेत, सचिव केटकर, मंगेरा नारायण राव काले, सलील बाघ, मोहन बोर्स, नितिन कुलकर्णी, नितिन अरुण कुलकर्णी, ब्रजेश सोलंकी, संदीप देशपांडे और वसंत गुर्जर जैसे

कवियों को जाता है। अभिधन्नतर प्रकाशन द्वारा प्रकाशित कविता संग्रह और *अभिधन्नतर* पत्रिका के नियमित अंकों ने मराठी कविता के स्तर में अत्यधिक वृद्धि की। समकालीन मराठी कविता में अन्य अग्रणी लहर अरुण काले, भुजंग मेशराम, प्रवीण बांडेकर, श्रीकांत देशमुख और वीरधवल परब, जिन्होंने स्थानीय या मौलिक मूल्यों पर बल दिया जैसे गैर-शहरी कवियों की कविता है।

मराठी उन चुनिंदा भारतीय भाषाओं में से भी एक है (संभवतः एकमात्र) जहां एक विज्ञान गल्प साहित्य की धारा है (इसके तहत् प्रसिद्ध लेखकों में जयंत नार्लिकर, डा. बाल फोंडके, सुबोध जावेडकर, और लक्ष्मण लोंधे शामिल हैं)।

मराठी भाषा विश्वकोष के सृजन में काफी समृद्ध है। इसमें श्रीधर वेंकटेश केटकर का *ध्यानकोष,* सिद्धेश्वर शास्त्री चितराव का *चरित्रकोष,* महादेव शास्त्री जोशी का *भारतीय संस्कृति कोष,* और लक्ष्मण शास्त्री जोशी का *धर्मकोष* और *विश्वकोष* कुछ प्रसिद्ध विश्वकोष हैं।

दयनेश्वर मुले ने अपनी साहित्यिक प्रतिभा से मराठी भाषा को समृद्ध किया। उनकी आत्मकथा *माटी पांख आनी आकाश* को बीसवीं शताब्दी की कुछ सर्वोत्तम आत्मकथाओं में से एक माना जाता है।

नेपाली

नेपाली भाषा में लिखे गए साहित्य को नेपाली साहित्य कहा जाता है। नेपाली भाषा का उद्गम संस्कृत से हुआ है और स्पष्ट रूप से यह कहना मुश्किल है कि नेपाली साहित्य का इतिहास कितना प्राचीन है।

नेपाली भाषा खास प्राकृत से विकसित हुई है। लोक परंपराओं में समृद्ध इसका साहित्यिक रूप 18वीं शताब्दी में निर्धारित हुआ। सुबानंद दास, शक्ति बल्लव/आर्यल और उदयनंद आर्यल शुरुआती दौर के उल्लेखनीय कवि थे। इस भाषा का पहला 'खंडकाव्य' बसंत शर्मा का *कृष्ण चरित* है।

बीसवीं शताब्दी का समय इस भाषा में सृजनात्मक लेखन का सर्वोत्तम समय था। स्वतंत्र पत्रिका *शारदा* एकमात्र उपलब्ध नेपाली साहित्य का प्रकाशन है। लक्ष्मी प्रसाद देवकोटा, गुरु प्रसाद मैमाली और विशेश्वर प्रसाद कोइराला द्वारा रचित लघु कथाओं को सराहा गया। निःसंदेह रूप से यह समय नेपाली साहित्य के विकास हेतु बेहद महत्वपूर्ण था। प्रसिद्ध लघु कथाओं में प्रभावी लक्ष्मी प्रसाद

देवकोटा की 'मुना मदन', और विशेश्वर प्रसाद कोइराला ('तीन घुमती', 'दोषी चश्मा', 'नरेन्द्र दाई') की कहानियां शामिल हैं।

आधुनिक समय में, बालकृष्ण सामा और लेखनाथ सुप्रसिद्ध कवि हैं। बालकृष्ण सामा एस.बी. अरियल की तरह एक नाटककार भी हैं। उपन्यासकारों में, रुद्रराज पाण्डेय, शिव कुमार राय और प्रतिमान लामा प्रसिद्ध नाम हैं। ऐसे कई आधुनिक नेपाली लेखक इंद्र बहादुर राय, परिजात, नारायण वाघले, मंजूश्री थापा और महानंदा पौड़याल हुए जिन्होंने लीक से हटकर और नवनिर्माण वाले लेखन से नवीन नेपाली साहित्य का सूत्रपात किया।

जैसाकि नेपाली सेंसर 1990 के बाद के विश्व में तेजी से व्यापक हो रहा है, विश्व के विभिन्न जगहों से कई नेपाली साहित्य की पुस्तकें प्रकाशित हुईं। इनमें कुछ उल्लेखनीय लेखक एवं उपन्यास होम नाथ सुबेदी *(यमपुरी को यात्रा)* और पंचम अधिकारी *(पथिक प्रवासन)* हैं, जिन्होंने पहचान के नवीन प्रतिमानों की चमकदार दृष्टि प्रदान की।

ओडिया

उड़िया (अब ओडिया) भाषा की उत्पत्ति 8वीं या नौवीं शताब्दी की मानी जा सकती है, लेकिन स्तरीय साहित्यिक रचनाएं तेरहवीं शताब्दी से ही आनी शुरू हुई। 14वीं शताब्दी में सरलादास द्वारा लिखित *महाभारत* के ओडिया रूप ने ही ओडिया साहित्य को निश्चित स्वरूप प्रदान किया। 15वीं शताब्दी के 'पंच सखा' पांच कवि, बलराम, जगन्नाथ, अनंत, यशवंत और अच्युतानंद ने संस्कृत ग्रंथों को ओडिया में रूपांतरित किया ताकि आम आदमी इन्हें जान सकें। भक्ति आंदोलन के दौरान चैतन्य के प्रभाव ने इस भाषा के साहित्य को भी गहराई तक प्रभावित किया। उपेंद्र भांजा अपने शब्द कौशल और रोमांटिक कविताओं के लिए जाने जाते थे। वैष्णववाद ने कई चर्चित कवि दिए बलदेव रथ, कृष्णदास, गोपालकृष्ण और भीम भोई (जो कि नेत्रहीन थे)।

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में अंग्रेजी शिक्षा के माध्यम से पश्चिमी सम्पर्क के कारण ओडिया साहित्य में क्रांति आ गई। राधानंद राय को आधुनिक ओडिया कविता का जनक माना जाता है। ओडिशा में ब्रह्म समाज आंदोलन के सूत्रधार मधुसूदन राव आधुनिक ओडिशा के एक अन्य महान कवि थे।

उन्नीसवीं शताब्दी में ही ओडिशा में गद्य लिखा जाने लगा। फकीर मोहन सेनापति कवि और उपन्यासकार होने के साथ-साथ प्रमुख गद्य लेखक भी थे।

क्रिश्चियन मिशनरियों द्वारा 1836 में प्रथम ओडिया प्रिंटिंग टाइपसेट स्थापित की गई जिसने ताम्र पत्र को प्रतिस्थापित कर ओडिया साहित्य में क्रांति ला दी। पुस्तकें छपने लगीं, और जर्नल्स एवं पीरियोडिकल्स का प्रकाशन किया गया। प्रथम ओडिया पत्रिका *बोध दायिनी* (1861) बालासोर से प्रकाशित की गई। इस पत्रिका का प्रमुख उद्देश्य ओडिया साहित्य को प्रोत्साहित करना और सरकारी नीतियों में कमियों पर ध्यान दिलाना था। प्रथम ओडिया समाचार पत्र, *उत्कल दीपिका,* गौरी शंकर रे के संपादन में 1866 में सामने आया। 1869 में, भगवती चरण दास ने ब्रह्मो समाज के विश्वास का प्रचार करने के लिए *उत्कल शुभकारी* शुरू किया। 19वीं शताब्दी के आखिरी तीन दशकों में ओडिया में कई समाचार-पत्रों का प्रकाशन हुआ। उनमें प्रमुख थे *उत्कल दीपिका, उत्कल पत्र, उत्कल हितैषिनी, उत्कल दर्पण* और *सम्बद्ध वाहिका,* तथा *संबलपुर हितैषिनी,* इन समाचार पत्रों का प्रकाशन प्रकट करता है कि ओडिशा के लोगों में अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को बनाए रखने की अदम्य इच्छा एवं निश्चय था। राधानाथ रे (1849-1908) प्रमुख व्यक्तित्व थे, जिन्होंने पश्चिमी साहित्य के प्रभावाधीन अपनी कविताओं को लिखने का प्रयास किया। उन्होंने *चंद्रभागा, नंदीकेश्वरी, उषा, महाजात्रा, दरबार* और *चिल्का* का लेखन किया।

20वीं शताब्दी में मधुसूदन दास हुए, जिन्होंने, यद्यपि बहुत नहीं लिखा है, लेकिन उनका ओडिया आंदोलन के लिए लिखा गया एक गीत आज भी ओडिशा में गाया जाता है। राष्ट्रवादी आंदोलन ने भी सत्यवादी लेखक समूह को जन्म दिया, जिसके अगुआ थे गोपबंधु दास और इनकी कृति थी *करा कबिता*।

स्वातंत्र्योत्तर काल में, ओडिया फिक्शन ने एक नई ऊंचाई एवं दिशा प्राप्त की। फाकिर मोहन द्वारा प्रारंभ चलन का वास्तव में 1950 के दशक के बाद विकास हुआ। गोपीनाथ मोहांती, सुरेंद्र मोहांती और मनोज दास को इस समय के तीन जवाहरात माना जाता है। सचितानंद रोउतरे ने परम्परागत समाज की बुराइयों को उद्घाटित किया और नवीन सामाजिक वास्तविकताओं को प्रस्तुत किया। उनकी *बाजी राउत* और *पांडुलिपि* सर्वोत्कृष्ट कृतियां हैं। उन्हें ज्ञानपीठ पुरस्कार प्राप्त हुआ। अन्य महत्वपूर्ण फिक्शन लेखकों में चंद्रशेखर रथ, शांतनु आचार्य, महापात्र नीलामनि साहू, रबि पटनायक, और जेपी दास प्रमुख हैं।

जगदीश मोहंती, कन्हैलाल दास, सत्य मिश्रा, रामचंद्र बेहरा, पद्मज पाल, यशोधरा मिश्रा तथा सरोजनी साहू ने बाद में फिक्शन में एक नए युग का सूत्रपात किया। जगदीश मोहंती को ओडिया साहित्य में अस्तित्ववाद को प्रस्तुत करने और एक प्रथा स्थापित करने वाला माना जाता है *(एकाकी अश्वारोही, दक्षिण दवारी घर, एलबम, दिपाहरा देखीनाथिबा लोकोति, नियां ओ अन्यन्या गल्पो, मेफेस्टोफेलसेरा, प्रुथुबी* (लघु कथा संग्रह), *निजा निजा पानीपाथा, कनिष्क कनिष्क, उत्तराधिकार* और *आद्रुश्या सकल* उनके उपन्यास हैं)। रामचंद्र बेहरा और पद्मज पाल को उनके लघु कहानियों के लिए जाना जाता है।

साहित्य में सौंदर्यता के समानांतर, 1960 के दशक के पश्चात् लोकप्रिय साहित्य का समानांतर चलन भी प्रकट हुआ। भागीरथी दास, कंदुरी दास, भगवान दास, विभूति पटनायक और प्रतिभा रे ओडिया साहित्य के सर्वाधिक बिकने वाले लेखक हैं। 1975 में शुरू होने वाली महिला पत्रिका सुचरित ने महिलाओं को उनकी बात कहने में बेहद मदद की। जयंती रथ, सुष्मिता बागची, परमिता सतपथी, हिरणमयी मिश्रा, चिराश्री इंद्रा सिंह, सैरिन्ध्रि साहू, सुप्रिया पांडा, गायत्री सर्राफ, ममता चौधरी इस समय के कुछ लोकप्रिय फिक्शन लेखक थे। सरोजनी साहू ने फिक्शन में नारीवादी एवं यौन-उन्मुखता शैली से एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

ओडिशा से लोकप्रिय विज्ञान लेखकों में गोकुलनंद महापात्र, गदाधर मिश्रा, देबकांत मिश्रा, सरत कुमार मोहंती, नित्यानंद स्वैन, शशिभूषण रथ, रमेश चंद्र परिदा, कमलकांत जेना एवं अन्य प्रमुख हैं।

पंजाबी

विद्वानों के अनुसार पंजाबी सौरसेनी अपभ्रंश से निकली है। इसकी उत्पत्ति 11वीं शताब्दी की बताई जाती है। कुछ विद्वान इसके विकास में पैशाची प्रभाव देखते हैं। आधुनिक पंजाबी के विकास को सिख गुरुओं द्वारा बनाई गई गुरुमुखी लिपि के समानांतर रखा गया है। साहित्यिक पंजाबी 15वीं शताब्दी में बन पाई गुरु नानक के समय से लेकर गुरु गोविंद सिंह के काल तक। धार्मिक काव्य बहुतायत में लिखा गया। इसका अधिकांश *आदि ग्रंथ* में देखा जा सकता है। पंजाबी कविता पर सूफी और किस्सा का प्रभाव था। बुल्ले शाह और वारिस शाह ने खूबसूरत गीत लिखे। वारिस शाह की *हीर रांझा* (1766) को क्लासिकल दर्जा प्राप्त है।

पंजाबी के प्रारंभिक गद्य को *जनम साखी* (गुरुओं का आत्मचरित), *परमारथ* और गुरुओं की वाणी में देखा जा सकता है। *प्रेम सुमार्ग* गुरु गोविंद सिंह ने लिखा। *पारस भाग* अद्दनशाह द्वारा और *ज्ञान रत्नावली* भाई मनी सिंह द्वारा लिखा गया।

जब ईसाई मिशनरियों ने लुधियाना में पहला छापाखाना लगाया, तब से ही आधुनिक पंजाबी साहित्य प्रारंभ हुआ। ब्रिटिश साम्राज्य के दौरान ब्रिटिश शिक्षा के माध्यम से पंजाबी साहित्य में विक्टोरियन उपन्यास, एलिजाबेथ नाटक, मुक्त पदबंध और आधुनिकीकरण का प्रवेश हुआ। प्रथम पंजाबी छापाखाना (गुरुमुखी लिपि का प्रयोग करने वाला) की स्थापना 1835 में लुधियाना में ईसाई मिशन द्वारा की गई, और प्रथम पंजाबी शब्दकोश का प्रकाशन रेवरेंड जे. न्यूटन द्वारा 1854 में किया गया।

पंजाबी कविता में आधुनिकीकरण का पर्दापण प्रोफेसर मोहन सिंह एवं शरीफ कुंजही द्वारा किया गया। ब्रिटिश शासन के दौरान पंजाबी देशभक्ति का जन्म भी हुआ और कविता लिखी गई जिसका विषय ब्रिटिश शासन के खिलाफ विद्रोह था। पंजाबी उपन्यास का विकास नानक सिंह (1897-1971) द्वारा किया गया जिन्होंने उपन्यास को कहानी-वाचन की परम्परा *किस्सा* से जोड़ने में मदद की। भाई वीर सिंह ऐतिहासिक रोमांस (*सुंदरी, सतवंत कौर,* और *बाबा नौध सिंह*) पर लिखा। वीर सिंह (1872-1957) को आधुनिक पंजाबी साहित्य का पिता माना जाता है। गुरुमुख सिंह मुसाफिर जैसे लेखकों ने राष्ट्रवादी भावना को बढ़ावा दिया। मोहन सिंह और अमृता प्रीतम कविता में प्रगतिशील तत्व लेकर आए। अमृता प्रीतम (1919-2005) के उपन्यास, लघु कथाएं, और कविताएं, अन्य विषयों के अलावा, ने महिला अनुभवों और भारत के विभाजन को प्रमुखता से चित्रित किया। धनीराम चातरिक, दीवान सिंह और उस्ताद दमन ने भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान एवं बाद में अपनी कविताओं द्वारा राष्ट्रवाद की अभिव्यक्ति की।

आधुनिक समय में पंजाबी फिक्शन ने आधुनिकतावादी एवं उत्तरोत्तर-आधुनिकतावादी साहित्य में विषयों का विस्तार किया। अजित कौर और दिलीप कौर तिवाना जैसी महिला लेखिकाओं ने अपने कार्य में सांस्कृतिक पितृसत्ता और महिला की दुर्दशा पर प्रश्न खड़ा किया।

आधुनिक पंजाबी नाटक का विकास ईश्वर नंदा के 1913 में *सुहाग* के

माध्यम से हुआ। गुरशरण सिंह ने इस शैली को पंजाबी गांवों में साक्षात् प्रस्तुति के माध्यम से लोकप्रिय बनाया। संत सिंह सेखोन, करतार सिंह दुग्गल, और बलवंत गार्गी ने नाटकों का लेखन किया।

संथाली

संथाली, भारत, बांग्लादेश, नेपाल और भूटान में लगभग 6 मिलियन लोगों द्वारा बोली जाती है, ऑस्ट्रो-एशियाटिक भाषाओं के संथाली उप-परिवार में एक भाषा है। यह हो एवं मुंडारी से सम्बद्ध है। झारखंड, असम, बिहार, ओडिशा, त्रिपुरा और पश्चिम बंगाल जैसे राज्यों में संथाली भाषी लोग हैं।

ब्रिटिश शासन के दौरान संथाली भाषा रोमन लिपि में लिखी जाती थी। अब, संथाली देवनागरी लिपि में लिखी जाती है। संथाल लिपि पारस्परिक रूप से वर्तमान विकास की है। बीसवीं शताब्दी तक, संथाली की लिखित भाषा नहीं थी, और यह लेटिन या रोमन, देवनागरी और बांग्ला लेखन तंत्र का प्रयोग करती थी। बंगाली भाषा के साथ इसकी समानता के कारण अधिकतर शिक्षित संथाली लेखकों ने इसे बंगाली में लिखने पर तवज्जो दी।

कुछ लोगों द्वारा संथाली की एक पृथक् लिपि की आवश्यकता महसूस की गई। इसके परिणामस्वरूप 01 चिकी लिपि का आविष्कार हुआ। इस लिपि की खोज पंडित रघुनाथ मरमु, जो गुरु गोमके के तौर पर जाने जाते हैं, ने 1925 में की। उन्होंने 150 से अधिक पुस्तकें लिखीं जिनमें विभिन्न विषयों की व्यापक शृंखला का समावेश था। इनके कामों में संथाली में व्याकरण, उपन्यास, नाटक, कविता और लघु कथाएं शामिल हैं। उनके कार्यों में सर्वाधिक प्रशंसनीय कार्य *डेरगे धान, सिद्धू-कानहू, बिडू चंदन* और *खेरवाल बीर पंडित* शामिल हैं।

सिंधी

इस बात पर विवाद है कि सिंधी भाषा कितनी पुरानी है और किस भाषा समूह से संबंधित है। कई विद्वान इसे भारतीय-आर्य भाषा मानते हैं तो कुछ इसे सिंधु घाटी सभ्यता की भाषाओं में से एक मानते हैं यानी संस्कृत से भी पहले की। सिंधी के पास 1853 तक अपनी लिपि नहीं थी। बाद में इसने अरबी अक्षर अपनाए। सिंधी की प्रारंभिक कविता 14वीं शताब्दी की मानी गई है, जिसमें ममोई संतों द्वारा लिखित *बयत* है। कादी कदान पहले उल्लेखनीय कवि थे।

शाह करीम सूफी कवि थे। सिंधी के सबसे महान कवि हुए हैं शाह अब्दुल लतीफ (17वीं श्ताब्दी के अंत में), जिनके कविता संग्रह *रसालो* में गूढ़ विचारों और भाषाई चमत्कार का समन्वय मिलता है। इनके अलावा अब्दुल वहाब (सचल) और भाई चैनराय (सामी) हुए, जिनमें चैनराय वेदांती थे। फारसी कविताओं का प्रभाव अठारहवीं शताब्दी के प्रारंभ से देखा जा सकता है, जब *गजल, कसीदा, रूबाई,* और *मतनवी* ने सिंधी साहित्य में स्थान पाया। विषय वस्तु भी बदली और अब रूमानियत को प्रमुखता दी जाने लगी। खलीफो गुल मुहम्मद 'गुल' पहले सिंधी कवि थे, जिन्होंने 'दीवान' की रचना की। किशनचंद्र 'बेबस' ने पारंपरिक प्रेम गीतों की बजाय प्रकृति पर कविताएं लिखीं।

सिंध पर अंग्रेजों के अधिकार के बाद सिंधी गद्य लेखन को प्रोत्साहन मिला। कई व्याकरण और शब्दकोश प्रकाशित हुए। इसके अलावा धर्म, कला और विज्ञान पर भी पुस्तकें छपीं। सिंधी के प्रबुद्ध गद्य लेखकों में है मुंशी ऊधोराम, दीवान लीलाराम सिंह, दयाराम गिदुमल और मिर्जा कलीच बेग। मिर्जा बेग उपन्यासकार भी थे *(दिलाराम, जीनत)।* अन्य उपन्यासकारों में लालचंद्र अमरदीनोमल *(चौथ जो चांद),* अब्दुल रज्जाक *(जहांआरा),* भेरूमल *(आनंद सुंद्रिका),* निर्मलदास फतेहचंद *(दलुराई जी नगरी),* गुली कृपलानी *(ईथाड),* राम पंजवानी *(कैरी)* और नारायण दास भंनानी (मल्हिन) हैं।

जहां तक नाटकों की बात है, मिर्जा बेग ने *लैला मजनूं* (1880) से शुरूआत की थी। खानचंद दरयानी ने कई मौलिक नाटक लिखे। अहमद चागला और लेखराज अजीज ने भी सिंधी नाटकों को काफी समृद्ध किया।

मीर हसन अली और मीर अब्दुल हुसैन सांगी, खेलीफो गुल, फाजिल शाह, कासिम, हाफिज हमीद, मोहम्मद हाशिम, मुखलिस, अबोजहो, सूरत सिंह, खाकी, मिर्जा कालिच बेग, जिया एवं अजीज पारसी में कविता के प्रमुख उन्नायक थे। लेकिन 'बेवास' हैदर बक्स जटोई एवं दुखयाल द्वारा आधुनिक रूप एवं सिंधी कविता सामाग्री को नई बुलंदी दी गई। उपन्यास एवं लघु कथाएं गद्य का मुख्य रूप बन गए। द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान नरेन दास भम्भानी, गोविंद मालही, सुशीला जे. लालवानी, सुंदरी उत्तमचंदानी, पोपती हीरानंदानी, उस्मान देपलई, जमाल अब्रो, शेख अयाज, राशिद भट्टी, हाफिज अखुंण्ड, तारिक आलम अब्रो, ईश्वर चंदर, मानक, इश्तियाक अंसारी, केहर शौकत, मुश्ताक शोरो, शौकत शोरो,

आदिल अब्बासी, राजा अब्बासी रहमतुल्लाह मनजोथी, बादल जमाली, इशाक अंसारी, मुनावर सिराज, इस्माइल मैंगियो, फयाज चंद कालेरी और अयाज अली रिंड जैसे उपन्यासकारों एवं लघु कथा लेखकों का अभ्युदय हुआ।

विगत् कई दशकों के लिए, *कैफी, वेई, बेत, गीत* और *दोहिरा* जैसे कविता के शास्त्रीय रूपों के साथ-साथ मुक्त छंद, अलंकारों की भी रचना की गई। आज के सिंध के प्रसिद्ध कवियों में मख्दूम तालिबुल मोला, उस्ताद बुखारी, शेख अयाज, दरिया खान रिंड, मख्दूम अमीन फाहिम और इमदाद हुसैनी शामिल हैं।

1952 में, नूर-उद-छीन सरकी और अब्दुल गफूर अंसारी ने सिंधी भाषा के साहित्यिक मंच का पुनर्निर्माण किया और इसका नाम सिंधी भाषा के साहित्यिक मंच का पुनर्निर्माण किया और इसका नाम सिंधी अदबी संगत रखा गया। इसने पूरे विश्व में अधिकतर सिंधी साहित्यिक व्यक्तित्वों को आकर्षित किया है। पाकिस्तान में इसकी शाखाओं के अतिरिक्त भी अब विश्व में कई जगह इसकी शाखाएं खुल रही हैं।

बंटवारे के बाद सिंध का प्रांत पाकिस्तान को मिला, लेकिन हमारे देश के हर कोने में सिंधी मौजूद हैं। भारत में सिंधी साहित्य काफी प्रगति कर रहा है।

तमिल

द्रविड़ भाषाओं में सबसे पुरानी तमिल को संस्कृत की भांति क्लासिकल और अन्य भारतीय भाषाओं की भांति एक आधुनिक भाषा भी माना जाता है। तमिल साहित्य की निरंतरता दो हजार सालों से बनी हुई है। सबसे प्राचीन तमिल रचना का समय बता पाना कठिन है। विद्वान सहमत हैं कि *तोलकाप्पियम* सबसे प्राचीन और वर्तमान में भी विद्यमान तमिल व्याकरण और साहित्यक रचना है। इसे संगम साहित्य से भी पुराना माना जाता है। इसका रचनाकाल तीसरी शताब्दी ई.पू. माना जा सकता है। किंतु कुछ विद्वान इसे 4 या 5 वीं शताब्दी ईस्वी का मानते हैं। इस रचना को तमिल साहित्य का आदिस्रोत मान सकते हैं। संस्कृत का प्रभाव इस पर नाममात्र का था। इसके रचयिता तोलकाप्पियार संभवतः अगस्त्य ऋषि के शिष्य थे, जिन्होंने *अगात्तियम* लिखा।

तमिल साहित्य का प्रारंभिक ज्ञात चरण संगम साहित्य के नाम से जाना जाता है, क्योंकि पांड्य राजाओं के मदुरई दरबार में मूर्धन्य कवियों की उपस्थिति से सभी साहित्यिक रचनाओं पर नजर रहती थी और इन विद्वानों का समूह ही

'संगम' कहलाता था। यद्यपि प्रारंभिक रचनाओं का अधिकांश भाग नष्ट हो चुका है, लेकिन सामान्यतः संगम साहित्य को 300 ई.पू. और 200 ई. के बीच का मानते हैं। उपलब्ध संगम साहित्य के दो भाग हैं, *अहम* जिसका प्रमुख विषय प्रेम है व पुरम, जिसका प्रमुख विषय युद्ध है।

तिरुवल्लुवर के 'तिरूक्कुरल' को उल्लेखनीय कृति माना जाता है, जो *धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र* और *कामसूत्र* से लिया गया है। इसमें गुण, सम्पत्ति और प्रमोद का वर्णन है। मुनरूराई अरईयर द्वारा लिखित *पलमोली* में **लोकोक्ति** द्वारा नैतिकता के वर्णन का नया तरीका अपनाया गया है। इलांगो आदिगल द्वारा लिखित *सिलप्पादिकरम* और सत्तानर द्वारा लिखित *मनिमेकलाई* महाकाव्यों को ईसा पश्चात् की प्रारंभिक शताब्दी का माना जाता है। बाद में तीन और महाकाव्य लिखे गए *जीवक चिंतामणि* (जैन लेखक द्वारा), *वलयपति* और *कुंद लकेसी*। इनमें से आखिरी दो नष्ट हो गए हैं।

संगम युग की समाप्ति पर भक्ति कविताओं का उदय हुआ शैव और वैष्णव। शैव तिरूज्ञान समबंदर ने कई तेवरम श्लोक लिखे। अन्य शैव नयनार हैं तिरूनानुक्करसर, सुंदरर और मनिक्कवयकर (जिसने *तिरूवचकम* लिखा)। अलवर वैष्णव परम्परा को मानने वालों में सबसे मशहूर नम्मालवर *(तिरूवयमोली)* और अंदाल (तिरूप्पावई) थे। वैष्णव कवियों के कार्य को दिव्य प्रबंध कहा जाता है। ओट्टाकुट्टन चोल दरबार के कवि थे। तंजावुर जिले का कुट्टानुर गांव इसी कवि को समर्पित है। कंबन ने *रामायण* का तमिल में अनुवाद किया। उन्होंने उसे *रामनाटक* कहा। वह किसी भी मायने में कोरा अनुवाद नहीं था। उसमें कथ्य, संरचना और चरित्र चित्रण में उनका अपना काम नजर आता है। चोल और पांड्य के बाद तमिल साहित्य में गिरावट आनी शुरू हुई, पर 15वीं शताब्दी में अरुणागिरीनाथर ने सुप्रसिद्ध *तिरूप्पुगज* की रचना की। इस काल के वैष्णव विद्वानों ने धार्मिक रचनाओं की टीकाएं लिखीं। वेदांत देसिकर, मानवला महामुनि, पिल्लै लोकाचार्य जैसे व्यक्तित्वों को मदुरई के तिरुमला नायक का संरक्षण प्राप्त था। *तोलकाप्पियम* और *कुराल* पर बेहतरीन टीकाएं लिखी गईं।

18वीं शताब्दी में तमिल साहित्य पर ईसाई और मुस्लिम प्रभाव देखा गया। उमरूप्पुलवर ने हजरत मोहम्मद की जीवन गाथा पद्य में लिखी *सिराप्पुरनम*। फादर बेशी जैसे ईसाई मिशनरियों ने तमिल में लेखन के एक रूप में आधुनिक

गद्य की शुरूआत की। उनका *तेम्बावानी* संत जोसफ के जीवन पर एक महाग्रंथ है। उनकी *अविवेक पूर्ण गुरु कथाई* को तमिल में कहानी की शुरूआत कहा जा सकता है। वेदनायगम पिल्लै और कृष्णा पिल्लै तमिल के दो ईसाई कवि हैं। इस काल की अन्य महत्वपूर्ण रचनाओं में राजप्पाकबिरायर का *कुट्टाल-ताला-पुराणम* और *कुतराला-कुरावंची* तथा *शिवाज नानामुनिवर मापादियम* हैं, जो शिव-ज्ञान बोधम पर एक टीका है। आर.काल्डवेल और जी.एम. पोप ने विश्वभर में अंग्रेजी अध्ययन और तमिल क्लासिक रचनाओं के अनुवाद के माध्यम से तमिल को व्यापकता प्रदान की। वेदनायकम पिल्लै का *प्रतापमुदलियार चरित्रम* तमिल का पहला उपन्यास था।

18वीं और 19वीं शताब्दियों के दौरान तमिलनाडु के राजनीतिक परिदृश्य में परिवर्तन परिलक्षित हुए। तमिल समाज एवं संस्कृति को पश्चिमी संस्कृति के प्रभाव से बड़ा धक्का लगा। शैव मठों ने तमिल सांस्कृतिक मूल्यों की रक्षा का प्रयास किया। तिरुववदुथुरई, धरमपुरम, थिरूपप्पनथल एवं कुंद्रकुडी में स्थित शैव मठों में मीनाक्षी सुंदरम पिल्लई (1815-1876) जैसे शिक्षक थे, जिन्होंने 80 से अधिक पुस्तकों की रचना की जिनमें 200,000 से अधिक कविताएं हैं। गोपालकृष्ण भारथी ने कई कविताएं एवं गीत लिखे। रामालिंगा अडिगल (वालालर) (1823-1874) ने भक्ति कविता *तिरुवरूतप* लिखी।

तमिल भाषा में उपन्यास एक साहित्य की शैली के रूप में 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में आया। मेयुराम वेदनयगम पिल्लई ने प्रथम तमिल उपन्यास *प्रथम मुदालियार चरिथरम* (1879) लिखा। *कमलमबल चरितम* 1893 में बी.आर. राजम अय्यर ने लिखा और *पदमावथी चरितम* ए. माधविहा ने 1898 में लिखा। डी. जयकांथन को आधुनिक समय के तमिल उपन्यासों के वास्तविक ट्रेंड सेटर के तौर पर देखा जाता है। उनके साहित्य में जटिल मानव प्रकृति और भारतीय सामाजिक वास्तविकता की गहरी एवं संवेदनशील समझ को प्रस्तुत किया गया है।

1990 के दशक से जे. मोहन, एस. रामकृष्णनन और चारू निवेदिता जैसे लेखकों का पदार्पण हुआ। अन्य भाषाओं से अनुदित उपन्यास (उरूमातरम, सिलुवयली थोगुंम साथन, *थोगुम अझागिगलिन इल्लम*) भी लोकप्रिय हुए। अमरंथा, लथा एवं रामकृष्णनन ने इस क्षेत्र में योगदान दिया।

1940-1960 के दशकों में, कल्कि कृष्णामूर्ति ने प्रसिद्ध ऐतिहासिक एवं सामाजिक फिक्शन लिखे। चांडिल्यिन ने कई ऐतिहासिक बेहद लोकप्रिय रोमांस उपन्यासों की रचना की। 1930 के दशक से तमिलनाडु में अपराध एवं खोजबीन (डिटेक्टिव) फिक्शन ने व्यापक लोकप्रियता हासिल की। इस समय के लोकप्रिय लेखक कुरूंबुर कुप्पुसामी और वादुवुर दुरईसामी आयंगर थे, और 1980 के दशक से सुभा, पट्टुकोटई प्रबाकर और राजेश कुमार प्रमुख लेखक रहे।

20 शताब्दी में तमिल ने काफी उन्नति की। सुब्रमण्यम भारती की कविताओं ने पाठकों में राष्ट्रीय और देशभक्ति की भावना जगाई, क्योंकि उन्होंने व्यक्तिगत स्वतंत्रता, राष्ट्रीय स्वतंत्रता और मानव जाति की समानता पर लिखा। उनके *कोयलपट्टू, कान्ननपट्टू* और उनका नाट्य काव्य *पांचाली शबदम* में एक आध्यात्मिक बल है। उन्हें एक साहित्यिक प्रतियोगिता में 'भारती' उपनाम दिया गया था। उन्होंने *दैनिक इंडिया* की स्थापना की तथा *स्वदेश मित्रम* के लिए काम किया। वी.कल्याण, सुंदर मुदलियार और वी.ओ. चिदम्बरम पिल्लै ने पत्रकारिता को नई ऊंचाई प्रदान की। आधुनिक कहानी का श्रेय वी.वी.एस. अय्यर को जाता है और उसे स्थापित किया कुडुमाईपित्थन, आर. कृष्णमूर्ति (काल्की) और एम.वरदराजन ने। सी. राजगोलाचारी ने क्लासिक्स को सामान्य गद्य में पुनर्भाषित किया, ताकि वह आम आदमी को समझ आ सके। स्वतंत्रता के बाद अनेक प्रतिभाशाली लेखक प्रकाश में आए; जैसे का-ना सुब्रमण्यम, पी. वी. अखिलंदम (ज्ञानपीठ पुरस्कार विजेता), इंदिरा पार्थसारथी, नीला पद्मनाभन्, जयकांतन और अन्य।

तेलुगू

तेलुगू का इतिहास 7वीं शताब्दी से मिलना शुरू होता है, किंतु साहित्यिक भाषा के रूप में संभवतः वह 11वीं शताब्दी में सामने आई, जब नन्नाया ने महाभारत का इस भाषा में अनुवाद किया। हालांकि नन्नाया की रचना शैली नवीनता के कारण मौलिक लगती है। भीम कवि ने तेलुगू व्याकरण के साथ-साथ *भीमेश्वर पुराण* भी लिखा। नन्नाया द्वारा शुरू किए गए *महाभारत* के काम को टिक्काना (13वीं शताब्दी.) तथा येरान्ना (14वीं शताब्दी) ने जारी रखा।

14वीं-15वीं शताब्दी में तेलुगू साहित्य का एक रूप विकसित हुआ, जिसे

प्रबंध कहा गया (छंद में कहानी)। इसे लोकप्रिय बनाया श्रीनाथ ने। इसी अवधि में *रामायण* का तेलुगू में अनुवाद हुआ। ऐसा ही सबसे पहले किया गया कार्य गोना बुद्ध रेड्डी द्वारा *रंगनाथ रामायण* था। पोटन, जक्काना और गौराना आज के चर्चित धार्मिक कवि हैं। वेमना ने नैतिकता पर *शतक* लिखा।

विजय नगर के कृष्णदेव राय के शासनकाल को इस भाषा के साहित्य का स्वर्णयुग माना जाता है। कृष्णदेवराय का *अमुक्तमाल्यद* एक अद्वितीय रचना है। अल्लासानी पेद्दाना एक अन्य महान कवि थे, जिन्होंने *मनुचरित* लिखा। नंदी थिम्माना की *पारिजातपाहरनम* एक अन्य प्रसिद्ध कृति है। तेनालीरामा कृष्ण की लोकप्रियता उसके कवि होने और कृष्णदेव राय के दरबार में विदूषक होने की वजह से थी। उसने *पांडुरंग महामाया* लिखी। विजयनगर के पतन के बाद तेलुगू साहित्य नायक शासकों की राजधानियों में फला-फूला।

कुमारगिरी वेम्मा रेड्डी (वेमना) ने 14वीं शताब्दी के दौरान आम भाषा एवं लोकोक्तियों का प्रयोग करके तेलुगू में लोकप्रिय कविताएं लिखीं। बामेरा पोतनामत्या (1450-1510) को उनके अनुवाद *भागवत पुराण, आंध्र महा भागवतामू,* और *भोगिनी दंदाकम* के लिए जाना जाता है। उनके कार्य *वीरभद्र विजयामू* शिव के पुत्र वीरभद्र के पराक्रमों का वर्णन है। तालपक्का अन्नामाचार्य (या अन्यामाया) (15वीं शताब्दी) को तेलुगू भाषा का *पड-कविता पितामह* माना जाता है। अन्नामाचार्य ने भगवान गोविंदा वेंकटेश्वरा पर 32,000 से अधिक *संकीर्तनों* (गीतों) का संकलन किया है, लेकिन आज मात्र 12,000 ही उपलब्ध हैं। अन्नामाचार्य की पत्नी, थिमक्का (तलापका तिरुमलाम्मा), ने सुभद्रा कल्याणम लिखा, और उन्हें तेलुगू साहित्य की प्रथम महिला कवि माना जाता है। अलासनी पेडन्ना (15-16वीं शताब्दी) को *अष्टडिग्गालू,* कृष्णदेवराय के दरबार के आठ कवियों का समूह, में अग्रणी स्थान प्राप्त था। पेडन्ना ने प्रथम सबसे बड़ा प्रबंध लिखा जिस कारण उन्हें *आंध्र कविता पितामह* (तेलुगू कविता का ग्रांडफादर) माना जाता है। उनके अन्य प्रसिद्ध कार्यों में *मनु चरित* और *हरिकथासारामू* शामिल हैं। तंजौर के त्यागराजा (1767-1847) ने तेलुगू में भी भक्ति गीतों का संकलन किया। 600 संकलनों *(क्रिटिस)* के अतिरिक्त त्यागराजा ने तेलुगू में दो संगीतमयी नाटकों *प्रहलाद भक्ति विजयम* और *नौका चरितम* का निर्माण किया।

आचार्य आत्रेय (1921-1989) तेलुगू फिल्म उद्योग के नाटककार, गीतकार

और पटकथा लेखक थे। मानव मन एवं आत्मा पर कविता के लिए प्रसिद्ध, आत्रेय को *मानासू कवि* का खिताब दिया गया।

डेल्टा क्षेत्र की सामान्य आर्थिक समृद्धि के परिणामस्वरूप वहां विद्यालयों एवं कॉलेजों की स्थापना से शिक्षा का विस्तार हुआ और पश्चिमी शिक्षा के मध्यवर्गीय शिक्षितों का जन्म हुआ।

तेलुगू पत्रकारिता की शुरुआत मुख्य रूप से धार्मिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक जर्नल से हुई। *सत्योदय* प्रथम तेलुगू जर्नल था जिसे मद्रास में (अब चेन्नई) बेलारी के ईसाई संगठनों द्वारा प्रकाशित किया गया। मिशनरियों के प्रचार को रोकने के लिए वेद समाज द्वारा *तत्वबोधिनी* का प्रकाशन प्रारंभ किया गया। राय बहादुर के. वीरसिंगलिमय पंटुलू में प्रथम आधुनिक जर्नल *विवेकानंदिनी* प्रकाशित किया जो सामाजिक एवं भाषा सुधार को समर्पित थे। उन्होंने 3 जर्नल महिलाओं के लिए *सहिताबोधिनी, हास्यवर्धिनी* और *सत्यवादिनी* प्रकाशित किए। पंटुलू को आंध्र प्रदेश के पुनर्जागरण आंदोलन का पिता माना जाता है।

राजमुंदरी, कोकानाडा, बेजावाडा, मछलीपट्टनम, अमलापुरम और नरसापुरम पत्रकारिता के केंद्र बन गए। *आंध्रभाषा संजीवनी,* वेंकटरम पंटुलू द्वारा संपादित, बेहद लोकप्रिय हो गई, जो एक साप्ताहिक पत्रिका है। *आंध्र प्रकाशिका* का प्रकाशन ए.पी. पार्थसारथी नायडू द्वारा मद्रास से किया गया। देवगुप्ता शेषचल राव ने *देशभिमानी* प्रारंभ किया, जो बाद में प्रथम तेलुगू डेली बन गया।

तेलुगू प्रेस ने एक पृथक् तेलुगू पहचान बनाने में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई और एक पृथक् आंध्र राज्य की मांग की।

तेलुगू साहित्य का आधुनिक काल 19वीं शताब्दी में प्रारंभ हुआ। आरंभिक लेखकों में थे चिन्नाया सूरी और कंडुकुरी विरेसलिंगम। कंडुकुरी ने तेलुगू साहित्य की हर शाखा में अपनी छाप छोड़ी। उन्होंने पहला उपन्यास, पहला नाटक, तेलुगू कवियों पर पहला शोध प्रबंध, पहली आत्मकथा और विज्ञान पर पहली पुस्तक तेलुगू में लिखी। उन्होंने सामाजिक बुराइयां दूर करने के लिए साहित्य का सहारा लिया। इनके समकालीन लेखक थे चिलाकामार्ती नरसिंहमन, वेदम वेंकटाशास्त्री, सी.आर. रेड्डी, के.वी. लक्ष्मण राव, जी.अप्पा राव इत्यादि। वी. सत्यनारायण को ज्ञानपीठ पुरस्कार मिल चुका है।

उर्दू

वही खड़ी बोली जिसने हिन्दी को उन्नत किया था, उसी ने 11वीं शताब्दी में उर्दू को भी समृद्ध किया। पश्चिमी सौरसेनी अपभ्रंश उर्दू के व्याकरण विन्यास का स्रोत है, जबकि इस भाषा का शब्द संग्रह, उसके मुहावरे और साहित्यिक परंपराएं तुर्की और फारसी से काफी प्रभावित हैं। उर्दू का शाब्दिक अर्थ है 'शिविर'। अमीर खुसरो ने सबसे पहले इस भाषा का इस्तेमाल साहित्य के लिए किया। हालांकि, दक्षिण में बहमनी, गोलकुंडा और बीजापुर के राज दरबारों में उसे सबसे पहले साहित्यिक दर्जा हासिल हुआ। उर्दू शायरी के कुछ एक साहित्यिक रूप हैं *मसनवी, कसीदा, गजल, मर्सिया* और *नज्म।*

उत्तर में 18वीं शताब्दी के प्रारंभ में राजनीतिक उथल-पुथल के दौरान और फारसी के पतन के बाद उर्दू साहित्य फला-फूला। कुछ प्रसिद्ध लेखक हैं मिर्जा जान-ए-जानम मजहर, ख्वाजा मीर दर्द, मुहम्मद रफी सौदा और मीर हसन। जहां तक उर्दू गजल का प्रश्न है, उसमें मिर्जा असदुल्ला खां गालिब का नाम सबसे पहले आता है, जिन्होंने जीवन को उसके हर रंग रूप में पेश किया और शायद वह उर्दू के सबसे मौलिक शायर थे।

उर्दू को इसके विभिन्न प्रारंभिक रूपों में मुहम्मद उर्फी, अमीर खुसरो (1259-1325) और ख्वाजा मुहम्मद हुसैनी (1318-1422) के कार्य में देखा जा सकता है। उर्दू में प्रारंभिक लेखन दखनी (दक्कनी) बोली में है। सूफी संत दखनी उर्दू के शुरुआती प्रचारक रहे हैं। सूफी-संत हजरत ख्वाजा बंदा नवाज गेसूदराज को पहला दखनी उर्दू का लेखक माना जाता है (*मीराजुल अशिकिन* और *तिलावतुल वजूद*)। उर्दू भाषा में प्रथम साहित्यिक कार्य बीदर के कवि फकरुद्दीन निजामी द्वारा किया गया (पंद्रहवीं शताब्दी)। वली मोहम्मद या वली दखनी (दीवान) प्रमुख दखनी कवि थे जिन्होंने गजल शैली को विकसित किया। उनके गजल संग्रह एवं अन्य कवित्त शैलियों ने दिल्ली के कवियों को प्रभावित किया।

मध्यकाल की उर्दू शायरी पारसी कविता की छांव तले पल्लवित हुई। सिराजुद्दीन अली खान अर्जू और शेख सदुल्ला गुलशन उत्तर भारत में उर्दू के प्रारंभिक प्रोत्साहक थे। शेख गुलाम हमदानी मुसाफी, इंशा अल्लाह खान (*दरिया-ए-लताफत* और *रानी केतकी*), ख्वाजा हैदर अली आतिश, दया शंकर नसीम *(मथानवीः गुलजार-ए-नसीम),* नवाब मिर्जा शौक *(बहर-ए-इश्क,*

जहर-ए-इश्क, लज्जत-ए-इश्क) और शेख इमाम बख्श नासिख लखनऊ के शुरुआती शायर एवं कवि थे। मीर बाबर अली अनीस (1802-1874) ने खूबसूरत *मरसियास* लिखी।

आधुनिक उर्दू साहित्य में 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के समय से लेकर वर्तमान समय शामिल है। अल्ताफ हुसैन हाली [*(दीवान-ए-हाली, मद-ओ-जर-ए-इस्लाम* या *मुसादस्स-ए-हाली* (1879), *शक्वा-ए-हिंद* (1887), मुनाज्जत-ए-बेवा (1886) और *चुप की दाद* (1905)] को उर्दू शायरी में आधुनिक शैली का वास्तविक खोजी माना जाता है। 19वीं-20वीं शताब्दी के प्रमुख कवियों में सय्यद अकबर हुसैन अकबर अलाहबादी, मोहम्मद इकबाल और हसरत मोहानी थे। फणी बदायूंनी, शाद अजीमाबादी, असगर गोंदवी, जिगर मोरादाबादी, फैज अहमद फैज, अली सरदार जाफरी, कैफी आजमी, जन निसार अख्तर, साहिर लुधयानिवी, मजरूह सुल्तानपुरी, और इब्ने-ए-इंशा जैसे कवियों ने उर्दू शायरी को एक नई ऊंचाई दी।

आधुनिक समय में उर्दू को मात्र मुस्लिम लेखकों तक सीमित नहीं किया जा सकता। मुंशी प्रेमचंद, फिराक गोरखपुरी, पंडित रतन नाथ सरशार *(फसाना-ए-आजाद),* ब्रज नारायण चकबास्त, उपेन्द्र नाथ अश्क, जगन्नाथ आजाद, जोगेन्दर पाल, बलराज कोमल और कुमार पाशी जैसे कई अन्य धर्मों के लेखकों ने भी उर्दू साहित्य को अपना योगदान दिया।

प्रोफेसर हाफिज मोहम्मद शीरानी (1888-1945) ने उर्दू साहित्यिक आलोचना के क्षेत्र में लंबे समय तक काम किया। शेख मोहम्मद इकराम सय्यद इहेत्शाम हुसैन, मोहम्मद हसन असकरी, अले-अहमद सुरूर, मुमताज हुसैन, मसूद हुसैन, शम्स-उर-रहमान फारुकी, गोपीचंद नारंग, मुघनी तब्बसुम अन्य प्रमुख साहित्यिक आलोचक हैं।

फरंग-ए-असिफया प्रथम उर्दू शब्दकोश था। इसका सृजन 1892 में मौलाना सय्यद अहमद देहलवी द्वारा किया गया।

उर्दू गद्य का विकास बहुत धीरे-धीरे हुआ और सैयद अहमद खान ने गद्य को एक विशेष शैली प्रदान की। इस परंपरा को कृष्ण चंदर, सिज्जाद जहीर, के.ए. अब्बास, ईस्मत चुगताई जैसे प्रतिभाशाली लेखकों ने आगे बढ़ाया। कहानी के क्षेत्र में रूसवा *(उमरा जान अदा)* तथा प्रेमचंद का नाम आता है।

उर्दू लेखन में ज्ञानपीठ पुरस्कार विजेता हैं फिराक गोरखपुरी *(गुल-ए-नगमा)* तथा कुर्तुलेन हैदर *(आग का दरिया, पत्थर की आवाज)*। उर्दू को फारसी-अरबी लिपि और देवनागरी में लिखा जाता है।

फारसी भाषा और भारतीय साहित्य

गजनवी और गौरी वंश के साथ फारस के लोगों का भारत में आगमन हुआ। खिलजी काल भी भारत में फारसी साहित्य का महत्वपूर्ण दौर था, इस दौर की दो महत्वपूर्ण शख्सियत थीं अमीर खुसरो और शेख नज्मुद्दीन हसन, जो हसन-ए-देहलवी के नाम से ज्यादा मशहूर थे।

अमीर खुसरो ने काफी अधिक काम किया लेकिन उनकी पांच साहित्यिक कृतियों को ऐतिहासिक महत्व का माना जाता है। ये पांच कृतियां हैं *मुतला-उल-अनवार, स्तिरीन खुसरो, लैला मजनूं, आइन-ए-सिकंदरी* और *हश्त बहिश्त*। खुसरो के लेखन का बड़ा ऐतिहासिक महत्व है, उनके खजाइन-उल-फतह में अलाउद्दीन की विजय यात्राओं का उल्लेख है, *तुगलक-नामा* गयासुद्दीन तुगलक की तरक्की की दास्तान है और *मिफ्ता-उल-फतह* में जलालुद्दीन खिलजी की जीतों का ब्यौरा है। *नूह-सिफ़हर* में खुसरो ने काव्यरूप में कुतुबुद्दीन मुबारक शाह खिलजी के शासनकाल और भारत में मिलने वाली चीजों की खूबियों को सराहा है। हसन-ए-देहलवी ने ऐसी गजलें लिखीं कि उन्हें भारत में 'सादी' का नाम दे दिया गया। मोहम्मद बिन तुगलक के दरबार में कई इतिहासकार थे जिनमें दियाउद्दीन बरानी ज्यादा मशहूर हैं।

मुगल सल्तनत के साथ भारत में फारसी साहित्य का नया दौर आया। बादशाह बाबर ने अपनी जीवनी *तुजूक-ए-बाबरी* तुर्की में लिखी जिसका बाद में अब्दुल रहीम खान-ए-खाना ने फारसी में अनुवाद किया। हुमायूं की बहन गुलबदन बेगम गद्य लेखक थीं जिन्होंने *हुमायूंनामा* लिखा। अकबर के शासनकाल में, उसके दरबार में फारस के कई कवि आए। कई बेहतरीन ऐतिहासिक ग्रंथों की रचना हुई। अबुल फजल ने *अकबरनामा* और *आइन-ए-अकबरी* लिखी। मुल्ला निजामुद्दीन अहमद हरावी ने *तबाकुत-ए-अकबरी* और अब्दुल हदहलवी ने *धिक्र-उल-मुल्क* की रचना की। फिर आया सम्राट जहांगीर का दौर जिसमें जहांगीर ने खुद *तुजूक-ए-जहांगीरी* की रचना की। इसी दौर में मुतम्मद खां ने *इकबाल नामा,* मासूम बक्कारी ने *तारीख-ए-सिंध,* मलिक हैदर ने *तारीख-ए-कश्मीर* लिखी।

अब्दुल हमीर लाहौरी और मोहम्मद वारीज के *पाद्शाहनामा* तथा मोहम्मद सलीह कानबो के *शाहजहांनामा* में शाहजहां के शासनकाल का वर्णन मिलता है।

औरंगजेब खुद महान विद्वान था और फारसी भाषा में उसकी दक्षता के बारे में सब जानते हैं। आगिल खां राजी का *जफरनामा-ए-आलमगीरी,* मिर्जा मुहम्मद काजिम का *आलमगीरनामा* और भीमसेन का *दिलखुशा* औरंगजेब के दौर से संबंधित ऐतिहासिक रचनाएं हैं।

दारा शिकोह ने हिंदू और इस्लामी मजहब के आदर्शों को समेकित करने के लिए काफी कुछ किया। उसके कलमबद्ध किए *सीर-ए-अकबर* में बावन उपनिषदों का फारसी अनुवाद है।

भारतीयों का अंग्रेजी लेखन

अंग्रेजी विदेशी भाषा है, लेकिन ब्रितानियों के भारत आने के बाद से इस भाषा का विभिन्न क्षेत्रों पर असर रहा शिक्षा में, साहित्य क्षेत्र में और संप्रेषण के माध्यम के रूप में। भारतीय-अंग्रेजी (इंडो-एंग्लियन) साहित्य के अग्रदूतों में राजा राममोहन रॉय का नाम आता है जिनकी गद्य रचनाएं उल्लेखनीय हैं।

कई कवि हैं जिन्होंने भारत में रहते हुए अंग्रेजी में स्तरीय काव्य रचना की। इनमें प्रसिद्ध हैं हेनरी विवियन डेरोजियो, मधुसूदन दत्त, मनमोहन घोष और अरु एवं तरु दत्त।

अंग्रेजी में लिखने वाले एक बेहतरीन लेखक थे अरविंद घोष जिनकी काव्य रचना *सावित्री* एक महाकाव्य है। गद्य में उनका सबसे महत्वपूर्ण काम है *द लाइफ डिवाइन* जिसमें उन्होंने अपनी आध्यात्मिक सोच को प्रभावशाली भाषा में व्यक्त किया है।

रबिंद्रनाथ टैगोर ने भी काफी काम मूलतः अंग्रेजी में किया। उनकी ऐसी रचनाएं हैं *साधना पर्सनैलिटी* और *द रिलिजन ऑफ मैन*।

अंग्रेजी में लिखने वाली एक और भारतीय रचनाकार है 'भारत कोकिला'' सरोजिनी नायडू। उन्होंने आम विषयों के बारे में बड़े ही रंगीन और रूमानी अंदाज में लिखा। *द गोल्डन थ्रशहोल्ड, द बर्ड ऑफ टाइम और द ब्रोकेन विंग* उनकी महत्वपूर्ण रचनाएं हैं।

आज हमारे बीच निसिम इजकील, डॉम मोराएस, ए.के. रामानुजम, कमला दास और आर. पार्थसारथी जैसे लेखक हैं जो अंग्रेजी में लिख रहे हैं।

जवाहरलाल नेहरू की गद्य रचनाएं *द डिस्कवरी ऑफ इंडिया* और *ग्लिम्सेज ऑफ वर्ल्ड हिस्ट्री* भी लोकप्रिय रचनाएं हैं।

उपन्यास लेखने के क्षेत्र में शुरूआती दौर के लेखकों में मुल्कराज आनंद और आर.के. नारायण ने खूब नाम कमाया। मुल्कराज आनंद के उपन्यास *कुली, अनटचेबल, द बिग हार्ट* आदि रचनाएं भारत के गरीबों पर आधारित हैं। आर. के. नारायण मालगुडी नाम के उस काल्पनिक स्थान के लिए मशहूर हो गये जहां उनके लगभग सभी उपन्यासों के पात्र रहते हैं। उनका अंदाज व्यंगमय है और अपने इर्द-गिर्द के हास्य को उन्होंने अपनी रचनाओं में समेट लिया है। उनकी प्रमुख रचनाएं हैं *स्वामी एंड हिज फ्रेंड्स, द डार्क रूम, द गाइड, वेटिंग फॉर द महात्मा और द मैनईटर ऑफ मालगुडी।*

राजा राव अच्छे लघुकथा लेखक हैं तथा उनके द्वारा रचित उपन्यास *कांथापुरा, द सर्पेंट एंड द रोप* और *द कैट एंड शेक्सपीयर* खासी अहमियत रखते हैं। कमला मार्कंडेय ने *नेक्टर इन ए सीव, सम इनर फ्यूरी* और *ए साइलेंस ऑफ डिजायर* जैसे स्तरीय उपन्यासों की रचना की है। खुशवंत सिंह *(ट्रेन टू पाकिस्तान),* मनोहर मलगांवकर *(डिस्टेंट डॉन)* और भबानी भट्टाचार्य *(सो मेनी हंगर्स, ही हू राइड्स टाइगर्स, म्यूजिक फॉर मोहिनी)* अन्य भारतीय उपन्यासकार हैं जो अंग्रेजी में लिख रहे हैं।

हाल ही में नयी प्रतिभाओं की एक पूरी फसल तैयार हुई है। भारत में जन्मे लेखक सलमान रशदी *मिडनाइट चिल्ड्रेन* और *शेम* से मशहूर हुए। उनकी *सैटेनिक वर्सेज* काफी विवादित रही और भारत में इसे इसलिए प्रतिबंधित कर दिया गया ताकि मुसलमानों की भावनाओं को ठेस न पहुंचे।

विक्रम सेठ ने एक पूरा उपन्यास ही पद्य में लिख डाला। उनका यह उपन्यास *द सूटेबल ब्वॉय* इसलिए और चर्चित रहा क्योंकि इसके लिए उन्हें प्रकाशक से अग्रिम धन के रूप में बहुत बड़ी रकम मिली थी। शशि थरूर *(द ग्रेट इंडियन नॉवेल, शो बिजनेस),* अमिताभ घोष *(सर्कल ऑफ रीजंस, शैडो लाइंस)* और उपमन्यु चटर्जी *(इंग्लिश अगस्त)* ने उभरते हुए युवा उपन्यासकारों के रूप में नाम कमाया।

साहित्यिक क्षेत्र की ख्यातिप्राप्त हस्तियां

(उन नाटककारों और लेखकों को छोड़कर जिनकी चर्चा पहले हो चुकी है)

अबुल फजल सोलहवीं सदी के मुस्लिम विद्वान और अकबर के शासनकाल के इतिहासकार।

अलबरूनी इनके बचपन का नाम अबु रिहां मोहम्मद था। ये सुल्तान महमूद के साथ भारत आये थे। इनकी रचना *तारीख-ए-हिंद* से हिंदुओं के विचारों और उनकी परंपराओं की काफी जानकारी मिलती है।

भारवी छठी शताब्दी के संस्कृत कवि, जिन्होंने *किरातार्जूनियम्* की रचना की।

भतृहरि सातवीं शताब्दी के संस्कृत लेखक जिन्हें तीन शतकों का श्रेय जाता है। वह दार्शनिक और व्याकरणविद थे।

भट्टी संभवतः छठी-सातवीं शताब्दी के कवि, भट्टी ने *भट्टिकाव्य* या *रावणवध* की रचना मुख्यतः व्याकरण और नियमावली की व्याख्या के लिए की थी।

बिल्हण ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी के संस्कृत लेखक थे, वह तदकाली चालुक्य राजा के दरबारी थे और उन्होंने *विक्रमांकदेवचरित* की रचना की। काव्य रचना *चौरपंचसिका* भी उन्हीं की रचना थी।

बंकिम चंद्र चटर्जी उन्नीसवीं सदी के अग्रणी बांग्ला उपन्यासकार जिन्होंने *आनंदमठ* की रचना की जिससे भारत का राष्ट्रगीत वंदे मतृरम उद्धृत किया गया है। उनके दूसरे उपन्यास हैं *देवी चौधरानी, सीताराम* और *कमला कांता।*

शरत चंद्र चटर्जी उन्नीसवीं-बीसवीं शताब्दी के सामाजिक सोच वाले बांग्ला उपन्यासकार जिनकी रचनाओं में मानवीयता और कालांतर से चली आ रही सामाजिक मान्यताओं की सूक्ष्म विवेचना मिलती है। उनकी प्रमुख रचनाएं हैं *श्रीकांत, पाली समाज, पंडित मोशाय* और *शेष प्रश्न।*

सुभद्रा कुमारी चौहान महाकौशल में, सत्याग्रह में भाग लेने वाली यह कवियत्री अपने ओजस्वी गीत *झांसी की रानी* के लिए जानी जाती हैं। उन्हें अपनी कविताओं के संग्रह *मुकुल* और लघु कथा संकलन *बिखरे मोती* के लिए सेकसरिया पुरस्कार मिला।

दंडी सातवीं शताब्दी के संस्कृत लेखक थे जिन्हें साहित्य समीक्षक के रूप में ख्याति प्राप्त है। *अवंतिसुंदरी* उन्हीं का उपन्यास है जिसका एक अंश अलग से *दासकुमारीचरित* के नाम से प्रसारित हुआ।

असदुल्लाह खां गालिब उन्नीसवीं सदी के महान उर्दू शायर, मिर्जा गालिब अपनी गजल और दीवान के लिए मशहूर हैं। उन्होंने मुगल वंश का इतिहास, *दस्तान्बो,* 1857 के गदर का घटनाक्रम और *कती बुरहान* नाम से एक आलोचनात्मक रचना भी की।

गुनाध्य पहली या दूसरी शताब्दी के इस लेखक की *बृहतकथा* पैसाची बोली में रोचक कथाओं का संकलन है। बाद में बहुत से लेखकों ने इन्हीं कथाओं को श्रृंगार रस की कहानियों का आधार बनाया।

हाला पहली शताब्दी के सातवाहन राजा और संस्कृत कवि थे जिन्होंने *सप्तशती* की रचना की।

कबीर पंद्रहवीं सदी के संतकवि थे जिनकी मिलीजुली बोली की काव्य रचनाओं में बहुत वृहद शब्दावली मिलती है जिसमें अरबी और फारसी के शब्द भी हैं।

कल्हण बारहवीं सदी के संस्कृत कवि जिनकी रचना रजतरंगिनी में कश्मीर के राजाओं का इतिहास मिलता है।

कालिदास उज्जैन के राजा विक्रमादित्य से जुड़े कालिदास संस्कृत के नाटककार और गीतकार थे। उनकी रचना *मेघदूतम्* काव्य का अद्वितीय उदाहरण है। *रघुवंशम्* और *कुमार संभवम्* उनके महाकाव्य हैं। उनकी रचनाओं में सौंदर्य का बड़ी संवेदनशीलतापूर्वक वर्णन मिलता है।

कात्यायन दूसरी या तीसरी शताब्दी के अत्यंत प्रतिष्ठित संस्कृत व्याकरणविद थे जिन्होंने अष्टाध्यायी पर टीका किया। उनकी इस रचना का नाम *वर्तिका* है।

कौटिल्य *अर्थशास्त्र* जैसी महान कृति के लेखक, चौथी शताब्दी के सम्राट चंद्रगुप्त मौर्य के मुख्यमंत्री विद्वान कौटिल्य को चाणक्य और विष्णुगुप्त नामों से भी जाना जाता है। प्रशासन की दिग्दर्शिका रूपी अर्थशास्त्र में न्याय को राजा के कर्तव्य में प्रमुख माना गया है। कौटिल्य को *प्रिंस* के इतालवी लेखक मैकविली का भारतीय समकक्ष माना जाता है।

कुमारन आसन श्री नारायण गुरू के अनुयायी, कुमारन वर्ण व्यवस्था और सामाजिक अन्याय के कड़े विरोधी थे। उन्होंने श्रेष्ठ कविताओं की रचना की। *नलिनी, लीला* और *फॉलेन फ्लावर* उनकी सबसे लोकप्रिय कविताएं हैं।

माघ सातवीं शताब्दी के संस्कृत कवि जिन्होंने महाकाव्य *शिशुपाल वधम्* की रचना की, जिसके पद अत्यंत लयात्मक हैं।

पाणिनी विश्व में व्याकरण के पहले ग्रंथ *अष्टाध्यायी* के रचनाकार। अट्ठारहवीं सदी में इस रचना के यूरोपवासियों के हाथ लगने के बाद फिलोलॉजी के नये विज्ञान के विकास में तेजी आई।

पातंजलि संस्कृत के विद्वान जिनका *महाभाष्यम्* पाणिनी के व्याकरणशास्त्र पर टीका है। इनके प्रयासों से ही संस्कृत एक बार फिर साहित्य की भाषा बन सकी।

प्रेमचंद आधुनिक भारत के जाने-माने हिंदी और उर्दू लेखक प्रेमचंद का वास्तविक नाम धनपत राय था। स्वतंत्रता संग्राम में शामिल होने के लिए उन्होंने सरकारी नौकरी छोड़ी। *रंगभूमि, गोदान, गबन* और *प्रेमाश्रम* उनकी रचनाओं में प्रमुख हैं।

जदुनाथ सरकार एक इतिहासकार जिनकी रुचि मुख्यतः औरंगजेब के शासनकाल में रही। उनकी उल्लेखनीय कृतियां हैं *द स्टडी ऑफ औरंगजेब, शिवाजी एंड हिज टाइम्स* और *द फॉल ऑफ द मुगल एम्पायर*। उन्होंने विलियम इरविन की रचना *लेटर मुगल्स* को भी पूरा किया।

सोमदेव संस्कृत कवि जिनकी *कथासरितसागर* कथाओं का मशहूर संग्रह है।

सुबंधु सातवीं सदी के संस्कृत कवि जिन्होंने *वासवदत्त* की रचना की।

सूरदास सोलहवीं सदी के नेत्रहीन कवि जिन्होंने बृजभाषा में भगवान कृष्ण की भक्ति और प्रेम से सराबोर काव्य की रचना की। उनकी सराहनीय रचनाओं *सूर सागर* और सूर सारावली को बहुत सम्मान से देखा जाता है।

तिरुवल्लुवर आरंभिक ईसाई काल के तमिल कवि एवं दार्शनिक। नैतिक और सामाजिक मुद्दों पर उनकी काव्य रचना *कुराल,* वर्ण और जातिगत भेदभाव से परे एक शास्त्र के दर्जे का तमिल ग्रंथ है।

सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' अपने अनोखे अंदाज के कारण निराला कहे गये इस कवि ने प्रकृति के आध्यात्मिक पक्ष को अपनी कविताओं में जगह दी। उनकी प्रमुख रचनाएं हैं *अनामिका, गीतिका, अप्सरा* व *साखी*।

वाकपति आठवीं शताब्दी के संस्कृत कवि थे, जिन्होंने *गणवध* जिसमें कान्यकुब्ज के राजा यशेवर्मन के विजय यात्राओं का वर्णन है की रचना की।

वाग्भट्ट सातवीं शताब्दी के लेखक जिन्होंने आयुर्वेद के आठ मूल खण्डों को सार रूप में शब्दबद्ध किया।

वाल्मिक मान्यता है कि वाल्मिक एक ब्राह्मण थे जिन्होंने कुछ संतों के कहने पर डाकू का जीवन छोड़ा था। कहा जाता है कि एक शिकारी के तीर से बगुले के मारे जाने पर उसके वियोगी साथी की व्याकुलता ने उन्हें एक श्लोक कहने पर प्रेरित किया। श्लोक के इसी रूप में उन्होंने बाद में रामायण जैसे महाकाव्य की रचना की।

वास्त्स्यायन पांचवीं शताब्दी के संस्कृत लेखक जिनकी कृति *कामसूत्र* को सारे विश्व में काम-क्रीड़ा और संबंधित विषयों पर सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ माना जाता है।

वामन सामाजिक और नैतिक मुद्दों पर तीक्ष्ण दृष्टि रखने वाले सत्रहवीं शताब्दी के तमिल कवि, जिन्होंने व्यंग्यात्मक अंदाज में समाज में व्याप्त भेदभाव पर चोट की।

महादेवी वर्मा ऐसी उच्च स्तरीय साहित्यिक काव्य रचना करने वाली छायावादी कवियत्री जिनकी मानवता, प्रकृति, विरह, मिलन आदि विषयक रचनाओं में श्रृंगार और आध्यात्मिक भाव का अद्भुत संगम मिलता है।

विद्यापति मैथिली भाषा के भक्त कवि। उनकी प्रमुख रचनाएं हैं *कीर्तिलता* और *कीर्तिपताका।* उन्होंने संस्कृत में पत्र लेखन पर भी एक पुस्तक लिखी जिसका नाम है *लेखनावली।*

अध्याय-9

भारतीय संस्कृति में शिक्षा परम्परा

अभी तक आपने संस्कृति के विभिन्न पहलुओं जैसे कला, स्थापत्य, धर्म एवं दर्शन इत्यादि के बारे में पढ़ा होगा। हमारी संस्कृति का एक दूसरा महत्वपूर्ण पहलू है, शिक्षा। लेकिन शिक्षा क्या है? आप कह सकते हैं कि इसका तात्पर्य पुस्तकों से या स्कूल में कुछ सीखना है। यह आंशिक सत्य है। शिक्षा एक अधिगम अनुभव है। अधिगम किसी के जीवन का एक निरंतर पहलू होता है। हालांकि, कुछ अन्य अधिगम अनुभव रैंडम या अकस्मात् प्रकृति के हो सकते हैं, जबकि एक शैक्षिक अनुभव प्रायः पूर्व-निर्धारित कार्यक्रम के अनुसार होता है जिसका उद्देश्य व्यक्ति में कुछ खास पूर्व-निर्धारित व्यावहारिक परिवर्तनों को प्रभावित करना होता है। लेकिन आपको कभी इस बात पर आश्चर्य हुआ है कि शिक्षा किस प्रकार संस्कृति से जुड़ी है? संस्कृति पूर्व की पीढ़ियों के संगृहीत अनुभवों एवं उपलब्धियों का योग है जिसे बाद की पीढ़ियां समाज के सदस्य होने के नाते विरासत के रूप में प्राप्त करती हैं। अनुभवों एवं उपलब्धियों की इस एकत्रित मात्रा के हस्तांतरण की संरचनाबद्ध प्रक्रिया को शिक्षा कहा जा सकता है। इसलिए, शिक्षा न केवल सांस्कृतिक आस्थाओं एवं विचारों को हस्तांतरित करने का एक माध्यम है, अपितु यह सांस्कृतिक आस्थाओं से आकार भी लेता है क्योंकि यह संस्कृति का एक उत्पाद है। इस प्रकार, शिक्षा पद्धति में परिवर्तन संस्कृति में परिवर्तन के साथ-साथ होता है। इस अध्याय में हम शिक्षा पद्धति के उद्गम एवं उद्भव को जानेंगे जो भारत में बेहद प्राचीन समय से मौजूद हैं क्योंकि समाज अपने सदस्यों को शिक्षित करना अपना पहला दायित्व समझता है।

प्राचीन काल में शिक्षा

प्राचीन भारत में शिक्षा की प्रकृति को समझने के क्रम में, हमें एक ओर उस समय के लोगों की वास्तविक प्रकृति पर विचार करना होगा, तो दूसरी ओर उनके पर्यावरण को समझना होगा जिसमें उनकी आनुवंशिक क्षमताओं का सक्रिय विकास हुआ।

प्राचीन भारत में रहने वाले लोग एक नहीं अपितु कई जातियों के थे। समय-समय पर विभिन्न जगहों से लोग भारत आए और भारतीय समाज पर अपनी अमिट छाप छोड़ गए। मानवशास्त्रीय परीक्षण प्राचीन भारत में चार मुख्य जातियों   द्रविड़, आर्य, सीथियन और मंगोल की पड़ताल करता है। चार मुख्य जाति प्रकारों को एक-दूसरे से अलग नहीं पाया गया अपितु उन सभी का बड़े पैमाने पर आपस में संलयन हुआ। लेकिन आर्यों ने देश के भाग्य के नियंत्रण में सबसे बड़ा योगदान दिया। इसका मतलब यह नहीं कि अनार्यों ने भारतीय जीवन मूल्यों में कोई योगदान नहीं किया। उनसे सम्पर्क ने हिंदू सभ्यता को विभिन्न रूपों से समृद्ध किया।

द्रविड़ धर्ममीमांसक नहीं थे लेकिन वे कल्पनाशीलता, संगीत एवं निर्माण कला में माहिर थे। उन्होंने ललित कलाओं में उत्कृष्टता हासिल की। आर्यों के विशुद्ध आत्म ज्ञान/आध्यात्मिक ज्ञान ने द्रविड़ के भावात्मक प्रकृति और सौंदर्य सृजन की शक्ति के साथ मिलकर एक अद्भुत यौगिक का निर्माण किया जो न तो आर्य थी और न ही अनार्य लेकिन हिंदू थी। इस प्रकार, प्राचीन भारतीय शिक्षा के आध्यात्मिक एवं नैतिक आदर्श आवश्यक रूप से आर्यों के मस्तिष्क की उपज थे, जबकि इसके व्यावसायिक एवं सौंदर्यबोध पहलू मुख्य रूप से द्रविड़ों के भौतिक एवं भावनात्मक प्रकृति से प्रेरित थे।

भारत में इंडो-आर्यों के प्रवेश के पश्चात्, उनकी भौतिक चाहत ने उन्हें अपने शत्रुओं के खिलाफ लंबे समय तक जीवंत बनाए रखा। इसी प्रकार यूरोप की लंबी ठंडी शीतकाल, बंजर भूमि और छोटे देशों के बीच हितों को लेकर मतभेद ने आर्यों में 'स्व-रक्षण की मूल इच्छा' को विकसित किया, और उन्हें तुलनात्मक रूप से अधिक सक्रिय, आक्रामक एवं उद्यमी बनाए रखा। भारत की अजीबोगरीब भौगोलिक दशाओं ने अपने लोगों को अधिक स्वामित्व, आत्मलीन एवं दार्शनिक बनाया।

दो देशों की पृथक् भौगोलिक दशाओं ने न केवल उनकी प्रकृति को प्रभावित किया अपितु उनके संस्थानों, विज्ञानों, कलाओं एवं साहित्य को भी प्रभावित किया। इसके अतिरिक्त ऊंचे पर्वतों एवं समुद्रों, जिन्होंने देश को बाहरी विश्व से अलग-थलग कर दिया, ने न केवल भारतीय सभ्यता का मौलिक एवं अद्वितीय तौर पर लालन-पालन किया अपितु हिंदू संस्थानों को, शैक्षिक एवं अन्य तौर पर, व्यापक रूप से गहन एवं सूक्ष्म बनाया जिससे वह बाद के आक्रांताओं के परिवर्तनशील प्रभाव का सामना कर सका।

सामाजिक पर्यावरण का परीक्षण करके हम पाते हैं कि जातीय व्यवस्था हिंदू समाज की एक अत्यधिक पृथक् विशेषता है। यह आम तौर पर जाना जाता है कि ऋग्वैदिक काल में जाति व्यवस्था भली-भांति विकसित नहीं हुई थी, शायद, यह पूरी तरह से विद्यमान थी। समय के साथ-साथ बढ़ती आवश्यकताओं एवं समाज की जटिलता के साथ विभिन्नता एक आवश्यकता बन गई। इसी कारण, प्लेटो जैसे इंडो-आर्य ने श्रम विभाजन के सिद्धांत का बौद्धिकतापूर्वक अनुप्रयोग किया और धीरे-धीरे उनके व्यवसाय एवं आंतरिक गुणों के अनुसार वे चार जातियों में विभाजित हो गए। इस प्रकार आधुनिक विश्व के साथ तदाम्य रखते हुए, प्राचीन भारत में किसी व्यक्ति की वैयक्तिकता के विकास का पर्याप्त क्षेत्र था। वास्तव में, मात्र जाति व्यवस्था के द्वारा आत्मज्ञान हुआ जिसने सामाजिक सेवा के साथ प्रासंगिकता कायम की। वस्तुतः प्राचीन समय में विशेष प्रकार की शिक्षा प्राप्त करने के लिए किसी व्यक्ति की अभिवृत्ति एवं उपयुक्तता को खोजा जाने का विशेष ध्यान रखा जाता था।

धार्मिक माहौल का प्राचीन भारतीय शिक्षा पर अत्यधिक शक्तिशाली प्रभाव पड़ा। इंडो-आर्य जब सिंधु घाटी में बसे तो वह तात्कालिक प्राकृतिक बलों से प्रभावित हुए। उन्होंने प्रकृति में सुंदर एवं प्रभावशाली चीजों को चुन लिया और उन्हें अपने क्षेत्र को नियंत्रित करने वाली शक्तियों के तौर पर देखा और अपने कल्याण के लिए इनकी स्तुति की। हिंदू शुरुआती समय से ही मानते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति ऋणी के तौर पर जन्म लेता है, जैसाकि उसका पहला दायित्व संतों के प्रति है जो उसके धर्म एवं संस्कृति के संस्थापक थे; दूसरे ईश्वर के प्रति, और तीसरे अपने माता-पिता के प्रति ऋणी है। पहला ऋण वह वेदों का सावधानीपूर्वक अध्ययन करके चुकाता है; दूसरा ऋण वह गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करके विभिन्न प्रकार के त्याग करके चुकाता है; और तीसरा ऋण वह लोगों की

सेवा करके तथा बच्चों का पिता बनकर चुकाता है। इसलिए, प्रारंभिक हिंदू शिक्षा को एक जीवन पर्यन्त प्रक्रिया मानते हैं और जीवन को चार चरणों में विभाजित करते हैं जिसमें प्रत्येक चरण के अपने विशेष कर्तव्य हैं।

वैदिक काल

प्राचीन भारत में शिक्षा शिक्षक से जुड़ी हुई थी जिन्हें गुरू कहा जाता था। शिष्य उनके आस-पास रहते और उनके घर में एक परिवार के सदस्य के तौर पर रहने के लिए आते थे। ऐसे स्थान को **गुरुकुल** कहा जाता था। **गुरुकुल** एक घरेलू विद्यालय के तौर पर कार्य करता था, एक आश्रम, जहां बच्चों को गुरू द्वारा शिक्षा में दीक्षित किया जाता था जो विद्यार्थियों पर व्यक्तिगत ध्यान एवं निर्देश देता था। प्रारंभिक रूप से शिक्षा उच्च जातियों का विशेषाधिकार था। अधिगम शिक्षक और शिष्य के बीच एक गहन रिश्ता था जिसे गुरू-शिष्य परम्परा कहा गया। सामान्य तौर पर, अधिगम प्रक्रिया एक धार्मिक आयोजन के साथ शुरू होता था जिसे '*उपनयन*' (पवित्र धागा आयोजन) कहा जाता था। शिक्षा आमतौर पर मौखिक होती थी। इसमें वेदों एवं धर्मशास्त्रों जैसे पाठों का पूर्णतः या आंशिक स्मरण भी शामिल था। बाद में व्याकरण, तर्कशास्त्र एवं भौतिक मीमांसा जैसे विषयों का अध्ययन एवं अध्यापन होने लगा। मैत्रयणी उपनिषद् हमें सिखाता है कि ब्रह्म ज्ञान, अधिगम, चिंतन एवं तपस का परिणाम है। आत्म विश्लेषण के माध्यम से विभिन्न चरणों में कोई सत्व, आत्मशुद्धि एवं आत्म संतुष्टि को प्राप्त करता था। इस समयावधि के दौरान स्व-शिक्षण को सर्वोच्च ज्ञान की प्राप्ति की उचित प्रक्रिया माना जाता था। इसका सर्वोच्च उदाहरण तैत्तरिय उपनिषद् में ढूंढा जा सकता है, जहां भृगु, वरुण के पुत्र, अपने पिता से उसे ब्रह्म क्या है, बताने का अनुरोध करता है। उसके पिता उसे ध्यान के माध्यम से इसे खोजने को कहते हैं।

वैदिक शिक्षा की मुख्य विशेषताएं

- निःशुल्क शिक्षा
- शिक्षा पर राज्य का कोई नियंत्रण नहीं
- शिक्षक का उच्च दर्जा
- व्यापक स्तर पर महिला शिक्षा
- आवासीय विद्यालय
- वैयक्तिक शिक्षण

- वन शिक्षा के मुख्य केंद्र
- संस्कृत भाषा अधिगम का मुख्य माध्यम
- आत्म नियंत्रण एवं आत्म अनुशासन
- शिक्षक अभिभावक के समान

मौर्य काल

मौर्य काल एवं मौर्योत्तर काल के दौरान, भारतीय समाज एक भारी बदलाव से गुजरा। शहरी केंद्रों और व्यापार के विकास के साथ, व्यापारी समुदाय ने महत्वपूर्ण स्थिति हासिल कर ली। परिणामस्वरूप, व्यापारी संगठन शिक्षा प्रदान करने में एक सक्रिय भूमिका निभाने लगे। वे तकनीकी शिक्षा के केंद्र बन गए और खनन, धातुकर्म, बढ़ईगीरी, बुनाई एवं कढ़ाई का ज्ञान देने लगे। इस काल में भवन एवं स्थापत्य में नई संरचनाएं सामने आईं। शहरी जीवन के उद्‌भव के साथ नवीन स्थापत्य रूपों का जन्म हुआ। इस व्यापारी संघ ने खगोल विज्ञान, नक्षत्र विज्ञान एवं महासागरीय खोज को भी संरक्षण प्रदान किया। खगोलशास्त्रियों एवं ब्रह्म ज्ञानियों ने 'समय' (कला) के ऊपर चर्चा प्रारंभ की। इसने अतीत की तुलना में 'समय' के प्रति समझ में तीव्र विकास में मदद की। आयुर्वेद के तौर पर चिकित्सीय ज्ञान की व्यवस्थित पद्धति का शुभारंभ हुआ। इस तत्व ने भारतीय चिकित्सा पद्धति के लिए आधार तैयार किया। औषधियों की चिकित्सकीय संपदा का ज्ञान एवं उनके प्रयोग एक नई ऊंचाई एवं उन्नत अवस्था में पहुंच गए। चरक औषधि के लिए प्रसिद्ध हुए और सुश्रुत शल्यक्रिया के लिए। चरक द्वारा लिखित 'चरक संहिता' औषधियों पर एक प्रामाणिक एवं गहन कार्य है।

आपने चाणक्य का नाम अवश्य सुना होगा, जो एक प्रसिद्ध दार्शनिक, शोधार्थी एवं शिक्षक थे। उनकी सुप्रसिद्ध कृति 'अर्थशास्त्र' है। अर्थशास्त्र में प्राथमिक तौर पर राजकुमारों की शिक्षा की बात कही गई है। उपनयन के पश्चात् राजकुमार चार वेदों का अध्ययन करते और वैदिक अध्ययन में विज्ञान का अध्ययन भी शामिल था। वे तर्कशास्त्र, अर्थशास्त्र एवं राजनीति में भी पारंगत होते थे। उस समय की शिक्षा मुख्य रूप से जीवन कौशल पर आधारित थी, जो आज की शिक्षा से काफी भिन्न थी। रामायण में राजकुमारों के लिए निर्धारित पाठ्यक्रम में धनुर्विद्या, नीतिशास्त्र, हाथी सवारी एवं रथ सवारी, आलेख एवं लेख (चित्रकला एवं लेखन) लांघना एवं तैरना शामिल थे।

गुप्तकाल

गुप्तकाल में, जैन एवं बौद्ध धर्म की शिक्षा पद्धति ने एक नया आयाम अख्तियार किया। बौद्ध विहारों में विद्यार्थियों को 10 वर्षों के लिए प्रवेश दिया गया। शिक्षा की मौखिक पद्धति शुरू हुई। बाद में वे साहित्यिक कृतियों को पढ़ने की तरफ मुड़े। बौद्ध विहारों के अपने पुस्तकालय थे। महत्वपूर्ण पाण्डुलिपियों को सुरक्षित रखा गया। चीन एवं दक्षिण-पूर्व एशिया जैसे देशों से विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त करने के लिए बौद्ध विहारों में आए। सामान्य तौर पर बौद्ध विहारों का प्रबंधन राजाओं एवं धनी व्यापारी वर्ग से प्राप्त अनुदान से किया जाता था। इन विहारों ने दूर एवं पास के क्षेत्रों से शोधार्थियों को आकर्षित किया। फाहियान ने भी बौद्ध धार्मिक पुस्तकों के अध्ययन हेतु पाटलिपुत्र के बौद्ध विहार में सात वर्ष व्यतीत किए। पाटलिपुत्र के अतिरिक्त, वाराणसी, मथुरा, उज्जैन एवं नासिक जैसे अन्य शिक्षा के केंद्र भी मौजूद थे। नालंदा विश्वविद्यालय अपने उच्च स्तर के ज्ञान एवं शोध के लिए पूरे एशिया में जाना जाता था। वेदांत, दर्शन, पुराणों का अध्ययन, महाकाव्य, व्याकरण, तर्कशास्त्र, खगोलशास्त्र, औषधि इत्यादि नालंदा विश्वविद्यालय में पढ़ाए जाने वाले विषयों में शामिल थे। शुरुआती चरण में शिक्षा के उद्‌देश्य के निमित्त जैन धर्म ने 'आदिपुराण' एवं 'यश्टिलका' जैसे संस्कृत साहित्य का इस्तेमाल किया। लेकिन शिक्षा को अधिक लोकप्रिय बनाने के लिए इसका माध्यम बदलकर प्राकृत, तमिल, कन्नड एवं इसी प्रकार की अन्य प्रादेशिक भाषाओं में किया गया। जैन एवं बौद्ध पुस्तकालयों में पुस्तकें ताड़ के पत्ते पर लिखी गईं थीं और उन्हें एक-दूसरे से बांधकर रखा गया था जिसे 'ग्रंथ' कहा जाता था। धीरे-धीरे, जैन एवं बौद्धों, को राजसी संरक्षण मिलना बंद हो गया और उनके विहारों का शिक्षा एवं अधिगम के केंद्र के रूप में पतन होना शुरू हो गया। ब्राह्मणों द्वारा चलाए जाने वाले 'मठ' जैन एवं बौद्ध विहारों के समानांतर संस्थान थे। 'मठ' शैक्षिक उद्‌देश्यों के लिए 'आश्रम' की भांति कार्य करते थे।

गुप्तोतर काल

हर्ष के काल में कला एवं शिक्षा ने एक नई उड़ान भरी। उसने सभी स्तरों पर शिक्षा को प्रोत्साहित किया। शिक्षा मंदिरों एवं विहारों में तथा उच्च शिक्षा तक्षशिला, उज्जैन, गया एवं नालंदा के विश्वविद्यालयों में दी जाती थी। नालंदा में, ह्वेनसांग

ने बौद्ध मूर्तिकला के अध्ययन में कई वर्ष व्यतीत किए। शीलभद्र नामक विख्यात विद्वान इस विश्वविद्यालय का प्रमुख था।

सातवीं और आठवीं शताब्दियों में मंदिरों से सम्बद्ध 'घटिका' या कॉलेज अधिगम के नवीन केंद्र के तौर पर उदित हुए। 'घटिकाओं' ने ब्राह्मण या वैदिक शिक्षा प्रदान की। शिक्षा का माध्यम संस्कृत था। इन मंदिर रूपी कॉलेजों में केवल उच्च जातियों या द्विज को ही प्रवेश मिलता था। संस्कृत के शिक्षा के माध्यम होने से शिक्षा आमजन से दूर होती चली गई। शिक्षा समाज के कुलीन वर्गों का विशेषाधिकार बन गई।

प्राचीनकाल में शिक्षा वैयक्तिक चिंतन का विषय था। शिक्षा का उद्देश्य छात्र के समग्र व्यक्तित्व का विकास करना था। शिक्षा के इस दृष्टिकोण के अनुरूप यह किसी के आंतरिक विकास व आत्म संतोष की एक प्रक्रिया है जिसमें तकनीकियां, नियम एवं पद्धतियां शामिल होती हैं। यह समझा जाता था कि एक व्यक्ति के विकास के लिए, प्राथमिक तौर पर उसके मस्तिष्क को ज्ञान हासिल करने के लिए तैयार करना जरूरी है। यह ज्ञान उसकी सृजनात्मक क्षमता में वृद्धि करेगा। 'मनन शक्ति' को अधिक महत्वपूर्ण माना जाता था। इस प्रकार, शिक्षा का प्राथमिक विषय मस्तिष्क का विकास करना था।

प्राचीन भारत के लोग धातुकर्म, भट्टा ईंट, क्षेत्रफल मापन जैसे अनुप्रयोगात्मक विज्ञान से परिचित थे। औषधि का वैज्ञानिक तंत्र वैदिक युग के पश्चात् हुआ। तक्षशिला एवं वाराणसी जैसे शिक्षा के केंद्रों पर औषधि अध्ययन का एक विषय बन गया। औषधि पर 'चरक संहिता' और शल्य चिकित्सा पर 'सुश्रुत संहिता' इस क्षेत्र में दो महत्वपूर्ण कार्य थे।

प्राचीन निजी-शिक्षक व्यवस्था और बौद्ध विहार संगठन ने मिलकर हिंदुओं के तीन विभिन्न प्रकार के शैक्षिक संस्थानों के विकास को प्रोत्साहित किया। ये तीन संस्थान थे (i) गुरुकुल स्कूल; (ii) मंदिर कॉलेज; (iii) अग्रहार ग्राम संस्थान।

प्राचीन भारत के प्रमुख शिक्षा केंद्र

प्राचीन भारत में शिक्षा देने वालों को **आचार्य, उपाध्याय, चरक** (भिखु या साधु), **गुरू, यौजनसतिका, शिक्षक** कहा जाता था। तत्कालीन शिक्षण संस्थानों में **गुरुकुल, परिषद्, संगम, गोष्ठी, आश्रम, विधापीठ, घटिका, अग्रहार, मठ,**

ब्रह्मपुरी एवं **विहार** प्रमुख थे। भारत के प्रमुख शिक्षा केंद्रों में निम्नलिखित का नाम लिया जा सकता हैः

तक्षशिलाः यह छठी शताब्दी ईसा पूर्व का एक प्रमुख अधिगम केंद्र था। यहां विभिन्न विषयों की 16 शाखाओं को पढ़ाया जाता था। इसमें प्रत्येक का एक विशेष प्रोफेसर था। इसमें चित्रकला, मूर्तिकला, तस्वीर निर्माण एवं दस्तकारी विषय भी थे। इस शैक्षणिक संस्थान का एक प्रमुख चिकित्सा स्कूल का प्रसिद्ध छात्र जीवक था जिसने मगध के राजा बिम्बिसार और महान बुद्ध का उपचार किया। जीवक ने यहां पर ऋषि अत्रेय के अंतर्गत सात वर्षों तक अध्ययन किया।

5वीं शताब्दी के आस-पास तक्षशिला का वर्णन जातक कथाओं में हुआ। यह ईसा पूर्व की कई शताब्दियों तक शिक्षा का एक प्रमुख केंद्र बना रहा, और 5वीं शताब्दी में इस शहर के नष्ट हो जाने के बाद भी विद्यार्थियों को निरंतर आकर्षित करता रहा। तक्षशिला चाणक्य के साथ जुड़े होने के कारण शायद इतना प्रसिद्ध हुआ। प्रसिद्ध पुस्तक *अर्थशास्त्र* को चाणक्य द्वारा स्वयं तक्षशिला में ही संकलित किया गया था। चाणक्य (कौटिल्य), मौर्य शासक चंद्रगुप्त एवं आयुर्वेदाचार्य चरक ने तक्षशिला में ही अध्ययन किया।

सामान्य तौर पर, एक विद्यार्थी को 16 वर्ष की आयु में ही तक्षशिला में प्रवेश मिलता था। इस शिक्षण केंद्र में चिकित्सा, विधि एवं सैन्य कौशल के अतिरिक्त वेदों एवं 18 कलाओं को भी सिखाया जाता था जिसमें धनुर्विद्या, आखेट एवं हाथी की सवारी एवं नियंत्रण शामिल थे।

तक्षशिला के भग्नावशेषों में एक बड़े क्षेत्र में भवन एवं बौद्ध स्तूप शामिल हैं। तक्षशिला के भग्नावशेषों को तीन मुख्य शहरों में विभाजित किया जा सकता है, जो अलग-अलग कालों से सम्बन्ध रखते हैं। इसमें सबसे प्राचीन हाथीयल क्षेत्र है। तक्षशिला का दूसरा शहर सिरकप में स्थित है, और जिसका निर्माण दूसरी शताब्दी ईसा पूर्व में ग्रेको-बैक्टीरियन राजाओं द्वारा कराया गया। तक्षशिला का तीसरा और अंतिम शहर सिरमुख में था जो कुषाण राजाओं से सम्बद्ध था।

शहरों के खण्डित अवशेषों के अतिरिक्त, एक बड़ी संख्या में बौद्ध विहार एवं स्तूप भी तक्षशिला क्षेत्र से जुड़े हैं। कई स्तूपों के अतिरिक्त धर्मराजिका के स्तूप, जॉलियन में विहार, मोहरा मुराडु के बौद्ध विहार इस श्रेणी में शामिल कुछ महत्वपूर्ण भग्नावशेष हैं। इस प्रकार सर जान मार्शल के पुरातात्विक प्रयासों ने

तीन पृथक् शहरों के अस्तित्व की बात को स्थापित किया। हिंदुओं, पारसियों, मेसिडोनियाई, मौर्यों, बैक्टिरियन ग्रीक, पार्थियनों एवं कुषाण के प्रभुत्व वाली तक्षशिला ने विभिन्न शासनों की राजधानी के रूप में सेवा की, और विभिन्न सांस्कृतिक प्रभावों को उद्घाटित किया और आवश्यक रूप से एक वैश्विक गुण को धारण किया। इस मिलनसार केंद्र में शैक्षिक संस्थान किस प्रकार घुलमिल गए? क्या शहरों ने सामूहिक रूप से प्राचीन निजी-शिक्षक व्यवस्था से जुड़े महानगर का निर्माण किया? क्या पर्याप्त मात्रा में ब्राह्मण कॉलोनियां थीं जिन्होंने शिक्षक के तौर पर अपनी स्वतंत्रता को बनाए रखा? बौद्ध धर्म के चरम पर यह किस प्रकार एक विश्वविद्यालय नगर के रूप में विकसित हुआ?

इस बात पर कुछ असहमति है कि क्या तक्षशिला को एक विश्वविद्यालय माना जा सकता है। जबकि कुछ का मानना है कि तक्षशिला प्रारंभिक विश्वविद्यालय बना या उच्च शिक्षण का केंद्र था, अन्य लोग पश्चात्वर्ती नालंदा विश्वविद्यालय के संदर्भ में इसे आधुनिक विश्वविद्यालय नहीं मानते। तक्षशिला को हिंदुओं एवं बौद्धों द्वारा धार्मिक एवं ऐतिहासिक पवित्रता एवं महत्व का माना जाता है।

महाकाव्यों एवं जातकों में दिए गए संदर्भों ने यह स्पष्ट किया कि इस बात में कोई संदेह नहीं कि तक्षशिला की अधिगम के एक महान केंद्र के रूप में एक शानदार छवि थी। यहां पूरे देश से छात्रों के झुंड कला एवं विज्ञानों में महारत हासिल करने के लिए आते थे। जातक में उल्लेख किया गया है कि बनारस, राजग्रह, मिथिला, लाल्य देश, उज्जियिनी, कोसल, शिवि और कुरु राज्यों के ऐसे स्थान हैं जहां से तक्षशिला में विद्यार्थियों को शिक्षा के लिए भेजा जाता था। इन विद्यार्थियों में राजकुमारों के साथ-साथ आमजनों के बच्चे भी थे। अखमेनियन काल में खरोष्ठी लिपि लोकप्रिय बन गई और तक्षशिला के शिक्षकों ने अपने शिक्षण एवं प्रचार में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। बैक्टीरियन-ग्रीक के समय में, सिक्का निर्माण एवं मूर्तिकला जैसी कला एवं ग्रीक भाषा को प्रोत्साहन मिला। बौद्ध विहारों के नहीं आने तक तक्षशिला ने संभवतः कोई भी कॉलेज या विश्वविद्यालय का रूप धारण नहीं किया और निजी-शिक्षक व्यवस्था का अनुसरण किया। क्राइस्ट युग के प्रथम कुछ शताब्दियों के दौरान, बौद्ध विहारों ने तक्षशिला की व्यवस्था को बनाए रखने का प्रयास किया और उसकी शैक्षिक

संस्थान के रूप में विख्यात छवि को और अधिक पल्लवित किया जब तक कि पांचवीं शताब्दी में हूणों ने इसे नष्ट नहीं कर दिया। जब ह्वेनसांग ने सातवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में इसमें प्रवेश किया तो इसके अधिकतर प्राचीन विहार नष्ट हो चुके थे।

नालंदाः नालंदा 427 से 1197 ईस्वी तक बिहार (भारत) में उच्च शिक्षा का एक प्राचीन केंद्र रहा। नालंदा की स्थापना बिहार में पांचवीं शताब्दी में बिहार में की गई। यह बौद्ध शिक्षा को समर्पित अध्ययन केंद्र था, लेकिन इसने विद्यार्थियों को ललित कलाओं, औषधि, गणित, खगोलशास्त्र, राजनीति एवं युद्ध कौशल में भी प्रशिक्षित किया।

नालंदा शिक्षा केंद्र में आठ पृथक् खण्ड, 10 मंदिर, मेडिटेशन हॉल, कक्षाएं, झीलें एवं उद्यान थे। यहां पर आठ मंजिला पुस्तकालय था जहां भिक्षु गहन रूप से पुस्तकों एवं दस्तावेजों की नकल करते थे ताकि कोई शोधार्थी स्वयं का पुस्तक संग्रह रख सके। यहां पर विद्यार्थियों के लिए शयनकक्ष, शायद इस प्रकार का प्रथम शैक्षिक संस्थान जहां 10,000 से अधिक विद्यार्थियों को विश्वविद्यालय में आवास मुहैया कराए गए और 2,000 शिक्षकों के लिए रहने एवं आवास का प्रबंध था। नालंदा विश्वविद्यालय ने कोरिया, जापान, चीन, तिब्बत, इंडोनेशिया, पर्शिया एवं तुर्की से शिष्यों एवं विद्वानों को आकर्षित किया। राजगीर से बस से आधे घंटे की दूरी पर नालंदा है, जो विश्व का प्रथम विश्वविद्यालय स्थल है। यद्यपि प्रथम शताब्दी से यह एक तीर्थस्थान बन गया, जैसाकि यह बुद्ध से जुड़ा हुआ था और वह अपने दो मुख्य शिष्यों, सारीपुत्र और मोगलिन, के साथ इस स्थान पर अक्सर आया करते थे। यहां पर बड़ा स्तूप सारीपुत्र के स्तूप के तौर पर जाना जाता है। इस स्थल पर बड़ी संख्या में छोटे-छोटे बौद्ध विहार हैं जहां भिक्षु रहते थे और अध्ययन करते थे और उनमें से कइयों को बाद की शताब्दियों में बनाया गया।

नालंदा का शिक्षा के केंद्र के तौर पर विशेष महत्व बौद्ध धर्म से आया। चीन से आया प्रसिद्ध तीर्थयात्री ह्वेनसांग यहां आया और सातवीं शताब्दी में पांच वर्षों तक अध्ययन एवं शिक्षण कार्य किया। उस समय नालंदा विश्वविद्यालय में 10,000 से अधिक विद्यार्थी और 3,000 से अधिक शिक्षक थे। लगभग 700 वर्षों तक, 5वीं-12वीं शताब्दियों के बीच, नालंदा प्राचीन भारत में विद्वत्ता और

बौद्ध अध्ययन का केंद्र था। एक भयंकर आग की चपेट में आने से यहां के पुस्तकालय की 90 लाख से अधिक पांडुलिपियां जलकर खाक हो गईं और 12वीं शताब्दी के प्रारंभ पर, मुस्लिम आक्रमणकारी बख्तियार खलजी ने विश्वविद्यालय को तहस-नहस कर दिया। 1860 के दशक में महान पुरातत्वविद् एलेक्जेंडर कनिंघम ने इस स्थान की पहचान नालंदा विश्वविद्यालय के रूप में की और 1915-1916 में भारतीय पुरातात्विक सर्वेक्षण ने इस स्थल की खुदाई प्रारंभ कर दी। अभी तक उत्खनित स्थल समस्त क्षेत्र का एक बेहद छोटा हिस्सा है लेकिन ध्वस्त क्षेत्र का एक बड़ा भाग मौजूदा गांवों के नीचे दबा है और संभवतः सामने न आ पाए। मौजूदा स्थल का रख-रखाव बेहद कुशलतापूर्वक किया गया है और यह भ्रमण के लिए बेहद अच्छी जगह है। यहां पर एक छोटा संग्रहालय है जिसमें बुद्ध की उत्कृष्ट मूर्तियां रखी गई हैं और एक किलोमीटर दूर ह्वेनसांग को समर्पित एक मंदिर है। पास में ही अंतरराष्ट्रीय बौद्ध अध्ययन केंद्र और नव नालंदा महाविहार है, जिसकी स्थापना बौद्ध दर्शन में अनुसंधान हेतु की गई है।

बिहार राज्य में पटना के 40 मील दक्षिण और राजगीर के 7 मील उत्तर में स्थित नालंदा को परम्परागत रूप से सारिपुत्र के जन्म एवं मृत्यु का स्थान माना जाता है। मूलतः यह वैदिक शिक्षा का एक स्थल था। नागार्जुन के साथ मिलकर तारानाथ का वर्णन, और उनके शिष्य आर्य देव का इस स्थान से जुड़ाव और बौद्ध तर्कशास्त्री दिनाग और सुद्रजया के बीच बहस ने नालंदा को 5वीं शताब्दी के प्रारंभ तक वैदिक शिक्षा के केंद्रों के रूप में इसके महत्व को पुनः प्रकट एवं स्थापित किया। बौद्ध विश्वविद्यालय के तौर पर इसका उदय 5वीं शताब्दी के मध्य से हुआ। गुप्त साम्राज्य से संरक्षण के अधीन बड़ी संख्या में बनते विहार की गतिविधियां बदल गईं और इन भवनों की गतिविधियां निरंतर 11वीं शताब्दी तक भली-भांति चलती रहीं। पुरातात्विक उत्खननों की रिपोर्ट के अनुसार, विश्वविद्यालय का क्षेत्र एक मील लम्बा एवं आधा मील चौड़ा था। केंद्रीय कॉलेज में 7 बड़े हॉल और 300 कमरे थे। अन्य विहारों की इमारतें नियोजन बद्ध तरीके से एक पंक्ति में व्यवस्थित की गईं थीं, और उनमें से कुछ, जैसाकि यशोवर्मन शिलालेख बताता है, इतनी ऊंची थी कि वे आकाश को छूती प्रतीत होती थी।

यद्यपि नालंदा महायान के अध्ययन का विशिष्ट केंद्र था, विशेष रूप से

वसुबंधु, नागार्जुन, असंग और धर्मकीर्ति द्वारा किया गया कार्य, तथापि इसने हीनयान एवं ब्राह्मणों के धर्मनिरपेक्ष लोकप्रिय विषय जैसे वेदों, हिंदूविद्या, शब्द विद्या एवं आयुर्वेद को भी पढ़ाया। वास्तव में, भारत में उस समय ज्ञात लगभग ज्ञान की प्रत्येक शाखा को अध्ययन के एक विषय के रूप में, शामिल किया गया। यहां पर मौजूदा विषयों की व्यापक शृंखला एवं शिक्षकों की बड़ी मंदाकिनी यह स्पष्ट करती है कि क्यों चीन, कोरिया, तिब्बत एवं तोखरा जैसे दूरवर्ती स्थानों से विद्वान एवं शोधार्थी इस विश्वविद्यालय में प्रवेश पाने का प्रयास करते थे। इसी कारण से नालंदा में प्रशिक्षित शिक्षिकों एवं विद्वानों की भारत से बाहर अत्यधिक मांग थी। इसकी निरंतर मांग तिब्बत से सर्वाधिक होती थी, जिसने 8वीं शताब्दी में कांडरागोमिन के नेतृत्व में, जिन्होंने स्वयं 60 से अधिक पुस्तकें लिखीं थीं, तिब्बती अध्ययन एवं भाषा को प्रोत्साहित एवं प्रबंधित किया गया। राजा के विशेष निमंत्रण पर बौद्ध शिक्षा देने और संस्कृत एवं पाली कृतियों का तिब्बती भाषा में अनुवाद करने के लिए संतरक्सिता, पद्मसंभव, कमलाशिला एवं थिरमाती जैसे नालंदा के कुछ विद्वान तिब्बती के दौर पर गए। शुभकर सिम्म (8वीं शताब्दी) एवं धर्मदेव (10वीं शताब्दी) नालंदा के वे विद्वान थे जिन्होंने चीन में शिक्षण कार्य किया।

भारत की प्राचीन शिक्षा पद्धति एवं परम्परा को जीवंत रखने और आगे बढ़ाने के लिए 28 मार्च, 2006 को भारत के तत्कालीन राष्ट्रपति श्री ए.पी.जे. अब्दुल कलाम ने बिहार विधान सभा के संयुक्त अधिवेशन को संबोधित करते समय नालंदा विश्वविद्यालय के पुनरुद्धार के विचार को प्रस्तुत किया। इसी दिशा में आगे बढ़ते हुए नालंदा विश्वविद्यालय विधेयक, 2010 लाया गया जिसे 21 अगस्त, 2010 को राज्यसभा ने और 26 अगस्त, 2010 को लोकसभा ने पारित कर दिया। 21 सितंबर, 2010 को इसे राष्ट्रपति की स्वीकृति प्राप्त हो गई और यह अधिनियम बन गया। 25 नवम्बर, 2010 को नालंदा विश्वविद्यालय अस्तित्व में आया गया जब इस अधिनियम को क्रियान्वित किया गया।

नालंदा विश्वविद्यालय, जिसे नालंदा अंतरराष्ट्रीय विश्वविद्यालय के नाम से भी जाना जाता है, भारत के बिहार राज्य में राजगीर में नालंदा के पास स्थित है। विश्वविद्यालय, जिसका सृजन नालंदा में शिक्षा के प्राचीन केंद्र के तौर पर इसे जीवंत करने के दृष्टिगत किया गया है, का प्रथम अकादमिक सत्र 15

विद्यार्थियों, जिसमें पांच महिलाएं भी हैं, के साथ 1 सितंबर, 2014 को प्रारंभ किया गया। शुरुआती दौर में इसकी व्यवस्था अस्थायी रूप से राजगीर में की गई है और वर्ष 2020 तक विश्वविद्यालय का एक आधुनिक कैम्पस तैयार हो जाने की उम्मीद है।

उल्लेखनीय है कि जापान एवं सिंगापुर निर्माण कार्य में वित्तीयन कर रहे हैं जो कुल मिलाकर 100 मिलियन अमेरिकी डॉलर है। गोपा सब्बरवाल को वर्ष 2011 में इसका प्रथम कुलपति नियुक्त किया गया। आकलित किया गया है कि इसमें नवीनतम सुविधाएं प्रदान करने के लिए 500 मिलियन अमेरिकी डॉलर की जरूरत होगी और आगे आस-पास के अवसंरचनात्मक विकास एवं पर्याप्त सुधार हेतु 500 मिलियन अमेरिकी डॉलर की और आवश्यकता पड़ेगी। संगठन सरकारों, निजी संगठनों एवं व्यक्तियों तथा धार्मिक समूहों से दान की उम्मीद कर रहा है। बिहार राज्य सरकार ने स्थानीय लोगों से 443 एकड़ जमीन इकट्ठा करके विश्वविद्यालय को दी है, जहां निर्माण कार्य शुरू हो गया है।

वर्ष 2007 में, भारत सरकार ने अंतरराष्ट्रीय सहयोग के फ्रेमवर्क, और भागीदारी के प्रस्तावित ढांचे के परीक्षण के लिए अमर्त्य सेन की अध्यक्षता में एक नालंदा मेंटर ग्रुप (एनएमजी) का गठन किया, जो इस विश्वविद्यालय को एक अंतरराष्ट्रीय शिक्षा केंद्र के तौर पर शासित करेगा। एनएमजी में सिंगापुर, चीन, जापान और थाईलैण्ड के भी प्रतिनिधि हैं। बाद में एनएमजी का नाम बदलकर गवर्निंग बोर्ड ऑफ नालंदा यूनिवर्सिटी कर दिया जाएगा।

नालंदा विश्वविद्यालय के गवर्निंग बोर्ड में शामिल हैं (i) अमर्त्य सेन (हार्वर्ड विश्वविद्यालय); (ii) सुगाता बोस (हार्वर्ड विश्वविद्यालय); (iii) बेंग बेंगवई (पीकिंग विश्वविद्यालय); (iv) सुसुमु नकानिशि (क्योटो सिटी यूनिवर्सिटी ऑफ आर्ट्स); (v) मेघनाद देसाई (लंदन स्कूल ऑफ इकोनॉमिक्स); (vi) प्रपोद अश्वतिरूलहकर्न (चूलालोंगकर्न विश्वविद्यालय); (vii) जार्ज पो (सिंगापुर के भूतपूर्व विदेश मंत्री); (viii) तानसेन सेन (बरूच कॉलेज); (ix) नंद किशोर सिंह (राज्यसभा सदस्य); (x) चंदन हरे राम खरवार (पुणे विश्वविद्यालय)।

वर्तमान में नालंदा विश्वविद्यालय में निम्न संकाय हैं

- स्कूल ऑफ हिस्टोरिकल स्टडीज
- स्कूल ऑफ एनवायरन्मेंट एंड इकोलॉजिकल स्टडीज

- स्कूल ऑफ बुदिस्ट स्टडीज, फिलॉस्फी एंड कम्परेटिव रिलीजन
- स्कूल ऑफ लैंग्वेजेज एंड लिटरेचर
- स्कूल ऑफ इंटरनेशनल रिलेशंस एंड पीस स्टडीज
- स्कूल ऑफ इंफोर्मेशन साइंसेज एण्ड टेक्नोलॉजी
- स्कूल ऑफ बिजनेस मैनेजमेंट (पब्लिक पॉलिसी एंड डेवलपमेंट स्टडीज)।

वल्लभीः एक बौद्ध विश्वविद्यालय के तौर पर, वल्लभी, पश्चिमी भारत में काठियावाड़ में वाला के नजदीक, ने उसी प्रकार की महत्वपूर्ण भूमिका निभाई जैसी पूर्व में नालंदा ने अदा की थी। यह एक महत्वपूर्ण राज्य की राजधानी थी। इसका विकास मैत्रक राजा के विपुल अनुदान के कारण हुआ, जो पांचवीं से आठवीं शताब्दी तक मिलता रहा। ह्वेनसांग ने वल्लभी का दौरा किया और वहां लगभग 100 संघों एवं 6000 भिक्षुओं को पाया। इत्सिंग ने भी इस विश्वविद्यालय की प्रशंसा की और गौर किया कि नालंदा और वल्लभी दो स्थान थे जहां भारत के सभी हिस्सों से विद्यार्थी अपनी शिक्षा पूरी करने के लिए आते थे। ये दो विश्वविद्यालय, यद्यपि, प्राचीन भारत के क्रमशः ऑक्सफोर्ड और कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय थे। नालंदा की तरह वल्लभ बौद्ध धर्म के हीनयान शाखा के अध्ययन का विशिष्ट केंद्र था। नीति, व्रत, विद्या जैसे सर्वधर्मसमभाव विषयों को प्रोत्साहित किया गया।

विक्रमशिलाः नालंदा और वल्लभी की तरह, विक्रमशिला विश्वविद्यालय भी राजसी संरक्षण का परिणाम था। विक्रमशिला की स्थापना राजा धर्मपाल ने 8वीं शताब्दी में की थी, जो चार शताब्दियों से भी अधिक समय तक प्रसिद्ध अंतरराष्ट्रीय शिक्षा केंद्र रहा। राजा धर्मपाल ने (775-800 ईस्वी) यहां पर मंदिरों एवं विहारों का निर्माण किया एवं उदारतापूर्वक उनका संवर्द्धन किया। उन्होंने संभाषण एवं संबोधन के लिए कई हॉलों का निर्माण भी किया। उनके उत्तराधिकारियों ने 13वीं शताब्दी के अंत तक विश्वविद्यालय को निरंतर संरक्षण प्रदान किया। अध्यापक कार्य को प्रसिद्ध शिक्षकों के एक मण्डल द्वारा नियंत्रित किया जाता था और यह कहा गया है कि विक्रमशिला का यह मण्डल नालंदा के मामलों को भी प्रशासित करता था। विश्वविद्यालय में छह कॉलेज थे जिसमें प्रत्येक में स्टाफ के साथ 108 अध्यापकों की मानक संख्या होती थी, और एक केंद्रीय कक्ष था जिसे विज्ञान सभा कहते थे और जिसके छह द्वार छह कॉलेजों

में खुलते थे। पूरे विश्वविद्यालय के चारों ओर एक दीवार बनी थी जिसे कलात्मक कार्य एवं चित्रों से सुसज्जित किया गया था।

विक्रमशिला में व्याकरण, तर्कशास्त्र, भौतिक मीमांसा, रीतिरिवाज एवं अनुष्ठान पढ़ाए जाने वाले विशिष्ट एवं मुख्य विषय थे। तबकाते-ए-नासिरी के लेखक के अनुसार, 1203 में बख्तियार खिलजी के नेतृत्व में मुस्लिमों ने विक्रमशिला विश्वविद्यालय को नष्ट कर दिया।

यद्यपि विभिन्न विषयों यथा दर्शनशास्त्र, औषध, साहित्य, तर्क, योग, ज्योतिष, तंत्र, व्याकरण आदि की शिक्षा विक्रमशिला में दी जाती थी लेकिन तांत्रिक बुद्धिज्म की पढ़ाई को अधिक महत्व दिया जाता था। राहुल सांस्कृत्यायान ने विक्रमशिला में लिखी गई पुस्तकों की एक सूची प्रकाशित की है जिसका अब तिब्बती अनुवाद उपलब्ध है।

धर्मपाल द्वारा स्थापित विक्रमशिला विश्वविद्यालय की पहचान और स्थल निर्धारण, निश्चित साक्ष्य के अभाव में सही निष्कर्ष पर पहुंचने में बाधित हो रहा था। नालंदा के निकट सिलाव को विक्रमशिला के रूप में एलेक्जेण्डर कनिंघम द्वारा की गई पहचान को स्वीकार नहीं किया गया। चूंकि यह गंगा से बेहद दूर है और तिब्बत के यात्रियों द्वारा किए गए वर्णन से मेल नहीं खाता है जिन्होंने उस स्थल को देखा था। आतिशा के ब्रूम टोन के जीवन वृत्त से स्पष्ट संकेत मिलता है कि वह विश्वविद्यालय गंगा नदी के किनारे एक पहाड़ी के ऊपर ऊंचाई पर स्थापित था। नन्दलाल डे ने इसे पाथरघाट से समीकृत किया है। यद्यपि यह पहचान ब्रूम-टोन द्वारा दिए गए वर्णन से मेल खाती है कि गंगा नदी के किनारे पर पहाड़ी के ऊपर विश्वविद्यालय स्थापित है लेकिन उस स्थल के समन्वेषण और उत्खनन से ऐसा कुछ भी प्राप्त नहीं हुआ जिसके आधार पर कोई भी पाथरघाट को विक्रमशिला के रूप में निर्धारित कर सके। चूंकि पाथरघाट की सभी प्रतिमाएं और चौखटें ब्राह्मणीय हैं और यह स्थल बौद्ध चिन्हों (अवशेषों) से अछूता है, जो स्थल के अगले परीक्षण और विश्लेषण के बगैर विक्रमशिला के रूप में इसकी पहचान त्याज्य है। विद्याभूषण जैसे विद्वानों ने इसकी पहचान सुल्तानगंज से की है और बनर्जी शास्त्री ने इसे केयुर के निकट हुलासगंज समीकृत किया है तथापि एन के मिश्र और एल के मिश्र ने अन्तीचक गांव में स्थित टीला को विक्रमशिला बताया है जिसके बारे में बुचान द्वारा 1811 ई. में एक राजा के मकान के रूप में पहले ही वर्णन किया जा चुका है।

फिर भी समस्त साहित्यिक आंकड़ों को देखने के पश्चात् डॉ. बी.पी. सिन्हा विश्वस्त हुए कि विक्रमशिला और कहीं नहीं हो सकता और उन्होंने इस स्थल की भू-आकृति, टीला की ऊंचाई-निचाई और आस-पास के बेढंगे क्षेत्रों का अध्ययन कर आगे खोज-बीन की। सुनसान खण्डहरों ने उन्हें अद्भुत रूप से प्रभावित किया। विस्मयकारी परिज्ञान से संपन्न वे सुविख्यात विश्वविद्यालय को मलबे के नीचे दबे देख सके जो सदियों से इस पर जमा हो गया था।

उघाड़ा गया विहार 330 वर्ग मीटर की नाप का चौकोर है जिसका विन्यास केंद्रों को आच्छादित करते हुए दुहरे छत वाले चैत्य के साथ था। चैत्य में उभरे मण्डप के साथ शिखरयुक्त चार कक्ष हैं। शिखर विशेष में चूना-पलस्तर की बुद्ध प्रतिमाएं विभिन्न मुद्राओं में ग्रेनाइट स्तम्भ अथवा पीछे की दीवार से टिकी है। शिखर का सम्मुख मण्डप ग्रेनाइट स्तम्भ पर टिका है। उत्तरी मण्डप में वैदिक कर्म संबंधी पवित्र जल रखने के लिए दबे हुए छह पात्र हैं।

18वीं शताब्दी ईस्वी का एक तिब्बती स्रोत 'सुम्पा कहान्पो ये पॉल' के अनुसार विक्रमशिला में 58 संकाय थे। राजा रामपाल के शासन काल में जब अभ्यंकर गुप्त वहां के प्रधान थे, विक्रमशिला में 160 प्रोफेसर (आचार्य) और 1000 विद्यार्थी थे। लेकिन मुस्लिम आक्रमण के बाद से विद्यार्थियों की संख्या घटने लगी जैसाकि अतिशा के एक तिब्बती शिष्य नागत्सहो द्वारा प्रमाणित है जिन्होंने आठ श्लोकों के एक स्रोत की रचना की है। अंतिम अवस्था में यहां लगभग 100 सन्यासी थे। वृद्ध धर्मस्वामी (1153-1216) और कश्मीरी पंडित शाक्य श्रीभद्र (1145-1225) द्वारा नालन्दा भ्रमण के समय विक्रमशिला यथारूप विद्यमान था। लेकिन जब युवा धर्मस्वामी 1235 में नालन्दा आए, तब तक विक्रमशिला ढह चुका था। तिब्बती लेख पाग-साम-जोन-गंगा अथवा बौद्ध का इतिहास सुम्पा कहान्पो ये पॉल द्वारा उसके उत्थान, झुकाव और पतन के वर्णन का हवाला देते हुए शाक्य श्रीभद्र (1145-1225) कहते हैं कि उदन्तपुरी और विक्रमशिला के विहार तुर्कों द्वारा नष्ट किए गए थे।

विक्रमशिला का तिब्बत के साथ नजदीकी संबंध था। विश्वविद्यालय में पढ़ने के लिए तिब्बत से बहुत से विद्यार्थी आते थे। विक्रमशिला के परिचित विद्वानों की तिब्बत में बहुत मांग थी। बेहद प्रमुख विद्वान जिन्होंने तिब्बतियों को प्रभावित किया, वे दीपंकर श्रीज्ञान थे। इस हृदयग्राही व्यक्तित्व की छाप

इतनी अधिक थी कि वे उन्हें अतिशा मंजूश्री के एक अवतार की तरह पूजते थे। तिब्बत के राजा के द्वारा समर्थन प्राप्त उनके तेरह वर्षों के कार्य के कारण तिब्बत में बौद्ध धर्म, राज-धर्म के रूप में स्थापित हो सका था और पद्मसम्भव द्वारा स्थापित लामाओं के धर्म शासन को पक्का आधार मिला।

जगद्ला: इसकी स्थापना राजा रामपाल द्वारा की गई। ऐतिहासिक महाकाव्य रामचरित के अनुसार, बंगाल और मगध के राजा रामपाल, जिन्होंने 1108-1130 ईस्वी के बीच शासन किया, ने वारीन्द्र में गंगा एवं करातोया नदियों के तट पर एक नया शहर रामावती बसाया और शहर में विहारों का निर्माण किया जिसे जगद्ला कहा गया। यह विश्वविद्यालय मुश्किल से सौ वर्ष कार्य कर सका। 1203 ईस्वी में मुस्लिम आक्रांताओं ने इसे नष्ट कर दिया। लेकिन अपने अल्प जीवन काल में इसने अपने विद्वानों की प्रसिद्ध कृतियों के माध्यम से शिक्षा के क्षेत्र में एक मुख्य योगदान किया। इस छोटे से समय के भीतर विश्वविद्यालय ने विभूतिचंद्र, दनशिला, शुभकारा और मोकसकरागुप्त जैसे कई सुप्रसिद्ध विद्वानों को जन्म दिया, जिनमें से कुछ अच्छे तिब्बती विद्वान भी थे।

ओदन्तपुरी: ओदन्तपुरी विहार (मठ) और विश्वविद्यालय का निर्माण 8वीं शताब्दी के मध्य में पाल वंश के राजा गोपाल ने किया था। इस शिक्षा के केंद्र ने प्रमुख बौद्ध विद्वानों जैसे रत्नाकरसन्ति, दीपांकर, श्रीजन अतिशा, शिला रक्शिता एवं अन्य से सम्बद्ध होने के कारण प्रसिद्धि प्राप्त की। इस विश्वविद्यालय के बारे में बेहद कम ज्ञात है, यद्यपि अभ्यंकरगुप्त के समय यहां पर 1000 बौद्ध भिक्षु रहते थे। ओदन्तपुरी अब अपने प्रसिद्ध विद्वान प्रभाकर के नाम से जानी गई जो बंगाल में छतरपुर से आए थे। यह जान पड़ता है कि यह विश्वविद्यालय मगध में पाल राजाओं के सत्ता में आने से पूर्व काफी लंबे समय से अस्तित्व में था। इन राजाओं ने इस विश्वविद्यालय का विस्तार वैदिक एवं बौद्ध कार्यों की एक अच्छी पुस्तकालय बनाकर किया। इस विहार को एक मॉडल के तौर पर लिया गया जिस पर आधारित 749 ईस्वी में प्रथम तिब्बती बौद्ध विहार का निर्माण किया गया। इस पहले तिब्बती विहार का निर्माण तिव्बत के राजा खरी-स्रोन-देयू-सान द्वारा अपने गुरू संतारक्शित के परामर्श पर किया गया।

नादिया: भागीरथी और जलांगी के साथ इसके मिलन स्थल पर नादिया की स्थापना की गई। यह एक व्यापार एवं शिक्षा केंद्र था।

बनारस: बनारस हमेशा से पूरे भारत के लिए एक सांस्कृतिक केंद्र बना रहा और यहां तक कि बुद्ध के समय में भी यह संस्कृति केंद्र के तौर पर मौजूद था, इस प्रकार यह स्वाभाविक रूप से बेहद प्राचीन है। यद्यपि यह एक औपचारिक विश्वविद्यालय नहीं था, यह भारत में एक अद्वितीय स्थान है, जिसने सभी युगों में उच्च अध्ययन के लिए एक अत्यधिक उपयुक्त वातावरण प्रदान किया। यहां पर प्रारंभिक समय से ही तक्षशिला से अपनाई गई निर्देश पद्धति को भी पाठ्यक्रम के तौर पर अनुसरण किया गया। बनारस विश्वविद्यालय हिंदू संस्कृति के लिए प्रसिद्ध था। विद्यार्थी के तौर पर शंकराचार्य इस विश्वविद्यालय से परिचित थे। बनारस भारत में एकमात्र ऐसा शहर है जहां हिंदू विचार की प्रत्येक शाखा का प्रतिनिधित्व करने वाले स्कूल हैं। हिदू का प्रत्येक धार्मिक संप्रदाय का यहां पर तीर्थस्थान है। प्राचीन दिनों में, सारनाथ को बौद्ध शिक्षा के केंद्र के तौर पर मान्यता प्राप्त हुई।

कांचीपुरम: यह दक्षिण भारत में एक अन्य अधिगम केंद्र था। इसे दक्षिण काशी के तौर पर भी जाना जाता है। ह्वेनसांग ने 642 ईस्वी में यहां का भ्रमण किया और पाया कि यहां वैष्णव मतावलम्बी, शैव मतावलम्बी, दिगम्बर जैन और महायान बौद्ध एक साथ मिलकर अध्ययन करते थे।

नवद्वीप: यह तुलनात्मक रूप से नूतन काल के सम्बन्ध रखता है और इसकी स्थापना 1063 ईस्वी में बंगाल के सेना नरेश द्वारा की गई थी। यह जल्द ही शिक्षा के महान केंद्र के रूप में उदित हुआ। इसने वेदों एवं वेदांग की शिक्षा प्रदान की। चैतन्य को नवद्वीप संस्थान की उपज माना जाता है। यहां पर 500-600 विद्यार्थी थे, जो बंगाल, असम, नेपाल एवं दक्षिण भारत से आते थे। ए.एच. विल्सन ने 1821 ईस्वी में यहां का भ्रमण किया।

मध्यकाल में शिक्षा

भारत में दिल्ली सल्तनत की स्थापना के साथ, शिक्षा की इस्लामी पद्धति सामने आयी। मध्यकाल में शिक्षा का अभिकल्पन बगदाद के अबासिद के अंतर्गत विकसित शिक्षा की परम्परा की तर्ज पर किया गया। जिसके परिणामस्वरूप, समरकंद, बुखारा और ईरान जैसे देशों के विद्वानों ने पथ प्रदर्शन के लिए भारतीय विद्वानों की ओर देखा। अमीर खुसरो, एक उत्कृष्ट व्यक्तित्व, ने न केवल गद्यांश और पद्यांश के कौशल का विकास किया अपितु एक नई भाषा को भी वर्गीकृत

किया जो स्थानीय जरूरतों एवं दशाओं के लिए उचित थी। मिन्हास-उस-सिराज, जियाउद्दीन बरनी एवं आतिक जैसे कुछ समकालीन इतिहासकारों ने भारतीय विद्वता के बारे में लिखा।

मुस्लिम शासन काल के दौरान शिक्षा को राज्य का बेहद संरक्षण मिला। मुस्लिम शासकों ने कई मकतब, मदरसे, पुस्तकालय इत्यादि स्थापित किए, और कई विद्वानों को संरक्षण दिया। उन्होंने कई विद्यार्थियों के लिए वजीफे की स्वीकृति भी दी।

अरब एवं मध्य एशियाई लोग उपमहाद्वीप में मध्यकाल एवं प्रारंभिक आधुनिक काल दोनों में मुस्लिम शैक्षिक प्रतिमान लेकर आए। 632 हिजरी संवत में पैगम्बर मुहम्मद की मृत्यु के एक दशक के भीतर अरब समुद्री व्यापारी दक्षिण भारत में व्यापार करने एवं रहने लगे और उन्होंने स्थानीय महिलाओं के साथ विवाह किए। तुर्की और अन्य मध्य एशियाई आक्रांताओं ने 1000 ईस्वी के आस-पास उत्तरी भारत पर हमले किए और तत्पश्चात् कई विदेशी विजित साम्राज्यों की स्थापना की। मुस्लिम शासकों ने पुस्तकालयों एवं साहित्यिक समाजों की स्थापना करके शहरी शिक्षा को प्रोत्साहित किया। उन्होंने प्राथमिक विद्यालय (मकतब) भी स्थापित किए जहां विद्यार्थी पढ़ना, लिखना और मूलभूत इस्लामी प्रार्थनाओं को सीखते थे, और उच्च विद्यालयों (मदरसा) की भी नींव रखी जिसमें उन्नत भाषा कौशल, कुरान की आयतें, पैगम्बर परम्परा, इस्लामी कानून (शरिया) और सम्बद्ध विषय पढ़ाये जाते थे। इस्लामी स्कूल, जो अक्सर मस्जिद के साथ जुड़े होते थे, गरीबों के लिए भी खुले थे लेकिन लैंगिक रूप से वर्गीकृत थे, जिसमें केवल लड़कों को ही प्रवेश मिलता था। समृद्ध परिवारों की मुस्लिम लड़कियां घर पर ही पढ़ाई करती थीं, यदि वे कुरान के अतिरिक्त कोई शिक्षा लेनी चाहती थीं। 1526 ईस्वी में भारत में मुगल साम्राज्य के प्रारम्भ से लेकर 1848 में मुगल राजनीतिक शक्ति के अंत तक, फारसी दरबारों की भाषा थी और अभिजात्य वर्ग के लड़के साहित्य, इतिहास, आचार, विधि, प्रशासन, और दरबार प्रोटोकॉल सीखने के लिए फारसी स्कूलों में प्रवेश ले सकते थे। औषधि, गणित एवं तर्कशास्त्र जैसे विषयों ने भी इस्लामी शिक्षा केंद्रों में पाठ्यक्रम के एक महत्वपूर्ण हिस्से के रूप में स्थान बनाया। अत्यधिक गहन व्यवस्था थी प्रसिद्ध सूफियों (खानकाह) के विचारों को फैलाना। इन नवीन शैक्षिक प्रतिरूपों ने आवश्यक रूप से पुराने

प्रतिमानों को प्रतिस्थापित नहीं किया, यद्यपि राज्य संरक्षण का पैटर्न बदल गया था। संस्कृत विद्यापीठों ने युवा पुरुष ब्राह्मणों को साहित्य एवं विधि पढ़ाना जारी रखा; प्रशिक्षण प्रदान करने वाले और व्यापारिक स्कूलों ने लड़कों को व्यापार के लिए आवश्यक कौशल में पारंगत किया। कन्या शिक्षा एक अपवाद थी।

भारत ने आठवीं शताब्दी के प्रारंभ में बड़ी संख्या में मुस्लिम आक्रमणकारियों का सामना किया। महमूद गजनी ने भारत में आक्रमण किया और ढेर सारा धन लूट कर ले गया जिससे उसने अपने देश में एक बड़ी संख्या में स्कूलों एवं पुस्तकालयों की स्थापना की। बाद में जब मुस्लिम शासकों ने भारत में स्थायी रूप से साम्राज्य स्थापित किए, तो उन्होंने शिक्षा की एक नई पद्धति प्रस्तुत की। परिणामस्वरूप शिक्षा की प्राचीन पद्धति व्यापक रूप से बदल गई। वास्तव में, मुस्लिम शासन काल में हिंदू शासन काल की अपेक्षा शिक्षा की गुणवत्ता में कहीं अधिक कमी आयी। अकबर के अलावा किसी भी मुस्लिम शासक ने शिक्षा के क्षेत्र में प्रशंसनीय कार्य नहीं किया।

मुस्लिम शासन काल में शिक्षा का प्राथमिक एवं मुख्य उद्देश्य ज्ञान का विस्तार एवं इस्लाम का प्रचार करना था। इस समयावधि के दौरान शिक्षा का प्रसार इस्लामी सिद्धांतों के प्रचार, कानूनों एवं सामाजिक अभिसमयों के लिए किया गया। शिक्षा धर्म पर आधारित थी और इसका उद्देश्य धर्मावलंबी लोगों को तैयार करना था। इसका दूसरा उद्देश्य भौतिक समृद्धि हासिल करना था।

मुस्लिम शासनकाल में शिक्षा को **मकतब** एवं **मदरसा** में बांटा गया। प्राथमिक शिक्षा मकतब में दी जाती थी और उच्च शिक्षा मदरसा में दी जाती थी। मकतब में बच्चों को कुरान की आयतें याद कराई जाती थीं। इसके साथ-साथ पढ़ना, लिखना एवं प्राथमिक गणित की शिक्षा भी दी जाती थी। इसके अतिरिक्त उन्हें अरबी लिपि, फारसी भाषा और लिपि की शिक्षा भी दी जाती थी। पैगम्बरों एवं मुस्लिम फकीरों की कहानियां बच्चों को सुनाई जाती थीं। बच्चों को लेखन एवं वाक् कौशल की जानकारी एवं शिक्षा भी दी जाती थी। उन दिनों में मौखिक शिक्षा ही अधिकतर दी जाती थी। प्राथमिक शिक्षा पूरी करने के बाद बच्चों को मदरसा में भेजा जाता था। वहां पर विभिन्न विषयों के अलग-अलग शिक्षक होते थे। इस्लाम की शिक्षा पर विशेष जोर दिया जाता था। मदरसे में धार्मिक एवं धर्मनिरपेक्ष विषय भी पढ़ाए जाते थे। धार्मिक शिक्षा में कुरान का अध्ययन,

मोहम्मद एवं उनके विश्वास, इस्लामी कानूनों एवं इस्लामी इतिहास इत्यादि की शिक्षा शामिल थी। धर्मनिरपेक्ष शिक्षा में अरबी साहित्य, व्याकरण, इतिहास, दर्शन, गणित, भूगोल, राजनीति, अर्थशास्त्र, ग्रीक भाषा एवं कृषि इत्यादि का अध्ययन कराया जाता था।

इस्लामी शिक्षा पद्धति की मुख्य विशेषता थी कि यह आत्मा में परम्परागत और सामग्री में ईश्वर मीमांसा या धर्मविज्ञानी थी। पाठ्यक्रम को दो व्यापक भागों में विभाजित किया गया था परम्परागत (मनकुलात) एवं तार्किक (मकुलात) विज्ञान। परम्पराएं, कानून एवं इतिहास और साहित्य परम्परागत विज्ञानों के अंतर्गत रखे गए। तर्क, दर्शन, औषधि, गणित एवं खगोल विज्ञान तार्किक विज्ञानों के अंतर्गत आते हैं। बाद में, परम्परागत विज्ञानों की अपेक्षा तार्किक विज्ञानों पर जोर दिया गया। इस्लामी शिक्षा में परम्परागत विषयों का प्रभुत्व इल्तुतमिश (1211-36) के शासनकाल से लेकर सिकंदर लोदी (1489-1517) के शासनकाल तक रहा। शिक्षा परिदृश्य में बदलाव उस समय शुरू हुआ जब सिकंदर लोदी ने दो भाइयों शेख अब्दुल्ला और शेख अजीजुल्लाह को मुल्तान से दिल्ली आमंत्रित किया। उन्होंने पाठ्यक्रम में दर्शन एवं तर्क के अध्ययन को प्रस्तुत किया।

मुगल शासक शिक्षा एवं साहित्य के मुख्य संरक्षक थे। इस काल में उर्दू का उत्थान देखा गया। बाबर ने स्वयं अपनी आत्मकथा लिखी जिसे तजुक-ए-बाबरी के नाम से जाना जाता है। मुगल शासक हुमायूं ने दिल्ली में मदरसों में गणित, खगोलशास्त्र और भूगोल का अध्ययन प्रारंभ कराया। इसने मौजूदा शिक्षा पद्धति में पक्षपातीय स्थिति को कम करने में मदद की। कई हिंदुओं ने फारसी भाषा सीखी एवं संस्कृत से फारसी में बड़ी मात्रा में अनुवाद कार्य किया। अकबर ने लेखांकन, लोक प्रशासन, ज्यामिति जैसे विषयों को शिक्षा में शामिल किया और अपने महल के पास एक कार्यशाला का निर्माण किया। उसने कार्यशाला की स्वयं देख-रेख की। मुगल शासकों ने शिक्षा के प्रति बेहद लगाव जाहिर किया और पाठशालाओं, विद्यापीठों, मकतबों और मदरसों के माध्यम से शिक्षा के प्रसार में योगदान दिया। अकबर ने शैक्षिक संस्थानों को अनुदान दिया। उसने जामा मस्जिद के निकट एक कॉलेज शुरू किया। उस समय, शिक्षा राज्य का विषय नहीं था। आम तौर पर, मंदिरों एवं मस्जिद प्रारंभिक शिक्षा के केंद्र थे। वे अपने वित्त पोषण के लिए शासकों, अमीर लोगों एवं दानकर्ताओं द्वारा

दिए गए दान पर निर्भर थे। संस्कृत एवं फारसी भाषा मंदिरों एवं मस्जिदों में पढ़ाई जाती थी। महिला शिक्षा का कोई प्रावधान नहीं था। शाही घरानों एवं समृद्ध परिवारों की महिलाएं घर पर ही शिक्षा प्राप्त करती थीं। मुगल शासक अकबर ने अबुल फजल, फैजी, राजा टोडरमल, बीरबल तथा रहीम जैसे कई विद्वानों को संरक्षण दिया। ये अकबर के दरबार के नवरत्नों में से थे जिन्होंने संस्कृति एवं शिक्षा के विस्तार में मदद की।

मध्य काल में शिक्षा के महत्वपूर्ण केंद्र

भारत में मुस्लिम शासन काल के दौरान कई शहरों ने उच्च शिक्षा के क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा की।

दिल्लीः शुरुआती मुस्लिम शासकों ने दिल्ली को अपनी राजधानी बनाया। मुगल रानियों ने भी भारत के इस महानगर को सुंदर एवं गरिमामय बनाने में कोई कसर नहीं छोड़ी। यह स्वाभाविक था कि दिल्ली मुस्लिम शिक्षा का केंद्र बना। नसीरुद्दीन ने दिल्ली में शिराज की अध्यक्षता में 'मदरसा-ए-नसीरिया' की स्थापना की। गुलाम वंश के अन्य शासकों ने भी दिल्ली को मुस्लिम शिक्षा का महत्वपूर्ण केंद्र बनाए रखने का प्रयास किया।

अलाउद्दीन खिलजी ने भी दिल्ली में कई मदरसा स्थापित किए और वहां पर सुप्रसिद्ध अध्यापकों की नियुक्ति की। इन संस्थानों में 40 से भी अधिक विद्वान मुस्लिम धर्म विज्ञानी एवं मुस्लिम कानूनों के अध्यापक थे। अलाउद्दीन खिलजी के शासन काल में दिल्ली साहित्यकारों और कलाकारों का केंद्र बना।

मुहम्मद तुगलक और उसके उत्तराधिकारी, फिरोज तुगलक के शासन काल के दौरान दिल्ली निरंतर मुस्लिम शिक्षा का महत्वपूर्ण केंद्र बना रहा।

मुगलों के शासनकाल के दौरान, दिल्ली ने न केवल अपना शिक्षा के केंद्र होने का दर्जा बनाए रखा अपितु इसमें सुधार भी किया। यह अब उत्तरी भारत में मुस्लिम शिक्षा का महत्वपूर्ण स्थान बन चुका था। हुमायूं ने दिल्ली में खगोलशास्त्र एवं भूगोल के अध्ययन के लिए संस्थानों की स्थापना की। अकबर ने भी ऐसे शैक्षिक संस्थानों में इजाफा किया जहां अरबी, फारसी, व्याकरण, दर्शन एवं खगोलशास्त्र जैसे विषय भी पढ़ाए जाते थे। यह कहा जाता है कि यहां तक कि अकबर की 'आया' ने भी 1561 में दिल्ली में एक बड़ा शैक्षिक संस्थान स्थापित किया, और प्रसिद्ध विद्वान बदायूंनी ने यहां से शिक्षा ग्रहण की। जहांगीर और

शाहजहां ने भी दिल्ली के इस मुकाम को बनाए रखा और इसमें योगदान करने के लिए वह सब कुछ किया जो वे कर सकते थे। औरंगजेब ने दिल्ली को एक रूढ़िवादी मुस्लिम शिक्षा के एक शहर के रूप में तब्दील करने का भरसक प्रयास किया। इसके दृष्टिगत उसने कई नए शिक्षा संस्थान खोले और मौजूदा केंद्रों को वित्तीय मदद प्रदान की। उसके पश्चात् दिल्ली के इस दर्जे में कमी आनी शुरू हो गई।

आगराः सिकंदर लोदी ने आगरा को मुस्लिम शिक्षा का एक महत्वपूर्ण केंद्र बनाया। उसने इस शहर में कई मकतबों एवं मदरसों की स्थापना की जहां विदेशों से भी विद्यार्थी अध्ययन के लिए आए। सिकंदर लोदी के बाद बाबर एवं हुमायूं ने भी आगरा में मदरसों की स्थापना की। लेकिन अकबर ने आगरा को न केवल शिक्षा एवं अधिगम का एक केंद्र बनाया अपितु संस्कृति, दस्तकारी एवं ललित कलाओं का भी एक मुख्य स्थान बनाया। उसके शासन काल में, आगरा एक बड़ा विश्वविद्यालय बना जहां कई जगहों से विद्वान एवं शोधार्थी आए।

आगरा के निकट एक प्रसिद्ध शहर फतेहपुर सीकरी है, जहां अकबर ने कई विद्यालयों का निर्माण किया। उसकी मृत्यु के पश्चात्, जहांगीर एवं शाहजहां ने भी मौजूदा मदरसों एवं शैक्षिक संस्थानों की संख्या में इजाफा किया और उन्हें वित्तीय मदद भी प्रदान की। औरंगजेब के शासनकाल के दौरान आगरा इस्लामी शिक्षा का एक बेहद महत्वपूर्ण स्थान माना जाने लगा। लेकिन मुगल साम्राज्य के पतन के साथ, आगरा की प्रस्थिति में भी कमी होती गई।

जौनपुरः तुर्को, अफगानों एवं मुगलों के शासन काल के दौरान, जौनपुर को भी मुस्लिम शिक्षा के महत्वपूर्ण केंद्र के तौर पर ख्याति प्राप्त हुई। यह कहा जाता है कि शेरशाह सूरी ने भी यहीं के किसी एक विद्यालय में शिक्षा प्राप्त की। यहां पर शिक्षा के विभिन्न किस्म के संस्थान थे। यहां विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त करने के लिए कई स्थानों से आए और इतिहास, राजनीति विज्ञान, दर्शन, और युद्धास्त्रों का भी ज्ञान प्राप्त किया।

इब्राहीम शर्की ने जौनपुर में कई मदरसों की स्थापना की और राज्य द्वारा उनके वित्त पोषण की व्यवस्था की। मुगल शासकों में हुमायूं से लेकर शाहजहां तक ने इस स्थान पर उचित ध्यान दिया और इसे शिक्षा का एक स्थान बनाने का प्रयास किया। यह शहर दस्तकारी एवं ललित कलाओं के लिए प्रसिद्ध था।

मोहम्मद शाह के शासन के दौरान यहां 20 शैक्षिक संस्थानों की स्थापना की गई। मुगल साम्राज्य के पतन के साथ ही इस स्थान की शैक्षिक स्थान के तौर पर गरिमा धूमिल होने लगी।

बीदरः यह दक्षिण भारत में बहमनी शासकों के शासनाधीन एक शहर था। यह शिक्षा का एक महत्वपूर्ण स्थान था और मोहम्मद गवन ने कई मकतबों एवं एक विशाल मदरसे का यहां निर्माण किया। इस मदरसे में बेहद विद्वान मौलवी नियुक्त किए गए। इस मदरसे के साथ एक विशाल पुस्तकालय भी बनाया गया जिसमें इस्लामी धर्म विज्ञान, संस्कृति, दर्शन, चिकित्सा विज्ञान, खगोलशास्त्र, इतिहास, कृषि इत्यादि पर लगभग 3,000 पुस्तकें थीं। ग्रामीण क्षेत्रों में भी मकतब थे जिनके माध्यम से अरबी एवं फारसी भाषा का विस्तार किया गया। बहमनी शासक विशेष प्रकार की शिक्षा का विस्तार करते थे। इस शासन के तहत् एक भी ऐसा गांव नहीं था जहां कम से कम एक शैक्षिक संस्थान न हो। इसलिए यह स्वाभाविक था कि बीदर दक्षिण भारत में इस्लामी शिक्षा का एक महत्वपूर्ण केंद्र बना।

मध्यकाल मदरसों की वृद्धि एवं विकास का साक्षी रहा जिसने उच्च शिक्षा का प्रतिनिधित्व किया। प्रारंभिक मदरसों के बारे में अधिक ज्ञात नहीं है, मुहम्मद गौरी ने अजमेर में कई मदरसों की स्थापना की जिसे उनके उत्तराधिकारियों ने कई स्थानों पर शृंखलाबद्ध किया। मदरसों को राजनीतिक संरक्षण एवं भूमि पर्याप्त रूप से प्राप्त हुई।

यद्यपि मुस्लिम शासन काल के दौरान पर्दा प्रथा थी, फिर भी इस्लाम ने महिला शिक्षा का विरोध नहीं किया। इन दो विपरीत कारकों ने महिला शिक्षा को दो तरीके से प्रभावित किया। लड़कियों को एक निर्धारित आयु तक लड़कों के समान शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार था लेकिन उसके पश्चात् उनकी शिक्षा रोक दी जाती थी। हालांकि, उच्च वर्गों की लड़कियां घर पर अपनी पढ़ाई जारी रख सकती थीं।

आधुनिक काल में शिक्षा

भारत में सामाजिक जीवन के अन्य पहलुओं की तरह, पूर्ववर्ती शताब्दियों की कई सारी परम्परागत विशेषताएं शिक्षा के क्षेत्र में आधुनिक काल के प्रारंभ या 18वीं शताब्दी में बनी रहीं। तक्षशिला, नालंदा, भागलपुर के नजदीक विक्रमशिला,

उत्तरी बंगाल में जगदल, काठियावाड़ में वल्लभी और दक्षिण भारत में कांची जैसे उच्च शिक्षा के प्राचीन प्रसिद्ध केंद्र काफी समय पहले विलुप्त हो चुके थे। दूसरी ओर इस्लामी शिक्षा शासकों एवं संतों के संरक्षण में फली-फूली। फिर भी हिंदू जनसंख्या का एक बड़ा भाग उस समय के प्रसिद्ध सम्मानित शैक्षिक संस्थानों में शिक्षा ग्रहण करता रहा।

लगभग 150 वर्षों तक, ब्रिटिश भारत में व्यापार एवं विजय प्राप्त करने में मशगूल थे। अतः उन्होंने शिक्षा सहित सभी प्रकार की सांस्कृतिक गतिविधियों से दूरी बनाए रखी। शुरुआत 1781 में वारेन हेस्टिंग्ज के ओरियंटल स्कॉलरशिप से हुई जब उन्होंने कलकत्ता मदरसा की शुरुआत की। उनके प्रयास प्राथमिक तौर पर प्रशासनिक कारणों से थे। ग्यारह वर्षों बाद, 1792 में, जोनाथन डंकन, जो वाराणसी के रेजीडेंट थे, ने यूरोपीय लोगों की मदद के लिए हिंदुओं को शिक्षित करने के उद्‌देश्य से एक संस्कृत कॉलेज की शुरुआत की।

इसी बीच, ईसाई मिशनरियों ने प्राथमिक स्कूलों को खोलकर पश्चिमी शिक्षा को प्रस्तुत करने का प्रयास किया और समाज के दलित एवं कमजोर वर्गों, जिसमें अछूत जातियां भी शामिल थीं, को अधिकाधिक शिक्षा प्रदान की।

प्रारंभिक 60 वर्षों तक ईस्ट इंडिया कंपनी एक विशुद्ध व्यापारिक कंपनी थी। उसका उद्देश्य व्यापार करके केवल अधिक से अधिक लाभ कमाना था तथा देश में शिक्षा को प्रोत्साहित करने में उसकी कोई रुचि नहीं थी। इन वर्षों में शिक्षा के प्रोत्साहन एवं विकास हेतु जो भी प्रयास किये गये, वे व्यक्तिगत स्तर पर ही किये गये थे।

1781 में वारेन हेस्टिंग्स ने कलकत्ता मदरसा की स्थापना की। इसका उद्देश्य, मुस्लिम कानूनों तथा इससे संबंधित अन्य विषयों की शिक्षा देना था। 1791 में बनारस के ब्रिटिश रेजिडेन्ट, जोनाथन डंकन के प्रयत्नों से बनारस में संस्कृत कालेज की स्थापना की गयी। इसका उद्‌देश्य हिन्दू विधि एवं दर्शन का अध्ययन करना था। वर्ष 1800 में लार्ड वैलेजली ने कंपनी के असैनिक अधिकारियों की शिक्षा के लिये फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना की। इस कॉलेज में अधिकारियों को विभिन्न भारतीय भाषाओं तथा भारतीय रीति-रिवाजों की शिक्षा भी दी जाती थी। (किंतु 1802 में निदेशकों के आदेश पर यह कालेज बंद कर दिया गया)।

कलकत्ता मदरसा एवं संस्कृत कॉलेज में शिक्षा पद्धति का ढांचा इस प्रकार

तैयार किया गया था कि कंपनी को ऐसे शिक्षित भारतीय नियमित तौर पर उपलब्ध कराये जा सकें, जो शास्त्रीय और स्थानीय भाषाओं के अच्छे ज्ञाता हों तथा कंपनी के कानूनी प्रशासन में उसे मदद कर सकें। न्याय विभाग में अरबी, फारसी और संस्कृत के ज्ञाताओं की आवश्यकता थी ताकि वे लोग न्यायालयों में अंग्रेज न्यायाधीशों के साथ परामर्शदाता के रूप में बैठ सकें तथा मुस्लिम एवं हिन्दू कानूनों की व्याख्या कर सकें। भारतीय रियासतों के साथ पत्र-व्यवहार के लिये भी कंपनी को इन भाषाओं के विद्वानों की आवश्यकता थी। इसी समय प्रबुद्ध भारतीयों एवं मिशनरियों ने सरकार पर आधुनिक, धर्मनिरपेक्ष एवं पाश्चात्य शिक्षा को प्रोत्साहित करने के लिये दबाव डालना प्रारंभ कर दिया क्योंकि (i) प्रबुद्ध भारतीयों ने निष्कर्ष निकाला कि पाश्चात्य शिक्षा के माध्यम से ही देश की सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक दुर्बलता को दूर किया जा सकता है। (ii) मिशनरियों ने यह निष्कर्ष निकाला कि पाश्चात्य शिक्षा के प्रचार से भारतीयों की उनके परंपरागत धर्म में आस्था समाप्त हो जायेगी तथा वे ईसाई धर्म ग्रहण कर लेंगे। सीरमपुर के मिशनरी इस क्षेत्र में बहुत उत्साही थे।

1813 के चार्टर एक्ट से प्रशंसनीय शुरुआत

इस चार्टर एक्ट में, भारत में स्थानीय विद्वानों को प्रोत्साहित करने तथा देश में आधुनिक विज्ञान के ज्ञान को प्रारंभ एवं उन्नत करने जैसे उद्देश्यों को रखा गया था। इस उद्देश्य के लिये कंपनी द्वारा प्रतिवर्ष 1 लाख रुपये की राशि स्वीकृत की गयी थी। किंतु इस राशि को व्यय करने के प्रश्न पर विवाद हो जाने के कारण 1823 तक यह राशि उपलब्ध नहीं करायी गयी।

इस बीच कुछ प्रबुद्ध भारतीयों ने व्यक्तिगत स्तर पर अपने प्रयास जारी रखे तथा शिक्षा के विकास एवं शिक्षा संस्थानों की स्थापना के लिये भारी अनुदान दिया। इनमें राजा राममोहन राय का नाम अग्रगण्य है। उन्होंने 1817 में कलकत्ता हिन्दू कालेज की स्थापना के लिये भारी अनुदान दिया। शिक्षित बंगालियों द्वारा स्थापित इस कालेज में अंग्रेजी माध्यम से शिक्षा दी जाती थी तथा पाश्चात्य विज्ञान और मानविकी (Humanities) पढ़ायी जाती थी। सरकार ने कलकत्ता, आगरा और बनारस में तीन संस्कृत कालेज स्थापित किये। इसके अतिरिक्त यूरोपीय वैज्ञानिक पुस्तकों का प्राच्य भाषाओं में अनुवाद करने के लिये भी अनुदान दिया गया।

आंग्ल-प्राच्य विवाद

लोक शिक्षा की सामान्य समिति में दो दल थे। एक दल प्राच्य शिक्षा समर्थक था और दूसरा आंग्ल शिक्षा समर्थक।

प्राच्य-शिक्षा समर्थकों का तर्क था कि जहां रोजगार के अवसरों में वृद्धि के लिये पाश्चात्य विज्ञान एवं साहित्य के अध्ययन को बढ़ावा दिया जा रहा है, वहां इसके स्थान पर परंपरागत भारतीय भाषाओं एवं साहित्य को प्रोत्साहित किया जाना चाहिये।

दूसरी ओर आंग्ल-शिक्षा समर्थकों में शिक्षा के माध्यम को लेकर विवाद हो गया तथा वे दो धड़ों में विभक्त हो गये। एक धड़ा, शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी भाषा को बनाये जाने पर जोर दे रहा था तो दूसरा धड़ा, शिक्षा का माध्यम भारतीय (देशी) भाषाओं को बनाये जाने का पक्षधर था।

आंग्ल एवं प्राच्य शिक्षा समर्थकों के मध्य इस विवाद से शिक्षा के प्रोत्साहन का मुद्दा अप्रभावी हो गया तथा इसके कई दुष्परिणाम निकले।

लार्ड मैकाले का स्मरण-पत्र, 1835: गवर्नर-जनरल की कार्यकारिणी परिषद के सदस्य लार्ड मैकाले ने आंग्ल-दल का समर्थन किया। 2 फरवरी, 1835 को अपने महत्वपूर्ण स्मरण-पत्र में उसने लिखा कि 'सरकार के सीमित संसाधनों के मद्देनजर पाश्चात्य विज्ञान एवं साहित्य की शिक्षा के लिये, माध्यम के रूप में अंग्रेजी भाषा ही सर्वोत्तम है'। मैकाले ने कहा कि ''भारतीय साहित्य का स्तर यूरोपीय साहित्य की तुलना में अत्यंत निम्न है''। उसने भारतीय शिक्षा पद्धति एवं साहित्य की आलोचना करते हुये अंग्रेजी भाषा का पूर्ण समर्थन किया।

मैकाले के इन सुझावों के पश्चात् सरकार ने शीघ्र ही स्कूलों एवं कालेजों में शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी बना दिया तथा बड़े पैमाने एवं अंग्रेजी माध्यम से शिक्षा देने वाले स्कूलों एवं कॉलेजों की स्थापना की गयी। इस प्रकार सरकार जनसाधारण की शिक्षा को उपेक्षित करने लगी। सरकार की योजना, समाज के उच्च एवं मध्य वर्ग के एक तबके को शिक्षित कर एक ऐसी श्रेणी बनाने की थी जो ''रक्त एवं रंग से भारतीय हो परंतु अपने विचार नैतिक मापदण्ड, प्रज्ञा (intellect) एवं प्रवृत्ति (Taste) से अंग्रेज हो''। यह श्रेणी ऐसी हो कि यह सरकार तथा जन-साधारण के बीच दुभाषिये (interpreters) की भूमिका निभा सके। इस प्रकार पाश्चात्य विज्ञान तथा साहित्य का ज्ञान जनसाधारण तक

पहुंच जायेगा। इस सिद्धांत को अधोगामी 'विप्रवेशन सिद्धांत' (downward infiltration theory) के नाम से जाना गया।

थामसन के प्रयास

उत्तर-पश्चिमी प्रांत (आधुनिक उत्तर प्रदेश) के लेफ्टिनेंट गवर्नर जेम्स थामसन (1843-53) ने देशी भाषाओं द्वारा ग्राम शिक्षा की एक विस्तृत योजना बनायी। अंग्रेजी माध्यम से शिक्षा देने वाले छोटे-छोटे स्कूलों को बंद कर दिया गया। अब केवल कॉलेजों में ही अंग्रेजी भाषा शिक्षा का माध्यम रह गयी। गांव के स्कूलों में कृषि विज्ञान तथा क्षेत्रमिति (mensuration) जैसे उपयोगी विषयों का अध्ययन प्रारंभ किया गया। अध्ययन के लिये देशी भाषाओं को माध्यम के रूप में चुना गया। इसके योजना के पीछे थामसन का उद्देश्य यह था कि नवगठित राजस्व तथा लोक निर्माण विभागों के लिये शिक्षित व्यक्ति उपलब्ध हो सकें। इसके अतिरिक्त एक शिक्षा विभाग का भी गठन किया गया।

चार्ल्स वुड का डिस्पैच, 1854

सर चार्ल्स वुड, जो अर्ल आफ एबरडीन (1852-55) की मिली-जुली सरकार में बोर्ड ऑफ कंट्रोल के अध्यक्ष थे, 1854 में भारत की भावी शिक्षा के लिये एक विस्तृत योजना बनायी। 'भारतीय शिक्षा का मैग्ना-कार्टा' कहा जाने वाला चार्ल्स वुड का यह डिस्पैच भारत में शिक्षा के विकास से संबंधित पहला विस्तृत प्रस्ताव था। इस डिस्पैच की प्रमुख सिफारिशें निम्नानुसार थीं

- इसमें सरकार से कहा गया कि वह जनसाधारण की शिक्षा का उत्तरदायित्व स्वयं वहन करें। इस प्रकार अधोगामी विप्रवेशन सिद्धांत कम से कम कागजों में ही सिमट कर रह गया।
- इसने सुझाव दिया कि गांवों में देशी-भाषाई प्राथमिक पाठशालायें स्थापित की जायें, उनसे ऊपर जिला स्तर पर आंग्ल-देशी-भाषाई हाईस्कूल तथा लंदन विश्वविद्यालय की तर्ज पर तीनों प्रेसीडेंसी शहरों-बंबई, कलकत्ता और मद्रास में विश्वविद्यालय स्थापित किये जायें। इन विश्वविद्यालयों में एक कुलपति, एक सीनेट और उसके अधि-सदस्य (fellows) होंगें। इन सभी की नियुक्ति सरकार द्वारा की जायेगी। ये विश्वविद्यालय परीक्षाएं आयोजित करेंगे तथा उपाधियां (degree) देंगे।

• इसने उच्च शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी तथा स्कूल स्तर की शिक्षा का माध्यम देशी भाषाओं को बनाये जाने का सुझाव दिया।

• इसने स्त्री शिक्षा तथा व्यावसायिक शिक्षा की आवश्यकता पर बल दिया तथा तकनीकी विद्यालयों एवं अध्यापक प्रशिक्षण संस्थाओं की स्थापना की सिफारिश की।

• इस क्षेत्र में निजी प्रयत्नों को प्रोत्साहित करने के लिये अनुदान सहायता (Grant-in-aid) की पद्धति चलाने की सिफारिश भी इसने की।

• कंपनी के पांचों प्रांतों में एक-एक निदेशक के अधीन लोक शिक्षा विभाग (Department of Public instruction) की स्थापना की गयी। इस विभाग का कार्य था शिक्षा की उन्नति एवं उसके प्रचार-प्रसार की समीक्षा करना तथा सरकार को प्रतिवर्ष इस संबंध में रिपोर्ट भेजना।

• इसने इस बात पर बल दिया कि सरकारी शिक्षण संस्थाओं में दी जाने वाली शिक्षा, धर्मनिरपेक्ष (secular) हो।

• इसने इस बात की घोषणा की कि सरकार की शिक्षा नीति का उद्देश्य पाश्चात्य शिक्षा का प्रसार है।

1857 में कलकत्ता, बंबई तथा मद्रास में विश्वविद्यालय खोले गये तथा बाद में सभी प्रांतों में शिक्षा विभाग का गठन भी कर दिया गया। 1840 से 1858 के मध्य स्त्री शिक्षा के क्षेत्र में किये गये प्रयासों को सार्थक परिणति तब मिली जब जे.ई.डी. बेथुन द्वारा 1849 में कलकत्ता में बेथुन स्कूल की स्थापना की गयी। बेथुन, शिक्षा परिषद (Council of education) के अध्यक्ष थे। मुख्यतयाः बेथुन के प्रयत्नों द्वारा ही कुछ महिला पाठशालाओं की स्थापना की गयी और इन्हें सरकार की अनुदान एवं निरीक्षण पद्धति के अधीन लाया गया।

इसी काल में पूसा (बिहार) में कृषि संस्थान तथा रुड़की में अभियांत्रिकी संस्थान (engineering institute) की स्थापना की गयी।

चार्ल्स वुड द्वारा अनुमोदित विधियां एवं आदर्श लगभग 50 वर्षों तक प्रभावी रहे। इसी काल में भारतीय शिक्षा का तीव्र गति से पाश्चात्यीकरण हुआ तथा अनेक शिक्षण संस्थायें स्थापित की गयीं। इस काल में शिक्षण संस्थाओं में प्रधानाध्यापक एवं आचार्य मुख्यतया यूरोपीय ही नियुक्त किये जाते थे। ईसाई

मिशनरी संस्थाओं ने भी इस दिशा में अपना योगदान दिया। धीरे-धीरे निजी भारतीय प्रयत्न भी इस दिशा में किये जाने लगे।

हन्टर शिक्षा आयोग

प्राथमिक एवं माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र में प्रारंभिक योजनाओं की उपेक्षा कर दी गयी। वर्ष 1870 से जबकि शिक्षा प्रांतों में स्थानांतरित की गयी तो प्राथमिक एवं माध्यमिक शिक्षा की स्थिति और खराब हो गयी क्योंकि प्रांतों के सीमित संसाधनों के कारण वे इस दिशा में अपेक्षित व्यय नहीं कर पा रहे थे। 1882में सरकार ने डब्ल्यू.डब्ल्यू. हंटर की अध्यक्षता में एक आयोग का गठन किया, जिसे 1854 के पश्चात् देश में शिक्षा की दिशा में किये गये प्रयासों एवं उसकी प्रगति की समीक्षा करना था। हंटर आयोग की समीक्षा का कार्य, केवल प्राथमिक एवं माध्यमिक शिक्षा तक ही सीमित था तथा विश्वविद्यालयों के कार्यों से इसका कोई संबंध नहीं था। इस आयोग ने सरकार को निम्न सुझाव दिये

• सरकार को प्राथमिक शिक्षा के सुधार और विकास की ओर विशेष ध्यान देना चाहिये। यह शिक्षा उपयोगी विषयों तथा स्थानीय भाषा में हो।

• इसने सिफारिश की कि प्राथमिक पाठशालाओं का नियंत्रण नवसंस्थापित नगर और जिला बोर्डों को दे दिया जाये।

• इसने सुझाव दिया कि माध्यमिक शिक्षा के दो खंड होने चाहिए

(i) साहित्यिक : विश्वविद्यालय शिक्षा के लिये। तथा

(ii) व्यावहारिक : विद्यार्थियों के व्यावसायिक-व्यापारिक भविष्य निर्माण के लिये।

• आयोग ने प्रेसीडेंसी नगरों के अतिरिक्त अन्य सभी शहरों, कस्बों एवं गांवों में स्त्री शिक्षा का पर्याप्त प्रबंध न होने पर खेद प्रकट किया तथा इसे प्रोत्साहित करने का सुझाव दिया।

हन्टर शिक्षा आयोग के सुझावों के आने के पश्चात् अगले 20 वर्षों में माध्यमिक एवं कालेज शिक्षा का तीव्र गति से विस्तार हुआ तथा भारतीयों ने इसमें सराहनीय योगदान दिया। अध्यापन एवं परीक्षा विश्वविद्यालयों की स्थापना भी की गयी। जिनमें पंजाब विश्वविद्यालय (1882) एवं इलाहाबाद विश्वविद्यालय (1887) प्रमुख थे।

भारतीय विश्वविद्यालय अधिनियम, 1904

20वीं शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों में देश में राजनीतिक अस्थिरता का वातावरण था। निजी प्रबंधन के तहत् सरकार की धारणा यह थी कि शिक्षा के स्तर में गिरावट आ रही है तथा शिक्षण संस्थान राजनीतिक क्राांतिकारियों को पैदा करने वाले कारखाने मात्र बनकर रह गये हैं। राष्ट्रवादियों ने भी स्वीकार किया कि शिक्षा के स्तर में गिरावट आ रही है परंतु इसके लिये उन्होंने सरकार को दोषी ठहराया तथा आरोप लगाया कि सरकार अशिक्षा को दूर करने के लिये कोई सार्थक कदम नहीं उठा रही है।

सन् 1902 में सर टामस रैले की अध्यक्षता में एक आयोग गठित किया गया, जिसका उद्देश्य विश्वविद्यालयों की स्थिति का आंकलन करना तथा उनकी कार्यक्षमता एवं उनके संविधान के विषय में सुझाव देना था। प्राथमिक एवं माध्यमिक शिक्षा इस कार्यक्षेत्र में सम्मिलित नहीं थी। इसकी सिफारिशों के आधार पर 1904 में भारतीय विश्वविद्यालय अधिनियम पारित किया गया। इस अधिनियम के अनुसार

- विश्वविद्यालयों को अध्ययन तथा शोध-ज्यादा ध्यान केंद्रित करना चाहिये।
- विश्वविद्यालय के उप-सदस्यों (Fellows) की संख्या तथा अवधि कम की जानी चाहिए तथा यह प्रावधान किया जाना चाहिए कि ये उप-सदस्य मुख्य रूप से सरकार द्वारा मनोनीत हों।
- विश्वविद्यालयों पर सरकारी नियंत्रण बढ़ा दिया गया। सरकार को सीनेट द्वारा पास किये गये प्रस्तावों पर निषेधाधिकार (Veto) दिया गया। सरकार को यह अधिकार था कि वह सीनेट द्वारा बनाये गये नियमों में परिवर्तन एवं संशोधन कर सकती थी। सरकार यदि आवश्यक समझे तो इस संबंध में नये नियम भी बना सकती थी।
- अशासकीय कॉलेजों पर सरकार नियंत्रण और कड़ा कर दिया गया।
- उच्च शिक्षा तथा विश्वविद्यालयों के उत्थान के लिये 5 लाख रुपये की राशि प्रति वर्ष की दर से 5 वर्षों के लिये स्वीकृत की गयी।
- गवर्नर-जनरल को विश्वविद्यालयों की क्षेत्रीय सीमायें निर्धारित करने का अधिकार दे दिया गया।

कर्जन ने गुणवत्ता एवं दक्षता के नाम पर विश्वविद्यालयों में सरकारी नियंत्रण अत्यधिक कड़ा कर दिया। लेकिन उसका वास्तविक उद्देश्य राष्ट्रवाद के समर्थक शिक्षितों की संख्या को रोकना तथा उन्हें सरकारी भक्त बनाना था।

राष्ट्रवादियों ने इस अधिनियम की तीव्र आलोचना की तथा इसे साम्राज्यवाद को सुदृढ़ करने के एक प्रयास के रूप में देखा। उन्होंने आरोप लगाया कि यह अधिनियम राष्ट्रवादी भावनाओं की हत्या का प्रयास है। गोपाल कृष्ण गोखले ने इसे ''राष्ट्रीय शिक्षा को पीछे की ओर ले जाने वाला अधिनियम'' की संज्ञा दी।

शिक्षा नीति पर सरकारी प्रस्ताव

1906 में प्रगतिशील रियासत बड़ौदा ने अपनी पूरी रियासत में अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा प्रारंभ कर दी। राष्ट्रवादी नेताओं ने सरकार से पूरे ब्रिटिश भारत में ऐसी व्यवस्था करने का आग्रह किया। (गोखले ने विधान परिषद में इसकी सशक्त वकालत की)।

शिक्षा नीति पर 1913 के अपने प्रस्ताव में सरकार ने अनिवार्य शिक्षा का उत्तरदायित्व लेने से तो इंकार कर दिया किंतु उसने अशिक्षा को दूर करने की नीति की जिम्मेदारी स्वीकार कर ली तथा प्रांतीय सरकारों से आग्रह किया कि वे समाज के निर्धन एवं पिछड़े वर्ग को निःशुल्क प्रारंभिक शिक्षा देने के लिये आवश्यक कदम उठायें। इस दिशा में उसने अशासकीय प्रयत्नों को प्रोत्साहित किया तथा सुझाव दिया कि माध्यमिक शिक्षा के स्तर में सुधार किया जाना चाहिए। सरकार ने प्रत्येक प्रांत में विश्वविद्यालय की स्थापना तथा विश्वविद्यालयों में शिक्षण कार्य को प्रोत्साहित करने का भी निर्णय लिया।

सैडलर विश्वविद्यालय आयोग

वर्ष 1917 में सरकार ने लीड्स विश्वविद्यालय के उप-कुलपति डा. एम.ई.सैडलर की अध्यक्षता में एक आयोग गठित किया, जिसका कार्य कलकत्ता विश्वविद्यालय की समस्याओं का अध्ययन कर इसकी रिपोर्ट सरकार को देना था। यद्यपि यह आयोग केवल कलकत्ता विश्वविद्यालय से ही सम्बद्ध था, किंतु इसकी सिफारिशें भारत के अन्य विश्वविद्यालयों के संबंध में भी सही थीं। इस आयोग ने प्राथमिक से लेकर विश्वविद्यालयीन स्तर तक की शिक्षा व्यवस्था का गहन अध्ययन किया।

आयोग ने अनुमान लगाया कि यदि विश्वविद्यालयीन शिक्षा में सुधार करना है तो इसके लिये पहले माध्यमिक शिक्षा के स्तर में सुधार लाना होगा। इस आयोग की सिफारिशें निम्नानुसार थीं

• स्कूल की शिक्षा 12 वर्ष की होनी चाहिए। विद्यार्थियों को हाईस्कूल के पश्चात् नहीं अपितु उच्चतर-माध्यमिक परीक्षा के पश्चात् त्रिवर्षीय पाठ्यक्रम के लिये विश्वविद्यालय में दाखिला लेना चाहिये। यह निम्न प्रकार से किया जाना चाहिए

(i) विश्वविद्यालय स्तर के लिये विद्यार्थियों को तैयार करके।

(ii) उच्चतर-माध्यमिक शिक्षा के पश्चात स्नातक की उपाधि के लिये त्रिवर्षीय शिक्षा की व्यवस्था होनी चाहिये।

(iii) वे छात्र जो विश्वविद्यालयीन शिक्षा हेतु जाने के लिये तैयार न हों उन्हें कॉलेज स्तर की शिक्षा दी जानी चाहिये।

माध्यमिक तथा उच्चतर-माध्यमिक शिक्षा के प्रशासन एवं नियंत्रण के लिये पृथक् माध्यमिक एवं उच्चतर-माध्यमिक शिक्षा बोर्डों का गठन किया जाना चाहिये।

• विश्वविद्यालयों से संबंधित नियम बनाते समय कठोरता नहीं होनी चाहिये।

• विश्वविद्यालयों को पुराने, संबद्ध विश्वविद्यालयों (affiliating universities) जिनमें, कॉलेज दूर-दूर बिखरे होते थे, के स्थान पर एकाकी-केंद्रित-आवासीय- अध्ययन एवं स्वायत्तपूर्ण (unitary-residential-teaching and autonomous) संस्थानों के रूप में विकसित किया जाना चाहिये।

• महिला शिक्षा, अनुप्रयुक्त विज्ञान एवं तकनीकी शिक्षा (applied scientific and technological education) तथा अध्यापकों के प्रशिक्षण और ज्यादा प्रोत्साहित किया जाना चाहिये।

1916 से 1921 के मध्य सात नये विश्वविद्यालय-मैसूर, अलीगढ़, ढाका, पटना, बनारस, उस्मानियां एवं लखनऊ अस्तित्व में आये। 1920 में सरकार ने सैडलर आयोग की रिपोर्ट को सभी प्रांतीय सरकारों से लागू करने का आग्रह किया।

द्वैध शासन के अधीन शिक्षा

1919 के मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधारों के अंतर्गत शिक्षा विभाग, प्रांतीय सरकारों को हस्तांतरित कर दिया गया तथा सरकार ने शिक्षा संबंधी मसले पर सीधे तौर पर रुचि लेनी बंद कर दी। यद्यपि सरकार द्वारा शिक्षा विभाग को 1902 से दी जा रही सहायता उदारतापूर्वक जारी रही। वित्तीय कठिनाइयों के कारण प्रांतीय सरकारें शिक्षा संबंधी कोई महत्वपूर्ण योजना नहीं बना सकीं किंतु लोकोपकारी पुरुषों द्वारा शिक्षा संबंधी महत्वपूर्ण प्रयास जारी रहे।

हार्टोग समिति

शिक्षण संस्थाओं की संख्या में अंधाधुंध वृद्धि के कारण शिक्षा के स्तर में गिरावट आने लगी। शिक्षा में हुये विकास के संदर्भ में रिपोर्ट देने के लिये वर्ष 1929 में सर फिलिफ हार्टोग की अध्यक्षता में एक समिति की नियुक्ति की गयी। इस समिति की प्रमुख सिफारिशें निम्नानुसार थीं

• समिति ने प्राथमिक शिक्षा की महत्ता पर बल दिया लेकिन अनिवार्यता या शीघ्र प्रसार को अनुचित बताया।

• केवल समर्पित विद्यार्थियों को ही उच्चतर-माध्यमिक (intermediate) एवं उच्च शिक्षा (high education) के विद्यालयों में प्रवेश लेना चाहिये। जबकि सामान्य स्तर के विद्यार्थियों को 8वीं कक्षा के पश्चात् व्यावसायिक पाठ्यक्रमों में दाखिला लेना चाहिये।

• विश्वविद्यालयीन शिक्षा में सुधार के लिये, विश्वविद्यालयों में प्रवेश संबंधी नियम अत्यंत कड़े होने चाहिये।

मूल शिक्षा की वर्धा योजना

अक्टूबर 1937 में, कांग्रेस ने शिक्षा पर एक राष्ट्रीय सम्मेलन वर्धा में आयोजित किया। इस सम्मेलन में पारित किये प्रस्तावों के अंतर्गत, आधार शिक्षा (Basic education) पर राष्ट्रीय नीति बनाने के लिये जाकिर हुसैन की अध्यक्षता में एक समिति गठित की गयी। इस समिति के गठन का मूल उद्देश्य था 'गतिविधियों के माध्यम से शिक्षा प्राप्त करना'। यह अवधारणा गांधी जी द्वारा *हरिजन* नामक साप्ताहिक पत्र में प्रकाशित लेखों की एक शृंखला पर आधारित थी। गांधीजी का मानना था कि पाश्चात्य शिक्षा ने मुट्ठीभर शिक्षित भारतीयों एवं जनसाधारण

के मध्य एक खाई पैदा कर दी है तथा इससे इन शिक्षित भारतीयों की विद्वता अप्रभावी हो गयी है। इस योजना को मूल शिक्षा की वर्धा योजना के नाम से जाना गया। इस योजना में निम्न प्रावधान थे

- पाठ्यक्रम में आधार-दस्तकारी को सम्मिलित किया जाये।
- राष्ट्रीय शिक्षा व्यवस्था के प्रथम सात वर्ष निःशुल्क एवं अनिवार्य होने चाहिये तथा यह शिक्षा मातृभाषा में दी जाये।
- कक्षा 2 से कक्षा 7 तक की शिक्षा का माध्यम हिन्दी होना चाहिए। अंग्रेजी भाषा में शिक्षा कक्षा आठ के पश्चात् ही दी जाये।
- शिक्षा हस्त उत्पादित कार्यों (manual productive works) पर आधारित होनी चाहिये। अर्थात् मूल शिक्षा की योजना का कार्यान्वयन उपयुक्त तकनीक द्वारा शिक्षा देने के सिद्धांत पर आधारित होना चाहिये। इसके लिये छात्रों को कुछ चुनिंदा दस्तकारी तकनीकों के माध्यम से शिक्षित किया जाना चाहिये।

शिक्षा की यह योजना नये समाज की नयी जिंदगी के लिये नये विचारों पर आधारित थी। इस योजना के पीछे यह भावना थी कि इससे देश धीरे-धीरे आत्मनिर्भरता एवं स्वतंत्रता की ओर बढ़ेगा तथा इससे हिंसा-रहित समाज का निर्माण होगा। यह शिक्षा सहकारिता एवं बच्चों पर केंद्रित थी। किंतु 1939 में द्वितीय विश्व युद्ध प्रारंभ होने तथा कांग्रेसी सरकारों के त्यागपत्र देने के कारण यह योजना खटाई में पड़ गयी।

शिक्षा की सार्जेन्ट योजना

वर्ष 1944 में केंद्रीय शिक्षा मंत्रणा मंडल (Central Advisory Board of education) ने शिक्षा की एक राष्ट्रीय योजना तैयार की जिसे, सार्जेन्ट योजना के नाम से जाना जाता है। सर जान सार्जेन्ट भारत सरकार के शिक्षा सलाहकार थे। इस योजना के अनुसार

- 3-6 वर्ष के आयु समूह के बच्चों के लिये पूर्व-प्राथमिक (pre-primary) या प्रारंभिक (elementary) शिक्षा की व्यवस्था; 6-11 वर्ष के आयु समूह के बच्चों के लिये निःशुल्क, व्यापक और अनिवार्य प्रारंभिक शिक्षा की व्यवस्था; 11-17 वर्ष के आयु समूह के चुनिंदा बच्चों के लिये उच्च शिक्षा (high education) की व्यवस्था तथा उच्चतर माध्यमिक शिक्षा के पश्चात् त्रिवर्षीय

स्नातक शिक्षा की व्यवस्था होनी चाहिये। उच्चतर माध्यमिक शिक्षा के दो भाग होने चाहिये (i) विद्या विषयक शिक्षा (Academic education) और (ii) तकनीकी एवं व्यावसायिक शिक्षा (Technical and vocational education)।

- तकनीकी, वाणिज्यिक एवं कला विषयक शिक्षा की व्यवस्था होनी चाहिये।
- उच्चतर माध्यमिक पाठ्यक्रमों को समाप्त कर दिया जाये।
- 20 वर्षों में वयस्कों को साक्षर बना दिया जाये।
- शिक्षकों के प्रशिक्षण, शारीरिक शिक्षा तथा मानसिक एवं शारीरिक तौर पर विकलांगों को शिक्षा दिये जाने पर बल।

इस योजना में 40 वर्ष में देश में शिक्षा के पुनर्निर्माण का कार्य पूरा होना था तथा इंग्लैण्ड के समान शिक्षा के स्तर को प्राप्त करना था। यद्यपि यह एक सशक्त व प्रभावशाली योजना थी किंतु इसमें इन उपायों के क्रियान्वयन के लिये कोई कार्ययोजना नहीं प्रस्तुत की गयी थी। साथ ही इंग्लैण्ड जैसे शिक्षा के स्तर को प्राप्त करना भी भारतीय परिस्थितियों के अनुकूल न था।

अंग्रेजी शिक्षा का प्रभाव

अंग्रेजों ने स्कूलों एवं कॉलेजों में अंग्रेजी भाषा के पढ़ाए जाने पर जोर दिया ताकि उन्हें प्रशासनिक कार्यालयों के लिए लिपिक एवं बाबू मिल सकें। इसने लोगों के एक नए वर्ग को जन्म देने में मदद की जिन्होंने बाद में उनकी भारत में प्रशासन के विभिन्न पहलुओं के शासन एवं नियंत्रण में सहायता की। जिसके परिणामस्वरूप, भारत में आने वाले ईसाई मिशनरीज ने स्कूल खोलने शुरू कर दिए जहां अंग्रेजी पढ़ाई जाती थी। आपको भारत में आज भी ऐसे स्कूल मिल जाएंगे जो उन दिनों में खोले गए थे। ऐसा ही एक स्कूल प्रेजेन्टेशन कॉन्वेंट है जो दिल्ली में स्थित है, और अभी भी चल रहा है तथा अच्छी शिक्षा दे रहा है। कई भारतीय इन स्कूलों में अपने बच्चों को भेजते थे, जैसाकि वे समझते थे कि यह उन्हें सरकारी कार्यालयों में नौकरी दिलाने में मदद करेगा।

अंग्रेजो ने अपने हितों की अभिवृद्धि के लिए अंग्रेजी शिक्षा को प्रोत्साहित किया लेकिन यह एक अलग तरीके से भारतीयों के लिए उपयोगी साबित हुई। भारत के विभिन्न क्षेत्रों में रहने वाले लोग अलग-अलग भाषाएं बोलते थे और ऐसी कोई भाषा नहीं थी जिसे सभी लोग समझ सकें। भारतीयों द्वारा अंग्रेजी

के प्रयोग ने पूरे देश में एक भाषा प्रदान की और यह सभी को जोड़ने का माध्यम बन गई। अंग्रेजी पुस्तकों एवं समाचार पत्रों ने पूरे विश्व से नवीन विचारों को यहां प्रस्तुत किया। स्वतंत्रता, लोकतंत्र, समानता, एवं बंधुत्व जैसे नवीन पश्चिमी विचारों ने अंग्रेजी जानने वाले भारतीयों के मन पर प्रभाव छोड़ना शुरू कर दिया जिसने राष्ट्रीय जागरण को उत्थान दिया। शिक्षित भारतीय अब ब्रिटिश शासन से स्वतंत्रता प्राप्त करने के बारे में सोचने लगे।

1. सीमित रूप से ही सही लेकिन सरकार ने आधुनिक शिक्षा के प्रसार में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। किंतु इस संबंध में लोकोपरोकारी भारतीयों के प्रयास ज्यादा सराहनीय थे। सरकार द्वारा आधुनिक शिक्षा को प्रोत्साहित करने में उठाये गये कदम निम्न कारणों से प्रभावित थे

- प्रबुद्ध भारतीयों द्वारा आधुनिक शिक्षा के संबंध में किये गये प्रदर्शन, ईसाई मिशनरियां एवं मानवतावादी नौकरशाह।
- प्रशासन के निम्न स्तरीय पदों हेतु भारतीयों की आपूर्ति को सुनिश्चित करने की योजना तथा इंग्लैण्ड के व्यापारिक हितों को पूरा करने की आवश्यकता। इसीलिये सरकार ने अंग्रेजी को शिक्षा का माध्यम बनाये जाने पर ज्यादा जोर दिया।
- सरकार की यह उम्मीद की शिक्षित भारतीय इंग्लैण्ड में निर्मित वस्तुओं की मांग को बढ़ाने में सहायक होंगे।
- सरकार की यह अभिलाषा की पाश्चात्य शिक्षा के प्रसार से भारतीय अंग्रेजी रंग में रंग जायेंगे तथा इससे ब्रिटिश साम्राज्यवाद को स्थायित्व मिलेगा। साथ ही यह शिक्षा, ब्रिटिश विजेताओं तथा उनके प्रशासन का महिमामंडन करेगी। इस प्रकार अंग्रेजों की योजना थी कि वे आधुनिक एवं पाश्चात्य शिक्षा का प्रयोग कर अपनी सत्ता को भारत में सुदृढ़ एवं स्थायी बना देंगे।

2. भारतीय शिक्षा की परम्परागत पद्धति से धीरे-धीरे प्रशासनिक कर्मचारियों की मांग में गिरावट आ रही थी। विशेष रूप से 1844 के पश्चात्, जब यह स्पष्ट हो गया कि सरकारी सेवाओं के लिये आवेदन करने वाले भारतीयों को अंग्रेजी का ज्ञान होना आवश्यक है।

3. जनसाधारण की शिक्षा की उपेक्षा करने से देश में निरक्षरता में तेजी से वृद्धि हुई। जैसाकि आकड़ों से स्पष्ट है कि 1911 में निरक्षरता का प्रतिशत

84 था जो 1921 में बढ़कर 92 हो गया। निरक्षरता में वृद्धि से मुट्ठीभर शिक्षित भारतीयों एवं जनसाधारण के बीच भाषायी एवं सांस्कृतिक खाई चिंताजनक रूप से चौड़ी हो गयी।

4. शिक्षा व्यवस्था को मंहगा कर दिये जाने से यह आम भारतीय की पहुंच से दूर हो गयी तथा उच्च एवं धनी वर्ग तथा शहरों में निवास करने वाले लोगों का इस पर एकाधिकार (monopoly) हो गया।

5. अंग्रेजों ने स्त्री शिक्षा की पूर्णरूपेण उपेक्षा की। क्योंकि (i) सरकार समाज के रूढ़िवादी तबके को नाराज नहीं करना चाहती थी तथा (ii) तत्कालीन उपनिवेशी शासन के लिये यह किसी प्रकार से फायदेमंद नहीं थी।

6. वैज्ञानिक एवं तकनीकी शिक्षा की भी उपेक्षा की गयी। 1857 के अंत तक देश में केवल तीन चिकित्सा महाविद्यालय (कलकत्ता, बंबई एवं मद्रास) थे। अभियांत्रिक महाविद्यालय भी केवल एक था (रुड़की में) जिसकी स्थापना यूरोपीय एवं यूरेशियाई लोगों को इंजीनियरिंग की शिक्षा देने के लिये की गयी थी न कि भारतीयों को।

स्वतंत्रता पश्चात् भारत में शिक्षा

जैसाकि आप जानते हैं कि हमने ब्रिटिश साम्राज्य से सन् 1947 में स्वतंत्रता प्राप्त की और शिक्षा के नियोजन की जिम्मेदारी मुक्त भारत के भारत सरकार के कंधों पर आ गई। वैयक्तिक, आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक विकास के लक्ष्यों को हासिल करने के लिए, यह आवश्यक हो गया कि शिक्षा के समन्वित कार्यक्रम के लिए एक उचित प्रावधान किया जाए जो विकास के विभिन्न स्तरों, विभिन्न भाषा-भाषियों, सामाजिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के लोगों को शामिल कर सके। ऐसे कार्यक्रम विभिन्नता में एकता को मजबूत करने वाले पाठ्यक्रम पर आधारित होने चाहिए और देश के एक हिस्से से दूसरे हिस्से में आसानी से ले जाए जा सकें।

यदि शिक्षा के प्रसार के लिए उचित एवं पर्याप्त कदम नहीं उठाए गए तो इससे आर्थिक असमानता, प्रादेशिक असंतुलन एवं सामाजिक अन्याय और गहरे हो सकते हैं जो समाज में तनाव के निर्माण के रूप में परिलक्षित होते। इसलिए देश में राधाकृष्णन आयोग (1948-49) का गठन किया गया। आगे 1964-66 के बीच शिक्षा आयोग (सुप्रसिद्ध तौर पर कोठारी आयोग के नाम से जाना गया)

का गठन हुआ और 1966 में उसने अपनी रिपोर्ट में कहा कि शिक्षा ही शांतिपूर्ण सामाजिक परिवर्तन का एकमात्र तरीका है। 1976 के संवैधानिक संशोधन ने शिक्षा को समवर्ती सूची में डाल दिया जिससे शिक्षा केंद्र एवं राज्यों दोनों की संयुक्त जिम्मेदारी बन गई।

राधाकृष्णन आयोगः नवंबर 1948 में राधाकृष्णन आयोग का गठन देश में विश्वविद्यालय शिक्षा के संबंध में रिपोर्ट देने हेतु किया गया था। स्वतंत्र भारत में विश्वविद्यालय शिक्षा के क्षेत्र में इस आयोग की रिपोर्ट का अत्यंत महत्व है। इस आयोग ने निम्न सिफारिशें की थीं

1. विश्वविद्यालय पूर्व (pre-university) 12 वर्ष का अध्ययन होना चाहिये।
2. उच्च शिक्षा के मुख्य तीन उद्देश्य होने चाहिये
   (i) सामान्य शिक्षा
   (ii) सरकारी शिक्षा, एवं
   (iii) व्यवसायिक शिक्षा
3. प्रशासनिक सेवाओं के लिये विश्वविद्यालय की स्नातक उपाधि आवश्यक नहीं होनी चाहिये।
4. शांति निकेतन एवं जामिया मिलिया की तर्ज पर ग्रामीण विश्वविद्यालयों की स्थापना की जानी चाहिये।
5. महाविद्यालयों में छात्रों की संख्या बहुत अधिक नहीं होनी चाहिये। एक महाविद्यालय में 1 हजार से ज्यादा छात्रों को प्रवेश न दिया जाये।
6. विश्वविद्यालयों के द्वारा आयोजित की जाने वाली परीक्षा के स्तर में सुधार लाया जाये तथा विश्वविद्यालय शिक्षा को 'समवर्ती सूची' में सम्मिलित किया जाये।
7. देश में विश्वविद्यालय शिक्षा की देख-रेख के लिये एक विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (University Grant Commission) का गठन किया जाये।
8. उच्च शिक्षा में अंग्रेजी माध्यम को जल्दबाजी में न हटाया जाये।
9. विश्वविद्यालयों में कम से कम 180 दिनों का अध्ययन अनिवार्य किया जाये। यह 11-11 सप्ताहों के तीन सत्र में विभाजित हो।

10. जहां राज्यों की भाषा एवं मातृ (स्थानीय) भाषा का माध्यम समान न हो वहां संघीय भाषा (Federal Language) अर्थात् राज्यों की भाषा में शिक्षा देने को प्राथमिकता दी जाये। जहां राज्यों की भाषा एवं स्थानीय भाषा समान हो वहां छात्रों को परंपरागत या आधुनिक भारतीय भाषाओं का चयन करना चाहिये।

इन्हीं सिफारिशों के आधार पर 1953 में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग का गठन किया गया तथा 1956 में संसद द्वारा कानून बनाकर इसे स्वायत्तशासी निकाय का दर्जा दे दिया गया। इस आयोग का कार्य विश्वविद्यालय शिक्षा की देखरेख करना, विश्वविद्यालयों में शिक्षा एवं शोध संबंधी सुविधाओं के स्तर की जांच करना तथा उनमें समन्वय स्थापित करना है। सरकार विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के लिये पर्याप्त धन की व्यवस्था करती है। तदुपरांत आयोग देश के विभिन्न विश्वविद्यालयों को धन आवंटित करने का सुझाव देता है तथा विश्वविद्यालय शिक्षा से संबंधित विभिन्न विकास योजनाओं को क्रियान्वित करता है।

कोठारी शिक्षा आयोगः जुलाई 1964 में डॉ. डी.एस. कोठारी की अध्यक्षता में एक उच्चस्तरीय आयोग का गठन किया गया। इसका कार्य शिक्षा के सभी पक्षों तथा चरणों के विषय में साधारण सिद्धांत, नीतियों एवं राष्ट्रीय नमूने की रूपरेखा तैयार कर उनसे सरकार को अवगत कराना था। आयोग को अमेरिका, रूस, इंग्लैण्ड एवं यूनेस्को के शिक्षा-शास्त्रियों एवं वैज्ञानिकों की सेवायें भी उपलब्ध करायीं गयीं थी। आयोग ने वर्तमान शिक्षा पद्धति की कठोरता की आलोचना की तथा शिक्षा नीति को इस प्रकार लचीला बनाये जाने की आवश्यकता पर बल दिया जो बदलती हुयी परिस्थितियों के अनुकूल हो। आयोग की सिफारिशों के आधार पर 1968 में राष्ट्रीय शिक्षा नीति की घोषणा की गयी। जिसमें निम्नलिखित तथ्यों पर बल दिया गया

- 14 वर्ष की आयु तक निःशुल्क तथा अनिवार्य शिक्षा।
- शिक्षा के लिये तीन भाषाई फार्मूला मातृभाषा, हिन्दी एवं अंग्रेजी तथा क्षेत्रीय भाषाओं का विकास।
- राष्ट्रीय आय का 6 प्रतिशत शिक्षा पर व्यय करना।
- अध्यापकों के प्रशिक्षण की व्यवस्था तथा उनके लिये मानक तय करना।

- कृषि तथा औद्योगिक शिक्षा का विकास।
- विज्ञान तथा अनुसंधान शिक्षा का समानीकरण (equalisation)।
- सस्ती पुस्तकें उपलब्ध कराना तथा पाठ्य-पुस्तकों को उत्तम बनाना।

शिक्षा के विभिन्न चरणों का विकासः स्कूल शिक्षा और साक्षरता विभाग का उद्देश्य राष्ट्र की मानव क्षमता का भरपूर उपयोग के लिए सभी को एक समान शिक्षा मिले और उच्च शिक्षा विभाग का उद्देश्य समानता और उत्कृष्टता के साथ भारत के मानव क्षमता उपयोग शिक्षा के क्षेत्र में हो। इसी संदर्भ मंत्रालय ने स्कूल और उच्च शिक्षा स्तर पर अनेक पहलें की हैं। केंद्र सरकार शिक्षा नीतियों और कार्यक्रमों को तैयार करने और कार्यान्वयन में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रही है, जिसमें महत्वपूर्ण है राष्ट्रीय शिक्षा नीति (एनसीई) 1986, जिसे 1992 में संशोधित किया गया। अन्य पहलों में सभी को अच्छी प्राथमिक शिक्षा उपलब्ध कराना, लड़कियों की शिक्षा पर विशेष बल, हर जिले में नवोदय विद्यालय की स्थापना, उच्च शिक्षा में ज्ञान संयोजन और अंतर विषयी शोध, राज्यों में अधिक विश्वविद्यालय खोलना, अखिल भारतीय तकनीकी शिक्षा परिषद् को मजबूत बनाना, खेलों को बढ़ावा देना, शारीरिक शिक्षा, योग और मूल्यांकन का प्रभावी तरीका अपनाना आदि शामिल हैं।

मानवता के इतिहास के शुरुआत के साथ शिक्षा का विकास विविधीकरण और उसकी पहुंच का दायरा बढ़ता जा रहा है। हर देश अभिव्यक्ति और अपनी सामाजिक-सांस्कृतिक पहचान के संवर्धन और बदलते समय की चुनौतियों का सामना करने के लिए शिक्षा प्रणाली का विकास करता है। इतिहास में एक ऐसा समय भी आता है जब वर्षों पुरानी प्रक्रिया को नया जीवन देने के लिए नई दिशा देने की जरूरत पड़ती है। शिक्षा सभी के लिए अनिवार्य और समग्र तथा भौतिक एवं आध्यात्मिक विकास के लिए जरूरी है।

प्रारंभिक शिक्षाः प्राथमिक शिक्षा, शिक्षा का एक महत्वपूर्ण चरण होती है, यह स्कूली शिक्षा के प्रथम आठ वर्ष (कक्षा 1 से 8 तक) तक होती है और व्यक्तित्व, दृष्टिकोण, सामाजिक विश्वास, आदतों, जीवन कौशलों और विद्यार्थियों के संचार कौशलों के विकास की नींव रखता है। भारतीय संविधान का अनुच्छेद-45 राज्य को 14 वर्ष तक के बच्चों की निःशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा देने की जिम्मेदारी प्रदान करता है।

भारत एक विशाल देश है, जिसमें विविध सामाजिक, सांस्कृतिक इतिहास वाले 36 राज्य और केंद्र शासित क्षेत्र विभिन्न भौगोलिक परिस्थितियों में फैले हुए हैं। सभी के लिए बुनियादी शिक्षा का लक्ष्य संविधान में निहित है जो 6-14 आयु वर्ग के सभी बच्चों को सार्वभौमिक अनिवार्य शिक्षा को मौलिक अधिकार के रूप में गारंटी प्रदान करता है। पिछले छह दशकों से लगातार विकास नीतियों और योजनाओं ने इसी लक्ष्य के लिए काम किया है। परिणामस्वरूप शिक्षा के क्षेत्र, खासकर प्रारंभिक शिक्षा से महत्वपूर्ण प्रगति हुई है।

भारतीय संविधान का अनुच्छेद-21-ए और बाद में बना कानून बच्चों को निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा का अधिकार (आरटीई) अधिनियम, 2009, देश में 1 अप्रैल, 2010 से लागू है। इसका आने वाले वर्षों में प्रारंभिक शिक्षा और सर्वशिक्षा अभियान के कार्यान्वयन में दूगामी परिणाम होगा। इसका अर्थ हुआ कि हर बच्चे को कुछ प्रतिमानों और मानकों पर खरे उतरने वाले औपचारिक स्कूल में संतोषजनक और न्यायसंगत गुणवत्ता युक्त प्रारंभिक शिक्षा का अधिकार है।

वर्ष 2001 में शुरू किया गया सर्वशिक्षा अभियान प्रारम्भिक शिक्षा के सर्वसुलभीकरण के लिए भारत के सामाजिक क्षेत्रों के महत्वपूर्ण कार्यक्रमों में से एक है। इसके समग्र लक्ष्यों में प्रारम्भिक शिक्षा में सार्वभौमिक पहुंच एवं अवधारणा प्राप्त करना, लैंगिक एवं सामाजिक श्रेणी के अंतर को पाटना और बच्चों के अध्ययन स्तर में महत्वपूर्ण वृद्धि हासिल करना शामिल है। सर्वशिक्षा अभियान को राज्य सरकारों की मदद से कार्यान्वित किया जाता है।

प्राथमिक स्तर पर बालिकाओं की शिक्षा के लिए राष्ट्रीय कार्यक्रम (एनपीईजीईएल) शैक्षिक रूप से पिछड़े ब्लॉकों में लागू की जाती है और उन बालिकाओं की समस्याओं की आवश्यकताओं पर ध्यान देती है जो स्कूल में भर्ती तो हैं लेकिन वहां जाती नहीं।

माध्यमिक शिक्षाः माध्यमिक शिक्षा तक पहुंच और गुणवत्ता में सुधार के उद्देश्य से राष्ट्रीय माध्यमिक शिक्षा अभियान मार्च 2009 में शुरू की गई। योजना का उद्देश्य किसी बस्ती से तर्कसंगत दूरी के अंदर माध्यमिक स्कूल प्रदान कर माध्यमिक स्तर पर नामांकन दर को शत प्रतिशत करने की परिकल्पना है।

इसके अन्य उद्देश्यों में सभी माध्यमिक स्कूलों को निर्धारित मानदंडों का पालन करने वाला बनाकर माध्यमिक स्तर पर प्रदान की जा रही शिक्षा की गुणवत्ता में सुधार करना, लैंगिक, सामाजिक-आर्थिक एवं अपंगता अड़चनों को दूर करना, वर्ष 2017 तक माध्यमिक स्तर की शिक्षा को सर्वसुलभ बनाना तथा वर्ष 2020 तक सभी बच्चों को स्कूल में भर्ती का लक्ष्य प्राप्त करना है।

केंद्र द्वारा प्रायोजित इस संशोधित परियोजना में उच्च शिक्षा के व्यवसायीकरण की मुख्य बातें इस प्रकार हैंः

1. क्षमता आधारित मानक व्यावसायिक पाठ्यक्रमों से युवाओं की नियोजनीयता बढ़ाना, बहुप्रवेश, बहु निकास ज्ञानार्जन अवसरों और योग्यता में गतिशीलता/अंतर परिवर्तनीयता के प्रावधानों से उनकी स्पर्धात्मकता को बनाए रखना, शिक्षित और नियोजनीय के बीच खाई को कम करना और अकादमिक उच्च शिक्षा पर दबाव कम करना।

2. योजना के तहत् मांग आधारित मानक क्षमता आधारित व्यावसायिक पाठ्यक्रमों की पहचान और उद्योग/नियोजकों के सहयोग से उनका विकास।

3. उच्चतर माध्यमिक स्कूलों, सरकारी सहायता प्राप्त और निजी स्कूलों के माध्यम से एनवीईक्यूएफ पद्धति के अनुरूप पाठ्यक्रम उपलब्ध कराना।

4. योजना के महत्वपूर्ण घटकों में (i) नए स्कूलों में व्यावसायिक पाठ्यक्रम लागू करना और (ii) वर्तमान स्कूलों में व्यावसायिक पाठ्यक्रमों को मजबूत करना।

5. शिक्षार्थी, शिक्षक और प्रशिक्षक को व्यावसायिक पाठ्यक्रमों के क्षमता आधारित शिक्षक, ज्ञानार्जन सामग्री, औजार, उपकरण और मशीनरी तकनीकी कौशल विकास के लिए स्कूलों को उपलब्ध कराना।

6. व्यावसायिक पाठ्यक्रम और मॉड्यूल्स के प्रमाण-पत्र संबद्ध राज्य बोर्डों या केंद्रीय बोर्डों द्वारा प्रदान करना।

7. राज्यों/केंद्र शासित क्षेत्रों द्वारा विशेष समूहों यथा अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति, अन्य पिछड़ा वर्ग, गरीबी रेखा के नीचे के लोग, अल्पसंख्यक और बच्चे और इन समूहों की लड़कियों को मुख्यधारा में लाने का प्रयास किया जाएगा।

लड़कियों की माध्यमिक शिक्षा के लिए **राष्ट्रीय प्रोत्साहन योजना** मई 2008 में इस उद्देश्य से शुरू की गई कि स्कूल छोड़ने वालों की संख्या कम हो और माध्यमिक स्कूलों में अनुसूचित जाति/अनुसूचित जनजाति समुदायों की लड़कियों की संख्या बढ़े।

एनसीईआरटी के पास बच्चों को निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा का अधिकार कानून 2009 के क्रियान्वयन के लिए अकादमिक प्राधिकार हैं। यह राज्यों/केंद्र शासित क्षेत्रों को कानून लागू करने में हर संभव सहायता प्रदान कर रहा है। इसका प्राथमिक शिक्षा विभाग सर्वशिक्षा अभियान के तहत् प्राथमिक स्तर पर शिक्षा की गुणवत्ता में सुधार के शीर्ष केंद्र के रूप में कार्य करता है। बच्चों को निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा कानून 2009 के राज्यों/केंद्र शासित क्षेत्रों में क्रियान्वयन के बारे में अन्वेषणात्मक अध्ययन शुरू किया गया और आंध्र प्रदेश, गुजरात और ओडिशा से आंकड़े इकट्ठे किए गए। इस कानून के तहत् बच्चों को उनकी आयु के अनुरूप कक्षाओं में प्रवेश के लिए विशेष प्रशिक्षण कार्यक्रम के दिशा-निर्देश बनाए गए हैं।

राष्ट्रीय मुक्त शिक्षा संस्थान की स्थापना इस दृष्टि से की गई कि लोगों को सतत् समावेशी अध्ययन के साथ आसान पहुंच वाली स्कूली शिक्षा और कौशल विकास का अवसर मिले। सीबीएसई के स्कूल छोड़ चुके और दूसरा अवसर चाहने वाली जनसंख्या के शिक्षार्थियों के लिए एक छोटी परियोजना के रूप में शुरू परियोजना अब विश्व के सबसे बड़े मुक्त स्कूल के रूप में बदल चुकी है और एक विशाल स्कूल के रूप में इसकी सहायता की जाती है।

सीबीएसई एक स्वायत्त निकाय है जो मानव संसाधन विकास मंत्रालय के संरक्षण में कार्य कर रहा है। यह 1929 में स्थापित देश के सबसे पुराने बोर्डों में दूसरा है। सीबीएसई के मुख्य उद्देश्य देश के अंदर एवं बाहर संस्थाओं को संबंद्ध करना, कक्षा 10 एवं 12 की वार्षिक परीक्षाओं का संचालन करना, चिकित्सा एवं इंजीनियरिंग कॉलेजों में प्रवेश के लिए व्यावसायिक पाठ्यक्रमों के लिए प्रवेश परीक्षाएं आयोजित करना, पाठ्यक्रम तैयार करना और उन्हें अद्यतन बनाना तथा शिक्षकों एवं संस्थाओं के प्रमुखों को अधिक जानकारी उपलब्ध कराना है।

उच्च शिक्षाः उच्च शिक्षा लोगों की सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, नैतिक और आध्यात्मिक मुद्दों से दो-चार होने का अवसर प्रदान करती है। विशेष ज्ञान और कौशल के प्रसार से राष्ट्रीय विकास में योगदान देती है। शैक्षिक पिरामिड

के शीर्ष पर होने के कारण यह देश में अच्छे शिक्षक तैयार करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। ज्ञान के क्षेत्र में प्रस्फुटन की अभूतपूर्व आवश्यकता के संदर्भ में उच्च शिक्षा को हमेशा गतिशील और अज्ञात क्षेत्रों में निरंतर तलाश करनी चाहिए।

उच्च शिक्षा में पहुंच को आमतौर पर सकल नामांकन अनुपात से मापा जाता है। इसे सभी आयु समूहों के लोगों के विभिन्न कार्यक्रमों में प्रवेश लेने और 18-23 आयु वर्ग की कुल जनसंख्या के अनुपात में मापा जाता है।

विश्वविद्यालय शिक्षा के संवर्धन और समन्वय और अध्यापन, परीक्षा, अनुसंधान विश्वविद्यालयों में विस्तार तथा मानक को बनाए रखने के लिए संवैधानिक संस्था के रूप में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की स्थापना 1954 में संसद के एक कानून के तहत् हुई। आयोग विश्वविद्यालयों और कॉलेजों को अनुदान देने के अलावा केंद्र और राज्य सरकारों को उच्च शिक्षा के लिए आवश्यक कदम उठाने की सलाह देता है।

तकनीकी शिक्षा सुविधाओं के सर्वेक्षण और समन्वित तथा एकीकृत तरीके से उसके विकास को बढ़ावा देने के लिए राष्ट्रीय स्तर पर सलाहकार संस्था के रूप में अखिल भारतीय तकनीकी शिक्षा परिषद् (एआईसीटीई) की स्थापना 1945 में हुई। परिषद् के दायरे में सभी स्तरों पर इंजीनियरिंग और प्रौद्योगिकी में प्रशिक्षण एवं अनुसंधान सहित तकनीकी शिक्षा, वास्तुविद्या और नगर नियोजन, प्रबंधन, फार्मेसी, व्यावहारिक कला एवं शिल्प, होटल, प्रबंधन और खान-पान व्यवस्था प्रौद्योगिकी के कार्यक्रम आते हैं।

दूरस्थ शिक्षा परिषद् की स्थापना इग्नू अधिनियम 1985 के तहत् हुई। दूरस्थ शिक्षा परिषद् मुक्त और दूरस्थ विद्यार्जन (ओडीएल) प्रणाली में मानकों की देख-रेख का समन्वय करती है। अपने उद्देश्यों के अनुरूप परिषद् ने व्यवस्था में मानकों का निर्धारण करने और 13 राज्य मुक्त विश्वविद्यालयों और 200 से अधिक निदेशालयों को भी परंपरागत विश्वविद्यालयों और निजी/स्वायत्त संस्थाओं से संबंध दूरस्थ शिक्षा संस्थानों को वित्तीय और अकादमिक सहायता देने के लिए पहल की है। परिषद् का यह कर्तव्य है कि मुक्त विश्वविद्यालय/दूरस्थ शिक्षा व्यवस्थाओं, उसके समन्वित विकास और उसके मानकों के निर्धारण के लिए आवश्यक कदम उठाए। परिषद् राज्य सरकारों/विश्वविद्यालयों और अन्य

संबंद्ध एजेंसियों से सलाह मशविरा कर मुक्त विश्वविद्यालयों/दूरस्थ शिक्षा संस्थानों के नेटवर्क के विकास का प्रयास करती है ताकि उन प्राथमिकता वाले क्षेत्रों का पता लग सके जहां दूरस्थ शिक्षा कार्यक्रमों का आयोजन किया जाना चाहिए और ऐसे कार्यक्रमों आदि के आयोजन में जो भी आवश्यक सहायता हो, प्रदान करे।

वास्तुविद्या परिषद् (सीओए) का गठन संसद द्वारा पारित वास्तुकार अधिनियम 1972 के प्रावधानों के तहत् किया गया है, जो 1 सितंबर, 1972 से प्रभावी है। अधिनियम में वास्तुकारों और संबंधित विषयों के पंजीकरण की व्यवस्था है। वास्तुविद्या योग्यता को केंद्र सरकार द्वारा अधिनियम के तहत् मान्यता प्राप्त अधिसूचित करने के लिए सीओए से सलाह ली जाती है। परिषद् ने केंद्र सरकार की पूर्वानुमति से वास्तु शिक्षा विनियमन 1983 के तहत् अधिसूचित कर मान्यता प्रदान करने के लिए आवश्यक वास्तु शिक्षा के न्यूनतम मानक निर्धारित किए हैं। केंद्र सरकार ने वास्तुविद अधिनियम 1972 के अंतर्गत प्राप्त अधिकारों से सीओए नियम 1973 बनाए जिसे भारत के असाधारण राजपत्र में 20 फरवरी, 1973 को प्रकाशित किया। इन नियमों में पहले भी संशोधन किए गए हैं। वास्तुविद्या परिषद् (संशोधन) नियम, 2009 को 1 जुलाई, 2009 को अधिसूचित कर वास्तुविद्या परिषद् नियम 1973 को हाल ही में संशोधित किया गया है।

भारतीय सामाजिक विज्ञान अनुसंधान परिषद (आईसीएसएसआर) नई दिल्ली की स्थापना भारत सरकार ने 1969 में की थी। इसका प्रमुख उद्देश्य समाज विज्ञान में अनुसंधान को बढ़ावा देना और संबंद्ध लोगों द्वारा उसका उपयोग करना, समाज विज्ञान अनुसंधान में जुटी 25 संस्थाओं और 6 क्षेत्रीय केंद्रों को अनुसंधान के लिए बढ़ावा देना, द्विपक्षीय अनुसंधान परियोजनाओं के लिए अंतरराष्ट्रीय सहयोग करना, अध्ययन, प्रकाशन अनुदान और दस्तावेजीकरण और पुस्तकालय सेवाएं प्रदान करना। परिषद् विभिन्न सामाजिक समूहों अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति, विकलांग, महिलाओं और उत्तर पूर्व क्षेत्र में अनुसंधान को बढ़ावा देती है।

भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद् की स्थापना भारत सरकार ने 1977 में की थी और सोसायटी के रूप में पंजीकृत है। परिषद् का मुख्य उद्देश्य दर्शन

के क्षेत्र में अनुसंधान और उसके प्रकाशन में मदद करना और दर्शन के क्षेत्र में अनुसंधानिक गतिविधियों को बढ़ावा और प्रसार के लिए संगोष्ठियां/कार्यशालाओं/सम्मेलनों का आयोजन करना है।

प्रौढ़ शिक्षाः छठी पंचवर्षीय योजना में प्रौढ़ निरक्षरता को दूर करना एक जरूरी कार्य स्वीकार किया गया, विशेष रूप से 15-35 आयु वर्ग समूह की प्रौढ़ शिक्षा को निम्नतम आवश्यकता कार्यक्रम के एक हिस्से के तौर पर शामिल किया गया। प्रौढ़ शिक्षा में नियोजित हस्तक्षेप और सतत् प्रयासों से काफी प्रगति हुई।

प्रौढ़ शिक्षा का उद्देश्य अच्छी गुणवत्ता और स्तर वाली प्रौढ़ शिक्षा और साक्षरता से पूर्ण साक्षर समाज की स्थापना है। साक्षरता और प्रौढ़ शिक्षा को बढ़ावा देने और राष्ट्रीय शिक्षा नीति के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए विभाग के स्वतंत्र और स्वायत्त संस्था के रूप में राष्ट्रीय साक्षरता मिशन प्राधिकार (एनएलएमए) की स्थापना की गई है। यह राष्ट्रीय साक्षरता मिशन के अंतर्गत क्रियाकलापों के लिए प्रचालन और कार्यान्वयन संगठन है और ऐसे अन्य क्रियाकलापों को चलाता है जो प्रौढ़ शिक्षा के लिए आवश्यक खर्च की जाती है। प्राधिकार की विविध भूमिकाओं में प्रौढ़ शिक्षा नीति और नियोजन, साक्षरता और प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम का क्रियान्वयन, निगरानी अनुसंधान और मूल्यांकन, प्रचार और वातावरण निर्माण और प्रकाशन शामिल हैं। प्रौढ़ शिक्षा के उद्देश्यों को हासिल करने के लिए राष्ट्रीय साक्षरता मिशन प्राधिकरण दो योजनाएं साक्षर भारत मिशन तथा प्रौढ़ शिक्षा और कौशल विकास के लिए स्वैच्छिक संगठनों की मदद चला रहा है।

विभिन्न राज्यों, जिलों, सामाजिक समूहों और अल्पसंख्यकों में साक्षरता दर असमान है। कुछ राज्यों ने विशेष साक्षरता अभियान और सामुदायिक समर्थन से उच्च साक्षरता दर हासिल की है लेकिन कुछ राज्य पिछड़े हुए हैं। अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों में साक्षरता स्तर में सुधार हुआ है लेकिन अल्पसंख्यकों में यह स्तर कम है। पिछड़े क्षेत्रों और समूहों में साक्षरता में असमानता कम करने के लिए सरकार ने सकारात्मक कदम उठाए हैं।

राष्ट्रीय साक्षरता मिशन के रूप में साक्षर भारत (एसबी) की शुरुआत 8 सितंबर, 2009 को की गई थी।

इसके अंतर्गत (i) निरक्षरों और अंक ज्ञान न रखने वाले प्रौढ़ों को कार्यात्मक साक्षरता और अंक ज्ञान प्रदान करना।

(ii) नव-साक्षर प्रौढ़ व्यक्तियों को बुनियादी साक्षरता के बाद भी अपना अध्ययन जारी रखने में और औपचारिक शैक्षिक प्रणाली से समानता प्राप्त करने में मदद करना।

(iii) निरक्षरों और नव-साक्षरों को अपने रोजगार और जीवन परिस्थितियों में सुधार हेतु संगत कौशल विकास कार्यक्रम प्रदान करना।

(iv) नव-साक्षर प्रौढ़ व्यक्तियों को शिक्षा जारी रखने के लिए अवसर प्रदान करते हुए एक शिक्षित समाज को बढ़ावा देना; जैसे उद्देश्यों को शामिल किया गया।

इस प्रकार भारत में शिक्षा की प्राचीन काल से अर्वाचीन समय तक एक समृद्ध एवं विविध परम्परा रही है जिसमें आत्मसात्करण एवं सहिष्णुता ने एक अहम् भूमिका निभाई है। शिक्षा के सार्वभौमीकरण एवं गुणवत्तापरक प्रदायन के प्रयास सतत् जारी हैं।

अध्याय-10

भारत में विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी का विकास

विशुद्ध एवं अनुप्रयोगात्मक विज्ञानों में शिक्षा एवं प्रशिक्षण का एक लंबा इतिहास रहा है। भारत में वैज्ञानिक अनुसंधान एवं तकनीकी विकास की समृद्ध परम्परा 2600 वर्षों से भी अधिक प्राचीन रही है। तक्षशिला, (छठी शताब्दी ईसा पूर्व) जो कि विश्व के सबसे पहले विश्वविद्यालय में से एक था, ने कई देशों एवं महाद्वीपों के विद्यार्थियों को आकर्षित किया। तक्षशिला में पढ़ाए जाने वाले मुख्य विषयों में गणित, खगोलशास्त्र, औषधि, शल्यक्रिया और धातुकर्म शामिल थे। दुर्भाग्यवश, ज्ञान का अधिकतर संग्रह मध्यकाल के दौरान विनष्ट हो गया। मौलिक चिंतन की गौरवमयी परम्परा, नई सोच का साहस और सृजनात्मक नवोन्मेष पूरी तरह से छिन्न-भिन्न हो गई।

प्राचीन एवं मध्यकाल के भारत में विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी ने मानव ज्ञान एवं गतिविधियों की सभी मुख्य शाखाओं को शामिल किया। प्राचीन भारत कथाओं, राजाओं एवं संतों के साथ-साथ विद्वानों एवं वैज्ञानिकों की भी भूमि थी।

प्राचीन भारत में विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी

तकनीक का अर्थ है व्यावहारिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए वैज्ञानिक ज्ञान का अनुप्रयोग करना। प्राचीन भारत ने विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान दिए हैं। प्राचीन भारत में बड़ी संख्या में वैज्ञानिक एवं प्रौद्योगिकीय ज्ञान के व्याप्त होने के प्रमाण मौजूद हैं। उनमें से कई उस समय के धार्मिक विश्वास से जुड़े थे।

सिंधु सभ्यता के पुरातात्विक अवशेषों से प्रारंभ करते हैं, जो अनुप्रयोगात्मक विज्ञानों की जानकारी होने को उद्घाटित करते हैं। सिंचाई, धातुकर्म, ईंट निर्माण और दस्तकारी, तथा क्षेत्र एवं मात्रा के मापन में वैज्ञानिक तकनीकों का प्रयोग किया जाता था। सिंधु सभ्यता के स्थलों से प्राप्त कलारूपों से ज्ञात होता है कि हड़प्पावासियों ने 2500 ईसा पूर्व में तांबे एवं कांसे के धातुकर्म को विकसित कर लिया था। हालांकि, भारत में प्रौद्योगिकीय ज्ञान ने वास्तविक रूप से वैदिक काल से निरंतर गति प्राप्त की।

यह स्पष्ट रूप से देखा गया कि धर्म एवं प्रौद्योगिकीय उन्नयन के बीच एक घनिष्ठ संबंध था। इनमें से अग्रणी विषय थे, गणित, खगोलशास्त्र, औषधि, भौतिक एवं रसायन, जहां यह संबंध अधिक गहरा था। मोटे तौर पर, तीसरी शताब्दी ईसा पूर्व तक वैज्ञानिक ज्ञान एक पृथक् अध्ययन क्षेत्र बन गया और गणित, खगोलशास्त्र, औषधि एवं अन्य विषयों ने अपना पृथक् विकास किया, यद्यपि इनके अनुप्रयोग अंतर-अनुशासनात्मक बने रहे। बड़ी मात्रा में पाए गए लेखन एवं शिलालेखों से प्राचीन भारत में वैज्ञानिक एवं प्रौद्योगिकी ज्ञान का विविध ब्यौरा प्राप्त होता है।

शुल्वसूत्र, जो कि प्राचीन भारत का एक दस्तकार था, ने रसायन विज्ञान के विकास में योगदान दिया। यह बताया जाता है कि विश्व में भारतीय लुहारों ने सर्वप्रथम इस्पात को प्रस्तुत किया। रंगों की खोज भारतीय रंगरेजों ने की, उन्होंने नीले रंग की खोज की। भारत के प्राचीन लोग शरीर-रचना विज्ञान एवं औषधि में कौशल रखते थे। उन्होंने रोगों का पता लगाने की पद्धतियां ईजाद कीं। दूसरी शताब्दी ईस्वी के चिकित्सा विज्ञानी सुश्रुत एवं चरक को मोतियाबिंद की शल्य चिकित्सा और पथरी दूर करने हेतु ऑपरेशन का श्रेय जाता है। इन्होंने विभिन्न प्रकार के रोगों एवं व्याधियों जिसमें बुखार, कुष्ठ रोग, मिर्गी और तपेदिक शामिल हैं, का वर्णन किया और औषधि के तौर पर उपयोगी विभिन्न प्रकार के पौधों एवं जड़ी बूटियों के नाम रखे। हड़प्पा संस्कृति के समय से ही कृषि की जाती थी और बाद के समय में यह मुख्य व्यवसाय बन गया। विभिन्न प्रकार की आगतों एवं पद्धतियों के उपयोग से बड़ी संख्या में फसलें उगाईं गईं। प्राचीन भारत के लोगों ने उनके आस-पास के घटनाक्रम एवं विश्व पर महत्वपूर्ण सूचना एकत्र की। प्राचीन काल में भारत में विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में विकास इस प्रकार हैः

खगोलविज्ञान एवं ज्योतिषशास्त्र

गणित की विभिन्न शाखाओं के मध्य, हिंदुओं ने खगोलविद्या को अधिकतम महत्व दिया। खगोलशास्त्र को वेदांत के तौर पर अध्ययन किया जाता था और इसे ज्योतिष कहा जाता था। वैदिक काल के दौरान आदिम प्रकार की एक खगोलविद्या चलन में थी जिसका उद्देश्य समय-समय पर दी जाने वाली बलियों के लिए तिथि एवं समय का निर्धारण करना होता था। ***सूर्यसिद्धांत*** हिंदू खगोलविद्या पर सुप्रसिद्ध ज्ञात पुस्तक है। इसमें 500 ईस्वी से 1500 ईस्वी के बीच दो से तीन बार संशोधन किया गया। इस पुस्तक में इस प्रकार की पद्धति का उल्लेख किया गया है जिसका इस्तेमाल ग्रहण का अनुमान लगाने के लिए आज भी किया जाता है।

आर्यभट्ट एवं वराहमिहिर खगोलशास्त्र के सुप्रसिद्ध विद्वान थे। आर्यभट्ट पांचवीं शताब्दी से सम्बद्ध थे जबकि वराहमिहिर छठी शताब्दी से संबंध रखते थे। आर्यभट्ट ने मात्र 23 वर्ष की आयु में ***आर्यभट्टीय*** पुस्तक लिखी। उन्होंने वेबीलोनियाई पद्धति से ग्रहों की स्थिति की गणना की। उन्होंने सूर्य एवं चंद्र ग्रहण के कारणों की खोज की। उन्होंने पृथ्वी के परिवृत्त का मापन किया। उन्होंने बताया कि सूर्य स्थिर है और पृथ्वी इसके चारों ओर चक्कर लगाती है।

छठी शताब्दी ईस्वी से सम्बद्ध वराहमिहिर ने ***बृहत्संहिता*** लिखी जो खगोलशास्त्र के ऊपर एक दूसरी सुप्रसिद्ध कृति है। बृहत्संहिता खुलासा करती है कि चंद्रमा, पृथ्वी के चंहु ओर परिक्रमा करता है। उन्होंने ग्रहों की हलचल एवं कुछ अन्य खगोलशास्त्रीय समस्याओं की व्याख्या करने के लिए कई ग्रीक ग्रंथों का उपयोग किया। वराहमिहिर ने अपने समय की पांच खगोलशास्त्रीय पुस्तकों का सारांश लिखा। उन्होंने अपने पांच खगोलशास्त्रीय तंत्र में से एक को रोमक सिद्धांत कहा।

ब्रह्मगुप्त ने अपनी पुस्तक ***ब्रह्मस्फुत-सिद्धांत*** में प्रेक्षण और खगोलविद्या के मूल्य की सराहना की और उनकी पुस्तक का अरबी भाषा में अनुवाद किया गया। भारत के आधुनिक कर्नाटक में जन्में भास्कराचार्य एक अद्भुत गणितज्ञ थे। उन्होंने खगोलशास्त्र पर एक प्रसिद्ध पुस्तक ***सिद्धांत शिरोमणि*** लिखी। चार भागों में लिखी यह पुस्तक 1150 ईस्वी में लिखी गई जब भास्कराचार्य 36 वर्ष के थे। संस्कृत में लिखी इसी पुस्तक में 1450 श्लोक हैं।

खगोलशास्त्र के विकास में प्राचीन गणित की भूमिकाः खगोलशास्त्र के विकास में गणित ने एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। ऐसा इसलिए क्योंकि सटीक कैलेण्डर तैयार हो सके जिससे सही समय पर धार्मिक कार्यक्रम किए जा सकें। इसमें ग्रहों एवं अन्य अंतरिक्ष निकायों के बारे में सही जानकारी की आवश्यकता होती है। इसके लिए सटीक खगोलीय गणनाओं के लिए गणित को एक यंत्र के तौर पर प्रयोग किया गया।

दूसरी शताब्दी ईस्वी में **यवनेश्वरा** ने ग्रीक ज्योतिष रचना (120 ईसा पूर्व) का अनुवाद किया और भारतीय सांस्कृतिक चिन्हों, प्रतीकों और हिंदू धार्मिक चित्रों को इसमें शामिल करके इसे लोकप्रिय बनाया। 500 ईस्वी के आस-पास भारतीय गणित एवं खगोलशास्त्र का शास्त्रीय (क्लासिकल) युग शुरू हो गया था। आर्यभट्ट के समय में, कुसुमपुरा प्राचीन भारत के खगोलशास्त्र एवं गणित के एक अग्रणी केंद्र के रूप में उदित हुआ। एक अन्य महत्वपूर्ण केंद्र उज्जैन था जहां वराहमिहिर ने खगोलशास्त्र एवं क्षेत्रमिति के क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान किया। वराहमिहिर के समकालीन **यतीवरसभा** का कार्य जैन गणित पर आधारित है। उज्जैन स्कूल में ही सातवीं शताब्दी में एक महत्वपूर्ण विद्वान थे, **ब्रह्मगुप्त**। ब्रह्मगुप्त के समकालीन विद्वान ने अस्मका स्कूल चलाया। वे आर्यभट्ट के कार्यों के एक महत्वपूर्ण खगोलशास्त्री थे, जिन्होंने भी आर्यभट्ट पर टीका लिखी।

9वीं शताब्दी ईस्वी में **गोविंद स्वामी, महावीर, प्रदुदक्स्वामी, शंकर,** एवं **सिद्धार्थ** जैसे कई गणितज्ञ हुए। प्रदुदक्स्वामी, शंकर एवं सिद्धार्थ ने भास्कर के कार्यों पर टिप्पणी लिखी वहीं महावीर ने ब्रह्मगुप्त की पुस्तक को संशोधित करके प्रसिद्धि प्राप्त की।

गणित

प्राचीन भारत में गणित की समृद्ध परम्परा रही है। प्राचीन गणित का उद्गम सिंधु घाटी सभ्यता में देखा जा सकता है। इस सभ्यता के स्थलों में ऐसे कला रूप पाए गए हैं जिनसे स्पष्ट होता है कि सिंधु घाटी के लोगों को गणित का ज्ञान था। खुदाई के दौरान यहां बड़ी संख्या में पैमाना (स्केल) मिले हैं जिनका प्रयोग लम्बाई के मापन में किया जाता रहा होगा। एक दशमलव स्केल भी खोजा गया है जिसे 'इंड्स इंच' के तौर पर जाना जाता है जो

1.32 इंच (3.35 से.मी.) की एक इकाई पर आधारित है। एक अन्य पैमाना, जो एक कांसे की छड़ है, पाया गया है और जिस पर 0.367 इंच चिन्हित हैं।

यह गौर किया गया है कि इन मापनों का प्रयोग सिंधु सभ्यता के लोगों द्वारा भवनों एवं अन्य शहरी ढांचों के निर्माण में सटीकता के लिए किया जाता होगा। यह ज्ञात होता है कि सिंधु लोगों ने माप-तौल की एकसमान पद्धति को अपनाया। हालांकि, सिंधु घाटी सभ्यता के लोगों की गणित की उपलब्धियों के बारे में समग्र जानकारी नहीं हैं।

वैदिक युग में गणित का विकासः वैदिक युग में गणित एवं खगोलविज्ञान के विकास ने एक ऊंची छलांग लगाई। ऐसा इसलिए हुआ क्योंकि धार्मिक विश्वास पद्धति इसका प्रयोग धार्मिक उद्देश्यों के लिए करना चाहती थी। सबसे पहले अभिलेखित पुस्तक वेदों में शुल्वसूत्र हैं जिसमें रीति-रिवाजों के लिए नियम निर्धारित किए गए। इसी उद्देश्य के लिए शुल्वसूत्र में ज्यामितीय सूचना भी प्रदान की गई है। शुल्वसूत्र को समय-समय पर विद्वानों एवं पुजारियों ने तैयार किया। इनमें बौद्धयान (लगभग 800 ईसा पूर्व), मानव (लगभग 750 ईसा पूर्व), अपस्तम्ब (लगभग 600 ईसा पूर्व) और कात्यायन (लगभग 200 ईसा पूर्व) शामिल हैं।

बौद्धयान छठी शताब्दी ईस्वी में प्रथम गणितज्ञ थे जिन्होंने पाई (Pi) का मान (वैल्यू) की गणना की। उन्होंने पाइथागोरस प्रमेय की अवधारणा की व्याख्या की।

वैदिक काल में शिक्षा पद्धति ने पुजारियों एवं संतों के गणितीय अध्ययन को प्रतिबंधित किया और इसके अध्ययन में व्यवस्थागत पद्धति का अभाव था जैसाकि इसका प्रयोग धार्मिक उद्देश्यों के लिए करना माना जाता था। वैदिक काल में शिक्षा पद्धति परम्परा पर आधारित थी और इसे एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को सौंपा जाता था। गणित एक अनुप्रयोगात्मक विज्ञान रहा और इसने व्यावहारिक समस्याओं के समाधान की पद्धतियों को विकसित किया।

जैन गणितः छठी शताब्दी ईसा पूर्व के आस-पास बौद्ध एवं जैन जैसे नवीन धर्मों का विकास हुआ जिसमें गणित के क्षेत्र में और अधिक विकास देखा गया। इस समय गणित के मुख्य विषय थे संख्या पद्धति, अंकगणितीय प्रक्रियाएं, ज्यामिति, गुणनखंड, साधारण समीकरण, घन एवं चतुर्भुज समीकरण एवं अन्य समुच्चय एवं क्रम परिवर्तन। जैन गणितज्ञों ने अपरिमेय सिद्धांत को विकसित

किया जिसमें असीमता के विभिन्न स्तर थे, घातांक की मूलभूत समझ और लघुगणक के कुछ विचार प्रस्तुत किए।

तीसरी शताब्दी ईसा पूर्व के मध्य के आस-पास संख्या के प्रयोग अस्पष्ट दिखने लगे जब ब्राह्मी संख्या प्रकट होना शुरू हो गई। संख्या पद्धति के प्रयोग के प्रारंभिक प्रमाण तीसरी शताब्दी ईसा पूर्व के अशोक के अभिलेखों में पाए जाते हैं।

पिंगला (प्रथम शताब्दी ईसा पूर्व) नामक गणितज्ञ ने बाइनरी पद्धति को दशमलव संख्याओं में परिवर्तनीय समीकरण के तौर पर विकसित किया। उन्होंने इस पद्धति को अपनी पुस्तक ***चंदाशास्त्र*** में वर्णित किया है। उनके द्वारा विवेचित यह पद्धति लेबनिट्ज द्वारा प्रस्तुत पद्धति के बिल्कुल समान है।

आमतौर पर अब यह स्वीकार कर लिया गया है कि भारत कई गणितीय अवधारणाओं का जन्म स्थान रहा है जिसमें शून्य, दशमलव पद्धति, बीजगणित और लघुगणक, वर्गमूल और घनमूल शामिल हैं। शून्य एक संख्या के साथ-साथ अवधारणा भी है। यह अपने उदय के लिए भारतीय दर्शन का ऋणी है जिसमें शून्य की अवधारणा थी जिसका शाब्दिक अर्थ जीरो है और यह दर्शनशास्त्रीय अवधारणा का प्रतिनिधित्व करता है।

ज्यामितीय सिद्धांतों से प्राचीन भारतीय अनभिज्ञ नहीं थे और यह मंदिर की दीवारों पर चित्रित मूलभावों में देखा जा सकता है जो अधिकतर मामलों में मिश्रित फूलकारी एवं ज्यामितीय बनावट एवं रूप में धूमिल हो गई। क्रमिक गणनाओं की पद्धति को 'पंच-सिद्धांत' नामक पुस्तक में विवेचित किया गया है जो 5वीं शताब्दी ईस्वी में लिखी गई।

भारतीय गणित की सफलता का मुख्य कारण भारतीयों की पूर्ण संख्या को लेकर स्पष्ट अवधारणा थी। बीजगणितीय सिद्धांत, जैसाकि यह भी एक अन्य गणितीय अवधारणा है, जो प्राचीन भारत में व्याप्त था, का संग्रह एवं आगामी विकास आर्यभट्ट द्वारा किया गया, जो 5वीं शताब्दी में पटना शहर में, तत्कालीन पाटलिपुत्र के नाम से ख्यात, रहते थे।

भौतिकी

प्राचीन भारत में अणु की अवधारणा की जड़ें प्राचीन भारतीय दार्शनिकों द्वारा भौतिक संसार को पांच आधारभूत तत्वों में वर्गीकृत करने से निकली है। ये पांच

तत्व और ऐसा वर्गीकरण 3000 ईसा पूर्व के पूर्व वैदिक समय से मौजूद था। ये पांच तत्व थे पृथ्वी, अग्नि, वायु, जल एवं आकाश। ये तत्व मानव की ऐन्द्रिय अवधारणा से भी सम्बद्ध हैं। पृथ्वी का संबंध सूंघने से, वायु का महसूस करने से, आग का दृष्टि से, जल का जीभ से और आकाश का ध्वनि से संबंध है। बाद में, बौद्ध दार्शनिकों ने आकाश तत्व को जीवन, आनंद एवं दुःख से प्रतिस्थापित कर दिया।

प्राचीन काल से, भारतीय दार्शनिक विश्वास करते थे कि आकाश के सिवाय, अन्य सभी तत्व परिस्पृश्य हैं और इस प्रकार पदार्थ के लघु एवं सूक्ष्म अणुओं से बने होते हैं। उन्होंने विश्वास किया कि एक अतिसूक्ष्म अणु जिसे उपविभाजित नहीं किया जा सकता, परमाणु था, जोकि एक संस्कृत शब्द है। परमाणु शब्द संस्कृत भाषा के दो शब्दों, परम जिसका अर्थ है सर्वोत्तम और अणु शब्दों से मिलकर बना है। इस प्रकार, 'परमाणु' शब्द का शाब्दिक अर्थ 'अणु से परे' है और यह एक ऐसी अवधारणा थी जो एक भिन्न स्तर पर थी, जिसने अणु को भी पृथक् करने की संभावना का संकेत किया, जोकि वर्तमान समय में आणविक ऊर्जा का स्रोत है।

छठी शताब्दी ईस्वी में एक भारतीय दार्शनिक **कणाद** प्रथम व्यक्ति थे, जिन्होंने व्यवस्थित रूप से अणु-सिद्धांत को रखा। इन्होंने अपने ***'वैशेषिक सूत्रों'*** में ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति के जो आणविक सिद्धांत दिए हैं, वे आधुनिक विकासवादी सिद्धांत से आश्चर्यजनक रूप से साम्य रखते हैं। एक अन्य भारतीय दार्शनिक, **पकुधा कात्यायन,** जो बुद्ध के समकालीन थे, ने भी भौतिक विश्व के आणविक संघटन के बारे में विचार उद्घाटित किए। ये सभी तर्क एवं दर्शन पर आधारित थे और इनमें किसी प्रकार के आनुभाविक आधार का अभाव था। इसी प्रकार, सापेक्षता का सिद्धांत (इसमें आइंस्टीन के सापेक्षता सिद्धांत से भ्रम नहीं होना चाहिए) भारतीय दर्शनशास्त्रीय अवधारणा 'सापेक्षतावाद' में अपने जनन रूप में मौजूद थी।

रसायन विज्ञान

रसायन विज्ञान में प्राचीन भारत का विकास भौतिकी की तरह विशिष्ट स्तर तक सीमित नहीं था, अपितु यह विभिन्न प्रकार की व्यावहारिक गतिविधियों के विकास तक पाया जाता है। किसी भी प्रारम्भिक सभ्यता में, धातुकर्म कांस्य युग से लौह

युग तक सभी सभ्यताओं की केंद्रीय गतिविधि रही और अन्य सभ्यताओं की भी मुख्य गतिविधि रही है जिन्होंने इसका अनुसरण किया। यह विश्वास किया जाता था कि धातु गलन का मूलभूत विचार मेसोपोटामिया और पूर्व के समीप से प्राचीन भारत में पहुंचा। सिक्कों पर मुद्रित 8वीं शताब्दी ईसा पूर्व से 17वीं शताब्दी ईस्वी की तिथि भारत में गलन प्रौद्योगिकी के उन्नत स्थिति में होने का प्रमाण है।

5वीं शताब्दी ईसा पूर्व में, ग्रीक इतिहासकार हेरोडोट्स ने गौर किया कि भारतीय एवं फारसी सेना लोहे की नोंक वाले तीरों का इस्तेमाल करते थे। प्राचीन रोमवासी भारतीय लोहे से बने बर्तनों का इस्तेमाल करते थे।

स्वयं भारत में, प्राचीन भारतीय ने धातुकर्म के उच्च स्तर को प्राप्त करके कुछ विशिष्ट वस्तुओं का निर्माण किया। कुतुब मीनार की एक तरफ, दिल्ली में एक विश्व विरासत स्थल, एक लौह स्तम्भ बना है। यह माना जाता है कि इस स्तम्भ का निर्माण गुप्त काल के आस-पास 500 ईस्वी में हुआ होगा। यह स्तम्भ 7.32 मीटर लम्बा, 40 सेमी. की परिधि के आधार और 30 सेमी. के शीर्ष वाला है और इसका वजन 6 टन अनुमानित किया गया है। गौरतलब है कि यह स्तम्भ खुले प्रांगण में पवन, ऊष्मा एवं मौसम की मार को झेलते हुए विगत् 1500 से भी अधिक वर्षों से खड़ा है और बेहद मामूली प्राकृतिक अपरदन के सिवाय इसमें अभी भी जंग नहीं लगा है। इस प्रकार का जंगरोधक लौह संभव नहीं था यदि लौह एवं इस्पात कुछ दशकों पूर्व ही खोजा गया होता। प्राचीन भारत के रसायन विज्ञान की उन्नत प्रकृति को इत्रों के आसवन और स्नेहकों, डाइज एवं रसायनों के विनिर्माण, शीशों की पॉलिश, पिगमेंट एवं रंगों को तैयार करना जैसे अन्य क्षेत्रों में भी खोजा जा सकता है। अंजता एवं एलोरा की दीवारों पर पाई गई चित्रकारी (दोनों विश्व विरासत स्थल है), जो 1000 वर्षों बाद भी बिल्कुल नवीन लगती है, भी प्राचीन भारत में हासिल उच्च स्तर के रसायन विज्ञान को उद्घाटित करती है।

औषधि एवं शल्य चिकित्सा

आयुर्वेद के औषधि विज्ञान के तौर पर विकास के लिए यह प्राचीन भारत में इसके उदय का ऋणी है। आयुर्वेद संस्कृत भाषा के दो शब्दों 'अयूर' जिसका अर्थ आयु या जीवन से है, और 'वेद' जिसका अर्थ है ज्ञान से लिया गया है।

इस प्रकार आयुर्वेद का शाब्दिक अर्थ है जीवन या दीर्घायु का विज्ञान। आयुर्वेद में रोगों, उनके लक्षणों, पहचान एवं निदान के बारे में बताया गया है और पूरी तरह से जड़ी-बूटी से प्राप्त औषधियों पर निर्भर है जिसमें विभिन्न प्रकार के कई औषधीय महत्व के पौधों या पादपों का अर्क शामिल है। जड़ी-बूटियों पर निर्भरता आयुर्वेद को एलोपैथी और होमियोपैथी जैसी चिकित्सा पद्धतियों से अलग करता है।

अत्रेय एवं अग्निवेश जैसे भारत के प्राचीन विद्वानों ने 800 ईसा पूर्व आयुर्वेद के सिद्धांतों पर कार्य किया। उनके कार्यों एवं अन्य विकासों को **चरक** ने संहिताबद्ध किया, जिन्होंने अपनी कृति ***चरक-संहिता*** में आयुर्वेद के सिद्धांतों एवं व्यवहारों को संकलित किया जो लगभग 2000 वर्षों से एक मानक पाठ्यपुस्तक बनी हुई है और कई भाषाओं में इसका अनुवाद किया जा चुका है जिसमें अरबी एवं लैटिन भाषाएं शामिल हैं। चरक-संहिता में विभिन्न प्रकार के विषयों जैसे शरीर-रचना, पाचन, मेटाबॉलिज्म एवं प्रतिरक्षा तंत्र की अवधारणाओं पर विचार एवं वर्णन किया गया है। चरक-संहिता में आनुवंशिकी पर प्रारंभिक अवधारणा भी उल्लिखित की गई है जिसमें चरक ने वर्णन किया है कि जन्मजात अंधता माता-पिता में किसी कमी के कारण नहीं होती, अपितु इसका उदय अंडाणु एवं शुक्राणु में होता है।

प्राचीन भारत में, शल्य चिकित्सा में भी कई उन्नति एवं प्रोन्नयन किये गये। विशिष्ट रूप से, इन उन्नयनों में प्लास्टिक सर्जरी, मोतियाबिंद दूर करना, एवं यहां तक कि दंत शल्य चिकित्सा जैसे क्षेत्रों को शामिल किया गया।

प्राचीन भारतीय शल्यक्रिया की जड़ें 800 ईसा पूर्व से पहले की हैं। **सुश्रुत,** एक चिकित्सा सिद्धांतकार एवं प्रैक्टिशनर, 2000 वर्ष पहले प्राचीन भारतीय शहर काशी, जिसे अब वाराणसी के नाम से जाना जाता है, में रहते थे। उन्होंने एक चिकित्सा कृति **'सुश्रुत-संहिता'** लिखी। इस कृति में शल्य क्रिया की सात शाखाओं का वर्णन किया गया है। इस कृति में प्लास्टिक सर्जरी और मोतियांबिंद निकालने जैसे विषयों का भी वर्णन किया गया है। यह संकलन मृत शरीर का उपयोग करके मानव अंगों के अध्ययन पर भी ध्यान देता है।

प्राचीन भारत में चिकित्सा विज्ञान ने कई प्रकार की प्रगति की। प्राचीन भारत में विभिन्न शल्य क्रियाएं की गईं। निश्चेतक (एनेस्थीसिया) के अभाव

के बावजूद जटिल ऑपरेशन किए गए। भारत में शल्य क्रिया का अस्तित्व कोई 800 ईसा पूर्व का रिकॉर्ड किया गया है। यह कोई आश्चर्य नहीं है क्योंकि सर्जरी (शस्त्रकर्म) चिकित्सा की प्राचीन भारत पद्धति आयुर्वेद की आठ शाखाओं में से एक थी। सर्जरी के बारे में बताने वाली सर्वाधिक प्राचीन कृति ***सुश्रुत-संहिता*** है। सुश्रुत ने आठ शीर्षकों छेद्य (Excision), लेख्य (Scarification), वेधया (Puneturing), ऐस्था (Exploration), अहर्या (Extraction) वर्स्या (evacuation) और सिवया (Suturing)—के अंतर्गत सर्जरी का विवेचन किया है।

योग शारीरिक एवं मानसिक पोषण हेतु एक व्यायाम पद्धति है। योगा की उत्पत्ति रहस्य से घिरी है। वैदिक काल से, हजारों वर्ष पूर्व, योगा के सिद्धांत एवं व्यवहार के बारे में वर्णन मिलता है। लेकिन, केवल 200 ईसा पूर्व में **पंतजलि** ने अपनी कृति ***योगसूत्र*** में योगा की सभी मूलभूत अवधारणाओं एवं तत्वों का संग्रह किया।

संक्षेप में, पंतजलि ने उद्घाटित किया कि योग के अभ्यास के माध्यम से मानव शरीर में मौजूद गुप्त ऊष्मा को जीवंत एवं विमुक्त किया जा सकता है, जिसका मानव शरीर एवं मस्तिष्क पर स्वास्थ्यवर्धक प्रभाव पड़ता है। आज, आधुनिक समय में, चिकित्सकीय अभ्यासों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि, चिकित्सकीय तनाव, उच्च रक्तचाप, एमनेसिया, एसिडिटी जैसी व्याधियों को योग के अभ्यासों से नियंत्रित एवं प्रबंधित किया जा सकता है। फिजियोथेरेपी में योगा के अनुप्रयोग को भी मान्यता मिलती जा रही है।

सिविल अभियांत्रिकी एवं स्थापत्य

भारत की शहरी सभ्यता मोहनजोदड़ो एवं हड़प्पा, अब पाकिस्तान में, से ली जा सकती है, जहां 5,000 वर्ष पहले नियोजित शहरी निवेश एवं टाउनशिप मौजूद थी। तब से, प्राचीन भारतीय स्थापत्य एवं सिविल अभियांत्रिकी निरंतर विकसित एवं बढ़ती जा रही है। इसका साकार रूप में भारतीय प्रायद्वीप एवं पड़ोसी क्षेत्रों में निर्मित मंदिरों, महलों एवं किलों में प्रकट होता है। प्राचीन भारत में, आर्किटेक्चर एवं सिविल अभियांत्रिकी को *स्थापत्य-कला* के रूप में जाना जाता था, जिसका शाब्दिक अर्थ है निर्माण कला।

कुषाण एवं मौर्य साम्राज्यों के दौरान, भारतीय स्थापत्य कला बलूचिस्तान एवं अफगानिस्तान जैसे क्षेत्रों तक पहुंच गई। बामियान, अफगानिस्तान के

भगवान बुद्ध जैसी पूरे पर्वत एवं चट्टानों पर भगवान बुद्ध की मूर्ति उकेरी गई। समय के साथ-साथ, प्राचीन भारतीय निर्माण कला में यूनानी शैली (ग्रीक) हिल-मिल गई और यह मध्य एशिया तक फैल गई।

दूसरी तरफ, बौद्ध धर्म स्थापत्य एवं सिविल अभियांत्रिकी की भारतीय शैली को श्रीलंका, इंडोनेशिया, मलेशिया, वियतनाम, लाओस, कम्बोडिया, थाईलैण्ड, बर्मा, चीन, कोरिया और जापान जैसे देशों तक ले गया। कम्बोडिया में स्थित अंकोरवाट मंदिर कम्बोडियाई खमेर विरासत में भारतीय स्थापत्य कला के योगदान का जीवंत उदाहरण है।

आज भारत की मुख्य भूमि में, प्राचीन भारतीय स्थापत्य विरासत के कई अद्भुत नमूने हैं जिसमें अंजता, एलोरा, खजुराहो, महाबोधि मंदिर, सांची, बृहदेश्वर मंदिर और महाबलीपुरम् जैसे विश्व विरासत स्थल शामिल हैं।

उत्पादन तकनीक

प्राचीन भारत की यांत्रिकी एवं उत्पादन तकनीक ने प्राकृतिक उत्पाद का प्रसंस्करण किया और उन्हें व्यापार, वाणिज्य एवं निर्यात में परिवर्तित किया। बड़ी संख्या में यात्रियों एवं इतिहासकारों (इसमें मेगस्थनीज, टॉलेमी, फेक्सियन, जुआगझेंग, मार्कोपोलो, अलबरूनी, और इब्नबतूता शामिल हैं) ने विभिन्न चीजों की ओर संकेत किया, जिन्हें प्राचीन भारतीयों द्वारा ज्ञात समाज एवं विश्व में उत्पादित, उपभोग एवं निर्यात किया जाता था।

जहाज निर्माण एवं नौवहन

मोहनजोदड़ो में एक चित्रित पैनल मिला है जिस पर तैरता जहाज चित्रित है, और हजारों साल बाद अजंता की गुफाओं में भी एक समुद्र में तैरते जहाज को चित्रित किया गया है। प्राचीन भारतीय जहाजरानी एवं नौवहन के विज्ञान से भली-भांति परिचित थे। संस्कृत और पाली की पाठ्य पुस्तकों में समुद्री संदर्भ मिले हैं और प्राचीन भारतीयों, विशेष रूप से तटीय क्षेत्रों से, के कम्बोडिया, जावा, सुमात्रा, बोर्नियो, और यहां तक कि चीन जैसे बंगाल की खाड़ी के पार के कई देशों के साथ वाणिज्यिक संबंध थे। इसी प्रकार के समुद्री एवं व्यापार संबंध अरेबिया, मिस्र एवं पर्सिया जैसे अरब सागर के पार के देशों के साथ भी मौजूद थे।

यहां तक कि 500 ईस्वी के आस-पास प्राचीन भारतीय जहाज निर्माता एवं नौवहन संचालक समुद्री कम्पास से अनभिज्ञ नहीं थे। इंस्टीट्यूट ऑफ नेवल आर्किटेक्ट्स एंड शिपबिल्डर्स, इंग्लैंड के सदस्य जे.एल. रीड ने 20वीं शताब्दी के प्रारंभ के आस-पास बॉम्बे गजट में प्रकाशित किया कि, ''प्रारंभिक हिंदू खगोलशास्त्री एक चुम्बक का प्रयोग उत्तर एवं पूर्व दिशा निर्धारित करने के लिए करते थे। हिंदू कम्पास एक लोहे की मछली थी जो तेल के पात्र में तैरती थी और उत्तर दिशा की ओर इशारा करती थी। इस प्राचीन हिंदू कम्पास का वर्णन संस्कृत शब्द 'मच्च-यंत्र' या 'फिश मशीन' से होता है जिससे शंका का समाधान हो जाता है कि वास्तव में ऐसा कोई यंत्र था या नहीं।''

वनस्पति एवं पशु (वेटनरी) विज्ञान

आयुर्वेद या जीव विज्ञान, विज्ञान की सभी शाखाओं का आधार है। यह आयुर्वेद के संदर्भ में आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के बारे में सत्य है। जड़ी-बूटियों के माध्यम से रोगों का इलाज आयुर्वेद का मुख्य हिस्सा है और पादप विज्ञान या वनस्पति विज्ञान का सूक्ष्म ज्ञान इसकी पूर्व शर्त है। तक्षशिला में अपने अध्ययन के दौरान 'जीवक' को उनके अध्यापक ने शहर से एक योजन की परिधि के भीतर एक वानस्पतिक सर्वेक्षण करने को कहा और ऐसा एक पौधा ढूंढने की बात कही जिसमें औषधीय तत्व न हों। अच्छी प्रकार जांच करने के पश्चात् वह औषधीय तत्वों से रहित एक भी पौधा ढूंढने में नाकाम रहे। इससे वानस्पतिक अध्ययन के महत्व का पता चलता है। **वृक्ष आयुर्वेद** के अंतर्गत व्यापक प्राचीन वानस्पतिक साहित्य का उल्लेख किया गया है जिसमें कौटिल्य के *अर्थशास्त्र* एवं कामन्दक के *नीतिशास्त्र* का बार-बार वर्णन किया गया है। *अग्निपुराण* और *बृहतसंहिता* प्रत्येक में **वृक्षआयुर्वेद** पर अध्याय हैं। इस प्रकार, यह तार्किक रूप से आशा की जाती है कि वानस्पतिक अध्ययन चिकित्सा संस्थानों में न केवल अपरिहार्य थे, अपितु बेहद लोकप्रिय भी थे और समय के साथ-साथ अध्ययन के एक विशिष्ट विषय के रूप में विकसित हो गया।

मानव जीवन के विज्ञान की छाया के रूप में पशु जीवन का विज्ञान था जिसने बड़ी संख्या में विशिष्ट लेखों, जो प्रत्येक एक विशेष पशु पर थे, से एक विषय तैयार किया। मानव पोषण में दूध के महत्व के संबंध में सुश्रुत ने बड़ी संख्या में पालतू जानवरों के दूध की विशेषता पर गौर किया। गोजातीय पशुओं

पर एक विशेष कृति, जिसने भारतीय अर्थव्यवस्था में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई और अभी भी निभा रहा है, सर्वप्रथम गवआयुर्वेद शीर्षक के अंतर्गत प्रकट हुई, और जिसका इस्तेमाल **भोजराजा** ने अपने चिकित्सा विश्वकोष ***राजमार्तंड*** में किया। प्राचीन समय से अपने सैन्य महत्व के कारण घोड़े एवं हाथी को लेकर एक विषय तैयार हुआ और बड़ी संख्या में पशु कार्य हुआ जैसे घोड़ों पर ***सालिहोत्र-संहिता*** की रचना की गई और जयदत्त सूरी और नकुला ने इस पर टिप्पणी की। **पलक्पया** द्वारा हाथी पर रचित ***हस्तआयुर्वेद*** भारत एवं भारत से बाहर दोनों जगह बेहद लोकप्रिय हुई। कौटिल्य ने अपनी 'अर्थशास्त्र' पुस्तक में कई स्थानों पर पशु चिकित्सकों एवं शल्य चिकित्सकों का उल्लेख किया है। मौर्यवंश के महान शासक अशोक भी व्यक्तियों एवं पशुओं दोनों के स्वास्थ्य एवं उपचार के प्रति चिंतित थे जिसके लिए उन्होंने अपने पूरे साम्राज्य में चिकित्सालयों की स्थापना की। यद्यपि वेटनरी साइंस के अध्ययन के एक विशिष्ट विषय के रूप में महत्व एवं मान्यता को सुरक्षित रूप से माना जा सकता है। हम इस बारे में बेहद कम जानते हैं कि इस विषय का अध्ययन केवल चिकित्सा विद्यालयों तक सीमित था या इसकी जिम्मेदारी विशेष अध्यापकों या राजसी पशुशालाओं की देखभाल करने वालों पर थी।

तकनीकी शिक्षा एवं प्रशिक्षु व्यवस्था

तक्षशिला विश्वविद्यालय के विभिन्न स्कूलों के संदर्भ में आमतौर पर अट्ठारह ***शिल्पों*** या औद्योगिक और तकनीकी कला एवं हस्तकला का उल्लेख मिलता है। ***जातकों, महावग्ग, मिलिन्द-पन्हो,*** एवं अन्य स्रोतों से प्राप्त जानकारी के अनुसार, ये अट्ठारह शिल्प थे (i) गीत-संगीत; (ii) वाद्य संगीत; (iii) नृत्य; (iv) चित्रकला; (v) गणित; (vi) लेखांकन; (vii) अभियांत्रिकी; (viii) मूर्तिकला; (ix) कृषि; (x) पशुपालन; (xi) वाणिज्य; (xii) औषधि; (xiii) परिवहन एवं विधि; (xiv) प्रशासनिक प्रशिक्षण; (xv) धुनर्विद्या एवं सैन्य कला; (xvi) संगीत; (xvii) सर्प चर्मशोधन; और (xviii) गुप्त खजाने को खोजने का कौशल। इन कला एवं कौशलों में लिप्त लोगों ने पेशेवर सुरक्षा के लिए अपने आप को गिल्ड में व्यवस्थित कर लिया और व्यापार में नवीन प्रशिक्षुओं की शिक्षा एवं प्रशिक्षण को संगठित करने के लिए भी ऐसा किया गया। ***मुग पक्ख जातक*** ने भी 18 गिल्डों (श्रेणी संघों) का उल्लेख किया है।

उपरिलिखित कला एवं कौशल में तकनीकी शिक्षा के लिए एक प्रशिक्षु तंत्र विकसित किया गया। इस व्यवस्था का विस्तृत वर्णन ***नारदस्मृति*** में किया गया है। जब कोई युवा स्वयं को अपने आनुवंशिक कला में प्रशिक्षित करने की इच्छा जाहिर करता था तो उसे सर्वप्रथम अपने संबंधियों एवं मित्रों की अनुमति लेनी होती थी और प्रशिक्षण समाप्त होने तक अपने गुरू के साथ रहना होता था। यह गुरू का कर्तव्य होता था कि वह अपने शिष्य को अपने घर पर पढ़ाता, खाना खिलाता और अपने पुत्र के समान उसका ध्यान रखता और व्यवहार करता तथा उसे किसी अन्य काम में नहीं लगाता। इस दौरान प्रशिक्षु जो कुछ भी आय अर्जित करता वह उसके गुरू की होती थी। प्रशिक्षण समाप्त होने पर और संविदा की तिथि पूरी होने पर प्रशिक्षु अपने गुरू को छोड़कर जा सकता था।

प्रशिक्षु व्यवस्था ने अधिगम के अन्य क्षेत्रों में भी गुरु-शिष्य संबंधों पर बल दिया। इसमें कुछ संविदात्मक दायित्व होते थे, जो दोनों पक्षों पर बाध्य होते थे। इस व्यवस्था की मुख्य विशेषता थी कि प्रशिक्षु को गुरू के वास्तविक वर्कशॉप्स (कर्मशाला) में प्रशिक्षण के लिए लाया जाता था। पुश्तैनी कौशल सीखने की स्थिति में पिता स्वयं गुरू होता था और दोनों के संबंध निश्चित रूप से अलिखित होते थे।

मध्यकालीन भारत में वैज्ञानिक विकास

मध्यकाल के दौरान भारत में विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी दो रूपों में विकसित हुआ (i) पहले से चली आ रही विज्ञान परम्परा पर आगे बढ़ने का मार्ग; और (ii) इस्लामी एवं यूरोपीय प्रभाव के परिणामस्वरूप उत्पन्न नए प्रभावों के आत्मसातूकरण द्वारा। जैसाकि आप जानते हैं कि मध्यकाल भारत में मुस्लिमों के आगमन का संकेत देता है। इस समय तक, परम्परागत स्वदेशी शास्त्रीय अधिगम पहले ही ध्वस्त हो चुका था। अरब देशों में व्याप्त शिक्षा प्रतिरूप को धीरे-धीरे इस समयावधि के दौरान अपना लिया गया। परिणामस्वरूप मकतब एवं मदरसे अस्तित्व में आए। इन शैक्षिक संस्थानों को राजसी संरक्षक प्राप्त हुए। कई जगहों पर मदरसों की एक श्रृंखला खोली गई। दो भाईयों, शेख अब्दुल्ला एवं शेख अजीजुल्लाह, जो तर्क विज्ञान में विशेषज्ञ थे, सम्भल और आगरा के मदरसों के अध्यक्ष बनाए गए। देश में मौजूद प्रतिभा के अतिरिक्त, अरेबिया, पर्सिया और मध्य एशिया

से भी विद्वानों को मदरसों में शिक्षा की जिम्मेदारी संभालने के लिए आमंत्रित किया गया।

मुस्लिम शासकों ने प्राथमिक स्कूलों के पाठ्यक्रम में सुधार के भी प्रयास किए। गणित, क्षेत्रमिति, ज्यामिति, खगोलशास्त्र, लेखांकन, लोक प्रशासन और कृषि जैसे कुछ महत्वपूर्ण विषयों को प्राथमिक शिक्षा में अध्ययन के लिए शामिल किया गया। यद्यपि शासकों ने शिक्षा में सुधारों को करने के लिए विशेष प्रयास किए, तथापि विज्ञान विषयों पर अधिक ध्यान नहीं दिया गया। भारतीय पारम्परिक वैज्ञानिक संस्कृति और अन्य देशों में मौजूदा विज्ञान की व्याप्त मध्यकालीन उपागम के बीच एक प्रकार का तारतम्य बैठाने का प्रयास करना था।

शाही घरानों एवं सरकारी विभागों तक सामान, जरूरी वस्तुएं एवं उपकरणों की आपूर्ति के लिए बड़े-बड़े वर्कशॉप्स, जिन्हें **कारखाना** कहा जाता था, का प्रबंधन किया गया। कारखानों ने न केवल विनिर्माण अभिकरण के तौर पर काम किया, अपितु युवाओं को तकनीकी एवं व्यावसायिक प्रशिक्षण प्रदान करने का भी केंद्र बन गया। कारखानों ने प्रशिक्षित करके विभिन्न क्षेत्रों में कलाकार एवं दस्तकारों को तैयार किया, जिन्होंने बाद में स्वयं के स्वतंत्र कारखाने स्थापित किए।

भारत में मुस्लिम शक्ति के सशक्त होने के साथ-साथ भारत के शिक्षा ताने-बाने में धीरे-धीरे एक नया पैटर्न स्थापित होने लगा। शैक्षिक प्रेरणा और प्रतिरूप पश्चिम एशिया में अग्रणी इस्लामी सांस्कृतिक केंद्रों से आई। बगदाद में निजामिया का प्राचीन कॉलेज, जहां एक समय में **अल-गाजली** नामक दार्शनिक पढ़ाते थे, ने एक पाठ्यक्रम प्रस्तुत किया जिसे व्यापक तौर पर ***सिलसिले नजामिया*** के नाम से जाना जाता है। इस पाठ्यक्रम के अनुसार पढ़ाए जाने वाले विषयों में व्याकरण, काव्यशास्त्र, तर्क, साहित्य, दर्शन, गणित, तत्वमीमांसा और विधि शामिल हैं। दर्शन ने ज्ञान की दो महत्वपूर्ण शाखाओं मीमांसा और तत्वमीमांसा, जो अरस्तु के सिद्धांतों पर आधारित थी, और गणित जिसमें बीजगणित, ज्यामिति और अंकगणित के अतिरिक्त, खगोलशास्त्र, विशेष रूप से टॉलेमी की भूकेंद्रीय पद्धति, शामिल था, को गले लगाया। इन विषयों को शिक्षा के माध्यमिक और उच्च स्तरों पर लिया गया, जबकि प्राथमिक चरण के निर्देश में, जैसाकि सार्वभौमिक रूप से सभी जगह था, इसे पढ़ना, लिखना एवं

प्रारंभिक गणित तक सीमित रखा गया। स्कूलों एवं कॉलेजों में सामान्य तौर पर तकनीकी शिक्षा नहीं दी जाती थी। तकनीकी शिक्षा विशिष्ट संस्थानों और औद्योगिक कर्मशालाओं (कारखानों) में दी जाती थी।

मध्यकाल में गणित विषय

मध्यकालीन भारत में गणित के क्षेत्र में कई पुस्तकें लिखीं गईं। **नारायण पंडित,** जो नरसिम्हा देवजना के पुत्र थे, गणित में अपने सुप्रसिद्ध कार्य ***गणित-कौमुदी*** और ***बीजगणित वत्तम्सा*** के लिए जाने जाते हैं। गुजरात में **गंगाधर** ने ***लीलावती कर्मदीपिका, सुद्धांत दीपिका,*** और ***लीलावती व्याख्या*** कृतियों की रचना की। ये प्रसिद्ध रचनाएं थीं जिन्होंने क्षेत्रमिति के नए नियम स्थापित किए। **नीलकांथा सोमसुतवन** ने ***तंत्रसमगृह*** का लेखन किया, जिसने भी क्षेत्रमिति कार्यरूप के नियमों का संकलन किया।

गणेश देवजना ने ***बुद्धिविलासिनी*** की रचना की जो लीलावती पुस्तक पर टिप्पणी प्रस्तुत करती है और इसमें बड़ी संख्या में उद्धरण दिए गए हैं। वलहला परिवार के **कृष्ण** ने ***नवनकुरा*** कृति का लेखन किया जो **भास्कर-II** के बीजगणित का विस्तार है और प्रथम एवं द्वितीय क्रमों के अनिर्धार्य समीकरणों के नियमों का विस्तार करता है। **नीलकांथा ज्योतिर्विद** ने ***ताजिक*** का संकलन किया जिसमें बड़ी संख्या में फारसी तकनीकी शब्दों (टर्म्स) को प्रस्तुत किया गया है। अकबर के शासनकाल में फैजी ने भास्कर की बीजगणित का अनुवाद किया। अकबर ने शिक्षा तंत्र में अन्य विषयों के साथ गणित को भी अध्ययन का एक विषय बनाने का आदेश दिया। **नासिरु-उद-दीन-ए-तुसी** गणित के एक अन्य विद्वान थे।

जीव विज्ञान

मध्यकाल में जीव विज्ञान के क्षेत्र में भी उन्नति हुई थी। 13वीं शताब्दी में **हम्सदेव** ने ***मर्ग-पाक्सी-सस्त्र*** शीर्षक से जीव विज्ञान के क्षेत्र में विशिष्ट कार्य का संकलन किया। इसने, यद्यपि हमेशा वैज्ञानिक नहीं, कुछ जानवरों एवं पक्षियों के आखेट का सामान्य वर्णन प्रस्तुत किया। मुस्लिम शासकों ने, जो योद्धा एवं शिकारी थे, घोड़ों, कुत्तों, चीता एवं बाज जैसे कुछ जानवरों के आखेट की सूची तैयार की। घरेलू एवं जंगली दोनों ही प्रकार के जानवरों का वर्णन किया गया है।

बाबर और अकबर दोनों ने राजनीतिक गतिविधियों एवं युद्ध में व्यस्त होते हुए भी कार्य के अध्ययन का समय निकाला। अकबर ने हाथी एवं घोड़े जैसे घरेलू जानवरों की अच्छी नस्ल पैदा करने में विशेष रुचि प्रकट की। **जहांगीर** ने अपनी पुस्तक ***तुजुक-ए-जहांगीरी*** में जानवरों की नस्ल सुधार एवं वर्ण संकर के प्रयोगों एवं विश्लेषण को दर्ज किया है। उसने जानवरों की लगभग 36 जातियों का वर्णन किया है। जहांगीर के दरबारी कलाकार, विशिष्ट रूप से, मंसूर, ने जानवरों की सटीक एवं भव्य तस्वीर प्रस्तुत की है। इनमें से कुछ कृतियों को अभी भी कई संग्रहालयों एवं निजी संग्रहों में सुरक्षित रखा गया है। प्रकृति प्रेमी होने के कारण, जहांगीर की रुचि पादपों के अध्ययन में भी थी। उनके दरबारी कलाकारों ने अपनी फूल चित्रकारी में लगभग 57 पादपों को चित्रित किया।

रसायन विज्ञान

क्या आप जानते हैं कि मध्यकाल में कागज का प्रयोग शुरू हो गया था? कागज के उत्पादन में रसायन विज्ञान का एक महत्वपूर्ण अनुप्रयोग था। कश्मीर, सियालकोट, जाफराबाद, पटना, मुर्शिदाबाद, अहमदाबाद, औरंगाबाद एवं मैसूर कागज उत्पादन के सुप्रसिद्ध केंद्र बने। पूरे देश में कागज निर्माण तकनीक पूर्णतः या आंशिक रूप से एक समान थी केवल विभिन्न प्रकार के कच्चे माल से लुगदी तैयार करने की पद्धति भिन्न-भिन्न थी।

मुगल गनपाउडर के उत्पादन की तकनीक जानते थे। **शुक्राचार्य** की ***शुक्रनीति*** में साल्टपीटर, सल्फर और चारकोल के विभिन्न अनुपात में प्रयोग कर गनपाउडर बनाने की विधि का वर्णन है जिसका प्रयोग विभिन्न प्रकार की बंदूकों में किया जाता था। मुख्य पटाखों में ऐसे पटाखे शामिल थे, जो हवा में फटते थे, आग की ज्वाला पैदा करते थे, विभिन्न रंगों में जलते थे और विस्फोट के साथ फटते थे। ***आइने-अकबरी*** पुस्तक ने अकबर के इत्र विभाग के विनियमन का वर्णन किया है। गुलाब का इत्र सर्वाधिक लोकप्रिय था, जिसकी खोज, समझा जाता है कि नूरजहां द्वारा की गई।

खगोलशास्त्र

खगोलविज्ञान एक अन्य क्षेत्र था जो इस काल में फला-फूला। खगोल विज्ञान में, पहले से स्थापित खगोलकीय विचारों पर बड़ी संख्या में टीका-टिप्पणी की गई। महेन्द्र सूरी ने, जो मुस्लिम शासक फिरोज शाह के दरबारी खगोलशास्त्री

थे, एक खगोलीय यंत्र 'यंत्रजा' विकसित किया। परमेश्वर एवं महाभास्कर्या, दोनों ही केरल में थे, खगोलशास्त्रियों एवं पंचांग या जंतरी-निर्माताओं के प्रसिद्ध परिवार थे। नीलकांथा सोमसुतवन ने आर्यभट्ट पर टिप्पणी लिखी। कमलाकर ने इस्लामी खगोलशास्त्रीय विचारों का अध्ययन किया। वह इस्लाम के ज्ञान के प्रसिद्ध विद्वान थे। जयपुर के महाराजा सवाई जयसिंह-II खगोलविज्ञान के संरक्षक थे। उन्होंने दिल्ली, उज्जैन, वाराणसी, मथुरा एवं जयपुर के खगोलशास्त्रीय प्रेक्षणशालाओं की स्थापना की।

औषधि विज्ञान

आयुर्वेद औषधि पद्धति राजसी संरक्षण के अभाव में उतने जोरदार ढंग से विकास नहीं कर सकी जिस तरह से प्राचीन काल में इसकी प्रगति हुई। हालांकि, **वांगसेन** द्वारा ***सारंगधारा संहिता*** और ***चिकित्सासमग्र,*** तथा **भवमिश्रा** द्वारा ***भवप्रकाश*** एवं ***यगरात बाजरा*** जैसी आयुर्वेद पर कुछ महत्वपूर्ण कृतियों की रचना की गई। ***सारंगधारा संहिता*** तेरहवीं शताब्दी में लिखी गई जिसमें अफीम के औषधीय गुणों तथा नैदानिक उद्देश्य से मूत्र परीक्षण या जांच में इसके उपयोग का वर्णन किया गया है। उल्लिखित दवाओं में रसचिकित्सा पद्धति से धात्विक निर्माण और यहां तक कि आयतित दवाओं का वर्णन शामिल है।

रसचिकित्सा पद्धति, प्रधानतः खनिज औषधियों के साथ संव्यवहार करती है जिसमें पारदमय एवं गैर-पारदमय दोनों औषध शामिल हैं। चिकित्सा की सिद्धा पद्धति मुख्य रूप से तमिलनाडु में विकसित हुई जिसमें खनिज तत्वों से समृद्ध औषधियां शामिल हैं।

मध्यकाल के दौरान औषध की यूनानी तिब्ब पद्धति का विकास हुआ। **अली-बिन-रब्बान** ने अपनी पुस्तक ***फिरदौसू-हिकमत*** में यूनानी औषध एवं भारतीय चिकित्सा दोनों का समग्र ज्ञान संकलित किया। भारत में यूनानी औषध का पदार्पण मुस्लिमों के आगमन के साथ लगभग ग्यारहवीं शताब्दी में हुआ और इसे जल्द ही अपने विकास के लिए संरक्षक मिल गया। **हाकिम दिया** ने ***मजिने-ए-दिये*** नामक पुस्तक का संकलन किया जिसमें उन्होंने अरबी, फारसी एवं आयुर्वेदिक चिकित्सा ज्ञान को समाहित किया। **फिरोजशाह तुगलक** ने ***तिब्बे फिरोजशाही*** नामक पुस्तक लिखी। ***तिब्बी औरंगजेब*** पुस्तक **औरंगजेब** को समर्पित थी, जो आयुर्वेदिक स्रोतों पर आधारित थी। **नूरूद्दीन मुहम्मद** द्वारा

लिखित ***मुसलजाति-दाराशिकोही,*** जो दाराशिकोह को समर्पित थी, पुस्तक में यूनानी औषध एवं समग्र आयुर्वेदिक पदार्थों के औषधीय तत्वों का वर्णन किया गया है।

कृषि विज्ञान

मध्यकालीन भारत में, कृषि कार्य की पद्धति एवं तरीका कम या अधिक प्राचीन भारत में कृषि पद्धति जैसी थी। विदेशी व्यापारियों द्वारा लाई गई नवीन फसलों, पेड़-पौधों एवं बागवानी पादपों से कुछ महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। इस समय की प्रधान फसलों में गेहूं, चावल, जौ, मक्का, तिलहन, दलहन, कपास, गन्ना एवं नील शामिल थीं। पश्चिमी घाटा निरंतर अच्छी गुणवत्ता की काली मिर्च पैदा करता रहा और कश्मीर ने केसर एवं फल उत्पादन की अपनी परम्परा को बनाए रखा। तमिलनाडु से अदरक एवं बड़ी इलायची, और केरल से इलायची, चंदन की लकड़ी एवं नारियल तेजी से लोकप्रिय हुए। भारत में सोलहवीं एवं सत्रहवीं शताब्दियों के दौरान प्रस्तुत तंबाकू, मिर्च, आलू, नाशपाती, सेब, काजू एवं अन्नानास महत्वपूर्ण पौधे थे। मध्यकाल में ही मालवा एवं बिहार क्षेत्र में अफीम का उत्पादन शुरू हुआ। अपनाई गई उन्नत बागवानी पद्धतियों से बेहद सफलता प्राप्त हुई। शाही मुगल बागान वे उपयुक्त स्थान थे जहां फलदार वृक्षों की व्यापक खेती होती थी।

इस दौरान सिंचाई के लिए कुएं, तालाब, नहर, राहत, चरस एवं धेंकली चरस का इस्तेमाल होता था। आगरा क्षेत्र में फारसी पहिए का उपयोग होता था। मध्यकाल में, कृषि की मजबूत नींव रखी गई। राज्य द्वारा भूमि नपाई एवं भूमि वर्गीकरण की एक वैज्ञानिक पद्धति चालू की गई, जो शासकों एवं जोतदारों दोनों के लिए लाभदायी थी।

तकनीकी शिक्षा

मध्यकालीन भारत के विनिर्मित वस्तुओं की उत्कृष्टता में सूती एवं सिल्क के मनमोहक परिधान, कढ़ाई युक्त टोपी, चित्रित बर्तन, कप एवं कटोरे, इस्पात की बंदूकें, चाकू, कैंची, सफेद कागज, सोने एवं चांदी के आभूषण इत्यादि सुप्रसिद्ध हैं। यह उत्कृष्टता तकनीकी शिक्षा पर निर्भर तंत्र के अभाव में सदियों तक प्राप्त एवं सुव्यवस्थित नहीं रखी जा सकती है। घरेलू एवं निजी शिक्षा पद्धति में **उस्ताद**

एक महत्वपूर्ण धुरी होता था और अपनी प्रसिद्धि एवं विशेषज्ञता के आधार पर पास एवं दूर से प्रशिक्षुओं को आकर्षित करता था। अधिकतर मामलों में प्रशिक्षु को एक घर के सदस्य के रूप में **उस्ताद** के घर में रहना पड़ता था, और यह व्यवस्था बिल्कुल प्राचीन काल में पाई गई व्यवस्था के कम या अधिक तौर पर समान थी। पुस्तैनी हुनर की स्थिति में पिता स्वयं अपने पुत्र का **उस्ताद** और शिक्षक होता था, जबकि माता अपनी पुत्री को इस प्रकार का हुनर सिखाने की जिम्मेदारी उठाती थी। पिता और पुत्र के बीच में रक्त संबंधों का प्राकृतिक लाभ था कि पिता अपने पुत्र को व्यापार के सभी रहस्यों में प्रशिक्षित करता था और उसका पुत्र भी निःसंदेह उसके जैसा निपुण उस्ताद बनता था लेकिन इसका नुकसान भी हुआ। नवाचार की शैली का ह्रास हुआ और प्रतिस्पर्धात्मकता का निरंतर पतन हुआ। उपकरणों के उच्च रूप से विशिष्टीकृत व्यापार में, हमने लाहौर में एस्ट्रोलेबल बनाने वाले परिवार के बारे में सुना है। शेख अल्लाह-दाद, उनके बेटे मुल्ला इसा, उनके बेटे कैम मुहम्मद, और उनके बेटे जियाउद्दीन मुहम्मद चार पीढ़ियों से निरंतर भारत एवं विदेश दोनों में खगोलशास्त्रीय क्षेत्र में उत्कृष्ट एस्ट्रोलेबल्स की भारी मांग को पूरा कर रहे थे।

प्राचीन शिक्षक-प्रशिक्षु तंत्र के साथ-साथ, विनिर्माण अवस्थापनाएं, जिन्हें **कारखाना** कहा जाता था, ने धीरे-धीरे अपने विशिष्ट क्षेत्र में तकनीकी शिक्षा प्रदान करने की जिम्मेदारी संभाल ली। मुस्लिम शासकों ने सामान्य तौर पर एक लोक निर्माण विभाग या *सूरत-ए-अम* का प्रबंधन किया और इसका एक कार्य ऐसी कार्यशालाओं की निगरानी और मदद करना था जो औद्योगिक प्रशिक्षण गतिविधियों में लिप्त थीं। प्रत्येक कर्मशाला में कई विभाग थे जिनमें बड़ी संख्या में मैकेनिक्स और कलाकार थे।

बर्नियर ने बड़ी संख्या में कर्मशालाओं को देखा और इनके कार्य के क्रम में इनका विविध वर्णन प्रस्तुत किया। प्रशिक्षुओं को ऐसे स्थानों पर एक व्यापक पसंद मिलती थी। वे अपना प्रशक्षिण छोटी आयु से शुरू कर सकते थे। सल्तनत काल एवं महान मुगलों ने जोशीले तरीके से कारखानों एवं उनकी सम्बद्ध तकनीकी शिक्षा पद्धति का समर्थन किया। फिरोज ने उद्योग का एक नियमित विभाग बनाया और अपने गुलामों की तकनीकी शिक्षा में विशेष व्यक्तिगत रुचि दिखाई।

आधुनिक काल में विज्ञान एवं नवाचार

भारत में आधुनिक विज्ञान का विकास पूर्व की परम्परा का जैविक विस्तार नहीं है। इसका आरोपण ब्रिटिश साम्राज्य द्वारा भाषा में किया गया जो भारत के लोगों के लिए विदेशी भाषा थी। अन्य आरोपणों की तरह, समाज में इसके पोषण और वृद्धि हेतु अवशोषण की आवश्यकता थी। विज्ञान की शिक्षा का अभाव था और विज्ञान को ब्रिटिश साम्राज्य द्वारा अपने लाभ के लिए उपांग या संलग्न पिपासा के तौर पर देखा जाता था।

भारत में आधुनिक या पश्चिमी विज्ञान के संस्थानीकरण की शुरुआत 1784 में शुरू एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल के प्रेरित आवेग के अंतर्गत भूगर्भीय, वानस्पतिक एवं क्षेत्रमितीय पर विशाल सर्वेक्षणों की अवस्थापना के साथ हुई। इसके पश्चात् 1857 में बॉम्बे, कलकत्ता एवं मद्रास में विश्वविद्यालयों की स्थापना की गई। भारत में ब्रिटिश शासन प्राथमिक तौर पर अपने बेहतर उत्पादन पद्धति बेहतर तकनीक, संगठनात्मक योग्यताओं इत्यादि पर आधारित था, और औपनिवेशिक सरकार के लिए उनकी उत्कृष्टता को बनाए रखना बेहद महत्वपूर्ण था, यदि वे शासकों के साथ निरंतर संबंध बनाए रखना चाहते थे। जैसाकि भारत शासन करने के लिए एक बड़ा देश था, ब्रिटिश शासन ने महसूस किया कि यह बेहद महत्वपूर्ण है कि विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी सहित सभी क्षेत्रों में सुप्रशिक्षित भारतीयों का एक कैडर हो जिससे वे भारत में अच्छी प्रकार से शासन एवं नियंत्रण कर सकें। इसलिए, ब्रिटिश साम्राज्य ने 19वीं शताब्दी में ब्रिटिश पद्धति पर आधारित विश्वविद्यालय स्थापित किए। वास्तव में, 1850 तक, भारत में केवल एक विश्वविद्यालय था, जिसकी स्थापना 1818 में डेन्स समूह ने कलकत्ता के पास सेरामपोर में की थी। प्राथमिक तौर पर यह एक ब्रह्मवैज्ञानिक विश्वविद्यालय था। 1850 और 1900 के बीच पूरे देश को आच्छादित करने की मंशा से कलकत्ता, बॉम्बे, मद्रास, इलाहाबाद और भूतपूर्व-अविभाजित पंजाब में पांच विश्वविद्यालयों की स्थापना की गई। 1835 में कलकत्ता और मद्रास में पहले दो मेडिकल कॉलेज खोले गए। 1876 में कलकत्ता में एक भारतीय, महेन्द्र लाल सिरकर, ने इण्डियन एशोसिएशन फॉर द कल्टीवेशन ऑफ साइंस (आईएसीएस) नामक प्रथम वैज्ञानिक अनुसंधान संगठन की स्थापना की। 19वीं सदी के अंत में, भारत में कुल 6 विज्ञान सम्बद्ध सोसायटीज (जिसमें 1804 में स्थापित एशियाटिक

सोसायटी ऑफ बॉम्बे भी शामिल है) थीं जिनमें से दो एग्रीकल्चरल एण्ड हॉर्टीकल्चरल सोसायटी ऑफ इण्डिया (1820, कलकत्ता), और बॉम्बे नेचुरल हिस्ट्री सोसायटी (1833) पेशेवर सोसायटीज थीं। हालांकि, हमें स्मरण रखना चाहिए कि आधुनिक विज्ञान का जन्म निर्वात में नहीं हुआ, अपितु हमारी ज्ञान की समृद्ध परम्परा रही है जिसमें सकारात्मक विज्ञान शामिल हैं और जिनमें से कुछ जैसे आयुर्वेद और खगोलशास्त्र तब और आज के आधुनिक विज्ञान की तुलना में शायद अधिक लोकतांत्रिक थे।

औपनिवेशिक सरकार ने उपनिवेश के शासन और शायद अधिक दक्ष तरीके से संसाधनों के निष्कर्षण के लिए संस्थानों द्वारा सृजित ज्ञान के प्रयोग के लिए वैज्ञानिक संगठनों का निर्माण शुरू कर दिया ताकि उपनिवेश के भू-भाग, जलवायु, वन एवं वनस्पति की बेहतर समझ प्राप्त की जा सके। यह तथ्य इस पृष्ठभूमि के विरुद्ध है कि पहली पीढ़ी के राष्ट्रवादी वैज्ञानिकों ने औपनिवेशिक सरकार की बिना किसी सहायता प्राप्त किए वैज्ञानिक संस्थानों के निर्माण एवं विज्ञान के लोकतंत्रीकरण का प्रयास किया। हमारे अभिजात्य वर्ग द्वारा आधुनिकता एवं आधुनिक विज्ञान को अपनाने का उत्साह, हो सकता है औपनिवेशिक शासकों के नजदीक जाने का एक रास्ता भर हो। औपनिवेशिक सरकार की नीति थी कि भारतीय वैज्ञानिकों को ऊंचे पदों पर नियुक्ति से रोका जाए, यद्यपि उनमें से कई सक्षम थे, जिसने भारत में विज्ञान के लोकतंत्रीकरण को बाधित किया।

उन्नीसवीं सदी में भारत में अवधारणाओं पर अधिकतर अनुसंधान और आधुनिक विज्ञान के स्वागत का केंद्र बंगाल प्रांत एवं उत्तर भारत था। हालांकि, इसका निहितार्थ यह नहीं है कि भारतीय बुद्धिजीवियों ने अन्य क्षेत्रों में आधुनिक विज्ञान के प्रति रुचि नहीं दिखाई। उदाहरणार्थ, मद्रास प्रेजीडेन्सी के पास उपकरण थे, लेकिन प्रेक्षणशाला नहीं थी। ईस्ट इण्डिया कंपनी ने 1870 में मद्रास में एक प्रेक्षणशाला की स्थापना की। आईटी यूरोप से बाहर पहली आधुनिक सार्वजनिक प्रेक्षणशाला थी जिसे आज के संदर्भ में, भारत में प्रथम आधुनिक अनुसंधान संस्थान के रूप में प्रयोग किया जाता है। कंपनी ने मद्रास प्रक्षेणशाला का उद्देश्य घोषित किया कि यह भारत में खगोलशास्त्र, भूगोल एवं नौवहन के ज्ञान के उन्नयन को प्रोत्साहित करेगी। विज्ञान संबंधी कार्य की अपेक्षा सिंचाई की सुविधाओं में सुधार करके कंपनी के राजस्व में वृद्धि करने जैसे अन्य महत्वपूर्ण कार्य भी कंपनी करती थी। जॉन गोल्डिंगधाम और उनके सहायक वारेन, दोनों

ही प्रशिक्षित खगोलशास्त्री, ने कई खगोलशास्त्रीय प्रेक्षण किए। जबकि ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कंपनी भारत में प्रेक्षणशालाओं की स्थापना को लेकर अनिच्छुक थी, 1908 में हैदराबाद राज्य में निजामिया वेधशाला की स्थापना ने प्रकट किया कि निजाम का शासन खगोलीय प्रेक्षणशालाओं की स्थापना एवं निरंतरता के प्रति उत्साहित था। यह इसलिए हुआ क्योंकि, देश के लाखों लोगों के लिए वैज्ञानिक एवं प्रौद्योगिकीय विकास एक मिथक ही बना रहा। मात्र कुछ खास सामाजिक समूह ही भारत के आधुनिक विज्ञान एवं तकनीक के परिचय के प्रति प्रत्युत्तर देने की स्थिति में थे।

औपनिवेशिक भारत में आधुनिक विज्ञान का स्वागत

अब प्रश्न उठता है कि, "किन सामाजिक समूहों ने सर्वप्रथम भारत में आधुनिक विज्ञान की दस्तक को स्वीकार किया और प्रत्युत्तर दिया?" वस्तुतः, विभिन्न संस्कृतियों के बीच वैज्ञानिक विचारों के पारेषण पर अधिक काम नहीं हुआ।

उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में, हिंदू एवं मुस्लिम दोनों के अपने अभिजात्य समूह थे। हालांकि, विसंगतरूप से, यह केवल हिंदू थे जहां अभिजात्य या अभिजन वर्ग उच्च जातियों, प्रधान तौर पर ब्राह्मण, और बंगाल प्रांत में कायस्थ और वैद्य, जिन्होंने ब्रिटिश शासकों के साथ संपर्क स्थापित किया और आधुनिक विज्ञान को उत्सुकता से प्राप्त किया, और जिनके वैध ज्ञान के तौर पर जड़ें यूरोप में थीं। बंगाली मुस्लिमों के बीच, सामाजिक एवं आर्थिक रूप से अधिक बड़ा निम्न वर्ग था और इसके परिणाम स्वरूप हिंदुओं की तुलना में इनका अभिजन वर्ग छोटा था। यह तथ्य स्वयं इस बात की व्याख्या नहीं करता कि 19वीं शताब्दी के बंगाल में अंग्रेजी शिक्षा के प्रति मुस्लिमों में उत्साह का लगभग पूरी तरह अभाव था और ना ही मुस्लिमों के रुझान की व्याख्या या स्पष्टीकरण उनके धार्मिक दृष्टिकोण पर आधारित था। उदाहरणार्थ, 1876-77 और 1885-86 के बीच 51 मुस्लिमों और 1,338 हिंदुओं ने कलकत्ता में स्नातक की उपाधि प्राप्त की। 1870 में, केवल 2 मुस्लिमों, दोनों ही परीक्षा उत्तीर्ण नहीं कर पाए, ने बी.ए. की परीक्षा दी, जबकि उसी वर्ष 151 हिंदू परीक्षा में बैठे जिनमें से 56 ने डिग्री धारण की। उत्तरी-पश्चिमी प्रांतों में, बिहार, ओडिशा और अवध, यद्यपि मुस्लिम अल्पसंख्या में थे, समुदाय-वार शिक्षा पैटर्न बंगाल में प्रचलित पैटर्न से बिल्कुल विपरीत था।

भारत में आधुनिक वैज्ञानिक युक्तियों एवं तकनीकों का आगमन ब्रिटिश विजय के साथ हुआ, लेकिन इन्हें तीन मुख्य सीमाओं का सामना करना पड़ा। पहला, विज्ञान के आरोपण का पैमाना और इसकी उपयोगिता की सीमा शासकों की नीतियों तक सीमित थी। दूसरे, विज्ञान शिक्षण ने विज्ञान का सृजन बौद्धिकता एवं सामाजिक रूपांतरण के एक उपकरण के रूप में करने की अपेक्षा विज्ञान की विभिन्न शाखाओं में केवल प्रशिक्षण प्रदान करने तक सीमित रखा। तीसरे, विज्ञान को अंग्रेजी भाषा में प्रस्तुत किया गया। परिणामस्वरूप, विज्ञान की यूरोप में निभाई गई भूमिका की बजाय, यह अलग-अलग हो गया। इसने समाज के विभिन्न संस्तरों के साथ अंतर्क्रिया नहीं की। फिर भी, भारतीय बुद्धिजीवियों का एक वर्ग था, जो विश्वास करता था कि ब्रिटिश सभ्यता जीवन एवं प्रकृति की एक नई शैली का प्रतिनिधित्व करती है और उसमें भारत के उत्थान एवं मुक्ति की आशा रखी।

इस बौद्धिक आभासीकरण का एक पहलू ज्ञान के प्रति पिपासा थी। इसने आधुनिक विज्ञान तक पहुंच प्रदान करने के लिए भारतीयों द्वारा वैज्ञानिक सोसायटीज एवं संस्थानों के निर्माण का नेतृत्व किया। अधिकतर भारतीय बुद्धिजीवियों एवं सांस्कृतिक अभिजन ने प्रकृति एवं जीवन के बारे में ज्ञान के नवीन क्षितिज खोलने के लिए भारतीयों को विज्ञान की शिक्षा प्रदान करने की आवश्यकता महसूस की। इसके विपरीत, यह गौर करना आवश्यक है कि जब ब्रिटिश साम्राज्य ने पश्चिमी शिक्षा को प्रस्तुत किया, उन्होंने पाठ्यक्रम में विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी को शामिल नहीं किया। इसकी अपेक्षा, उन्होंने साहित्य, कानून, व्याकरण इत्यादि पर अधिक बल दिया। भारतीय बुद्धिजीवियों ने इस तथ्य को जल्दी से जान लिया और पूरी 19वीं सदी में वे इससे परिचित रहे और यहां तक कि बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में भी वे जागरूक थे। इस परिप्रेक्ष्य में, भारतीयों ने मनोविज्ञान एवं अनुसंधान के लिए वैज्ञानिक संस्थानों की स्थापना द्वारा आधुनिक विज्ञान की स्वदेशी परम्परा का निर्माण किया।

इस संदर्भ में, हिंदू कॉलेज (1816), दिल्ली कॉलेज (1825), अलीगढ़ साइंटिफिक सोसायटी (1864), बिहार साइंटिफिक सोसायटी (1868), और इण्डियन एशोसिएशन फॉर द कल्टीवेशन ऑफ साइंस (1876) जैसी वैज्ञानिक संस्थाएं अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं। इन संस्थाओं का शुभारंभ अधिकतर उन्नीसवीं

सदी के उत्तरार्द्ध में किया गया। इन संस्थाओं का उद्देश्य विज्ञान शिक्षा के अनुकरण से भारतीयों के लिए अवसरों के सृजन द्वारा भारत में न केवल वैज्ञानिक ज्ञान को लोकप्रिय बनाना अपितु इसका लोकतंत्रीकरण करना भी था।

सी.वी. रमन, एम.एन. साहा, एस.एन. बोस, डी.एन. वाडिया, पी.सी. महालनोबिस, एस.आर. कश्यप, बीरबल साहनी, एस. रामानुजन, एस. चंद्रशेखर जैसे कुछ वैज्ञानिकों ने वैश्विक रूप से प्रतिस्पर्द्धी वैज्ञानिक अनुसंधान को आगे बढ़ाया। इनमें से अधिकतर वैज्ञानिक भारत में प्रशिक्षित हुए थे और उन्होंने भारतीय विश्वविद्यालयों में अपने अनुसंधान को जारी रखा।

प्रथम विश्व युद्ध का प्रारंभ विज्ञान की शिक्षा और वैज्ञानिक अनुसंधान एवं प्रौद्योगिकीय विकास के पैटर्न में आमूल-चूल परिवर्तन लेकर आया। ब्रिटेन से अलग-थलग औपनिवेशिक सरकार को युद्ध की जरूरतों को पूरा करने के लिए वैज्ञानिक एवं तकनीकी कार्मिकों के स्थानीय संसाधनों को सक्रिय रूप से गतिशील करने के लिए बाध्य किया गया।

औपनिवेशिक भारत के वैज्ञानिक संस्थान

हिन्दू कॉलेजः भारत में केवल मिशनरीज थी जो पश्चिमी शिक्षा का प्रसार करने के लिए प्रतिबद्ध थी, विशेष रूप से एंग्लिकन, जो हिंदुओं के नैतिक उत्थान के लिए पश्चिमी कला, दर्शन एवं धर्म का प्रयोग करना चाहते थे।

इसके तीव्र विरोध में (ओरियंटलिस्ट और मिशनरीज दोनों के प्रयास में), हालांकि, एक स्थानीय भद्रजन समुदाय उदित हुआ। इन भद्रजनों को *भद्रलोक* के नाम से अधिक बेहतर तरीके से जाना जाता था। ओरियंटलिस्ट और मिशनरीज दोनों के प्रयासों की प्रतिक्रिया की निरतंरता में, *भद्रलोक* ने 1816 में कलकत्ता में एक *महाविद्यालय* (इसे हिन्दू कॉलेज के नाम से अधिक जाना जाता है) की स्थापना की। इसका उद्देश्य सरकार से बिना किसी प्रकार की मदद प्राप्त किए ''यूरोपीय साहित्य एवं विज्ञान'' का विकास करना। मौलिक पाठ्यक्रम में न केवल पढ़ने को शामिल किया गया, अपितु इतिहास, भूगोल, घटनाक्रम, खगोलशास्त्र, रसायन विज्ञान एवं अन्य विज्ञानों की पढ़ाई को भी शामिल किया गया। कॉलेज का संचालन एवं प्रबंधन विशेष रूप से कलकत्ता के *भद्रलोक* द्वारा किया गया। यह संस्था केवल हिंदू परिवारों के बेटों के लिए खुली थी। इसमें जाति भेदभाव एवं लिंग पक्षपात होता था। इसके बावजूद, इसमें 1828 तक 400 विद्यार्थियों

भारत में महत्वपूर्ण ऐतिहासिक वैज्ञानिक उपलब्धियां

➢ **लौह एवं इस्पात**
- लौह धातु का दूसरी शताब्दी ईसा पूर्व गंगा की घाटी में पता चला।
- जंग मुक्त इस्पात भारत की खोज थी एवं शताब्दियों तक इसके उत्पादन में भारत का एकाधिकार रहा।

➢ **जिंक**
- भारत का धातु विद्या में महत्वपूर्ण योगदान जिंक के आविष्कार एवं उसके प्रयोग के रूप में सामने आया। भारत ने जिंक आसवन की विधि खोजी जिसमें धातु के वाष्पीकरण एवं फिर संघनन द्वारा उसे शुद्ध रूप में प्राप्त करना शामिल था। यह वैज्ञानिक खोज में मील का पत्थर साबित हुआ।

➢ **अभियांत्रिकी**
- भारत की स्वदेशी तकनीकें बहुत विशिष्ट एवं उच्च स्तर की थीं जिसने पूरे विश्व में कुतूहल उत्पन्न कर दिया। भारत की हड़प्पा सभ्यता विश्व की प्राचीनतम सभ्यताओं में से एक थी। इसके अंतर्गत सिविल इंजीनियरिंग के कई नवोन्मेष हुए जिसमें खुली एवं बंद जल अपवाह प्रणाली शामिल है। बहुमंजिला इमारतों के लिए सीढ़ियों की व्यवस्था थी।

➢ **जल प्रबंधन**
- वैज्ञानिकों ने अनुमान लगाया कि प्राचीन एवं मध्यकालीन भारत में 10 लाख से अधिक मानव-निर्मित झीलें एवं तालाब थे जिनसे वर्षा जल संचयन के साथ-साथ, सिंचाई एवं पेयजल आपूर्ति भी होती थी।

➢ **कपड़ा**
- प्राचीन समय से भारतीय कपड़ा अपनी गुणवत्ता के लिए जाना जाता था एवं विश्व के विभिन्न देशों में निर्यात किया जाता था। यहां तक कि रोमन पुरालेखों ने कार्यालयीय शिकायतें दर्ज कीं, कि भारतीय कपड़ा आयात करने के कारण उनकी बड़ी मात्रा में नकद पूंजी बाहर जा रही है।

➢ **जहाजरानी**
- भारत में प्राचीन समय से ही समुद्री व्यापार प्रचलन में था। दिक्सूचक कम्पास एवं अन्य नेवीगेशन उपकरण भारत के हिंद महासागर में यूरोप से पहले प्रयोग में आ चुके थे।

➢ **कृषि**
- प्राचीन समय से ही भारत का कृषि उत्पादन उच्च रहा है और संसार के किसी भी क्षेत्र से अधिक जनसंख्या का यहां भरण-पोषण कृषि द्वारा होता है।

- भारतीय कृषकों को गैर-रासायनिक पर्यावरण मित्र कीटनाशक एवं उर्वरकों के विकास का श्रेय दिया जाता है।
- प्राचीन समय में भी कृषि अधिशेष को भंडारित कर उसे सूखे के समय प्रयोग किया जाता था।

➢ **परम्परागत औषधि**

- आयुर्वेद वैदिक काल के दौरान विकसित हुआ तथा पांचवीं शताब्दी ईसा पूर्व तक एक पूर्ण चिकित्सा विज्ञान के रूप में अस्तित्व में आया।
- परम्परागत औषधि विज्ञान वर्षो बाद भली-भांति जाना-पहचाना जाने लगा एवं कई देश भारतीय औषधि पर अपना पेटेंट कराने का भरसक प्रयत्न कर रहे हैं।

➢ **खगोल विज्ञान एवं गणित**

- खगोल विज्ञान एवं गणित में भारत ने यूरोप से कई शताब्दी ईसा पूर्व विकास कर लिया था।
- भारतीय गणित का अभ्युदय वैदिक युग के व्यवहारों से हुआ है।
- शून्य, दशमलव प्रणाली जैसे महत्वपूर्ण गणितीय अवधारणाएं भारत में जन्मीं एवं विकसित हुई हैं।

का नामांकन हो चुका था। हिंदू कॉलेज के खुलने के दो दशक बाद, अंग्रेजी शिक्षा की मांग ने बड़ी संख्या में अंग्रेजी स्कूल खोलने का मार्ग प्रशस्त किया।

दिल्ली कॉलेजः दिल्ली कॉलेज की स्थापना के प्रयास उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में किए गए। दिल्ली कॉलेज ने आधुनिक विज्ञान के प्रसार में एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। दिल्ली कॉलेज मौलिक रूप से 1772 में नवाब गाजीउद्दीन फिरोज जंग द्वारा मदरसा-ए-गाजीउद्दीन के नाम से स्थापित किया गया, जिसे 1825 में दिल्ली कॉलेज के नाम से पुनर्गठित किया गया। दिल्ली कॉलेज की स्थापना वैज्ञानिक पुस्तकों का सामान्य तौर पर स्थानीय भाषाओं और विशिष्ट तौर पर उर्दू भाषा में अनुवाद करने के लिए की गई थी।

कॉलेज के ओरियंटल विभाग में उर्दू भाषा के माध्यम से आधुनिक शिक्षा में अध्ययन होता था। इसने 125 पुस्तकों का अनुवाद किया। इसमें मुख्य तौर पर ग्रीक क्लासिक्स, फारसी कार्य एवं वैज्ञानिक लेखों का उर्दू में अनुवाद शामिल है। यह कार्य लगभग 20 वर्षों में कर लिया गया। इसने उर्दू भाषा को कवित्त से पश्चिमी वैज्ञानिक विचारों के प्रेषण तक उठा दिया।

पश्चिमी विज्ञान पर नवीन तरीके से बल ने थोड़े से समय में बड़ी संख्या में युवाओं को आकर्षित किया। दिल्ली कॉलेज ने मास्टर रामचंद्र जैसे कुछ प्रतिभाओं को भी पैदा किया। विभिन्न विद्याओं में मास्टर रामचंद्र द्वारा किए गए कार्यों को यूरोप में सराहा एवं प्रकाशित किया गया। रामचंद्र न केवल दिल्ली कॉलेज के स्कॉलर थे अपितु वे यहां पर एक महत्वपूर्ण शिक्षक भी थे। उन्होंने *फवाद-उल-नजरीन* नामक उर्दू का पत्र भी शुरू किया जिसने भारत में आधुनिक विज्ञान के प्रसार में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की।

औपनिवेशिक हितों की सिद्धि के लिए अंग्रेजों ने विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के उन क्षेत्रों से भारतीयों को अपरिचित रखने की हर संभव कोशिश की, जिनसे आत्म-निर्भर बनकर भारतीयों के जीवन-स्तर में सुधार की तनिक भी संभावना थी। उदाहरण के रूप में औद्योगिक क्षेत्र को लिया जा सकता है। इस क्षेत्र में अंग्रेजों ने भारत को एक कच्चे माल के निर्यातक के रूप में ही बनाए रखना चाहा और भारत को औद्योगिक उत्पादों के लिए एक बड़े बाजार के रूप में देखा। परन्तु, धीरे-धीरे कुछ भारतीय इस क्षेत्र में आगे आए और पूंजी का निवेश कर उन्होंने औद्योगीकरण की दिशा में सफलतापूर्वक पहल की। फिर, 1914 और 1939 के विश्वयुद्धों से प्रेरित सामरिक आवश्यकताओं की व्यापक पैमाने पर आपूर्ति के तहत् अंग्रेजी सरकार ने भी बाध्य होकर भारत में सीमित रूप से औद्योगिक विकास को प्रोत्साहित किया।

ब्रिटिश सरकार ने भारत में विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी से सम्बद्ध अनेक संस्थाओं की भी स्थापना की। 1942 में 'औद्योगिक शोध कोष' (इण्डस्ट्रियल रिसर्च फण्ड) का निर्माण किया गया और 'वैज्ञानिक एवं औद्योगिक शोध परिषद्' (काउंसिल ऑफ सांइटिफिक एण्ड इंडस्ट्रियल रिसर्च) की स्थापना की गई। इनकी स्थापना का उद्देश्य भारत में औद्योगिक विकास को गति प्रदान करना था। 'राष्ट्रीय भौतिकी प्रयोगशाला' (नेशनल फिजिकल लेबोरेटरी) और 'राष्ट्रीय रसायन प्रयोगशाला' (नेशनल केमिकल लेबोरेटरी) की बात भी ब्रिटिश शासनकाल में ही सिद्धान्त रूप में स्वीकार कर ली गई थी।

आधुनिक भारत में कृषि अनुसंधानों को विकास का मार्ग दिखाने का श्रेय अमरीकी वैज्ञानिक हेनरी फिलिप को दिया जा सकता है। उन्हीं के अनुदान से बिहार में पूसा में *'एग्रीकल्चरल रिसर्च स्टेशन एण्ड एक्सपेरीमेण्टल फार्म'* की स्थापना की गई। इस फार्म की स्थापना के बाद 1921 ई. में कपास के लिए,

1936 में जूट के लिए, 1944 में गन्ने के लिए, 1945 में तम्बाकू तथा नारियल के लिए और 1947 में तिलहन के लिए 'सेंट्रल कॉमोडिटी कमिटी' की स्थापना की गई। इन समितियों को अर्द्धस्वायत्त संस्था के रूप में मान्यता मिली हुई थी।

ब्रिटिश शासनकाल के समय में पश्चिमी देशों को कई नई बीमारियों का पता चला। हैजा, प्लेग, मलेरिया, बेरी-बेरी, काला-अजार आदि ऐसी बीमारियां थीं, जो सेना को खासतौर पर प्रभावित कर रही थीं। इनके इसी महत्व ने ब्रिटिश कालीन भारत में इन पर शोध के लिए प्रेरित किया। सन् 1892 में पी.एच. हैंकिन के नेतृत्व में आगरा में जीवाणु वैज्ञानिक प्रयोगशाला (Bacteriological Laboratory) की स्थापना हुई। 1896 में बम्बई में फैली प्लेग की महामारी ने डब्ल्यू.एम. हाफकिन को इस समस्या के समाधान के लिए शोध करने को प्रेरित किया। सन् 1899 में हाफकिन ने प्लेग के टीके का निर्माण किया और बम्बई में एक छोटी-सी प्रयोगशाला बनाई, जो बाद में हाफकिन्स इंस्टीट्यूट के नाम से जानी गई। सन् 1900 में कसौली में पाश्चर इंस्टीट्यूट की स्थापना हुई। इस प्रकार से देश भर में संचारी रोगों के शोध और अध्ययन के लिए कई संस्थाओं और प्रयोगशालाओं की स्थापना हुई।

हालांकि निजी क्षेत्र में कुछ खास वैज्ञानिक शोध संबंधी गतिविधियां नहीं हुईं, फिर भी वैज्ञानिकों एवं अन्य व्यक्तियों द्वारा कुछ अनुसंधान संस्थान स्थापित किए गए, जैसे भारतीय विज्ञान संस्थान, बैंगलूर (1911) बोस संस्थान, कोलकाता (1917), भारतीय विज्ञान अकादमी (1934), शीला धर मृदा विज्ञान संस्थान, इलाहाबाद (1936), टाटा मौलिक अनुसंधान संस्थान, मुम्बई (1945), श्रीराम औद्योगिक अनुसंधान संस्थान आदि। टाटा औद्योगिक समूह द्वारा भारतीय विज्ञान अनुसंधान, बैंगलूर की स्थापना उस समय की गई जब भारत के पास अनुसंधान संबंधी नाममात्र की सुविधाएं थीं। मुख्यतः इन संस्थानों के विकास में तेजी स्वतंत्रता पश्चात् ही आई। आज ये सभी संस्थान अपने सम्बद्ध क्षेत्र में उच्च शिक्षा, अध्ययन एवं अनुसंधान के केंद्र हैं।

ब्रिटिशकाल में, विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी का संवर्द्धन एवं कृषि, स्वास्थ्य एवं उद्योगों के विकास में उसका प्रयोग राजनीतिक दिशा-निर्देशों के अनुसार होता था, लेकिन भारत में ब्रिटिश वैज्ञानिकों ने वैज्ञानिक ज्ञान के संचार में असीमित संभावनाएं पैदा कीं। उनके अनुसंधान एवं एकत्र कीमती सूचनाओं एवं

तथ्यों ने भारत के आधुनिक वैज्ञानिक आधार को तैयार करने में एक अतुलनीय योगदान दिया।

विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में भारत में अंग्रेजों द्वारा जो भी प्रयत्न किए गए, उनमें अधिकांश तत्कालीन राजनीतिक एवं आर्थिक परिस्थितियों के कारण बाध्यकर थीं। किन्तु, कुछ अंग्रेजों ने सरकारी नीतियों से दूर रहते हुए निःस्वार्थ भाव से विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। अंग्रेजों द्वारा किए गए अनुसंधान एवं उनके द्वारा एकत्रित आंकड़े आगामी वैज्ञानिकों के लिए प्रेरक सिद्ध हुए।

स्वाधीनता आंदोलन के पूर्वार्द्ध में आंदोलनकारियों ने सीमित वर्ग को ही अपनाया था और उनके विचारात्मक विरोध के विषय भी सीमित ही थे, किन्तु आंदोलन के उत्तरार्द्ध में जनसाधारण भी आंदोलन से जुड़ा और आंदोलनकारियों के पास विरोध के लिए अनेक विषय एकत्रित हो गए। स्वाधीनता आंदोलन के क्रम में नेताओं ने अंग्रेजी सरकार पर विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी की शिक्षा, उनके विकास तथा औद्योगीकरण के लिए दबाव डाला। इस दबाव का परिणाम तत्काल तो नहीं मिल सका, किन्तु जब स्वाधीनता की प्राप्ति हुई, तब विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के विकास की दिशा में सकारात्मक पहल की गई। योग्य नेतृत्व के कारण भारत में वैज्ञानिक एवं प्रौद्योगिकीय विकास को सही दिशा मिली, जबकि अन्य नव-स्वतंत्र देशों में ऐसा नहीं हो सका।

स्वातंत्र्योत्तर काल में विज्ञान उन्नयन

प्रथम विश्व युद्ध की समाप्ति के कुछ दशकों के भीतर, वृहद् औपनिवेशिक साम्राज्य बिखर गए और भारत 1947 में स्वतंत्र हो गया। सिंधु घाटी सभ्यता काल से विरासत में प्राप्त विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी की सुदृढ़ परम्परा में मध्यकाल में तुर्कों तथा मुगलों एवं आधुनिक काल में अंग्रेजों के शासनकाल में जो गतिहीनता आ गई थी, उसे दूर करते हुए स्वातंत्र्योत्तर भारत में नीतियों एवं योजनाओं के सुचारू क्रियान्वयन के द्वारा फिर से जीवंत बनाया गया और उसे विकास के पथ पर अग्रसारित किया गया। देश के प्रथम प्रधानमंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरू ने भारतीय इतिहास तथा तत्कालीन विश्व-व्यवस्था का गहन अध्ययन किया और उन्होंने अनुभव किया कि स्वतंत्र भारत के सर्वांगीण विकास के लिए विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के विकास को प्राथमिकता प्रदान करना आवश्यक है।

पंडित जवाहरलाल नेहरू देश के आर्थिक तथा सामाजिक विकास में विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के महत्व को भली-भांति समझते थे और अपनी इस समझ को उन्होंने हर संभव कार्य-रूप देने की कोशिश की। उन्होंने वैज्ञानिक पद्धति से विज्ञान संबंधी योजना के कार्यान्वयन के लिए 1958 में संसद में **'वैज्ञानिक नीति'** का वक्तव्य रखा और, 1983 में श्रीमती इन्दिरा गांधी ने **'प्रौद्योगिकी नीति'** की घोषणा की। फिर, 1958 की विज्ञान नीति और 1983 की प्रौद्योगिकी नीति के अनुरूप ही 1993 में **'नई प्रौद्योगिकी नीति'** की घोषणा की गई। समय-समय पर घोषित नीतियों एवं विचार-विमर्श के उपरान्त निर्मित ठोस योजनाओं के कारण विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी का संतोषप्रद विकास संभव हो सका है और विकासमान विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी ने अर्थव्यवस्था के साथ-साथ सामाजिक व्यवस्था को भी विकास का सुदृढ़ आधार प्रदान किया है। इस संदर्भ में बौद्धिक-सम्पदा नीति भी विशिष्ट तौर पर ध्यातव्य है।

राष्ट्रीय विज्ञान नीति

भारत विश्व का पहला ऐसा राष्ट्र है, जिसने वैज्ञानिक अनुसंधानों के संगठन एवं निर्देशन हेतु वैज्ञानिक अनुसंधान एवं प्राकृतिक संसाधनों से संबंधित मंत्रालय की स्थापना 1951 में ही कर दी थी। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद विभिन्न क्षेत्रों में उत्साहपूर्वक कार्य शुरू किया गया था, इस मंत्रालय द्वारा किए गए कार्यों को अभूतपूर्व सफलता मिली क्योंकि वैज्ञानिकों एवं प्रौद्योगिकीविदों ने अपने प्रतिनिधित्व द्वारा इस मंत्रालय के कार्यों में सक्रिय सहयोग दिया था। मंत्रालय ने विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के विकास एवं समर्थन का भार अपने ऊपर ले लिया। यद्यपि स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद 1951 से लागू की गई विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं में विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के नियोजन तथा विकास को महत्वपूर्ण स्थान दिया जाता रहा है, तथापि सरकार द्वारा समय-समय पर घोषित की जाने वाली विज्ञान नीति का अपना विशिष्ट स्थान है।

विज्ञान, प्रौद्योगिकी एवं नवोन्मेष नीति-2013ः जैसाकि विज्ञान, प्रौद्योगिकी एवं नवोन्मेष (एसटीआइ) वैश्विक रूप से राष्ट्रीय विकास के एक मुख्य चालक के रूप में उदित हुए हैं, हमें इन राष्ट्रीय उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु एक स्पष्ट भूमिका निभाने की जरूरत है। राष्ट्रीय विज्ञान, प्रौद्योगिकी एवं नवोन्मेष उद्यम को राष्ट्रीय विकास के केंद्र में होना चाहिए।

वैज्ञानिक अनुसंधान ने धन का प्रयोग ज्ञान के सृजन में किया और, समाधान प्रदायन द्वारा, नवोन्मेषों ने ज्ञान को संपत्ति एवं मूल्य में परिवर्तित कर दिया। इस प्रकार नवोन्मेष में विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी आधारित समाधान निहित होते हैं जिन्हें अर्थव्यवस्था या समाज में सफलतापूर्वक लागू किया जाता है।

भारत ने 2010-2020 को 'नवोन्मेष दशक' के तौर पर घोषित किया है। सरकार ने विज्ञान, प्रौद्योगिकी एवं नवोन्मेष को बढ़ावा देने के लिए नीति पर बल दिया और एक राष्ट्रीय नवोन्मेष परिषद (एनआईसी) की भी स्थापना की। एसटीआई नीति-2013 लक्षित उद्देश्यों को पूरा करने में सहायक होगी और यह भारतीय परिदृश्य में नवोन्मेष के वातावरण को स्थापित करेगी।

विज्ञान, प्रौद्योगिकी एवं नवोन्मेष नीति के मुख्य तत्व हैं

- समाज के सभी वर्गों के मध्य वैज्ञानिक स्वभाव के विस्तार को बढ़ावा देना।
- सभी सामाजिक संस्तरों से युवाओं के बीच विज्ञान के अनुप्रयोग हेतु कौशल संवर्द्धन करना।
- कुशाग्र एवं बौद्धिक लोगों के लिए विज्ञान, अनुसंधान एवं नवोन्मेष में भविष्य बनाने हेतु पर्याप्त आकर्षक प्रयास करना।
- विज्ञान के कुछ चुनिंदा अग्रणी क्षेत्रों में वैश्विक नेतृत्व हासिल करने के लिए अनुसंधान एवं विकास एवं विश्व स्तरीय अवसंरचनात्मक ढांचा स्थापित करना।
- वर्ष 2020 तक भारत को विश्व की पांच शीर्ष वैज्ञानिक शक्तियों के बीच पदस्थापित करना।
- विज्ञान, अनुसंधान एवं नवोन्मेष तंत्र के योगदान को समावेशी आर्थिक संवृद्धि एजेंडा से जोड़ना और उत्कृष्टता एवं प्रासंगिकता की अधिमान्यताओं से युग्मित करना।
- अनुसंधान एवं विकास में निजी क्षेत्र की सहभागिता बढ़ाने के लिए माहौल का सृजन करना।
- सफल प्रतिमानों की यहां पर प्रतिकृति लगाकर एवं साथ ही साथ नवीन लोक-निजी सहभागिता (पीपीपी) संस्तरों की स्थापना द्वारा अनुसंधान एवं विकास परिणामों को सामाजिक एवं व्यावसायिक अनुप्रयोगों में परिवर्तित करने के समर्थ बनाना।

- नवीन तंत्र के माध्यम से विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी आधारित उच्च जोखिम नवोन्मेषों का बीजारोपण करना।
- तकनीकी एवं आकार प्रभुत्व से परे संसाधन- अवशोषण, लागतपरक नवोन्मेषों से जुड़े रहना।
- एक आक्रामक राष्ट्रीय नवोन्मेष तंत्र का सृजन करना।

नीति की महत्वाकांक्षाओं को वास्तविक रूप देने के लिए कुछ खास तंत्र को अपनाने की आवश्यकता है। इसमें समाज के सभी वर्गों के बीच वैज्ञानिक स्वभाव के प्रसार एवं प्रोत्साहन और सभी सामाजिक संस्तरों से युवाओं के बीच विज्ञान के अनुप्रयोग संबंधी कौशल में वृद्धि करना शामिल है। विज्ञान, शोध एवं नवोन्मेष में युवा प्रतिभा को भविष्य बनाने के लिए आकर्षित करने के प्रयास किए जाने चाहिए। उचित विज्ञान-प्रौद्योगिकी-नवोन्मेष आगतों एवं निवेशों द्वारा महिला सशक्तीकरण किया जाना चाहिए।

भारत एवं विदेशों में आर एंड डी केंद्रों में निजी क्षेत्र के निवेश को सुसाध्य बनाना, लाभ में हिस्सेदारी के प्रावधान के साथ पीपीपी मॉडल पर व्यापक आर एंड डी सुविधाओं की अवस्थापना एवं संवर्द्धन करना, भारतीय आर एंड डी तंत्र में विभिन्न स्टेकहोल्डर्स की सहभागिता की अनुमति देना जैसी कुछ अन्य व्यवस्थाएं की जानी चाहिए।

संयुक्त पूंजी की व्यवस्था एवं नवोन्मेष वित्त व्यवस्था का समावेश करना बेहद आवश्यक होगा। खोजकर्ताओं एवं निवेशकों के बीच बौद्धिक संपदा अधिकारों (आईपीआर) की हिस्सेदारी, हरित मैन्युफैक्चरिंग पर ध्यान देते हुए नवोन्मेषों के व्यवसायीकरण हेतु अभिप्रेरण प्रदान करने पर बल देना होगा।

विज्ञान तकनीकी एवं नवोन्मेष में द्विपक्षीय एवं बहुपक्षीय दोनों ही सहयोग के माध्यम से अन्य देशों के साथ रणनीतिक भागीदारी एवं गठबंधन निर्मित करने पर बल देना होगा।

नीति में प्रस्तुत प्रस्तावों के क्रियान्वयन हेतु विज्ञान एवं अभियांत्रिकी अकादमियों, उद्योग एवं व्यावसायिक समूहों के साथ परामर्श करने के अतिरिक्त विभिन्न सरकारी विभागों/मंत्रालयों और अभिकरणों के साथ परामर्श करने की आवश्यकता होगी। इसके अनुरूप, विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी विभाग (डीएसटी) ने आगामी दो वर्षों के अंतर्गत प्रस्तावों के तीव्रता के साथ संचालन हेतु एक नीति क्रियान्वयन समूह गठित किया।

भारत ने 2010-20 को नवोन्मेष दशक के तौर पर घोषित किया है। विज्ञान, प्रौद्योगिकी एवं नवोन्मेष नीति (एसटीआइ) 2013 इस घोषणा को साकार करने की दिशा में उठाया गया कदम है और बदलते प्रसंग में विज्ञान एवं तकनीकी चालित नवोन्मेषों के परिदृश्य को स्थापित करने का लक्ष्य रखती है।

विज्ञान एवं नियोजन

भारत ने अनुसंधान एवं विकास नियोजन का अपना मॉडल तैयार किया है। वर्षों के प्रयत्नों से नियोजन प्रणाली ने दो प्रकार की प्रक्रिया अपनायी है। एक ओर, योजना आयोग से व्यापक नीति-निर्देश प्राप्त करना और दूसरी ओर, राष्ट्रीय एजेंसी, प्रयोगशाला एवं विश्वविद्यालय स्तर पर वैज्ञानिकों से विचार-विमर्श करता है, ताकि निर्णय-निर्माण में वैज्ञानिक समुदाय की प्रभावी सहभागिता सुनिश्चित हो सके। इस प्रक्रिया के अंतर्गत निम्नलिखित चरण आते हैं

1. सरकार अपने प्राथमिकता वाले क्षेत्रों एवं नीति-निर्देशों की घोषणा करती है और अपने निर्देशों से विभिन्न अनुसंधान-संस्थाओं एवं इकाइयों को परिचित कराती है।

2. विज्ञान एवं अनुसंधान विकास से जुड़े विशेषज्ञों की एक समिति बनाकर विज्ञान की अलग-अलग शाखाओं के लिए अलग-अलग योजना का प्रारूप निर्मित करवाया जाता है।

3. विभिन्न संस्थाओं एवं संगठनों के प्रमुखों को योजना बनाने के लिए कहा जाता है और वे प्रमुख अपनी संस्था के अधीन कार्यरत वैज्ञानिकों को यह उत्तरदायित्व सौंप देते हैं।

4. इन योजनाओं को प्रयोगशाला स्तर पर जांचा-परखा जाता है और सम्बद्ध वैज्ञानिक सलाहकार समितियों की बैठक में इस पर विचार-विमर्श किया जाता है।

5. योजनाओं को अन्तिम रूप देने के पूर्व प्रयोगशाला स्तर पर, उसके बाद सलाहकार बोर्ड के स्तर पर, उसके बाद संगठन के स्तर पर, उसके बाद मंत्रालयीय स्तर पर और फिर योजना आयोग के स्तर पर जांचा-परखा जाता है और अन्ततः जो नीतियां एवं लक्ष्य निर्धारित किए जाते हैं, उनके लिए योजना-राशि एवं सुविधाएं उपलब्ध करायी जाती हैं।

विभिन्न चरणों से गुजरने के कारण वैज्ञानिक नियोजन ठोस आधार प्राप्त

करता है और इसीलिए हम देखते हैं कि अन्य क्षेत्रों की अपेक्षा विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद तीव्रगति से और ठोस विकास संभव हो पाया है।

स्वतंत्रता प्राप्ति के तत्काल बाद भारत के तीव्र आर्थिक विकास के लिए विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के विकास को प्राथमिकता प्रदान की गई और इससे सम्बद्ध विभिन्न क्षेत्रों के विकास के लिए नियोजन की व्यवस्था की गई। विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के महत्व को ध्यान में रखते हुए ही विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं में इसे पर्याप्त स्थान दिया गया और इस क्षेत्र में पर्याप्त व्यय भी किया गया।

प्रथम पंचवर्षीय योजना (1951-56): इस योजना के अंतर्गत कई नई राष्ट्रीय प्रयोगशालाओं के निर्माण के साथ ही अनुसंधान संस्थान की स्थापना पर भी बल दिया गया। इसी क्रम में 1954 में परमाणु ऊर्जा विभाग की स्थापना हुई। वैज्ञानिक अनुसंधान से प्राप्त प्रतिफलों को व्यावसायिक उत्पादन में रूपान्तरित कर इसके वाणिज्यीकरण को विशेष स्थान प्रदान किया गया। विभिन्न औद्योगिक इकाइयों को वैज्ञानिक उपलब्धियों के प्रति सजग बनाया गया। इस योजना काल में विभिन्न प्रकार के संसाधनों के सर्वेक्षण तथा उनसे संबंधित अनुसंधान कार्य भी प्रमुखता से किए गए।

दूसरी पंचवर्षीय योजना (1956-61): इस योजना में भी वैज्ञानिक अनुसंधान कार्यक्रम में वृद्धि पर ही विशेष जोर दिया गया। विभिन्न प्रयोगशालाओं एवं अनुसंधान संस्थाओं में अनुसंधान करने के लिए व्यापक पैमाने पर सुविधाएं उपलब्ध करायी गयीं। प्रथम पंचवर्षीय योजना में वैज्ञानिक एवं प्रौद्योगिकी से सम्बन्धित अनुसंधानों को केवल राष्ट्रीय स्तर पर विकसित करने पर बल दिया गया था, किन्तु दूसरे योजना काल में इसे त्रिस्तरीय बना दिया गया तथा राष्ट्रीय स्तर के साथ-साथ क्षेत्रीय एवं राज्य स्तर पर भी अनुसंधानों को प्रोत्साहन प्रदान करने की दिशा में सार्थक पहल की गई। इस योजना काल में औद्योगिक एवं अन्य क्षेत्रों के अनुसंधानपरक आवश्यकताओं को दृष्टि में रखते हुए वैज्ञानिक संसाधनों के उत्पादन तथा उनके उपयुक्त क्षेत्र में उपयोग को वरीयता प्रदान की गई। वैज्ञानिक एवं प्रौद्योगिक क्षेत्र में सहभागी लोगों को प्रशिक्षित करने और उनके उचित उपयोग की भी व्यवस्था की गयी। द्वितीय पंचवर्षीय योजना काल में ही मानकीकरण की *'मैट्रिक व्यवस्था'* की शुरूआत की गयी।

तीसरी पंचवर्षीय योजना (1961-66): इसमें मुख्यतः विभिन्न राष्ट्रीय प्रयोगशालाओं, विश्वविद्यालयों, तकनीकी संस्थानों एवं अन्य अनुसंधान संस्थानों के वैज्ञानिकों एवं अनुसंधानकर्ताओं को बेहतर आर्थिक एवं संस्थागत सुविधाएं उपलब्ध कराने पर बल दिया गया और इस नीति को कार्यान्वित करने के लिए अनुसंधान के लिए दिए जाने वाले अनुदानों एवं छात्रवृत्तियों के कार्यक्रम में विस्तार किया गया। इन सभी सहायताओं और सुविधाओं को प्रदान करने का एकमात्र लक्ष्य विद्यमान अनुसंधान संस्थानों को सशक्त करना और वैज्ञानिक उपलब्धियां प्राप्त करना था। इन अनुसंधानों एवं निष्कर्षों को सम्बद्ध क्षेत्रों में उपयोग करने की योजनाएं विकसित की गईं। द्वितीय योजना में कृषि अनुसंधान के लिए निमित्त राशि में लगभग दुगुनी वृद्धि कर कृषि के क्षेत्र में व्यापक सुधार का प्रयास किया गया। विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के विविध क्षेत्रों में प्रभावी क्रियान्वयन से 1961 से 1966 के मध्य लगभग 21 करोड़ रुपए की विदेशी मुद्रा की बचत का अनुमान लगाया गया।

चौथी पंचवर्षीय योजना (1969-74): इस योजनावधि में विशिष्ट क्षेत्रों की पहचान कर उन क्षेत्रों में अनुसंधान एवं विकास की गतिविधियों पर बल दिया गया। इस योजना काल में इस्पात, रसायन एवं यंत्रों के क्षेत्र में अनुसंधान कार्यक्रमों को तेज कर दिया गया और विभिन्न अनुसंधान संस्थानों में ऐसे प्रकोष्ठों की स्थापना की गई, जिनसे विभिन्न औद्योगिक इकाइयां आंकड़े एवं तकनीक प्राप्त कर सकें। वैज्ञानिक एवं औद्योगिक अनुसंधान परिषद (CSIR) के अधीन कार्य करने वाली संस्थाओं के अतिरिक्त अन्य संस्थाओं से भी अपने अनुसंधानों का प्रतिवेदन निर्मित करने की अपेक्षा की गई। फिर, इस योजना में इस बात पर ध्यान दिया गया कि एक ही विषय पर एक ही प्रकार के अनुसंधान की गतिविधियां एक से अधिक प्रयोगशालाओं या अनुसंधान संस्थानों में न चलायी जाएं। आणविक ऊर्जा परियोजनाओं की स्वदेशी तकनीक विकसित करने पर भी चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में विशिष्ट तौर पर बल दिया गया। इस योजना काल में अंतरिक्ष-अनुसंधान को भी पर्याप्त महत्व दिया गया और इस क्षेत्र में सक्रियता लाने की दिशा में प्रयत्न किए गए। इस योजना में अनुसंधान और विकास, प्राकृतिक संसाधन-सदृश क्षेत्रों में व्यय एवं अधिक योग्यता प्राप्त वैज्ञानिक एवं तकनीकी मानवशक्ति के प्रशिक्षण कार्यक्रम में कुछ विसंगतियां दृष्टिगोचर

हुई और इसीलिए एक प्रभावी केन्द्रीय प्राधिकरण की स्थापना पर बल दिया गया। इसी योजनाकाल में 1971 में विज्ञान और प्रौद्योगिकी विभाग तथा 1972 में विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी विषय पर प्रथम राष्ट्रीय आयोग की स्थापना की गयी।

पांचवीं पंचवर्षीय योजना (1974-79): इस योजनावधि में नीतिगत स्तर पर वैज्ञानिक अनुसंधानों को मूल्यप्रभावी, उद्देश्य प्रेरित एवं समयान्वित बनाने की कोशिश की गई। क्षेत्रवार वितरण के क्रम में इस योजनाकाल में कृषि-क्षेत्र को प्राथमिकता प्रदान की गई। फसलों की बीमारियों पर नियंत्रण, सूखे क्षेत्र में कृषि की संभावना एवं अन्य कृषि तकनीकों के अनुसंधान को महत्व देते हुए अनेक शोध-संस्थाओं में वृहत् परियोजनाएं शुरू की गईं। प्राकृतिक संसाधनों की खोज एवं सर्वेक्षण पर भी बल दिया गया। अन्तरिक्ष कार्यक्रम एवं इलेक्ट्रॉनिक्स के विकास पर भी विशेष अभिरुचि दिखाई गई। विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी विभाग के अन्तर्गत 'राष्ट्रीय विज्ञान एवं प्रौद्योगिक सूचना-प्रणाली' (NISSAT) की स्थापना की गई। इस प्रणाली की स्थापना का उद्देश्य वैज्ञानिक अनुसंधानों एवं सूचनाओं को सर्वसाधारण तक पहुंचाना था। कृषि, ऊर्जा, खनन, धातुकर्म, भारी इंजीनियरी और रसायन-सदृश महत्वपूर्ण क्षेत्रों में आत्मनिर्भरता एवं परमाणु ऊर्जा, अन्तरिक्ष और इलेक्ट्रॉनिकी जैसे क्षेत्रों में प्रगति की दिशा में कदम उठाना इस योजना का लक्ष्य था।

छठी पंचवर्षीय योजना (1980-85): इस योजनावधि में शिक्षा तथा विज्ञान के बीच सशक्त अंतर्संबंध विकसित करने पर ध्यान केन्द्रित किया गया। इस योजनाकाल में सैद्धान्तिक पहलुओं की जगह विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के व्यावहारिक पहलुओं पर बल दिया गया। इस योजनाकाल में पहली बार वैज्ञानिक दृष्टिकोण के निर्माण का लक्ष्य भी सम्मिलित किया गया। प्लाज्मा भौतिकी, प्रतिरक्षा विज्ञान, व्यावहारिक सूक्ष्म जैविकी आदि नूतन विषयों के क्षेत्र में भी व्यापक अनुसंधान के लिए योजनाएं निर्मित की गईं। इस योजनाकाल में विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी से सम्बद्ध विभिन्न प्रकार की उपलब्धियों के ग्रामीण क्षेत्र में प्रयोग पर बल दिया गया। इस योजनावधि में ही सरकार द्वारा 'प्रौद्योगिकी नीति घोषणा-पत्र' (1983) जारी किया गया। वस्तुतः छठी पंचवर्षीय योजना का उद्देश्य स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद के तीन दशकों में विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में प्रारंभ किए गए कार्यों को सुदृढ़ आधार प्रदान करना था। इस योजनाकाल में सार्वजनिक क्षेत्र में विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी का व्यय बढ़ाया गया।

सातवीं पंचवर्षीय योजना (1985-90): इस योजनावधि में विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में रोजगार के अवसर बढ़ाने, उत्पादकता में वृद्धि और खाद्यान्न के क्षेत्र में आत्म-निर्भरता लाने पर विशेष बल दिया गया। सूक्ष्म इलेक्ट्रॉनिक्स, टेलीमैटिक्स, रोबोटिक्स, जैव-प्रौद्योगिकी, समुद्र-विज्ञान, पृथ्वी-विज्ञान एवं अंतरिक्ष-प्रौद्योगिकी को विशेष वरीयता वाले क्षेत्र के रूप में चुना गया। विभिन्न सामाजिक-आर्थिक क्षेत्रों में उत्पादकता बढ़ाने की दिशा में पहल की गई। इस योजनाकाल में विशेष लक्ष्यों को दृष्टि में रखते हुए प्रौद्योगिकी मिशनों की भी स्थापना की गई। वस्तुतः सातवीं पंचवर्षीय योजना में पर्यावरण एवं पारिस्थितिकीय विकास पर विशेष बल दिया गया। इसी योजना के आरम्भ में केन्द्रीय गंगा प्राधिकरण की भी स्थापना हुई थी। सामाजिक एवं आर्थिक परिवर्तन के लिए विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी पर इस योजनाकाल में विशेष बल प्रदान किया गया और इसके लिए शिक्षण-संस्थाओं तथा अनुसंधान संस्थानों में तकनीकी सुविधाओं की उन्नति को प्राथमिकता प्रदान की गई।

आठवीं पंचवर्षीय योजना (1992-97): इस योजनावधि में विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के सामाजिक-आर्थिक परिप्रेक्ष्य पर विशेष बल दिया गया। एक ओर जीवन की न्यूनतम आवश्यकताओं पेयजल, खाद्यान्न, पोषाहार, स्वास्थ्य, स्वच्छता, आवास, शिक्षा, ऊर्जा, वस्त्र, रोजगार आदि के क्षेत्र में पूर्ण आत्मनिर्भरता एवं नियोजित स्तर प्राप्त करने को इस योजनावधि में उच्च-प्राथमिकता प्रदान की गई, तो दूसरी ओर अंतरिक्ष-प्रौद्योगिकी एवं आणविक ऊर्जा जैसे उच्च प्रौद्योगिकी-प्रक्षेत्रों में विकास को महत्व दिया गया। अनुसंधान से लेकर उनके अनुप्रयोग तक के सम्पूर्ण चक्र को सरल तथा सुगम बनाने पर भी बल दिया गया। इस योजनाकाल में कुछ और नए क्षेत्रों के लिए प्रौद्योगिकी मिशनों की स्थापना की गई।

इस योजना में सामाजिक तथा आर्थिक क्षेत्रों में अपनाए जाने वाले कार्यक्रमों के वैज्ञानिक एवं प्रौद्योगिकीय पक्षों पर अधिक बल दिया गया, समाज को प्रत्यक्षतः प्रभावित करने वाले कार्यक्रमों को प्राथमिकता प्रदान की गयी, राष्ट्रीय स्तर पर तथा राष्ट्र के चुने हुए क्षेत्रों में प्रौद्योगिकी मिशनों का पता लगाने तथा उन्हें कार्यरूप देने पर बल दिया गया, सभी स्तरों (प्राथमिक, माध्यमिक व उच्च) पर विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी की शिक्षा तथा प्रशिक्षण पर जोर दिया गया, चुने हुए

क्षेत्रों में उच्च अनुसंधान गतिविधियों को प्रेरित किया गया, सूचना तथा प्रसार सेवाओं के विकास के लिए उचित कदम उठाए गए, परम्परागत व्यवसायों में बेहतर प्रौद्योगिकी के उपयोग को प्रोत्साहित करने तथा व्यापक पैमाने पर उनके प्रसार पर बल प्रदान किया गया।

इस योजना काल में 'वैज्ञानिक एवं औद्योगिक अनुसंधान परिषद' (CSIR) ने चार क्षेत्रों में अपने कार्यक्रम चलाए औद्योगिक एवं अर्थव्यवस्था से संबंधित कार्यक्रम, सामाजिक कार्यक्रम, आधारभूत अनुसंधान कार्यक्रम और अनुसंधान एवं प्रौद्योगिकी सेवा कार्यक्रम। 'वैज्ञानिक एवं औद्योगिक अनुसंधान परिषद' को आंकड़ों के संग्रह, आंकड़ा-केन्द्रों की स्थापना, सशक्त निरीक्षण प्रणाली का विकास आदि अनेक दायित्व भी सौंपे गए। विदेशों में निवास करने वाले भारतीय वैज्ञानिकों से सेवा प्राप्त करने की दिशा में सक्रियता दिखाई गई और इसके कुछ उत्साहवर्द्धक परिणाम भी दृष्टिगोचर हुए। अन्तरिक्ष विज्ञान के क्षेत्र में प्रक्षेपण यानों एवं उपग्रहों के निर्माण में पूर्ण आत्मनिर्भरता प्राप्त करने को उच्च प्राथमिकता प्रदान की गई और अन्तरिक्ष अनुसंधान विभाग में ही सर्वाधिक व्यय किए गए।

नौवीं पंचवर्षीय योजना (1997-2002): नौवीं योजना में उच्च तकनीक पर बढ़ते वैश्विक प्रतिबंध के संदर्भ में आत्म-निर्भरता प्राप्त करने पर बल दिया गया तथा इस बात पर जोर दिया गया कि देश की सभी योजनाओं के निर्माण व कार्यान्वयन के बीच विज्ञान अध्येताओं को शामिल किया जाए। अनिवार्य रूप से मिशन का यह उद्देश्य निर्धारित किया गया कि संबंधित क्षेत्र में कार्यान्वित योजनाएं निश्चित रूप से अपने लक्ष्य को पूरा करें। इस बात की ओर संकेत किया गया कि प्रशासक एवं सरकार विज्ञान के सहयोगी के रूप में हों, न कि वैज्ञानिकों के नियंत्रक के रूप में। योजना प्रपत्र में यह भी कहा गया कि शोध एवं विकास संस्थानों द्वारा प्रमुखतया विज्ञान एवं तकनीकी कार्यक्रमों को उत्साहित व प्रोन्नत किया जाना चाहिए। उपलब्ध सीमित संसाधनों को ध्यान में रखते हुए उनकी क्षमता में वृद्धि के उपाय किये जाएं जहां उसे उपयोग में लाया जाना है, इस प्रकार तकनीकी दक्षता को वाणिज्यिक क्षमता में परिवर्तित किया जा सकता है।

वैज्ञानिक प्रक्रियाओं में पर्यावरणीय संदर्भ को ध्यान में रखना आवश्यक है जिससे वातावरण को स्वच्छ रखने के साथ 'इकोफ्रेन्डली' तकनीक का विकास

हो सके। ऐसा महसूस किया गया कि शैक्षणिक संस्थान ऐसा वातावरण सृजित करें, जिससे इस क्षेत्र में सृजनात्मक योग्यता तथा नवाचार क्षमता का विकास हो सके।

जैव-प्रौद्योगिकी तथा सागरीय संसाधन के विकास पर विशेष बल देने की आवश्यकता अनुभव की गयी। सभी वैज्ञानिक क्षेत्रों में सृजनात्मक क्षमता का विकास किया जाए, विशेष रूप से उन क्षेत्रों को शामिल किया जाए जो अभी शोध के सीमान्त पर हों।

योजना के प्रपत्र में विज्ञान के लिए व्यापक स्वायत्तता की मांग की गयी। साथ ही लोचता के साथ उत्तरदायित्व; निरीक्षण तंत्र, पुनर्निरीक्षण तंत्र, आधारभूत शोध को लम्बी अवधि के आधार पर अनुमोदन, विशिष्ट क्षेत्र में मानव संसाधन विकास, नागरिक क्षेत्र में उच्च तकनीक का प्रयोग तथा विज्ञान एवं तकनीकी क्षेत्र में अध्येताओं का चयन आदि तथ्यों को शामिल कर विज्ञान के क्षेत्र में उचित प्रबंधन एवं व्यवस्था की बात कही गयी।

दसवीं पंचवर्षीय योजना (2002-2007): दसवीं योजना में एक बार पुनः 'विश्व आर्थिक क्रम' के संदर्भ में पुनर्निरीक्षण किया गया तथा इस बात पर जोर दिया गया कि विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी क्षेत्र में 'शोध एवं विकास' का उद्देश्य अनुप्रयोग उन्मुख हो, जिससे नयी तकनीक का विकास, मानव संसाधन विकास में प्रोन्नति वैज्ञानिक शोध को प्रोत्साहन, प्राकृतिक आपदा से बचाव, राष्ट्रीय कार्यक्रमों में विज्ञान के समन्वित विकास पर जोर, पर्यावरण संरक्षण एवं भाई-चारे की भावना विकसित की जा सके।

10वीं योजना में देशीय तकनीक के विकास पर विशेष बल दिया गया, साथ ही उपलब्ध नवीनतम तकनीक पर भी ध्यान केन्द्रित किया गया। इससे उन क्षेत्रों में, जहां भारत विश्व प्रतिस्पर्द्धा की स्थिति में है, महत्वपूर्ण परिवर्तन आए तथा इन्हें उन लोगों तक भी पहुंचाया जा सका है, जो इसके लाभ से वंचित थे। इस प्रकार नवाचारीय तकनीक के विकास की आवश्यकता है, जो भविष्य में देश की जरूरतों को पूरा कर सके तथा साथ ही देशीय तकनीक के भी विकास, संरक्षण व प्रोन्नति पर बल दिया गया। इससे न केवल देशी संसाधनों तथा जैव विविधता का विकास हुआ बल्कि देश के प्रतिष्ठित परम्परागत ज्ञान की रक्षा भी हो सकी। तकनीक के सभी स्तर यथा-परम्परागत, रूढ़िगत तथा आधुनिक, देश के सतत् विकास में सहायक हुए।

उदाहरणार्थ भारतीय निर्यात आज विश्व बाजार में सस्ते श्रम एवं प्राकृतिक संसाधनों की प्रचुरता की वजह से प्रतिस्पर्द्धा की स्थिति में है। यद्यपि उनके निर्यात मद में कोई महत्वपूर्ण तकनीक से विकसित पदार्थ शामिल नहीं है। इस बात पर बल दिया गया कि हमारे निर्यात मद में उच्च तकनीक से बनी वस्तुएं तथा नवाचार भी शामिल हों।

समन्वित प्रबन्धन एवं सतत् विकास हेतु उन तकनीकों को प्राथमिकता दी गयी, जो मानव कल्याणपरक हो। इससे स्वास्थ्य सेवाओं, जनसंख्या प्रबंधन, प्राकृतिक आपदा नियंत्रण, मृदा संरक्षण, जल एवं ऊर्जा संसाधन के विकास में सृजनात्मक एवं मूल्यप्रभावी हल विकसित हुआ।

योजना प्रपत्र में इस बात पर चिन्ता व्यक्त की गयी कि विज्ञान की लोकप्रियता में कमी आयी तथा विशेषतः युवाओं में विश्वास की कमी आयी जो विज्ञान को भविष्य के रूप में अपनाना चाहते हैं। इसके लिए कुछ नवाचारीय एवं कल्पनात्मक कार्यक्रमों को आयोजित करने की आवश्यकता है, जिससे युवाओं का विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में आकर्षण बढ़े तथा युवा वैज्ञानिकों की संख्या में वृद्धि हो।

10वीं योजना के दौरान आधारभूत शोध, विशेषतया विश्वविद्यालय स्तर पर शोध हेतु व्यापक व्यवस्था की गयी, जिससे भारत इस क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान कर सके। इसमें तुलनात्मक लाभ के सिद्धांत को ध्यान में रख सूचना-प्रौद्योगिकी तथा जैव-प्रौद्योगिकी के क्षेत्र का विकास करना, साथ ही कृषि तथा कृषि आधारित उद्योग एवं अवसंरचनात्मक क्षेत्र जैसे ऊर्जा, परिवहन, संचार, भवन-निर्माण आदि पर विशेष जोर देने की बात कही गयी। अन्य प्रकार की नीतियों तथा कार्यक्रमों में विज्ञान एवं तकनीक का समन्वय होना चाहिए जो आर्थिक, ऊर्जा, पर्यावरण तथा अन्य सामाजिक-आर्थिक क्षेत्र से सम्बन्धित हों। यह समन्वय तकनीकी चयन, निवेश, वैयक्तिक क्षेत्र में विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी का हस्तक्षेप आदि में स्पष्ट होगा। यह उपागम विकास क्षेत्र में विज्ञान एवं तकनीक को एक आवश्यक घटक के रूप में व्यवस्थित करेगा।

दसवीं योजना में इस बात पर भी बल दिया गया कि संयुक्त विकास एवं शोध संस्थानों द्वारा उत्प्रेरक तकनीक का विकास किया जाय जिससे पूर्व-वाणिज्यिक तकनीक को प्रोन्नत किया जा सके, प्रदर्शनी के माध्यम से भारतीय

तकनीक का प्रदर्शन, प्रमुख राष्ट्रीय कार्यक्रम जैसे प्राकृतिक आपदा प्रबंधन, एड्स/कैंसर शोध, वैकल्पिक ऊर्जा स्रोत, स्वच्छ तकनीक, बौद्धिक सम्पदा संरक्षण, अंतरराष्ट्रीय विज्ञान-प्रौद्योगिकी सहयोग तथा प्रबंधन (सूचना तंत्र) आदि को अंतरराष्ट्रीय विज्ञान प्रौद्योगिकी सहयोग कार्यक्रम से समन्वय स्थापित करना आदि सम्भव हो सके। अंतरराष्ट्रीय सहयोग से सम्बन्धित विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के कुछ क्षेत्रों की पहचान की गयी, जिनमें शामिल थे आधारभूत विज्ञान, उच्च गुणवत्ता वाला मृदभांड एवं मूर्तिकला, उच्च गुणवत्ता वाला पॉलीमर्स, नैनो-मैटीरियल्स, नैनो-टेक्नोलॉजी, नैनो इलेक्ट्रॉनिक्स, सेंसर, विनिर्माण तकनीक, बायोनिक्स, जलवायविक, प्राकृतिक आपदा प्रबंधन तंत्र, कार्यात्मक जेनोमिक्स एवं प्रोटोमिक्स, वैक्सीन शोध, पादप एवं कृषि जैव प्राविधिकीय, सागरीय संसाधन उपयोग हेतु तकनीकें, सागरीय वायुमण्डल पर शोध कार्य, विज्ञान की लोकप्रियता आदि।

यद्यपि विश्वविद्यालय तथा कॉलेज स्तर पर विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी से संबंधित संस्थानों की संख्या में वृद्धि हुई है तथा पुराने संस्थानों में विज्ञान विषय को स्थापित किया गया है किंतु 1950 के बाद औसत रूप से उच्च शिक्षा में विज्ञान विषय के छात्रों की संख्या में कमी आयी है। जहां 1950 ई. में हाईस्कूल के बाद विज्ञान पढ़ने वालों की संख्या 32 प्रतिशत थी वहीं आज यह मात्र 15 प्रतिशत रह गयी है।

मानव संसाधन विकास को नवीन तकनीकी के विकास तथा नवाचार हेतु आवश्यक तथ्य माना जाता है, साथ ही आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में प्रयुक्त तकनीकें तथा समस्या समाधान में भी मानव संसाधन विशेष महत्व रखता है। मानव संसाधन देश की क्षमता के मापन का एक प्रमुख आधार भी है, देश के सामाजिक एवं आर्थिक विकास में इसका प्रमुख योगदान होता है।

'विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी मानव क्षमता' का विकास उच्च शिक्षा में विज्ञान एवं तकनीकी के अध्ययन की गुणवत्ता पर निर्भर करता है। वैज्ञानिक एवं प्रौद्योगिकी मानव शक्ति विचारणीय संख्या में होनी चाहिए, अर्थव्यवस्था के उदारीकरण एवं वैज्ञानिक विकास हेतु यह आवश्यक है। इसके लिए विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी की उत्तम शिक्षा का प्रबंधन, अच्छे प्रतिभाशाली छात्रों का चुनाव इस क्षेत्र में कार्यरत लोगों को अच्छे अवसर प्रदान करना, कॉर्पोरेट क्षेत्र में भी विज्ञान एवं तकनीक का प्रवेश आदि उपाय किए जा सकते हैं।

उपरोक्त सभी उद्देश्यों को तभी प्राप्त किया जा सकता है जब देश में उच्च सुविधा प्राप्त विज्ञान केंद्र/संस्थान स्थापित हों। भारतीय प्रबंधन संस्थान तथा भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान द्वारा देश के प्रत्येक प्रयोगशाला में कम-से-कम एक स्कूल स्थापित हो तथा शोध एवं विकास कार्य हेतु प्रतिभाशाली छात्रों को आमंत्रित किया जाए। शैक्षणिक प्रवाह अवधारणा द्वारा शिक्षकों की गुणवत्ता व ज्ञान में विकास हेतु प्रयास किया जाए, नये क्षेत्रों जेनोमिक्स, जैव-सूचना तंत्र, पॉलीमर्स आदि पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। अन्य उपायों में विदेशों में कॉन्फ्रेंस व सेमिनार हेतु यात्रा भत्ते को उदार बनाना, विदेशी विश्वविद्यालयों से देश के शिक्षण संस्थानों में शिक्षकों का आदान-प्रदान, स्नातक स्तरीय व स्नातकोत्तर छात्रवृत्ति प्रदान करना आदि शामिल हैं।

ग्यारहवीं पंचवर्षीय योजना (2007-2012): विज्ञान और तकनीकी विभाग ने ग्याहरवीं पंचवर्षीय योजना के अवधि में कुछ विशेष योजनाओं के क्रियान्वयन की योजना बनाई। विज्ञान और तकनीकी विभाग ने ग्यारहवीं योजना के अंतर्गत अपने कार्यों और योजनाओं में दीर्घकालिक प्रभाव वाले भारतीय विज्ञान और तकनीकी नींव को मजबूती देने के प्रयत्न किए हैं।

विज्ञान एवं तकनीकी विभाग के अनुसार (दिसम्बर 2007 में), विजन-2025 के तहत् तकनीकी और नवीन आविष्कारों में अधिक निवेश के लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु राष्ट्रीय विकास परिषद द्वारा ग्यारहवीं पंचवर्षीय योजना में वैज्ञानिक अनुसंधान और विकास के लिए किया गया प्रस्तावित अनुदान उसका तिगुना होगा तथा संबंधित सरकारी विभागों द्वारा इसे चलाया जाएगा।

प्रारूप योजना में यह भी जोड़ा गया है कि, विज्ञान और तकनीकी के क्षेत्र में कम निवेश के कारण देश की तकनीकी और वैज्ञानिक समृद्धि की क्षमता को अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता। संक्षेप में योजना प्रस्तावित करती है

- उद्यमियों के मध्य प्रतिस्पर्द्धा के प्रोत्साहन के लिए एक राष्ट्रीय नवीनीकरण नीति का गठन।
- अनुसंधान व विकास संस्थान और शैक्षणिक क्षेत्र में उत्कृष्टता व प्रासंगिकता के निमित्त उद्योग संगत केंद्रों की स्थापना।
- दिल्ली, गुजरात, हरियाणा, ओडिशा, पंजाब और प. बंगाल में जैव-तकनीकी समूहों का निर्माण।

- सभी जैव-तकनीकी उत्पादों के एकल खिड़की समाधान हेतु राष्ट्रीय जैव-तकनीकी नियामक प्राधिकरण की स्थापना।

विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी क्षेत्र के लिए ग्यारहवीं योजना की प्रमुख प्राथमिकताएं थीं

- नीतियों के निर्माण के लिए राष्ट्रीय स्तर के तंत्र की स्थापना करना और मूलभूत अनुसंधान को दिशा प्रदान करना।
- वैज्ञानिक मानव शक्ति में विस्तार करना और विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी अवसंरचना को मजबूत करना तथा विज्ञान में भविष्य बनाने के लिए युवा लोगों को आकर्षित करना और उनका पलायन रोकना।
- चुनिंदा राष्ट्रीय फ्लैगशिप कार्यक्रमों का क्रियान्वयन करना जिनका देश की प्रौद्योगिकीय प्रतिस्पर्द्धात्मकता को मिशन मोड में लाने से प्रत्यक्ष संबंध है।
- वैश्विक रूप से प्रतिस्पर्द्धी शोध सुविधाओं की और उत्कृष्ट केंद्रों की स्थापना करना।
- उच्च शिक्षा में, विशेष रूप से विश्वविद्यालयों एवं उच्च प्रौद्योगिकी क्षेत्रों में अनुसंधान के लिए, नवीन निजी-लोक भागीदारी (पीपीपी) प्रतिमान का विकास करना।
- उद्योग-एकेडमी गठजोड़ के उत्प्रेरण के लिए नवीन अर्थोपायों को अपनाना।
- उन्नत देशों के साथ मजबूत समझौतों एवं गठजोड़ को प्रोत्साहित करना जिसमें वृहद अंतरराष्ट्रीय विज्ञान में भागीदारी करना शामिल है।

योजनावधि के दौरान प्रमुखता के क्षेत्रों में कुछ उन्नति देखी गई। इसके अतिरिक्त, ग्यारहवीं योजनान्तर्गत विज्ञान एवं अभियांत्रिकी शोध परिषद् (एसईआरसी) के स्थान पर उसकी भूमिका निभाने के लिए संसद के अधिनियम के माध्यम से एक स्वायत्त वित्तीयन निकाय, राष्ट्रीय विज्ञान एवं अभियांत्रिकी बोर्ड (एनएसईबी) स्थापित किया गया। राष्ट्रीय नवाचार फाउंडेशन (एनआईएफ), अहमदाबाद; द इंस्टीट्यूट फॉर एडवांस्ड स्टडीज इन साइंस एंड टेक्नोलॉजी, गुवाहाटी; द नेशनल सेंटर ऑफ मॉलीक्यूलर मेटिरियल्स, तिरुवनंतपुरम, और इंस्टीट्यूट ऑफ नैनो साइंस एंड टेक्नोलॉजी, मोहाली जैसी नवीन संस्थाएं स्थापित

की गई। विश्वविद्यालयों में अनुसंधान एवं विकास का समर्थन एवं सुधार करने के लिए प्रमोशन ऑफ यूनिवर्सिटी रिसर्च एंड साइंटिफिक एक्सलेंस (पीयूआरएसई) और कंसोलिडेशन ऑफ यूनिवर्सिटी रिसर्च, इनोवेशन एंड एक्सीलेंस (सीयूआरआईई) प्रारंभ किए गए। आईएनएसपीआईआरई के नाम से विज्ञान में प्रतिभा आकर्षित करने और विद्यालय स्तर पर विद्यार्थियों को विकसित करने के लिए भी, एक योजना प्रारंभ की गई।

ग्यारहवीं योजनावधि के विगत् कुछ वर्षों में भारतीय विज्ञान क्षेत्र में वृद्धि का संवेग देखा गया। भारत ने ग्यारहवीं योजनावधि के दौरान शोध एवं विकास में महत्वपूर्ण निवेश किया और देश में विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के अद्वितीय एवं बहुआयामी निर्माण के लिए सशक्त नींव की आधारशिला रखी। वैज्ञानिक जर्नल्स के प्रकाशन में ग्यारहवीं योजना के अंतिम तीन वर्षों में भारत की औसत प्रकाशन दर वृद्धि 14 प्रतिशत रही जबकि इसी समयावधि के दौरान यह वैश्विक औसत 4.1 प्रतिशत रही। वैज्ञानिक प्रकाशनों के संदर्भ में भारत की संबद्ध स्थिति, जो 2003 में 15वें स्थान से सुधारकर 2010 में 9वें स्थान पर पहुंच गई। भारतीय विज्ञान उत्पादन 2010 में विश्व के 3 प्रतिशत तक पहुंच गया। हालांकि, मूलभूत विज्ञान में प्रेरणाएं या अभिप्रेरणा, जैसाकि बौद्धिक संपदा का सृजन संकेत करता है, निम्न रहीं और राष्ट्रों के बीच भारत की नवाचारी पद्धति की रैंकिंग 50 और 60 के बीच रही।

बारहवीं पंचवर्षीय योजना (2012-17): यह समझा गया कि शोध एवं विकास में निवेश जीडीपी के 1 प्रतिशत से बढ़ाकर 2 या अधिक प्रतिशत किया जाना चाहिए, जो देश के लिए बेहद आवश्यक है। यह महसूस किया गया कि इसकी प्राप्ति अतिरिक्त सरकारी प्रयासों और साथ ही निजी क्षेत्र के अधिकाधिक प्रयासों द्वारा की जा सकती है। 1985 से, हालांकि, अन्य एशियाई अर्थव्यवस्थाओं ने आर एंड डी में भारी निवेश किया, विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी क्षेत्र में भारत की प्रतिस्पर्द्धात्मकता कुंद होती जा रही है जैसाकि योजना दस्तावेज संकेत करता है। भारत में स्थायी एफटीई आर एंड डी पेशेवर लम्बे समय तक गतिहीनता की स्थिति में रहे। एफटीई आर एंड डी पेशेवरों के संदर्भ में भारत की 9वीं रैंक है। ग्याहरवीं योजनान्तर्गत लोक उपक्रम ब्यूरो ने आर एंड डी को सरकार के साथ पीएसयू के मेमोरेंडम ऑफ अडरस्टैडिंग (एमओयू) में शामिल करके सही

दिशा में कदम उठाया। ये क्षेत्र अपनी बिक्री के टर्नओवर का 2-3 प्रतिशत विश्वविद्यालयों एवं संस्थानों को आर एंड डी निविदा देने में खर्च करेंगे। आर एंड डी और मैन्युफैक्चरिंग क्षेत्र के बीच मौजूदा समन्वय स्तर बेहद कमजोर है। लोक-निजी भागीदारी के सुसंगत उच्च प्राथमिकता दिए जाने की आवश्यकता है जो धन सृजन में अग्रणी औद्योगिक विनिर्माण में नवोन्मेष के प्रवाह को सुनिश्चित करेगी।

योजना दस्तावेज स्वीकार करता है कि एक प्रतिस्पर्द्धी ज्ञान अर्थव्यवस्था का निर्माण अग्रलिखित स्तंभों पर होना चाहिएः (i) एक ऐसा शैक्षिक तंत्र गठित करना जो इस प्रकार के मानव संसाधन का उत्पादन करे जो रोजगार पाने योग्य और वैश्विक रूप से दक्ष हो; (ii) लंबे समय तक उपयोगी ज्ञान को उत्पन्न करने के लिए विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी का व्यापक पैमाने पर अनुसरण करना और (iii) राष्ट्रीय आवश्यकताओं एवं वैश्विक अवसरों से प्रेरित रणनीतिक पर-राष्ट्रीय अनुसंधान करना। इन उद्देश्यों के अनुसरण में बारहवीं योजना निम्न दिशाओं की तरफ निर्देशित होनी चाहिए

- सामाजिक एवं रणनीतिक रूप से सम्बद्ध कार्यक्रमों और सतत् एवं वहनीय नवोन्मेषों पर ध्यान देने के साथ मुख्यधारा की नवोन्मेष संबंधी गतिविधियों के लिए आर एंड डी हेतु लोक एवं निजी दोनों क्षेत्रों से अधिकाधिक संसाधनों को एकजुट करने के लिए एक नवीन विज्ञान, प्रौद्योगिकी एवं नवोन्मेष नीति बनाना;
- विभिन्न स्तरों पर पदनामित विभागों/अभिकरणों के प्रयासों पर फिर से ध्यान देकर भारतीय विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी तंत्र का आमूलचूल किंतु सहभागितामूलक परिवर्तन करनाः (i) राष्ट्रीय फोकस देश के लिए वैज्ञानिक, प्रौद्योगिकीय एवं मानव संसाधन केंद्र बनाने के लिए राष्ट्रीय नवोन्मेष तंत्र के जाने-पहचाने अभिकर्ताओं के साथ भागीदारी तैयार करना; (ii) संगठनात्मक फोकस राष्ट्रीय फोकस में लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए प्रत्येक विभाग/अभिकरण की आवश्यकताओं को पहचानना और वे कार्यक्रम जिन्होंने अपने अधिकतर लक्ष्यों को पूरा कर लिया हो, समाप्त करने के लिए कठोर समीक्षा करना; और (iii) नेतृत्व फोकस विज्ञान तकनीकी एवं मानव संसाधन विकास के चिन्हित क्षेत्रों में विभाग/अभिकरण के नेतृत्व को प्रेरित करना।
- क्षमताओं एवं अनुसंधान संसाधनों को आपस में जोड़कर सुनिश्चित करना कि विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी राष्ट्रीय विकासपरक प्रक्रियाओं का

एक अभिन्न अंग बन गई है और आर एंड डी उत्पादन के साथ कमजोर तरीके से जुड़े स्टेकहोल्डर्स के साथ संपर्क सूत्र मजबूत करना;

- 1.54 लाख मौजूदा पूर्णकालिक वैज्ञानिकों/शोधार्थियों की संख्या 2.50 लाख तक बढ़ाना; मूलभूत शोध में प्रकाशन की मौजूदा वैश्विक भागीदारी को 3 प्रतिशत से 5 प्रतिशत करना; बारहवीं योजना के अंत तक वैश्विक रैंकिंग को सुधारकर 9 से 6 करना।
- आर एंड डी व्यय को जीडीपी का 2 प्रतिशत करना तथा निवेश आकर्षित करके और आर एंड डी क्षेत्र में नीति एवं सुधार प्रक्रिया के माध्यम से निजी क्षेत्र को संलग्न कर कॉर्पोरेट क्षेत्र का आर एंड डी व्यय जीडीपी का कम-से-कम 1 प्रतिशत करना;
- बड़े भारतीय औद्योगिक घरानों को वैश्विक रूप से उत्कृष्ट आर एंड डी केंद्रों को बहुराष्ट्रीय कंपनियों (एमएनसी) द्वारा स्थापित आर एंड डी केंद्रों की तर्ज पर स्थापित करने के लिए प्रोत्साहित करना;
- प्रौद्योगिकीय समाधानों, अभिकल्प, विकास एवं प्रदायन के नवीन प्रतिमानों के माध्यम से राज्यों के साथ प्रविधिक भागीदारी कायम करना;
- अग्रणी स्थिति प्राप्त करने के लिए पर-अनुशासनात्मक विज्ञान एवं अभियांत्रिकी में नवीन आर एंड डी संस्थानों का सृजन करना;
- युवा वैज्ञानिकों को उनकी नवीन युक्तियों एवं विचारों पर काम करने की अधिक स्वतंत्रता प्रदान करना और आर एंड डी क्षेत्र में लिंग समानता को मजबूत करना जिसके लिए महिला पुनर्प्रवेश कार्यक्रम एवं गतिशीलता को बढ़ावा देना।
- साझा हित के वैज्ञानिक पहलुओं, जो वैश्विक प्रकृति के हों, को पहचानने की दिशा में सुप्रसिद्ध विश्वविद्यालयों/अभिकरणों के साथ सहयोग एवं समन्वय बढ़ाना।

यह महसूस किया गया कि कृषि, जल, ऊर्जा, पर्यावरण एवं स्वास्थ्य जैसे क्षेत्रों में चुनौतियों से निपटने के लिए राष्ट्रीय रूप से समन्वित मिशन मोड कार्यक्रमों को चलाए जाने की आवश्यकता है।

विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी क्षेत्र के अंतर्गत हस्तांतरणीय परिवर्तनों को प्रोत्साहित करने के कार्य में और एस एंड टी निर्गत संकेतकों के संदर्भ में

वैश्विक प्रतिस्पर्द्धात्मकता हासिल करने के लिए रणनीतिक हस्तक्षेपों की आवश्यकता होगी।

भारत में विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी ढांचा

किसी भी राष्ट्र के विकास का आधार है विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी। विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी का विकास तभी संभव है, जब उसकी आधारभूत संरचना सुव्यवस्थित तथा सुस्पष्ट हो। भारत में विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी की परम्परा तो सुदृढ़ रही है, परन्तु मध्यकाल में सामंतशाही विचारधारा के अभ्युदय तथा वैज्ञानिक विचारधारा के पृष्ठभूमि में चले जाने के कारण इसका पर्याप्त विकास नहीं हो पाया। इसका परिणाम यह हुआ कि आधुनिक विश्व में भारत अन्य देशों की अपेक्षा पिछड़ गया। अंग्रेजों ने भी अपने दो सौ वर्षों के शासनकाल में कहने को तो आधुनिकीकरण के बहुत से प्रयास किए, परन्तु भारत में वैज्ञानिक विचारधारा को कभी भी विकसित नहीं होने दिया।

स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद जब सरकार द्वारा विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के विकास की ओर ध्यान केंद्रित किया गया, तब ऐसा अनुभव हुआ कि अभी भारत में विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी की आधारभूत संरचना का निर्माण ही आवश्यक है।

विगत 67 वर्षों में भारत में विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी की आधारभूत संरचना का पर्याप्त विकास हुआ है और उसी का परिणाम है कि भारत, रक्षा-प्रौद्योगिकी, अंतरिक्ष-प्रौद्योगिकी, इलेक्ट्रॉनिक्स, संचार-प्रौद्योगिकी आदि के क्षेत्र में विश्व की महाशक्ति बन चुका है।

भारत में वैज्ञानिक और प्रौद्योगिकी गतिविधियां केंद्र सरकार, राज्य सरकारों, उच्चतर शैक्षणिक क्षेत्र, सार्वजनिक तथा निजी क्षेत्र के उद्योगों और बिना लाभ के कार्य करने वाले संस्थानों, संघों समेत एक विस्तृत ढांचे के अंतर्गत संचालित की जाती हैं। संस्थागत प्रतिष्ठानों ने अपनी अनुसंधान प्रयोगशालाओं के जरिए देश में अनुसंधान और विकास में महत्वपूर्ण योगदान किया है। इनमें प्रमुख हैं वैज्ञानिक एवं औद्योगिक अनुसंधान परिषद, भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद, भारतीय आयुर्विज्ञान अनुसंधान परिषद। इसके अतिरिक्त विभिन्न मंत्रालयों/विभागों के अधीन प्रयोगशालाएं हैं, जैसे परमाणु ऊर्जा विभाग, महासागर विकास विभाग, इलेक्ट्रॉनिक्स विभाग, रक्षा अनुसंधान और विकास संगठन, विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी मंत्रालय, अंतरिक्ष विभाग, पर्यावरण एवं वन

मंत्रालय, अक्षय ऊर्जा स्रोत मंत्रालय। उल्लेखनीय है कि औद्योगिक उपक्रमों की अपनी लगभग 12,000 अनुसंधान और विकास इकाइयां हैं। भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थानों एवं विभिन्न विश्वविद्यालयों में भी विज्ञान संबंधी अनुसंधान एवं विकास कार्य जारी हैं।

विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी से सम्बद्ध केंद्रीय स्तर की योजनाओं का निर्माण योजना विभाग द्वारा निर्मित होता है। भारत सरकार के अधीन सभी मंत्रालयों में अधुनातन प्रौद्योगिकी तथा सामाजिक-आर्थिक क्षेत्रों के बीच समन्वय एवं अपेक्षित प्रौद्योगिकी के निर्माण के लिए सलाहकार समितियों की व्यवस्था की गई है।

भारत में वैज्ञानिक एवं प्रौद्योगिकीय गतिविधियों से संबंधित छह विभाग केन्द्र सरकार के अधीन कार्यरत हैंः

(i) विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी विभाग;
(ii) वैज्ञानिक एवं औद्योगिक अनुसंधान विभाग;
(iii) जैव-प्रौद्योगिकी विभाग;
(iv) सामुद्रिक विकास विभाग;
(v) अन्तरिक्ष विभाग, और;
(vi) परमाणु ऊर्जा विभाग।

विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी विभागः वर्ष 1971 में भारत सरकार के अधीन एक विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी विभाग की स्थापना की गयी। इस विभाग ने अपनी नीति तथा कुछ निश्चित दिशा-निर्देश निर्धारित किए हैं और विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के विभिन्न क्षेत्रों में समन्वय स्थापित करने की व्यवस्था की है। विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी से सम्बद्ध सभी अनुसंधानात्मक और विकासात्मक कार्यों को प्रोत्साहन तथा अनुदान देना इस विभाग का प्रमुख कार्य है। विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी विभाग की सकारात्मक पहल से राज्यों और केन्द्रशासित प्रदेशों में इस क्षेत्र के विकास कार्यों के प्रयासों को सबल आधार प्राप्त हुआ है।

स्वायत्त संस्थानः देश में 18 ऐसे स्वायत्त वैज्ञानिक एवं प्रौद्योगिकीय संस्थान हैं, जो राष्ट्रीय विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी विभाग की निगरानी में कार्य करते हैं। इनमें से अधिकांश संस्थानों की स्थापना प्रमुख वैज्ञानिकों द्वारा की गई थी। इन संस्थानों के सफल कार्यों के परिणामस्वरूप भारतीय विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी

को अंतरराष्ट्रीय मान्यता प्राप्त हो सकी है। विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी से सम्बद्ध प्रमुख स्वायत्त संस्थान निम्न हैंः

• ***आर्यभट्ट प्रेक्षण विज्ञान अनुसंधान संस्थान*** (Aryabhatta Research Institute of Observational Science—ARIES) देश में सबसे ऊंचाई पर नैनीताल में स्थित है। पचास वर्ष पुरानी इस राज्य प्रेक्षणशाला को परिष्कृत एवं नवीनीकरण कर मार्च 2004 में अस्तित्व में लाया गया। यह प्रयोगशाला भूगर्भ, भू-भौतिकी और परमाणविक भौतिकी सहित मौसम परिवर्तन आदि के क्षेत्र में प्राथमिक वैज्ञानिक अनुसंधानों के लिए समर्पित है। एरीज लगभग 180 अंश देशांतर बन्ध के मध्य स्थित है। यहां अत्याधुनिक भू-गर्भीय सुविधाएं प्राप्त हैं। यह केनारी आइलैण्ड (–20° प.) और पूर्वी आस्ट्रेलिया (–155° पू.) के मध्य है। वे परीक्षण जो कि केनारी आइलैण्ड और आस्ट्रेलिया में दिन की रोशनी के कारण संभव नहीं हैं उन्हें 'एरीज' के माध्यम से देखा जा सकता है। अनुसंधान के मुख्य क्षेत्र हैं आकाश गंगाओं का दीप्तिकालिक अध्ययन (Photometric Studies of Galaxies), ग्रहीय भौतिकी, सौर क्रियाएं, सूर्य का स्पेक्ट्रम विज्ञान, तारीय संगुच्छ (Star Clusters), तारीय ऊर्जा वितरण, तारीय संख्या तथा उसकी परिवर्तनशीलता।

• ***तरल क्रिस्टल अनुसंधान केंद्र*** (Center for Liquid Crystal Research—LCR) 1995 में एक स्वायत्त संस्था के रूप में बंगलुरू में स्थापित किया गया। इसे सूचना-तकनीक विभाग, भारत सरकार के प्रशासनिक नियंत्रण में रखा गया है। लिक्विड क्रिस्टल मैटेरियल के क्षेत्र में अनुसंधान और विकास में कुशलता पाने के लिए इस केंद्र की स्थापना की गई है। दिसम्बर 2002 से यह विज्ञान और तकनीकी विभाग के प्रशासनिक नियंत्रण में कार्य कर रहा है। CLCR के दीर्घकालिक लक्ष्यों में नए लिक्विड क्रिस्टलाइन मैटेरियल को निकालना और नए उत्पादों एवं प्रक्रियाओं से सम्बन्धित तकनीकों की खोज करना शामिल है।

• ***इण्डियन एसोसिएशन फॉर द कल्टिवेशन ऑफ साइंस,*** कोलकाता की स्थापना वर्ष 1876 में हुई थी। यह संस्थान भारत सरकार द्वारा निर्धारित अभावग्रस्त क्षेत्रों एवं प्राथमिकताओं के अनुरूप कार्य करता है।

• ***जगदीश चन्द्र बोस संस्थान,*** कोलकाता की स्थापना वर्ष 1917 में प्रख्यात वैज्ञानिक श्री जगदीश चन्द्र बोस ने की थी। जीव-विज्ञान पर विशेष

ध्यान केंद्रित करते हुए यह संस्थान मौलिक एवं अनुप्रयुक्त विज्ञानों के संबंध में अनुसंधान कार्य करता है।

• ***महाराष्ट्र एसोसिएशन फॉर द कल्टिवेशन ऑफ साइंस,*** पुणे की स्थापना वर्ष 1946 में हुई थी। जीव-विज्ञान के क्षेत्र में अनुसंधान कार्य करना इस संस्थान का कार्य है।

• ***बीरबल साहनी पुरावनस्पति विज्ञान संस्थान,*** लखनऊ की स्थापना वर्ष 1948 में की गई थी। यह संस्थान पुरावनस्पति विज्ञान के मौलिक एवं अनुप्रयुक्त दोनों ही क्षेत्रों में अनुसंधान करता है तथा उसे प्रोत्साहन प्रदान करता है।

• ***रमन अनुसंधान संस्थान,*** बंगलुरू की स्थापना वर्ष 1948 में प्रख्यात वैज्ञानिक डॉक्टर सी.वी.रमन ने की थी। 1970 में रमन की मृत्यु के बाद आधारभूत वैज्ञानिक अनुसंधान के लिए रमन अनुसंधान संस्थान को राष्ट्रीय संस्थान के रूप में पुनर्गठित किया गया। खगोल विज्ञान, खगोल भौतिकी, रवादार द्रव आदि के क्षेत्र में अनुसंधान इस संस्थान के प्रमुख कार्य हैं।

• ***वाडिया हिमालय भू-विज्ञान संस्थान,*** देहरादून की स्थापना वर्ष 1968 में हुई। यह संस्थान हिमालय में जैव-स्तर, शैल, भू-रसायन, अवसाद, विवर्तन, वातावरण आदि से सम्बद्ध विभिन्न क्षेत्रों में मौलिक अनुसंधान का कार्य करता है।

• ***भारतीय भू-चुम्बकत्व संस्थान,*** कोलाबा (मुम्बई) की स्थापना वर्ष 1971 में की गई। यह संस्थान भू-भौतिकी, ठोस भूमि, वायुमण्डल और अंतरिक्ष भौतिकी के क्षेत्र में अनुसंधान कार्य करता है।

• ***श्री चित्रा तिरूनल आयुर्विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी संस्थान,*** त्रिवेन्द्रम इस संस्थान को वर्ष 1981 में राष्ट्रीय महत्व के संस्थान के रूप में स्वीकृत किया गया। जैव-चिकित्सा अभियांत्रिकी एवं प्रौद्योगिकी का विकास करना, रोगी की निगरानी के उच्च स्तर को कायम रखना। स्नातकोत्तर शिक्षण कार्यक्रम प्रायोजित करना संस्थान के प्रमुख कार्य हैं।

• ***सत्येन्द्र नाथ बोस राष्ट्रीय विज्ञान केन्द्र,*** कोलकाता की स्थापना वर्ष 1986 में की गई थी। भौतिक विज्ञान की चुनी हुई शाखाओं में उच्च अध्ययन के विकास को प्रोत्साहन प्रदान करना, राष्ट्रीय तथा अंतरराष्ट्रीय वैज्ञानिकों के

बीच व्यक्तिगत सम्पर्क तथा बौद्धिक विचार-विमर्श के लिए एक माध्यम के रूप में कार्य करना संस्थान का प्रमुख उद्देश्य है।

• ***जवाहर लाल नेहरू सेंटर फॉर एडवांस्ड साइंटिफिक रिसर्च,*** बंगलुरू की स्थापना वर्ष 1989 में की गई। विज्ञान के कुछ प्रमुख क्षेत्रों में सीमांत अनुसंधान करना, भारतीय विज्ञान संस्थान एवं देश के अन्य संस्थाओं के वैज्ञानिकों के साथ सहयोगात्मक अनुसंधान को प्रोत्साहित करना, देश के भीतर वैज्ञानिकों के लिए आवश्यक रुचि के क्षेत्रों में महत्वपूर्ण वैज्ञानिक विषयों पर गहन विचार-विमर्श के लिए एक राष्ट्रीय एवं अंतरराष्ट्रीय मंच प्रदान करना, प्रतिभाशाली युवा विशेषज्ञों के लिए कार्यशालाओं का आयोजन करना आदि इस संस्थान के प्रमुख कार्य हैं।

• ***प्लाज्मा अनुसंधान संस्थान,*** गांधीनगर की स्थापना वर्ष 1989 में की गई। उच्च तापमान पर चुम्बकीय शक्ति से आबद्ध प्लाज्मा के संबंध में मौलिक अनुसंधान करना।

• ***भारतीय तारा भौतिकी संस्थान,*** बंगलुरू की खगोल विज्ञान, भौतिकी एवं तारा भौतिकी के अध्ययन के लिए स्थापना की गई है। बंगलुरू, कावलूर, कोडेकनाल एवं गौरी बिदनूर की चार प्रयोगशालाओं में संस्थान के अनुसंधान कार्य चल रहे हैं।

• ***भारतीय उष्णक्षेत्रीय मौसम विज्ञान संस्थान,*** पुणे की उष्णकटिबंधीय मौसम विज्ञान में मूल तथा अनुप्रयुक्त अनुसंधान के उद्देश्य से स्थापना की गयी। उष्णकटिबंधीय तथा उपोष्णकटिबंधीय क्षेत्रों से संबद्ध मौसम रूपांतरण सहित मौसम विज्ञान के सभी पहलुओं का अनुसंधान करना तथा उन्हें प्रोत्साहन प्रदान करना।

व्यावसायिक निकायः विज्ञान एवं तकनीकी विभाग कुछ व्यावसायिक निकायों को भी अनुदान देता है वे हैं:

• ***भारतीय राष्ट्रीय विज्ञान अकादमी,*** नई दिल्ली की देश में प्राकृतिक विज्ञान के विकास एवं वृद्धि के उद्देश्य से स्थापना की गई। प्रसिद्ध वैज्ञानिकों को फैलोशिप देना, वरिष्ठ वैज्ञानिकों को सम्मानित करना, युवा वैज्ञानिकों को प्रोत्साहित करना।

• ***राष्ट्रीय विज्ञान अकादमी,*** इलाहाबाद की स्थापना वर्ष 1931 में की गई। अनुसंधान कार्य से सम्बद्ध सामग्रियों का प्रकाशन तथा विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी

से सम्बद्ध विभिन्न कार्यों को प्रोत्साहन देने के लिए एक राष्ट्रीय माध्यम के रूप में कार्य करना।

• ***भारतीय विज्ञान अकादमी,*** बंगलुरू का उद्देश्य दैनिक प्रकाशन करना, सेमिनार का आयोजन करना और वैज्ञानिक योग्यता की पहचान कर उसे पुरस्कार प्रदान करना।

• ***भारतीय राष्ट्रीय अभियांत्रिकी अकादमी,*** नई दिल्ली इंजीनियरों की संगोष्ठी का आयोजन करता है तथा युवा इंजीनियरों द्वारा उत्तम डिजाइनों के निर्माण किए जाने पर उन्हें पुरस्कार प्रदान करता है।

• ***भारतीय विज्ञान कांग्रेस संगठन,*** कोलकाता की वार्षिक विज्ञान कांग्रेस जो वैज्ञानिक शोध प्रस्तुत करती है, उसे संभालने का कार्य करती है।

वैज्ञानिक सेवाएंः विज्ञान एवं प्रौद्योगिक विभाग निम्नलिखित वैज्ञानिक सेवाएं प्रदान करता है।

• ***भारतीय सर्वेक्षण विभाग,*** देहरादून भारत में विकास कार्यों एवं रक्षा आवश्यकताओं के अनुरूप विविध प्रकार के राष्ट्रीय मानचित्र निर्मित करता है। इसके द्वारा सिंचाई, विद्युत, संचार, बाढ़-नियंत्रण, जलापूर्ति, वानिकी, कोयला आदि विकास परियोजनाओं के लिए भूमि के अनेक प्रकार के सर्वेक्षण किए गए हैं। (यह एक राष्ट्रीय एजेंसी है जिस पर भौगोलिक नामों के मानकीकरण का उत्तरदायित्व है। विमान द्वारा सम्पूर्ण देश का चित्र लेना भी इसी विभाग से संबंधित कार्य है।)

• ***नेशनल एटलस एंड थिमेटिक मैपिंग ऑर्गेनाइजेशन*** (एनएटीएमओ) थिमेटिक मानचित्र तैयार करने के क्षेत्र में अग्रणी संगठन है। यह भारत की राष्ट्रीय एटलस और पर्यावरणीय एवं सम्बद्ध पहलुओं तथा सामाजिक और आर्थिक विकास पर उनके प्रभाव पर शोध अध्ययन पर आधारित थिमेटिक मानचित्रों का संकलन करता है।

महत्वपूर्ण पहलें

शिक्षाविदों ने भारत में चिंता के प्रमुख क्षेत्रों की पहचान की और कुछ विशेष प्रकार के कदम उठाकर इनका समाधान प्रस्तुत किया।

शिक्षा में सूचना-प्रौद्योगिकी (आईटी) का समावेशः प्रगति एवं विकास में सूचना प्रौद्योगिकी की एक उपकरण के तौर पर भूमिका को व्यापक रूप से

स्वीकार किया गया है। शिक्षण में आईटी उपकरणों के प्रयोग ने अधिगम प्रक्रिया को महत्वपूर्ण रूप से सरल एवं वहनीय बना दिया है। भारत जैसे बड़े एवं विकासशील देश के लिए दूरवर्ती शिक्षा (डिस्टेंस लर्निंग) जैसी प्रौद्योगिकी के प्रयोग को बड़े स्तर पर अपनाने की आवश्यकता है जिससे सीमित शैक्षिक सामग्री और संसाधनों की समस्या का समाधान हो सके। आईआईटी, आईआईएससी, इग्नू, नेशनल काउंसिल फॉर साइंस एंड टेक्नोलॉजी (एनसीएसटी) और बिरला इंस्टीट्यूट ऑफ साइंस एण्ड टेक्नोलॉजी (बीआईटीएस), पिलानी जैसे अग्रणी संस्थानों के साथ आईटी आधारित सामान्य शिक्षा एवं आईटी शिक्षा दोनों की अभिवृद्धि के दीर्घावधिक उद्देश्य के साथ बड़ी संख्या में प्रोजेक्ट प्रायोजित किए गए हैं। इग्नू में आईटी से सम्बद्ध कई सारे कोर्स हैं और इस संस्कृति को आगे बढ़ाया जा रहा है। राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद् (एनसीईआरटी) ने एक राष्ट्रीय कम्प्यूटर-आधारित शिक्षा केंद्र की स्थापना की है ताकि शिक्षकों के प्रशिक्षण एवं विकास को प्रोत्साहित किया जा सके।

पीपुल्स साइंस मूवमेंट के माध्यम से शिक्षाः कुछ दशक पूर्व पीपुल्स साइंस मूवमेंट (पीएसएम) पर विचार किया गया और इसके द्वारा शिक्षा प्रदान करने का एक महत्वपूर्ण कदम उठाया गया। पीएसएम की भूमिका न केवल विज्ञान के संचार एवं सरलीकरण तक सीमित थी अपितु विज्ञान-सम्बद्ध गतिविधियों के प्रत्येक पहलू पर प्रश्न करना भी है, विशेष रूप से जहां विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी का मुद्दा संलग्न हो और लोगों की सहभागिता से जहां कहीं भी आवश्यक हो हस्तक्षेप करना है।

होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम का विकास पीएसएम का परिणाम था। शिक्षा की प्रक्रिया में विद्यार्थियों की सक्रिय सहभागिता इस प्रयास की एक अद्वितीय विशेषता थी। यद्यपि इसने शिक्षा की परम्परागत पद्धति से विचलन में एक महत्वपूर्ण भूमिका दर्ज की और प्रभावी साबित हुआ, तथापि यह अभी तक औपचारिक पद्धति में तब्दील नहीं हो पाया। पीएसएम तेजी से बढ़ा और पूरे देश में फैल गया और *भारत ज्ञान विज्ञान जत्था* के नाम से जनआंदोलन का नेतृत्व किया एवं समाज में विज्ञान एवं वैज्ञानिक प्रवृत्ति के अवशोषण के लिए आवश्यक सामाजिक माहौल तैयार करने में उल्लेखनीय रूप से मदद की।

एक्सप्लोरेटरीः पुणे में कुछ समर्पित शिक्षाविदों द्वारा एक अद्वितीय संस्था एक्सप्लोरेटरी का विकास किया गया। एक्सप्लोरेटरी न तो एक स्कूल या कॉलेज

लेबोरेट्री है और न ही एक संग्रहालय है, लेकिन यह एक ऐसा स्थान है जहां स्कूल एवं कॉलेज के बच्चे प्रयोग एवं अनुप्रयोग, खोज एवं नवोन्मेष, एवं अभिकल्पन तथा निर्माण कर सकते हैं। एक्सप्लोरेटरी में कोई शिक्षक नहीं होता है, लेकिन अत्यधिक अनुभवी मार्ग दर्शक होते हैं। इसका उद्देश्य विज्ञान की प्रक्रिया में भागीदारी द्वारा बच्चों को विज्ञान सीखने में सक्षम बनाना। एक्सप्लोरेटरी उत्सुक एवं सावधानीपूर्वक प्रेक्षण को प्रोत्साहित करती है, उत्सुकता को बढ़ाती है, प्रश्न पूछने के लिए बच्चों को प्रोत्साहित करती है, उत्तरों को प्रश्नगत करने और सामान्यीकरण और खोज करने में उन्हें सक्षम बनाती है।

यद्यपि विज्ञान शिक्षा की औपचारिक पद्धति ने अभी तक विज्ञान अधिगम की एक्सप्लोरेटरी पद्धति को नहीं अपनाया है, फिर भी पूरे देश में एक्सप्लोरेटरीज की स्थापना की जानी चाहिए।

नवोदय विद्यालयः नवोदय विद्यालय वर्ष 1986 में भूतपूर्व प्रधानमंत्री राजीव गांधी द्वारा शुरू किया गया था। इस योजना का लक्ष्य ग्रामीण क्षेत्रों में सुव्यवस्थित एवं उच्च कौशल प्राप्त शिक्षकों वाले विद्यालय की स्थापना करना था। कुशाग्र एवं प्रतिभाशाली बच्चों को अच्छी गुणवत्ता की विज्ञान शिक्षा मुहैया कराने के लिए प्रत्येक जिले में कम से कम एक विद्यालय खोलना। इन नवोदय विद्यालयों ने क्षेत्र के दूसरे विद्यालयों के लिए भी संसाधन केंद्र और गति निर्धारक के तौर पर भी सेवा प्रदान की। आज इसका उद्देश्य उत्कृष्टता को बढ़ावा देना और असमानताओं को दूर करना भी है।

अंडर ग्रेजुएट विज्ञान शिक्षा पुनर्गठन प्रस्तावः राष्ट्रीय योजना आयोग ने स्नातक के अंतर्गत विज्ञान शिक्षा के पुनर्गठन के सुझाव के लिए एक समिति का गठन किया था। समिति ने स्नातक के स्तर पर विज्ञान शिक्षा के पुनर्शक्तीकरण को लेकर त्रिस्तरीय उपागम की अनुशंसा की। यद्यपि अनुशंसाओं को समूचे वैज्ञानिक समुदाय ने हतोत्साहित किया जिससे ये अभी तक औपचारिक पद्धति का अंग नहीं बन सके।

उत्कृष्टता बढ़ाने में यूजीसी के प्रयासः उत्कृष्टता में अभिवृद्धि करने के लिए यूजीसी ने बड़ी संख्या में कार्यक्रम निर्धारित किए हैं

- स्वायत्त कॉलेज
- संकाय सुधार कार्यक्रम
- अकादमिक स्टाफ कॉलेज

- उच्च शिक्षा केंद्र
- पाठ्यक्रम विकास कार्यक्रम
- कैरियर विकास कार्यक्रम
- विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी की अवसंरचना को मजबूत करने में सहायता
- क्षमता के साथ विश्वविद्यालयों की पहचान और उन्हें वैश्विक स्तर का बनाने में मदद करना।

अंतर-विश्वविद्यालय केंद्रः उत्कृष्टता वर्द्धन की दिशा में यूजीसी द्वारा किया गया एक महत्वपूर्ण कार्य था अंतर-विश्वविद्यालय केंद्रों की स्थापना करना जो आधुनिक अनुप्रयोगात्मक सुविधाओं से सुसज्जित थीं। इस दिशा में न्यूक्लियर साइंस सेंटर, दिल्ली; इंटर-यूनिवर्सिटी सेंटर फॉर एस्ट्रोनॉमी एंड एस्ट्रोफिजिक्स, पुणे; इंटर-यूनिवर्सिटी कंर्सोटियम फॉर द डिपार्टमेंट ऑफ एटोमिक एनर्जी महत्वपूर्ण हैं, जो बेहद उपयोगी सिद्ध हुए हैं।

विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी उन्नत केंद्रः कुछ वरिष्ठ वैज्ञानिकों एवं उद्यमियों ने एडवांस्ड सेंटर फॉर साइंस एंड टेक्नोलॉजी (एसीएसटी) की स्थापना का प्रस्ताव रखा। ये संयुक्त विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी शिक्षा एवं अनुसंधान केंद्र हैं। इसने शिक्षा एवं अनुसंधान, विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी, विशुद्ध एवं औद्योगिक अनुसंधान को समन्वित करने का प्रयास किया। ये केंद्र 5 वर्षीय समन्वित एमएससी या एम.टेक. डिग्री कोर्स प्रदान करेंगे। यूजीसी ने दसवीं पंचवर्षीय योजना में एसीएसटी के गठन का प्रस्ताव शामिल किया था।

इस प्रकार स्वातंत्र्योत्तर काल में भारत में विज्ञान शिक्षा के प्रसार के लिए अत्यधिक संगठनात्मक एवं अनौपचारिक प्रयास किए। इसके परिणामस्वरूप आज भारत का विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी में एक सराहनीय स्थान है।

प्रसिद्ध भारतीय वैज्ञानिक

अश्विनी कुमारः वैदिक काल से ही भारत चिकित्सा सहित अनेक क्षेत्रों में उन्नति कर चुका था। वैदिक काल में भारत में दो महान चिकित्सक अश्विनी कुमार बन्धु प्रसिद्ध थे। औषधि विज्ञान, शल्य-चिकित्सा तथा विशुद्ध आयुर्वेद के विशेषज्ञ के रूप में इन कुमार बंधुओं का वर्णन ऋग्वेद व पुराणों में भी मिलता है। उल्लेखनीय है कि, जड़ी-बूटियों द्वारा निर्मित च्यवनप्राश का सृजन इन जुड़वां भाइयों द्वारा ही किया गया था।

अरदासीर कर्सूटजी (1808-1877): इन्होंने वर्ष 1841 में बम्बई में गैस स्ट्रीट लाइट से लोगों को परिचित करवाया था। ये प्रथम भारतीय थे, जिन्हें रॉयल सोसायटी की फेलोशिप के लिए चुना गया था।

अवतार सिंह पेंटल (1925): रॉयल सोसायटी के फेलो, जिन्होंने फेफड़ों में स्थित J-अभिग्राही की खोज की। इनकी महत्वपूर्ण उपलब्धि फेफड़ों और हृदय से संबंधित बीमारियों और उच्च-स्तर पर समस्याओं के इलाज और अध्ययन में सहायता प्रदान करना है।

आनन्द चक्रवर्ती (1938 ई.): भारत में जन्मे इस अमेरिकी वैज्ञानिक ने एक 'सुपरबग' बैक्टीरिया-'सुडोमोनास' का विकास किया है, जिसे प्रथम जैव पेटेण्ट के रूप में निबन्धित किया गया है।

आर्यभट्ट (476-550): प्राचीन भारत के प्रसिद्ध गणितज्ञ, जिनकी रचना 'आर्यभट्टीय' कहलाती है। इन्होंने गणित एवं खगोल में कई युगान्तकारी स्थापनाएं दीं। सबसे पहले तो इन्होंने ये बताया कि पृथ्वी अपने अक्ष पर घूमती हुई सूर्य की परिक्रमा करती है। उन्होंने π (पाई) का सटीक मान भी दिया- 3.1416। उन्होंने वर्गमूल निकालने की विधि एवं कई त्रिकोणमितीय निष्पत्तियां भी दीं।

आशीष प्रसाद मित्र (1927): प्रसिद्ध भौतिक विज्ञानी, जिनका योगदान व्यक्तिगत रूप से आयनमण्डल से सम्बद्ध, समताप मंडल-मध्य ताप मंडल (जोड़ों) और ग्लोबल वार्मिंग के क्षेत्र में रहा।

डॉ. आत्माराम (1908-1985): डॉ. आत्माराम का जन्म उत्तर प्रदेश के बिजनौर जिले के पिलाना गांव में 12 अक्टूबर, 1908 को हुआ।

डॉ. आत्माराम डी.एस.सी.एफ.एस.जी.टी. (ऑनरेरी), एक आई.सी.एन. आई, अंतरराष्ट्रीय ख्याति प्राप्त वैज्ञानिक थे जिन्होंने कांच और सिरेमिक क्षेत्रों में अत्यंत महत्वपूर्ण वैज्ञानिक अनुसंधान किए। उन्होंने केनिल कांच, सिलेनियम मुक्त लाल कांच जैसे पदार्थ बनाने की विधि विकसित की है, जिनसे देश में अनेक नए उद्योग स्थापित हुए। उनके नेतृत्व में कांच और सिरेमिक अनुसंधान संस्थान ने देश में ही उपलब्ध पदार्थों से ऑप्टीकल कांच बनाने की विधि विकसित की और अब यह संस्थान देश की संपूर्ण ऑप्टीकल कांच की मांग पूरी करता है। इनका निधन 1985 में हुआ।

अयोध्यानाथ खोसला (1892): इनका प्रमुख कार्य जल दबाव को गणितीय सिद्धांत पर क्रियान्वित कर द्रव चालित को भी शामिल कर उस आधार पर बांध और वीयर का विवेकपूर्ण ढंग से डिजाइन करना था। गणितीय निपुणता के इनके परिणाम के रूप में, इन्होंने वर्षा घटना और सतह या सतही जल के

बह जाने और जलाशय के गाद दर के लिए एक फार्मूले की स्थापना की। 1955 में इन्हें पद्म विभूषण से सम्मानित किया गया। ये सिंचाई और जल-निकासी पर आधारित अन्तरराष्ट्रीय आयोग के संस्थापक और अध्यक्ष थे।

कणाद (6ठी सदी पू.): कस्यप एवं उलूक नाम से भी प्रसिद्ध कणाद अणु-सिद्धांत के प्रवर्तक थे। इन्होंने अपने 'वैशेषिक' सूत्रों में ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति के जो आणविक सिद्धांत दिए हैं, वे आधुनिक विकासवादी सिद्धान्त से आश्चर्यजनक रूप से साम्य रखते हैं।

कपिल (550 ई. पू.): ये 'सांख्य' दर्शन के प्रतिपादक थे। ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति के सम्बन्ध में इन्होंने कई सिद्धान्त दिए हैं। 'तमस' व 'रजस्' एवं 'सत्व' गुणों का प्रतिपादन भी सर्वप्रथम इन्होंने ही किया।

कैंडी जॉर्ज सुदर्शन: भारत में जन्मे इस संयुक्त राज्य अमेरिका के भौतिक विज्ञानी ने हमारे समक्ष मनोग्रन्थि से सम्बद्ध कई समस्याओं का समाधान तथा कई सिद्धान्तों को प्रस्तुत किया। यह प्रथम वैज्ञानिक थे, जिन्होंने आधार तत्व के रूप में टैकिऑन्स की धारणा को 1969 ई. में विस्तृतता प्रदान की। वह बंगलौर शहर स्थित कण-सिद्धान्त केन्द्र के संस्थापक और निदेशक थे।

डॉ. गणेश प्रसाद (1876-1935): इनका सबसे महान एवं महत्वपूर्ण कार्य आगरा विश्वविद्यालय की स्थापना और उसका विकास करना था। इन्होंने गणित संबंधी अपनी भौतिक अण्वेषणाएं अपने छात्र जीवन से ही शुरू कर दी थीं। उन्होंने कई शोधपूर्ण लेख लिखे। उनका प्रथम शोधपत्र ''दैर्ध्य फलों और गोलीय हरात्मक'' (एलिप्टिक फंक्शंस एंड स्केरिकल हार्मोनिक्स) शीर्षक से 'मैसेंजर ऑफ मैथमैटिक्स' नामक पत्रिका में प्रकाशित हुआ, तो संपूर्ण विश्व में तहलका मच गया। इस लेख में उन्होंने कई प्रख्यात विद्वानों की भूलों और त्रुटियों को शुद्ध किया और उनको सिद्ध किया।

डॉ. गणेश प्रसाद वर्ष 1932 में भारतीय विज्ञान कांग्रेस और गणित, भौतिक विज्ञान सम्मेलन के अध्यक्ष निर्वाचित किए गए। शोधपूर्ण लेखों के अतिरिक्त उन्होंने 11 उच्च कोटि की भौतिकी विषय पर पुस्तकें लिखीं, जिनमें से कई भारत में ही नहीं, अपितु विदेशों में भी उच्च कक्षाओं में पाठ्य पुस्तकों के रूप में पढ़ाई जाती हैं। कैंब्रिज विश्वविद्यालय से डिग्री प्राप्त कर डॉ. गणेश प्रसाद ने जर्मनी के गार्टजन नगर के विद्यापीठ में हिलवर्ट और जेमरफील्ड जैसे गणिताचार्य के

साथ गणित का परिशीलन किया। 9 मार्च, 1935 को उनका देहावसान मस्तिष्क पक्षाघात से हो गया।

गोविंद स्वरूप (1929): प्रसिद्ध सौर एवं रेडियो खगोल-विज्ञानी, जिन्होंने ऊटकमंड में रेडियो टेलिस्कोप के उत्पादन और डिजाइन बनाने में खगोल भौतिकी के अनुशासन को शामिल कर महत्वपूर्ण उपलब्धियां प्राप्त की हैं।

गोपालसमुद्रम नारायण रामचंद्रन (1922): इन्हें आण्विक जीव-भौतिक का पिता भी कहा जाता है, क्योंकि ये ही इनके संस्थापक थे।

चरकः 200-100 ईसा पूर्व प्रसिद्ध चिकित्साशास्त्री थे, जिन्होंने आयुर्वेदिक दवाओं के निर्माण में कई उपलब्धियाँ हासिल कीं। इनके द्वारा चिकित्साशास्त्र पर रचित 'चरक संहिता' एक मान्य पुस्तक है। उन्होंने शरीर में तीन मुख्य तत्व माने वायु, पित्त एवं कफ इनमें असंतुलन को दूर करना ही आयुर्वेद का लक्ष्य बताया गया।

चन्द्रशेखर वेंकट रमन (1888-1970 ई.): रमन-प्रभाव के लिए 1930 में भौतिकी का 'नोबेल पुरस्कार' प्राप्त विश्व प्रसिद्ध वैज्ञानिक सी. वेंकट रमन द्वारा 'रमन-प्रभाव' 28 फरवरी को आविष्कृत हुआ था, जिसके महत्व को देखते हुए प्रतिवर्ष 28 फरवरी को 'राष्ट्रीय विज्ञान दिवस' मनाया जाता है। 1954 में उन्हें 'भारत रत्न' सम्मान से भी विभूषित किया गया।

जयन्त विष्णु नार्लीकर (1938 ई.): 'व्हाइट होल' के ऊर्जा स्रोत पर इनका अनुसंधान विश्व स्तर पर सराहा गया। गुरुत्वाकर्षण सिद्धान्त पर सर फ्रेड होयले के साथ मिलकर इन्होंने उल्लेखनीय कार्य किए हैं।

डी.आर. कापरेकर (1905): वर्ष 1976 में गणितज्ञ डी.आर. कापरेकर ने 'कापरेकर नियतांक' की खोज की, जो संख्या 6174 को निर्दिष्ट करता है।

डी.एस.कोठारी (1906): इनका मुख्य योगदान खगोल भौतिकी के क्षेत्र में रहा। दाब-आयनीकरण का इनका सिद्धांत, जो विस्फोटक भार के भारी दबाव के नीचे धातु के व्यवहार और अध्ययन में प्रयुक्त होता है अत्यंत महत्वपूर्ण माना जाता है। इन्हें 1962 में पद्मभूषण प्रदान किया गया।

डॉ. दाराशा नौशेरवां वाड़िया (1883): डॉ. वाड़िया का जन्म 23 अक्टूबर 1883 को गुजरात राज्य के सूरत नगर में हुआ था। इन्होंने बंबई विश्वविद्यालय से बी.एस.सी. तथा एम.ए. की उपाधियां प्राप्त कीं। वर्ष 1907 में इन्हें जम्मू के प्रिंस ऑफ वेल्स कॉलेज में भूगर्भ का प्राध्यापक नियुक्त किया गया। वर्ष

1921 में 38 वर्ष की आयु में इन्होंने भारतीय भूतात्विक सर्वेक्षण विभाग अर्थात् तत्कालीन जियोलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया में कार्य प्रारंभ किया और इस विभाग में विभिन्न पदों पर कार्य किया।

भूगर्भ विज्ञान को डॉ. वाड़िया की देन अत्यंत महत्वपूर्ण है। इस क्षेत्र में इनके महत्वपूर्ण कार्यों में सर्वप्रथम कार्य पंजाब की पीर पंजाल पर्वत की बनावट पर मौलिक विचार थे, जिन्हें इन्होंने सर्वेक्षण द्वारा प्रमाणित किया। डॉ. वाड़िया ने पंजाब के भूगर्भ तथा हिमालय के उद्भव व उत्थान पर वृहत कार्य किया व प्रमाणित किया कि हिमालय पर्वत श्रेणी में असम से दक्षिण की ओर, तीव्र मोड़ का कारण टेथीस सागर से निकला पंजाब का निचला भाग है जो हिमालय पर्वत को दक्षिण पश्चिम की ओर मोड़ने में निर्णायक था। डॉ. वाड़िया ने यह कार्य 26,920 फीट ऊंटे नंगा पर्वत 'दियामीर परियों के स्थान' की शिलाओं का अध्ययन हिम नदों से प्राप्त कंकड़ों द्वारा किया एवं उनकी स्तरीयता बतलाई।

डॉ. दिलबाग सिंह अठवालः डॉ. सिंह पादप प्रजनन के क्षेत्र में विशेष कार्य के लिए प्रसिद्ध हैं। कुछ समय पूर्व उन्होंने बाजरे की एक ऐसी संकर किस्म विकसित की है जिससे बाजरे का उत्पादन दुगुना हो सकता है।

धन्वंतरिः भारत में धन्वंतरि आयुर्वेदिक विज्ञान के देवता माने जाते हैं। उन्होंने चिकित्सा के क्षेत्र में अकाल्पनिक शोध किए और सफलता प्राप्त की। उन्होंने स्वास्थ्यरक्षक एवं आयुवर्द्धक द्रव्यों पर शोध किया और 'स्वभाव' व्याधि प्रतिवेधनीय रसायनों सहित अनेक रसायनों का आविष्कार किया जो स्वाभाविक व्याधियों अर्थात् जरा, मृत्यु को दूर करने वाले तथा आयुवर्द्धक थे। अमृत का प्रयोग धन्वंतरि का सर्वश्रेष्ठ आविष्कार था।

श्रीनिवास आयंगर रामानुजम (1887-1920): रामानुजम एक प्रसिद्ध गणितज्ञ थे जिन्होंने संख्याओं के सिद्धांत पर कार्य किया। रामानुजम ने π (पाई) के सन्निकट मान के कई सूत्रों की खोज की व विश्लेषक पद्धति का आविष्कार किया। इन्हें मद्रास विश्वविद्यालय द्वारा विशेष स्कॉलरशिप प्रदान की गयी तथा ट्रिनिटी कॉलेज (कैम्ब्रिज) ने गणित में निपुणता और अनुसंधान कार्य विकास में सहायता के लिए इन्हें अनुदान भी प्रदान किया।

नील रतन धर (1892-1986): इन्होंने प्रकाश द्वारा प्रभावित नाइट्रोजन निर्धारकों का और मिट्टी में नाइट्रोजन-फॉस्फोरस के मध्य सम्बन्धों के विषय पर गहनतापूर्वक अध्ययन व शोध किया।

पंचानन महेश्वरी (1904-1966): इन्होंने खिलने वाले पौधों के भ्रूण विज्ञान के क्षेत्र में अनुसंधान कार्य किया। 'ए डिक्शनरी ऑफ इकोनॉमिक प्लान्ट्स इन इंडिया' का संकलन भी महेश्वरी जी ने किया। इनके कार्य संचालन से प्रभावित होकर ही इन्हें रॉयल सोसायटी की फेलोशिप प्रदान की गयी।

प्रशान्तचन्द्र महालानोबिस (1893-1972 ई.): प्रसिद्ध सांख्यिकीविद्, जिन्होंने भारतीय सांख्यिकी संस्थान (आई.एस.आई.) की स्थापना की। भारत में पंचवर्षीय योजनाओं का प्रारूप इन्होंने ही तैयार किया था। 1945 में ये रॉयल सोसाइटी के फेलो बने।

प्रफुल्ल चन्द्र राय (1861-1944 ई.): 'बंगाल केमिकल एण्ड फार्मास्युटिकल वर्क्स लिमिटेड' के संस्थापक प्रफुल्ल चंद्र राय ने जिंक, कैडमियम एवं मरक्युरिक आयोडाइड के मिश्रण के मानों का विश्लेषण किया और मरक्यूरस नाइट्राइट का पृथक्करण भी किया।

ब्रह्मगुप्त (598-665): उज्जैन के प्रसिद्ध गणितज्ञ एवं खगोलवेत्ता ब्रह्मगुप्त ने विश्व को निषेधात्मक संख्याएं दीं और पहली बार ज्योतिष में बीजगणित का प्रयोग किया। उन्होंने 'ब्रह्मस्फुट सिद्धान्त' की रचना भी की।

बुलीमुरी रामालिंगास्वामी (1921): इन्होंने बीमारियों की संख्या की विशालता को रोकने और इनके अध्ययन के क्षेत्र में योगदान दिया। इन्होंने ही बढ़ते बच्चे में प्रोटीन की कमी के कारण कुपोषण के होने को व्याख्यायित किया। घेंघा रोग से बचने के लिए आयोडीन युक्त नमक खाने की सलाह दी तथा एनीमिया के होने में उन्होंने लौह-तत्व की कमी को कारक बताया, जिसके सेवन से इस रोग से बचाव किया जा सकता है।

बीरबल साहनी (1891-1949): प्रसिद्ध वनस्पतिज्ञ, इन्होंने अपने विस्तृत कार्य क्षेत्र के अंतर्गत कुछ फर्न्स (पर्णांगों) की सजातीयता और इसकी संरचना पर निर्णायक खोज की। इन्होंने अध्ययन विशेष रूप से जैव-पौध के संबंध में किया। इसके अन्तर्गत इन्होंने ऐसे कई पौधों की खोज की, जिनमें एक जीवाश्म के नये समूह 'जिम्नोस्पर्म' भी शामिल हैं।

बेंजामिन पियरे पाल (1906-1989): यह भारतीय कृषि अनुसंधान संस्थान के प्रथम निदेशक थे। इन्हें गेहूं की विभिन्न प्रतिरोधक प्रजातियां विकसित करने के लिए मुख्य रूप से जाना जाता है। इन्हें रॉयल सोसायटी की फेलोशिप से सम्मानित किया गया था।

भास्कर (1114-1185 ई.): भास्कर विश्व के ऐसे पहले गणितज्ञ लेखक थे, जिन्होंने अपनी गणित की पुस्तक में दशमलव अंकों का प्रयोग किया। उन्होंने 'जोड़' एवं 'घटाव' के चिह्न दिए। उन्होंने ही बताया कि किसी भी संख्या में शून्य से भाग देने पर मान 'अनन्त' आएगा। 'सिद्धांत शिरोमणि' उनकी प्रसिद्ध गणितीय रचना है।

मेघनाद साहा (1893-1956 ई.): भौतिकी के विश्व प्रसिद्ध विद्वान। मात्र 30 वर्ष की आयु में इलाहाबाद विश्वविद्यालय में प्रोफेसर के पद पर नियुक्त। गैस के गतिज सिद्धान्त एवं थर्मोडायनेमिक्स में इनके अनुसंधान महत्वपूर्ण हैं।

महेन्द्रलाल सरकार (1833-1904 ई.): भारत में वैज्ञानिक अनुसंधान के क्षेत्र में पहली संस्था स्थापित करने का श्रेय इन्हें ही है। 1876 में इन्होंने 'इण्डियन एसोसिएशन फॉर द कल्टीवेशन ऑफ साइंस' की स्थापना की थी।

मनमोहन शर्मा (1937): एक प्रसिद्ध अभियंता, जिन्होंने गैस और द्रव के चरित्र को उजागर किया। इन्होंने द्रव तथा द्रव के प्रकार की प्रतिक्रिया को मिसेलर केटलिसिस और फेज ट्रांसफर में ग्रहण करने की क्षमता का प्रदर्शन भी किया।

मोनकोम्बु एस. स्वामीनाथन (1925): प्रसिद्ध कृषि विज्ञानी, जिन्होंने कृषि उत्पादन में वृद्धि के लिए नयी तकनीक से लोगों को परिचित करवाया। भारत में प्रथम हरित क्रांति की घोषणा स्वामीनाथन ने ही की थी। इन्होंने चावल, गेहूं, जूट और आलू के उच्च उत्पादन वाले किस्मों का उत्पादन भी किया। इन्हें 1982-88 तक फिलीपीन्स में अन्तरराष्ट्रीय चावल अनुसंधान संस्थान का डायरेक्टर जनरल बनाया गया।

मोक्षगुंडम विश्वेश्वरैया (1861-1962 ई.): वह सिंचाई एवं जल-प्रबन्ध की तकनीकों के अनुसंधान के लिए विश्वविख्यात थे। कृष्णासागर बाँध के निर्माण में और 'हिन्दुस्तान एरोनॉटिक्स लिमिटेड' की स्थापना में उनकी महत्वपूर्ण भूमिका थी। उन्हें 'भारत रत्न' से भी सम्मानित किया गया।

डॉ. रास बिहारी अरोड़ा: डॉ. रास बिहारी अरोड़ा 1965 में हमदर्द राष्ट्रीय संस्थान से पुरस्कार प्राप्त करने वाले सर्वप्रथम वैज्ञानिक हैं। डॉ. रास बिहारी अरोड़ा को यह पुरस्कार नारडोस्टैकीज जटामंसी आदि कतिपय पूर्वी औषधि पौधों की हृद-वाहिका के विशिष्ट योगदान के फलस्वरूप प्रदान किया गया है।

विक्रम अम्बालाल साराभाई (1919-1991 ई.): भारतीय अंतरिक्ष अनुसंधान के पुरोधा वैज्ञानिक। इन्होंने 'अंतरिक्ष विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी केन्द्र' और 'प्रायोगिक पृथ्वी उपग्रह-संचार केन्द्र' की स्थापना की। विक्रम साराभाई 'रॉयल सोसाइटी' के फेलो भी बनाए गए थे।

वराहमिहिरः उज्जैन के प्रसिद्ध प्राचीन भारतीय ज्योतिषी एवं गणितज्ञ। उन्होंने भारतीय एवं पाश्चात्य खगोल विद्याओं के विश्लेषण के आधार पर 'पंचसिद्धान्तिका' की रचना की।

वसंत रामजी खानोल्कर (1895-1978): इनके कैंसर अनुसंधान कार्य पर इन्हें अन्तरर्राष्ट्रीय सम्मान से सम्मानित किया गया। ये प्रथम वैज्ञानिक थे, जिन्होंने इस बिन्दु पर लोगों का ध्यान केन्द्रित किया कि तंबाकू चबाने से भी कैंसर हो सकता है। कैंसर के आकस्मिक कारकों की खोज के क्रम में इन्होंने विश्व की विविध प्रजातियों के ब्लड ग्रुप के विषय में भी विशेष अध्ययन कर लोगों को इसकी जानकारी प्रदान की। इन्होंने ही मुम्बई स्थित कैंसर अनुसंधान संस्थान की स्थापना की।

वासुदेव विष्णु नार्लीकर (1908-1991): प्रसिद्ध गणितज्ञ, जिनका योगदान ब्रह्माण्ड विज्ञान और एडिंग्टन के मूल सिद्धांत तथा बोड के नियम के सामान्यानुमान के संबंधों को शामिल कर उनके आधार पर सबसे बड़े आण्विक संख्या की खोज के क्षेत्र में रहा है।

शंकर पुरुषोत्तम आगरकर (1884-1960): पुणे में स्थित 'महाराष्ट्र एसोसिएशन फॉर कल्टिवेशन ऑफ साइंस' के संस्थापक निदेशक। ये प्रख्यात वनस्पति विज्ञानी थे और इन्होंने पपीते एवं केले पर महत्वपूर्ण अनुसंधान किए।

शान्ति स्वरूप भटनागर (1894-1955 ई.): इन्होंने चुम्बकीय प्रभावों पर महत्वपूर्ण अनुसंधान किए। 'कॉउन्सिल ऑफ साइंटिफिक एंड इंडस्ट्रियल रिसर्ज' की स्थापना में इनकी निर्णायक भूमिका थी और इसलिए ये ही इसके पहले निदेशक भी बनाए गए।

जगदीशचन्द्र बोस (1858-1937 ई.): प्रसिद्ध भौतिकी विज्ञानी, जिन्होंने मारकोनी से भी पहले बेतार-प्रणाली का प्रदर्शन किया था। उन्होंने वनस्पतियों की संवेदनशीलता पर अनेक आश्चर्यजनक प्रदर्शन किए। उन्होंने 'बोस इंस्टीच्यूट' की स्थापना भी की।

शंभूनाथ डे (1915-1985 ई.): हैजे की बीमारी पर अनुसंधान करने वाले प्रसिद्ध वैज्ञानिक। इन्होंने हैजा फैलाने वाले कारणों का अध्ययन कर हैजे की प्रतिरोधी दवा भी विकसित की।

शिशिर कुमार मित्र (1890-1963): इन्होंने आयनमंडल के क्षेत्र में अनुसंधान किया और आयनमंडल में डी-लेयर की खोज की। इन्होंने ही 'सक्रिय नाइट्रोजन' का सिद्धांत प्रतिपादक कर रात्रि में भी प्रकाशमान आकाश की पहेली को सुलझाया। उनके द्वारा हरिंघाट (प. बंगाल) में 'आयनोस्फेयर फील्ड स्टेशन' की स्थापना की गयी, जो एक विलक्षण उपलब्धि है।

सत्येन्द्रनाथ बोस (1894-1974 ई.): क्वांटम-सिद्धांतों में अनुसंधान के लिए विश्व प्रसिद्ध। नील बोर एवं अल्बर्ट आइंस्टीन ने इनके अनुसंधानों का आधार लेकर कई सिद्धांत दिए। बोस एवं आइंस्टीन के संयुक्त शोध को 'बोस-आइंस्टीन-सांख्यिकी' कहते हैं। उनके सिद्धांतों द्वारा जिस तत्व की खोज की गई, उसे 'बोसोन' नाम दिया गया।

सुब्रह्मण्यम चन्द्रशेखर (1910-1995 ई.): भारत में जन्मे इस अमेरिकी वैज्ञानिक ने तारों के उद्भव, विकास व पतन पर अनेक उल्लेखनीय अनुसंधान किए। 1983 में इन्हें विलियम फाउलर के साथ भौतिकी का 'नोबेल पुरस्कार' संयुक्त रूप से प्रदान किया गया। एक तारे का जो अधिकतम द्रव्यमान हो सकता है, उसे 'चन्द्रशेखर द्रव्यमान' कहा जाता है।

सवाई जयसिंह (1686-1743 ई.): जयपुर के महाराज, जिन्होंने विश्व में पहली बार खगोलीय पर्यवेक्षणशालाओं की एक शृंखला स्थापित की। उन्होंने भारत में पाँच स्थानों पर 'जन्तर-मन्तर' नामक ऐसी पर्यवेक्षणशालाएँ बनाईं, जिनमें दो अभी भी सुरक्षित हैं। इनकी स्थापना का उद्देश्य खगोल को लोकप्रिय भी बनाना था। विश्व की सबसे बड़ी सौर घड़ी 'सम्राट यंत्र' भी जयपुर में जयसिंह ने बनवाई थी।

सुश्रुतः प्राचीन भारत के विख्यात शल्यचिकित्सक। प्लास्टिक सर्जरी, गुर्दा-चिकित्सा जैसे आधुनिक अनुसंधानों में भी उन्होंने हजारों वर्ष पहले उल्लेखनीय प्रयोग किए थे। उनकी पुस्तक 'सुश्रुत-संहिता' में शल्य क्रिया की अनगिनत तकनीकों और 101 औजारों का विवरण है।

सूरी भगवानाथन (1909): प्रसिद्ध भौतिकी विज्ञानी, जिन्होंने क्रिस्टल लैटिक वाइब्रेशन और गैसों में रमन प्रभाव के अध्ययन में योगदान दिया है।

इनका प्रमुख कार्य क्रिस्टल में फोटो-इलास्टिसिटी को समझना और उच्च गति की अल्ट्रासोनिक तरंगों पर प्रकाश डालना था।

आर.सी.बोस (1901): प्रसिद्ध गणितज्ञ और सांख्यिकी विज्ञानी। इन्होंने 18वीं शताब्दी के ख्याति प्राप्त गणितज्ञ यूलर के कथन को असत्य प्रमाणित कर संपूर्ण विश्व को आश्चर्यचकित कर दिया। यूलर के परिणाम को असत्य सिद्ध करने में इन्होंने दो गणितज्ञों के सहयोग से पूर्ण ग्रीको-लैटिन $6 \times 6 = 36$ सेल्स का स्क्वायर या 10, 4, इत्यादि के स्क्वायर को निर्धारित किया और साधारण रूप में पंक्ति की सभी सम संख्याओं का एक-एक करके और कॉलम जैसे असाध्य या कठिन साध्य का हल निर्धारित किया। आर.सी. बोस ने प्रमेय का भी खोज किया, जिसे बोस-ब्लास्ख के प्रमेय के नाम से जाना जाता है।

सी.के.एन. पटेल (1938): भारत में जन्मे अमेरिकी वैज्ञानिक पटेल ने फोटोनिक्स और लेजर तकनीक के कठिन अनुसंधान कार्य का संचालन किया। उन्हें कार्बन डाइऑक्साइड लेजर के खोजकर्ता के रूप में जाना जाता है।

होमी जहांगीर भाभा (1909-1966): भारत में परमाणु अनुसंधान के पुरोधा वैज्ञानिक। भारत में परमाणु ऊर्जा कार्यक्रम शुरू करने में उनकी सबसे महत्त्वपूर्ण भूमिका थी, इसलिए 'भारतीय परमाणु ऊर्जा आयोग' के पहले अध्यक्ष डॉ. भाभा ही बनाए गए। वे संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा आयोजित प्रथम 'परमाणु ऊर्जा के शान्ति पूर्ण प्रयोग' अधिवेशन के भी अध्यक्ष रहे थे। वे 'टाटा इंस्टीट्यूट ऑफ फंडामेंटल रिसर्च' के भी प्रथम निदेशक थे।

हरगोविन्द खुराना: भारतीय मूल के अमेरिकी वैज्ञानिक हरगोविन्द खुराना ने आनुवंशिकी में प्रोटीन-संश्लेषण पर अत्यन्त उल्लेखनीय अनुसंधान किए और 'आनुवंशिक कोड' की खोज की। 1968 में इन्हें अपने अमेरिकी सहकर्मियों के साथ चिकित्सा-विज्ञान का नोबेल पुरस्कार प्राप्त हुआ।

अध्याय-11

मीडिया एवं संस्कृति

सूचना एवं संस्कृतियों का उद्‌गम एवं प्रसार

संस्कृतियों का परिवर्तन और सांस्कृतिक विविधता का सृजन, प्रबंधन एवं समय के साथ विलुप्तीकरण होता है। सामाजिक अधिगम और सूचना एवं ज्ञान का चयन, प्राप्त करना, आत्मसात्करण और अस्वीकार सांस्कृतिक भण्डार के निर्माण का एक अपरिहार्य पहलू है। मानव संस्कृति हमारी प्रजातियों के व्यवहार की शैली का आवश्यक परिणाम है। अन्य चीजों के मध्य, हमारे पर्यावरण एवं मूल्यों के अवशोषण में विशेषज्ञता जो जीवन में महत्व रखता है और जो संस्कृति का निर्माण करता है। हम दूसरों को सांस्कृतिक सूचना हस्तांतरित करने में बेहद प्रवीण हैं, कभी-कभी स्पष्ट उपदेशों के माध्यम से, लेकिन मानव जीवन के निरंतर सामाजिक अंतर्क्रिया गुण के द्वारा भी यह किया जाता है। सामाजिक अंतर्क्रिया का अर्थ न केवल व्यक्ति से व्यक्ति का संपर्क नहीं है, अपितु, समकालीन विश्व में, ज्ञान एवं सूचना के एक सर्वोच्च स्रोत के तौर पर भी समग्र जनसंचार शामिल होता है। इसलिए सूचना का आदान-प्रदान एवं प्रसार संस्कृतियों के उद्‌गम एवं निर्माण की प्रक्रिया की रीढ़ है, और आधुनिक समय में मीडिया के विशाल नेटवर्क के माध्यम से इस महत्वपूर्ण सूचना का संप्रेषण एवं विनिमय होता है। इस नेटवर्क ने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अपना प्रभाव छोड़ा है; इसके अतिरिक्त इसमें बेहद उन्नत प्रौद्योगिकी का प्रयोग हो रहा है जिससे सूचना विनिमय एवं संचार की प्रक्रिया पहले से अधिक तीव्र एवं अधिक बेहतर हो गई है।

सांस्कृतिक विविधता सांस्कृतिक हस्तांतरण के दौरान विकसित होती है। यह तब होता है जब एक समान संस्कृति और उप-संस्कृति के सदस्य अपनी सूचना का एक बड़ा भाग आपस में बांटते हैं। सांस्कृतिक सूचना के बांटने से

मानव समूह प्रभावी रूप से अंतर्क्रिया एवं सहयोग करते हैं, इसलिए यह आवश्यक है कि कुछ प्रक्रियाएं विविधता को सीमित करें। यदि इस प्रकार की प्रक्रियाएं नहीं होंगी, तो मानव समाज कार्य नहीं कर पाएंगे जैसाकि वे करते हैं। भाषाएं एवं बोलियां सांस्कृतिक सूचना के आदान-प्रदान का एक आम उदाहरण है। जीन के प्रमाण यह प्रकट करते हैं कि सभी आधुनिक मानव किस प्रकार घनिष्ठ रूप से एक-दूसरे से जुड़े हैं। लोगों, समाजों और समुदायों में इस प्रकार की विविधता किस प्रकार आयी? आज हमें दिखाई देने वाली बेहद विविध संस्कृतियां किस प्रकार अस्तित्व में आईं? यह, कम-से-कम आंशिक रूप से, संचार एवं सूचना पारेषण का परिणाम था। ऐसे कई तत्व हैं जो लोगों की संस्कृति एवं सांस्कृतिक परिवर्तन सर्वोत्तम रूप में जनसंख्या स्तर में परिलक्षित होता है। प्रत्येक व्यक्ति उन्हें विरासत में मिलने वाली संस्कृति का कैदी होता है, लेकिन उनके निर्णय उनके ज्ञान एवं सूचना पर आधारित होते हैं।

लोगों की कुल जनसंख्या एवं एक समयावधि पश्चात् कुछ सांस्कृतिक रूप से विशेषण, व्यवहार, आस्था और मूल्यों के रूप में जनसंख्या में अधिक आम बन जाते हैं, कुछ कम महत्व के बन जाते हैं और कुछ पूरी तरह विलुप्त हो जाते हैं।

इस प्रकार, सांस्कृतिक उद्गम के सभी महत्वपूर्ण जनसंख्या स्तर की प्रकृति बहुत बड़ी संख्या में घटनाओं एवं निर्णयों वैयक्तिक एवं सामाजिक स्तरों पर के एकत्रण का परिणाम होती है। इसमें सूचनाओं एवं ज्ञान के इकट्ठा होने से अधिगम शामिल होता है।

जनसंचार एवं आधुनिक युग में उसकी भूमिका

इस तथ्य को समझते हुए कि हम एक अरब से अधिक लोगों के संबद्ध राष्ट्र के रूप में निरंतर विकसित हो रहे हैं, सरकार देश में सूचना के लोकतंत्रीकरण और एक बेजोड़ जनसूचना ढांचा कायम करने के प्रति वचनबद्ध है। यह ढांचा सूचना संचार प्रौद्योगिकी को उन्नत बनाएगा ताकि वर्तमान शासन और सेवा वितरण प्रतिमानों में क्रांति लाई जा सके। राष्ट्रीय ज्ञान नेटवर्क, जो विश्वविद्यालयों और अनुसंधान संस्थानों को जोड़ता है, और ग्रामीण ब्रॉडबैंड नेटवर्क जो पंचायतों को जोड़ता है, जैसे नेटवर्क विचारों को जोड़ने और ज्ञान के संप्रेषण के लिए

नए राजमार्गों के रूप में उभरेंगे। आधार और नेशनल जीआईएस जैसे उपायों से नीति आयोजना को अधिक सक्षम और प्रभावकारी बनाने में मदद मिलेगी और इस सूचना संचार प्रौद्योगिकी ढांचे पर निर्भर असंख्य अनुप्रयोगों से नागरिक वर्ग के विभिन्न स्तरों पर अप्रत्याशित नवीनता आएगी। इस नए ढांचे के सर्वव्यापक होने, लोगों और विचारों के बीच तीव्रतम ढंग से संबंध कायम होने से हम सूचना के लोकतंत्रीकरण के लिए अनिवार्य खुलेपन, पहुंच, पारदर्शिता, जवाबदेही और विकेंद्रीकरण की वर्तमान प्रक्रियाओं में एक पीढ़ीगत परिवर्तन महसूस करेंगे। सूचना का यह लोकतंत्रीकरण सत्ता की उन संरचनाओं को चुनौती देगा जो सूचना नियंत्रण की प्रस्तावना पर आधारित है ताकि उन्हें अधिक पारदर्शी और जवाबदेह समाज के नए प्रतिमान में परिवर्तित किया जा सके।

जनसंचार के प्रकार एवं कार्य

संभ्रांत समाज सूचना के प्रदायन हेतु जनसंचार पर निर्भर होते हैं। मार्शल मैकलुहान ने मीडिया को 'व्यक्ति का प्रसार एवं विस्तार' कहकर पुकारा। यह इस कारण कि, जैसाकि जी.एल. केप्स और बी.सी. थार्नटन ने संकेत किया, ''मीडिया लोगों के संप्रेषण, बोलने, संदेशों को सुनने की योग्यता का विस्तार करता है, और ऐसी आकृति दिखाना संभव बनाता है जो मीडिया के बिना अनुपलब्ध होगी''। समाज में विभिन्न प्रकार की सूचनाओं के पारेषण द्वारा जनसंचार जागरूकता सृजन, चर्चा एवं ज्ञानवर्द्धन करता है। यह सभी संस्कृतियों के उद्गम एवं समय के साथ उनके संरक्षण के लिए बेहद अनिवार्य है। प्रारंभिक समय में, जब जनसंचार आज की तरह मौजूद नहीं था, तब विभिन्न प्रकार के साधनों से, विशेष रूप से मौखिक संचार द्वारा, इसी प्रकार के उद्देश्य को पूरा किया जाता था। लेकिन वे माध्यम अनुप्रयोग में बेहद सीमित एवं उनका दायरा छोटा था। वह जनसंचार की तरह नहीं था। जब जनसंचार की भूमिका के बारे में बातचीत की जाती है, तो यह बात दिमाग में जन्म लेती है कि जनसंचार एकांत में प्रचालित नहीं होता। वे समाज में एवं समाज के लिए संचालित होता है; और प्रत्येक समाज की अपनी संस्कृति या, आधुनिक समय में तेजी से बढ़ रही है, बहुसंस्कृतियां होती हैं, जिनमें कई प्रकार की संस्कृतियां, प्रजातियां एवं चलन होते हैं। इसलिए जनसंचार पहले की अपेक्षा आज अधिक जटिल हो गया है।

जनसंचार दर्शकों पर अल्पावधिक, मध्यावधिक एवं दीर्घावधिक प्रभाव

डालने में सक्षम है। अल्पावधिक प्रभावों में दर्शकों के विचारों को उद्घाटित करना; जागरूकता एवं ज्ञानवर्द्धन करना; असामयिक या गलत ज्ञान को बदलना; और दर्शकों को विशेष विज्ञापनों या घोषणाओं, प्रोत्साहनों या कार्यक्रमों के लिए तैयार करना शामिल है। मध्यावधिक उद्देश्यों में उपरोक्त सभी के साथ-साथ सामाजिक मापदंडों की अवधारणाओं, दृष्टि एवं व्यवहारों में परिवर्तन करना भी शामिल है। अंततः दीर्घावधिक उद्देश्यों में उपरोक्त कार्यों के अतिरिक्त अपनाए गए सामाजिक मापदंडों की पुनर्संरचना पर ध्यान देना, और व्यवहार परिवर्तन का रख-रखाव करना शामिल है।

इन त्रिस्तरीय उद्देश्यों के प्रमाण जनसंचार के प्रभाविता के मूल्यांकन में उपयोगी होते हैं। इसलिए, जनसंचार संस्कृतियों के संरक्षण एवं विकास के संदर्भ में समाज में कुछ खास कार्यों का निष्पादन करता है।

मनोरंजन के एक साधन के तौर पर, जनसंचार, विशेष रूप से रेडियो एवं टेलिविजन, बेहद लोकप्रिय है। एक शैक्षिक उपकरण के तौर पर, मीडिया न केवल ज्ञान का प्रसार करता है, अपितु सामाजिक उपयोगिता को बढ़ावा देने वाले कार्यों में भरसक प्रयासों (उदाहरणार्थ, सामाजिक विपणन) का एक हिस्सा भी बन सकता है। एक लोक संबंध उपकरण के रूप में, जनसंचार संगठनों को जनमत नेतृत्व, स्टेकहोल्डर्स और अन्य निगरानी तंत्रों के बीच विश्वास एवं सम्मान प्राप्त करने में मदद करता है। अंततः, वकालत एवं समर्थन के साधन के तौर पर, जनसंचार नेताओं को नीति एजेंडा बनाने, अंतरराष्ट्रीय मुद्दों पर चर्चा को आकार देने, और विशेष मत एवं दृष्टि के लिए समर्थन हासिल करने में सहायता करता है।

इस अध्याय में हम मुख्य जनसंचार प्रेस, रेडियो एवं टेलिविजन पर चर्चा करेंगे।

प्रेस एवं संस्कृति

प्रेस के उद्गम से ही इसकी विभिन्न प्रकार की भूमिका रही है। जिसमें मनोरंजन, सूचना विस्तार एवं लोगों को शिक्षित करना शामिल है। यद्यपि प्रारंभ में यह मनोरंजन के मुख्य उद्देश्य के साथ विभिन्न स्थानों पर चालू हुआ, लेकिन जल्द ही राजनीतिक, सामाजिक, एवं सांस्कृतिक विचारों की अभिव्यक्ति के एक अंग के तौर पर इसका अभ्युदय हुआ। प्रेस सामाजिक विचार एवं सांस्कृतिक अभिव्यक्तियों के भूत एवं वर्तमान प्रतिमान पर परिणामोन्मुख विमर्श के प्रतीक

के रूप में सामने आया। समाचार-पत्रों एवं जर्नल्स ने लोगों के दिमाग पर गहरी छाप छोड़ी। भारत में प्रेस ने राजनीतिक एवं सामाजिक जागरूकता और प्रचार के सृजन, विचारधाराओं के निर्माण, विशेष रूप से राष्ट्रवादी विचारधारा, और जनमत के प्रशिक्षण, गतिशीलता एवं संगठित करने में योगदान देकर अपने विकास के शुरुआती चरण में एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। इसने जन असंतोष एवं राष्ट्रीय चेतना के विकास के शृंखलाबद्ध करने के लिए एक नयी चेतना के निर्माण में मदद की। इसने लोगों को प्रोत्साहित किया, विशेष रूप से शिक्षित मध्यवर्ग को, कि वे मौजूदा सामाजिक एवं सांस्कृतिक व्यवहारों का आलोचनात्मक परीक्षण करें और सामाजिक शोषण को समाप्त करने के भरसक प्रयास करें। ब्रिटिश नीतियों का रहस्योद्घाटन किया गया जैसाकि वे उनके निहित स्वार्थों के सिद्ध करने का एक माध्यम थीं। 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में सुधार आंदोलनों एवं 20वीं शताब्दी के प्रथम कुछ दशकों के दौरान व्यक्तियों एवं संगठनों द्वारा प्रकाशित समाचार-पत्रों एवं जर्नल्स की उनकी सफलता में देश उनका बेहद ऋणी है। प्रकाशनों में छपने वाले लेखों एवं समीक्षाओं ने जनता की सामाजिक एवं सांस्कृतिक जागरूकता को हवा दी एवं इसमें वृद्धि की।

भारत में प्रेस का उद्भव

भारत का पहला समाचार-पत्र जेम्स आगस्टस हिक्की ने 1780 में प्रकाशित किया, जिसका नाम था *द बंगाल गजट* या *कलकत्ता जनरल एडवरटाइजर*। किंतु सरकार के प्रति आलोचनात्मक रवैया अपनाने के कारण 1872 में इसका मुद्रणालय जब्त कर लिया गया। तदन्तर कई और समाचार-पत्रों/जर्नलों का प्रकाशन प्रारंभ किया गया। यथा-*द बंगाल जर्नल, कलकत्ता क्रॉनिकल, मद्रास कुरियर* तथा *बाम्बे हैराल्ड* इत्यादि। अंग्रेज के अधिकारी इस बात से भयभीत थे कि यदि ये समाचार-पत्र लंदन पहुंच गये तो उनके काले कारनामों का भंडाफोड़ हो जायेगा। इसलिये उन्होंने प्रेस के प्रति दमन की नीति अपनाने का निश्चय किया।

फ्रांसीसी आक्रमण के भय से लार्ड वेलेजली ने सभी समाचार-पत्रों पर सेंसर लगा दिया। समाचार पत्रों का पत्रेक्षण अधिनियम, द्वारा सभी समाचार-पत्रों के लिये आवश्यक कर दिया गया कि वो अपने स्वामी, संपादक और मुद्रक का नाम स्पष्ट रूप से समाचार-पत्र में अंकित करें। इसके अतिरिक्त समाचार पत्रों को प्रकाशन के पूर्व सरकार के सचिव के पास पूर्व-पत्रेक्षण (Pre-censorship) के लिये समाचार-पत्रों को भेजना अनिवार्य बना दिया गया।

प्रतिक्रियावादी गवर्नर-जनरल जॉन एडम्स ने 1823 में नियमों को आरोपित किया। नियम के अनुसार, बिना अनुज्ञप्ति लिये प्रेस की स्थापना या उसका उपयोग दंडनीय अपराध माना गया। ये नियम, मुख्यतयाः उन समाचार-पत्रों के विरुद्ध आरोपित किये गये थे, जो या तो भारतीय भाषाओं में प्रकाशित होते थे या जिनके स्वामी भारतीय थे। इस नियम द्वारा राजा राममोहन राय की पत्रिका *मिरात-उल-अखबार* का प्रकाश न बंद करना पड़ा।

1835 के इस नये प्रेस अधिनियम के अनुसार, प्रकाशक या मुद्रक को केवल प्रकाशन के स्थान की निश्चित सूचना ही सरकार को देनी थी और वह आसानी से अपना कार्य कर सकता था। यह कानून 1856 तक चलता रहा तथा इस अवधि में देश में समाचार-पत्रों की संख्या में उल्लेखनीय वृद्धि हुई।

1857 के विद्रोह से उत्पन्न हुई आपातकालीन स्थिति से निपटने के लिये 1857 के अनुज्ञप्ति अधिनियम से अनुज्ञप्ति व्यवस्था पुनः लागू कर दी गयी।

19वीं शताब्दी के प्रारंभ से ही नागरिक स्वतंत्रताओं की रक्षा का मुद्दा, जिनमें प्रेस की स्वतंत्रता का मुद्दा सबसे प्रमुख था, राष्ट्रवादियों के घोषणा-पत्र में सबसे प्रमुख स्थान बनाये हुये था। 1824 में राजा राममोहन राय ने उस अधिनियम की तीखी आलोचना की, जिसके द्वारा प्रेस पर प्रतिबंध लगाया गया था।

1870 से 1918 के मध्य राष्ट्रीय आंदोलन का प्रारंभिक चरण कुछ प्रमुख मुद्दों पर केंद्रित रहा। इन मुद्दों में भारतीयों को राजनीतिक मूल्यों से अवगत कराना, उनके मध्य शिक्षा का प्रचार-प्रसार करना, राष्ट्रवादी विचारधारा का निर्माण एवं प्रसार, जनमानस को प्रभावित करना तथा उसमें उपनिवेशी शासन के विरुद्ध राष्ट्रप्रेम की भावना जागृत करना, जन-प्रदर्शन या भारतीयों को जुझारू राष्ट्रवादी कार्यप्रणाली से अवगत कराना एवं उन्हें उस ओर मोड़ना प्रमुख थे। इन उद्देश्यों के प्राप्ति के लिये प्रेस, राष्ट्रवादियों का सबसे उपयुक्त औजार साबित हुआ। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने भी अपने प्रारंभिक दिनों से ही प्रेस को पूर्ण महत्व प्रदान किया तथा अपनी नीतियों एवं बैठकों में पारित किये गये प्रस्तावों को भारतीयों तक पहुंचाने में इसका सहारा लिया।

इन वर्षों में कई निर्भीक एवं प्रसिद्ध पत्रकारों के संरक्षण में अनेक नये समाचार-पत्रों का प्रकाशन प्रारंभ हुआ। इन समाचार-पत्रों में प्रमुख थे *हिन्दू* एवं *स्वदेश मित्र* जी सुब्रह्मण्यम अय्यर के संरक्षण में, *द बंगाली* सुरेंद्रनाथ बनर्जी के संरक्षण में, वॉयस आफ इंडिया दादा भाई नौरोजी के संरक्षण में, *अमृत बाजार पत्रिका* शिशिर कुमार घोष एवं मोतीलाला घोष के संरक्षण में, *इंडियन मिरर* एन.एन. सेन के संरक्षण में, *केसरी* (मराठी में) एवं *मराठा* (अंग्रेजी में) बाल गंगाधर तिलक के संरक्षण में, *सुधाकर* गोपाल कृष्ण गोखले के संरक्षण में तथा *हिन्दुस्तान* एवं *एडवोकेट* जी.पी.वर्मा के संरक्षण में। इस समय के अन्य प्रमुख समाचार-पत्रों में-*ट्रिब्यून* एवं *अखबार-ए-एम* पंजाब में, *गुजराती, इंदू प्रकाश ध्यान, प्रकाश* एवं *काल* बंबई में तथा *सोम प्रकाश, बंगनिवासी* एवं *साधारणी* बंगाल में उल्लेखनीय थे।

इन समाचार-पत्रों के प्रकाशन का मुख्य उद्देश्य, राष्ट्रीय एवं नागरिक सेवा की भावना थी न कि धन कमाना या व्यवसाय स्थापित करना। इनकी प्रसार संख्या काफी अधिक थी तथा इन्होंने पाठकों के मध्य व्यापक प्रभाव स्थापित कर लिया था। शीघ्र ही वाचनालयों (लाइब्रेरी) में इन समाचार-पत्रों की विशिष्ट छवि बन गयी। इन समाचार-पत्रों की पहुंच एवं प्रभाव सिर्फ शहरों एवं कस्बों तक ही नहीं था अपितु ये देश के दूर-दूर के गावों तक पहुंचते थे, जहां पूरा का पूरा गांव स्थानीय वाचनालय (लाइब्रेरी) में इकट्ठा होकर इन समाचार-पत्रों में प्रकाशित खबरों को पढ़ता था एवं उस पर चर्चा करता था। इस परिप्रेक्ष्य में इन वाचनालयों में इन समाचार-पत्रों ने न केवल भारतीयों को राजनीतिक रूप से शिक्षित किया अपितु उन्हें राजनीतिक भागीदारी हेतु भी प्रोत्साहित एवं निर्मित किया। इन समाचार पत्रों में सरकारी की भेदभावपूर्ण एवं दमनकारी नीतियों की खुलकर आलोचना की जाती थी। वास्तव में इन समाचार-पत्रों ने सरकार के सम्मुख विपक्ष की भूमिका निभायी।

सरकार ने प्रेस के दमन के लिये विभिन्न कानूनों का सहारा लिया। उदाहरणार्थ भारतीय दंड संहिता (Indian Penal Code) की धारा-124ए के द्वारा सरकार को यह अधिकार दिया गया कि वह ऐसे किसी भी व्यक्ति को जो भारत में ब्रिटिश शासन के विरुद्ध लोगों में असंतोष उत्पन्न कर रहा हो या उन्हें सरकार के विरुद्ध भड़का रहा हो, उसे गिरफ्तार कर सरकार तीन वर्ष के लिये कारावास में डाल सकती है या देश से निर्वासित कर सकती है। लेकिन निर्भीक राष्ट्रवादी पत्रकार, सरकार के इन प्रयासों से लेशमात्र भी भयभीत नहीं हुये तथा उपनिवेशी शासन के विरुद्ध उन्होंने अपना अभियान जारी रखा। सरकार ने समाचार-पत्रों को सरकारी नीति के पक्ष में लिखने हेतु प्रोत्साहित किया तथा उन्हें लालच दिया, जबकि वे समाचार-पत्र जो सरकारी नीतियों एवं कार्यक्रमों

की भर्त्सना करते थे, उनके प्रति सरकार ने शत्रुतापूर्ण नीति अपनायी। इन परिस्थितियों में राष्ट्रवादी पत्रकारों के सम्मुख यह एक चुनौती भरा कार्य था कि वे उपनिवेशी शासन के प्रयासों एवं षड़यंत्रों को सार्वजनिक करें तथा भारतीयों को वास्तविकता से अवगत करायें। इन परिस्थितियों में पत्रकारों, स्पष्टवादिता, निष्पक्षता, निर्भीकता एवं विद्वता जैसे गुणों का होना अपरिहार्य था।

राष्ट्रीय आंदोलन, प्रारंभ से ही प्रेस की स्वतंत्रता का पक्षधर था। लार्ड लिटन के शासनकाल में उसकी प्रतिक्रियावादी नीतियों एवं अकाल (1876-77) पीड़ितों के प्रति उसके अमानवीय रवैये के कारण भारतीय समाचार-पत्र सरकार के घोर आलोचक बन गये। फलतः सरकार ने 1878 में देशी भाषा समाचार-पत्र अधिनियम (vernacular press Act) द्वारा भारतीय प्रेस को कुचल देने का प्रयास किया।

1883 में सुरेंद्रनाथ बनर्जी देश के ऐसे प्रथम पत्रकार बने, जिन्हें कारावास की सजा दी गयी। श्री बनर्जी ने *द बंगाली* के आलोचनात्मक संपादकीय में कलकत्ता उच्च न्यायालय के न्यायाधीश पर, एक निर्णय में बंगाली समुदाय की धार्मिक भावनाओं को आहत करने का आरोप लगाया तथा उनकी निंदा की।

प्रेस की स्वतंत्रता के लिये किये जा रहे राष्ट्रवादी प्रयासों में बाल गंगाधर तिलक की भूमिका भी महत्वपूर्ण थी। तिलक ने 1893 में गणपति उत्सव एवं 1896 में शिवाजी उत्सव प्रारंभ करके लोगों में देशप्रेम की भावना जगाने का प्रयास किया। उन्होंने अपने पत्रों *मराठा* एवं *केसरी* के द्वारा भी अपने प्रयासों को आगे बढ़ाया।

स्वतंत्रता के पश्चात् संविधान सभा द्वारा मौलिक अधिकारों के रूप में भारतीय नागरिकों को प्रदत्त विभिन्न अधिकारों के परिप्रेक्ष्य में विभिन्न भारतीय समाचार-पत्र कानूनों की समीक्षा की गयी और उन्हें स्वतंत्रता प्रदान की गई।

प्रिंट मीडिया का प्रभाव

आज का पाठक अपनी सामाजिक एवं सांस्कृतिक मामलों पर परिष्कृत समझ रखता है और कुशाग्र है जिसके लिए समाचार-पत्र साधुवाद का हकदार है। सांस्कृतिक विकास शून्य में नहीं हो सकता; संस्कृति के विकास को साक्षर दर, शिक्षा और जनजागरूकता जैसे कारकों के योगदान के साथ सम्बद्ध करके देखना होगा। सामाचार-पत्र उन्हें अपील करता है जो लिख और पढ़ सकते हैं, जो शिक्षित

हैं। वे घटनाओं के प्रति किसी की उत्सुकता को बढ़ाते हैं और अधिक विश्वसनीय एवं जिम्मेदार सूचना की प्राप्ति के लिए पाठक की क्षुधा को जन्म देते हैं।

समाचार-पत्र शहर/देश में सामाजिक एवं सांस्कृतिक घटनाओं की दैनंदिन/साप्ताहिक सूची प्रदान करता है और हमारे शहर में या अन्य कहीं भी होने वाली सांस्कृतिक गतिविधियों की सूचना प्रदान करने में मदद करता है। समाचार-पत्र सभी प्रकार के समाचार मुहैया कराते हैं। उन्हें 'द पीपुल्स यूनीवर्सिटी' माना जाता है। वे न केवल समाचार वाहक हैं, अपितु जनमत का सृजन एवं निर्देशन भी करते हैं। लोकतांत्रिक प्रणालियों में, इस अर्थ में प्रेस की भूमिका अपरिहार्य बन गई है। समाचार-पत्रों एवं पत्रिकाओं के माध्यम से लोगों की एक बड़ी संख्या अपने विचारों को नियमित करते हैं और अपने दृष्टिकोण को प्रस्तुत करते हैं। इस प्रकार राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक जागरूकता एक राष्ट्र को विकसित करती है। यह चुनावी कुप्रथाएं, भ्रष्टाचार, अपराध, दंगे, सीमांत वर्गों का शोषण या अन्य मामले जैसे राजनीतिक एवं सामाजिक महत्व के चिंताजनक विषय हो सकते हैं। प्रेस गलत चीजों को उद्घाटित करने में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

समाचार-पत्रों को लोगों की सांस्कृतिक अभिव्यक्ति के जलाशय के तौर पर देखा जाता है। वे विचारों को बनाते और तोड़ते हैं और अपने समाचारों एवं मतों के साथ उनको मोड़ते हैं। इसलिए, उनकी जिम्मेदारी यह सुनिश्चित करने में होती है कि वे उद्देश्यपरक, विश्वसनीय एवं समाचार प्रस्तुतीकरण एवं विश्लेषण में सटीक हैं। कवरेज मन-मस्तिष्क को झकझोरने वाली होनी चाहिए और सामाजिक एवं सांस्कृतिक रूप से ज्ञानवर्द्धक होनी चाहिए। समाचार पढ़ना स्वयं में हमारे जीवन का एक पहलू है।

समाचार-पत्र एक नवीन शहरी पत्रकारिता में पल्लवित हुए हैं, शुरुआती दिनों में एक नवीन शहरी संस्कृति ने इसका विकास किया। लेकिन यह आज भी शहरी संस्कृति को पकड़े हुए है जो बेहद तेज है।

प्रायः, विशेष रूप से टेलिविजन के व्यापक तौर पर आने से पूर्व, समाचार-पत्र स्थानीय संस्कृतियों एवं प्रजातीय परम्पराओं के अस्तित्व के लिए अपरिहार्य थे। समाचार-पत्रों में रहस्योद्घाटन लोक स्वीकरण के लिए एक पूर्व शर्त थी। बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के अमेरिका में, उदाहरणार्थ, आप्रवासियों के प्रजातीय

परम्पराओं को 'पिछड़ा' या 'अल्पविकसित' समझा जाता था क्योंकि उन्हें समाचार-पत्रों में उचित स्थान नहीं मिलता था।

1960 के दशक के पश्चात् टेलिविजन ने सांस्कृतिक एजेंडा (इस मामले में ग्रामीण एवं शहरी दोनों में) को स्थापित करने में सर्वोच्च भूमिका अख्तियार कर ली। हालांकि सांस्कृतिक मंच के तौर पर समाचार-पत्र की महत्ता समाप्त नहीं हुई। रेडियो, टेलिविजन, कम्प्यूटर, वर्ल्ड वाइड वेब-'द टेक्नोलॉजी वेब', उच्च स्थान पर हैं, लेकिन समाचार-पत्रों और पत्रिकाएं अभी भी लोगों के सांस्कृतिक परम्पराओं को मोड़ने के संदर्भ में सांस्कृतिक अभिव्यक्ति का एक साधन अभी भी बना हुआ है।

इलैक्ट्रॉनिक मीडिया और संस्कृति पर इसका प्रभाव

औद्योगिक एवं संचार क्रांतियों ने विश्व का नक्शा ही बदल दिया। भारत में, इलेक्ट्रॉनिक मीडिया ने, इसके उद्भव के समय से, लोगों के दिलो-दिमाग पर राज कर लिया, जैसाकि पहले कोई भी क्रांति ऐसा नहीं कर पाई। हमें कहना होगा कि, मीडिया ने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अपना प्रभाव छोड़ा है। इसने लोगों की कल्पनाओं को कैद कर लिया है जैसाकि विगत् दशकों में इसने अद्भुत प्रगति की है। इलॉक्ट्रॉनिक मीडिया का प्रभाव, विशेष रूप से रेडियो एवं टेलिविजन, हालांकि, सदैव सकारात्मक नहीं रहा। मीडिया के सांस्कृतिक प्रभाव को समाज में परम्पराओं एवं मूल्यों की पृष्ठभूमि को देखकर ही इसके महत्व का मूल्यांकन किया जा सकता है।

भारत में रेडियो

प्रसार भारती, आकाशवाणी और दूरदर्शन के माध्यम से देश में सार्वजनिक प्रसारण करता है। 23 नवम्बर, 1997 को प्रसार भारती का गठन किया गया और इसका मुख्य उद्देश्य रेडियो और दूरदर्शन पर संतुलित प्रसारण का विकास सुनिश्चित करके लोगों को सूचित, शिक्षित एवं मनोरंजन करना था।

रेडियो न केवल मनोरंजन, अपितु व्यक्तियों के ज्ञानवर्द्धन का एक मुख्य साधन है। भारत में रेडियो प्रसारण का प्रारंभ 1927 में बम्बई और कलकत्ता में दो निजी स्वामित्व वाले ट्रांसमीटरों की स्थापना से हुआ। 1930 में सरकार

ने इसे अपने अधिकार में ले लिया और इसका संचालन 'भारतीय प्रसारण सेवा' के नाम से करने लगी। 1936 में भारतीय प्रसारण सेवा का नाम परिवर्तित कर 'ऑल इण्डिया रेडियो' कर दिया गया, जो आज भी आकाशवाणी के नाम से ही जाना जाता है। आज इस विभाग का संचार माध्यमों में महत्वपूर्ण स्थान है। सूचना प्रसारण मंत्रालय के सभी जनसंचार विभागों में 'आकाशवाणी' सर्वाधिक बड़ा विभाग है।

स्वतंत्रता प्राप्ति के समय भारत में आकाशवाणी के मात्र 6 केंद्र थे, जबकि वर्तमान में केंद्रों की संख्या 403 हो गई है।

विभाजन के समय भारत में छह रेडियो केंद्र थे (दिल्ली, मुंबई, कोलकाता, चेन्नई, तिरुचिरापल्ली और लखनऊ) और तीन रेडियो केंद्र पाकिस्तान में चले गए (लाहौर, पेशावर और ढाका, जो अब बांग्लादेश में है)।

मद्रास में 23 जुलाई, 1973 को देश की पहली एफएम सेवा की शुरुआत हुई। 1985 में सभी आकाशवाणी केंद्रों को 5 चैनल रिसीवर टर्मिनल उपलब्ध कराए गए। 1994 में मुम्बई और 1995 में चेन्नई में मल्टी-ट्रैक रिकॉर्डिंग स्टूडियो की शुरुआत हुई।

आकाशवाणी के ज्यादातर क्षेत्रीय चैनल राजधानियों में और मुख्य रूप से भाषाई-सांस्कृतिक क्षेत्रों में स्थित हैं। देश के 29 राज्यों और छह संघ शासित प्रदेशों में कुल 120 क्षेत्रीय चैनल काम कर रहे हैं। क्षेत्रीय चैनल्स के जरिए श्रोताओं को सूचना देने के अलावा मनोरंजक कार्यक्रम भी प्रसारित किए जाते हैं।

आकाशवाणी कई वर्षों से त्रि-स्तरीय प्रणाली का उपयोग राष्ट्रीय, क्षेत्रीय और स्थानीय प्रसारण में कर रहा है। यह सूचना, शिक्षा और मनोरंजन का प्रबंध श्रोताओं के लिए विभिन्न स्टेशनों से इस देश में प्रसारित किया जाता है।

वह समाचार संगीत, स्पोकन शब्द और अन्य कार्यक्रम 22 भाषाओं और 146 बोलियों में पूरे देश की जनसंख्या तक पहुंचने की कोशिश करता है।

भारत में स्थानीय रेडियो द्वारा प्रसारण एक नई अवधारणा है। 86 एफएम स्टेशनों की सेटअप की आवश्यकता है और छोटे शहरों के लिए गतिविधियों को केंद्र से प्रसारित करना है। प्रत्येक स्थानीय रेडियो स्टेशन एक छोटे क्षेत्र में सीधे श्रोताओं तक पहुंच कर उन्हें उपयोगी सेवाएं प्रदान करता है। स्थानीय रेडियो के कार्यक्रम क्षेत्र विशेष तक सीमित होते हैं और श्रोताओं से जमीनी स्तर

पर जुड़े होते हैं। यही विशेषता इन्हें क्षेत्रीय संचार तंत्र से अलग पहचान दिलाती है। स्थानीय रेडियो केंद्र के जरिए स्थानीय समुदाय के लोग अपनी बातें और विचार खुले रूप से कह सकते हैं।

स्थानीय आदिवासी जनता को ध्यान में रखते हुए देश के उत्तर-पूर्वी राज्यों में पांच स्थानों पर सामुदायिक रेडियो केंद्र खोले गए।

आकाशवाणी के एफएम रेनबो चैनल की शुरुआत उस वक्त हुई जब बड़े शहरों में रेडियो सुनने वालों की संख्या गिर रही थी। समाज के उच्च वर्ग के लोगों का मानना था कि रेडियो सिर्फ मध्यम वर्ग के लोगों के लिए है और फैशन से बाहर है। साउंड रिकॉर्डिंग के क्षेत्र में तकनीकी सुधारों ने युवा संगीत प्रेमियों को उन्हें संगीत के दूसरे माध्यमों की ओर मोड़ दिया क्योंकि ए एम प्रणाली के जरिए गीतों की श्रवण गुणवत्ता स्टीरियोफोनिक सिनेमाघरों या डिजिटल इलेक्ट्रॉनिक उपकरणों जितनी बेहतर नहीं थी। एफएम रेडियो के जरिए श्रोताओं को बाधारहित और उच्च गुणवत्ता का संगीत सुनने को मिला। एफएम रेडियो पर प्रस्तुतकर्ताओं के नए अंदाज ने भी श्रोताओं की अपेक्षाओं और बदलती जरूरतों को पूरा किया।

एफएम गोल्ड चैनल की शुरुआत दिल्ली में 1 सितंबर, 2001 को एक ज्ञान और मनोरंजक चैनल के रूप में हुई जिसमें 30 प्रतिशत समाचार और समसामयिक कार्यक्रम और 70 प्रतिशत मनोरंजक कार्यक्रम शामिल थे। वर्तमान में एफएम गोल्ड का प्रसारण दिन में 18 घंटे होता है और ये चार महानगरों दिल्ली, मुम्बई, कोलकाता और चेन्नई में उपलब्ध है। इस अतिरिक्त चैनल ने श्रोताओं को आकाशवाणी, निजी एफएम चैनल्स और रेनबो के साथ एक और विकल्प प्रदान किया। ये चैनल मनोरंजन और ज्ञान के साथ-साथ यातायात, एयरलाइंस, रेल सेवाओं और मौसम के बारे में भी जानकारी देता है।

टेलिविजन सेट का इस्तेमाल करने वाले उपभोक्ताओं के लिए डीटीएच रेडियो चैनल के माध्यम से सैटेलाइट सेवा प्रदान की जाती है। डीटीएच सेवा पर देशभर में विभिन्न भाषाओं के चैनल उपलब्ध हैं।

आकाशवाणी की प्रसारण सेवा तीन-स्तरीय है। ये हैं राष्ट्रीय, क्षेत्रीय और स्थानीय। राष्ट्रीय प्रसारण सेवा की शुरुआत 18 मई, 1988 को हुई थी। राष्ट्रीय प्रसारण सेवा के दायरे में पूरा देश आता है और इसके कार्यक्रम देश की सांस्कृतिक विविधता को ध्यान में रखकर बनाए जाते हैं। राष्ट्रीय चैनल पर विज्ञान, स्वास्थ्य,

खेलकूद, साहित्य, हास्य, ज्वलंत सामाजिक विषय और सांस्कृतिक धरोहर जैसे विषयों पर हिन्दी, अंग्रेजी और उर्दू में कार्यक्रम प्रसारित होते हैं। हिन्दी और अंग्रेजी में बारी-बारी से एक दिन छोड़कर प्रसारित होने वाले कार्यक्रम विविध में शिक्षा, संस्कृति और सामाजिक-आर्थिक विकास पर खास ध्यान दिया जाता है। इसी तरह उर्दू कार्यक्रम-मंज़र-का प्रसारण रोजाना होता है। आर्थिक, विज्ञान, खेलकूद, संगीत और साहित्य पर आधारित-मैगजीन-कार्यक्रम का प्रसारण नियमित तौर पर होता है। कैरियर मार्गदर्शन, समसामयिक और सामाजिक विषयों पर आधारित साप्ताहिक कार्यक्रम है फोकस।

1 अक्टूबर, 1939 को द्वितीय विश्व युद्ध शुरू होने के तुरंत बाद आकाशवाणी की विदेश प्रसारण सेवा की शुरुआत देश के तत्कालीन उत्तर-पश्चिमी सीमांत क्षेत्र में पश्तो भाषा में प्रसारण के साथ हुई। तब से आकाशवाणी का विदेश सेवा प्रभाग भारत और बाकी दुनिया के बीच एक महत्वपूर्ण कड़ी बन गया है, खासतौर पर उन देशों में कार्यक्रमों के द्वारा जहां बड़ी संख्या में भारतीय रहते हैं।

जनसंचार के बदलते परिदृश्य में श्रोता अनुसंधान इकाई की बहुत बड़ी भूमिका है। आज पूरी दुनिया में सभी बड़े मीडिया संगठन किसी ना किसी तरीके से श्रोता अनुसंधान या बाजार अनुसंधान कर रहे हैं। कोई भी मीडिया संगठन अपने संभावित उपभोक्ताओं और बाजार अनुमान के बारे में जाने बिना अपने सीमित संसाधनों का उपयोग नहीं करना चाहेगा। इसके अलावा वे विभिन्न मीडिया संस्थानों द्वारा किए जाने वाले व्यावसायिक अनुसंधान और बाजार अनुसंधान संगठनों की भी मदद ले रहे हैं। निजी टेलीविजन और रेडियो चैनल्स की सफलता का एक बहुत बड़ा कारण उनके द्वारा अपने उपभोक्ताओं की नब्ज पकड़ लेने की क्षमता है और इसके लिए लगातार श्रोता अनुसंधान करना जरूरी है जिससे कार्यक्रमों की विषय वस्तु और प्रस्तुतिकरण में जरूरत के अनुसार फेरबदल किया जा सके। आकाशवाणी इस क्षेत्र में सबसे आगे रहा है। 1946 से देशभर में फैली श्रोता अनुसंधान इकाइयों के जरिए आकाशवाणी के कार्यक्रम निर्माताओं को बदलते परिदृश्य और श्रोताओं की बदलती पसंद के अनुसार कार्यक्रमों के संयोजन और उनमें बदलाव के बारे में जानकारी मिलती है। कार्यक्रमों की रेटिंग्स और श्रोताओं के बारे में आंकड़े प्रायोजकों और विज्ञापनदाताओं को उपलब्ध कराए जाते हैं। ये इकाइयां डाटा बैंक की तरह काम करते हैं।

भारत में दूरदर्शन (टेलिविजन)

जनसंचार के साधनों में दूरदर्शन सर्वाधिक सशक्त साधन है। भारत में 15 सितंबर, 1959 को दिल्ली में प्रायोगिक परियोजना के अंतर्गत टेलिविजन केंद्र की शुरुआत हुई। प्रारंभ में टेलिविजन आकाशवाणी से सम्बद्ध था, लेकिन 1976 में इसे (टेलिविजन) आकाशवाणी से पृथक् कर एक स्वतंत्र संगठन की स्थापना की गई और इसे दूरदर्शन नाम दिया गया तथा इसके प्रसारण क्षेत्र में विस्तार किया गया। अगस्त 1965 में दिल्ली में दूरदर्शन की प्रथम नियंत्रित सेवा प्रारंभ हुई। 1972 के बाद से मुम्बई, श्रीनगर, जालंधर, कोलकाता, मद्रास तथा लखनऊ में बड़ी तेजी के साथ एक के बाद एक दूरदर्शन केंद्र की स्थापना हुई। 1982 में भारत में आयोजित एशियाई खेलों के दौरान दूरदर्शन के प्रसारण क्षेत्र को और अधिक विस्तृत किया गया। इसके लिए विभिन्न राज्यों की राजधानियों तथा महत्वपूर्ण नगरों में 20 लघुशक्ति वाले ट्रांसमीटरों की स्थापना की गई। 15 अगस्त, 1982 से इन्सैट 1A से राष्ट्रीय प्रसारण प्रारंभ हुआ तथा 17 सितंबर, 1984 में दिल्ली दूरदर्शन का दूसरा चैनल भी शुरू कर दिया गया। वर्तमान में दूरदर्शन के 31 चैनल हैं और फ्री टू एयर डीटीएच सेवा भी प्रदान कर रहा है।

दूरदर्शन की त्रि-स्तरीय सेवाएं हैं। यथा राष्ट्रीय, क्षेत्रीय एवं स्थानीय। ये सभी समाचार प्रसारित करते हैं। 15 अगस्त, 1993 से दूरदर्शन ने 5 नए चैनल्स की शुरुआत की। ये पांच नए चैनल्स हैं (i) इंटरटेनमेंट (सी-7), (ii) स्पोर्ट्स (सी-7), (iii) बिजनेस न्यूज एवं करेंट एफेयर्स (सी-3), (iv) म्यूजिक (सी-11), (v) इनरिचमेंट (सी-12)। अंतरराष्ट्रीय चैनल, दूरदर्शन इण्डिया सन् 1995 से काम कर रहा है तथा इसका प्रसारण एशिया, अफ्रीका और यूरोप के 50 देशों में हो रहा है।

अंतरराष्ट्रीय दर्शकों को ध्यान में रखते हुए भारत के सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक और आर्थिक परिदृश्य के बारे में इस चैनल पर कार्यक्रम प्रसारित किए जाते हैं। डीडी इंडिया एक मिशन के साथ शुरू किया गया था। विदेशों में रहने वाले भारतीयों के सामने वास्तविक भारत की तस्वीर प्रस्तुत करना, इसकी संस्कृति, मूल्यों, परंपराओं, आधुनिकता, विविधता, एकता, पीड़ा और जोश को उच्चस्तरीय कार्यक्रमों के माध्यम से लोगों के सामने पेश करना जो लोगों को शिक्षित करने के साथ उनका मनोरंजन भी करे।

विकास संचार विभाग भारत सरकार के मंत्रालयों, विभागों और सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों के टेलीविजन प्रचार अभियान संभालता है। ये विभाग सलाहकार, मीडिया प्लानिंग, समय-सारिणी, निगरानी, बिलिंग, प्राप्तियों और ग्राहकों के लिए काम करता है और विशेष दिवसों और सप्ताहों को मनाने का भी काम करता है।

देशभर में दूरदर्शन के विभिन्न केंद्रों के साथ कुल 19 श्रोता अनुसंधान इकाइयां काम कर रही हैं। वर्ष 1976 से ये इकाइयां प्रसारण से संबंधित विभिन्न अनुसंधान परीक्षण में लगी हैं। ये क्षेत्रीय इकाइयां रांची, जयपुर, दिल्ली, अहमदाबाद, नागपुर, चेन्नई, बंगलुरू, लखनऊ, हैदराबाद, भुवनेश्वर, भोपाल, कोलकाता, गुवाहाटी, मुंबई, गोरखपुर, राजकोट, जालंधर, तिरुवनंतपुरम और श्रीनगर में काम कर रही हैं। ये इकाइयां निदेशक, श्रोता अनुसंधान निदेशालय के अधीन पेशेवर अनुसंधानकर्ताओं के जरिए काम करती है।

समाज एवं संस्कृति पर रेडियो एवं टेलिविजन के प्रभाव

मीडिया शहरी क्षेत्रों में रहने वाले निहायती भारतीय लोगों के जीवन के प्रतिदिन कई घंटे खा जाता है। रेडियो एवं टेलिविजन लोगों की जीवनशैली में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। आधारभूत स्तर पर, वे लोगों को विभिन्न तरीकों से सूचित करते हैं और विभिन्न कार्यक्रमों के माध्यमों के माध्यम से शिक्षित करते हैं। दूसरी ओर, वे लोगों को अपना मूल्यांकन करने का माहौल देते हैं और अपनी आवाज सुनने का अवसर उत्पन्न करते हैं। टेलिविजन, विशेष रूप से, ने जनसंचार के अन्य माध्यमों पर सर्वोच्चता प्राप्त की है, विशेष रूप से शहरी क्षेत्रों में। लेकिन रेडियो भी एक प्रभावी माध्यम है जिसके द्वारा लाखों लोग एकजुट होने में सक्षम हुए हैं, इस आधार पर कि वे सभी विशेष संदेशों को प्राप्त करने में साझा प्राप्तकर्ता हैं।

उच्च निरक्षरता वाले देश में, रेडियो एवं टेलिविजन लोगों का मनोरंजन करने के साथ-साथ उन्हें शिक्षित एवं सूचित भी करता है। टेलिविजन की एक विशाल जनसमूह तक पहुंच है।

तकनीकी के विकास ने जनसंचार को अधिकाधिक लोगों तक सुगम बना दिया है। जनसंचार, विशेष रूप से इलेक्ट्रॉनिक मीडिया, लोगों पर अपना तीव्र प्रभाव छोड़ता है जो काफी समय तक रहता भी है। टेलिविजन लोगों को प्रभावित करने वाला एक शक्तिशाली माध्यम है।

विगत वर्षों के दौरान, रेडियो एवं टेलिविजन की वैरायटी एवं सामाग्री में विविधता आई है। जहां तक टेलिविजन की बात है, दूरदर्शन एकमात्र मनोरंजन का साधन था जो 1990 के दशक तक और उदारीकरण के युग तक लोगों को प्रभावित करता रहा। दूरदर्शन पर कार्यक्रमों में भी अच्छा मिश्रण था। जैसाकि सरकार के स्वामित्व वाले इस चैनल ने लोगों का मनोरंजन करने के साथ-साथ उन्हें शिक्षित करने की भी जिम्मेदारी एकसमान दक्षता के साथ पूरी की। कृषि दर्शक ने, जहां एक ओर भारत की कला एवं सांस्कृतिक विरासत का प्रदर्शन किया और साथ ही इस क्षेत्र में समकालीन घटनाक्रम को भी प्रस्तुत किया, वहीं कार्टून कार्यक्रमों (महिला एवं बच्चों) और युवा केंद्रित कार्यक्रमों को फिल्म आधारित कार्यक्रमों के साथ मिलाकर विशुद्ध मनोरंजन-*चित्रहार,* सप्ताहांत में हिंदी एवं प्रादेशिक फिल्में, फिल्म व्यक्तियों के साथ साक्षात्कार इत्यादि कार्यक्रम प्रस्तुत किए गए। लेकिन केबल एवं सेटेलाइट टेलिविजन के आने के बाद से, फिल्मों एवं विशुद्ध मनोरंजन पर ध्यान अधिक गहरा हो गया।

केबल टीवी एवं सेटेलाइट टीबी ने कई प्रकार के कार्यक्रमों, विशेष रूप से लोकप्रिय धारावाहिक, जैसे *सास-बहू* कार्यक्रम, की बाढ़ आ गई। **कौन बनेगा करोड़पति** जैसे कुछ शैक्षिक-मनोरंजक कार्यक्रमों को प्रस्तुत किया गया, जो बेहद लोकप्रिय हुए। लेकिन विशेष रूप से टेलिविजन का पूरा जोर मनोरंजन पर रहा।

कार्यक्रमों के निर्माण के संदर्भ में, टेलिविजन शोज या तो अमेरिकी शोज से प्रभावित हुए या उनमें भारतीय नकल की झलक थी। इसका एक उदाहरण एमटीवी है।

टेलिविजन एवं फिल्मों का एक बड़ा प्रभाव *'संस्कृति का मानकीकरण एक प्रकार का सजातीयताकरण'* रहा जिसने सांस्कृतिक विविधता के स्तरों को न्यूनतम किया।

रियलिटी शोज जैसे कार्यक्रमों का विचार केवल अनुकरण नहीं है कि पश्चिम का पूरा प्रभाव हम पर पड़ गया है। चाहे 'इण्डियन आइडल' ('अमेरिकन आइडल' पर आधारित), या बिग बॉस ('बिग ब्रदर' पर आधारित) हों या अन्य कार्यक्रम 'खतरों के खिलाड़ी', 'एमटीवी रोडीज' इत्यादि ने निडरता एवं साहस को प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। भारतीय समाज में भी हमें विभाजन दिखाई देता है। एक तरफ जनसमूह विशेष रूप से युवा पश्चिमी रीति-रिवाजों को अपनाते हैं, तो दूसरे जनसमूह इसका विरोध करते हैं।

एक दूसरे प्रकार का मानकीकरण जो हम देखते हैं कि 'उत्तरी भारतीय' सांस्कृतिक परम्पराएं भारत के सभी क्षेत्रों पर धीरे-धीरे फैल रही हैं। और यह निजी चैनलों द्वारा पूरे भारत में बॉलीवुड फिल्मों एवं हिंदी धारावाहिकों के प्रसारण की प्रभुता के कारण हो रहा है। शायद यह इसलिए भी हो रहा है कि समाचार प्रसारण में उत्तरी क्षेत्र की प्रभुता है। पहनावे में फैशन, जीवन शैली, को विशुद्ध भारतीय या राष्ट्रीय के तौर पर दिखाया जाता है। जिसके परिणामस्वरूप, मीडिया द्वारा प्रचारित इस 'उत्तरी' चलन से अन्य क्षेत्रों के दर्शक प्रभावित होते हैं। उत्तर भारतीय पहनावे एवं दक्षिण भारतीय पर्वों एवं उत्सवों के अपनाने के तेजी से बढ़ते चलन से यह प्रभाव प्रमाणित होता है। यहां तक कि दक्षिण के प्रादेशिक सिनेमा में भी अभिनेता-अभिनेत्री उत्तरी पहनावे को अपनाते हैं और उत्तरी प्रथाओं का अनुकरण करते हैं।

यह प्रकट होता है कि भारत में प्रादेशिक संस्कृतियां एवं जीवन शैली जिसमें प्रचुर विविधता दिखाई देती है को सजातीय सांस्कृतिक चलन के पक्ष में समझौता किया जा रहा है जिस पर उत्तर भारतीय प्रतिरूप का प्रभुत्व है।

यह उल्लेखनीय है कि आज रेडियो एवं टीवी विज्ञापन, विशेष रूप से टीवी विज्ञापन का, समाज एवं संस्कृति के उद्गम पर प्रभाव बढ़ता जा रहा है।

विज्ञापन की भूमिका

टेलिविजन शोज के प्रतिस्पर्द्धात्मक एवं पूंजी-गहन विश्व में, विभिन्न कार्यक्रमों के वित्तपोषण में विज्ञापन एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। दुर्भाग्यवश, मनोरंजन कार्यक्रमों के लिए, जिन्हें लोकप्रिय एवं व्यापक पहुंच का माना जाता है, बेहद सुगमता से प्रायोजक कंपनियां मिल जाती हैं। इसलिए, हमें अधिकतर चैनलों पर एक ही प्रकार के कार्यक्रम दिखाई देते हैं। यहां तक कि गंभीर किस्म के मनोरंजन शास्त्रीय संगीत, नृत्य, नाटक, वृत्तचित्र या सामाजिक-आर्थिक महत्व के कार्यक्रम कम होते जा रहे हैं क्योंकि विज्ञापनदाताओं का मानना है कि इस प्रकार के कार्यक्रमों को व्यापक तौर पर नहीं देखा जाता। इस प्रकार की पद्धति गंभीर रूप से सांस्कृतिक जागरूकता एवं मूल्यों के संप्रेषण में मीडिया के क्षेत्र को सीमित करती है।

विज्ञापन उत्पादों या सेवाओं को प्रस्तुत करने का एक तरीका है और यह उपभोक्ता को चयन की व्यापक शृंखला प्रदान करता है। उपभोक्ता के लिए,

विज्ञापन उन्हें बाजार में उचित मूल्य पर उचित वस्तु या सेवा खरीदने का चुनाव मुहैया कराता है। आज, विशेष रूप से शहरों में, लोगों के लिए यह आशा करना भी मुश्किल है कि वे ऐसी वस्तु पर अपना धन खर्च करें जिसके बारे में उन्होंने बिल्कुल भी न सुना हो।

विज्ञापन सफल होने के लिए उपभोक्तावाद पर विश्वास करता है, और उपभोक्ता का भौतिकवादी मानकों से आकलन करता है। इसके अतिरिक्त, सफल विज्ञापन का अर्थ है गलाकाट प्रतियोगिता में विजयी होकर निकलना। विज्ञापनकर्ता एक बड़ी जनसंख्या की प्रवृत्तियों को अपील करते हैं। सेक्स एवं हिंसा की इमेजेस का प्रयोग दर्शकों के ध्यान को आकर्षित करने के लिए किया जाता है। उत्पाद उसे प्रस्तुत करने या विज्ञापन की जोरदार अपील से लोकप्रिय हो जाते हैं, इसके बावजूद यह संभव है कि उत्पाद आवश्यक मापदंडों पर खरा न उतरता हो। विज्ञापन के दौरान झूठ का सहारा लिया जाता है, और समय के साथ-साथ इस चलन का कोई विरोध नहीं करता।

समाज एवं संस्कृति पर इलेक्ट्रॉनिक मीडिया का सकारात्मक प्रभाव

टेलिविजन, रेडियो एवं इंटरनेट जैसे मीडिया माध्यमों ने मिलकर लोगों की समग्र जागरूकता में वृद्धि की है। इन्होंने पूरे विश्व से सूचनाएं प्रदान कर हमारे सामाजिक ज्ञान में बढ़ोतरी की है। विभिन्न मीडिया द्वारा समाचार प्रसारण विश्व की दैनंदिन खबरें जानने में हमारी मदद करता है। सामाजिक विषयों के परिप्रेक्ष्य वाली खबरें, टेलीफिल्म्स और वृत्तचित्र बच्चों में सामाजिक जागरूकता बढ़ाते हैं और समाज के प्रति उनके रुख का विकास करते हैं। वे हमारा ज्ञान, भाषा एवं शब्दकोश बढ़ाने में भी योगदान करते हैं। डिस्कवरी, बीबीसी एवं नेशनल ज्योग्राफिक जैसे चैनल्स प्रश्न-आधारित टीवी एवं रेडियो शोज तथा इतिहास, साहित्य, विज्ञान, दर्शनशास्त्र एवं कला एवं संस्कृति पर कई कार्यक्रमों द्वारा ज्ञान एवं संस्कृति का विस्तार, लोगों की प्रवृत्तियों एवं विचारों के विकास में योगदान करते हैं।

अनुसंधान ने प्रकट किया कि हमारे दैनंदिन जीवन के एक बड़े हिस्से को प्रभावित करने में मीडिया उत्तरदायी है। मीडिया ने लोगों के सांस्कृतिक एवं सामाजिक मूल्यों के हस्तांतरण में योगदान किया है। मीडिया लोगों की सोच एवं विश्वासों के हस्तांतरण में भी परिवर्तन लेकर आया है। मीडिया द्वारा प्रस्तुत

सामग्री चित्ताकर्षक प्रकृति की होने के कारण आम लोगों के विचारों एवं व्यवहारों को प्रभावित करती है। यह विचारों एवं प्रवृत्तियों को मोड़ने में भी मदद करती है। यह जीवन शैली एवं संस्कृति को प्रभावित करती है। पूरे संसार को एक छतरी के नीचे समेटने में मीडिया की भूमिका जिम्मेदार रही है। मीडिया जगत में हाल ही में ब्लॉगिंग और पब्लिक पोल और सिटीजन जर्नलिज्म जैसी प्रथाओं के आने से सामाजिक नियंत्रण की दिशा में एक नई उपलब्धि मिली है। इन अवधारणाओं के आने से मीडिया और आमजन के बीच संबंध सुदृढ़ हुए हैं और इसने राष्ट्रीय एवं सामाजिक विषयों पर जनमत के विकास में योगदान दिया है। मीडिया ने जातीयता, लिंग विभेद, और विश्व निर्धनता के विरुद्ध लड़ाई लड़ने जैसे सकारात्मक विकासों में एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है, और विश्व शांति की आवश्यकता को लेकर जागरूकता फैलाई है।

हाल ही के वर्षों में, भारतीय फिल्मों एवं टेलिविजन दर्शकों ने महसूस किया है कि महिलाओं की निर्दोष एवं अधीन प्रकृति के चित्रण से स्वतंत्र यौन व्यक्तित्व के तौर पर बदलाव हुआ है। जबकि भारत की सुदृढ़ परम्परागत विरासत ने हमेशा महिला को गृहिणी एवं मां के रूप में दिखाया है, लेकिन टेलिविजन पर बदली इस भूमिका ने इस आदर्श-रूप को चुनौती दी है, और इसलिए भारतीय महिलाओं के लिए महिला होने की एक नई अवधारणा तैयार की है।

टीवी पर कुछ टॉक शोज ने समान प्रभाव डाला है, उदाहरणार्थ, जिन्होंने दहेज, सती, बाल विवाह, एवं समाज में मादक द्रव्यों के सेवन जैसे बुरी प्रथाओं पर विचार-विमर्श किया है।

समाज एवं संस्कृति पर इलेक्ट्रॉनिक मीडिया का नकारात्मक प्रभाव

मीडिया अक्सर मूल तथ्यों या सूचना को तोड़-मरोड़कर उछालती है और इस प्रकार प्रस्तुत करती है ताकि चीजों की अद्भुत अपील में वृद्धि हो। मीडिया पैसे, ग्लैमर, फिल्म कलाकारों, मॉडल्स और खेल, व्यवसाय, कला एवं राजनीति में सफल पुरुष एवं स्त्री को जरूरत से अधिक कवरेज देती है। यह भौतिकवादी मूल्यों पर बल देती है, और इससे सम्बद्ध अधिकतर लोग बनावटी एवं अल्पदृष्टि होते हैं। परिणामस्वरूप, मीडिया द्वारा समर्थित सांस्कृतिक मूल्य, जो आधुनिक समय की समाजों में स्थापित हैं, बनावटी, छिछली एवं धन एवं ग्लैमर उन्मुख

हैं। सत्य यह है कि चाहे टेलिविजन, मैगजीन या इंटरनेट हो, मीडिया सर्वव्यापी हो गया है और हमारे जीवन के विभिन्न पहलुओं को प्रभावित कर रहा है।

उपभोक्ता बेहद महत्वपूर्ण हो गया है क्योंकि सांस्कृतिक दूत धारावाहिकों, संगीत वीडियो एवं विज्ञापनों के माध्यम से प्रकट होते हैं। विशेष रूप से टेलिविजन ने युवाओं पर काफी प्रभाव डाला है और देखने की इनकी आदतों को जीवन भर के लिए प्रभावित किया है।

प्रायः यह देखा गया है कि युवा लड़के एवं लड़कियां अपने रोल मॉडल्स का अंधानुकरण करते हैं। सेलिब्रिटीज द्वारा की गई नकारात्मक चीजों के बारे में अक्सर बातचीत होती है। सेलिब्रिटीज के जीवन के मतभेदों एवं विवादों को मीडिया द्वारा उछाला जाता है।

मीडिया के नकारात्मक प्रभावों का असर विशेष रूप से बच्चों पर होता है जो उनके बदलते मानसिक स्थिति एवं उनकी खराब जीवनशैली से परिलक्षित होता है। बच्चों, जिन्हें अच्छी किताबें पढ़ने, अध्ययन करने, आउटडोर खेल खेलने, कसरत एवं सामाजिक गतिविधियों में संलग्न होने में अपना समय बिताना चाहिए, आज अपनी शाम टेलिविजन के आगे बिताते हैं। मीडिया जो कि सुगमतापूर्वक पहुंच में है यहां तक कि छोटे बच्चों की भी, ऐसी चीजें उन तक उद्घाटित करती हैं जिन्हें जानने की उन्हें जरूरत नहीं है और वे उसे नहीं समझ पाएंगे। बच्चों की कोमलता छोटी उम्र में ही खत्म हो रही है।

मीडिया का नकारात्मक मनोवैज्ञानिक प्रभाव मीडिया द्वारा लोगों के जीवन के प्रति बदलते दृष्टिकोण के संदर्भ में देखा जाना चाहिए। मीडिया ने समाज के सांस्कृतिक एवं नैतिक मूल्यों में परिवर्तन किया है। युवा एवं बच्चे जनसंचार के प्रभाव के चलते अक्सर फिल्मी एवं वास्तविक जीवन को मिलाने का प्रयास करते हैं।

मीडिया ने लोगों के शारीरिक स्वास्थ्य पर भी कुछ हद तक बुरा प्रभाव डाला है। जो लोग घंटों टेलिविजन या इंटरनेट सर्फिंग में बिताते हैं उन्हें आंख संबंधी और मोटापे की समस्या से सामना करना पड़ता है।

संस्कृति को जीवन के एक ऐसे ढंग के तौर पर परिभाषित किया जा सकता है जिसमें विश्वास, सौंदर्यता एवं सभ्यता के संस्थान शामिल हों। आज की जीवन शैली में, मीडिया निश्चित रूप से हमारी संस्कृति का एक प्रभावी तत्व बन गया है।

यद्यपि मीडिया के कार्यक्रम, जिस समाज में हम रहते हैं, उसका प्रतिबिम्बन करते हैं, लेकिन मनोरंजन के लिए वे उसमें फंतासी एवं अन्य मसाला जोड़ देते हैं। मीडिया सेलिब्रिटिज को पैदा करता है, और ये आराध्य वस्तु या प्रतिमा बन जाते हैं। एक खास किस्म के संगीत या फिल्म को मीडिया लोकप्रिय बनाता है।

भारत के सभी हिस्सों में जनसंचार की बढ़ती लोकप्रियता सजातीय भारतीय संस्कृति को प्रोत्साहित कर रही है, जिसकी सांस्कृतिक पहचान अत्यधिक मृदु एवं भंगुर बन रही है। आखिरकार, किसी भी प्रकार का प्रौद्योगिकीय उन्नयन, सामाजिक परिवर्तन के संदर्भ में इसके लाभ एवं हानि दोनों ही लिए होता है। प्रौद्योगिकीय उन्नयन, विशेष रूप से जनसंचार की बदलती भूमिका, परिवर्तित सांस्कृतिक विशेषताओं पर अधिक समय तक रहने वाला प्रभाव डालता है, जो विचारों, दृष्टिकोण एवं जीवनशैली में प्रकट होता है। क्या यह प्रभाव 'सांस्कृतिक रूप से' सतत् समाज के विकास के दृष्टिगत् अच्छा है या नहीं, एक महत्वपूर्ण प्रश्न है।

इंटरनेट एवं इसका संस्कृति पर प्रभाव

वर्तमान में नवीन वैज्ञानिक आविष्कार के रूप में 'इंटरनेट' जनसम्पर्क का महत्वपूर्ण उपकरण साबित हो रहा है। मार्च 1989 में सर्न के वैज्ञानिक 'टिम बर्नर्स ली' द्वारा सूचनाओं के गंतव्य के रूप में 'वर्ल्ड वाइड वेब' के आविष्कार के बाद इंटरनेट का तेजी से विकास तथा विस्तार हुआ है। इस खोज के बाद सूचनाओं के तीव्रतम आदान-प्रदान तथा संपूर्ण डाटा को एक वेब में एकत्रित करने में मदद मिली। आज यह एक ऐसा संचार माध्यम बन गया है, जो पूरी दुनिया तक अपनी पहुंच रखता है। इंटरनेट से जुड़ते ही जनसम्पर्क की एक असीमित दुनिया सामने आती है। जनसंपर्क के लिए चाहे कोई भी क्षेत्र क्यों न हो केवल एक वेबसाइट के जरिए पूरी दुनिया तक अपनी पहुंच स्थापित की जा सकती है। यह एक ऐसा जनसंपर्क उपकरण है जिससे सेवा, सूचना, संप्रेषण, जानकारी जुड़ाव, संकलन, दृश्य-श्रव्य प्रस्तुति, फीडबैक, आंकड़े, संवाद, ई-मेल, तथा लक्ष्य प्राप्ति जैसे पक्ष संचालित किए जा सकते हैं।

सोशल मीडिया संस्कृति

संचार माध्यमों के विकास, प्रसार और बढ़ती भूमिकाओं को स्वीकार और अंगीकार करने के बावजूद सात वर्ष पूर्व तक किसी ने कल्पना नहीं की थी कि सोशल

मीडिया का अंतर्जाल हमारी सोच, समझ, दृष्टिकोण, विचार और राजनीति को इस कदर प्रभावित करेगा। सोशल मीडिया नेटवर्क ने सभी यूजर्स को अभिव्यक्ति का सशक्त उपकरण दे दिया है। इसकी विशेषता पारस्परिकता है, इसमें स्वतंत्रता अंतर्निहित है। सोशल मीडिया सामाजिक नेटवर्किंग वेब साइटों जैसे फेसबुक, टिवट्र, लिंकर, यू-ट्यूब, लिंक्डाइन, पिंटेरेस्ट, माइस्पेस, साउंडक्लाउड और ऐसे ही अन्य साइटों पर इस्तेमाल कर्ताओं को विचार-विमर्श, सृजन, सहयोग करने तथा टेक्सट, इमेज, ऑडियो और वीडियो रूपों में जानकारी में हिस्सेदारी करने और उसे परिष्कृत करने की योग्यता और सुविधा प्रदान करता है।

सोशल मीडिया की परिभाषा में कहा गया है कि 'यह इंटरनेट आधारित अनुप्रयोगों का एक ऐसा समूह है जो प्रयोक्ता-जनित सामाग्री के सृजन और आदान-प्रदान की अनुमति देता है। इसके अतिरिक्त सोशल मीडिया मोबाइल और वेब आधारित प्रौद्योगिकी से ऐसे क्रियाशील मंचों का निर्माण करता है जिनके माध्यम से व्यक्ति और समुदाय प्रयोक्ता-जनित सामाग्री का संप्रेषण एवं सह-सृजन कर सकते हैं, उस पर विचार-विमर्श कर सकते हैं और उसका परिष्कार कर सकते हैं। यह संगठनों, समुदायों और व्यक्तियों के बीच संचार में महत्वपूर्ण और व्यापक परिवर्तनों को अंजाम देता है।

शिक्षा के संदर्भ में सोशल मीडिया के प्रभाव की गहराई मापने के लिए हमें शिक्षा के उद्देश्यों पर दृष्टिपात् करना होगा और यह विचार करना होगा कि क्या सोशल मीडिया इन लक्ष्यों को प्राप्त करने में सहायक होता है या कि एक बाधा साबित होता है। शिक्षा में सोशल मीडिया को सम्मिलित करने से विद्यार्थी को बाहरी रूप से प्रेरित होने से आगे बढ़कर अंतरंग रूप से प्रेरित होने में मदद मिल सकती है।

शिक्षा में सोशल मीडिया के लाभ उसके दुर्गुणों से अधिक हैं। अतः सोशल मीडिया को शिक्षा के साधनों में शामिल किए जाने की आवश्यकता है। हां, इसे शिक्षा के लिए रामबाण नहीं माना जा सकता और शिक्षा में सोशल मीडिया के इस्तेमाल के हानिप्रद पहलुओं के प्रति सचेत रहना होगा। परंतु सोशल मीडिया में वार्तालाप, सहयोग, सामंजस्य, वैश्विक पहुंच, अपेक्षा पर खरा उतरने और कम लागत की शिक्षा की जो संभावनाएं निहित हैं वे भारत के सर्व शिक्षा अभियान को सफल बनाने में वरदान सिद्ध हो सकता है। हालिया अध्ययनों से पता चलता है कि सोशल नेटवर्किंग, समूचे विश्व में सर्वाधिक लोकप्रिय ऑनलाइन (इंटरनेट)

गतिविधि बनकर उभरी है। इस बात के स्पष्ट संकेत हैं कि राजनीतिक जीवन में सोशल मीडिया की प्रासंगिकता पर अब कोई संदेह नहीं रह गया है। सामाजिक और राजनीतिक कार्यों के लिए फेसबुक, टिवट्र और सोशल मीडिया के अन्य मंचों का उपयोग अब आम होता जा रहा है।

मुख्यधारा की संस्थागत राजनीतिक प्रक्रिया की श्रेणीबद्ध और नौकरशाही की प्रवृत्तियों से मुक्त संवाद, बहस और मुद्दा आधारित चर्चाओं के नवीन अवसर पैदा करने में सोशल मीडिया की संभावनाओं को प्रायः सराहा गया है। विद्वानों एवं जनआंदोलनकारियों ने राजनीतिक सक्रियता के आचरण (कार्यान्वियन) के संपूर्ण बदलाव में सोशल मीडिया की दोहरी संभावनाओं की ओर इशारा किया है। प्रथम सोशल मीडिया सामूहिक कार्रवाई से जुड़े खर्च में कमी लाने में मदद करता है। दूसरे, जैसाकि ताइपेई, हांगकांग और सिंगापुर के पर्यावरण संबंधी नागरिक (सामाजिक) संगठनों के हालिया अध्ययन से पता चला है, कि सोशल मीडिया प्रकाश की गति से कार्यान्वियन का असर प्रदान करता है, जो सक्रियता के क्षेत्र में संघ संबंधी विचार-विमर्श में धीमी गति से पारम्परिक कार्यान्वियन की तुलना में त्वरित अनुक्रियाओं और लचीली परिवर्तनशील गठबंधनों पर जोर देता है।

आंदोलनों और विरोध प्रदर्शनों के लिए लोगों का समर्थन जुटाने के अतिरिक्त सोशल मीडिया जन चेतना जगाने का काम भी बखूबी करता है। फिलीपींस के एक उदाहरण से इस तथ्य को भली-भांति समझा जा सकता है। वहां ***लिखान*** नामक एक जमीनी जन संगठन एक दशक से भी अधिक समय से प्रजनक स्वास्थ्य कानून के लिए संघर्ष कर रहा था। संगठन ने 2010 में एक ऑनलाइन पत्रिका स्थापित की। इस प्रक्रिया ने उस वर्ग को जिन्हें यौन और प्रजनन संबंधी स्वास्थ्य सेवाओं की सर्वाधिक आवश्यकता थी, अपने जीवन के साझे अनुभवों से एक सुविचारित समीक्षा तैयार करने में बेहद मदद की। इससे उन्हें अपने राजनीतिक मूल्य को पहचानने में भी मदद मिली। इस प्रकार के अनेक ऐसे उदाहरण हैं जिनमें फेसबुक, डिजिटल वीडियोज और यू-ट्यूब के उपयोग से सामूहिक चेतना जगाने में सफलता मिली।

संस्कृति पर इंटरनेट के प्रभाव

बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से ही कम्प्यूटर का चलन इतना बढ़ गया कि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में चाहे वह सांस्कृतिक हो या सामाजिक हो या आर्थिक, व्यक्ति

मानो कम्प्यूटर का गुलाम मात्र बनकर रह गया। कम्प्यूटर का चलन जैसे-जैसे बढ़ता गया सूचना प्रौद्योगिकी एवं संचार के क्षेत्र में विकास की बाढ़-सी आ गई। कम्प्यूटर ने शिक्षा, मनोरंजन एवं सूचना के क्षेत्र में कई उल्लेखनीय, कार्य किए हैं। कम्प्यूटर की भण्डारण क्षमता ने दस्तावेजों से भरे सैकड़ों कमरों को 1-2 इंच के पेन ड्राइव एवं हार्ड डिस्क में आसानी से सुरक्षित रख सकने तक समेट दिया है। कम्प्यूटर और टेलिफोन के साझे प्रयोग से इंटरनेट का चलन हुआ, जिससे सम्प्रेषित सूचनाओं की मात्रा और गुणवत्ता बढ़ गई। साथ ही भौगोलिक दूरियां कम हो गईं। प्रत्येक कार्य कम्प्यूटर पर निर्भर हो गया, चाहे खरीदारी हो, टिकट बुक कराना हो, पैसा जमा करना हो वगैरह-वगैरह।

जिस प्रकार कम्प्यूटर मानव सभ्यता के लिए उपयोगी साबित हुआ उसी के समानांतर मानव संस्कृति के लिए अभिशाप भी सिद्ध हो रहा है। कम्प्यूटर ने सामाजिक संरचना में व्यापक फेरबदल किया है। स्कूलों के द्वारा अत्याधुनिक कम्प्यूटर सुविधा देने की होड़ लगी है। आजकल बच्चे पॉर्न साइट्स चोरी-छुपे देखते हैं, जिससे उम्र से पूर्व ही बच्चे बड़े हो रहे हैं, जिससे समाज में अपराध बढ़ रहे हैं। सामाजिकता समाप्त होती जा रही है। आज सोशल साइट्स पर चेटिंग कर विवाह तक हो रहे हैं, जो आम बात हो गई है। कम्प्यूटर प्रयोग से समाज में व्यक्तिगत संचार कम हो रहा है। घरों में भी परस्पर संचार कम होने से रिश्ते कमजोर होते जा रहे हैं। संयुक्त परिवार टूट रहे हैं। महान मनोवैज्ञानिक जेनिफर आर. फेरीस का मानना है कि कम्प्यूटर, इंटरनेट का आदी होना वास्तव में एक मनोरोग के लक्षण हैं। इसे इंटरनेट एडिक्शन डिसआर्डर भी कहते हैं।

वर्जीनिया मेडिकल स्कूल के शोधकर्ताओं के अन्वेषण के अनुसार, वाई-फाई, लेपटॉप व इंटरनेट सर्फिंग करने वालों के शरीर में शुक्राणुओं की गति मंद पड़ जाती है जिससे नपुंसकता का खतरा बढ़ जाता है। कम्प्यूटर पर अश्लील एवं पॉर्न साइट्स देखने से मस्तिष्क के आर्बिटो फ्रंटल कॉर्टेक्स में डोपामाइन नामक रसायन बढ़ जाता है। इस रसायन के प्रभाव से बच्चे उम्र से पूर्व वयस्क होते जा रहे हैं, जिससे समाज की पारिवारिक संरचना परिवर्तित होती जा रही है।

कम्प्यूटर का उपयोग एक शस्त्र के रूप में किया जा रहा है। साइबर आतंकवाद या अपराध किसी सामाजिक, धार्मिक, सैद्धांतिक, राजनीतिक या अन्य उद्देश्यों को पूरा करने के लिए कम्प्यूटर या कम्प्यूटर तंत्र को बाधित करना

या ऐसा करने की जानबूझकर कोशिश करना है। जब इंटरनेट का विकास हुआ था, तब इंटरनेट के संस्थापकों को कदाचित यह भी पता रहा होगा कि इंटरनेट सर्वव्यापी क्रांति लाएगा। इंटरनेट के अनुचित उपयोग के बारे में तब कल्पना ही नहीं की गई थी। यही कारण है कि इंटरनेट के आपराधिक गतिविधियों को रोकने के लिए शुरू में ही कोई प्रभावी तकनीकी एवं अधिनियम नहीं बनाए गए। लोगों के साथ इंटरनेट के इस पक्ष का दुरुपयोग करने में लिप्त रहकर साइबरस्पेस में आपराधिक गतिविधियों को स्थिर करने के लिए प्रयासरत् रहे, साइबर क्राइम का क्षेत्र प्रतिदिन नवीन स्वरूपों के साथ उदीयमान हो रहा है। साइबर अपराध पारम्परिक प्रकृति के होते हैं, जैसे चोरी, धोखाधड़ी, जालसाजी, मानहानि तथा शरारत। लेकिन अब इसके क्षेत्र का व्यापक विस्तार हो चुका है साइबर आतंकवाद, बौद्धिक संपदा अधिकारों का उल्लंघन, क्रेडिट कार्ड धोखाधड़ी, ब्लैकमेलिंग, अश्लील सामाग्री का वितरण, किसी के खाते का वित्तीय फर्जीवाड़ा करना, किसी की सूचनाओं को चुराकर उसके खिलाफ रणनीति बनाना, असामाजिक तथा उन्माद फैलाने वाली सामाग्री का प्रसारण करना। इस प्रकार राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए आम नागरिकों को प्रताड़ित करने एवं वित्तीय धोखाधड़ी करने के लिए साइबर क्राइम किया जा रहा है।

इंटरनेट के आने के बाद जिन परिवर्तनों ने पत्रकारिता को सर्वाधिक प्रभावित किया है उसमें सोशल मीडिया का नाम लिया जा सकता है। गूगल जैसे सर्च इंजनों ने जहां डिजिटल पत्रकारिता को नए आयाम दिए वहीं टिवट्र और फेसबुक जैसे माध्यमों ने पत्रकारिता के स्वरूप को तेजी से बदलना शुरू किया है। हालांकि सोशल मीडिया ने जितना फायदा पत्रकारिता को पहुंचाया है उतनी ही चुनौतियां भी खड़ी की हैं। वर्चुअल दुनिया की सत्यता को लेकर सवाल हमेशा खड़े होते रहे हैं।

मीडिया और समाज का रिश्ता बेहद गहरा है। लोकतांत्रिक व्यवस्था में समाज के प्रति मीडिया की जवाबदेही भी अधिक है। सोशल मीडिया के रूप में ऑनलाइन समाज ने पूरे विश्व में पांव पसारे हैं। समृद्ध लोकतांत्रिक मूल्यों एवं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के लिए जाना जाने वाला हमारा देश भी इस नवोदित सोशल मीडिया के प्रभाव में है। हम मीडिया के इस नए चेहरे की उपादेयता

से इंकार नहीं कर सकते, क्योंकि इसने ग्लोबल विलेज की अवधारणा को साकार करते हुए वैश्विक स्तर पर जहां ज्ञान और जानकारी के भंडार को समृद्ध बनाया है, वहीं नजदीकियां भी बढ़ाई हैं।

वस्तुतः इंटरनेट ने दुनिया बदल दी है। मीडिया जगत, समाज एवं संस्कृति इससे अछूती नहीं रही है। प्रौद्योगिकी ने पूरे मीडिया का चेहरा ही बदल कर रख दिया। ऑनलाइन पत्रकारिता के इस युग में सूचनाएं पंख लगाकर उड़ रही हैं। मीडिया के परम्परागत तौर-तरीकों के बरक्स इंटरनेट, कम्प्यूटर, लैपटॉप, चिप, मेमोरी कार्ड, डाटा कार्ड, मदरबोर्ड और कार्ड रीडर ने पत्रकारिता समाज, संस्कृति एवं सूचना के क्षेत्र में एक नई दुनिया रच डाली है, जिसने सचमुच सूचना क्रांति को सार्थकता प्रदान की है।

मीडिया ने समाज को सही दिशा और गति प्रदान की है और वर्तमान में भी कर रहा है। परंतु भविष्य में इसमें कुछ सुधार की अपेक्षा है क्योंकि मीडिया का कार्य न केवल सूचना एवं मनोरंजन करना है अपितु लोगों को प्रत्येक क्षेत्र में जागरूक करते हुए स्वच्छ एवं नैतिक जनमत तैयार करना भी है। लोग क्या चाहते हैं यह जरूरी तो है परंतु उसका समाज पर क्या असर पड़ेगा, यह देखना उससे भी ज्यादा जरूरी है। हमें इसी खोए हुए लक्ष्य को प्राप्त करने की आवश्यकता है।

अध्याय-12

संस्कृति का संवर्द्धन एवं संरक्षण

किसी जमाने में राजा और महाराजा कलाकारों, कवियों, लेखकों एवं शिल्पकारों के संरक्षक हुआ करते थे। वर्तमान लोकतांत्रिक गणराज्य के उदय के साथ ही राजाओं का शासन लुप्त हो गया और संस्कृति के संरक्षण व पोषण की जवाबदेही सरकार पर आ गई। केंद्र और राज्य सरकारें कला, नाटक, संगीत व पत्रों से संबंधित राष्ट्रीय व प्रांतीय अकादमियों के माध्यम से कला व संस्कृति की उन्नति में लगी हुई हैं। वर्तमान समय में निजी उपक्रम भी सांस्कृतिक गतिविधियों और कलाकारों के उत्थान को लेकर खासे उत्साहित हैं। इस संदर्भ में बिरला अकादमियों, आई.टी.सी. और सी.एम.सी. के कार्य उल्लेखनीय हैं।

सांस्कृतिक गतिविधियों को बढ़ावा देने के अपने प्रयासों के तहत् सरकार ने कई संस्थानों की रचना की है या उन्हें प्रायोजित किया है।

सरकारी संस्थान

किसी भी राष्ट्र के विकास एजेंडे में संस्कृति एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। संस्कृति मंत्रालय का अधिदेश प्राचीन सांस्कृतिक विरासत का परिरक्षण एवं संरक्षण तथा देश में मूर्त तथा अमूर्त दोनों तरह की कला एवं संस्कृति के संवर्द्धन के इर्द-गिर्द घूमता है। प्रशासनिक ढांचे में मंत्रालय के विभिन्न ब्यूरो और विभाग हैं जिसके मुखिया सचिव होते हैं। इसके दो संबद्ध कार्यालय, छह अधीनस्थ कार्यालय और 33 स्वायत्त संगठन हैं जो सरकार द्वारा पूर्ण वित्तपोषित हैं। संस्कृति मंत्रालय विरासत और संस्कृति के संरक्षण, विकास और संवर्द्धन पर कार्य करता है। इनमें प्रमुख हैं मूर्त, विरासत, अमूर्त और ज्ञान तथा संस्कृति। इसके

अतिरिक्त, मंत्रालय गांधीजी की विरासत, प्रमुख ऐतिहासिक घटनाओं की स्मृति तथा महान व्यक्तियों की जन्मशती मनाने की जिम्मेदारी भी निभाता है।

भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण विभागः सन् 1861 में स्थापित यह संस्थान पुरातात्विक शोध गतिविधियों के क्षेत्र में अग्रणी है। यह बड़े पैमाने पर प्रागैतिहासिक व इतर पुरातन स्थानों के अन्वेषण और उत्खनन संबंधी कार्यक्रम चलाता है। इसके अलावा स्थापत्यिक सर्वेक्षण, स्मारकों के इर्द-गिर्द प्राकृतिक सौंदर्यीकरण, उनका संरक्षण व रासायनिक बचाव, मूर्तियां व संग्रहालय की वस्तुयें, शिलालेख संबंधी खोज, पुरातन स्थानों के समीप बने पुरातत्वीय संग्रहालयों का रख-रखाव, शिलालेखीय तथा पुरातत्वीय आवधिकों का प्रकाशन भी यह करता है।

हाल के उत्खननों में प्रमुख है हर्ष का टीला। हरियाणा के थानेसर में स्थित इस स्थान से कुषाण काल से मध्यकाल तक सांस्कृतिक तारतम्य के सूत्र मिले हैं। महाराष्ट्र के आदम क्षेत्र में सातवाहन काल से प्रारंभिक क्रिस्तान युग तक के अवशेष मिले हैं। गुजरात में धोलाविरा से हड़प्पा काल के दौरान नगर नियोजन के प्रमाण मिले हैं। उड़ीसा (वर्तमान में ओडिशा) के ललितागिरी में उत्तर-गुप्त काल के बुद्धकालीन भग्नावशेष मिले हैं। उड़ीसा में ही बाराबटी में मध्यकालीन संरचनात्मक अवशेष मिले हैं। पंजाब के संघोल में आद्य-ऐतिहासिक काल से गुप्तकाल तक सांस्कृतिक साम्य होने के प्रमाणों के साथ कुषाण युग के संरचनात्मक अवशेष मिले हैं। कर्नाटक के गुदनापुर में पूर्व-मध्य काल का एक मंडप और बिहार के कोल्हुआ में गुप्त और गुप्तोत्तर काल के अवशेष मिले हैं।

भारतीय पुरात्वत सर्वेक्षण की विज्ञान शाखा मुख्यतः देश भर में संग्रहालयों तथा उत्खनित वस्तुओं का रासायनिक परिरक्षण करने के अलावा 3593 संरक्षित स्मारकों का रासायनिक संरक्षण और परिरक्षण उपचार करने के लिए उत्तरदायी है।

हमारे समक्ष वास्तविक चुनौती संरक्षण के आवश्यक उपायों की योजना बनाना है जिससे कि इन निर्मित सांस्कृतिक विरासत और हमारी सभ्यता के अनूठे प्रतीकों को जहां तक सम्भव हो उनमें कम से कम हस्तक्षेप करने और उनके मूल रूप की प्रमाणिकता में किसी प्रकार का परिवर्तन अथवा संशोधन किए बिना आने वाली शताब्दियों के लिए बनाए रखा जा सके। हमारी सांस्कृतिक विरासत का स्थायित्व और समुचित संरक्षण सुनिश्चित करने के लिए संरक्षण

विकल्पों में वैज्ञानिक अनुसंधान को अधिक बढ़ावा देने की आवश्यकता है जो आरंभिक अन्वेषण पर आधारित हो जिसमें वस्तुओं के भौतिक स्वरूप (संघटक सामग्री, वास्तुशिल्पी विशेषताएं, उत्पादन तकनीकें, क्षरण की स्थिति) और वे कारक जो क्षरण करते हैं या क्षरण कर सकते थे, शामिल हैं। दूसरे शब्दों में जैसा कि चिकित्सा अध्ययन के मामले में है संरक्षण थैरेपी का क्षेत्र सही पहचान पर आधारित होता है।

संग्रहालयः भारत में संग्रहालय की अवधारणा अति प्राचीन काल में देखी जा सकती है जिसमें चित्र-शाला (चित्र-दीर्घा) का उल्लेख मिलता है। किंतु भारत में संग्रहालय का दौर यूरोप में इसी प्रकार के विकास के बाद प्रारंभ हुआ।

पुरातत्व विषय अवशेषों को संग्रहित करने की सबसे पहले 1796 ई. में आवश्यकता महसूस की गई जब बंगाल की एशियाटिक सोसायटी ने पुरातत्वीय, नृजातीय, भूवैज्ञानिक, प्राणि-विज्ञान दृष्टि से महत्व रखने वाले विशाल संग्रह को एक जगह पर एकत्र करने की आवश्यकता महसूस की। किंतु उनके द्वारा पहला संग्रहालय 1814 में प्रारंभ किया गया। इस एशियाटिक सोसायटी संग्रहालय के नाभिक से ही बाद में भारतीय संग्रहालय, कोलकाता का जन्म हुआ। भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण में भी, इसके प्रथम महानिदेशक एलेक्जेंडर कनिंघम के समय से प्रारंभ किए गए विभिन्न खोजी अन्वेषणों के कारण विशाल मात्रा में पुरातत्व विषयक अवशेष एकत्रित किए गए। स्थल संग्रहालयों का सृजन सर जॉन मार्शल के आने के बाद हुआ, जिन्होंने सारनाथ (1904), आगरा (1906), अजमेर (1908), दिल्ली किला (1909), बीजापुर (1912), नालंदा (1917) तथा सांची (1919) जैसे स्थानीय संग्रहालयों की स्थापना करना प्रारंभ किया। भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण के एक पूर्व महानिदेशक हरग्रीव्स द्वारा स्थल-संग्रहालयों की अवधारणा की बड़ी अच्छी तरह से व्याख्या की गई हैः

'भारत सरकार की यह नीति रही है कि प्राचीन स्थलों से प्राप्त किए गए छोटे और ला-लेजा सकने योग्य पुरावशेषों को उन खंडहरों के निकट संपर्क में रखा जाए जिससे वे संबंधित हैं ताकि उनके स्वाभाविक वातावरण में उनका अध्ययन किया जा सके और स्थानांतरित हो जाने के कारण उन पर से ध्यान हट नहीं जाए।' मॉर्टिन व्हीलर द्वारा 1946 में भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण (एएसआई) में एक पृथक् संग्रहालय शाखा का सृजन किया गया। आजादी के

बाद, भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण में स्थल-संग्रहालयों के विकास में बहुत तेजी आई। वर्तमान में, भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण के नियंत्रणाधीन 41 स्थल संग्रहालय हैं।

राष्ट्रीय स्मारक तथा पुरावशेष मिशनः भारत के पास प्रागैतिहासिक समय से निर्मित विरासत, पुरातत्वीय स्थलों तथा अवशेषों के रूप में असाधारण रूप से मूल्यवान, विस्तृत तथा विविध सांस्कृतिक विरासत हैं। बड़ी संख्या में स्मारक ही उत्साहवर्धक हैं तथा ये सांस्कृतिक विचार तथा विकास दोनों के प्रतीक हैं। अब ऐसा प्रतीत होता है कि भारत की विरासत को संस्थापित करना इसके विद्यमान होने में शासित प्रक्रिया तथा किस तरह यह विरासत लोगों से संबंधित है, के अतीत के हमारे ज्ञान, समझ तथा शायद रुचि में कुछ मूलभूत कमी हुई है जो सांस्कृतिक रूपों में व्यक्त इसके आविर्भाव औद्योगिक वृद्धि के युग में तेजी से बदल रही जीवन शैली में अपनी पारम्परिक महत्ता को खो रहे हैं।

तथापि, डाटाबेस के रूप में ऐसा कोई व्यापक रिकार्ड नहीं है जहां इस प्रकार के पुरातात्विक संसाधनों को निर्मित विरासतों, स्थलों तथा पुरावशेषों के रूप में सन्दर्भित किया जा सकता है। इसके परिणामस्वरूप हमारे देश में सीमित, गैर-नवीकरणीय तथा गैर-प्रतिवर्ती संसाधन भावी पीढ़ियों के लिए कोई रिकार्ड रखे बिना तेजी से विलुप्त हो रहे हैं। अतः इस प्रकार के संसाधनों के उपयुक्त सर्वेक्षण की तुरन्त आवश्यकता है और इसके आधार पर एक उपयुक्त पुरातात्विक विरासत संसाधन प्रबंधन तथा नीति तैयार की जा सकती है।

उपरोक्त के परिप्रेक्ष्य में, भारत के माननीय प्रधानमंत्री ने वर्ष 2003 में स्वतंत्रता दिवस पर राष्ट्रीय मूर्त विरासत मिशन स्थापित करने की घोषणा की थी। तदनुसार 19 मार्च 2007 को राष्ट्रीय स्मारक तथा पुरावशेष मिशन की स्थापना की गई।

केंद्रीय पुरातत्व पुस्तकालयः केंद्रीय पुरातत्व पुस्तकालय की स्थापना 1902 में की गई थी। यह राष्ट्रीय अभिलेखागार संगठन, जनपथ, नई दिल्ली की दूसरी मंजिल पर स्थित है। इस पुस्तकालय में लगभग 1,00,000 पुस्तकों का संग्रह है जिसमें पुस्तकें तथा जर्नल्स शामिल हैं।

इस पुस्तकालय में विभिन्न विषयों पर पुस्तकें तथा पत्रिकाएं हैं जैसे कि इतिहास, पुरातत्व, मानव विज्ञान, वास्तुकला, कला, पुरालेख तथा मुद्रा विज्ञान, भारतविद्या साहित्य, भूविज्ञान आदि।

पुस्तकालय में दुर्लभ पुस्तकें, प्लेट, मूल आरेख आदि भी हैं। पुस्तकों को डिवेली डेसीमल सिस्टम के अनुसार वर्गीकृत किया गया है।

प्रारंभिक प्रकृति के अनुसंधानों के लिए उनकी शैक्षणिक तथा तकनीकी अपेक्षाओं को पूरा करने के लिए भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण के प्रत्येक मंडल तथा शाखा कार्यालयों में पुस्तकालय है।

जिन स्मारकों का रासायनिक संरक्षण हुआ है उनमें अमृतपुर का अमृतेस्वरा मंदिर, कर्नाटक में बनवासी का महादेश्वर मंदिर और तमिलनाडु में महाबलीपुरम् स्थित शोर मंदिर शामिल हैं। इस निस्तारण अभियान का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण बाघ गुफाओं के भित्ति चित्रों को फाइबर ग्लास और लोचदार प्लास्टिक की मदद से नवीनीकृत करना है। कम्पूचिया के अंकोर वाट में पुरातत्व विभाग का सर्वेक्षण कार्य जारी है।

विभाग, पुरातन स्मारक व पुरातत्वीय स्थान अवशेष अधिनियम 1958 और पुरातत्व व कला कोष अधिनियम 1972 के क्रियान्वयन के क्षेत्र में भी सक्रिय है। सौ वर्ष पुरानी कोई भी वस्तु (पांडुलिपि, दस्तावेजों की दशा में 75 वर्ष) जिससे पुरातत्वीय या कलात्मक अभिरुचि जुड़ी हो बिना भारतीय पुरातत्व विभाग की अनुमति के निर्यात नहीं की जा सकती। अधिनियम के तहत् 'कला कोष' को अंग घोषित कुछ ख्यातिनाम कलाकारों के कार्य को निर्यात करने के लिये भी अनुमति लेनी होगी। इसी तरह पुरातत्वीय वस्तुओं का व्यापार भी विभाग से कानूनन लाइसेंसजदा व्यक्ति ही कर सकता है। 1958 के अधिनियम के तहत केंद्र द्वारा संरक्षित स्मारकों व संग्रहालयों के फिल्मांकन और चित्रांकन हेतु भी अनुमति लेना जरूरी है। इसी तरह पुरातत्व विभाग के महानिदेशक की अनुमति के बिना भारत में कहीं भी उत्खनन कार्य नहीं किया जा सकता।

एएसआई निम्न इकाइयों द्वारा विभिन्न गतिविधियां करती हैंः

अंतर्जलीय पुरातत्व विंगः भारत के पास 7,516 कि.मी. लंबी तटरेखा, 1197 द्वीप समूह और 1,55,889 वर्ग कि.मी. समुद्री क्षेत्र और 2,013,410 वर्ग कि.मी. विशिष्ट आर्थिक क्षेत्र है। देश का विस्तृत जल क्षेत्र अंतर्जलीय सांस्कृतिक विरासत में धनी है। अंतर्जलीय पुरातत्व के महत्व का अनुभव VI पंचवर्षीय योजना में प्रारंभ किया गया। भारत में अंतर्जलीय पुरातत्व की शुरुआत 1981 में हुई। देश में तट से दूर अन्वेषण ने इस विषय को पर्याप्त लोकप्रिय बना

दिया। 2001 ई. में भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण (ए एस आइ) में अंतर्जलीय पुरातत्व विज्ञान विंग (यूएडब्ल्यू) की स्थापना इस विषय के विकास की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम था।

अपनी स्थापना से यूएडब्यू अरब सागर और बंगाल की खाड़ी में अंतर्जलीय पुरातात्विक अध्ययन में सक्रियता से जुड़ा हुआ है। यूएडब्ल्यू निम्नलिखित कार्यो में संलग्न हैः अंतर्जलीय स्थलों और प्राचीन पोत अवशेषों का प्रलेखन। व्यावसायिक पुरातत्वविदों, युवा अनुसंधानकर्ताओं और छात्रों को प्रशिक्षण। विभिन्न पहलुओं पर विचार-विमर्श करने और जागरूकता पैदा करने हेतु संगोष्ठियों का आयोजन तथा अंतर्जलीय संस्कृति विरासत की रक्षा।

यूएडब्ल्यू अंतर्जलीय सांस्कृतिक विरासत के अध्ययन और रक्षा के लिए अन्य सरकारी संगठनों के साथ सहयोग करता है। भारतीय नौसेना से सहयोग एक बड़ी सफलता रही है। सांस्कृतिक विरासत की ओर लक्षित अंतर्जलीय सांस्कृतिक विरासत की रक्षा और अंतर्जलीय कार्यकलापों का विधायन यूएडब्ल्यू की मुख्य चिंता रही है। यूनेस्को द्वारा 2001 में "अंतर्जलीय सांस्कृतिक विरासत की रक्षा पर सम्मेलन" का आयोजन अंतर्जलीय सांस्कृतिक विरासत की रक्षा और प्रबंधन के बारे में भूमंडलीय चिंता को प्रदर्शित करता है। यूएडब्ल्यू ने अंतर्जलीय सांस्कृतिक विरासत की रक्षा और परिरक्षण के लिए कदम उठाया है।

विज्ञान शाखाः संरक्षण गतिविधियों के इन दोनों कदमों के लिए वैज्ञानिक विषय की भूमिका महत्वपूर्ण है। तदनुसार, विज्ञान शाखा द्वारा अध्ययन के उद्देश्य से संरक्षण में वैज्ञानिक अनुसंधान गतिविधियों के एक विशिष्ट उद्देश्य को अपनाया जा रहा है।

- सामग्री क्षरण करती है
- हस्तक्षेप प्रौद्योगिकियों का मूल अध्ययन
- सामग्री पर मूल अध्ययन
- डायग्नोस्टिक प्रौद्योगिकी

विज्ञान शाखा के मुख्य कार्य निम्नलिखित हैंः ● 18वें विश्व विरासत स्मारकों सहित लगभग 5000 केन्द्रीय संरक्षित स्मारकों का रासायनिक उपचार एवं परिरक्षण करना।

● संग्रहालय प्रदर्शों और उत्खनित वस्तुओं का रासायनिक उपचार एवं

परिरक्षण हमारी निर्मित सांस्कृतिक विरासत तथा भौतिक विरासत में हो रही विकृति के कारणों का अध्ययन करने के लिए विभिन्न भवनों की सामग्रियों की सामग्री विरासत पर वैज्ञानिक तथा तकनीकी अध्ययन और अनुसंधान करना जिससे उनके परिरक्षण की स्थिति में सुधार लाने के लिए उपयुक्त संरक्षण उपाय किए जा सकें।

● विदेशों में स्थित स्मारकों और विरासत स्थलों का रासायनिक संरक्षण।

● राज्य संरक्षित स्मारकों और ट्रस्टियों के नियंत्रण वाली सांस्कृतिक विरासत को डिपॉजिट कार्य के रूप में तकनीकी सहायता देना।

● पुरातत्व संस्थान नई दिल्ली से पुरातत्व में स्नातकोत्तर डिप्लोमा प्राप्त करने वाले छात्रों को रासायनिक संरक्षण पर प्रशिक्षण दिलाना।

● वैज्ञानिक संरक्षण कार्यों के संबंध में जागरूकता कार्यक्रम तथा कार्यशालाएं/सेमीनार आयोजित करना।

बागवानी शाखाः भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण द्वारा अनुरक्षित उद्यान दो श्रेणियों के हैं

● ऐसे जो स्मारक से संबंधित हैं मूल डिजाइन के एक भाग के रूप में जिनके चारों ओर बाग थे, तथा

● ऐसे जो सामान्यतया इतने विस्तृत नहीं थे, जो मूल रूप से बगीचों से संलग्न न रहते हुए स्मारकों की सुन्दरता के लिए बने थे।

प्रथम श्रेणी के अन्तर्गत मुगलों द्वारा बनवाए गए स्मारक आते हैं जो अलंकृत बगीचों तथा फल उद्यानों के प्रति अपने प्रेम के लिए प्रसिद्ध हैं। ऐसे मामलों में, सज्जा तथा सिंचाई दोनों के लिए प्राचीन फूलों की क्यारियां तथा जल चैनलों से उनका संबंध अभी भी विद्यमान है। ऐसे स्मारकों में हुमायूं का मकबरा, सफदरजंग का मकबरा, लाल किला, बीबी का मकबरा, औरंगाबाद, पिंजौर स्थित महल, अकबर का मकबरा, सिकन्दरा, इतमद-ऊ-द्दीन का मकबरा तथा आगरा स्थित रामबाग तथा सर्वाधिक आगरा स्थित ताज शामिल हैं। इन स्मारकों से जुड़े बगीचों का रखरखाव वास्तव में एक कठिन कार्य है, क्योंकि किसी भी नए विन्यास को मूल डिजाइन के अनुसार होना चाहिए तथा इसकी अनुरूपता, इसके मूल निर्माता के विचारों से होनी चाहिए। इन अलंकृत बगीचों का रखरखाव एक आवश्यकता है जो स्वियं स्मारक के रखरखाव से भी कम नहीं है क्योंकि इनके

बिना स्मारक अपूर्ण हैं। अन्य मामलों में उदाहरण के लिए दिल्ली स्थित कुतुब तथा लोधी स्मारक के बगीचे प्रारम्भिक रूप से स्मारक के लिए एक व्यवस्था उपलब्ध कराते हैं तथा इसके आसपास के भाग को आकर्षित बनाते हैं। पहली श्रेणी के बगीचों के मुकाबले इनके अभिविन्यास में अधिक स्वतंत्रता होती है।

कई मामलों में जहां भूदृश्य शुष्क तथा ऊबड़-खाबड़ होता है, लॉन बना कर तथा कुछ वृक्षों और झाड़ियों के माध्यम से पर्यावरण को विकसित किया जाता है। ऐसे स्मारकों के लिए जो बड़े शहरों के भीतर या पास होते हैं और बड़ी संख्या में दर्शकों को आकर्षित करते हैं के लिए सामान्यता अधिक शानदार बगीचों की योजना बनाई जाती है, किन्तु इस तथ्य को नजरअंदाज नहीं किया जाता कि पुरातत्वविदों का मुख्य उद्देश्य सार्वजनिक बगीचे तैयार करना नहीं है। किसी भी श्रेणी के बगीचे में, बगीचों के आधुनिकीकरण के विरुद्ध सावधानी बरती जाती है।

विदेशों में गतिविधियांः सर्वेक्षण के पुरात्वीय प्रयास उप-महाद्वीप की सीमाओं के बाहर किए गए और विदेशों में इसके सभी अभियान उत्कृष्ट रहे हैं।

अफगानिस्तानः विदेशों में अभियानों का सिलसिला आर.ई.एम.व्हीलर के वर्ष 1946 में किसी समय किए गए अफगानिस्तान के दौरे से आरंभ हुआ। एक दशक के बाद टी.एन. रामचन्द्रतन और वाई.डी. शर्मा ने कला की परम्पराओं, पुरालेखीय अभिलेखों और पुरातत्वीय अवशेषों का पता लगाने और उनके अन्वेषण के लिए मई-जुलाई, 1956 के बीच अफगानिस्तान का दौरा किया। सर्वेक्षण के दौरान कई स्थलों का भ्रमण किया गया और संग्रहालयों में रखे गए पुरातत्वीय अवशेषों का व्यापक अध्ययन किया गया ।

आर. सेन गुप्ता और बी.बी. लाल तथा उनके सहयोगियों के तत्वावधान में बाम्यैन स्थित बुद्ध की प्रतिमा एवं बल्ख स्थित ख्वाज़ा पारसा की मस्जिद का संरक्षण एवं जीर्णोद्धार तथा सूफी संत ख्वाज़ा अबू नासर के मक़बरे का बड़े पैमाने पर किया गया मरम्मत कार्य सर्वेक्षण के महत्वपूर्ण प्रयासों में से एक प्रयास था।

बी.के. थापर और उनके दल ने 1975 में अफगानिस्तान के फराह क्षेत्र का दौरा किया। उन्होंने अर्घनदाब नदी के किनारे काफिर किला और किला फरीदां क्षेत्र का पता लगाया।

इंडोनेशियाः एन.पी. चक्रवर्ती और सी. शिवराममूर्ति के नेतृत्व में एक प्रतिनिधिमंडल ने बार्बोडूर स्थित प्रसिद्ध स्मारक का दौरा किया और इसका व्यापक प्रलेखन किया गया।

मिस्रः 1961-62 में प्रागैतिहासिक पुरातत्व की खोज के लिए बी.बी. लाल और उनके दल ने मिस्र में नूबिया का दौरा किया। उन्होंने अफयेह के निकट नील नदी के टीलों में मध्य एवं परक्ती प्रस्तर युग के औजारों की खोज की। इस दल ने अफयेह स्थित कुछ स्थलों और ग श्रेणी के लोगों के कब्रिस्तान, जिसमें लगभग 109 कब्र थीं, का उत्खनन भी किया।

नेपालः वर्ष 1961-62 में श्री आर.वी. जोशी तथा डी. मित्र के नेतृत्व में दो अभियान नेपाल में भेजे गए। भैरवा तथा तोलिहावा जिलों में अनेकों स्थलों की खोज के अतिरिक्त मिशन ने कुदान तथा तिलोराकोट में भी उत्खनन किए। दूसरे दल ने पलैस्टोसेन अवधि की भू आकृति विज्ञानीय विशेषताओं की खोज की थी। वर्ष 1963 में कृष्णा देव ने नेपाल में प्रतिमा विज्ञानीय सर्वेक्षण किया। दुर्लभ मूर्तियां जैसे एक पद त्रिमूर्ति के रूप में शिव, गीज के रथ पर सवार चन्द्र, महेश समहास तथा अर्द्धनारी में विष्णु अत्यधिक उत्कृष्ठ खोजों में थे। एस. बी. देव तथा भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण ने वर्ष 1965 में नेपाल में भवरा से त्रिवेणी घाट के बीच के क्षेत्र का अन्वेषण किया। इन्होंने बंजारही, लुम्बिनी तथा पैसा का दक्षिणी भाग का भी उत्खनन किया।

कम्बोडियाः कम्बोडिया में अंकोरवाट का संरक्षण बाहर के देशों में सर्वेक्षण की सर्वाधिक उत्कृष्ठ परियोजनाओं में से संभवतः एक है। श्री आर. सेन गुप्ता बी.एन. टंडन तथा आर. दत्ता गुप्ता, जिन्होंने अक्टूबर, 1980 में मंदिर का दौरा किया था, ने भवन में देखे गए नुकसान तथा कमियों के आकलन के लिए एक स्थिति रिपोर्ट तैयार की । वर्ष 1982 में के.एम. श्रीवास्तव तथा उनके दल ने एक परियोजना रिपोर्ट तैयार की तथा संरक्षण परियोजना पर प्रयोग किया । एम. एस. नागराज राव के अधीन पांच सदस्यीय दल ने अंकोरवाट का दौरा किया तथा श्रीवास्तव द्वारा पहले तैयार की गई रिपोर्ट में कुछ टिप्पणी शामिल करते हुए एक व्यापक संरक्षण रिपोर्ट तैयार की। परिणामस्वरूप 1986-1992 के बीच के.पी. गुप्ता, बी.एस. नयाल, सी.आई. सूंरी तथा बी. नरसिम्हैया के नेतृत्व वाले तथा उनके मिशन दल ने सफलतापूर्वक इस मंदिर के संरक्षण तथा जीर्णोद्धार कार्य को पूरा किया।

बहरीनः सरकार के अनुरोध पर श्री के.एम. श्रीवास्तव के नेतृत्व में तेरह सदस्यीय दल ने वर्ष 1983 में उत्खनन किया । इन्होंने लगभग 70 कब्रों को खोदा। प्राप्त की गई अन्य वस्तुओं में से छः इंडस सीले, पारम्परिक इंडस लिपि सहित एक गोलाकार सेलखड़ी सील महत्वपूर्ण वस्तुएं थीं।

मालद्वीप समूहः सार्क तकनीकी सहायता कार्यक्रम के अन्तर्गत बी.पी. बोर्डीकर के नेतृत्व में एक दल ने मालदीव द्वीप समूह में इस्लाम पूर्व अवशेष की जांच की। अर्जाडु, कुदाहुवान तथा कुरूमथी, टोड्डु तथा निलांडू प्रवालदीव में अन्वेषण तथा वैज्ञानिक सफाई लघु उत्खननों से बौद्ध विशेषताएं प्रकाश में आई हैं।

भूटानः नेखांग-लखांग टोंगजा डी जॉग के मिथरागये-लखांग तथा डो डे ड्राक मठों के भित्ति-चित्रों के परिरक्षण और भित्ति-चित्रों के रासायनिक परिरक्षण के लिए श्री एन. वेंकटेश्वर तथा जयराम सुन्दरम के नेतृत्व में वर्ष 1987-88-89 के बीच दो मिशनों को भूटान भेजा गया।

अंगोलाः अंगोला की राजधानी लुआंडा में साओ मिग्ऊएल के किले में केंद्रीय सशस्त्र सेना संग्रहालय का जीर्णोद्धार तथा पुनर्गठन किया गया। वर्ष 1988-89 के बीच पहले श्री डी.के. सिन्हा तथा बाद में श्री एम. खातून के नेतृत्व वाले भारतीय दल ने प्रागैतिहासिक तथा पुर्तगाली दीर्घा द चौपल, कामरेउ अगोस्टीन्हो नेटो दीर्घा तथा स्वतंत्रता के लिए संघर्ष दीर्घा में प्रदर्शों को पुनः व्यवस्थित किया।

वियतनामः डॉ. के.टी. नरसिम्हा तथा श्री एम.एम. कनाडे ने वियतनाम के स्मारकों का दौरा किया जो जीर्ण-शीर्ण अवस्था में थे तथा संरक्षण उपायों के लिए परियोजना रिपोर्ट प्रस्तुत की।

म्यांमारः डॉ. एस.वी.पी. हलाकट्टी तथा श्री ए.एच. अहमद ने म्यांमार के स्मारकों का दौरा किया तथा संरक्षण उपायों की विस्तृत रिपोर्ट प्रस्तुत की।

इसके अतिरिक्त सांस्कृतिक विनियमन कार्य के अधीन भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण के विद्वान तथा विशेषज्ञ नियमित रूप से बाहर के देशों का दौरा करते हैं।

उत्खननः भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण की विभिन्न शाखाओं और मण्डलों ने देश के विभिन्न भागों में पुरातत्वीय उत्खनन किए हैं। स्वतंत्रता से भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण, राज्य के पुरातत्व विभागों, विश्वविद्यालयों और अन्य संगठनों

ने देश के विभिन्न भागों में पुरातत्वीय उत्खनन किए हैं। पिछली शताब्दी के दौरान किए गए उत्खननों के संबंध में स्थलों की सूची "इंडियन आर्किलोजी ए रिव्यू ए लिस्ट ऑफ दि साइट्स" में उपलब्ध सूचना के आधार पर 2000 से दिए गए उत्खननों की राज्यवार सूचना इस भाग में दी गई है।

समुद्री पुरातत्व इकाईः जलमग्न बंदरगाहों और जहाजों के उत्खनन एवं अन्वेषण की दृष्टि से इस इकाई की स्थापना राष्ट्रीय समुद्र विज्ञान संस्थान, गोवा में हुई। सूचना एवं तकनीक विभाग की मदद से इस परियोजना ने गुजरात की धार्मिक नगरी द्वारका के अपतटीय सर्वेक्षण का बीड़ा उठाया है। श्रीकृष्ण द्वारा रचित यह नगरी जलमग्न हुई मानी जाती है। समुद्र देवता मंदिर के पुरातन बंदरगाह पर पानी के भीतर खुदाई से बड़ी इमारतों के जलमग्न ढांचे मिले हैं। इसी तरह तटवर्ती खुदाई से समुद्र द्वारा नष्ट तीन मंदिर (पहली से नौवीं ए. डी.) और दो नगर (10-15 बी.सी.) मिले हैं। ओखा पोर्ट स्थित बेट द्वारका द्वीप के अपतटीय उत्खनन द्वारा कृष्ण से संबंधित 14-15 ईसा पूर्व जलमग्न हुए नगर के सांकेतिक अवशेष मिले हैं। पानी के भीतर उत्खनन से महत्वपूर्ण आद्यैतिहासिक प्राप्तियों में सिंधु घाटी के चिन्ह और एक लिखित जार मिला है जिसमें समुद्र देव का उल्लेख और उनसे रक्षा की याचना की गई है।

समुद्र देव मंदिर के 700 मीटर समुद्रोन्मुखी दिशा में अरब सागर में उत्खनन से चूने के पत्थर से बनी किलाबंद दीवारों और गड्ढों के अवशेष मिले हैं जिससे द्वारका नगरी के होने और *महाभारत* में वर्णित उसकी किलेबंदी की पुष्टि होती है। इसे *वरीदुर्गा* (पानी में गढ़) कहा गया है। दीवार के एक भाग से निकले मिट्टी के बर्तन की अवधि लगभग 3520 साल है। पुरातत्वीय प्रमाणों के अनुसार महाभारत को भी इतने वर्ष हो गए हैं।

राष्ट्रीय एवं प्रांतीय अभिलेखागार के समुद्री रिकार्ड के मुताबिक भारतीय समुद्रों में करीब दो सौ पोतभंग हुए हैं। समुद्री पुरातत्वीय खोज का लक्ष्य समुद्री व्यापार के इतिहास की पुनर्रचना, पोत निर्माण और सांस्कृतिक प्रवास है। इसी के साथ नाविक स्थापत्य और तलछट शास्त्रियों के उपयोग हेतु आंकड़ों को संवारना भी इसका उद्देश्य है।

सांस्कृतिक संबंधों हेतु भारतीय परिषद (इंडियन काउंसिल फॉर कल्चरल रिलेशंस) नई दिल्लीः इसके क्षेत्रीय कार्यालय मुंबई, कोलकता, चेन्नई,

सुवा (फिजी) जॉर्जटाउन (गुयाना) और सेनफ्रांसिस्को (अमेरिका) में हैं। सरकार द्वारा प्रायोजित यह स्वायत्त संस्था भारत और दूसरे देशों के बीच सांस्कृतिक संबंधों की स्थापना, प्रवर्तन और विनिमय का कार्य करती है। इसके अतिरिक्त संस्कृति के क्षेत्र में राष्ट्रीय अंतरराष्ट्रीय संगठनों की सहायता करना, भारतीय अध्ययन का विदेशों में विकास, कला व साहित्य संबंधी प्रदर्शनियां, भारतीय संस्कृति के अध्ययन हेतु विदेशी छात्रों को निमंत्रण, विदेशी छात्रों के लिये ग्रीष्म अवकाश शिविरों का आयोजन, सांस्कृतिक कार्यक्रमों का आयोजन, अंतरराष्ट्रीय समझ के लिये जवाहरलाल नेहरू पुरस्कार देना, आजाद स्मृति व्याख्यान, कलात्मक वस्तुएं व पुस्तकें विदेशों में प्रस्तुत करना, निबंध प्रतियोगिताओं का आयोजन, विदेशों में भारतीय छात्रों हेतु संस्कृति केंद्रों की स्थापना, भारत में विदेशी शैक्षणिक व सहयोगी संस्थानों को सामग्री देना भी इसका काम है।

भारतीय ऐतिहासिक अनुसंधान परिषदः उन्नीस सौ बहत्तर में नई दिल्ली में स्थापित यह परिषद ऐतिहासिक शोध के संबंध में राष्ट्रीय नीति का क्रियान्वयन करती है साथ ही इतिहास संबंधी वैज्ञानिक लेखन को प्रोत्साहित करती है। यह सम्मेलनों के आयोजन, शोध कार्यों व पत्रिकाओं के प्रकाशन हेतु अनुदान भी देती है। यह इतिहास के क्षेत्र में छात्रों को अनुदान, शोध परियोजना का संचालन करने के साथ फैलोशिप भी प्रदान करती है।

भारतीय इतिहास कांग्रेसः उन्नीस सौ पैंतीस में स्थापित आधुनिक भारतीय इतिहास कांग्रेस से 1938 में 'आधुनिक' शब्द हटा लिया गया। इसका लक्ष्य इतिहास के विज्ञानसम्मत अध्ययन को प्रवर्तन और प्रोत्साहन, गतिविधियों/बुलेटिन/मेमो/जर्नल और दूसरे कार्यों का प्रकाशन, भारत और विदेश में कार्यरत समान उद्देश्यीय संगठनों की सहायता करना है। स्थापना के वक्त से ही इसकी बैठक प्रति वर्ष होती है।

इस्लामी अध्ययन का भारतीय संस्थान (इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ इस्लामिक स्टडीज): उन्नीस सौ तिरसठ में नई दिल्ली में स्थापित इस संस्थान का प्रमुख उद्देश्य इस्लामी सभ्यता और संस्कृति को बढ़ावा देना है। इसके साथ विभिन्न देशों में इस्लामी अध्ययन कर रहे छात्रों व संस्थानों के मध्य अंतर्संवाद को बढ़ाना और भारत पर इस्लाम का प्रभाव और इस्लामी अध्ययन में भारत के योगदान पर शोध का संचालन करना व सुविधाएं उपलब्ध कराना भी इसका

काम है। संस्थान के पास अरबी व फारसी की करीब 500 पांडुलिपियों के अलावा इस्लाम पर सर्वश्रेष्ठ संग्रहण है।

इंडियन सोसायटी ऑफ ओरिएंटल आर्ट, कोलकाताः यह संस्थान पुरातन और आधुनिक भारतीय एवं ओरिएंटल कला के ज्ञान को बढ़ावा देता है। यह कलात्मक वस्तुओं का संग्रहण, प्रदर्शनियों, सम्मेलनों, व्याख्यानों का आयोजन, अध्ययन व शोध का संचालन करने के साथ कलाकारों, शिल्पकारों और कला के छात्रों को प्रोत्साहित करने हेतु पुरस्कार, डिप्लोमा हेतु छात्रवृत्ति व जर्नल तथा कलाचित्रों, का प्रकाशन भी करता है। इसके पास कला पुस्तकों का दुर्लभ व आधुनिक भंडार है।

जामिया मिलिया इस्लामिया, नई दिल्लीः उन्नीस सौ बीस के असहयोग व खिलाफत आंदोलन की लहर में 1920 में अलीगढ़ में मौलाना महमुदूल हसन ने इसकी स्थापना की। मुहम्मद अली, एम.ए. अंसारी, हकीम अजमल खां, डॉ. जाकिर हुसैन जैसे राष्ट्रवादी नेता इससे जुड़े थे। उन्नीस सौ पच्चीस में एक विश्वविद्यालय के रूप में यह दिल्ली स्थानांतरित हो गया। मानवीय विषयों में विशिष्टीकृत इस संस्थान में धार्मिक अध्ययन का भी एक विभाग है। संस्थान के पुस्तकालय में पुस्तकों का समृद्ध भंडार है जिसमें इस्लामी व ओरिएंटल अध्ययन की पांडुलिपियां भी शामिल हैं।

जमायत-उल-उलेमा-ए-हिंद (1933): यह भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस से जुड़े कुछ राष्ट्रवादी मुस्लिम संगठनों का समूह है। स्वतंत्रता संघर्ष से जुड़े इस संगठन का प्रभाव 1947 के बाद बढ़ा। 1949 के लखनऊ अधिवेशन में राजनीति को त्यागकर इस संगठन द्वारा मुस्लिमों के धार्मिक व सांस्कृतिक उत्थान तथा साम्प्रदायिक सहिष्णुता के क्षेत्र में सक्रिय होने का निर्णय लिया गया।

ललित कला अकादमीः भारतीय कला की देश-विदेश में जानकारी देने के लिये सरकार ने 1954 में ललित कला अकादमी की स्थापना की। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये अकादमी प्रदर्शनियां, कार्यशालायें, प्रकाशन और शिविरों का आयोजन करती है। हर साल यह एक राष्ट्रीय प्रदर्शनी और तीन साल में *ट्रायनेल-इंडिया* नामक अंतरराष्ट्रीय प्रदर्शनी का आयोजन करती है। अकादमी कलाकारों के लिये, शिविर, संगोष्ठी व व्याख्यानों का आयोजन करने के अलावा देश के ख्यातिनाम कला संगठनों को अनुदान भी देती है। प्रतिष्ठित कलाकारों

को फैलोशिप देकर यह सम्मानित भी करती है। अकादमी के पास गढ़ी, नई दिल्ली और कोलकाता में कलाकारों के लिये स्थायी कांप्लेक्स भी है, जहां चित्रकारी, ग्राफिक्स, सिरेमिक व मूर्तिकला का प्रशिक्षण दिया जाता है। इसके चेन्नई और लखनऊ में क्षेत्रीय कार्यालय हैं जिनमें व्यवहारिक प्रशिक्षण और कार्य की सुविधायें उपलब्ध करायी जाती हैं।

ललित कला अकादमी कला संस्थाओं/संगठनों को मान्यता प्रदान करती है और इन संस्थाओं के साथ-साथ राज्यों की अकादमियों को आर्थिक सहायता देती है। यह क्षेत्रीय केंद्रों के प्रतिभावान युवा कलाकारों को छात्रवृत्ति भी प्रदान करती है। अपने प्रकाशन कार्यक्रम के तहत् अकादमी समकालीन भारतीय कलाकारों की रचनाओं पर हिंदी और अंग्रेजी में मोनोग्राफ और समकालीन पारंपरिक तथा जनजातीय और लोक कलाओं पर जाने-माने लेखकों और कला आलोचकों द्वारा लिखित पुस्तकें प्रकाशित करती है। अकादमी अंग्रेजी में 'ललित कला कंटेंपरेरि', 'ललित का एंशिएंट' तथा हिंदी में 'समकालीन कला' नामक अर्द्धवार्षिक कला पत्रिकाएं भी प्रकाशित करती है। इसके अलावा अकादमी समय-समय पर समकालीन पेंटिंग्स और ग्राफिक्स के बहुरंगी विशाल आकार के प्रतिफलक भी निकालती है। अकादमी ने अनुसंधान और अभिलेखन का नियमित कार्यक्रम भी शुरू किया है। भारतीय समाज और संस्कृति के विभिन्न पहलुओं से संबद्ध समसामयिक लोक कला संबंधी परियोजना पर काम करने के लिए अकादमी विद्वानों को आर्थिक सहायता देती है।

भारतीय राष्ट्रीय अभिलेखागारः यह भारत के सर्वश्रेष्ठ और सबसे बड़े रिकार्ड संग्रहकर्ता में से है। उन्नीस सौ इक्यानवे में स्थापित इस संस्था का पूर्व नाम इम्पीरियल रिकार्ड्स डिपार्टमेंट था। उन्नीस सौ सैंतालीस से अब तक इसके पास सर्वे ऑफ इंडिया से प्राप्त पचास हजार से ज्यादा फाइलें, खंड, पांडुलिपियां और नक्शे हैं। अधिकारिक आंकड़ों के साथ एक सूक्ष्म फिल्म पुस्तकालय भी है जिसमें भारत के यूरोप व अमेरिका के साथ संबंधों से संबंधित आंकड़े हैं। सत्रह सौ पैंसठ से 1873 के बीच लिखे गए पत्रों का भी इसमें संग्रहण है। साथ ही आधुनिक भारतीय इतिहास के हजारों खंड इसके पुस्तकालय में उपलब्ध हैं। इंग्लैंड, फ्रांस, हालैंड, डेनमार्क और अमेरिका से जुड़ी भारतीय सामग्री की माइक्रोफिल्म प्रतियां भी यहां हैं। महत्वपूर्ण शख्सियतों के निजी प्रपत्र भी संस्था

में हैं। उन्नीस सौ सैंतालीस से यह केंद्र अभिलेख प्रबंधन में डिप्लोमा पाठ्यक्रम का संचालन भी कर रहा है।

अभिलेखागार की मुख्य गतिविधियां हैं (i) विभिन्न सरकारी एजेंसियों और शोधकर्ताओं को रिकॉर्ड उपलब्ध कराना, (ii) संदर्भ मीडिया तैयार करना, (iii) उक्त उद्देश्य के लिए वैज्ञानिक जांच-पड़ताल का संचालन और अभिलेखों की सार-संभाल करना, (iv) अभिलेख प्रबंधन कार्यक्रम का विकास करना, (v) अभिलेखों के संरक्षण में लगे व्यक्तियों और संस्थानों को तकनीकी सहायता उपलब्ध कराना, (vi) पेशेवर और उप-पेशेवर स्तर पर पांडुलिपियों, पुस्तकों और अभिलेखों के संरक्षण, प्रबंधन और प्रकाशन के क्षेत्र में प्रशिक्षण देना, और (vii) देश में विभिन्न विषयों पर प्रदर्शनियां आयोजित करके अभिलेखों के प्रति जागरूकता बढ़ाना। राष्ट्रीय अभिलेखागार राज्यों/केंद्रशासित प्रदेशों, स्वैच्छिक संगठनों और अन्य संस्थानों को आर्थिक सहायता देता है ताकि अभिलेख संबंधी विरासत की हिफाजत की जा सके और अभिलेख विज्ञान का विकास हो।

नेशनल बुक ट्रस्ट (राष्ट्रीय पुस्तक न्यास): अच्छे साहित्य के सृजन और उत्पादन को प्रोत्साहन देकर उसे सस्ती दरों पर उपलब्ध कराने के लिये भारत सरकार ने 1957 में नई दिल्ली में इसकी स्थापना की। यह न्यास भारतीय लेखकों द्वारा लिखी गई विश्वविद्यालय स्तरीय पाठ्य-पुस्तकों का कम दरों पर प्रकाशन करता है। यह भारतीय भाषाओं के चुनिंदा कार्यों का प्रकाशन भी करता है। इसके अलावा यह राष्ट्रीय पुस्तक मेलों और प्रांतीय पुस्तक प्रदशर्नियों का भी आयोजन करता है। यह फ्रेंकफर्ट, बेलग्रेड, कायरो, मास्को और अन्नम में होने वाले अंतरराष्ट्रीय पुस्तक मेले में भी भाग लेता है।

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान व प्रशिक्षण परिषदः उन्नीस सौ इकसठ में स्थापित यह संस्थान स्कूली शिक्षा के लिये शिक्षा मंत्रालय का प्रमुख सलाहकारी निकाय है। यह मंत्रालय की नीतियों और कार्यक्रमों का क्रियान्वयन करता है। स्कूली शिक्षा के प्रसार के लिये यह राज्य शिक्षण विभाग, विश्वविद्यालयों और दूसरे संस्थानों के निकट सहयोगी के रूप में काम करता है। साथ ही स्कूली बच्चों के लिये सभी विषयों में आदर्श पाठ्य-पुस्तकों का भी निर्धारण करता है।

नेशनल गैलरी ऑफ माडर्न आर्ट (आधुनिक कला की राष्ट्रीय दीर्घा): नई दिल्ली स्थित सरकार द्वारा प्रायोजित यह कला दीर्घा ललित कला संबंधी

कार्यों (चित्रकारी आदि) का संरक्षण करता है। यह प्रदशर्नियों के आयोजन के साथ उसके लिए दीर्घाओं की व्यवस्था भी करता है। व्याख्यानों, संगोष्ठियों और सेमिनारों के आयोजन के साथ यह तस्वीरों, पोस्टकार्ड, ग्रीटिंग और प्रकाशन करता है। इसके अलावा यह कला के क्षेत्र में अध्ययन और शोध को प्रोत्साहन देता है।

नेशनल गैलरी ऑफ मॉडर्न के मुख्य लक्ष्य एवं उद्देश्यः • सन् 1850 से अब तक की आधुनिक कलाकृतियों (आधुनिक कलात्मक वस्तुओं) को हासिल कर उनका संरक्षण करना

• गैलरियों का संगठन, देख-रेख और विकास करना ताकि स्थायी तौर पर प्रदर्शन कार्य किया जा सके

• अपने परिसर ही नहीं बल्कि देश के अन्य भागों और विदेशों में भी विशिष्ट प्रदर्शनियों का आयोजन

• एक शिक्षण एवं डाक्युमेंटशन सेंटर का विकास ताकि आधुनिक कलात्मक वस्तुओं से संबंधित दस्तावेजों को हासिल कर उनका संरक्षण किया जा सके तथा उनकी देखभाल भी की जा सके।

• विशेष प्रकार के पुस्तकालय का विकास जिसमें संबंधित पुस्तकें, नियतकालिक पत्र-पत्रिकाएं, चित्र और अन्य ऑडियो-विजुअल सामग्रियां उपलब्ध हों।

• व्याख्यानों, परिसंवादों और सम्मेलनों का आयोजन तथा कला के इतिहास, कला की आलोचना, संग्रहालय विज्ञान और दृश्य एवं परफॉर्मिंग आर्ट (प्रदर्शन कला) में उच्च शिक्षा को प्रोत्साहन देना।

नेशनल गैलरी ऑफ मॉडर्न ऑर्ट का सबसे महत्वपूर्ण दायित्व है गुणवत्ता सुनिश्चित करना और उत्कृष्टता के मानकों को तैयार करना और उन्हें बरकरार रखना। नेशनल गैलरी ऑफ मॉडर्न आर्ट के लक्ष्यों एवं उद्देश्यों में सौंदर्यबोध एवं शिक्षा के उद्देश्य न केवल स्पष्टतः परिभाषित हैं बल्कि ये प्रयास किए जा रहे हैं कि ये उद्देश्य इसके संगठन में अंतर्निहित और संगठन की सभी गतिविधियों में व्याप्त हों।

सबसे बड़ी बात यह है कि नेशनल गैलरी ऑफ मॉडर्न आर्ट के सहयोग से लोगों के बीच आधुनिक कला के कार्यों की समझ बढ़ी है और वे उनका

अधिक आनंद ले रहे हैं। आधुनिक कला की वस्तुओं का संबंध हमारे दैनिक जीवन से जोड़कर और उन्हें मानवीय भावना की अहम अभिव्यक्ति के रूप में महसूस करके आधुनिक कला की समझ और उसके आनंद में हमारी वृद्धि हुई है।

राष्ट्रीय कला संग्रहालय बनाने का विचार पहली बार सन् 1949 में अंकुरित और स्फुटित हुआ। इस विचार को सींचने का श्रेय प्रथम प्रधानमंत्री स्वयं पं. नेहरू और मौलाना आजाद के साथ-साथ हुमायूं कबीर जैसे संवेदनशील अफसरशाह को जाता है। कला के क्षेत्र में सक्रिय समुदाय की भी इसमें उल्लेखनीय भूमिका रही। 29 मार्च, 1954 को पं. जवाहरलाल नेहरू और गणमान्य कलाकारों एवं कला प्रेमियों की उपस्थिति में देश के उपराष्ट्रपति डॉ. एस. राधाकृष्ण ने औपचारिक रूप से एनजीएमए का उद्घाटन किया। इस उद्देश्य से ल्युटियंस दिल्ली की एक भव्य इमारत, जयपुर हाउस, के चयन ने इस संस्थान की गरिमा एवं महत्व को रेखांकित कर दिया। सन् 1936 में जयपुर के महाराजा के निवास के लिए तैयार इस भवन के वास्तुकार थे सर आर्थर ब्लूमफील्ड। तितली के आकार के इस भवन के मध्य में एक गोलाकार सभागार है। इसे केंद्रीय षटकोण की परिकल्पना की शैली में तैयार किया गया जो सर एडविन ल्युटियंस की कल्पना थी। गौरतलब है कि ल्युटियंस ने ही हर्बर्ट बेकर के सहयोग से दिल्ली की नई राजधानी की परिकल्पना की और उसे साकार किया। अन्य देशी रियासतों के भवनों जैसे बीकानेर और हैदराबाद हाउस के साथ जयपुर हाउस भी इंडिया गेट के बाहरी घेरे पर शोभायमान हैं। जयपुर हाउस के सुप्रसिद्ध वास्तुकार ने इस भवन के विभिन्न झरोखों के बीच जो समरसता दी है, जो तालमेल कायम किया है उससे इस इमारत को एक खास पहचान मिली है।

यह गैलरी अपनी श्रेणी में भारत का एक प्रमुख संस्थान है। यह भारत सरकार के संस्कृति विभाग के एक अधीनस्थ कार्यालय की तरह कार्यरत है। एनजीएमए की दो शाखाएं है। एक मुंबई में है और दूसरी बंगलुरु में। गैलरी देश के सांस्कृतिक दर्शन का संग्रहालय है और यह 1857 से लेकर लगभग पिछले 150 वर्षों में दृश्य एवं प्लास्टिक कलाओं के बदलते स्वरूपों को बखूबी प्रदर्शित करता है। कुछ भूली-बिसरी और हल्की-फुल्की कलात्मक वस्तुओं को छोड़कर एनजीएमए के संग्रह को आज यकीनन और निर्विवाद आधुनिक एवं समकालीन कला का देश का सबसे महत्वपूर्ण संग्रह कहा जा सकता है।

नेशनल लाइब्रेरी ऑफ इंडियाः कोलकाता के लेफ्टिनेंट-गर्वनरों और वायसरायों के घर में बनी इस लाइब्रेरी की स्थापना 1836 में एक निजी सम्पत्ति की सार्वजनिक लाइब्रेरी के रूप में हुई। द्वारकानाथ टैगोर इसके पहले मालिक और बंगाली उपन्यासों के जनक प्यारीचंद मित्रा इसके पहले लाइब्रेरियन थे। लार्ड कर्जन ने इसे एक राष्ट्रीय संस्थान के रूप में बदला। उन्नीस सौ चौवन में पुस्तकों की सुपुर्दगी अधिनियम (सार्वजनिक लाइब्रेरी) लागू होने और 1956 में उसमें पश्चातवर्ती परिवर्तन के बाद से यह भारत में प्रकाशित सभी समाचार-पत्रों समेत समस्त प्रकाशनों की एक प्रति प्राप्त करती है। भारतीय राष्ट्रीय संदर्भ-ग्रंथ-सूची का संकलन इसी से संभव हो पाया है। लाइब्रेरी का दूसरा काम शोध छात्रों और गंभीर पाठकों के लिये उनके अभियाचित विषयों पर छोटी संदर्भ सूचियों का संकलन करना है।

नेहरू युवक केंद्रः ये केंद्र 15-25 आयु वर्ग के छात्रों, गैर छात्रों को रचनात्मक कार्यों, प्रतियोगी खेलों के विकास, शारीरिक शिक्षा, समुदाय सेवा वगैरह के लिये प्रेरित करते हैं। विशेष रूप से ये ग्रामीण इलाकों में शिक्षा, साक्षरता और स्वच्छता को बढ़ावा देने के लिये कार्यरत हैं।

राजा राममोहनराय राष्ट्रीय शिक्षा संसाधन केंद्रः इसकी स्थापना 1972 में नई दिल्ली में हुई। इसका उद्देश्य विश्वविद्यालय स्तर की अच्छी पुस्तकों के उत्पादन और भारतीय लेखन को प्रोत्साहन देने वाले सूचना केंद्र के रूप में कार्य करना है। इसी के साथ विदेशों से आयातित मुद्रित सामग्री का प्रपत्रीकरण और सांख्यिकीय विश्लेषण करना ताकि पुस्तकों के संदर्भ में सार्थक आयात नीति पर पहुंचा जा सके। इसके पास भारतीय लेखकों द्वारा लिखी गई विश्वविद्यालय स्तर की पाठ्य पुस्तकों का वृहत संग्रह होने के साथ ही शिक्षा मंत्रालय द्वारा इंग्लैंड, अमेरिका और रूसी सरकार के सहयोग से लाई गई विदेशी पाठ्यपुस्तकों के सहायक संस्करण भी हैं।

साहित्य अकादमीः 1954 में भारत सरकार द्वारा भारतीय पत्रों के विकास के लिये नई दिल्ली में इस स्वायत्त संगठन की स्थापना की गई। यह एक भारतीय भाषा के साहित्यिक कार्य का दूसरे में अनुवाद, विदेशी भाषा के साहित्य का भारतीय भाषा में अनुवाद, साहित्यिक इतिहास और आलोचना पर कार्य का प्रकाशन, संदर्भ-ग्रंथ-सूची (जैसे भारतीय साहित्य की राष्ट्रीय संदर्भ-ग्रंथ-सूची)

तैयार करना, पत्रों और साहित्य में प्रतिष्ठित लोगों को अकादमी की फैलोशिप देना, भारतीय भाषाओं और अंग्रेजी में प्रकाशित कार्यों के लिये पुरस्कार भी देती है। इसका प्रमुख लक्ष्य लोगों में साहित्य के प्रति प्रेम का प्रचार-प्रसार करना है। इसके क्षेत्रीय कार्यालय मुंबई, कोलकाता और चेन्नई में हैं।

अकादमी 24 भाषाओं में पुस्तकें प्रकाशित करती है जिनमें पुरस्कृत कृतियों का अनुवाद, भारतीय साहित्य के महान लेखकों के मोनोग्राफ, साहित्य का इतिहास, अनुवाद में महान भारतीय और विदेशी रचनाएं, उपन्यास, कविता और गद्य, आत्मकथाएं, अनुवादकों का रजिस्टर, भारतीय लेखकों के बारे में जानकारी (कौन, कौन है), भारतीय साहित्य की राष्ट्रीय संदर्भ सूची और भारतीय साहित्य का विश्वकोश शामिल हैं। अभी तक अकादमी इन विभिन्न श्रेणियों में कुल 6000 से अधिक पुस्तकें प्रकाशित कर चुकी हैं। अकादमी की तीन पत्रिकाएं हैं अंग्रेजी में द्विमासिक 'इंडियन लिटरेचर', हिंदी द्विमासिक 'समकालीन भारतीय साहित्य' और संस्कृत छमाही पत्रिका 'संस्कृत प्रतिभा'। अकादमी हर वर्ष औसतन 250 से 300 पुस्तकें प्रकाशित करती है। इसकी कई विशेष परियोजनाएं भी हैं, जैसे प्राचीन भारतीय सहित्य, मध्यकालीन भारतीय साहित्य और आधुनिक भारतीय साहित्य और पांच सहस्राब्दियों के दस सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ। अकादमी ने 'भारतीय काव्यशास्त्र का विश्वकोष' तैयार करने की नई परियोजना भी शुरू की है।

साहित्य अकादमी साहित्य के इतिहास एवं सौंदर्यशास्त्र जैसे विभिन्न विषयों पर हर वर्ष अनेक क्षेत्रीय, राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय संगोष्ठियों का आयोजन करती है। साथ ही, नियमित रूप से अनुवाद कार्यशालाएं भी लगाई जाती हैं। अकादमी हर वर्ष, आमतौर पर फरवरी के महीने में, सप्ताह भर का साहित्योत्सव आयोजित करती है जिसमें पुरस्कार वितरण समारोह संवत्सर भाषणमाला और राष्ट्रीय संगोष्ठी शामिल रहती हैं।

राष्ट्रीय नाट्य विद्यालयः राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय दुनिया में रंगमंच का प्रशिक्षण देने वाले श्रेष्ठतम संस्थानों में से एक है तथा भारत में यह अपनी तरह का एकमात्र संस्थान है जिसकी स्थापना संगीत नाटक अकादमी ने 1959 में की थी। इसे 1975 में स्वायत्त संगठन का दर्जा दिया गया जिसका पूरा खर्च संस्कृति विभाग वहन करता है। राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय का उद्देश्य रंगमंच के

इतिहास, प्रस्तुतिकरण, दृश्य डिजाइन, वस्त्र डिजाइन, प्रकाश व्यवस्था और रूप-सज्जा सहित रंगमंच के सभी पहलुओं का प्रशिक्षण देना है। इस विद्यालय में प्रशिक्षण पाठ्यक्रम की अवधि तीन वर्ष है और हर वर्ष पाठ्यक्रम में 20 विद्यार्थी लिए जाते हैं। प्रवेश पाने के इच्छुक विद्यार्थियों को दो चरणों से गुजरना पड़ता है। राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के डिप्लोमा को भारतीय विद्यालय संघ की ओर से एम.ए. की डिग्री के बराबर मान्यता प्राप्त है और इसके आधार पर वे कॉलेजों/विश्वविद्यालयों में शिक्षक के रूप में नियुक्त किए जा सकते हैं अथवा पीएच.डी. (डॉक्टरेट) उपाधि के लिए पंजीकरण करा सकते हैं।

विद्यालय की एक अन्य महत्वपूर्ण गतिविधि है रंगमंच के बारे में पाठ्यपुस्तकों का प्रकाशन करना तथा रंगमंच से जुड़े विषयों पर महत्वपूर्ण अंग्रेजी पुस्तकों का हिंदी अनुवाद कराना।

संगीत नाटक अकादमीः भारतीय सरकार द्वारा 1953 में नई दिल्ली में स्थापित यह स्वायत्त संगठन संगीत, नृत्य और नाटक के विकास हेतु कार्यरत है। यह संगोष्ठियों, प्रतियोगिताओं और संगीत समारोहों का आयोजन करता है। यह संगीत, नृत्य व नाटक संस्थानों के साथ इनसे जुड़े कलाकारों को अनुदान भी देता है। पारंपरिक शिक्षकों को वित्तीय सहायता और छात्रों को छात्रवृत्ति देता है। प्रस्तुति कलाओं पर किए गए शोध कार्यों को सस्ती दरों पर प्रकाशित भी कराता है। इसकी टेप और डिस्क लाइब्रेरी में भारतीय शास्त्रीय, लोक, जनजातीय संगीत और नृत्य, नाटक सामग्री का सबसे बड़ा संग्रह है। नृत्य नाटक में प्रशिक्षण हेतु इसके दो राष्ट्रीय संस्थान हैं कथक केंद्र नई दिल्ली और जवाहरलाल नेहरू नृत्य अकादमी इम्फाल। यह देश में कठपुतली तमाशे के विकास में भी मदद कर रहा है। लोक नाट्य के संसाधन, वेशभूषा (मुखौटे, कठपुतली वगैरह) के लिये इसकी अपनी दीर्घा 'यवनिका' है। इन तीनों क्षेत्रों में हिंदी और अंग्रेजी पुस्तकों को यह पुरस्कृत करता है। प्रतिष्ठित कलाकारों को फैलोशिप देता है और इन क्षेत्रों में विशेष शोध का संचालन करता है। शास्त्रीय, लोक व जनजातीय संगीत सामग्री से परिपूर्ण इसकी दीर्घा का नाम 'असावरी' है।

अकादमी मंचन कलाओं के क्षेत्र में राष्ट्रीय महत्व के संस्थानों और परियोजनाओं की स्थापना एवं देख-रेख भी करती है। इनमें सबसे पहला संस्थान है इंफाल की जवाहरलाल नेहरू मणिपुरी नृत्य अकादमी जिसकी स्थापना 1954

में की गई थी। यह मणिपुरी नृत्य का अग्रणी संस्थान है। 1959 में अकादमी ने राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय की स्थापना की और 1964 में कत्थक केंद्र स्थापित किया। ये दोनों संस्थान दिल्ली में हैं। अकादमी की अन्य राष्ट्रीय महत्व की परियोजनाओं में केरल का कुटियट्टम थिएटर है जो 1991 में शुरू हुआ था और 2001 में इसे यूनेस्को की ओर से मानवता की उल्लेखनीय धरोहर के रूप में मान्यता प्रदान की गई। 1994 में ओडिशा, झारखंड और पश्चिम बंगाल में छऊ नृत्य परियोजना आरंभ की गई। 2002 में असम के सत्रिय संगीत, नृत्य, नाटक और संबद्ध कलाओं के लिए परियोजना समर्थन शुरू किया गया। मंचन कलाओं की शीर्षस्थ संस्था होने के कारण अकादमी भारत सरकार को इन क्षेत्रों में नीतियां तैयार करने और उन्हें क्रियान्वित करने में परामर्श और सहायता उपलब्ध कराती है। इसके अतिरिक्त अकादमी भारत के विभिन्न क्षेत्रों के बीच तथा अन्य देशों के बीच सांस्कृतिक संपर्कों के विकास और विस्तार के लिए राज्य की जिम्मेदारियों को भी एक हद तक पूरा करती है। अकादमी ने अनेक देशों में प्रदर्शनियों और बड़े समारोहों-उत्सवों का आयोजन किया है।

द खुदाबख्श ओरिएंटल पब्लिक लाइब्रेरीः 1891 में पटना में स्थापित इस वाचनालय में अरबी और फारसी पांडुलिपियों के साथ उपमहाद्वीप में मुगल/राजपूत चित्रों का प्रचुर संग्रह है। इसके अलावा एक लाख से अधिक दुर्लभ प्रकाशित पुस्तकें व आवधिक भी हैं। पटना में गंगा के किनारे के समीप बनी खुदाबख्श ओरिएंटल पब्लिक लाइब्रेरी लगभग 21000 ओरिएंटल पांडुलिपियों और 2.5 लाख प्रिंटिंग पुस्तकों के साथ एक अद्वितीय भण्डार है। यद्यपि इसकी नींव पहले ही रखी जा चुकी थी, लेकिन बिहार खान बहादुर खुदाबख्श के बेटे ने 4,000 पांडुलिपियों के साथ, जिनमें से 1,400 पांडुलिपियां उन्हें अपने पिता मौलवी मौहम्मद बख्श से विरासत में मिली थीं, अक्टूबर 1891 में जनता के लिए खोला।

खुदाबख्श खान ने अपने सम्पूर्ण व्यक्तिगत पुस्तक संग्रह को पटना के लोगों को एक ट्रस्ट से डीड करके दान कर दिया। इसके बेहद ऐतिहासिक एवं बौद्धिक महत्व को जानकर भारत सरकार ने एक संसद अधिनियम, 1969 द्वारा इसे राष्ट्रीय महत्व के संस्थान के तौर पर घोषित किया। वर्तमान में यह पुस्तकालय पूरी तरह संस्कृति मंत्रालय, भारत सरकार द्वारा वित्त पोषित है।

पुस्तकालय की इस्लामी अध्ययन, तिब्ब (यूनानी औषध), तजकीरा (कथा), तस्सववुफ (इस्लामी रहस्यवाद), तुलनात्मक धर्म, मध्यकालीन इतिहास, दक्षिण-पूर्व एशियाई इतिहास, पश्चिम एशियाई इतिहास, केंद्रीय एशियाई इतिहास, मध्यकालीन विज्ञान, स्वतंत्रता आंदोलन एवं राष्ट्रीय एकीकरण पर साहित्य तथा उर्दू, फारसी, और अरबी साहित्य में विशिष्टता है। इसके पास अरबी, फारसी, उर्दू, तुर्की, हिंदी एवं संस्कृत में 21,000 पांडुलिपियां एवं ताड़-पत्र हैं। इसमें ईरानी, मुगल, मध्य एशिया, कश्मीरी एवं राजस्थानी कला की शानदार सौगात शामिल है।

तंजावुर महाराजा सरफोजी का सरस्वती महल वाचनालयः तंजावुर महाराज सरफोजी सरस्वती महल वाचनालय, तंजावुर संस्कृति का एक अमूल्य भंडार है और ज्ञान का एक खजाना है जिसे नायकों एवं मराठाओं के उत्तरोत्तर वंशों द्वारा समृद्ध किया गया। इस पुस्तकालय में कला, संस्कृति एवं साहित्य पर पांडुलिपियों का दुर्लभ संग्रह है। रॉयल पैलेस लाइब्रेरी के रूप में इसका संरक्षण 1535-1675 ईस्वी में तंजावुर के नायक राजाओं द्वारा किया गया और मराठा शासकों ने 1676-1855 के बीच इसका पोषण बौद्धिक समृद्धि के लिए किया। तंजावुर स्थित यह वाचनालय विश्व के चुनिंदा मध्यकालीन वाचनालयों में से है। मद्रास सरकार ने 1918 में इसे सार्वजनिक रूप दे दिया था। तमिलनाडु पंजीयन अधिनियम, 1975 के तहत् इसका एक समुदाय के रूप में पंजीकरण 1986 में हुआ। इसके पास संस्कृत, मराठी, तमिल, तेलुगू और अन्य भाषाओं की दुर्लभ व विपुल पांडुलिपियां हैं। इसके अलावा तंजावुर चित्रकला शैली को दर्शाते ढेरों लघु चित्र व रंगीन चित्रकारियां हैं।

एशियाटिक सोसायटी, कोलकाताः सत्रह सौ चौरासी में अग्रगण्य भारत विज्ञानी सर विलियम्स जोन्स (1764-1794) ने एशियाई इतिहास, कला, पुरावशेषों, विज्ञान और साहित्य का गहन अध्ययन करने हेतु इसकी स्थापना की। यह संस्थान भारत में सभी साहित्यिक व वैज्ञानिक गतिविधियों का पुरोधा और विश्व की सभी एशियाटिक सोसायटीज का संरक्षक है। एशियाटिक सोसायटी के प्रारंभिक दिनों में, विलियम जोन्स काफी प्रयासों के बावजूद भूमि का एक खण्ड भी प्राप्त नहीं कर सके, जहां पर इसका निर्माण किया जा सके। इसका कोई स्थायी पता नहीं था, और ना ही कोई निश्चित स्थान था जहां पर यह

अपनी बैठकें कर सके तथा इसके पास वित्त भी नहीं था। 1805 में सरकार ने पार्क स्ट्रीट, कोलकाता में सोसायटी को एक भू-खण्ड उपहार स्वरूप भेंट किया। भूखण्ड पर भवन का निर्माण 1808 ईस्वी में पूरा हुआ और एक वर्ष में पुस्तकों, पत्रों एवं अभिलेखों का यहां पर संग्रह कर लिया गया। इस सोसायटी के पास दुर्लभ पुस्तकों, पांडुलिपियों, सिक्कों, पुराने चित्रों और अभिलेख सामग्री का समृद्ध संग्रह है। इसका एक संग्रहालय भी है।

रामपुर रज़ा पुस्तकालयः हमारे भारत की प्राचीन सभ्यता की महिमा दुनिया भर में फैली हुई थी और विश्व की अनेक सभ्यताओं को उसने प्रभावित एवं आकर्षित किया था। शुरू के जमाने से यवन एवं कुषाण, शक, हूण एवं मुसलमान बराबर आकर यहां बसते रहे।

1857 की स्वतंत्रता की पहली लड़ाई के पश्चात् मुगल पुस्तकालय लुट गए और अधिकांश बेजोड़ पाण्डुलिपियां एवं लघु चित्र के अलबम इत्यादि यूरोप एवं अमेरिका चले गए और वहां के संग्रहालयों एवं निजी संग्रहों का हिस्सा बन गए। लेकिन सौभाग्यवश रामपुर, हैदराबाद, भोपाल और टोंक की रियासतें बची रहीं और उनके पुस्तकालय तबाही से बच गए। रामपुर रज़ा पुस्तकालय, इन्डो इस्लामी शिक्षा और कला का खाज़ाना है जो अब तत्कालीन रामपुर राज्य है। जो नवाब फैज़ उल्ला ख़ान द्वारा 1774 में स्थापित किया गया था। उन्होंने राज्य पर 1794 तक शासन किया, और उनकी विरासत संग्रह के माध्यम से पुस्तकालय के गठन द्वारा केन्द्रीय भाग में स्थापित कर दी गई। बहूमूल्य पांडुलिपियों के ऐतिहासिक दस्तावेज़ों, मुग़ल लघु-चित्रों, किताबों और कला के अन्य कार्यों को नवाबों के तोषाख़ाना में रखा गया उन्होंने इसे काफी हद तक अपने अधिग्रहण से जोड़ा। नवाब यूसुफ अली ख़ान 'नाज़िम' एक साहित्यक व्यक्ति और उर्दू के प्रसिद्ध कवि मिर्ज़ा ग़ालिब के शिष्य थे। उन्होंने पुस्तकालय में एक अलग विभाग बनाया और संग्रह कोठी के नवनिर्मित कमरों में स्थानांतरित कर दिया। नवाब ने जाने माने ज्ञात सुलेखकों, प्रकाश डालने वाले, जिल्द चढ़ाने वालों को कश्मीर और भारत के अन्य भागों से आमंत्रित किया। बाद में नवाबों द्वारा सग्रंह को लगातार समृद्ध किया जाता रहा।

नवाब फैजुल्लाह खान ने अपने पुरखों से प्राप्त की हुई पाण्डुलिपियों और दस्तावेजों को अपने महल के तोशे-खानों में रखा था। इनके बाद के नवाबों

में से नवाब मुहम्मद सईद खान ने 1840 ई. के बाद इस पुस्तकालय की ओर विशेष ध्यान दिया। पुस्तकों के लिए अलग कमरे बनवाये और लकड़ी की अलमारियों में पुस्तकों को क्रमानुसार रखा गया। इसी जमाने में पुस्तकों की प्रतियां तैयार कराने के लिए कश्मीर से मिर्जा गुलाम रसूल और मिर्जा मुहम्मद हसन दोनों कैलीग्राफर भाइयों को बुलाया गया और सुलेख लिपि में प्रतियां तैयार करवाई गई। कला एवं कैलीग्राफी के क्षेत्र में रामपुर उत्तरी भारत में एक बड़ा केंद्र बन गया।

रजा लाइब्रेरी के विचित्र एवं विशाल संग्रह में हजरत अली के हाथ का हिरन की खाल पर प्राचीन कूफी लिपि में लिखा हुआ सातवीं सदी का पूरा कुरान शरीफ दुनिया भर में बेमिसाल है। इसी तरह आठवीं सदी में कागज की कूफी लिपि में लिखा गया हजरत इमाम जाफर सादिख का लिखा हुआ कुरान शरीफ बेजोड़ है और कागज पर लिखी पाण्डुलिपियों में सबसे प्राचीन है।

रजा लाइब्रेरी के संग्रह में एक बेजोड़ चित्रित पाण्डुलिपि शाहनामा फिरदोसी है जिसे 1436 ई. में शूस्त्र (ईरान) में तैयार किया गया था। इसकी तस्वीरें भी ईरानी शैली का बेहतरीन नमूना है। सोलहवीं शताब्दी के शुरू का पंचतंत्र, कलीला व दिमना फारसी अनुवाद में सौ चित्रों के साथ है। फारसी पाण्डुलिपियों के संग्रह में अकबर के शासनकाल में तैयार कराए गए दिवाने उरफी के चित्र भी मुगल शैली के बेजोड़ नमूने हैं।

रजा लाइब्रेरी के संग्रह में संस्कृत की अमूल्य 450 पांडुलिपियां हैं, जिनका कैटलॉग लाइब्रेरी द्वारा छापा गया है। संस्कृत भाषा की दुर्लभ पाण्डुलिपियों में प्रबोध चन्द्रिका, जो व्याकरण से संबंधित है, इसे बैजनाथ बंशी द्वारा सम्पादित एवं गिरिधर लाल मिश्र द्वारा लिखा गया है। इसी तरह एक पाण्डुलिपि ज्योतिष रत्न माला है जिसे श्रीपति भट ने लिखा है। इसी प्रकार एक महत्वपूर्ण एवं रोचक कृति नटराज दीप मिश्र द्वारा कर्मकाण्ड पर रची गई है। इसमें दृष्टि बढ़ाने के लिए कुछ मंत्रों का उल्लेख किया गया है। महिमा सूत्र एक प्रसिद्ध कृति है जो पुष्पदत्त द्वारा सम्पादित तथा मधुसूदन सरस्वती द्वारा समायोजित है।

रजा पुस्तकालय के संग्रह में हिंदी की बहुत सारी दुर्लभ पाण्डुलिपियां हैं जिनमें से अधिकांश फारसी लिपि में हैं। एक दुर्लभ पाण्डुलिपि मलिक मोहम्मद जायसी की 'पद्मावत' का फारसी अनुवाद नस्तालिख लिपिबद्ध है। एक और

अमूल्य पाण्डुलिपि मलिक मंजन द्वारा रचित 'मधुमालती' है। इसके अलावा हिंदी के प्रसिद्ध कवि गुलाम नबी रसलीन बिलग्रामी की पाण्डुलिपियां 'अंग दर्पण' एवं 'रस प्रबोध' को जो 1741 ई. में फारसी लिपि में लिखी गई थी। रजा लाइब्रेरी के संग्रह में हिंदी की एक दुर्लभ पुस्तक 'नीति प्रकाश' उपलब्ध है।

रजा लाइब्रेरी के संग्रह में बहुत सारे पुरातात्विक अवशेष भी हैं जिनमें से खगोल विद्या से संबंधित कई यंत्र हैं जिनमें से एक सिराज दमिश्की द्वारा 1218 ई. में बनाया गया था। इस पुस्तकालय के संग्रह की बहुत सारी पाण्डुलिपियों पर बादशाहों और मनसबदारों की मोहरें, नोट्स और दस्तखत हैं, जिनमें बादशाह बाबर, अकबर, जहांगीर, अब्दुल रहीम खानखाना, सादुल्ला खां, जहांआरा बेगम, औरंगजेब, दक्खिन के अब्दुल्लाह कुतुब शाह, अली आदिलशाह, ईरान के बादशाह शाह अब्बास इत्यादि उल्लेखनीय हैं। सन् 1957 ई. में पुरानी बिल्डिंग से लाइब्रेरी को हामिद मंजिल में ला दिया गया और तब से यह इसी विशाल भवन में है। यह इमारत अत्यधिक सुंदर है।

पुस्तकालय अरबी, फ़ारसी, संस्कृत, हिन्दी, तमिल, पश्तो, उर्दू, तुर्की और अन्य भाषाओं में पांडुलिपियों का एक अनूठा संग्रह है। यहां, मगोंल, मुग़ल, तुर्को, फ़ारसी, राजपूत, दक्खनी कांगड़ा, अवध, और कम्पनी स्कूलों से सम्बन्धित लघु चित्रों का एक समृद्ध संग्रह है और मूल्यवान लोहारू सग्रंह भी हासिल कर लिया है। पुस्तकालय में लगभग 17,000 पांडुलिपियों का एक संग्रह है, 60,000 मुद्रित पुस्तकें, लगभग 5000 लघु चित्रों, 3000 इस्लामी के दुर्लभ नमूनों, मुद्रित पुस्तकों, नवाबी पुराअवशेषों सदियों पुराने गोलीय उपकरणों के अलावा प्राचीन लगभग 1500 दुर्लभ सोने, और तांबे के सिक्कों के आंकड़ों 5वीं शताब्दी ईसा पूर्व से 19वीं शताब्दी तक और पुस्तकालय मुग़ल पुराने दुर्लभ पुराअवशेषों से बहुत समृद्ध है। यहां तमिल, तेलुगू, कन्नड़ और मलयालम भाषाओं में ताड़ के पत्तों पर हस्तलिपियों का भी एक संग्रह है।

रामपुर रज़ा पुस्तकालय दुर्लभ पांडुलिपियों में विभिन्न स्कूलों के 5000 लघु चित्रों जैसे, मगोंल, मुगल, तुर्की, फ़ारसी, राजपूत, दक्खनी, कागंड़ा, अवध, पहाड़ी किशनगढ़ी, राजस्थानी, अवध और कम्पनी आंकडों का आधार 14 से 19वीं शताब्दी का एक उत्कृष्ट संग्रह है। दुर्लभ बड़े आकार की सचित्र पांडुलिपियों के अलावा जमीउत-तवारीह जो रशिदुद-दीन फ़ैज़ उल्ला के द्वारा रचित है। वह

एक प्रतिष्ठित विद्वान, वैज्ञानिक, अपने समय के चिकित्सक और मध्य एशिया के ग़ाज़न सुलेमान के प्रधानमंत्री थे। पुस्तक को हिज़री 977 (सन 1569-70) में संकलित किया गया। इसमें मगोंल जनजातियों के जीवन और समय का 84 सचित्र चित्रण किया गया है।

रामपुर रज़ा पुस्तकालय दुनिया की एक शानदार, सांस्कृतिक विरासत और ज्ञान का खजाना रामपुर राज्य के उत्तरोत्तर नवाबों द्वारा निर्मित अद्वितीय भण्डार हैं। यह बहुत दुर्लभ और बहुमूल्य पांडुलिपियों, ऐतिहासिक दस्तावेज़ों, इस्लामी सुलेमान के नमूनों, लघुचित्रों, गोलीय उपकरणों, अरबी और फारसी भाषा में दुर्लभ सचित्र काम के अलावा 60,000 मुद्रित पुस्तकें संग्रह में शामिल हैं।

अब पुस्तकालय एक राष्ट्रीय महत्व की संस्था के रूप में भारत के सांस्कृतिक विभाग के अधीन एक स्वायत्त संस्था के रूप में हैं और पूरी तरह भारत सरकार की केंद्र सरकार द्वारा वित्त पोषित है।

द नेशनल लाइब्रेरीः इसमें भारत में उत्पादित समस्त अध्ययन व सूचना सामग्री का स्थायी संग्रहण है। इसके साथ ही भारतीय लेखकों और विदेशियों द्वारा भारत के संदर्भ में लिखी गई सामग्रियां भी यहां हैं। पुस्तक सुपुर्दगी अधिनियम के तहत् राष्ट्रीय वाचनालय भारत में प्रकाशित हर प्रकाशन की एक प्रतिलिपि प्राप्त करने का अधिकारी है। इसके अलावा वर्षभर यह बहुआयामी सेवायें देता है, जैसे संदर्भ-ग्रंथ-सूची का संकलन, पाठकों और विद्यार्थियों को व्यक्तिगत सहायता आदि। इसका एक महत्वपूर्ण कार्य विभिन्न संस्थानों, मंत्रालयों, विभागों, राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय संगठनों को आवश्यक सूचनायें उपलब्ध कराना है।

केंद्रीय सचिवालय पुस्तकालयः केंद्रीय सचिवालय पुस्तकालय की स्थापना वर्ष 1891 में कोलकाता में इंपीरियल सेक्रेटेरिएट लाइब्रेरी के नाम से की गई थी और 1969 से यह नई दिल्ली के शास्त्री भवन में काम कर रहा है। इसमें सात लाख से अधिक दस्तावेजों का संग्रह है जो मुख्य रूप से समाजशास्त्र और मानवशास्त्र के विषयों पर हैं। यहां भारत के सरकारी दस्तावेज तथा केंद्र सरकार के दस्तावेज संग्रहीत किए जाते हैं और राज्य सरकारों के दस्तावेजों का भी विशाल संग्रह इसमें है। इसके क्षेत्र अध्ययन डिवीजन में अनूठा संग्रह है, वहां भौगोलिक क्षेत्र के अनुसार पुस्तकें रखी गई हैं। साथ ही, इसका ग्रंथ सूची संग्रह भी बहुत विशाल है और इसमें अत्यधिक दुर्लभ पुस्तकों का खासा संग्रह

है। केंद्रीय सचिवालय पुस्तकालय का माइक्रोफिल्म संग्रह भी है जो माइक्रोफिल्मिंग ऑफ इंडियन पब्लिकेशन प्रोजेक्ट के अंतर्गत कार्य करता है और इसमें बहुत बड़ी संख्या में माइक्रोफिल्में संग्रहीत हैं।

केंद्रीय सचिवालय पुस्तकालय की मुख्य जिम्मेदारी है नीति निर्णय लेने की प्रक्रिया के लिए उपयोगी सभी विषयों के सकल संग्रह एकत्र करना और उन्हें विकसित करना। विकासपरक साहित्य का संग्रह एकत्र करना भी इसका दायित्व है। यह पुस्तकालय केंद्र सरकार के अधिकारियों और कर्मचारियों तथा देशभर के आने वाले शोधार्थियों को वाचन संबंधी सभी सेवा-सुविधाएं उपलब्ध कराता है। हाल में ही पुस्तकालय ने भारत के राजपत्र तथा समितियों और आयोगों की रिपोर्टों का डिजिटलीकरण करके सूचना प्रौद्योगिकी (आईटी) आधारित उत्पादों का विकास शुरू किया है और अपने संग्रह-कार्य के लिए ओपाक (ओपीएसी) प्रणाली भी विकसित की है। पुस्तकालय की दो शाखाएं हैं। पहली है नई दिल्ली के बहावलपुर हाउस में स्थित क्षेत्रीय भाषाओं की शाखा जो तुलसी सदन लाइब्रेरी के नाम से मशहूर है। इसमें हिंदी तथा संविधान में स्वीकृत 13 अन्य भारतीय क्षेत्रीय भाषाओं की पुस्तकें हैं। दूसरी शाखा पाठ्यपुस्तकों की है और नई दिल्ली के रामकृष्णपुरम में स्थित है। यह केंद्र सरकार के कर्मचारियों के स्नातक-स्तर तक के बच्चों की जरूरतों को पूरा करती है। अन्य प्रमुख लाइब्रेरी हैंः राजा राममोहन राय लाइब्रेरी फाउंडेशन, दिल्ली पब्लिक लाइब्रेरी, रामपुर राजा लाइब्रेरी, खुदाबक्श ओरिएंटल पब्लिक लाइब्रेरी।

राष्ट्रीय संग्रहालय संस्थानः राष्ट्रीय संग्रहालय संस्थान को सोसाइटीज रजिस्ट्रेशन एक्ट, 1860 के अंतर्गत 27 जनवरी, 1989 को गठित एवं पंजीकृत किया गया। इसे 28 अप्रैल, 1989 को विश्वविद्यालयवत् का दर्जा प्रदान किया गया। यह संस्थान, अपनी स्थापना से अब तक, कला एवं सांस्कृतिक विरासत के क्षेत्र में प्रशिक्षण और अनुसंधान के लिए देश में एक अग्रणी केन्द्र रहा है। यह संस्थान राष्ट्रीय संग्रहालय परिसर के अन्दर स्थित है। इसका उद्देश्य छात्रों को कला और सांस्कृतिक विरासत की सर्वोत्कृष्ट कृतियों के साथ सीधे तौर पर रूबरू कराना और समूचे शिक्षण के लिए राष्ट्रीय संग्रहालय की सुविधाओं, जैसे प्रयोगशाला, पुस्तकालय, भंडारण/आरक्षित संग्रहण तथा तकनीकी सहायक खंडों तक आसानी से पहुंचाना है।

इस संस्थान के प्रमुख उद्देश्य निम्नानुसार हैः • कला, इतिहास, संग्रहालय विज्ञान, संरक्षण आदि की विभिन्न शाखाओं में अध्ययन, प्रशिक्षण और अनुसंधान के विभिन्न पाठ्यक्रम उपलब्ध कराना।

• सांस्कृतिक सम्पदा के विषय से संबंधित कार्य करने वाले अन्य संस्थानों, जैसे राष्ट्रीय संग्रहालय, भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण, भारतीय प्राणिविज्ञान सर्वेक्षण, राष्ट्रीय आधुनिक कला संग्रहालय, भारत का राष्ट्रीय अभिलेखागार आदि जैसे संस्थानों से सहयोग करना ताकि सामग्री संग्रहालयी/तकनीकी विशेषज्ञता और सुविधाओं में भागीदारी कर सकें और उपर्युक्त क्षेत्रों में शिक्षण के स्तर को उन्नत करने के लिए राष्ट्रीय स्तर पर, लगातार पारस्परिक चर्चाएं की जा सकें।

• शैक्षणिक दिशा-निर्देश और लीडरशिप प्रदान करना।

• संस्थान के ऐसे कार्यों को प्रकाशित कराना, जिन्होंने विशेषज्ञता के क्षेत्रों में भारी योगदान दिया हो।

दिल्ली पब्लिक लाइब्रेरीः दिल्ली पब्लिक लाइब्रेरी का मुख्य प्रयोजन राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र (एन सी टी) दिल्ली के नागरिकों को निःशुल्क पब्लिक लाइब्रेरी तथा सूचना सेवाएं प्रदान करना है। यह लाइब्रेरी भारत में औपचारिक शिक्षा के लिए सामुदायिक केंद्र तथा पब्लिक लाइब्रेरी के विकास के लिए मॉडल के रूप में कार्य करती है। दिल्ली पब्लिक लाइब्रेरी बिना किसी वर्ग, जाति, व्यवसाय के भेदभाव के समाज के सभी वर्गों के लोगों-विशेषतः नवशिक्षित तथा बच्चों की आवश्यकताओं को पूरा करती है।

गांधी स्मृति एवं दर्शन समितिः राजघाट पर गांधी दर्शन और 5 तीस जनवरी मार्ग पर स्थित गांधी स्मृति का समायोजन करके सितम्बर, 1984 में गांधी स्मृति एवं दर्शन समिति का गठन एक स्वायत्त निकाय के रूप में किया गया जो भारत सरकार के संस्कृति विभाग, पर्यटन और संस्कृति मंत्रालय के रचनात्मक परामर्श एवं वित्तीय समर्थन से कार्य कर रही है। भारत के प्रधानमंत्री इसके अध्यक्ष हैं और इसकी गतिविधियों का मार्ग निर्देशन करने के लिए वरिष्ठ गांधीवादियों और विभिन्न सरकारी विभागों का एक निकाय है। समिति का मूल उद्देश्य विभिन्न सामाजिक-शैक्षणिक कार्यक्रमों के माध्यम से महात्मा गांधी के जीवन ध्येय एवं विचारों का प्रचार प्रसार करना है।

इस स्मारक में निम्नलिखित पहलू संग्रहित हैंः (क) महात्मा गांधी की याद और उनके पावन आदर्शों को प्रदर्शित करने वाले दृश्यात्मक पहलू

(ख) गांधी को एक महात्मा बनाने वाले जीवन-मूल्यों की ओर गहनता से ध्यानाकर्षण कराने वाले शैक्षणिक पहलू और (ग) कुछ अनुभूत आवश्यकताओं को दिग्दर्शित करने वाली गतिविधियों को प्रस्तुत करने के लिए सेवाकार्य का पहलू।

संग्रहालय में महात्मा गांधी द्वारा यहां बिताए गए वर्षों के संबंध में फोटोग्राफ, मूर्तियां, चित्र, भित्तिचित्र, शिलालेख तथा स्मृतिचिन्ह संग्रहित हैं। गांधीजी की कुछ निजी वस्तुएं भी यहां सावधानीपूर्वक संरक्षित हैं।

नई सहस्राब्दि की परिरेखाओं को ध्यान में रखते हुए अधुनातन प्रौद्योगिकी के द्वारा महात्मा गांधी के जीवन और संदेश को जीवन्तरूप से प्रस्तुत करने वाली मल्टीमीडिया प्रदर्शनी प्रमुख आकर्षण है।

जिस स्थल पर राष्ट्रपिता को गोलियों का शिकार बनाया गया था वहां एक बलिदान स्तंभ स्थित है जो भारत के लम्बे स्वाधीनता संग्राम के दौरान अनुभूत सभी पीड़ाओं और बलिदानों के प्रतीक के रूप में महात्मा गांधी के आत्म बलिदान की यादगार है।

गांधी स्मृति एवं दर्शन समिति का मुख्य उद्देश्य विविध प्रकार की सामाजिक-शैक्षणिक एवं सांस्कृतिक गतिविधियों के द्वारा महात्मा गांधी के जीवन, ध्येय और विचारों का प्रचार करना है। इस बात पर भी जोर दिया जाता है कि समाज के विभिन्न वर्गों के बीच उन मूल्यों की प्रतिस्थापना की जाए जो राष्ट्रपिता को प्रिय थीं।

इसके अतिरिक्त समिति अपनी विविध गतिविधियों के माध्यम से समुदाय के लिए रचनात्मक कार्य की ओर लोगों को खास कर युवाओं को आकर्षित करती है। इक्कीसवीं शताब्दी को ध्यान में रखते हुए गांधी स्मृति ने अनेक कार्यक्रम तैयार किए हैं जो बच्चों, युवाओं और महिलाओं सहित समाज के विभिन्न वर्गों के लिए अभिप्रेत हैं। प्रयास यह भी है कि नवीनतम प्रक्रियाओं के माध्यम से महात्मा गांधी द्वारा परिकल्पित समग्र विकास के लक्ष्य के प्रति युवाओं को तैयार किया जाए।

अहिंसा विश्व की अत्यन्त सक्रिय शक्तियों में से एक है। यह सूर्य के समान है जो प्रतिदिन अवैध रूप से उदित होता है। हम यह समझ लें तो यह करोड़ों सूर्यों से भी अधिक विशाल है। यह जीवन और प्रकाश, शांति और प्रसन्नता को विकर्णित करती है।

सांस्कृतिक संपदा के संरक्षण हेतु राष्ट्रीय अनुसंधान प्रयोगशालाः सांस्कृतिक संपदा के संरक्षण हेतु राष्ट्रीय शोध प्रयोगशाला दक्षिण-पूर्वी एशिया के दक्षिण में एक अग्रगण्य संस्थान है। भारत सरकार के संस्कृति विभाग द्वारा 1976 में स्थापित यह संस्थान संरक्षण के तरीकों पर शोध के अलावा अन्य संग्रहालयों, पुरातत्व विभागों और संबंधित संस्थानों को तकनीकी सहायता और प्रशिक्षण देता है। यह संरक्षकों के लिये विभिन्न प्रशिक्षण पाठ्यक्रम और कार्यशालायें भी आयोजित करता है।

इस प्रयोगशाला का उद्देश्य और लक्ष्य है देश में सांस्कृतिक संपदा का संरक्षण करना। इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए यह प्रयोगशाला संग्रहालयों, अभिलेखागारों, पुरातत्व विभागों और इसी प्रकार के अन्य संस्थानों को संरक्षण सेवाएं तथा तकनीकी परामर्श उपलब्ध कराती है; संरक्षण के विभिन्न पहलुओं पर प्रशिक्षण देती है; संरक्षण के तरीकों और सामग्री के बारे में अनुसंधान करती है; संरक्षण संबंधी जानकारी का प्रचार-प्रसार करती है और देश में संरक्षण से जुड़े विषयों पर पुस्तकालय सेवाएं मुहैया कराती है। इस राष्ट्रीय अनुसंधान प्रयोगशाला का मुख्यालय लखनऊ में है तथा दक्षिण राज्यों में भी संरक्षण के बारे में जागरूकता पैदा करने के उद्देश्य से मैसूर में राष्ट्रीय अनुसंधान प्रयोगशाला के क्षेत्रीय केंद्र के रूप में क्षेत्रीय संरक्षण प्रयोगशाला कार्य कर रही है।

सांस्कृतिक संसाधन और प्रशिक्षण केंद्रः सांस्कृतिक संसाधन और प्रशिक्षण केंद्र (सीसीआरटी) संस्कृति से शिक्षा को जोड़ने के क्षेत्र में कार्यरत अग्रणी संस्थानों में से है। इस केंद्र की स्थापना मई, 1979 में भारत सरकार द्वारा एक स्वायत्त संस्था के रूप में की गई थी और अब यह भारत सरकार के संस्कृति मंत्रालय के प्रशासनिक नियंत्रण में काम कर रहा है। इसका मुख्यालय नई दिल्ली में है तथा उदयपुर, हैदराबाद और गुवाहाटी में इसके तीन क्षेत्रीय केंद्र हैं।

इस केंद्र का मुख्य उद्देश्य विद्यार्थियों में भारत की क्षेत्रीय संस्कृतियों की विविधता के प्रति समझ और जागरूकता पैदा कर शिक्षा प्रणाली को सशक्त बनाना और इस जानकारी का शिक्षा के साथ समन्वय स्थापित करना है। खास जोर शिक्षा और संस्कृति के बीच तालमेल कायम करने और विद्यार्थियों को सभी विकास कार्यक्रमों में संस्कृति के महत्व से अवगत कराने पर है। केंद्र के प्रमुख कार्यों में देश के विभिन्न भागों से चुने गए अध्यापकों के लिए कई प्रकार के

इन सर्विस प्रशिक्षण कार्यक्रम चलाना भी है। इस प्रकार दिए जाने वाले प्रशिक्षण का लाभ यह होता है कि पाठ्यक्रम पढ़ाने वालों में भारतीय कला और साहित्य के दर्शन, सौंदर्य तथा बारीकियों की बेहतर समझ विकसित होती है और वे इनका अधिक सार्थक आकलन कर पाते हैं। प्रशिक्षण कार्यक्रमों में संस्कृति के पहलू पर ज्यादा जोर दिया जाता है। विज्ञान और प्रौद्योगिकी, आवास, कृषि, खेल, आदि के क्षेत्रों में संस्कृति की भूमिका पर भी जोर दिया जाता है। प्रशिक्षण एक अहम अंग है जो विद्यार्थियों और शिक्षकों में पर्यावरण प्रदूषण की समस्याओं के समाधान तथा प्राकृतिक और सांस्कृतिक संपदा के संरक्षण में उन्हें उनकी भूमिका से अवगत कराता है। इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए केंद्र देशभर में अध्यापकों, शिक्षाविदों, प्रशासकों और विद्यार्थियों के लिए विविध प्रशिक्षण कार्यक्रमों का आयोजन करता है। सांस्कृतिक संसाधन और प्रशिक्षण केंद्र विशेष अनुरोध पर विदेशी शिक्षकों तथा विद्यार्थियों के लिए भारतीय कला और संस्कृति के बारे में शिक्षण कार्यक्रम भी चलाता है। नाटक, संगीत और अभिव्यक्ति-प्रधान कला विधाओं से जुड़ी विभिन्न गतिविधियों पर कार्यशालाएं आयोजित की जाती हैं ताकि कलाओं और हस्तकलाओं का व्यावहारिक ज्ञान और प्रशिक्षण उपलब्ध कराया जा सके। इन कार्यशालाओं में शिक्षकों को ऐसे कार्यक्रम स्वयं विकसित करने की प्रेरणा दी जाती है जिनमें कला की विधाओं का शिक्षण पाठ्यक्रमों के लिए लाभकारी ढंग से प्रयोग किया जा सके।

सांस्कृतिक संसाधन और प्रशिक्षण केंद्र अपने विस्तार तथा सामुदायिक फीडबैक कार्यक्रमों के तहत् स्कूली छात्रों, अध्यापकों और सरकारी तथा स्वैच्छिक संगठनों के बच्चों के लिए विभिन्न शैक्षिक गतिविधियां आयोजित करता है जिनमें ऐतिहासिक स्मारकों, संग्रहालयों, कलावीथियों, हस्तकला केंद्रों, चिड़ियाघरों और उद्यानों में शिक्षा टूर; प्राकृतिक और सांस्कृतिक संपदाओं के संरक्षण के बारे में शिविर; कला की विभिन्न विधाओं पर जाने-माने कलाकारों और विशेषज्ञों के भाषण और प्रदर्शन तथा स्कूलों में कलाकारों और हस्तशिल्पियों के प्रदर्शन शामिल हैं। इन शैक्षिक गतिविधियों में विद्यार्थियों के बौद्धिक विकास और उनके सौंदर्य बोध को विकसित करने पर जोर दिया जाता है। इन वर्षों में यह केंद्र आलेख, रंगीन स्लाइड्स, चित्र, ऑडियो और वीडियो रिकार्डिंग और फिल्मों के रूप में संसाधन एकत्र करता रहा है। ग्रामीण भारत की कलाओं और हस्तशिल्पों को

पुनर्जीवित करने और उन्हें प्रोत्साहन देने के उद्देश्य से केंद्र की डॉक्यूमेंटेशन टीम हर वर्ष देश के विभिन्न भागों में कार्यक्रम आयोजित करती है। यह केंद्र भारतीय कला एवं संस्कृति की समझ विकसित करने के उद्देश्य से प्रकाशन भी उपलब्ध कराता है। सांस्कृतिक संसाधन और प्रशिक्षण केंद्र के सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्यों में से एक है।

क्षेत्रीय सांस्कृतिक केंद्रः स्थानीय संस्कृति के प्रति जागरूकता पैदा कर उसे गहन बनाना, उसे क्षेत्रीय पहचान के रूप में परिवर्तित कर शनैःशनैः समृद्ध भारतीय सांस्कृतिक विरासत का एक अंग बना देना ही इन केंद्रों का काम है। इसके अलावा वे लुप्त होने वाली कला के स्वरूपों व मौखिक परंपराओं का संरक्षण भी करते हैं। सृजनशील व्यक्तियों व कलाकारों के साथ स्वायत्त प्रशासन व्यवस्था के माध्यम से ही यह ढांचा खड़ा हुआ है। योजना के तहत् स्थापित सात सांस्कृतिक केंद्र हैं (i) उत्तरी क्षेत्र सांस्कृतिक केंद्र, पटियाला; (ii) पूर्वी क्षेत्र सांस्कृतिक केंद्र, शांतिनिकेतन; (iii) दक्षिण क्षेत्र सांस्कृतिक केंद्र, तंजावुर; (iv) पश्चिम क्षेत्र सांस्कृतिक केंद्र, उदयपुर; (v) उत्तरी-मध्य क्षेत्र सांस्कृतिक केंद्र, इलाहाबाद; (vi) उत्तर-पूर्व क्षेत्र सांस्कृतिक केंद्र, दीमापुर; (vii) दक्षिण-मध्य क्षेत्र सांस्कृतिक केंद्र, नागपुर। विभिन्न सांस्कृतिक केंद्रों के गठन की प्रमुख विशेषता राज्यों के सांस्कृतिक सूत्रों के अनुरूप एक से अधिक केंद्र में उनकी भागीदारी है।

संगीत और नृत्य के क्षेत्र में नई प्रतिभाओं को प्रोत्साहन देने के लिए 'गुरु-शिष्य परंपरा' योजना है जिसके अंतर्गत हर क्षेत्र में गुरुओं की पहचान करके शिष्य उनके सुपुर्द कर दिए जाएंगे। इस उद्देश्य के लिए उन्हें छात्रवृत्ति भी दी जाती है। अपने शिल्पग्रामों के माध्यम से ये केंद्र हस्तशिल्पियों को बढ़ावा देकर उन्हें हाट-सुविधाएं उपलब्ध कराते हैं। क्षेत्रीय सांस्कृतिक केंद्रों ने युवा प्रतिभाओं की पहचान करके इन्हें प्रोत्साहन देने की एक नई योजना भी शुरू की है जिसके तहत् ये केंद्र अपने-अपने क्षेत्र में मंचन/लोक कलाकारों का पता लगाएंगे और हर क्षेत्र में एक या एक से अधिक प्रतिभाशाली कलाकारों का चुनाव करेंगे।

इंदिरा गांधी राष्ट्रीय कला केंद्रः कला और मानवीयता के क्षेत्र में भारत में इस केंद्र की स्थापना एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है। 19 नवम्बर, 1985 को एक पूर्णतः स्वायत्त न्यास के रूप में स्थापित इस केंद्र का लक्ष्य सभी कलाओं

का स्वतंत्र रूप से, परस्पर निर्भरता की दृष्टि से व प्रकृति, सामाजिक संरचना व ब्रह्मांड से अंर्तसंबंधों की दृष्टि से अध्ययन व अनुभव करना है। इंदिरा गांधी राष्ट्रीय कला केंद्र के तहत् अध्ययन के विभिन्न क्षेत्र आते हैं जैसे रचनात्मक और आलोचनात्मक साहित्य, लिखित और मौखिकः दृश्य कला जिसमें वास्तुशिल्प, मूर्तिकला, पेंटिग और ग्राफिक्स, फिल्म, संगीत की प्रदर्शन कला, विस्तृत रूप में नृत्य और थिएटर तथा इसके अतिरिक्त कलात्मक आयाम वाले महोत्सव, मेले आदि। केंद्र का उद्देश्य, कला संबंधी क्षेत्रों में भारत और विश्व समुदायों के बीच अध्ययन और संवाद कायम करना है। इसके अधिदेश में शैक्षिक, अपने प्रकाशनों में अनुसंधान कार्य, राष्ट्रीय अंतरराष्ट्रीय सेमिनार, सम्मेलन, प्रदर्शनियां और भाषण शृंखलाएं शामिल हैं। स्कूल और अन्य शैक्षिक संस्थाएं इसके फोकस में हैं। अपने अनुसंधान से यह विकास में सांस्कृतिक योगदान को बढ़ाने का कार्य करता है। इन 25 वर्षों के दौरान, आईजीएनसीए ने विश्व भर की अपने जैसी संस्थाओं के साथ सहयोग बढ़ाकर अपनी शैक्षिक गतिविधियों को मजबूत किया है। केंद्र ने विश्व के नामी विद्वानों को भागीदार बनाते हुए कई अंतरराष्ट्रीय सेमिनार और प्रदर्शनियां आयोजित की हैं।

इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मानव संग्रहालयः इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मानव संग्रहालय सहस्रों वर्षों में विकसित बहुमूल्य सांस्कृतिक प्रतिमानों की वैकल्पिक वैधता को समायोजित करने हेतु भारत में एक अंतर्क्रियात्मक संग्रहालय आंदोलन का प्रणेता है। यह संस्थान राष्ट्रीय एकता हेतु कार्यरत है तथा विलुप्तप्राय परन्तु बहुमूल्य सांस्कृतिक परम्पराओं के संरक्षण और पुनर्जीवीकरण हेतु शोध और प्रशिक्षण के माध्यम से अन्य संस्थानों से संबंध बनाने हेतु तथा जैविक उद्विकास और विभिन्नता और एकता को प्रदर्शनियों के माध्यम से दर्शाने हेतु कार्यरत है। इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मानव संग्रहालय अपनी प्रदर्शनियों और साल्वेज गतिविधियों के माध्यम से हजारों वर्षों से पोषित देशज ज्ञान तथा मूल्यों, भारत की पारंपरिक जीवन शैली की सुन्दरता को प्रदर्शित करता और पारिस्थितिकी, पर्यावरण, स्थानीय मूल्यों, प्रथाओं इत्यादि के अभूतपूर्व विनाश के प्रति सचेत करता है। संग्रहालय की शैक्षणिक प्रक्रिया में एक बदलाव आया है और इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मानव संग्रहालय इस प्रक्रिया में स्वयं हेतु एक भूमिका सुनिश्चित करता है।

1. उदाहरण के लिये संग्रहालय अधिकारियों के अधिकारिक प्रवक्ता/जनता को अनौपचारिक शिक्षा के स्रोत के रूप में क्यूरेटर के स्थान पर प्रजातांत्रिक प्रक्रिया को अपनाते हुए समुदायों को ज्ञान का महत्वपूर्ण स्रोत मानता है तथा उन्हें संग्रहालय अधिकारियों के साथ शामिल कर क्यूरेटर इसके संचालनकर्ता के रूप में कार्य कर रहे हैं। सार रूप में हमारे संग्रहालय की गतिविधियां इस तर्क की विनम्र पुष्टि करती हैं।

2. इस प्रक्रिया के निष्कर्ष के रूप में यह तर्क भी दिया जा सकता है कि संस्कृति कोई काल्पनिक और अपरिवर्तनशील तत्व नहीं बल्कि प्रक्रिया के साथ-साथ बदलाव की खोज की संवाहक भी है। यह संस्कृति की अवधारणा को स्थायी विकास के सहायक रूप में आगे बढ़ाती है ये कड़ियां आधारभूत अथवा वैकल्पिक विकास को सुनिश्चित करती हैं।

3. समकालीन शिक्षा का एक महत्वपूर्ण उद्देश्य एक सम्मिलित समाज का निर्माण करना है। इस प्रक्रिया में संग्रहालय की भूमिका अपने प्रदर्शन को भिन्न क्षमतावान लोगों की पहुंच तक सुगम बनाना ही नहीं बल्कि उनके लिये विशेष कार्यक्रम और गतिविधियों का आयोजन करने के दृष्टिकोण से भी महत्वपूर्ण हो जाती है।

4. हाल ही में संग्रहालय शिक्षा का मुख्य पक्ष पर्यावरण शिक्षा से जुड़ गया है। ग्रीन हाउस प्रभाव, जैव-विविधता के संरक्षण की पारंपरिक तकनीकें, जल प्रबंधन तथा अन्य संरक्षण तकनीकें आदि कुछ ऐसे मुद्दे हैं जिन्हें हम इन समुदायों से सीख सकते हैं और संग्रहालय का एक मंच की तरह उपयोग करते हुये इन्हें प्रचारित कर सकते हैं।

राष्ट्रीय संस्कृति निधिः भारत की सांस्कृतिक विरासत के अनेक रूप हैं। जिन्हें सजीव संस्कृतियों के रूप में जीवित रखने, इनका विकास और संवर्धन करने की आवश्यकता है। इन सांस्कृतिक विरासतों को बचाए रखने में सामाजिक-आर्थिक तथा पर्यावरणीय परिवर्तनों की गति तथा नई-नई प्रौद्योगिकियों की शुरूआत जैसे कारण गहन बाधाएं पैदा कर रहे हैं। समुदायों में इन बाधाओं की बढ़ती जागरूकता से न केवल उनकी भाषाओं, परम्पराओं तथा संस्कृति के परिरक्षण और नवीकरण की अपितु उनकी सांस्कृतिक पहचान तथा सृजनात्मकता को सुदृढ़ करने के बारे में इन समुदायों से मांग उठने लगी है।

वैश्विक विरासत में भारत

विश्व की सांस्कृतिक व प्राकृतिक धरोहरों के अंतरराष्ट्रीय संरक्षण हेतु यूनेस्को द्वारा गठित वैश्विक विरासत समिति ने भारत के 23 सांस्कृतिक स्मारकों व 5 प्राकृतिक स्थानों के संरक्षण की सिफारिश की है। ये सांस्कृतिक स्मारक हैं अजंता-एलोरा की गुफायें, आगरे का किला, ताजमहल, कोणार्क का सूर्य मंदिर, गोआ के चर्च और कान्वेंट, खजुराहो के स्मारक, महाबलीपुरम, हम्पी, फतेहपुर सीकरी व पट्टाडकाल के स्मारक, एलिफेंटा की गुफायें, तंजावुर का वृहदेश्वर मंदिर, सांची के बौद्ध स्मारक, हुमायूं का मकबरा, दिल्ली; महोबोधि मंदिर परिसर, बोध गया; दिल्ली में कुतुब मीनार; लाल किला, दिल्ली; चंपानेर-पावगढ़ पुरातात्विक पार्क, गुजरात; भीम बैठका की गुफाएं, मध्य प्रदेश; छत्रपति शिवाजी स्टेडियम, मुंबई; जंतर मंतर, जयपुर; चोल मंदिर; तमिलनाडु; माउंटेन रेलवे ऑफ इण्डिया। ये प्राकृतिक स्थल हैं कांजीरंगा राष्ट्रीय उद्यान, मानस अभयारण्य, केवलादेव राष्ट्रीय उद्यान, सुंदरवन राष्ट्रीय उद्यान व नंदादेवी राष्ट्रीय उद्यान।

हमारी विरासत के परिरक्षण तथा संवर्धन हेतु संबंधित समुदाय की बढ़ती चिन्ता तथा इसके संवर्धन में समुदायों को भाग लेने और योगदान करने के अवसर प्रदान करने की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए ऐसा संगठन तैयार करने की आवश्यकता महसूस की गई जो इस प्रयास में सहयोग हेतु संस्थाओं तथा व्यक्तियों को सहायता और समर्थन दें।

रामकृष्ण मिशन संस्कृति संस्थान, कोलकाताः इस संस्थान की स्थापना का विचार श्री रामकृष्ण (1836-1886) की पहली जन्मशती के अवसर पर उनका स्थाई स्मारक बनाने के रूप में 1936 में व्यक्त किया गया था। श्री रामकृष्ण द्वारा प्रतिपादित वेदांत के संदेश के प्रसार के लिए स्वामी विवेकानंद द्वारा स्थापित रामकृष्ण मिशन के शाखा केंद्र के रूप में 29 जनवरी, 1938 को इसकी विधिवत स्थापना की गई। श्री रामकृष्ण के मूल उपदेशों में (i) सभी धर्मों को समान आदर देना; (ii) मनुष्य की दैवीय क्षमताओं को प्रतिपादित करना और उभारना; तथा (iii) मानव सेवा को ईश्वर की पूजा मानना अर्थात् मानवता को नया धर्म मानना शामिल हैं। मानव मात्र की एकता के आदर्श के प्रति समर्पित इस संस्थान ने लोगों को विश्व की संस्कृतियों के समृद्ध मूल्यों से अवगत कराने तथा उन्हें यह समझाने के लिए सालों-साल अथक् प्रयास किए हैं कि परस्पर एक-दूसरे

के दृष्टिकोण को समझना, मानना और स्वीकार करना अत्यंत आवश्यक है यही वह दृष्टिकोण है जो वैश्विक स्तर पर अंतरराष्ट्रीय समझ एवं सहमति विकसित करने और देश में राष्ट्रीय एकता की भावना को बल प्रदान करने में सर्वथा अनुकूल है। इस प्रकार, कुल मिलाकर, संस्थान का मुख्य संदेश है आपस में एक-दूसरे के दृष्टिकोण तथा विचारों का सम्मान करना तथा स्वयं की समृद्धि के लिए उन्हें एकजुट करना।

राष्ट्रीय पांडुलिपि मिशनः राष्ट्रीय पांडुलिपि मिशन (एनएमएम) 2003 में शुरू किया गया था। इसका प्रमुख उद्देश्य विशाल पांडुलिपि खजाने में मौजूद भारत की ज्ञान विरासत का उद्धार करना है। देश भर में स्थापित विभिन्न केंद्रों के जरिये मिशन कार्य करता है। इनमें 46 पांडुलिपि संशोधन केंद्र, 33 परिरक्षण केंद्र, 42 पांडुलिपि भागीदार केंद्र तथा 300 पांडुलिपि परिरक्षण भागीदार केंद्र हैं। राष्ट्रीय पांडुलिपि मिशन की प्रमुख गतिविधियां हैंः सर्वे के माध्यम से पांडुलिपियों का प्रलेखन, निरोधक एवं आरोग्यकर परिरक्षण, परिरक्षण, पांडुलिपि पंजीकरण तथा पुरालिपि शास्त्र पर प्रशिक्षण पाठ्यक्रमों तथा कार्यशालाओं का आयोजन, डिजिटाइजेशन के जरिए प्रलेखन, पांडुलिपियों को संरक्षित तथा सूचना प्रचार के लिए जन जागरूकता पैदा करने के लिए अनुसंधान, प्रकाशन तथा लोक संपर्क कार्यक्रम।

निजी संस्थान

कला एवं संस्कृति के विकास, संवर्द्धन एवं संरक्षण में संलग्न कतिपय निजी संस्थान इस प्रकार हैं।

बड़ौदा संग्रहालय एवं चित्र गैलरीः महाराजा सयाजीराव गायकवाड़ III ने 1887 में संग्रहालय की नींव रखी। इस संग्रहालय का निर्माण 1894 में लंदन के विक्टोरिया एंड अल्बर्ट साइंस म्यूजियम की तर्ज पर किया गया। संग्रहालय की इमारत को मेजर मांट द्वारा आर.एफ. चिशलोम के सहयोग से अभिकल्पित किया गया। म्यूजियम में कला की समृद्ध परम्परा को संजो कर रखा गया है। एक प्रसिद्ध ब्रिटिश पेंटर द्वारा पिक्चर गैलरी में सर्वोत्तम कृतियां प्रस्तुत की गईं हैं। संग्रहालय जाने वाले के लिए मिस्र की ममी और ब्लू व्हेल के अस्थि पंजर का बड़ा संग्रह आकर्षण का केंद्र है। अन्य खजानों में 5वीं शताब्दी के अकोटा

ताम्र सिक्के, मुगल चित्रकारी, विभिन्न प्रसिद्ध यूरोपीय चित्रकारों की ऑयल पेंटिंग्स और एक बड़ी तिब्बत कला गैलरी शामिल है।

जहांगीर आर्ट गैलरीः मुम्बई में जहांगीर आर्ट गैलरी भारत की प्रसिद्ध कला वीथियों में से एक है। इसकी स्थापना 1952 में के.के. हैबर और होमी भाभा के अनुरोध पर सर काउआसजी जहांगीर द्वारा की गई। इसका प्रबंधन बॉम्बे आर्ट सोसायटी द्वारा किया जाता है; और इस मैंशन की पूरी लागत काउआसजी जहांगीर द्वारा उठाई गई। यह गैलरी काला घोड़ा, प्रिंस ऑफ वेल्स म्यूजियम के पीछे, गेटवे ऑफ इण्डिया के नजदीक दक्षिण मुम्बई में स्थित है।

म्यूजियम में चार एक्जिविशन हॉल हैं। परिसर में लोकप्रिय कैफे सेमोवर भी है, जो 1970 के दशक के समाजवादी संस्कृति का प्रतीक है। यह नेटसन, देश का प्राचीनतम लाइसेंस प्राप्त एंटीक डीलर, का घर भी है।

इस भवन का डिजाइन दुर्गा बाजपेयी द्वारा किया गया और यह शहर में कंक्रीट के शुरुआती ढांचों में से एक है।

निजाम संग्रहालयः एच.ई.एच. निजाम का संग्रहालय पुरानी हवेली, पूर्ववर्ती निजामों का महल, हैदराबाद में अवस्थित है। इस संग्रहालय में उन उपहारों को प्रदर्शित किया गया है जिन्हें हैदराबाद राज्य के अंतिम निजाम, ओस्मान अली खान आसफ जाह VII, ने अपने सिल्वर जुबली समारोह में प्राप्त किए। संग्रहालय को निजाम ट्रस्ट ने 18 फरवरी, 2000 को आम लोगों के लिए खोला। इसके उपहारों में सिल्वर जुबली समारोह के लिए प्रयोग किया गया स्वर्ण एवं लकड़ी से बना खूबसूरत सिंहासन, हीरों से सज्जित स्वर्ण टिफिन, जुबली हाल की नकल प्रस्तुत करती पेंटिग्स, मीर ओस्मान अली खान की ग्लास इनले पेटिंग मुख्य रूप से शामिल हैं। 1930 की एक राल्स रॉयस, पैकार्ड और एक जगुआर मार्क V प्रदर्शित विंटेज कारों में से हैं।

नृत्यग्रामः नृत्यग्राम, बंगलुरू में अवस्थित, भारत का प्रथम एवं एकमात्र नृत्यग्राम है जिसे, विशेष रूप से, भारत की शास्त्रीय भारतीय नृत्य शैली एवं मार्शल आर्ट्स के संरक्षण के उद्देश्य से स्थापित किया गया। इसका संगठन 1990 में प्रोतिमा गौरी द्वारा और ग्रिरार्ड दा कुन्हा द्वारा इसका डिजाइन किया गया।

नृत्यग्राम शिक्षण की *गुरु-शिष्य परम्परा* की शैली का समावेश करता है

जिसमें विद्यार्थी एक साथ एक समुदाय में रहते हैं और नृत्य में पारंगत होने के लिए वर्षों तक अभ्यास करने हेतु स्वयं को समर्पित कर देते हैं। प्रत्येक *गुरुकल* में अधिकतम 6 विद्यार्थी होते हैं, जो 6-7 वर्षों तक प्रशिक्षण प्राप्त करते हैं। सृजनात्मक आधुनिक नृत्य, योगा, माइम, *कलारीपयत्तु,* ध्यान, *अइकिडो,* मूर्तिशिल्प और *शोरिंजी केम्पो* में नियमित वर्कशॉप आयोजित की जाती हैं। अग्रणी शिक्षक एवं प्रदर्शन कला के कलाकार शास्त्रीय नृत्य में गहन वर्कशॉप के लिए नियमित तौर पर आते हैं। प्रत्येक विद्यार्थी को लेक्चर डेमो दिया जाता है ताकि वे नृत्य का शिक्षण एवं पेशेवर तौर पर प्रदर्शन कर सकें।

संस्कृति केंद्र संग्रहालयः यह संग्रहालय 1990 में ओ.पी. जैन द्वारा, 'संस्कृति फाउंडेशन', 1978 में स्थापित नई दिल्ली में अवस्थित एक गैर-लाभकारी संस्था, के तत्वावधान में किया गया। यह संस्कृति केंद्र परिसर, आनंदग्राम, दिल्ली में अवस्थित एक कलाकार ग्राम परिसर, में भीतर बना है। संस्कृति केंद्र संग्रहालय के तीन हिस्से हैं म्यूजियम ऑफ इण्डियन टेराकोटा, म्यूजियम ऑफ एवरीडे आर्ट्स, तथा टेक्सटाइल म्यूजियम। संस्कृति फाउंडेशन ने 1979 में 'संस्कृति पुरस्कार' की स्थापना की। यह सम्मान साहित्य, कला, संगीत, नृत्य थिएटर, पत्रकारिता और सामाजिक/सांस्कृतिक उपलब्धि के लिए 20-35 आयु समूह के युवा प्रतिभा को दिया जाता है। फाउंडेशन आर्टिस्ट-इन-रेजीडेंस प्रोग्राम, शोधार्थियों, कलाकारों, एवं दस्तकारों के लिए छात्रवृत्ति योजनाओं का भी संचालन करता है। इसमें रेजीडेंशियल स्टूडियो, पुस्तकालय, एम्फीथियेटर एवं एक आर्ट गैलरी है।

स्पिक मैके (SPIC MACAY): स्पिक मैके का विचार 1972 में न्यूयार्क में ब्रुकलिन एकेडमी ऑफ म्यूजिक के उस्ताद नासिर अमीनुद्दीन डागर और उस्ताद जिया फरीदुद्दीन डागर के कॉन्सर्ट में सामने आया। स्पिक मैके को 1979 में प्रारंभ किया गया।

स्पिक मैके देश के युवाओं के बीच शास्त्रीय कलाओं पर ध्यान देकर और गहन एवं सूक्ष्मतम मूल्यों के प्रति जागरूकता फैलाकर भारत की समृद्ध एवं सजातीय सांस्कृतिक विरासत के प्रति जागरूकता को प्रोत्साहित एवं संरक्षित करने का एक प्रयास है।

स्पिक मैके के भारत एवं विदेशों में 200 से अधिक केंद्र हैं। तकरीबन 1000

कार्यक्रमों का प्रतिवर्ष आयोजन किया जाता है। स्पिक मैके के वार्षिक कैलेंडर में भारतीय शास्त्रीय नृत्य एवं संगीत मुख्य एवं महत्वपूर्ण तत्व हैं।

स्पिक मैके अपने कार्यक्रमों *बैठक, विरासत* के लिए प्रसिद्ध है।

स्पिक मैके विभिन्न क्षेत्रों के प्रसिद्ध लोगों द्वारा प्रेरणास्प्रद चर्चा का आयोजन करता है। कला, पर्यावरण, दर्शन, विकास, अध्यात्म, साहित्य एवं लोक कलाओं पर बातचीत होती है।

स्पिक मैके प्रसिद्ध योगाचार्यों के माध्यम से योग शिविर का आयोजन करता है। स्पिक मैके वैयक्तिक लोक कला एवं क्राफ्ट वर्कशॉप के माध्यम से ऐसे कार्यक्रमों को बढ़ावा देता है।

बिरला एकेडमी ऑफ आर्ट एंड कल्चरः बिरला कला एवं संस्कृति एकेडमी की स्थापना 1967 में दृश्य एवं प्रदर्शन कलाओं पर बल देते हुए कला एवं संस्कृति के विकास के प्रधान उद्देश्य के साथ की गई। समय के साथ एकेडमी ने सांस्कृतिक, कलात्मक एवं शैक्षिक गतिविधियों के केंद्र के रूप में अपनी पहचान बना ली। संगठन कला, संस्कृति, स्वास्थ्य एवं शिक्षा जैसे कई क्षेत्रों में व्याख्यान, सेमिनार, उच्च ज्ञान आधारित वर्कशॉप आयोजित करता है। शिक्षा, स्वास्थ्य और वृद्धावस्था आश्रम के क्षेत्रों में ट्रस्ट के अंतर्गत कई संगठन संचालित किए जा रहे हैं।

श्री चित्र आर्ट गैलरीः श्री चित्र आर्ट गैलरी 1935 में तिरुवनंतपुरम, केरल में स्थापित एक कला विधि (आर्ट गैलरी) है। यह नेपियर संग्रहालय के उत्तरी दिशा की ओर अवस्थित है।

इस गैलरी में परम्परागत एवं समकालीन भारतीय कला का एक अद्वितीय संग्रह है। यह भारत की उन चुनिंदा आर्ट गैलरियों में से एक है जहां भारतीय कला के प्राचीन एवं आधुनिक दोनों रूप बेहद सुव्यवस्थित तरीके से प्रस्तुत किए गए हैं।

परिशिष्ट

1. भारत की आयुध कला (मार्शल आर्ट्स)

भारतीय प्रदर्शन परंपरा का सबसे जटिल और विचित्र तथ्य है ऐसे प्रदर्शन रूपों का प्रचलन या तो आयुध कला से उत्पन्न हुए हैं या उससे प्रभावित हुए हैं। आयुध कला प्रदर्शन रूपों के विकास में अथवा किसी भी रूप के विकास से अंतर्क्रिया करते हुए उसकी गतियों की प्रकृति और प्रारूपों को क्यों प्रभावित करती है?

आयुध कला की परंपरा केवल अस्त्र-शस्त्रों को पकड़ने और संचालित करने और युद्ध करने की नहीं है, वह एक संकुलित संस्कृति है, जिसमें लोगों के सामाजिक, धार्मिक, कलात्मक और सांस्कृतिक जीवन के सभी तत्व समाहित होते है। सभी आयुध परम्पराओं में विस्तृत दीक्षा-समारोह होता है, उसमें मंत्र पढ़े जाते हैं, चढ़ावा चढ़ता है और इस बात की शपथ ली जाती है कि आयुध कुशलता को अपनी रक्षा या किसी भले कार्य के लिए ही प्रयोग किया जाएगा।

अधिकांश आयुध पद्धतियों की प्रकृति ध्यानस्थता और चिंतनशीलता से युक्त होती है जो उनके अभ्यासों और गतियों में प्रतिबिम्बित होती हैं। आयुध कलाओं की ध्यानस्थता का गुण आयुध कलाओं से जुड़ी हुई योग तकनीकों और मुद्राओं का परिणाम होता है। आयुध कलाओं के अभ्यास में समुचित श्वसन प्रक्रिया के सिद्धांत और तकनीक उसकी चिंतनशीलता बढ़ाते हैं। श्वास को अंदर ले जाना आंतरिक शक्ति और एकाग्रता में सहायक होता है। आयुध कलाओं का आंतरिक गुण और चिंतनशीलता उनके आनुष्ठानिक और धार्मिक संदर्भ से भी जुड़ी होती है। इसका उद्भव मणिपुर के *थांग-ता* (तलवार-भाला) में सृष्टि कथा से है और युद्ध संरचना मणिपुरवासियों की जीवन-व्यवस्था से भी जुड़ी है। सबसे पुराने अनुष्ठान *लाई हरोबा* में प्रस्तुति स्थल के पवित्रीकरण के लिए *थांग-ता* की प्रस्तुति की जाती है। केरल की आयुध कला *कलरीपयट्टु* का निजंधरी उद्भव है, और कलरी का एक आनुष्ठानिक परिवेश होता है।

आयुध कलाओं में खड़े होने की भंगिमा और हाव-भाव का वही प्रयोजन एवं महत्व होता है जैसे नृत्य में। आयुध कलाओं ने पारंपरिक कलाकारों, मूर्तिकारों, और शिल्पियों को भी आकर्षित किया है और उन्होंने आयुध कलाकार की ऊर्जा और गतियों को पकड़ने की चेष्टा की है। अधिकांश देशों की दृश्य कलाओं जैसे चीन के प्रसिद्ध **शाओलिन विहार** के भित्ति चित्रों, जापान की लकड़ी के ब्लॉकों की छपाई और चर्म-चित्रावली और इंडोनेशिया व भारत की मूर्ति पट्टिकाओं तथा पत्थर की मूर्तियों में आयुध कलाओं की तकनीक, खड़े होने की भंगिमा, हाव-भाव व अस्त्र-शस्त्र प्रलेखित किए हुए हैं। बालि के द्वारपालों की पत्थर की मूर्तियां युद्ध के उत्साह को प्रकट करती हैं।

आयुध कलाओं की परम्परा की सांस्कृतिक स्थिति वैसी ही है जैसी नाट्यकलाओं की और इसके कारण इन दोनों विपरीत कलाओं के बीच बहुत-से संपर्क सूत्र दिखाई देते हैं। जहां कुछ रूपों में आयुध कला की प्रकृति सशक्त और स्पष्ट होती है, वहीं दूसरों में शैलीबद्धता और सौंदर्यपरक सीमाओं की मात्रा अधिक होती है।

आयुध कलाओं की सह-स्थिति, संबंधित और व्युत्पन्न प्रदर्शन रूपों का तथ्य प्रमुखतः तीन प्रदेशों में मिलता है। दक्षिण भारत में केरल, उत्तर-पूर्व में मणिपुर और पूर्व में छाऊ नृत्य का प्रदेश जो तीन प्रांतों झारखंड, पश्चिम बंगाल और ओडिशा में विस्तृत है। तमिलनाडु में भी आयुध कलाओं की परम्परा है, और पारम्परिक प्रदर्शन रूप भी हैं जैसे तेरूकुतु और देवरात्तम आनुष्ठानिक नृत्य। इन दोनों में पैर का काम, गति और शरीर की गतियों पर आयुध कला का स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है।

मणिपुर में जहां आयुध कला बड़ी संपन्न और निरंतर बनी हुई है और प्रदर्शन परम्परा के साथ परस्पर विनिमय और अंतर्क्रिया के संबंध में वर्तमान है। **केरल** के *कलरी* में साधारण लोक नृत्यों जैसे *कोलकली* और *वेलकली* और आनुष्ठानिक नृत्य *तेय्यम* से लेकर अत्यधिक विकसित नृत्य नाट्य प्रकार *कथकलि* और *कृष्णाट्टम* तक सबका संबंध कलरी से है। **छाऊ प्रदेश** के *परिखंडा* की स्थिति *थांग-ता* और *कलरी* से भिन्न है। यहां छाऊ नृत्य को जन्म देने वाला परिखंडा समाप्त हो चुका है और इसके आयुध तत्व छाऊ नृत्यों में समा गए हैं।

कुछ सुप्रसिद्ध आयुध कलाएं

कलरीपयट्टु

इसे सर्वाधिक प्राचीन मौजूदा आयुध कला रूप माना जाता है, जिसका इतिहास 2000 वर्ष से अधिक का है, और इसे लोकप्रिय तौर पर जाने जानी वाली चीन की आयुध कलाओं का अग्रणी कहा जाता है, जैसाकि बौद्ध भिक्षु बोधिधर्म इस ज्ञान को भारत से चीन ले गए। कलरीपयट्टु कला का (कलरी = अखाड़ा; पयट्टु = युद्ध/लड़ाई) उद्गम धर्नु वैदिक सामग्री से कहा जाता है जिसमें सभी युद्ध कलाओं को शामिल किया गया है और *विष्णु पुराण,* जैसाकि ज्ञान की अट्ठारह शाखाओं में से एक, द्वारा वर्णन किया गया है। *कलरी* स्कूल होते हैं जहां इस आयुध कला का प्रशिक्षण गुरुओं द्वारा दिया जाता है। यह मूलतः केरल की आयुध कला है जिसका सृजन योद्धा संत परशुराम, भगवान विष्णु के अवतार, द्वारा समुद्र में कुल्हाड़ी फेंककर किया गया जिसका जल कुल्हाड़ी गिरने के बिंदु तक सूख गया। तत्पश्चात् परशुराम ने 41 कलरी की स्थापना की और उनके द्वारा सृजित भूमि की रक्षा के लिए 21 मास्टर को कलरी आयुध कला का ज्ञान सिखाया। कलरीपयट्टु प्राथमिक तौर पर चाल, कूद, शरीर के झुकाव एवं उछाल पर बल देकर प्रतिस्पर्द्धी के शरीर के *मर्मो,* 108 ऐसे करण जो बेहद कमजोर होते हैं, पर जोरदार प्रहार करने की योग्यता प्रदान करता है।

कलरी में पशु-पक्षियों जैसे हाथी, घोड़ा, सिंह, मुर्गा, सूअर, बिल्ली, मछली, और सर्प की गतियों पर आधारित गतियों का बड़ा रीतिबद्ध स्वरूप होता है। कलरी के बड़े अनुक्रम जिनमें इन पशु और पक्षियों की गतियां मिली-जुली होती हैं जैसे कि कलरी प्रशिक्षु की नमस्कार मुद्रा बेहद सुरूप और ललित होती है, उसके पूरे शरीर को एक जटिल रेखागणितीय प्रारूप में समेट लेती है।

थांग-ता

थांग-ता और **सरित-सारक** का इतिहास 17वीं शताब्दी के मणिपुर से है। एक स्थानीय कथा के अनुसार मैतियों (मणिपुरियों) की सब गतियां थांग-ता से ही उद्भूत हुई हैं। इस निजंधरी कथा से मणिपुर की आयुध कला और प्रदर्शन परम्परा के आंतरिक और आधारभूत संबंध पर प्रकाश पड़ता है। लोक एवं जनजातीय

नृत्य विशेषकर नगा जातियों के नृत्यों से लेकर सांस्कृतिक और आनुष्ठानिक प्रदर्शन रूप **नट संकीर्तन** और सबसे प्राचीन और विस्तृत आनुष्ठानिक प्रदर्शन **लाई हरोबा** से शास्त्रीय रास नृत्य सभी में थांग-तलवार और ता-भाला के गति तत्व प्रदर्शन रूप में दिखाई देते हैं।

मृदुल पदाघात, दबाव, जटिल पगचाल, छोटी उछाल, बार-बार आने वाले चौथाई या आधे घुमाव और भौंकने जैसी क्रियाएं ता की विशेषताएं हैं। ऊर्ध्ववर्ती शस्त्रचालन मुद्रा, शरीर के चक्कर काटने और भौंकने जैसी क्रियाएं थांग की गतियों की विशेषता है।

परिखंडा

झारखंड, पश्चिम बंगाल और ओडिशा में प्रचलित छाऊ नृत्य भारत की प्राचीन और संपन्न नृत्य परम्परा में विशिष्ट हैं। छाऊ नृत्य लोक और क्लासिकी नैरन्तर्य का प्रतिनिधित्व करते हैं जो भारतीय कला परम्परा की विशिष्टता है। प्रदेश के लोक और जनजातीय नृत्यों से उनका संबंध है, उनका आधार आयुध कला है जो प्रदेश में परिखंडा कहलाता है। स्थानीय भाषा ओडिया में परिखंडा और छाऊ दोनों की शब्दावली एक ही है।

परिखंडा की गतियां भी पशु-पक्षियों की गतियों पर ही आधारित होती हैं जैसे सिंह, सारस, मछली, अश्व, हिरन, और बकरी की गतियां। परंतु परिखंडा की विशेषता यह है कि अनेक गतियां गृहिणी के दैनिक कार्यों पर, और किसान की खेतों पर चर्या पर भी आधारित है।

पाइक

यह भी एक आयुध कला है। यह पूरी तरह विकसित छाऊ और परिखंडा के बीच की आयुध कला है। इसमें नर्तक पगड़ी, शिरस्त्राण तथा हाथ और छाती पर लोहे के कवच पहने योद्धा की सज्जा में होते हैं। वे तलवार और टेढ़े खंजर से सज्जित होते हैं। प्रत्येक स्तर पर एक विशेष आयुध या नटबाजी का एकल होता है।

सिलाबम

तमिलनाडु राज्य को आधुनिक एवं वैज्ञानिक ढाल का पालना माना जाता है, जिसे तमिल में लोकप्रिय तौर पर सिलाबम कहा जाता है। तमिलनाडु में पांड्य

राजाओं ने ढाल को प्रोत्साहित किया और उनके समकालीन समकक्ष चोल और चेर ने भी इसे प्रोत्साहित किया। *सिलाबम* एक प्रकार का आयुध कला हथियार था जिसकी रोम एवं यूनान के अतिरिक्त अन्यों ने भी बहुत मांग की।

चेइबी गड-गा

यह मणिपुर की एक बेहद प्राचीन आयुध कला है। इसमें युद्ध के हथियार के तौर पर एक तलवार और एक ढाल होती थी, जो अब लाठी और चमड़े की ढाल के रूप में परिवर्तित हो गई है। प्राचीन समय में, इसमें तलवार का प्रयोग किया जाता था। इस आयुध कला में विजय शारीरिक बल या अंधाधुंध बल की अपेक्षा कौशल पर निर्भर करती है।

थोड़ा

यह हिमाचल प्रदेश की आयुध कला है जो धनुर्विधा कौशल पर आधारित है और इसका इतिहास *महाभारत* के समय से है। इस आयुध कला का उद्गम कुल्लू में हुआ। *थोडा* नाम तीर के मुहाने पर लगने वाले गोलाकार लकड़ी के टुकड़े से लिया गया है जिसकी भेद्य क्षमता तीव्र होती है। हिमाचल प्रदेश में, प्राचीन समय में थोडा का खेल बेहद रुचिकर तरीक से आयोजित किया जाता था। यह प्रतिस्पर्द्धा आयुध कला, संस्कृति एवं खेल का सुंदर मिश्रण है और 13 और 14 अप्रैल बैसाखी के दिन आयोजित किया जाता है।

गटका

यह एक हथियारबद्ध भारतीय आयुध कला है जिसे पंजाब के सिक्खों द्वारा स्थापित किया गया। लाठी, तलवार, कृपाण या कटार इसमें हथियार हो सकते हैं। आक्रमण एवं रक्षा पद्धति हाथों एवं कदमों की स्थिति पर आधारित होती है। गटका को पंजाब में विभिन्न समारोहों पर प्रस्तुत किया जाता है।

मर्दानी खेल

यह एक हथियारबद्ध मराठाओं की आयुध कला है। यह परम्परागत आयुध कला कोल्हापुर में की जाती है।

लाठी

यह लाठी-युद्ध शैली है जिसे मूलतः ग्रामीणों द्वारा किया जाता है।

कुश्ती कला

यह पूरे भारत में चलन में है और सामान्यतः संस्कृत में *मलविद्या* के तौर पर जाना जाता है। वास्तविक प्रहार-युद्ध को *मल्ल-युद्ध* कहा जाता है, जबकि *मालाखरा* शब्द का इस्तेमाल खेल में कुश्ती के लिए किया जाता है। वस्तुतः मल्ल-युद्ध उत्तर भारत में विलुप्त हो गया है जबकि इसकी पूर्ति मुगल पहलवानी ने की। *वज्र-मुष्ठी* एक अन्य प्राचीन कुश्ती कला रूप था जिसमें प्रतिस्पर्द्धी मल्ल करते हैं। मणिपुर में *मुकना* और मिजोरम में *इनबुआन* जैसे लोक कुश्ती के अन्य रूप भी पाए जाते हैं।

2. भारत में सर्कस

सर्कस एक चलती-फिरती कलाकारों की कम्पनी होती है, जिसमें नट, विदूषक, अनेक प्रकार के जानवर तथा विभिन्न प्रकार के अद्‌भुत, रोमांचक एवं हैरान कर देने वाले करतब दिखाने वाले कलाकार होते हैं। सर्कस एक वृत्तिय या अण्डाकार घेरे (रिंग) में दिखाया जाता है, जिसके चारों ओर दर्शकों के बैठने की व्यवस्था होती है। अधिकतर यह सभी एक विशाल तम्बू के नीचे व्यवस्थित होता है।

सर्कस की प्राचीनता

मनोरंजन एवं विहार के स्रोत तथा प्रदर्शन कला के रूप में सर्कस की विभिन्न संस्कृतियों में गहरी जड़ें हैं। सर्कस शब्द सर्कल से बना है, जिसका अभिप्राय होता है 'घेरा'। विभिन्न प्रकार की युक्तियों तथा प्रदर्शन में जिमनास्टिक और एक्रोबेटिक कलाएं शामिल होती हैं, जिससे भीड़ का मनोरंजन किया जाता है और प्रारंभिक समय के समाजों में ऐसा लगभग प्रत्येक समाज में होता था। ऐसे प्रदर्शन सड़कों, गली-नुक्कड़, मेलों या विशेष अवसरों पर राजदरबार में किए जाते थे। इसका प्रदर्शन उन लोगों, समूहों या समुदायों द्वारा किया जाता था, जो सम्बद्ध या जरूरी कौशल में प्रशिक्षित थे। इस प्रकार, कलाबाजी, संतुलनकारी प्रदर्शन, हाथ की सफाई, इत्यादि प्राचीन कौशल और प्रदर्शन थे जिन्हें भारत, चीन, अरब, ग्रीस, रोम और मिस्र जैसे देशों की प्राचीन सभ्यता एवं संस्कृति में ढूंढ़ा जा सकता है। कुछ लोगों का छोटा दल जो किसी विशिष्ट हुनर का प्रदर्शन करता था उसे आधुनिक जिमनास्टिक और सर्कस से जोड़ा जा सकता है। विशेष रूप से, उनमें से कुछ गांव-गांव और शहर-शहर जाते थे और यहां तक कि अंतराष्ट्रीय रूप से विदेशी धरती पर लोगों को हैरतअंगेज करतब दिखाते

थे और आजीविका एवं प्रतिष्ठा दोनों अर्जित करते थे। वे रस्सी पर नृत्य, रस्सी पर चलना तथा रस्सी पर अन्य करतब, कलाबाजी खाना, शरीर को ऐंठना, हाथ की सफाई, प्रशिक्षित जानवरों के खेल, सांस रोक देने वाले कौशल एवं दातों तले उंगलियां दबाने वाले करतब दिखाते थे।

आधुनिक सर्कस, जैसाकि हम आज जानते हैं, ने अपना नाम सर्कल (घेरा) से प्राप्त किया है। जब कलाबाजी एवं करतब, रोजमर्रा की चीजों के साथ हाथ की सफाई, सड़कों, मेले एवं लोगों के मनोरंजन के अन्य स्थानों पर जानवरों के साथ करतब होने लगे और लोग प्रदर्शक के चारों ओर इकट्ठा होकर उसके करतब देखने लगे और करतब दिखाने वाले के चारों ओर दर्शकों का एक घेरा बन जाता था, को सर्कल कहा जाने लगा और कालान्तर में सर्कस शब्द का प्रयोग किया जाने लगा।

एम्फीथिएटर एक प्रकार का गोलाकार स्टेडियम था, जो प्राचीन रोम में मौजूद था। एक आम भ्रम है कि आधुनिक सर्कस प्राचीन रोमन सर्कस से आया है। हालांकि, दोनों के बीच समान बात केवल 'सर्कस' शब्द हो सकता है। रोमन एम्फीथिएटर अपेक्षाकृत रूप से आधुनिक समय के गोलाकार रेसट्रैक से अधिक सम्बद्ध हो सकता है। यद्यपि आधुनिक सर्कस के तत्व प्राचीन रोम में खोजे गए हैं, रोमन एम्फीथिएटर आधुनिक सर्कस के करतबों के लिए नहीं जाने जाते थे, जिनसे हम परिचित हैं, अपितु ऐसे कामों के लिए जाने जाते थे जिनका आधुनिक सर्कस में स्थान नहीं है। एम्फीथिएटर रक्तपात के प्रदर्शन को समर्पित थे। इसमें पेशेवर लड़ाका संबंधी युद्ध होते थे, जिसमें लड़ने वालों की मृत्यु हो जाती थी, खूनी रथ दौड़, पशुओं की हत्या, उपहासक लड़ाईयां जिसमें उपहास करने वाले योद्धा की मृत्यु हो जाती थी और नग्नावस्था सहित खूनी खेल होते थे। हालांकि, आधुनिक सर्कस में प्रशिक्षित जानवरों का प्रयोग और प्रदर्शन से पहले परेड जैसे तत्व प्राचीन रोम के सर्कस में पाए गए हैं। रस्सी पर नृत्य तथा रथ दौड़ का आयोजन ग्रीस में किया जाता था; चीनी लोग हाथ की सफाई और करतब दिखाया करते थे; अरब में, लोगों का मनोरंजन करने के लिए सार्वजनिक रूप से तीरंदाजी जैसे खेलों का प्रदर्शन किया जाता था; प्रारंभिक अफ्रीकी संस्कृतियों में करतब एवं नृत्य दोनों का सम्मिलन था; और मध्यकालीन यूरोप में ग्यारहवीं-तेरहवीं

शताब्दी के फ्रांस के भाट राजदरबारों और महोत्सवों में लोगों का मनोरंजन किया करते थे। भारत में, ऐसे गली-मोहल्ला के प्रदर्शकों की परम्परा थी, जो मेले में और महोत्सव के अवसर पर रस्सी, जिमनास्टिक करतबों और सांप, बंदरों, पक्षियों और अन्य जानवरों के साथ प्रदर्शन करते थे।

मसखरी और मूर्खतापूर्ण व्यवहार (मनोरंजन के लिए) लगभग सभी समाजों में मनोरंजन के साधारण माध्यम के रूप में मौजूद था, जिसका अपना विशेष महत्व था। जोकर या विदूषक बेहद लोकप्रिय थे, जैसाकि वे लोगों का बहुत मनोरंजन करते थे।

आधुनिक सर्कस का उद्‌गम

प्राचीन रोम में भी सर्कस हुआ करते थे। बाद में जिप्सियों ने इस खेल को यूरोप तक पहुंचाया। आधुनिक सर्कस घेरे गोलाकार प्रदर्शन क्षेत्र से सम्बद्ध है, जिसमें दर्शकों के बैठने और करतब दिखाने का स्थान होता है। यह सर्कस प्रदर्शन के लिए तैयार एक बड़े तम्बू या भवन में भी हो सकता है। घेरा दर्शकों के लिए कुर्सियों से घिरा होता है।

दुनिया का सबसे प्राचीन सर्कस रोम में था, जिसका निर्माण 2500 वर्ष पूर्व किया गया था और इसका नाम 'मैक्सिमम' था। आधुनिक सर्कस, पश्चिम में अट्ठारहवीं शताब्दी में उदित, फिलिप एशले (1742-1814) से सम्बद्ध है। फिलिप एशले ने पहली बार लंदन में 9 जनवरी, 1768 को सर्कस का खेल दिखाया था। उसने घोड़ों के साथ कुत्तों के खेल को भी सर्कस में स्थान दिया। पहली बार दर्शकों को हंसाने के लिए उसने सर्कस में जोकर को जोड़ा। इग्लैंड के जनबिल रिकेट्स अमेरिका में 3 अप्रैल, 1793 को अपना दल लेकर पहुंचे और वहां के लोगों को सर्कस का अद्‌भुत खेल दिखाया। अमेरिका के द रिंगलिंग ब्रदर्स एंड बर्नम एंड बेले सर्कस को विश्व का सबसे बड़ा सर्कस माना जाता है। इस सर्कस को एक स्थान से दूसरे स्थान शो करने जाने के लिए पूरी दो ट्रेनों का उपयोग किया जाता है। इस बेड़े में 100 से अधिक हाथी और कई अन्य तरह के जानवर शामिल हैं। रूस के सर्कस बहुत अच्छे माने जाते हैं और वहां 1927 में मॉस्को स्कूल सर्कस की स्थापना हुई।

आधुनिक समय में सर्कस में विभिन्न प्रकार के करतब दिखाए जाते हैं। सामान्यतः चीन एवं अफ्रीकी क्षेत्र में सर्कस अधिक करतब वाले होते हैं और उनमें प्रशिक्षित जानवरों का बेहद् कम प्रयोग किया जाता है। सर्कस एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाए जाते हैं लेकिन ये स्थायी भी हो सकते हैं, जैसाकि कुछ यूरोपीय सर्कसों की उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में स्वयं की भव्य इमारतें थीं।

परम्परागत् सर्कस में हाथ की सफाई, हैरतअंगेज करतब, प्रशिक्षित जानवरों के करतब तथा जोकर और विदूषकों द्वारा दिखाए जाने वाले कई तरीके के प्रदर्शन शामिल थे। समकालीन सर्कस में हाथ की सफाई और संतुलनकारी करतब अधिक दिखाए जाते हैं और प्रशिक्षित जानवरों के करतब कम होते जा रहे हैं, चूंकि सर्कस की कठिन दिनचर्या और प्रशिक्षण जानवरों के लिए बेहद् तकलीफदेह होते हैं। इसी को लेकर सर्कस में जानवरों के प्रदर्शन पर विरोध होने लगा और पेटा सहित अन्य संगठनों के प्रदर्शन के बाद कई देशों में जानवरों के सर्कस में प्रयोग पर पाबंदी लगने लगी। ग्रीस पहला यूरोपीय देश है, जिसने सर्कस में किसी भी जानवर का उपयोग करने पर प्रतिबंध लगाया है।

विश्व के सबसे पुराने सर्कसों में शामिल रिंगलिंग ब्रदर्स एण्ड बर्नम एण्ड बेली सर्कस 146 वर्ष के शानदार सफर के पश्चात् 21 मई, 2017 को बंद हो गया। स्मार्टफोन एवं इंटरनेट की इस दुनिया में उसके लिए दर्शक जुटाने मुश्किल हो गए थे। अमेरिका के विस्कोंसिन में शुरू हुआ यह सर्कस उस समय का मनोरंजन का सबसे बड़ा केंद्र बन चुका था, फिर 1919 में रिंगलिंग ब्रदर्स ने बर्नम एंड बेली सर्कस को खरीद लिया और फिर सर्कस का पूरा नाम पड़ा 'रिंगलिंग ब्रदर्स एंड बर्नम एंड बेली सर्कस'। इस सर्कस को 'द ग्रेटेस्ट शो ऑन अर्थ' के तौर पर जाना जाता है, अर्थात् धरती का सबसे महान शो। दरअसल विगत् 146 वर्षों में इस सर्कस ने मनोरंजन की दुनिया में जो मुकाम हासिल किया है, उसकी कोई बराबरी नहीं कर सकता है। इस सर्कस की स्थापना 1871 में पांच भाईयों ने मिलकर की थी, जिन्हें रिंगलिंग ब्रदर्स के नाम से जाना जाता है।

आधुनिक भारतीय सर्कस

आधुनिक भारतीय सर्कस के खजाने या रंगपटल में, जैसाकि वर्णन किया गया है, विभिन्न प्रकार के करतब और प्रदर्शन शामिल हैं, जिनका प्रदर्शन परम्परागत रूप से विशिष्ट समुदाय के लोगों द्वारा गांवों एवं कस्बों में किया जाता था। घुमंतू मनोरंजन करने वाले इस कला में माहिर होते थे। अधिकांशतया, निचली जातियां एवं समुदाय राजदरबार एवं राजदरबारियों और साथ ही साथ धार्मिक त्योहारों के अवसर पर मेलों में लोगों का मनोरंजन करते थे। मनोरंजन करने की परम्परा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक बीसवीं शताब्दी तक चलती रही। बीसवीं शताब्दी के अंतिम दशकों ने परम्परागत विरासत कला, दस्तकारी, प्रथाओं, रीति-रिवाजों और काम-धंधों को विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी और पश्चिम-प्रेरित पेशों, व्यवसायों और जीवन शैली के आगमन के साथ खोया है, जिसने समस्त भारतीय संस्कृति एवं क्षेत्रों में जीवन एवं दृष्टिकोण के प्रति रवैये को विकसित एवं परिवर्तित किया। बीसवीं शताब्दी के प्रथम 25 वर्ष भारत में सर्कस के उत्थान के प्रति अत्यधिक क्रियाशील थे। इस दौरान कलाकारों को प्रशिक्षित करने के लिए सर्कस स्कूल स्थापित किए गए और अधिकतर महाराष्ट्र और केरल में कई सर्कस स्थापित किए गए। बीसवीं शताब्दी के दूसरे दशक में, पूर्वी क्षेत्र में, उल्लेखनीय रूप से बंगाल तथा असम में, सर्कस शुरू किए गए।

आधुनिक भारतीय सर्कस के विकास की कुछ विशेषताएं थीं। शुरूआती दौर में इसमें घुड़सवारी जैसे प्रशिक्षित जानवरों के प्रदर्शन पर बल दिया गया और मानव करतबों पर कम ध्यान दिया गया। **परियाली कानन का मालाबार ग्रांड सर्कस (1904)** इसका अपवाद था। यहां पर मुख्य तौर पर कलाकारों द्वारा किए गए करतबों पर बल दिया जाता था और जानवरों द्वारा प्रस्तुत खेल पर कम ध्यान दिया जाता था। समय के साथ-साथ, यहां तक कि जब सर्कस विकसित हो चुका था, और करतब, विदूषक तथा अन्य कौशलों को प्रसिद्धि मिल चुकी थी, जंगली जानवरों का प्रशिक्षित कौशल सर्कस की मुख्य विशेषता बना रहा, जब तक कि बीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक में न्यायालय द्वारा सर्कस में जंगली जानवरों के इस्तेमाल को प्रतिबंधित नहीं कर दिया गया। उल्लेखनीय

है कि वर्ष 1990 में भारत में सर्वोच्च न्यायालय ने सर्कस में जंगली जानवरों के प्रयोग पर रोक लगा दी थी।

हालांकि सर्कस की शुरूआत महाराष्ट्र में हुई, परंतु विकास में सर्वाधिक योगदान केरल का ही रहा और आज भी भारतीय सर्कस में केरल का ही दबदबा है। सर्कस कंपनियों की शुरूआत इन दो राज्यों में हुई और वे भारत एवं विदेश में सर्कस दिखाने गईं। इन दो राज्यों से अधिकतर सर्कस की महान विभूतियां निकलीं, जिन्होंने भारत में सर्कस की नींव डाली और उसमें महान योगदान दिया।

भारत में सर्कस के आदिगुरु होने का गौरव महाराष्ट्र के **विष्णुपंत छत्रे** को है। उनका जन्म महाराष्ट्र के आधुनिक सांगली शहर के अंकखोप गांव में हुआ था। वह कुर्दूवडी रियासत में चाकरी करते थे। उनका काम था घोड़े पर करतब दिखाकर राजा को प्रसन्न करना। 1871 में वह अपने राजा जी के साथ मुंबई में 'रॉयल इटैलियन सर्कस' में खेल देखने गए। उसके मालिक ने भारतीयों का मजाक उड़ाते हुए कह दिया कि सर्कस में खेल दिखाना भारतीयों के बस की बात नहीं है। इस अपमान को छत्रे सह नहीं सके और उन्होंने अपनी पत्नी के साथ मिलकर एक वर्ष के भीतर ही भारत की प्रथम सर्कस कंपनी **'द ग्रेट इंडियन सर्कस'** की स्थापना की और खेल दिखाया। छत्रे का 'द ग्रेट इंडियन सर्कस' भारतीय द्वारा दिखाये जाने वाले पहले आधुनिक सर्कस शो के रूप में उदित हुआ। शो की शुरूआत 20 मार्च, 1880 को कुर्दुवाड के महल के मैदान में चुनिंदा दर्शकों के लिए की गई। इसका उद्घाटन महाराजा बालासाहेब पटवर्धन, जिन्होंने सर्कस शुरू करने में छत्रे की मदद की थी, के निवेदन पर बॉम्बे के गवर्नर जेम्स फर्ग्युसन ने किया था।

शुरूआती दौर में आधुनिक महाराष्ट्र और मध्य प्रदेश में शो दिखाने के साथ, ग्रेट इंडियन सर्कस ने पूरे भारत उत्तरी क्षेत्र, मद्रास, और विदेशों में शो दिखाना शुरू कर दिया। छत्रे ने सर्कस दिखाने के लिए संयुक्त राज्य अमेरिका का भी दौरा किया। वह भारत लौट आए और अपने क्षेत्र के भीतर सर्कस दिखाने पर ध्यान दिया। अपने एक सर्कस दौरे में, जब वह केरल में थालसेरी (तेलीचेरी) के दौरे पर थे, वह कीलेरी कुन्नीकानन से मिले और उनसे सर्कस में करतब दिखाने के लिए कलाकारों को प्रशिक्षित करने की प्रार्थना की। उन्होंने गौर किया

कि पश्चिमी सर्कस में करतब दिखाने वाले कलाकार अश्वारोही कौशल में पारंगत हैं जबकि उनके कलाकारों में इस कौशल का अभाव है।

दो दशकों के लिए, छत्रे के सर्कस ने व्यापक रूप से भ्रमण कर सर्कस दिखाया और ढेर सारे पुरस्कार प्राप्त किए। बॉम्बे विश्वविद्यालय द्वारा उन्हें 'प्राध्यापक' की उपाधि प्रदान की गई। फरवरी 1905 में उनकी मृत्यु हो गई।

छत्रे की विरासत को अन्य लोगों ने आगे बढ़ाया जो उनसे जुड़े हुए थे, विशिष्ट रूप से उनके विद्यार्थियों ने। **सदाशिव राव एन. कार्लेकर**, विष्णुपंत छत्रे के सर्कस में एक पशु प्रशिक्षक, ने 1888 में **ग्रांड सर्कस** नामक स्वयं का एक सर्कस अपनी जन्मस्थली सांगली (महाराष्ट्र) में स्थापित किया।

एक अन्य जंगली जानवरों के प्रशिक्षक **परशुराम राव माली** ने अपने बड़े भाई, कृष्णा राव माली, के साथ मिलकर एक छोटे सर्कस का प्रारंभ किया। मिराज के निकट महीसाल गांव के निवासी **वेंकट राव देवल** या बाबा साहिब (1920 में मृत्यु) ने 1895 में देवल सर्कस की स्थापना की, जो महाराष्ट्र राज्य में पांचवां सर्कस था।

बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में भारत में केरल में सर्कस के प्रति बढ़ती रूचि भारत में सर्कस के विकास में एक निर्णायक मोड़ था। तब तक, महाराष्ट्र, भारत में उदीयमान सर्कस का केंद्र बन गया।

कीलेरी कुन्नीकानन (मृत्यु 1939 में) थालसेरी में हर्मन गुंडर्ट के बासेल इवेंगलिकल मिशन स्कूल में एक मार्शल आर्ट प्रशिक्षक और जिमनास्टिक प्रशिक्षक था।

उन्होंने छत्रे के निवेदन पर 1888 में पुलम्बिल गांव में कलारी, एक मार्शल आर्ट केंद्र, का प्रशिक्षण देना प्रारंभ किया। उसके प्रशिक्षित विद्यार्थियों ने छत्रे के 'ग्रेट इंडियन सर्कस' में काम किया। दरअसल, कीलेरी कुन्नीकानन भारतीय मार्शल आर्ट 'कलारीपयट्टू' के मास्टर थे। वह 1901 में कोल्लम शहर के नजदीक चिराक्कारा गांव में सर्कस स्कूल के निर्माण के लिए चले गए। यह स्कूल दक्षिणी क्षेत्र में अपनी तरह का पहला स्कूल था। इस स्कूल ने भविष्य के सर्कस उद्यमियों और साथ-ही-साथ कलाकारों को प्रशिक्षित किया, जिन्होंने भारत एवं विश्व दोनों जगह प्रसिद्धि प्राप्त की। कानन बॉम्बेयो रस्सी नृत्य में माहिर थे, जिन्होंने 1901

में स्कूल से प्रशिक्षण लिया और अमेरिका तथा यूरोपीय सर्कस में सर्कस प्रदर्शक के रूप में प्रसिद्धि हासिल की। कीलेरी कुन्नीकानन को भारतीय सर्कस का पितामह माना जाता है।

थालसेरी केरल के कन्नूर जिले के उत्तरी मालाबार में एक तटीय कस्बा है। यह औपनिवेशिक अधिकारियों और व्यवसायियों के लिए एक प्रसिद्ध कस्बा था। यह धीरे-धीरे दक्षिण भारत में सर्कस के विकास हेतु एक केंद्र के रूप में उदित हुआ। यह प्रारंभिक सर्कस उद्योग के कीलेरी कुन्नीकानन और अन्य बड़े नामों के साथ सम्बद्ध था।

कुन्नीकानन के कुछ विद्यार्थी अपने सर्कस के निर्माण के लिए चले गए। 1924 में कल्लान गोपालन द्वारा व्हाइट वे सर्कस; फेयरी सर्कस; ग्रेट रैमन सर्कस की स्थापना की गई। ईस्टर्न सर्कस; ओरियंटल सर्कस; ग्रेट बॉम्बे सर्कस, और द ग्रेट लॉयन सर्कस की स्थापना के.एन. कुन्नीकानन ने की।

कमला थ्री रिंग सर्कस की स्थापना सिक्स पोल, थ्री-रिंग सर्कस, अमेरिका की तर्ज वाला सर्कस, के रूप में के. दामोदरन ने की। 1930 के दशक के प्रारंभ में, उन्होंने दो खंभों वाले टेंट के साथ एक स्थान से दूसरे स्थान घूमकर इस सर्कस को स्थापित किया। उनके द्वारा स्थापित सर्कस उस समय पूरे एशिया में अपने प्रकार का एकमात्र सर्कस था।

परियाली कानन ने अपने गुरु कीलेरी कुन्नीकानन की मदद से अपने साथी विद्यार्थियों, जिसमें कानन पूवदन कुनहम्बू, एम.के. रमन और कृष्णनन शामिल थे, के साथ मिलकर एक तमाशा मण्डली तैयार की। उसकी 1904 में चिराक्कारा (थालसेरी) में गठित **मालाबार ग्रांड सर्कस** केरल की प्रथम सर्कस कम्पनी थी।

एक अन्य विद्यार्थी **एम.के. रमन** ने **कीलेरी कुन्नीकाननन टीचर**

जैसे-जैसे सर्कस विकसित हुआ, रोचक रूप से, यह महाराष्ट्र में स्वतंत्रता आंदोलन से भी जुड़ता गया। विष्णुपंत छत्रे, काशीनाथ पंत छत्रे और परशुराम राव माली जैसे लोगों ने स्वतंत्रता सेनानियों का समर्थन किया और उन्हें वित्तीय मदद प्रदान की। बाल गंगाधर तिलक, स्वामी रामतीर्थ और काका कार्लेकर उन स्वतंत्रता सेनानियों में से थे, जो उनसे जुड़े थे।

मेमोरियल सर्कस एंड जिमनास्टिक ट्रेनिंग सेंटर की चिराक्कारा में स्थापना की, जो मौजूद समय तक काम कर रहा है।

अन्य महत्वपूर्ण नाम एवं सर्कस जिनका विकास शुरूआती दौर में हुआ, निम्नलिखित हैंः

पटवर्धन सर्कस की स्थापना **थाथया साहिब पटवर्धन**, एक अधिवक्ता, और उनके भाई **श्रीपथ राव** ने बीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों में की।

कोलन दास सर्कस की स्थापना कोल्हापुर में और **मधुस्कर का ग्रांड सर्कस** (1906) बेहद प्रसिद्ध हुए।

थुक्कर्म गणपथ शेलर ने बड़ौदा (वडोदरा), गुजरात में एक **शेलर इंटरनेशनल सर्कस** की एक स्थायी सर्कस थिएटर के रूप में स्थापना की, लेकिन यह चल नहीं सका। इसलिए शेलर ने अपने शो को जगह-जगह पर दिखाना शुरू कर दिया।

थाराबाई, जो आगरा से थीं, कार्लेकर के सर्कस और परशुराम लॉयन सर्कस में एक 'सशक्त महिला' थी। उन्होंने वजन उठाने एवं खींचने वाले और जिमनास्टिक करतब दिखाए, जिसमें अपने बालों से ट्रक खींचने जैसे करतब शामिल हैं। उन्होंने बाद में **थाराबाई सर्कस** नाम से अपना सर्कस खोला और मालाबार एवं अन्य स्थानों पर सर्कस दिखाया।

बाबू राव कामिरे एक जिमनास्ट और निशानेबाज, जिन्होंने महाराष्ट्र में इंडियन बहादुर सर्कस और अन्य में करतब दिखाए, 1920 में **ग्रांड बॉम्बे सर्कस** की स्थापना की।

सांगली के हा**जी याकूब** और **मोइद्दीन** ने **बॉम्बे जी.ए.** (गुलशन अनवर) **सर्कस** की स्थापना की, जो कुछ वर्षों में एक स्तरीय सर्कस बन गया। दिलचस्प बात है कि, सर्कस में अधिकतर कलाकार थालसेरी से थे।

राममूर्थि नायडू, जो विजयनगरम, आंध्र प्रदेश से थे, ने वजन उठाने और छाती पर ट्रक गुजारने जैसे हैरतअंगेज कारनामे किए। उन्होंने स्वयं का **हिंदू हरक्यूलिस सर्कस** स्थापित किया।

बंगाल का प्रथम सर्कस शायद **ग्रेट रिंगलिंग सर्कस** था, जिसे **एस.के. गुहा** (बूढ़ा बाबू) ने स्थापित किया।

द ग्रेट बॉम्बे सर्कस (1920 में स्थापित) सबसे बड़े सर्कस में से एक था, जिसने श्रीलंका एवं दक्षिण अफ्रीका जैसे देशों में सर्कस दिखाया।

जैमिनी सर्कस की स्थापना मूरकोथ वेंगकेंडी शंकरन (1924 में जन्म), केरल के निवासी, और **के. सहदेवन**, चिरक्कारा सर्कस स्कूल के जिमनास्ट एवं कलाबाज द्वारा 1951 में बिलिमोरिया, गुजरात में की गई। सर्कस ने मॉस्को एवं अन्य स्थानों पर शो किए और 1964 में यूएसएसआर में इंटरनेशनल सर्कस फेस्टीवल में प्रथम भारतीय सर्कस के प्रतिनिधिमण्डल के तौर पर भाग लिया। इसने अपोलो सर्कस और वाहिनी सर्कस में हिस्सेदारी की और 1977 में जम्बो सर्कस की स्थापना की। जैमिनी सर्कस ने भारतीय फिल्मों *मेरा नाम जोकर* (राजकपूर), *शिकारी* (मिथुन चक्रवर्ती), और तमिल में *अपूर्वा सगोधरांगल* (कमल हासन), जिसे हिंदी में *अप्पू राजा* के नाम से बनाया गया में सर्कस की पृष्ठभूमि तैयार करने में योगदान दिया।

राजकमल सर्कस एक बड़ा सर्कस है, जिसकी स्थापना गोपालन मूलोली द्वारा 1958 में जीरा (पंजाब) में की गई। सर्कस ने पूरे भारत विदेशों में भी अपने कार्यक्रम पेश किए।

जम्बो सर्कस की स्थापना 1977 में बिहार में हुई। इसमें रूसी सर्कस कम्पनी के कलाकार भी शामिल थे।

रेम्बो सर्कस की स्थापना पी.टी. दिलीप द्वारा 1991 में की गई, इस सर्कस ने व्यापक रूप से भारत और विदेशों में प्रदर्शन किया।

भारत में सर्कस का विकास

बीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक दशकों से, सर्कस ने विभिन्न प्रकार के लोगों को अपनी ओर आकर्षित किया है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद, नवाबों और राजाओं के समाप्त होने के साथ, सर्कस ने लोगों में उनकी लोकप्रियता को बनाए रखा। समय के साथ, वे विकसित होते चले गए और शहरों तथा कस्बों में व्यापक एवं बड़े कार्यक्रमों के साथ वे अधिकांशतः शहरी विशेषता बनते गए। वे 1950-70 के दशकों के दौरान लोकप्रिय मनोरंजन संस्कृति की महत्वपूर्ण विशेषता बन गए। लेकिन इलेक्ट्रॉनिक जनसंचार के उदय से, विशेष रूप से टेलीविजन के कारण, इस उद्योग को गहरा आघात लगा। टेलीविजन ने अपनी चकाचौंध एवं मनोरंजक

कार्यक्रमों से लोगों को अपनी ओर खींच लिया। सर्कस, मनोरंजन के एक बड़े स्रोत, को टीवी के व्यापक कार्यक्रमों ने कांतिहीन या निष्प्रभ कर दिया। परिणामस्वरूप सर्कस के पतन का मार्ग प्रशस्त होने लगा।

इसके अतिरिक्त, अन्य मामलों ने सामान्यतः सर्कस की छवि को नष्ट कर दिया, विशिष्ट रूप से भारतीय सर्कस को। एक समय मनोरंजन का प्रमुख साधन रहा सर्कस, आज टेजीविजन और इंटरनेट के दौर में हाशिये पर पहुंच गया है। दर्शकों और समुचित मंच के अभाव के कारण प्रतिभाशाली कलाकार सर्कस से दूर होते जा रहे हैं। जानवर सर्कस का प्रमुख आकर्षण होते थे, अब सरकार ने जानवरों के सर्कस में इस्तेमाल पर रोक लगा दी है। सरकारी समर्थन और नई प्रतिभाओं की कमी भी इस उद्योग को लाचार बना रही है, जिसके कारण इससे जुड़े लोग अन्यत्र विकल्प तलाश रहे हैं। सर्वोच्च न्यायालय ने सर्कस में बच्चों के शोषण तथा बालश्रम को निषेध बताते हुए सर्कस में बच्चों के नियोजन पर रोक लगा दी है। इसके परिणामस्वरूप भी सर्कस उद्योग पर बुरा असर पड़ा है।

भारत में अब चंद सर्कस कंपनियां ही चल रही हैं। वर्ष 1900 के दौरान भारत में 50 से अधिक सर्कस चल रहे थे। जैसे-जैसे लोगों के बीच सर्कस का आकर्षण बढ़ता गया, सर्कसों की संख्या भी बढ़ती गई। 1924 में रैमन और 1941 में जैमिनी सर्कस बना। आज इनकी संख्या घटकर मात्र 10 के आस-पास रह गई है। इस समय जम्बो, रैम्बो, जैमिनी, ग्रेट रैमन, नेशनल और ग्रेट बॉम्बे मुख्य सर्कस हैं।

आज भारत में सर्कस बदलते परिवेश और लोगों की रूचि में परिवर्तन के कारण अपने अस्तित्व की सबसे कठिन लड़ाई लड़ रहे हैं। सर्कस के कलाकारों की खानाबदोश जिंदगी और स्थायित्व की कमी के कारण भी स्थिति अत्यधिक विषम हो गई है। सरकार को इस स्थिति से निपटने के लिए एक सर्कस अकादमी का गठन करना चाहिए ताकि न सिर्फ नए कलाकारों की प्रतिभा को निखारा जा सके अपितु दम तोड़ रहे इस पारम्परिक माध्यम में नए खून का संचार किया जा सके। चीन और अमेरिका की भांति भारत में भी सर्कस अकादमी खोली जानी चाहिए। रूस में सरकार ने सर्कस को पुनर्जीवित करने के लिए प्रमुख शहरों

में ऐसे केंद्र स्थापित किए हैं, जहां पूरे वर्ष सर्कस चलता है। यदि समुचित कदम नहीं उठाए गए तो मनोरंजन का यह अनोखा माध्यम इतिहास के पन्नों में खो जाएगा।

सर्कस में किए जाने वाले प्रदर्शन

यद्यपि सर्कस में कलाकारों द्वारा प्रस्तुत किए जाने वाले करतब सामान्य तौर पर सभी जानते हैं। ये प्रदर्शन प्रायः बेहद जटिल एवं हैरतअंगेज होते हैं, जो सर्कस के कार्यक्रम को आकर्षक और सफल बनाते हैं। ये करतब बेहद मुश्किल होते हैं और वर्षो के निरंतर प्रशिक्षण के पश्चात् ही इनका प्रदर्शन करना संभव हो पाता है। इसमें करतब संबंधी उपकरण और तकनीक का भी इस्तेमाल किया जाता है।

सामान्यतः सर्कस में मोटे तौर पर प्रदर्शन में निम्नलिखित करतब शामिल होते हैं

- **कलाबाजी (एक्रोबैटिक)**: इसमें सामान्यतः हैरतअंगेज कारनामों को शामिल किया जाता है। इसमें जिमनास्टिक का अत्यधिक प्रयोग होता है और संतुलन (जैसे रस्सी पर चलना), मोटर साईकिल या मोटर कार रेस (मौत का कुंआ), जैसे कई करतब किए जाते हैं।
- **जानवरों का प्रदर्शन**: इसमें कई करतब जानवरों द्वारा किए जाते हैं, जैसाकि जानवरों के करतब सर्कस का मुख्य आकर्षण रहा है। जानवरों को विशेष करतब दिखाने के लिए एक विशेष प्रकार का प्रशिक्षण दिया जाता है।
- **मसखरी करना या हंसाना**: जोकर द्वारा सर्कस में बेहद महत्वपूर्ण भूमिका निभाई जाती है। सर्कस में लोग जोकरों के मंच पर आने का सबसे अधिक इंतजार करते हैं, खासकर बच्चे। रंग-बिरंगे चेहरे, नकली नाक व बाल लगाकर सबको हंसाने वाले जोकर, जो कार्यक्रम के बीच के समय में 'फिलर' का काम करते हैं, इस समय में सबको खूब हंसाते हैं। कई लोगों की नकल करके, लतीफे सुनाकर वे ऐसा करते हैं। आमतौर पर जोकर (सर्कस में) वे होते हैं, जो शारीरिक विकास में पिछड़ जाते हैं और उनका कद कम रह जाता है। छोटे कद के जोकरों की दर्शकों द्वारा अधिक प्रशंसा की जाती है।

● **कलाबाज/संतुलकः** इसमें सिर के बल खड़ा होना और अन्य संतुलन संबंधी करतब शामिल होते हैं। इसमें करतब के दौरान इकपहिया साइकिल, बांस के बड़े डंडों पर चलना, सीढ़ियों का प्रयोग किया जाता है और इन पर मानव पिरामिड जैसी रचना बनाई जाती है।

● **आग संबंधी खेलः** इसमें मुंह में तेल लेकर आग पर डालना (फायर ब्रीथिंग), आग को मुंह के अंदर लेना (फायर ईटिंग), आग पर नृत्य करना, जैसे खतरनाक करतब किए जाते हैं।

● **संतुलन संबंधी करतबः** विभिन्न प्रकार की वस्तुओं बॉल, रिंग, प्लेट, चाकू, मशाल, इत्यादि का प्रयोग करके संतुलन संबंधी करतब किए जाते हैं। इसके अंतर्गत करतब दिखाने वाले एक साथ, उदाहरणार्थ बहुत सारी गेंद उछाल कर उन्हें एक साथ पकडते हैं और गिरने नहीं देते। यह बेहद जटिल होता है।

● **कूदना या छलांग लगानाः** इसमें विभिन्न प्रकार से अपने शरीर को मोड़ना होता है। इसमें कुदान घोड़े या घुड़सवारी करते हुए विभिन्न करतब करने होते हैं। दौड़ते हुए घोड़े की पीठ पर खड़े होना और विभिन्न तरह की कलाबाजी करना, इसके अंतर्गत शामिल होते हैं।

कुछ विशिष्ट करतबः सर्कस में होने वाले कुछ विशिष्ट करतब इस प्रकार हैं:

● ***हवाई छल्ला, रेशम, पट्टाः*** हवाई छल्ला या लायरा एक बड़ा स्टील का छल्ला होता है, जो छत से लटका हुआ होता है, जो स्थिर, घूमता हुआ या झूलती हुई स्थिति में हो सकता है और जिस पर कलाकार हैरतअंगेज करतब दिखाता है। हवाई रेशम (रिब्बन इत्यादि) के माध्यम से करतब करने में छत से एक कपड़ा लटका हुआ होता है। इसके अंतर्गत कलाकार रेशम के कपड़े पर चढ़ता है, गिरता है, स्वयं को इसमें लपेटता है और इस प्रकार विभिन्न प्रकार के करतब करता है।

● ***साईकिल चलानाः*** यह करतब सर्कस में दिखाया जाने वाला एक आम करतब है, इसमें साईकिल चलाते हुए कौशल एवं संतुलन का प्रयोग करते हुए करतब दिखाए जाते हैं। इसमें साईकिल पर एक व्यक्ति द्वारा और एक साथ दो या अधिक लोगों द्वारा करतब दिखाए जाते हैं।

● ***डंडा घुमानाः*** इसमें आश्चर्यजनक फुर्ती, समन्वय, संतुलन और लोचशीलता की आवश्यकता होती है। इसमें कलाकार एक या अधिक एल्युमिनियम जैसी धातु के डंडों या छड़ों को कुशलतापूर्वक प्रयोग करता है।

● ***टोपी का प्रयोग करके करतब दिखानाः*** इसमें टोपी का प्रयोग करते हुए कुशलतापूर्वक विभिन्न करतब दिखाए जाते हैं। टोपी को ऊपर और नीचे घुमाया या लुढ़काया जाता है और बेहद आश्चर्यजनक तरीके से पकड़ा जाता है। इसमें परम्परागत हाथ की सफाई की भी बाजीगरी शामिल होती है। करतब को मनोरंजक बनाने के लिए कलाकार इसमें हास्य तत्व को भी शामिल करता है।

● ***छल्ले को घुमानाः*** इसमें कलाकार द्वारा छाती, गर्दन, कंधे, भुजाओं, हाथों, कमर और पैरों के साथ प्लास्टिक, लकड़ी या धातु का छल्ला घुमाया जाता है। इसमें पूरे शरीर के अंगों से छल्ले को घुमाया जाता है। इसे संगीत के साथ भी किया जाता है।

● ***चाकू फेंकनाः*** इसमें लक्ष्य के चारों ओर चाकू फेंका जाता है और वह लक्ष्य के बेहद नजदीक होना चाहिए तथा टारगेट को लगना नहीं चाहिए। इस कार्य में बेहद कुशलता की आवश्यकता होती है। इस करतब में लक्ष्य गुब्बारे, टमाटर या फल, जैसी वस्तुएं और स्वयं व्यक्ति भी हो सकते हैं। इसके तहत् व्यक्ति गुब्बारे को कभी भुजाओं के नीचे या दांतों के बीच पकड़कर रखता है और इसे फोड़ने के लिए कलाकार चाकू फेंकता है, जो बेहद जोखिमपूर्ण होता है।

● ***रस्सी पर चलनाः*** इसमें कलाकार पतली रस्सी या तार पर चलता है। यह करतब भारत में प्राचीन समय से किया जाता रहा है। परम्परागत रूप से, गली-नुक्कड़ में खेल दिखाने वाले लम्बे डंडे जैसे संतुलनकारी उपकरण के साथ या इसके बिना रस्सी पर चलते थे। आधुनिक समय में भी यह करतब इसी प्रकार किया जाता है। इसमें कलाकार के उत्कृष्ट संतुलन एवं शारीरिक नियंत्रण कौशल की आवश्यकता होती है।

● ***कलाबाजी का झूला (ट्रैपीज):*** यह एक क्षैतिज छोटी रॉड या छड़ होती है, जो सर्कस में किसी धातु के पट्टे या रस्सी से लटकी होती है। यह स्थिर

(इस दौरान कलाकार संतुलन कौशल दिखाता है), घूमती हुई, झूलती हुई स्थिति में हो सकती है। इस करतब को अकेले व्यक्ति या व्यक्तियों के समूह द्वारा किया जा सकता है। अधिकांशतः यह सर्कस में आखिरी करतब के तौर पर दिखाया जाता है, जो हैरतअंगेज और सांसे रोक देने वाला होता है।

3. सांस्कृतिक महत्व के स्थल

अजमेरः अजमेर या अजयमेरू राजस्थान की तराई में स्थित एक जिला नगर है। इसकी स्थापना सातवीं शताब्दी में अजयपाल चौहान द्वारा की गई थी। ***ख्वाजा मोइनुद्दीन चिश्ती की दरगाह*** अजमेर के आकर्षण का प्रमुख केंद्र है। अजमेर स्थित ***ढाई दिन का झोपड़ा*** हिन्दू वास्तुकला का प्राचीनतम और सर्वोत्कृष्ट नमूना है। अजमेर से 11 किलोमीटर उत्तर-पश्चिम में हिंदुओं का पावन तीर्थ ***पुष्कर*** है। ब्रह्माजी एवं सावित्री के मंदिर संपूर्ण भारत में केवल पुष्कर में ही स्थित है, पुष्कर सरोवर के अतिरिक्त ***रमा बैकुण्ठ, ब्रह्माजी का मंदिर, गायत्री एवं सावित्री मंदिर*** आदि भी दर्शनीय हैं। अजमेर स्थित अन्य प्रसिद्ध पर्यटन स्थल हैं ***आनासागर, सोनीजी की नसियां, तथा तारागढ़ दुर्ग*** आदि।

अमरनाथः जम्मू-कश्मीर स्थित अमरनाथ एक प्रसिद्ध धार्मिक स्थल है। हर वर्ष जुलाई-अगस्त में लगभग 25,000 श्रद्धालु अमरनाथ गुफा के दर्शन करते हैं। यहां स्थित बर्फ के शिवलिंग का आकार मौसम के अनुसार बदलता जाता है। अमरनाथ गुफा के मार्ग में स्थित ***शेषनाग*** में 3,573 मीटर की ऊंचाई पर ***हिम झील*** है। अमरनाथ गुफा के मार्ग में स्थित अन्य दर्शनीय स्थल हैं ***चंदनवाड़ी, पंचतरणी*** तथा ***वावजान***।

स्वर्ण मंदिर (अमृतसर): अमृतसर स्थित ***स्वर्ण मंदिर*** सिखों की सबसे प्रसिद्ध धर्मस्थली है। इसकी नींव सिक्खों के चौथे गुरु रामदास ने सन् 1577 में डाली थी। 1577 में यहां स्थित जलाशय में स्नान से जब एक अपंग ठीक हो गया तो इस सरोवर को अमृत सरोवर का नाम दे दिया गया। मुगल सम्राट अकबर अमृत सरोवर के विस्तार के लिए भूमि दान करने के लिए इच्छुक थे, परंतु भविष्य में कोई विवाद न हो इसलिए रामदास ने स्थानीय जाटों को पूर्ण राशि का भुगतान कर दिया। रामदास के पुत्र अर्जन देव ने सरोवर का विस्तार

करवाया तथा जलाशय के मध्य में स्वर्ण मंदिर (1589-1601) का निर्माण करवाया।

स्वर्ण मंदिर में प्रवेश से पूर्ण सिक्ख धर्म की मान्यताओं के अनुसार जूते, चप्पल, छड़ियां तथा छाते आदि बाहर ही छोड़ने पड़ते हैं। परिसर में प्रवेश से पूर्व पांव धोने चाहिए तथा सर ढका हुआ होना चाहिए। मंदिर परिसर का मुख्य प्रवेश द्वार हर मंदिर कहलाता है। सभी भक्त सरोवर का चक्कर दक्षिणावर्त्त में लगाते हैं। सरोवर क्षेत्र 8 मीटर चौड़े पैदल मार्ग से घिरा हुआ है। यहां लगाये गये सफेद संगमरमर काले एवं भूरे जयपुरी संगमरमर से युक्त हैं।

स्वर्ण मंदिर परिसर में प्रवेश द्वार के बांयी ओर तथा सरोवर के पूर्वी भाग में स्नान घाट स्थित हैं। परिसर के पूर्वी भाग में ही हिंदुओं के 68 पवित्र स्थल तथा ग्रंथ साहिब की प्रतिलिपी भी रखी गई है। ग्रंथ साहिब का पाठ स्वर्ण मंदिर के ज्ञानी द्वारा ही किया जाता है तथा संपूर्ण पाठ की अवधि सामान्यतः तीन घंटे होती है। हालांकि ग्रंथ-साहिब के पूर्ण पाठ में 48 घंटे का समय लगता है। परिसर के पूर्वी भाग में स्थित जूबी वृक्ष (450 वर्ष) में आज भी लोग अपंग लोगों को उपचार के लिए लाते हैं।

स्वर्ण मंदिर स्थित गुरु रामदास लंगर में लंगर छका जा सकता है तथा गुरु नानक निवास एवं गुरु राम दास सराय में यात्री ठहर (अधिकतम 3 दिन) सकते हैं। स्वर्ण मंदिर स्थित लंगर में एक दिन में 10,000 लोगों को लंगर छकाया जाता है। परिसर के दक्षिणी भाग में लंगर बाबा दीप सिंह की समाधि है। बाबा दीप सिंह द्वारा 1758 में अहमद शाह दुर्रानी के साथ किए गए युद्ध को यहां चित्रों में दर्शाया गया है।

परिसर के पश्चिमी भाग में गुरु गोविंद सिंह की समाधि तथा अकाल तख्त हैं। सरोवर के मध्य में स्थित हरमंदिर सिक्खों की सबसे पवित्र स्थली है। मंदिर में प्रवेश से पूर्व भक्त प्रसाद (कड़ा) प्राप्त करते हैं। हरमंदिर को जाने वाला 60 मीटर लंबा मार्ग प्रायः भक्तों की कतार से भरा रहता है। इस 60 मीटर लंबे मार्ग तथा प्रथम तल के निर्माण में सफेद संगमरमर का प्रयोग किया गया है, जबकि शेष मंदिर पर ताम्र परतें चढ़ाई गई हैं। तीन-मंजिले मंदिर के निचले तल में गुरु ग्रंथ साहिब रखा गया है। प्रथम तल की बालकोनी पर तीन सिक्ख सदैव अखण्ड पाठ का गान करते रहते हैं।

अयोध्याः उत्तर प्रदेश स्थित अयोध्या सरयू नदी के किनारे अवस्थित है। अयोध्या हिंदुओं के सात सबसे पवित्र नगरों में से एक है। ऐसी मान्यता है कि भगवान राम का जन्म यहीं हुआ था। जैन सम्प्रदाय इस स्थल को अपने पहले और चौथे तीर्थंकर की जन्म स्थली मानता है। ऐसी मान्यता भी है कि भगवान बुद्ध ने अपना कुछ समय यहां व्यतीत किया था। अयोध्या स्थित बाबरी मस्जिद स्थल काफी समय से विवाद का विषय रहा है। राम से संबंधित अनेक स्थलों में ***जन्म स्थान, लक्ष्मण घाट*** एवं ***हनुमान किला*** आदि प्रमुख हैं। ***कला राम*** एवं ***कनक भवन*** यहां के प्रमुख मंदिर हैं।

आगराः उत्तर प्रदेश में यमुना नदी के किनारे स्थित आगरा दिल्ली से 200 किलोमीटर उत्तर में स्थित है। आगरा मुगलकालीन स्मारकों के लिए प्रसिद्ध है। ***आगरे का लाल किला*** यमुना नदी के पश्चिमी किनारे पर स्थित है, इस किले के मुख्य परिसर के निर्माण का श्रेय अकबर को है। किले की बाहरी दीवारें 20 मीटर से अधिक ऊंची हैं तथा इनका निर्माण लाल बलुआ पत्थर से किया गया है जबकि अंदर की दीवारें 22 मीटर ऊंची हैं। ***जहांगीरी महल*** का निर्माण अकबर ने 1570 में किया था। इसके दक्षिण में स्थित ***जोधाबाई*** महल का नामकरण जहांगीर की पत्नी के नाम पर किया गया है। ***शाहजहां महल*** की इमारतों में मुसामन बुर्ज में सफेद संगमरमर का प्रयोग वातावरण में विशिष्ट सौंदर्यमय प्रकाश का आभास उत्पन्न करता है। ***अंगूरी बाग, गोल्डन पवेलियन, खास महल, शीश महल, दीवान-ए-खास, मच्छी भवन, दीवान-ए-आम, नगीना मस्जिद*** तथा ***मोती मस्जिद*** आदि अन्य प्रमुख दर्शनीय स्थल हैं। ***एतमद-उद-दौला चिन्नी का रौजा, राम बाग, जौहरा बाग*** तथा ***राधास्वामी समाधि*** आदि अन्य रमणीय केंद्र हैं। आगरा में प्रतिवर्ष 18-27 फरवरी तक ताज महोत्सव का आयोजन किया जाता है। आगरा से 14 किलोमीटर दूर स्थित ***कैलाश*** में अगस्त/सितंबर में ***शिव मंदिर*** में भी एक उत्सव का आयोजन किया जाता है। आगरा से कुछ दूर स्थित ***सिकंदराबाद अकबर के मकबरे*** तथा ***बुलंद दरवाजे*** के लिए दर्शनीय है।

आनंदपुर साहिबः पंजाब स्थित आनंदपुर साहिब की स्थापना सिखों के 9वें गुरु तेगबहादुर ने 1664 में की थी। शिवालिक पहाड़ियों की गोद में

सतलुज नदी के पूर्वी किनारे पर बसा आनंदपुर साहिब प्रसिद्ध सिख-धर्म स्थल है। आनंदपुर साहिब में बैसाखी के दिन 1699 में सिख पंथ की स्थापना हुई थी। ***आनंदपुर साहिब गुरुद्वारे*** के अतिरिक्त यहां स्थित ***संग्रहालय*** विशेष रूप से दर्शनीय है।

इलाहाबादः उत्तर प्रदेश स्थित इलाहाबाद अनेक ऐतिहासिक एवं धार्मिक स्थलों के लिए प्रसिद्ध है। गंगा, यमुना एवं सरस्वती के संगम पर स्थित इलाहाबाद को 'प्रयाग' नाम से भी पुकारा जाता है। यहां आयोजित माघ मेला तथा कुंभ मेले में श्रद्धालु बड़ी मात्रा में पहुंचते हैं। मुगल काल में निर्मित ***किला*** तथा ***खुसरो बाग*** यहां स्थित दर्शनीय स्थल हैं। अंग्रेजों द्वारा निर्मित स्मारकों में ***ऑल सेंटस कैथेड्रल, मुईर कॉलेज, मायो हाल, मिंटो पार्क*** आदि प्रमुख हैं। इलाहाबाद संग्रहालय में ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी से लेकर 11वीं शताब्दी तक की पुरातात्विक वस्तुओं का संग्रह है। ***आनंद भवन*** में नेहरू परिवार से संबंधित वस्तुओं को संग्रहीत किया गया है।

उज्जैनः मध्य प्रदेश स्थित उज्जैन भारत के प्राचीनतम नगरों में से एक है। उज्जैन हिंदुओं की सात पवित्र नगरियों में से एक है। यहां आयोजित किए जाने वाले कुंभ मेले का विशेष धार्मिक महत्व है। उज्जैन स्थित वेधशाला का निर्माण सवाई राजा जयसिंह ने करवाया था। इस वेधशाला द्वारा ग्रहों की स्थिति बताई जा सकती है। उज्जैन स्थित ***महाकालेश्वर मंदिर*** में शिव के 12 ज्योर्तिलिंगों में से एक स्थापित है।

उडुपीः कर्नाटक स्थित उडुपी 12वीं शताब्दी के संत माधव की जन्मस्थली है। माधव ने उडुपी में 8 सन्यासी मठों की स्थापना की थी। ***श्रीकृष्ण मठ*** तथा ***श्रीअनंथसाना मंदिर*** विशेष रूप से दर्शनीय हैं। उडुपी से 5 किलोमीटर दूर स्थित ***मणीपाल*** शैक्षिक केंद्र होने के साथ-साथ यक्षगान नृत्य नाट्य के लिए भी प्रसिद्ध है। उडुपी से कुछ दूर स्थित ***माल्पे*** एक प्रसिद्ध मत्स्य केंद्र है।

उदयपुरः राजस्थान स्थित उदयपुर साम्भर नदी के उत्तर-पूर्व में अरावली पर्वत-श्रेणियों में अवस्थित है। इसकी स्थापना सिसोदिया वंश के शासक महाराणा उदयसिंह ने की थी। उदयपुर स्थित ***राजमहल,*** राज्य का सबसे विशाल महल है। राजमहल में बाड़ी महल, दिलखुश महल, मानक महल, सूरज चौपड़,

शिव विलास आदि दर्शनीय हैं। ***पिछोला झील*** उदयपुर की सबसे प्रसिद्ध झील है। इसके बीच में ***जग मंदिर*** और ***जग निवास महल*** हैं, जिनका प्रतिबिम्ब झील में पड़ता है। उदयपुर के उत्तर में 48 किलोमीटर दूर स्थित ***श्री नाथद्वारा*** में वैष्णवों का सुप्रसिद्ध मंदिर है, जो श्रीनाथ जी का तीर्थ स्थान है। नाथद्वारा से लगभग 11 किलोमीटर पश्चिम में मेवाड़ इतिहास की प्रसिद्ध रणस्थली ***हल्दीघाटी*** अवस्थित है।

उदयपुर से 56 किलोमीटर दूर कुरावड़ स्थित ***जगत ग्राम*** में अम्बिका देवी का भव्य मंदिर है। कला एवं शिल्प की दृष्टि से अत्यंत आकर्षक इस मंदिर को राजस्थान का खजुराहो कहा जाता है। उदयपुर से 21 किलोमीटर दूर स्थित ***एकलिंग जी का मंदिर*** एक प्रसिद्ध धार्मिक स्थल है। ***रणकपुर*** के जैन मंदिर भी कला एवं शिल्प के अनुपम भण्डार हैं। ***चौमुख मंदिर*** रणकपुर के मंदिरों में प्रमुख है। ***सहेलियों की बाड़ी, सज्जन निवास बाग*** तथा ***कुम्भलगढ़ दुर्ग*** उदयपुर स्थित अन्य प्रसिद्ध स्थल हैं।

ऋषिकेशः उत्तरांचल स्थित ऋषिकेश गंगा के समीप हिमालय की अंतिम पहाड़ियों में बसा है। ऋषिकेश चारों धामों के तीर्थ का आधार केंद्र है। वस्तुतः ऋषिकेश आश्रमों का नगर है। यहां स्थित त्रिवेणी घाट पर प्रत्येक संध्या को प्रार्थना सभा का आयोजन किया जाता है। आश्रमों के आत्मिक स्वर्ग के रूप में प्रसिद्ध ***पौड़ी*** गंगा के पश्चिमी किनारे पर स्थित है। यहां स्थित अनेक आश्रम आध्यात्म, योगा, आत्मिक-ज्ञान तथा वेदांत के निर्देशों के केंद्र हैं। ***शिवनंद आश्रम, ओमारकनंद आश्रम*** (दुर्गा मंदिर) ***स्वर्ग आश्रम*** तथा ***परमार्थ निकेतन*** यहां स्थित प्रमुख आश्रम हैं। चार धाम के मार्ग में स्थित ***लक्ष्मण झूले*** तथा ***शिवानंद झूले*** का विशेष महत्व है। यहां से कुछ दूर चंद्रभागा नदी के किनारे स्थित ***मुनी-की-रेती*** में भी कुछ प्रसिद्ध मंदिर हैं।

एलोराः महाराष्ट्र स्थित एलोरा की गुफाएं हिंदू, जैन तथा बौद्धों की श्रेष्ठतम गुफाएं हैं। ऐसी मान्यता है कि उज्जैन मार्ग पर अवस्थित इन गुफाओं का निर्माण राहगीर भक्तों द्वारा किया गया है। एलोरा में कुल 34 गुफाएं हैं। इनमें 12 बौद्ध (600-800 ईसवी) 17 हिंदू (600-900 ईसवी) तथा पांच जैन (800-1100 ईसवी) गुफाएं हैं। बौद्ध गुफाओं का संबंध वज्रयान संपद्राय से है।

एहोलः कर्नाटक स्थित एहोल चालुक्यों की पहली राजधानी थी। यहां निर्मित मंदिरों में राष्ट्रकूट तथा चालुक्य मंदिर सम्मिलित हैं। एहोल को भारतीय मंदिरों की वास्तुकला की जन्मस्थली कहा जाता है। एहोल में लगभग 140 मंदिर हैं। एहोल स्थित कुछ प्रसिद्ध दर्शनीय मंदिर हैं ***दुर्गीगुडी मंदिर, लड खान मंदिर, गोदरगुडी मंदिर, चिक्की मंदिर, रावण पहाड़ी गुफा मंदिर, बौद्ध मंदिर, मेगुटी मंदिर*** तथा कुंती समूह में चार हिंदू मंदिर हैं। इन मंदिरों के अतिरिक्त यहां स्थित ***हुछप्पाया मठ*** का संबंध 7वीं शताब्दी से है।

ओरोविलेः तमिलनाडु स्थित ओरोविले के विकास का श्रेय मदर मीरा अलफासा को है। मदर द्वारा विश्व-बंधुत्व के उद्देश्य से स्थापित इस केंद्र में ***मैत्री मंदिर*** तथा ***भरत निवास*** विशेष भाग हैं।

कटकः उड़ीसा स्थित कटक की स्थापना नृपति केसरी (920-935) ने की थी। 1956 तक कटक उड़ीसा की राजधानी थी। महानदी के डेल्टा पर स्थित तथा कठजूरी नदी से घिरा कटक एक टापू का रूप लिए हुए है। पुरातात्विक विभाग द्वारा खोजे गए 13वीं शताब्दी के ***बाराबती किले*** का पुराना जगन्नाथ मंदिर तथा बक्शी साहब की मजार विशेष रूप से दर्शनीय हैं। ***कदम रसूल*** 18वीं शताब्दी में निर्मित प्रसिद्ध मस्जिद है। ***रत्नगिरि, ललितगिरि*** एवं ***उदयगिरि*** में बौद्ध धर्म के वज्रयान सम्प्रदाय के अवशेष हैं।

कन्याकुमारीः तमिलनाडु स्थित कन्याकुमारी बंगाल की खाड़ी, हिन्द महासागर तथा अरब सागर के मिलन स्थल पर अवस्थित एक प्रसिद्ध धार्मिक स्थल है। समुद्र तट से 400 मीटर दूर समुद्र में स्थित ***स्वामी विवेकानंद स्मारक*** विशेष दर्शनीय स्थल है। कन्याकुमारी के सूर्योदय तथा सूर्यास्त का दृश्य भी विशेष है। कन्याकुमारी स्थित ***गांधी मंडप*** तथा ***कन्याकुमारी मंदिर*** दर्शनीय स्थल हैं। कन्याकुमारी से 10 किलोमीटर दूर स्थित ***सुचिंदरम*** 17वीं शताब्दी में पांड्यों द्वारा निर्मित ***सुचिंदरम मंदिर*** के लिए प्रसिद्ध है। सुचिंदरम में शिव, ब्रह्मा तथा विष्णु को समर्पित प्रसिद्ध मंदिर भी हैं। कन्याकुमारी से 19 किलोमीटर दूर स्थित ***नागेरकोइल*** नागराज मंदिर तथा जैन तीर्थंकरों की मूर्तियों के लिए प्रसिद्ध है।

कांगड़ाः हिमाचल प्रदेश स्थित कांगड़ा को त्रिगर्त एवं नगरकोट के नाम से भी जाना जाता है। अपनी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के अनुरूप यहां अनेक मंदिर

हैं ब्रजेश्वरी, बैजनाथ, ज्वालामुखी तथा चामुण्डा देवी का मंदिर। निचली पहाड़ियों में स्थित कांगड़ा एक सुंदरमतम घाटी है। कांगड़ा घाटी में ही धौलाधार श्रेणी स्थित है। कांगड़ा की स्थानीय राजपूत शैली और मुगलशैली की मिश्रित चित्रकारी से विकसित 'कांगड़ा चित्रकला शैली' का वर्तमान में विशिष्ट स्थान है।

कांचीपुरमः तमिलनाडु स्थित कांचीपुरम का संबंध चोल काल (दूसरी शताब्दी ईसा पूर्व) से है। अपने प्राचीन मंदिरों के लिए प्रसिद्ध कांचीपुरम हिंदुओं के सात पवित्र नगरों में से एक है। कांचीपुरम हिंदू धर्म-स्थलों के अतिरिक्त शंकराचार्य तथा बुद्ध से भी संबंधित है। कांचीपुरम में निर्मित हजारों मंदिरों में से अब केवल 70 ही शेष हैं। ***एकामबरेश्वर*** यहां स्थित मंदिरों में सबसे प्रसिद्ध है। ***कैलाशनाथ मंदिर*** यहां स्थित मंदिरों में सबसे सुंदर है। इसका निर्माण 7वीं शताब्दी में नरसिंह वर्मन II ने करवाया था। विष्णु को समर्पित बैकुंठ पेरुमल मंदिर का निर्माण 8वीं शताब्दी में नंदीवर्मन ने करवाया था। ***वर्धराजा, कमाक्षी, वर्धमान*** तथा ***चंद्रप्रभा*** यहां स्थित अन्य प्रसिद्ध मंदिर हैं।

काजाः हिमाचल प्रदेश स्थित काजा एक प्रसिद्ध बौद्ध स्थल है। ***टाबो, धनकर*** एवं ***घुंगरी*** यहां स्थित प्रसिद्ध गोम्पा हैं। यहां स्थित टाबो गोम्पा की गणना विश्व के प्राचीनतम गोम्पाओं में की जाती है। यहां लगभग 60 लामा निवास करते हैं। यहां बुद्ध की लगभग 1,000 मुद्राओं को चित्रबद्ध किया गया है। धनकर स्थित गोम्पा का निर्माण 16वीं शताब्दी में किया गया था। धनकर में 4,100 मीटर की ऊंचाई पर स्थित एक सुंदर तालाब भी है। ***किब्बर*** स्थित ***की मठ*** यहां स्थित मठों में सबसे बड़ा है। किब्बर (गीत) विश्व का सबसे ऊंचा (12810 फीट) गांव है। काजा से 22 किलोमीटर दूर स्थित ***लालुंग गोम्पा*** लकड़ी पर की गई नक्काशी के लिए प्रसिद्ध है।

कुरुक्षेत्रः हरियाणा स्थित कुरुक्षेत्र का संबंध महाभारत काल से है। यहीं पर भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को गीता का उपदेश दिया। कुरुक्षेत्र स्थित तालाब में सूर्य ग्रहण के दिन हजारों श्रद्धालु पवित्र स्नान करते हैं। इस तालाब के समीप ही अनेक मंदिर भी स्थित हैं। कुरुक्षेत्र में हिंदू शैली में निर्मित अनेक मंदिरों के अतिरिक्त ***एक मुस्लिम किला, चिलि जलाल का मकबरा*** तथा ***लाल***

मस्जिद आदि दर्शनीय स्थल हैं। कुरुक्षेत्र के समीप स्थित ***थानेश्वर*** हर्षवर्धन की जन्म स्थली है। ***पेहोवा*** एवं ***कैथल*** कुरुक्षेत्र के समीप स्थित अन्य दर्शनीय स्थान है।

कारगिलः जम्मू-कश्मीर स्थित कारगिल सूरू नदी के किनारे अवस्थित है। कारगिल से 39 किलोमीटर दूर स्थित ***मुलबेख*** में मैत्री बुद्ध की विशालकाय मूर्ति है। इसी गांव में दो गोम्पा भी हैं। यहां से 13 किलोमीटर दूर स्थित ***नामिका ला*** प्रसिद्ध दर्रा है। ***लामायूरू*** अपनी प्राकृतिक सुंदरता के अतिरिक्त ***बौद्ध विहार*** के लिए प्रसिद्ध है। कारगिल के समीप स्थित अन्य प्रसिद्ध दर्शनीय स्थल हैं ***शेरगोल, रिजोंग, ससपोल, अल्छी, लेकिर, बासगो, स्पीतुक*** आदि।

कालीबंगनः राजस्थान के गंगानगर जिले में घग्घर नदी के दक्षिणी किनारे पर स्थित कालीबंगन हड़प्पा काल की सबसे प्रमुख स्थली है। यहां पाये गए अवशेषों का संबंध पूर्व-हड़प्पा काल से (2920 से 2550 ईसा पूर्व) है। कालीबंगन के समीप स्थित ***हनुमानगढ़*** का महत्व भी पुरातात्विक स्थल के रूप में है।

कुल्लूः हिमाचल प्रदेश स्थित कुल्लू प्राचीन काल से अपनी खूबसूरती के लिए प्रसिद्ध रहा है। यहां स्थित ***सुल्तानपुर महल*** में कुल्लू शैली की चित्रकारी को देखा जा सकता है। यहां स्थित ***रघुनाथजी मंदिर*** दशहरा उत्सव का प्रमुख मंदिर है। कुल्लू से कुछ दूरी पर स्थित ***जगन्नाथजी मंदिर, वैष्णो देवी मंदिर*** तथा ***बिजली महादेव*** स्थित ***शिव मंदिर*** अन्य प्रमुख मंदिर हैं। कुल्लू से 10 किलोमीटर दूर स्थित ***कटराईं*** फलों के वृक्षों तथा मछली पालन केंद्र के लिए प्रसिद्ध है। कुल्लू से 15 किलोमीटर दूर स्थित ***बजौरा*** उद्यानों तथा भगवान विश्वेश्वर के मंदिर के लिए प्रसिद्ध है। कुल्लू से 10 किलोमीटर दूर स्थित, ***मणिकर्ण*** में गर्मजल के चश्मे हैं। यहां स्थित पार्वती गंगा स्थल, शिव एवं राम को समर्पित मंदिर तथा गुरुद्वारा प्रसिद्ध हैं।

केदारनाथः उत्तराखण्ड स्थित केदारनाथ, रुद्रप्रयाग से 77 किलोमीटर दूर 3,584 मीटर की ऊंचाई पर अवस्थित एक प्रसिद्ध धार्मिक स्थल है। यहां स्थित केदारखंड का निर्माण पांडवों ने करवाया था। यहीं पर शिव के 12 ज्योतिर्लिंगों में से एक अवस्थित है। यहां स्थित ***केदारनाथ मंदिर*** को लकड़ी से बने मंडप तथा घुमावदार स्तंभ विशिष्टता प्रदान करते हैं। मंदिर के प्रवेश द्वार पर ही नंदी

की प्रतिमा है। यहां से हिमाच्छिदत ***केदारनाथ शिखर*** (6,970 मीटर) को भी देखा जा सकता है। यहां से 2 किलोमीटर दूर स्थित ***वसुकी ताल*** (5,200 मीटर) सोन गंगा नदी का उद्‌गम स्थल है। यहां से उत्तर-पश्चिम में स्थित ***पन्या ताल*** के स्वच्छ जल में तालाब के आधार में स्थित चौकोर पत्थरों को देखा जा सकता है।

पंच केदार में सम्मिलित हैं केदारनाथ, मधमहेश्वर, तुंगनाथ, रुद्रनाथ तथा कल्पेश्वर। ऐसी मान्यता है कि नंदी बैल के पांच भाग इन पांचों स्थलों पर गिरे थे। उखीमठ में शरद काल में इन पांचों भागों को इकट्ठा किया जाता है। नंदी बैल का कूबड भाग केदारनाथ, पेट मधमहेश्वर, हाथ तुंगनाथ, मुख रुद्रनाथ तथा केश कल्पेश्वर में गिरे थे। 3,030 मीटर की ऊंचाई पर स्थित ***मधमहेश्वर मंदिर*** से चौखंभा शिखर (7164 मीटर) को देखा जा सकता है। 3680 मीटर की ऊंचाई पर स्थित तुंगनाथ से नंदा देवी, नीलकंठ, केदारनाथ शिखरों को देखा जा सकता है। भूरे पत्थर से बने ***रुद्रनाथ मंदिर*** (3,030 मीटर) के पास से ही रुद्रगंगा नदी प्रवाहित होती है। यहां से नंदा देवी, त्रिशूल एवं हरी पर्वत को देखा जा सकता है।

कोणार्कः ओडिशा स्थित कोणार्क भारतीय हिंदू धर्म का एक प्रसिद्ध ऐतिहासिक स्थल है।

इसका निर्माण राजा लंगुला नरसिंह देव ने 13वीं शताब्दी में करवाया था। हालांकि हो सकता है इसी स्थान पर नौवीं शताब्दी में भी सूर्य मंदिर का निर्माण हुआ हो। खोंडालाइट से निर्मित इस मंदिर के निर्माण में 1200 मजदूरों ने 16 वर्ष का समय लगाया था। 1830 में कुर्धा (कर्धा) राजा ने इस मंदिर के तीन प्रवेश द्वारों को नष्ट कर दिया था।

मंदिर में प्रवेश के लिए 180 मीटर लंबे प्रवेश मार्ग से होकर गुजरना पड़ता है। विस्तृत क्षेत्र में फैली मंदिर परिसर आसपास की भूमि से 2 मीटर नीची है। परिसर के पूर्वी भाग में भोगा मंदिर स्थित है, जिसे कुछ लोगों द्वारा नटमंडप की संज्ञा दी जाती है। इसके पश्चिमी भाग में जगमोहन नामक द्वारमण्डप स्थित है, जो लगभग 39 मीटर ऊंचा है। पूर्वी भाग में स्थित मण्डप मूल मण्डप था, जो लगभग 60 मीटर ऊंचा था।

परिसर को दक्षिणी भाग से देखने पर ऐसा प्रतीत होता है कि मंदिर का निर्माण युद्ध में प्रयुक्त एक रथ के रूप में किया गया है। 4 मीटर ऊंचे प्लेटफॉर्म पर निर्मित पहियों के 12 युग्म मंदिर को आधार प्रदान करते हैं।

मंदिर में प्रवेश पूर्वी भाग से किया जा सकता है। भोगा मंदिर की दीवारों पर सुंदर नक्काशी की गई है। इन प्रतिमाओं के विषय सामान्य जीवन से लिए गये हैं नृत्य, नर्तकों, संगीतकार, दरबार, प्रेम एवं विवाह आदि दृश्य। परिसर में निर्मित विविध प्रतिमाएं वस्तुतः उड़िया वास्तुशिल्प को अपने में समेटे हुए हैं। द्वारमण्डप की छत तीन कतारों में बंटी हुई है। निचली एवं मध्यम परतों के मध्य संगीतकारों का वाद्य यंत्रों को बजाते हुए चित्रित किया गया है। मंदिर स्थित 'उपाना' को अनेक चित्रवल्लरियों (1700 भिन्न हाथी!) से सजाया गया है।

खजुराहोः मध्य प्रदेश स्थित खजुराहो 950 से 1050 ईसवी में चंदेल राजाओं द्वारा निर्मित मंदिरों के लिए प्रसिद्ध है। खजुराहो मंदिर का निर्माण चंदेल राजाओं द्वारा किया गया था। 950 से 1050 ईसवी के मध्य लगभग 85 मंदिरों का निर्माण किया गया था, लेकिन अब यहां केवल 25 मंदिर ही शेष हैं। इन मंदिरों का निर्माण पन्ना के हल्के बलुआ पत्थर से किया गया है, जो गुलाबी से लेकर हल्के पीले रंग के हैं तथा कुछ में ग्रेनाइट का प्रयोग भी किया गया है।

यहां निर्मित अधिकतर मंदिर शक्ति को समर्पित हैं। खजुराहो स्थित मंदिरों को तीन क्षेत्रों में बांटा जा सकता है पश्चिमी, पूर्वी तथा दक्षिणी। इन मंदिरों में पश्चिमी समूह के मंदिर तथा उद्यान श्रेष्ठ हैं। यहां स्थित लगभग सभी मंदिरों में पश्चिमी समूह के मंदिर तथा उद्यान श्रेष्ठ हैं। पश्चिमी क्षेत्र के प्रमुख मंदिर हैं वरहा मंदिर (900-925), लक्ष्मण मंदिर (950), कंदरिया महादेव मंदिर (1025-50), जगदम्बरी मंदिर, चित्रगुप्त मंदिर, विश्वनाथ मंदिर। पूर्वी क्षेत्र के प्रमुख मंदिर हैं गहनताई (10वीं शताब्दी), ज्वारी मंदिर (11वीं शताब्दी), वमाना मंदिर (11वीं शताब्दी), ब्रह्मा मंदिर (10वीं शताब्दी), जैन मंदिर, पारसवनाथ मंदिर (10वीं शताब्दी में निर्मित यह सबसे बड़े मंदिरों में से एक है), आदिनाथ मंदिर (11वीं शताब्दी) शांतिनाथ मंदिर तथा यहां एक छोटा जैन संग्रहालय एवं तस्वीर दीर्घा भी है। दक्षिणी समूह के प्रमुख मंदिर हैं दुलादेव मंदिर (12वीं शताब्दी) तथा छत्तरभुज मंदिर (1100)।

गंगोत्रीः उत्तराखंड में ऋषिकेश से 248 किलोमीटर दूर 3,140 मीटर की ऊंचाई पर स्थित गंगोत्री गढ़वाल हिमालय का प्रसिद्ध तीर्थ स्थल है। 18वीं शताब्दी के शैल निर्मित मंदिर यहां की प्रमुख विशेषता है। ऐसी मान्यता है कि गंगा इसी स्थान से पृथ्वी पर उतरी थी। उत्तरकाशी से 55 किलोमीटर दूर ***गंगापानी*** में ऋषिकुण्ड में गर्म पानी के झरने हैं। यहीं पर 15वीं शताब्दी का एक प्रसिद्ध मंदिर भी है। गंगोत्री से 14 किलोमीटर दूर स्थित ***भोजबासा*** (3,500 मीटर) एवं ***गौमुख*** (3970 मीटर) प्राकृतिक सौन्दर्य को अपने में समेटे हुए हैं। गौमुख ही वर्तमान भागीरथी नदी का उदगम् स्थल है। यहां साधुओं द्वारा स्थापित दो आश्रम भी हैं, जहां साधु वर्ष भर निवास करते हैं।

गयाः बिहार स्थित गया में एक मान्यता के अनुसार विष्णु ने इस नगरी को सभी अस्थायी पापों को समाहित कर लेने की शक्ति प्रदान की है। गया की प्रसिद्धि का आधार यहां निर्मित अनेक प्राचीन मंदिर हैं। गया अनेक बौद्ध विहारों के लिए भी प्रसिद्ध है। यहां निर्मित विष्णुपद मंदिर का निर्माण विष्णु के चरणों की छाप पर किया गया है। 30 मीटर ऊंचे इस मंदिर में सुंदर नक्काशी किए गए आठ स्तंभ हैं।

चित्तौड़गढ़ः राजस्थान में अजमेर से 152 किलोमीटर दक्षिण में तथा उदयपुर से 112 किलोमीटर उत्तर-पूर्व में स्थित चित्तौड़गढ़ अपने ऐतिहासिक दुर्ग के लिए प्रसिद्ध है। चित्तौड़गढ़ राजस्थान के प्राचीनतम नगरों में से एक है तथा इसकी स्थापना बापू रावल ने 728 में की थी। यह दुर्ग समुद्र तल से लगभग 152 मीटर ऊंचाई पर दक्षिण से उत्तर तक लगभग 6 वर्ग किलोमीटर क्षेत्र में विस्तृत है। इस दुर्ग में भव्य राजमहल, मंदिर एवं कुण्ड भी हैं। यहां स्थित विजय स्तम्भ का निर्माण महाराणा कुम्भ ने करवाया था, यह स्तम्भ 47 वर्ग फीट आधार पर स्थित है। जो 30 फीट चौड़ा और 122 फीट ऊंचा है। यहां स्थित कीर्ति स्तम्भ जैन तीर्थंकर आदिनाथ को समर्पित है। कीर्ति स्तम्भ अपने आधार पर 35 फीट व्यास तथा 75 फीट ऊंचाई लिये है।

चिदम्बरमः तमिलनाडु स्थित चिदम्बरम 907 से 1310 ईसवी तक चोलाओं की राजधानी थी। चिदम्बरम एक प्रसिद्ध धार्मिक स्थल होने के साथ-साथ तमिल कवियों एवं संतों का भी निवास स्थान रहा है। चिदम्बरम के आकर्षण का प्रमुख

केंद्र यहां स्थत ***नटराज मंदिर*** है। ऐसी मान्यता है कि शिव को समर्पित इस मंदिर का निर्माण हिरण्य वर्ण चक्रवाती ने करवाया था। मंदिर के परिसर में स्थित प्रमुख स्थल हैं सुब्रह्मण्यम मंदिर, नवग्रह पूजा स्थल, शिवगंगा जलाशय, शिवकुमासुंदरी मंदिर, राजसभा, देवसभा, गोविंदराज पूजा स्थल, नृत्य सभा तथा गणेश पूजा स्थल आदि। चिदम्बरम से 15 किलोमीटर दूर स्थित ***पिछावरम मैंग्रोव*** भारत के समृद्धतम वनों में से है।

चित्रकूटः मध्य प्रदेश स्थित चित्रकूट विंध्य-पहाड़ियों के उत्तर में स्थित है। ऐसी मान्यता है कि राम और सीता ने 14 वर्ष के वनवास के दौरान यहां 11 वर्ष व्यतीत किए थे। चित्रकूट में मंदाकिनी नदी पर बना ***रामघाट*** अनेक श्रद्धालुओं को आकर्षित करता है। मंदाकिनी नदी के किनारे बनाये गये अनेक मंदिर दर्शनीय हैं। ***जानकी कुंड*** एक अन्य प्रसिद्ध दर्शनीय स्थल है। चित्रकूट से 18 किलोमीटर दूर स्थित ***महोबा*** (उत्तर प्रदेश) 'राम कुंड झील', मदन सागर, विजय सागर, कल्याण एवं किरत सागर आदि भी दर्शनीय हैं। ***चरखारी*** स्थित पहाड़ी किला तीन ओर से पानी से घिरा है।

चित्रदुर्गः कर्नाटक स्थित चित्रदुर्ग ग्रेनाइट पहाड़ियों की गोद में अवस्थित है। चित्रदुर्ग स्थित 'सात घेरों के किले' का निर्माण नायक पोलीगार ने 17वीं शताब्दी में करवाया था। टीपू सुल्तान ने यहां एक महल, मस्जिद तथा तेल कुंओं का निर्माण करवाया। यहां एक गुफा, मंदिर सहित 14 मंदिर हैं। ***हिडिम्बेश्वर*** यहां स्थित प्राचीनतम मंदिर है।

जयपुरः राजस्थान की राजधानी जयपुर की स्थापना 1727 में सवाई राजा जयसिंह ने की थी। जयपुर अपनी नगर-निर्माण योजना के लिए विख्यात है, इसके मुख्य शिल्पी श्री विद्याधर थे। यहां स्थित ***हवा महल*** पांच मंजिलों वाला गोल एवं झरोखों तथा खिड़कियों की एकरूपता युक्त पिरामिडनुमा इमारत है, जो भारत में स्थापत्य कला एक उदाहरण है। जयपुर से 11 किलोमीटर उत्तर-पूर्व में स्थित ***आमेर के महल*** माओटा झील के किनारे पहाड़ी पर निर्मित हैं। आमेर के राजमहल के प्रवेश द्वार पर स्थित गणपति की मूर्ति, महलों में दीवान-ए-खास तथा जयमंदिर कला के उत्कृष्ट प्रतीक हैं। आमेर की प्रसिद्ध का आधार 150 मीटर की ऊंचाई पर स्थित जयगढ़ किला है। जयपुर स्थित ***जंतर मंतर*** मुबारक

महल के बाहरी प्रांगण में स्थित है। सम्राट यंत्र, जयप्रकाश, राम यंत्र, राशिवलय यंत्र, कपाली यंत्र तथा क्रांति यंत्र आदि वेधशाला के प्रमुख यंत्र हैं। ***राजमहल सिटी पैलेस*** महल जयपुर के प्राचीन नगर के 1/7 भाग पर विस्तृत है। इस महल में प्रवेश हेतु सात द्वार हैं। संगमरमर की बारीक नक्काशी से बना महल का बाहरी भाग अत्यंत सुंदर है। सिटी पैलेस के दीवान-ए-खास के उत्तरी-पश्चिमी पार्श्व में स्थित ***चंद्रमहल*** राजपूत शिल्पकला का विशिष्ट उदाहरण है।

जयपुर से 13 किलोमीटर दक्षिण में स्थित ***सांगनेर*** 11वीं शताब्दी के प्राचीन संघीजी के जैन मंदिर के लिए प्रसिद्ध है। ***नाहरगढ़ किले*** की तलहटी में जहां जयपुर के दिवंगत राजाओं की छतरियां निर्मित हैं, उस स्थल को 'गैटोर' कहते हैं। नगर के उत्तर पश्चिम में स्थित नाहरगढ़ दुर्ग में हवा मंदिर एवं माधवेन्द्र भवन स्थापत्य कला के सुंदर उदाहरण हैं। ***राम निवास बाग*** तथा ***विद्याधर बाग*** जयपुर स्थित प्रमुख उद्यान हैं।

जूनागढ़ः गुजरात स्थित जूनागढ़ दूसरी से चौथी शताब्दी तक क्षत्रप शासकों के अधीन गुजरात की राजधानी थी। जूनागढ़ स्थित ***अपरकोट दुर्ग, जामा मस्जिद, नवगहन कुंआ*** (1060), ***बौद्ध गुफा विहार, अशोक शिलालेख, बाहा-उद-दिन-भर का मकबरा, नवाब महल*** आदि दर्शनीय हैं। जूनागढ़ से कुछ दूर स्थित ***विलिंगडन बांध*** (1936) तथा ***गिरनार पहाड़ी*** भी दर्शनीय हैं। जूनागढ़ के समीप स्थित नेमीनाथ (1128) तथा ***मल्लीनाथ*** (1231) 19वें जैन तीर्थंकर को समर्पित प्रसिद्ध मंदिर हैं।

जैसलमेरः राजस्थान के थार मरुस्थल में स्थित जैसलमेर एक जिला-नगर है। इसकी स्थापना राव जैसल ने 1156 में की थी। यहां स्थित जैसलमेर दुर्ग राजस्थान का प्राचीनतम दुर्ग है। इस दुर्ग में विलास महल, रंग महल, राज विलास तथा मोती महल की चित्रकारी तथा शिल्प नक्काशी उत्कृष्ट है। जैसलमेर स्थित पटुओं की हवेली, नथमल की हवेली तथा दीवान जालिमसिंह की हवेली आदि भी अपनी स्थापत्य कला के लिए प्रसिद्ध हैं।

जोधपुरः यह राजस्थान में लूनी नदी के उत्तर में स्थित है। इसकी स्थापना 1459 में राठौर सरदार राव जोधा ने की थी। यहां स्थित ***बालसमंद झील*** अपने महल तथा उद्यान के लिए प्रसिद्ध है। यहां स्थित ***मेहरनगढ़ दुर्ग*** राजस्थान के प्रख्यात दुर्गों में से एक है। यहां चामुण्डा देवी का मंदिर, चित्रशाला तथा प्राचीन ग्रंथों का पुस्तकालय भी है। जोधपुर के प्राचीन राजाओं की छतरियां एवं देवालय मण्डोर में निर्मित हैं। महाराजा अजीत सिंह की छतरी जोधपुर शिल्पकला का

सुंदर नमूना है। ***मण्डोर*** स्थित उद्यान में 'वीरों की गैलरी' बनी है, जिनमें सोलह आदमकद प्रतिमाएं बनी हैं जो पर्यटकों को अधिक आकर्षित करती हैं। छीतर झील के पास स्थित उम्भेद भवन बालू पत्थर से निर्मित आधुनिक वास्तुकला का अद्वितीय नमूना है। जोधपुर शहर से 65 किलोमीटर दूर स्थित ***औसियां*** वैणव तथा जैन मंदिरों के लिए प्रसिद्ध है। यहां स्थित जैन मंदिर कला की दृष्टि से अद्वितीय हैं। यहां स्थित हरिहर के तीन मंदिर खजुराहो के समान प्रसिद्ध हैं।

जौनपुरः उत्तर प्रदेश में वाराणसी से 58 किलोमीटर दूर उत्तर-पश्चिम में स्थित जौनपुर क्षेत्रीय इस्लामी वास्तुकला (14वीं-18वीं शताब्दी) का प्रमुख केंद्र है। जौनपुर की स्थापना फिरोजशाह ने 1360 में की थी। एक समय में शरकी वंश की राजधानी रहे जौनपुर में आज मकबरों के केवल अवशेष ही शेष हैं। 1564-68 में निर्मित ***अकबरी सेतु*** (200 मीटर) का निर्माण अफगान वास्तुकार अफजल अली ने किया था। अकबरी सेतु के उत्तर में स्थित *किले* में जौनपुर की प्राचीनतम मस्जिद (1377) है। वर्तमान में शेष सबसे प्रमुख मस्जिद ***अटाला*** है, जो कि किले से 400 मीटर उत्तर में अवस्थित है। यहीं पर 1408 में हिंदू अटाला देवी मंदिर का निर्माण किया गया है।

झांसीः उत्तर प्रदेश स्थित झांसी का महत्व अपने ऐतिहासिक किलों, रानी लक्ष्मीबाई तथा 1857 के स्वतंत्रता संग्राम में अहम भूमिका के लिए है। झांसी में निर्मित किले के निर्माण का श्रेय बीर सिंह देव को है। किसी समय में लक्ष्मीबाई का निवास रहा ***रानी महल*** वर्तमान में एक संग्रहालय है। झांसी से 19 किलोमीटर दूर स्थित ***ओरछा*** अपने तीन ऐतिहासिक महलों के लिए प्रसिद्ध है। ओरछा स्थित प्रसिद्ध स्थलों में सम्मिलित हैं राजमहल, राय परवीन महल, जहांगीर महल, राम राजा मंदिर, चतुर्भुज मंदिर, लक्ष्मीनारायण मंदिर, फूल बाग, शहीद स्मारक, शाही छतरियां आदि।

तंजावुर (तंजौर): तमिलनाडु स्थित तंजौर चोल राज्य की राजधानी थी। तंजौर स्थित 93 मंदिरों में से अधिकतर के निर्माण का श्रेय चोल राजाओं को ही है। यहां स्थित प्रसिद्ध ***वृहदेश्वर*** मंदिर का निर्माण राजराजा-I ने करवाया था, जिसकी विशेषता है कि इसकी छाया कभी जमीन पर नहीं पड़ती। तंजौर स्थित महल एवं शिवगंगा जलाशय के समीप स्थित वार्ट्ज चर्च भी दर्शनीय स्थल हैं। जनवरी माह में आयोजित त्यागराज संगीत उत्सव भी विशेष रूप से दर्शनीय है।

तिरुचिलापल्लीः तिरुचिलापल्ली स्थित प्रमुख दर्शनीय स्थलों में सम्मिलित हैं 1660 में निर्मित 84 मीटर ऊंचा ***शैल किला, विनायक मंदिर, तयुमनस्वामी मंदिर, तेपाकुलम, नादिरशाह मस्जिद।*** त्रिचि से 3 किलोमीटर दूर स्थित ***श्रीरंगम श्रीरंगनाथस्वामी मंदिर*** के लिए प्रसिद्ध है। विष्णु को समर्पित मंदिरों में श्रीरंगनाथस्वामी मंदिर का विशेष स्थान है। ***तिरुवनाइकवल*** स्थित सात गोपुरमों से निर्मित ***जम्बूकेश्वर मंदिर*** तथा ***शिव मंदिर*** दर्शनीय हैं। तिरुचिलापल्ली के समीप स्थित ***तिरुथाना, तुराई, तिरुवेल्लारी*** तथा ***करूर*** में निर्मित ऐतिहासिक चोल एवं पल्लव मंदिर दर्शनीय हैं।

तिरुवनंतपुरम (त्रिवेंद्रम): 1750 में त्रावणकोर की राजधानी तिरुवनंतपुरम वर्तमान में केरल राज्य की राजधानी है। तिरुवनंतपुरम स्थित प्रसिद्ध मंदिरों, महलों तथा गिरजाघरों में सम्मिलित हैं ***श्री पद्मनाभस्वामी मंदिर, क्राइस्ट चर्च*** तथा ***कानककुनु महल। शंकुमुखम*** तिरुवनंतपुरम स्थित प्रसिद्ध समुद्र तट है। शहर से 10 किलोमीटर दूर स्थित ***वेली पर्यटक ग्राम*** में स्थित झील में नौकायन का आनंद लिया जा सकता है। तिरुवनंतपुरम से 30 किलोमीटर दूर पश्चिम घाट की गोद में स्थित ***नय्यर वन्यजीव अभयारण्य, नय्यर बांध*** तथा 23 वर्ग किलोमीटर क्षेत्र में फैला ***अगत्स्य वनम जैविक उद्यान*** आदि भी दर्शनीय स्थल हैं। शहर से 10 किलोमीटर दूर स्थित ***मुकुनी पहाड़ी*** में चाय के बाग हैं। ***पोनमुडी*** तिरुवनंतपुरम के समीप स्थित प्रसिद्ध पहाड़ी स्थल है। तिरुवनंतपुरम स्थित प्रसिद्ध संग्रहालय हैं ***नेपियार संग्रहालय, प्राकृतिक इतिहास संग्रहालय, श्री चित्रा कला दीर्घा*** तथा ***विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी संग्रहालय*** आदि।

तिरुवनामलाईः तमिलनाडु स्थित तिरुवनामलाई एक प्रसिद्ध धार्मिक स्थल है। अरुणाचल पहाड़ी पर बसे इस नगर को शिव एवं पार्वती का निवास स्थान माना जाता है। इस नगर में लगभग 100 मंदिर हैं। यहां स्थित ***अरुणाचल मंदिर*** संभवतः दक्षिण भारत का सबसे बड़ा मंदिर है। 16वीं एवं 17वीं शताब्दी में निर्मित इस मंदिर का एक गोपुरम 66 मीटर ऊंचा है। यहां स्थित रमन्ना महार्षि का आश्रम भी दर्शनीय है।

त्रिचूरः केरल स्थित त्रिचूर नीलगिरि एवं पलानी पहाड़ियों के मध्य अवस्थित है। एक समय में कोच्चि राज्य की राजधानी रहे त्रिचूर पर 18वीं शताब्दी में टीपू सुल्तान का अधिकार था। त्रिचूर से 29 किलोमीटर दूर स्थित ***चेरुथुरुथी*** प्रसिद्ध सांस्कृतिक केंद्र है। यहां कथकली के अतिरिक्त संगीत, नाट्य,

मोहिनीअट्टम तथा ओट्टम थुलाल की शिक्षा दी जाती है। त्रिचूर से कुछ दूर स्थित ***पीछी बांध वन्यजीव अभयारण्य*** में नौकायन का आनंद लिया जा सकता है।

द्वारकाः गुजरात स्थित द्वारका का संबंध भगवान कृष्ण से है तथा यह वैष्णव हिंदुओं की चार पवित्र नगरियों में से एक है। द्वारका स्थित ***बेइट द्वारका, रुक्मणी मंदिर, द्वारकाधीश मंदिर, नागेश्वर मंदिर*** तथा ***गोपी तालाब*** तीर्थ विशेष रूप से दर्शनीय हैं।

देवप्रयागः उत्तराखंड स्थित देवप्रयाग ऋषिकेश से 68 किलोमीटर दूर स्थित है। देवप्रयाग भागीरथी एवं अलकनंदा नदियों का संगम स्थल है। दोनों नदियों के मिलन स्थल पर निर्मित घाट को भारत का आकार प्रदान किया गया है। इसी स्थल पर श्रद्धालु स्नान करते हैं। देवप्रयाग के बाद यह नदी गंगा के नाम से ही प्रवाह करती है। देवप्रयाग से 35 किलोमीटर दूर स्थित ***श्रीनगर*** प्राचीन टेहरी गढ़वाल की राजधानी थी। यहां स्थित पहाड़ी घरों के दरवाजों की खिड़कियों पर की गई नक्काशी विशिष्ट है। श्रीनगर से 35 किलोमीटर दूर ***रुद्रप्रयाग*** एक अन्य पर्यटक स्थल है। रुद्रप्रयाग से लगभग 5 किलोमीटर दूर वह स्थल स्थित है, जहां जिम कॉर्बेट ने नरभक्षी चीते को मारा था।

देवगढ़ः उत्तर प्रदेश स्थित देवगढ़ बेतवा नदी के किनारे मध्य प्रदेश सीमा पर स्थित है। देवगढ़ छठी शताब्दी के लाल बलुआ पत्थर से निर्मित ***दशावतार मंदिर*** के लिए प्रसिद्ध है। ***खुरैया बीर मंदिर*** (7वीं शताब्दी) तथा किले पर निर्मित 31 जैन मंदिरों में से ***मंदिर-12*** विशेष रूप से दर्शनीय है।

दिल्लीः भारत की राजधानी नई दिल्ली यमुना नदी के पश्चिमी किनारे पर अवस्थित है। वर्तमान दिल्ली तीन शहरों का सम्मिलित रूप है। पुरानी दिल्ली या ***शाहजानाबाद*** की स्थापना का श्रेय शाहजहां (17वीं शताब्दी) को तथा नई दिल्ली की स्थापना का श्रेय अंग्रेजों को है। नए शहर का औपचारिक उद्घाटन 9 फरवरी, 1931 को हुआ था। दिल्ली स्थित अनेक दर्शनीय स्थलों को तीन मुख्य परिसरों में विभाजित किया जा सकता है शाहजहानाबाद, कुतुबमीनार परिसर तथा तुगलकाबाद क्षेत्र। राजपथ के पूर्वी कोने में स्थित ***इंडिया गेट*** एक दर्शनीय युद्ध स्मारक है। इंडिया गेट के उत्तर-पश्चिमी भाग में स्थित ***हैदराबाद हाउस*** तथा ***बड़ौदा हाउस*** प्रसिद्ध इमारतें हैं। मध्य दिल्ली में ***राष्ट्रपति भवन*** के अतिरिक्त ***संसद भवन, रकाबगंज गुरुद्वारा, लक्ष्मीनारायण मंदिर, हनुमान मंदिर, जंतर मंतर, राजघाट, शांति वन, विजय घाट*** आदि दर्शनीय हैं।

नई दिल्ली के दक्षिणी भाग में स्थित ***लोधी गार्डन, बड़ा गुम्बद, सफदरजंग मकबरा, हुमायूं मकबरा, कालकाजी मंदिर, बेगमपुरी मस्जिद, मोठ की मस्जिद*** आदि दर्शनीय हैं। पुरानी दिल्ली स्थित अष्टभुजाकार रूप में निर्मित ***लाल किला*** विशेष रूप से दर्शनीय है। लाल किले के समीप स्थित ***जामा मस्जिद*** एवं ***दिगम्बर जैन मंदिर*** भी विशेष रूप से दर्शनीय हैं। दिल्ली स्थित प्रमुख संग्रहालय हैं ***राष्ट्रीय संग्रहालय, वायु सेना संग्रहालय, शिल्प संग्रहालय, गांधी संग्रहालय, आधुनिक कला की राष्ट्रीय दीर्घा, प्राकृतिक इतिहास संग्रहालय, लाल किला संग्रहालय*** आदि। दिल्ली स्थित प्रमुख उद्यान हैं ***बुद्ध जयंती उद्यान, लोधी उद्यान, राष्ट्रीय गुलाब उद्यान, तालकटोरा उद्यान*** आदि।

नालंदाः बिहार स्थित नालंदा में विश्व के प्राचीनतम विश्वविद्यालय के अवशेष हैं। नालंदा में विभिन्न कालों में निर्मित 11 मठ तथा अनेक चैत्यों के अवशेष मिले हैं। इसके अतिरिक्त यहां सीढ़ियों, कुओं, कोष्ठों, कक्षों तथा अन्य इमारतों के अवशेष भी मिले हैं। यहां बुद्ध एवं मृछी की मूर्तियां भी पाई गई हैं। नालंदा के उत्तर-पश्चिम में स्थित ***सराय टीला*** में पाल वंश के हाथियों एवं घोड़ों के भित्ति-चित्र पाए गए हैं। नालंदा के उत्तर में स्थित ***बरगांव*** एवं ***बेगमपुर*** तथा दक्षिण-पश्चिम में स्थित ***जगदीशपुर*** में अनेक हिंदू एवं बौद्ध मूर्तियां हैं।

नालंदा से 13 किलोमीटर दूर ***बिहारशरीफ*** एक प्रसिद्ध मुस्लिम केंद्र है। नालंदा से कुछ दूर स्थित ***पावापुरी*** जैन मंदिरों के लिए प्रसिद्ध है। यह स्थान जैन समुदाय के लिए विशेष महत्व रखा है, क्योंकि ऐसी मान्यता है कि महावीर ने यहीं ज्ञानार्जन किया था।

पटनाः बिहार की राजधानी पटना गंगा के दक्षिणी किनारे पर लगभग 15 किलोमीटर तक विस्तृत है। पटना शहर का इतिहास 2,500 वर्ष से भी पुराना है। अजातशत्रु, चंद्रगुप्त मौर्य, अशोक तथा शेरशाह सूरी जैसे अनेक ऐतिहासिक व्यक्तित्व पटना से संबद्ध हैं। पटना शहर का पूर्वी भाग ऐतिहासिक धरोहरों को समेटे है तथा गंगा के किनारे बसा भाग प्रशासनिक एवं शैक्षिक रूप लिए हुए है। पटना स्थित ***पादरी-की-हवेली*** बिहार का प्राचीनतम ईसाई गिरजाघर है। कैप्टेन जोन ग्रस्टिन द्वारा 1798 में निर्मित ***गोलघर*** एक विशिष्ट अण्डरूप गुम्बद है, जो 29 मीटर ऊंचा है। इस अण्डरूप गुम्बद का आधार 125 मीटर तथा दीवार की चौड़ाई 3.6 मीटर है। पटना के चौक क्षेत्र में स्थित ***हर मंदिर*** महाराजा रंजीत सिंह द्वारा निर्मित प्रसिद्ध गुरुद्वारा है। यहां स्थित गुरुद्वारे में

गुरु के चित्र, धार्मिक लेख तथा निजी सामग्री को संकलित किया गया है। हरमंदिर से कुछ दूर किला गृह में प्रसिद्ध ***जलान संग्रहालय*** स्थित है। इसका निर्माण शेरशाह सूरी के ध्वस्त किले के ऊपर किया गया है तथा इस संग्रहालय में चीनी चित्रों के अतिरिक्त मुगल काल की बहुमूल्य वस्तुओं का भी संग्रह है। गंगा के तट पर 1621 में निर्मित ***पत्थर की मस्जिद*** का निर्माण परवेज शाह द्वारा करवाया गया था।

पटना साहिब एवं पटना जंक्शन के मध्य स्थित ***कुम्हरार*** में 600 ईसा पूर्व की ध्वस्त इमारतों के अवशेष मिले हैं। यहां मौर्य साम्राज्य के दुर्लभ लकड़ी के परकोटे तथा 400-300 ईसा पूर्व के मौर्य स्तंभ भी मिले हैं। गोलघर से 8 किलोमीटर पूर्व में कुम्हरार के समीप स्थित गुलजारीबाग पूर्व ईस्ट इंडिया कम्पनी का प्रमुख अफीम उत्पादक केंद्र था। इंदिरा गांधी विज्ञान परिसर, राज्य संग्रहालय, राजेंद्र स्मृति आश्रम पटना स्थित कुछ प्रमुख संग्राहलय हैं। यहां स्थित खुदा बक्श ओरिएंटल सार्वजनिक पुस्तकालय में दुर्लभ पर्शियन एवं अरबी पांडुलिपियों का संग्रह है। गांधी मैदान, वीर कुंवर सिंह उद्यान, संजय गांधी प्राणी उद्यान पटना स्थित कुछ प्रमुख उद्यान हैं।

पणजी (पंजिम): गोआ राज्य की राजधानी पणजी ग्रिड आकार लिए हुए एक प्राचीन पुर्तगाली आधिपत्य में रहा शहर है। ***इडालकाओ महल, लार्गो डा इगरेजा चर्च, जामा मस्जिद, महालक्ष्मी मंदिर*** पणजी स्थित प्रमुख दर्शनीय स्थल हैं। पणजी के समीप स्थित ***मंडोवी-जुआरी मुहाना, काराबोलिम झील*** तथा ***सलीम अली पक्षी अभयारण्य*** अन्य दर्शनीय स्थल हैं। ***मीरामर*** तथा ***डोना पाउला*** पणजी के समीप स्थित प्रसिद्ध समुद्र तट स्थल हैं। पणजी से 8 किलोमीटर दूर प्राचीन गोआ इस क्षेत्र का आध्यात्मिक स्थल है। यहां स्थित प्रमुख इमारतें हैं ***कांवेंट ऑफ सैंट फ्रांसिस ऑफ असीसी, सैंट कैथरीन का प्रार्थनालय, चर्च ऑफ सैंट जोहन, बोम का महामंदिर, सैंट फ्रांसिस जेवियर का मकबरा, सैंट सेजेनन का चर्च*** आदि।

पद्मनाभपुरम: केरल स्थित पद्मनाभपुरम 1550 से 1750 तक त्रावणकोर राजाओं की राजधानी थी। पदमानाभापुरम स्थित प्राचीन महल में वास्तुकला तथा चित्रकारी के श्रेष्ठतम रूपों को देखा जा सकता है।

पाटन: गुजरात स्थित पाटन 8वीं शताब्दी में गुजरात के हिंदू राजाओं की राजधानी थी। पाटन में 100 से अधिक ***जैन मंदिर*** हैं। इनमें से कुछ में की

गई आकर्षक काष्ठ नक्काशी विशेष रूप से दर्शनीय है। पाटन 'पटोला' साड़ियों के निर्माण का भी मुख्य केंद्र है। पाटन स्थित ***रानी वाव*** तथा ***सहसरा लिंगा*** 12वीं शताब्दी में निर्मित जलाशय हैं। पाटन के समीप स्थित ***बलराम, पलनपुर*** तथा ***पोशिना किला*** दर्शनीय स्थल हैं।

पानीपत: हरियाणा स्थित पानीपत प्रसिद्ध ऐतिहासिक स्थल है, यहां 1526, 1556 तथा 1761 में तीन ऐतिहासिक लड़ाइयां हुई थीं। *अबू अली कंधार* की दरगाह पानीपत स्थित एक प्राचीन दर्शनीय इमारत है। पानीपत से 34 किलोमीटर दूर स्थित ***करनाल*** का संबंध महाभारत काल से है। करनाल से 3 किलोमीटर उत्तर में स्थित ***उछाना*** प्रसिद्ध प्राकृतिक झील है।

पुरी: ओडिशा स्थित पुरी जगन्नाथ मंदिर के लिए संपूर्ण विश्व में प्रसिद्ध है। 'सबारस' आदिवासी जनजाति समूह यहां वास करने वाले प्राचीनतम लोग थे। यहां स्थित जगन्नाथ मंदिर में भगवान जगन्नाथ, बालभद्र एवं सुभद्रा को काष्ठ रूपों में सुसज्जित किया गया है। रघुनंदन पुस्तकालय, जय बलिया परिसर विशेष रूप से दर्शनीय हैं। इस मंदिर को श्वेत मंदिर (पैगोडा) की संज्ञा भी दी जाती है। जगन्नाथ मंदिर की रथ यात्रा संपूर्ण विश्व में प्रसिद्ध है। जगन्नाथ 'रथ' आधार पर 13 मीटर होता है तथा इसमें 16 पहिये लगे रहते हैं, जिनका व्यास 2 मीटर होता है। पुरी स्थित चार प्रसिद्ध जलाशयों में भक्त पवित्र स्नान सुख प्राप्त करते हैं, इनमें नरेंद्र जलाशय सबसे प्रमुख है। पुरी का सुनहरी बालू वाला समुद्र तट भी दर्शनीय है। पुरी से 22 किलोमीटर दूर स्थित ***सखी गोपाल*** अपने गोपाल मंदिर के लिए प्रसिद्ध है। ***अथरनाला सेतु*** में हजारों भक्त पवित्र स्नान करते हैं। जून-जुलाई में आयोजित प्रसिद्ध रथ यात्रा के अतिरिक्त अप्रैल में आयोजित चंदन यात्रा का भी विशेष महत्व है।

पौंडा: गोआ स्थित पौंडा पुर्तगालियों द्वारा अधिकृत किए गए प्राचीनतम प्रांतों में से एक है। आदिल शाही द्वारा निर्मित ***पौंडा किला*** तथा 1560 में निर्मित ***साफा मस्जिद*** यहां स्थित प्रसिद्ध ऐतिहासिक स्मारक हैं। पौंडा में देवी दुर्गा को समर्पित अनेक प्रसिद्ध मंदिर हैं, इनमें 1738 में निर्मित ***शांता दुर्गा मंदिर*** सबसे प्रसिद्ध है।

फतेहपुर सीकरी: उत्तर प्रदेश में फतेहपुर सीकरी आगरा से 37 किलोमीटर दूर पश्चिम में अवस्थित है। यहां स्थित ***शाही महल*** के दर्शनीय स्थलों में सम्मिलित

हैं दिवान-ए-आम, पच्चीसी बोर्ड, दिवान-ए-खास, सिंहासन स्तंभ, आंख मिचौली, तुर्की के सुल्तान का निवास, दौलतखाना-ए-खास, ख्वाबबाग, सुनहरा मकान, पंचमहल, जोधाबाई महल, हवा महल, नगीना मस्जिद, राजा बीरबल का महल आदि। शाही महल के समीप स्थित ***जामी मस्जिद, शेख सलीम चिश्ती का मकबरा*** तथा ***नवाब इस्लाम खां का मकबरा*** अन्य दर्शनीय स्थल हैं। फतेहपुर सीकरी स्थित ***बुलंद दरवाजा*** की स्थापना 1576 में अकबर द्वारा गुजरात की विजय की याद में की गई थी।

बादामीः कर्नाटक स्थित दो ऊंची लाल बलुआ पत्थर पहाड़ियों के मध्य एक घाटी में अवस्थित बादामी 543-757 ईसवी तक चालुक्यों की राजधानी थी। इस प्राचीन नगर में अनेक हिंदू एवं जैन मंदिर तथा बौद्ध गुफाएं हैं। यहां स्थित ***दक्षिण किला*** गुफा मंदिरों के लिए प्रसिद्ध है। भूतनाथ झील के समीप स्थित ***बौद्ध मंदिर*** एक प्राकृतिक गुफा के समीप अवस्थित है। 7वीं शताब्दी में निर्मित ***मालेगिट्टि शिवालय*** मंदिर चालुक्य शैली का श्रेष्ठतम उदाहरण है। ***उत्तरी किले*** के अधिकतर मंदिर सातवीं शताब्दी के हैं। बादामी से 5 किलोमीटर दूर स्थित ***महाकुटा*** में चालुक्यों द्वारा निर्मित ***महाकुटेश्वर मंदिर, मल्लिकार्जुन मंदिर*** तथा ***नागनाथ मंदिर*** भी दर्शनीय हैं।

बद्रीनाथः उत्तरांचल स्थित बद्रीनाथ (3,150 मीटर) हरिद्वार से 361 किलोमीटर दूर स्थित है। हिंदू शास्त्रों में ऐसी मान्यता है कि बद्रीनाथ यात्रा के बिना कोई भी धर्म यात्रा पूर्ण नहीं है। बद्रीनाथ का मंदिर हरे, नीले, गुलाबी, पीले, सफेद, सिल्वर तथा लाल रंग से रंगा हुआ है। मंदिर-दर्शन के उपरांत यहां स्थित *तप्त कुंड* में स्नान करना परम्परागत रूप से अनिवार्य-सा हो गया है बद्रीनाथ के समीप स्थित कुछ प्रसिद्ध स्थल एवं शिखरों में सम्मिलित हैं ***गोचर, करणप्रयाग, चमोली, जोशीमठ, कैलाश पर्वत, मानसरोवर झील, औली, घंघरिया, हेमकुंड। घंघरिया*** से 4 किलोमीटर दूर स्थित पुष्प घाटी राष्ट्रीय उद्यान गोविंदघाट से घंघरिया तक फैला हुआ है। ब्रदीनाथ से 25 किलोमीटर दूर स्थित हिम झील ***सतोपंथ*** अन्य प्रसिद्ध स्थल है। यहां स्थित 44 मीटर ऊंचे वसुंधरा जल-प्रपात का विशेष महत्व है।

बीदरः कर्नाटक के उत्तरी भाग में स्थित बीदर बहमनी राजाओं की राजधानी था। यहां निर्मित किला आज भी दक्कन में मुस्लिम वास्तुकला को जीवित रखे हुए है। किले के अंदरूनी भाग का निर्माण मुहम्मद शाह ने करवाया था। ***शरजा दरवाजा*** (1503) तथा 1420 में निर्मित ***गुंबद दरवाजा*** विशेष रूप से दर्शनीय हैं। ***रंगीन महल, शाही मतबक, शाही हमाम, लाल बाग, तरकश महल, गगन महल, दीवान-ए-आम, तख्त महल, हजार कोठरी*** तथा ***नौबत खाना*** आदि विशेष रूप से दर्शनीय हैं। बीदर के पुराने शहर में स्थित ***महमूद गवन का मदरसा*** (1472), ***चौबारा, जामी मस्जिद*** (1430), ***काली मस्जिद*** (1694) ***हब्शी कोट, नरसिंह झारनी*** आदि भी दर्शनीय हैं। ***अश्तूर*** स्थित ***बहमनी मकबरे, हजरत खलील उलाह की चौंखडी, बरीद शाही मकबरे*** तथा सिखों का पवित्र स्थल *नानक झेरा* भी दर्शनीय हैं।

बीजापुरः कर्नाटक स्थित बीजापुर अपने मकबरों, मस्जिदों तथा महलों में उत्तरी भारत के मुस्लिम रूप को समाये हुए है। अली आदिल शाह द्वारा निर्मित ***जामा मस्जिद*** दक्षिण भारत की सबसे श्रेष्ठ मस्जिदों में से एक है। इसके अतिरिक्त ***गगन महल, इब्राहिम रोजा, गोल गुम्बद, जल मंजिल, मेहतर महल*** तथा ***असर महल*** आदि विशेष रूप से दर्शनीय हैं। ***बारा कमान*** में स्थित 24 मीटर ऊंचा ***उपली बुर्ज*** भी विशेष रूप से दर्शनीय है।

बोधगयाः बिहार स्थित बोधगया निरंजन (फाल्गु) नदी के किनारे स्थित एक प्रसिद्ध बौद्ध स्थल है। बोधगया स्थित पीपल वृक्ष के नीचे ही बुद्ध ने ज्ञानार्जन किया था। दिसंबर-जनवरी में दलाई लामा यहां 6 सप्ताह तक रहते हैं तथा प्रतिदिन प्रातः प्रार्थना में भाग लेते हैं। यहां निर्मित 54 मीटर ऊंचे पिरामिड आकार के ***महाबोधी मंदिर*** में बुद्ध की आसन पर बैठे हुए ध्यानमग्न एक मूर्ति है। इसी मंदिर के दक्षिण में कमल सरोवर है, जहां बुद्ध ने स्नान किया था। यहां स्थित ***वज्रशिला*** वह स्थान है, जहां बैठकर बुद्ध ने ध्यान लगाया था। ***अनिमेशलोछना*** अन्य प्रसिद्ध स्थल है, जहां बुद्ध एक सप्ताह तक पीपल को देखते हुए उसके सम्मान में खड़े रहे थे। इसी के समीप अनेक तिब्बती, जापानी, थाई, चीनी तथा भूटानियों ने भी मंदिरों का निर्माण किया है। यहां स्थित जापानी मंदिर के समीप ही बुद्ध की विशाल मूर्ति है जो 20 मीटर ऊंची है। इतिहास, संस्कृति तथा दर्शन

का अंतरराष्ट्रीय केंद्र मगध विश्वविद्यालय महाबोधी मंदिर से 1 किलोमीटर दूर स्थित है। बोधगया स्थित पुरातत्व संग्रहालय में बुद्ध तथा हिंदू देवताओं की स्वर्ण, चांदी एवं ताम्र मूर्तियां संग्रहीत हैं। बोधगया से 20 किलोमीटर दूर दक्षिण में प्रसिद्ध ***शेरघाटी*** स्थित है। बोधगया से 150 किलोमीटर दूर स्थित ***पारसनाथ*** जैन समुदाय का प्रसिद्ध धार्मिक स्थल है।

भरमौरः हिमाचल प्रदेश स्थित भरमौर अपने प्राचीन मंदिरों के लिए प्रसिद्ध है। ऐसी मान्यता है कि प्राचीन काल में यहां 9 नाथ और 84 सिद्ध एकत्रित हुए थे। भरमौर से 48 किलोमीटर दूर स्थित *मन्महेश* में एक बहुत प्रसिद्ध झील है। यहां भाद्र महीने के शुक्ल पक्ष की अष्टमी को मेले का आयोजन किया जाता है। भरमौर से 23 किलोमीटर दूर स्थित ***छत्राणी*** सुंदर देवी के मंदिर के लिए प्रसिद्ध है। यह मंदिर काष्ठ-निर्मित है तथा पूरा मंदिर एक यंत्र के सहारे घूम जाता है।

भोपालः मध्य प्रदेश की राजधानी भोपाल दो प्राकृतिक झीलों एवं ढलाननुमा पहाड़ियों से घिरी है। भोपाल शहर के निर्माण का श्रेय 11वीं शताब्दी के राजा भोज को दिया जाता है। भोपाल स्थित गुलाबी ***ताज-उल मस्जिद*** (1878) भारत की सबसे बड़ी मस्जिदों में से एक है। भोपाल स्थित ***मोती मस्जिद*** (1860) का निर्माण दिल्ली की जामा मस्जिद को आधार बनाकर किया गया था। ***शौकत महल*** में पूर्व-पुनर्जागरण काल एवं गोथिक शैलियों का समावेश है। ***बिरला संग्रहालय*** तथा ***राज्य पुरातात्विक संग्रहालय*** भोपाल स्थित प्रमुख संग्रहालय हैं। भोपाल से 30 किलोमीटर दूर स्थित ***भोजपुर*** का शिव मंदिर दर्शनीय है। यहां ***भोजेश्वर मंदिर, जैन मंदिर*** भी हैं। भोपाल से 40 किलोमीटर दूर स्थित ***भीमबेटका*** प्रागैतिहासिक काल के चित्रों तथा पुरातात्विक खोजों की दृष्टि से दक्षिण एशिया का सबसे समृद्ध क्षेत्र है।

मंडीः शिवालिक पर्वतश्रेणी के मध्य तथा व्यास नदी के बायीं ओर स्थित मंडी हिमाचल प्रदेश का एक प्रमुख नगर है। मंडी प्राकृतिक, ऐतिहासिक, धार्मिक, आर्थिक आदि सभी दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। मंडी में पत्थरों को तराश कर बनाये गये मंदिरों की संख्या 81 है। मंडी स्थित कुछ प्रमुख मंदिर हैं ***त्रिलोकी नाथ मंदिर, श्यामकाली मंदिर, पंचवक्त्रा मंदिर एवं भूतनाथ मंदिर*** आदि। यहां

प्रतिवर्ष शिवरात्रि पर एक विशाल मेले का आयोजन किया जाता है। ***रिवाल्सर झील*** तथा ***सुंदरनगर*** स्थित महामाया मंदिर अन्य प्रसिद्ध स्थल हैं।

मथुराः उत्तर प्रदेश में यमुना नदी के पश्चिमी किनारे पर अवस्थित मथुरा एक प्रसिद्ध हिंदू स्थल है। जिसका इतिहास 600 ईसा पूर्व का है। कृष्ण जन्मस्थली के रूप में प्रसिद्ध इस नगरी में अनेक दर्शनीय मंदिर हैं। ***केशवदियो मंदिर*** यहां स्थित सबसे प्रमुख मंदिर है, ऐसी मान्यता है कि कृष्ण का जन्म इसी मंदिर में हुआ था। इसके समीप निर्मित नये ***केशव मंदिर*** का निर्माण बीर सिंह ने करवाया था। इसके निकट स्थित ***पोतरा कुंड*** एक दर्शनीय जलाशय है। यमुना के किनारे पर स्थित ***विश्राम घाट*** यहां का प्रमुख घाट है। ***सती बुर्ज, कंस किला, कटड़ा, होली गेट, जामी मस्जिद*** यहां स्थित अन्य दर्शनीय स्थल हैं।

मथुरा से 15 किलोमीटर दक्षिण-पूर्व में स्थित ***महावन नंद कृष्ण महल*** के लिए प्रसिद्ध है। यहां से 2 किलोमीटर दूर ***गोकुल*** में विष्णु कृष्ण के रूप में अवतरित हुए थे। मथुरा के 21 किलोमीटर दक्षिण-पूर्व में स्थित ***बल्देव*** में खीरसागर तथा एक प्रसिद्ध मंदिर है। मथुरा से 26 किलोमीटर पश्चिम में स्थित ***गोवर्धन, हरिदेव मंदिर*** तथा राधा कुंड अन्य दर्शनीय स्थल हैं। मथुरा के समीप स्थित सबसे धार्मिक स्थल ***वृंदावन*** है। यहां स्थित प्रसिद्ध मंदिरों में सम्मिलित हैं ***गोविंद देव*** (1890), ***श्रीरंगनाथजी मदन मोहन मंदिर,*** 16वीं शताब्दी का ***जगत कृष्ण मंदिर, बांके बिहारी मंदिर, प्रेम मंदिर।*** यहां स्थित कुछ अन्य प्रसिद्ध मंदिर जिनके अवशेष मात्र ही शेष हैं ***जुगल किशोर, राधा वल्लभ मंदिर।*** वृंदावन के शरदोत्सव एवं रथ यात्रा का भी विशेष महत्व है।

मदुरैः तमिलनाडु स्थित मदुरै नगर की प्रसिद्धि यहां निर्मित मंदिरों के कारण है। मदुरै स्थित ***तिरुमलाई नायक महल*** विशेष रूप से दर्शनीय है। ***यनाई महल एवं अलगार मंदिर*** मदुरै के समीप स्थित अन्य दर्शनीय स्थल हैं। मदुरै से 45 किलोमीटर दूर स्थित ***मनमदुरै पेरुमल मंदिर*** के लिए प्रसिद्ध है। मदुरै से कुछ दूर स्थित ***तिरुपाराकुंदरम का हिंदू मंदिर*** 8वीं शताब्दी की समाधियों तथा सुब्रह्मण्यम गुफा मंदिर के लिए प्रसिद्ध है।

ममालपुरमः तमिलनाडु स्थित ममालपुरम अपने 14 गुफा मंदिरों, 9 एकाश्म रथों तथा तीन शैल मंदिरों के लिए प्रसिद्ध है। यहां स्थित मंडपों (गुफाओं) में

गणेश मण्डप, वराह मण्डप प्रमुख हैं। ***पंच रथ*** 7वीं शताब्दी के मध्य में निर्मित प्रसिद्ध शैल मंदिर है।

महाबलेश्वरः महाराष्ट्र स्थित महाबलेश्वर पश्चिमी घाट के पश्चिमी भाग में अवस्थित है। महाबलेश्वर की स्थापना जनरल लॉडविक ने 1824 में की थी। कृष्णबाड़ी, राम तथा हनुमान यहां स्थित तीन प्रसिद्ध मंदिर हैं।

महेश्वरः मध्य प्रदेश में नर्मदा के उत्तरी किनारे पर स्थित महेश्वर प्राचीन राजा कीर्तिविरार्जुन की राजधानी ***महिश्मठी*** थी। महेश्वर शहर का वर्णन रामायण एवं महाभारत जैसे प्राचीन ग्रंथों में भी मिलता है। महेश्वर स्थित किले के अंदर अवस्थित महल में होल्कर परिवार से संबंधित वस्तुओं को दर्शाया गया है। नदी के किनारे पर स्थित ***पेशवा, फेनिसि*** एवं ***अहिल्या घाट*** दर्शनीय हैं। महेश्वर स्थित दर्शनीय मंदिर हैं ***कालेश्वर, राजराजेश्वर, विट्ठलेश्वर*** एवं ***अहिलेश्वर*** आदि। महेश्वर के दक्षिण में स्थित ***नवदतोली,*** एक महत्वपूर्ण पुरातात्विक स्थल है, जहां 1500 ईसा पूर्व से 1200 ईसा पूर्व के अवशेष मिले हैं। महेश्वर से 61 किलोमीटर उत्तर में स्थित ***ओमकारेश्वर*** (मंदहाटा) नर्मदा एवं कावेरी के संगम पर अवस्थित प्रसिद्ध हिंदू धार्मिक स्थल है। यहां स्थित ***श्री ओमकारेश्वर महादेव मंदिर*** में 12 ज्योर्तिलिंगों में से एक स्थापित है।

मांडूः मध्य प्रदेश में स्थित मांडू का संबंध छठी शताब्दी से है। मांडू स्थित शाही परिसर में ***दिलवर खान की मस्जिद*** (1405), ***हाथी पोल, हिंडोला महल, चम्पा बौली, जहाज महल, तवेली महल*** आदि दर्शनीय हैं। मांडू किले के मध्य भाग में ***होशांग शाह का मकबरा, जामा मस्जिद, अशर्फी महल*** हैं। किले के सागर तलाब क्षेत्र में ***हाथी महल, दय्या खान का मकबरा, मलिक मुगिथ मस्जिद, दाई-का-महल*** आदि दर्शनीय हैं। रिवा कुंड क्षेत्र में स्थित ***रिवा कुंड*** एक पवित्र स्थल है तथा ***रूपमती*** पवेलियन एवं ***बाज बहादुर का महल*** अन्य स्थल हैं।

माउंट आबूः यह राजस्थान का एकमात्र पहाड़ी केंद्र है, जो पर्यटकों को ग्रीष्म ऋतु में शीतलता प्रदान करता है। माउंट आबू में राजस्थान की सबसे ऊंची चोटी गुरु शिखर (1727 मीटर) स्थित है। माउंट आबू से 3 किलोमीटर उत्तर में स्थित ***दिलवाड़ा*** के जैन मंदिर संगमरमर की उत्कृष्ट वास्तुकला एवं

सुंदर सज्जा के प्रतीक हैं। यहां स्थित पांच मुख्य मंदिरों में से दो मंदिर (वास्तुपाल और तेजपाल) अपनी सूक्ष्म कलात्मक खुदाई के लिए प्रसिद्ध हैं। गौमुख तथा विमलशाही यहां स्थित अन्य प्रसिद्ध मंदिर हैं। दिलवाड़ा से 6 किलोमीटर दूर ***अचलगढ़*** में स्थित ***अचलेश्वर महादेव मंदिर*** में शिवलिंग के स्थान पर 'ब्रह्म खड्ड' है। अचलगढ़ स्थित अन्य प्रसिद्ध मंदिर ***कान्तीनाथ जैन मंदिर*** है।

मुडाबिडरीः कर्नाटक स्थित मुडाबिडरी को प्रायः जैन वाराणसी कहा जाता है। यहां 18 जैन बस्तियां हैं, जिनमें हजार-स्तंभ वाली ***चंद्रन्था*** बस्ती सबसे प्रसिद्ध है। ***जैन मठ*** तथा ***छोटा महल*** भी दर्शनीय हैं। मुडाबिडरी से 17 किलोमीटर दूर स्थित ***करकाला*** में गोमतेश्वर की एकाश्म प्रतिमा है। मुडाबिडरी से 18 किलोमीटर दूर स्थित ***श्रीगेंरी*** का संबंध शंकराचार्य (7वीं शताब्दी) से है। शंकराचार्य द्वारा स्थापित मठ के अतिरिक्त यहां ***विद्याशंकर मंदिर*** तथा ***शारदा देवी*** मंदिर दर्शनीय हैं।

मुर्शिदाबादः पश्चिम बंगाल स्थित मुर्शिदाबाद प्राचीन बंगाल की पहली राजधानी थी। मुर्शिदाबाद 1757 तक बंगाल की राजधानी रही। मुर्शिदाबाद से 6 किलोमीटर दूर ***प्लासी*** में ही 1757 का प्रसिद्ध प्लासी युद्ध हुआ था। मुर्शिदाबाद स्थित प्रमुख स्थल हैं ***निजामत किला, हजारद्वार महल, इमामबाड़ा, जफरगंज ड्योढ़ी, कटगोला जगत सेट का महल, कटरा मस्जिद, मोती झील, खोशबाग आदि।***

मेरठः उत्तर प्रदेश स्थित मेरठ 1857 के स्वतंत्रता संग्राम का प्रमुख केंद्र था। मेरठ अपने ऐतिहासिक स्मारकों के लिए प्रसिद्ध है। 1821 में निर्मित ***सैंट जोहन गिरजाघर, बालेश्वरनाथ मंदिर,*** जोवलभीर माल द्वारा 1714 में निर्मित ***सूरज कुण्ड, जामा मस्जिद, शाहपीर मकबरा*** (1628), ***आबू मकबरा,*** कुतुबुद्दीन एबक द्वारा निर्मित ***सालार मसूद गाजी का मकबरा*** यहां स्थित प्रमुख ऐतिहासिक स्मारक हैं।

मैसूरः कर्नाटक स्थित मैसूर महलों, चंदन की लकड़ी तथा अगरबत्ती उत्पादन का प्रमुख केंद्र है। मैसूर ***सिटी पैलेस*** का निर्माण 1897 में हुआ था। मैसूर स्थित सिटी पैलेस भारत के सबसे बड़े महलों में से एक है। ***चामुंडी पहाड़ी*** पर स्थित ***चामुण्डेश्वरी मंदिर, सैंट फीलोमेना कैथेड्रल*** अन्य प्रसिद्ध दर्शनीय

स्थल हैं। मैसूर से 19 किलोमीटर दूर स्थित ***वृंदावन उद्यान, कृष्णसागर बांध*** तथा 12 किलोमीटर दूर स्थित ***श्री महालिंगेश्वर मंदिर*** अन्य दर्शनीय स्थल हैं। मैसूर में आयोजित दस दिवसीय दशहरा उत्सव का विशेष महत्व है।

मोडेहराः गुजरात स्थित मोडेहरा सोलंकी काल (8-13वीं शताब्दी) में निर्मित प्रसिद्ध ***सूर्य मंदिर*** (1026) के लिए दर्शनीय है। इस मंदिर के निर्माण का श्रेय भीमदेव-I को है। ऐसी मान्यता है कि यहां स्थापित सूर्य प्रतिमा (अब नहीं) पर सूर्य की पहली किरण पड़ती थी। सूर्य मंदिर का सभा मंडप विशेष रूप से दर्शनीय है।

राजगीरः बिहार स्थित राजगीर पाटलिपुत्र से पूर्व मगध साम्राज्य की राजधानी थी। वनों से घिरा यह प्रदेश बौद्ध एवं जैन समुदाय के लिए धार्मिक महत्व रखता है। दोनों समुदायों की मान्यता है कि बुद्ध एवं महावीर ने अनेक वर्षों तक यहां उपदेश दिए हैं। यहां स्थित ***गृडकुटा*** मौर्य सम्राट बिम्बसार का सर्वप्रिय स्थल था। यहां पाई गई दो गुफाओं में से ***सप्तपर्णी गुफा*** में पहली बौद्ध सभा हुई थी। सप्तपर्णी गुफा के समीप ही एक ***पीपला मचान*** है, जो कि पत्थर के खण्डों से निर्मित है। यह मचान लगभग 24 मीटर वर्गाकार तथा 7 मीटर ऊंचा है।

राजगीर स्थित ***अजातशत्रु किला*** ईसा पूर्व 5वीं शताब्दी का है। इसकी बाहरी दीवार में प्रयुक्त पत्थर 1 से 1.5 मीटर लम्बे हैं। कहीं-कहीं यह पत्थर 4 मीटर ऊंचे तथा 5.5 मीटर चौड़े हैं। इस किले के अंदर के भाग में प्रसिद्ध जैन स्थल ***मनियार मठ*** स्थित है। इसके समीप स्थित वेणुवाणा बांस निर्मित प्रसिद्ध उपवन है, जहां बुद्ध ने अपना कुछ समय व्यतीत किया था। वेणुवाणा के दक्षिणी भाग में प्रसिद्ध जैन एवं हिंदू मंदिर हैं। जापानियों द्वारा निर्मित ***विश्व शांति स्तूप*** तथा ***निपोनजन मयोहोजी*** राजगीर स्थित अन्य प्रसिद्ध स्थल हैं।

रामपुरः उत्तर प्रदेश स्थित रामपुर की स्थापना शाह आलम एवं हुसैन खान ने 1623 में की थी। रामपुर स्थित ***महल*** एवं ***किले*** का अपना विशेष आकर्षण है। यहां स्थित ***राज्य पुस्तकालय*** में 16वीं-18वीं शताब्दी की कुछ बहुमूल्य पांडुलिपियां संग्रहीत हैं।

रामेश्वरमः ऐसी मान्यता है कि तमिलनाडु स्थित इस नगर में राम ने शिव की आराधना की थी। यहां स्थित ***रामलिंगेश्वर मंदिर*** की खोज चोल राजाओं द्वारा की गई थी, लेकिन इसका निर्माण नायक काल के दोरान हुआ था। ***गंधमदान पर्वतम*** तथा ***कोटानदरमस्वामी मंदिर*** यहां स्थित अन्य प्रसिद्ध दर्शनीय स्थल हैं। रामेश्वरम से 20 किलोमीटर दूर ***मंडपम*** स्थित जलीय अनुसंधान संस्थान में अनेक जलीय प्राणी सुरक्षित हैं। मंडपम मुख्यतः मुस्लिम समुदाय बहुल एक मत्स्य ग्राम है।

लकुंडीः कर्नाटक स्थित लकुंडी में 11वीं तथा 12वीं शताब्दी के 17 हिन्दू एवं जैन मंदिर दर्शनीय हैं। ***जैन बस्ती*** तथा ***काशी विश्वरेश्वर*** मंदिर विशेष रूप से दर्शनीय हैं। लकुंडी से 10 किलोमीटर दूर स्थित ***कुकनूर*** तथा ***इट्टागी*** के ***महादेव मंदिर, नवलिंग परिसर, कालेश्वर मंदिर*** भी दर्शनीय हैं।

लखनऊः उत्तर प्रदेश की राजधानी लखनऊ गोमती नदी के किनारे पूर्वी उत्तर प्रदेश के मध्य में अवस्थित है। आधुनिक लखनऊ के निर्माण का श्रेय नवाब असफ-उद-दौला को है, जिसने 1775 में लखनऊ को राजधानी बनाया था। लखनऊ नवाबी शान की विशिष्ट शैली, नृत्य, कविता, संगीत को अपने में समाये हुए है। ***औरंगजेब की मस्जिद, बड़ा इमामबाड़ा*** यहां स्थित प्रसिद्ध मुगल स्मारक हैं। 50 मीटर लंबे तथा 15 मीटर ऊंचे बड़ा इमामबाड़ा का निर्माण असफ-उद-दौला ने करवाया था। इसी के समीप ही ***रूमी दरवाजा*** स्थित है। ***हुसैनाबाद इमामबाड़ा*** (छोटा इमामबाड़ा) में चांदी का सिंहासन है तथा इसे मुहर्रम के दिन सजाया जाता है। इसके दक्षिण में ही ***जामी मस्जिद*** स्थित है, जिसका निर्माण मुहम्मद शाह ने 1840 में शुरू करवाया था। हजरत अब्बास की दरगाह तथा बादाम महल यहां स्थित अन्य प्रसिद्ध स्मारक हैं। लखनऊ के रेजिडेंसी क्षेत्र के प्रसिद्ध स्थलों में ***केसरबाग महल*** (1850) ***सआदत अली खान का मकबरा*** (1814), ***खुर्शीद बेगम, नूर बक्श कोठी, तारावाली कोठी, खुर्शीद मंजिल, मोती महल, छत्तर मंजिल*** आदि मुख्य हैं। लखनऊ के दक्षिणी क्षेत्र के प्रसिद्ध स्थलों में ***शाह नजफ विंगफील्ड उद्यान, क्राइस्ट गिरजाधर, दिलखुश, विलायती बाग*** आदि प्रमुख हैं। राज्य संग्रहालय, मोतीलाल बाल संग्रहालय, गांधी संग्रहालय, तस्वीर संग्रहालय आदि यहां के प्रसिद्ध संग्रहालय हैं।

लद्दाखः जम्मू-कश्मीर स्थित लद्दाख ***लेह*** सिंधु नदी के उपजाऊ क्षेत्र में अवस्थित है। 16वीं शताब्दी के मध्य में निर्मित ***लेह महल*** का निर्माण राजा सिंगे नामगयाल ने किया था। आज भी इस महल पर राज परिवार का अधिकार है। महल के एक भाग को संग्रहालय में परिवर्तित कर दिया गया है। ***लेह गोम्पा, सोमा गोम्पा, शांति स्तूप*** तथा ***शंकर गोम्पा*** यहां स्थित प्रमुख गोम्पा हैं। लेह स्थित ***लेह मस्जिद*** एवं ***मणि दीवारें*** भी विशेष रूप से दर्शनीय हैं। ***हेमिस, लोसार*** एवं ***लद्दाख उत्सव*** यहां के प्रमुख उत्सव हैं।

लेह से आठ किलोमीटर दूर स्थित ***स्पीतुक*** में 11वीं शताब्दी का बौद्ध विहार है। यहां स्थित ***महाकाल मंदिर*** (16-17वीं शताब्दी) भी विशेष रूप से दर्शनीय है। लेह से 16 किलोमीटर दूर स्थित ***फ्यांग*** में नामगयाल वंश के संस्थापक द्वारा 16वीं शताब्दी में निर्मित ***गोआन विहार*** है। यहां 14वीं शताब्दी के कश्मीर ताम्रों के अतिरिक्त मूर्तियों को भी संकलित किया गया है। यहां से कुछ दूर स्थित ***बासगो*** 15-17वीं शताब्दी के मध्य शाही निवास स्थल था। यहां शेष रहे मंदिरों में ताशी नामगयाल द्वारा 16वीं शताब्दी के मध्य में निर्मित ***उच्च मैत्री मंदिर*** प्रमुख है। 17वीं शताब्दी में निर्मित ***सरजांग मंदिर*** नक्काशीयुक्त प्रवेश द्वार के लिए दर्शनीय है। ***लेकिर*** स्थित विहार की स्थापना लाद्देन ग्यालपो ने की थी। लेह से 70 किलोमीटर दूर स्थित ***अल्छी धर्म चक्र विहार परिसर*** के लिए विशेष रूप से दर्शनीय है। अल्छी स्थित वृहत मंदिर परिसर लद्दाख क्षेत्र में सबसे प्रमुख बौद्ध केंद्र है। ***धु-खांग, लोटसावा, चोसकर, लखांग सोमा, सम-सटेक*** आदि इस परिसर के मुख्य भाग हैं।

लोथलः गुजरात स्थित लोथल साबरमती एवं भोगावो नदियों के मध्य अवस्थित है। लोथल में हड़प्पा सभ्यता (250 ईसा पूर्व-1700 ईसा पूर्व) के कुछ विशेष अवशेष हैं। लोथल में हड़प्पा सभ्यता की श्रेष्ठ वास्तुकला को देखा जा सकता है। लोथल में हड़प्पा सभ्यता के शहर से संबंधित कुंए, ईंटों से निर्मित मकान, स्नानघर आदि अपने में एक इतिहास को समाहित किए हुए हैं। लोथल स्थित पुरातात्विक संग्रहालय में इस स्थल से संबंधित ताम्र एवं कांस्य औजारों को संग्रहीत किया गया है।

वसाई (भदरेश्वर): वसाई एक मंदिर तथा दो मस्जिदों के लिए प्रसिद्ध है। 1248 में निर्मित ***जैन मंदिर*** तथा ***सोलह खंभी मस्जिद*** विशेष रूप से दर्शनीय हैं। जैन मंदिर के 52 प्रकोष्ठों में तीर्थंकरों की 150 मूर्तियां हैं तथा सोलह खंभी मस्जिद इस्लामी वास्तुकला का श्रेष्ठ रूप लिए हुए है।

वारंगलः आंध्र प्रदेश स्थित वारंगल हैदराबाद से 140 किलोमीटर दूर स्थित है। 12वीं एवं 13वीं शताब्दी में वारंगल काकित्य साम्राज्य की राजधानी थी। यहां स्थित वारंगल किले का निर्माण 13वीं शताब्दी में किया गया था। ***हनमकोंडा*** के समीप स्थित शिवा रुद्रेश्वर मंदिर का निर्माण 1163 में रुद्रदेव द्वारा किया गया था। यहां शिव, विष्णु तथा सूर्य को समर्पित नंदी का निर्माण किया गया है। 12वीं एवं 13वीं शताब्दी में काकित्य शासकों द्वारा पखल, लखनावरम, रमप्पा तथा धनपुर में कृत्रिम झीलों का निर्माण किया गया था। इन वन्यजीव उद्यानों में पशु-पक्षियों की अनेक प्रजातियां निवास करती हैं। ***पालमपेट*** शिव को समर्पित ***रमप्पा मंदिर*** के लिए प्रसिद्ध है, इस मंदिर की दीवारों पर स्त्री नृतकियों को दर्शाया गया है। पालमपेट से 9 किलोमीटर दूर स्थित ***धनपुर*** में 13वीं शताब्दी के प्रसिद्ध ऐतिहासिक मंदिर हैं। इन मंदिरों के कुछ भाग अब ध्वस्त हो गए हैं।

वाराणसीः उत्तर प्रदेश में गंगा नदी के पश्चिमी किनारे पर स्थित वाराणसी (बनारस) भारत की सबसे पवित्र नगरी है। इस प्राचीन नगरी का इतिहास 7वीं शताब्दी ईसा पूर्व तक का है। आर्य इस नगर के सबसे प्राचीन निवासी थे। वाराणसी को सांस्कृतिक, शैक्षिक तथा वाणिज्य केंद्र बनाने का श्रेय आर्यों को ही है। वाराणसी स्थित ***संस्कृत विश्वविद्यालय*** में लगभग 1,50,000 दुर्लभ पांडुलिपियों को संग्रहीत किया गया है। वाराणसी के पुराने शहर में ***विश्वनाथ मंदिर*** (1777), ***अन्नपूर्णा मंदिर, ज्ञान कूप*** मंदिर प्रमुख हैं। ***ज्ञानवापी मस्जिद*** तथा ***आलमगीर मस्जिद*** यहां स्थित प्रसिद्ध मस्जिदें हैं। 1825 में बाजी राव-II द्वारा निर्मित ***भैरोंनाथ मंदिर, गोपालमंदिर, दुर्गा मंदिर*** (18वीं शताब्दी), ***तुलसी मानस मंदिर*** (1964), ***भारत माता मंदिर*** आदि कुछ अन्य प्रसिद्ध मंदिर हैं। वाराणसी में लगभग 100 से अधिक घाट हैं। यहां स्थित कुछ प्रमुख घाट हैं ***दसवमेधा घाट, मुंशी घाट, अहिल्या बाई घाट, दरभंगा घाट, राणा***

महल घाट, धोबी घाट, चौकी घाट, राजा घाट, मानसरोवर घाट, हनुमान घाट, कर्नाटक घाट, तुलसी घाट, मनमंदिर घाट, ललिता घाट, रामघाट, सिंधिया घाट तथा ***पंचगंगा घाट*** आदि। ***बनारस हिंदू विश्वविद्यालय*** में स्थित ***भारत कला भवन संग्रहालय*** तथा भारत के सबसे ऊंचे मंदिरों में से एक ***नया विश्वनाथ मंदिर*** अन्य दर्शनीय स्थल हैं। ***रामनगर किले*** में स्थित संग्रहालय में वस्त्रों, हथियारों, फर्नीचर तथा पालकियों आदि को संग्रहीत किया गया है।

वास्कोडिगामाः गोआ के मध्य भाग में अवस्थित वास्कोडिगामा प्राचीन इमारतों तथा समुद्र तटों के लिए प्रसिद्ध है। वास्कोडिगामा स्थित ***केसल रॉक*** तथा ***पॉलट प्वांइट*** दर्शनीय स्थल हैं। वास्कोडिगामा के समीप स्थित ***मारमगो*** का ***मारमगो किला*** विशेष रूप से दर्शनीय है। वास्कोडिगामा के समीप स्थित प्रमुख समुद्र तट हैं ***बोगमालो, हंसा*** एवं ***बैना*** आदि।

विजयनगरः आंध्र प्रदेश में विजयनगर के ***बौरा*** गांव की बौरा गुफाएं अत्यंत प्रसिद्ध हैं। इन गुफाओं के अंदर एक शिवलिंग तथा गाय की मूर्ति है। ऐसी मान्यता है कि पांडवों ने अपने अज्ञातवास का अंतिम वर्ष इन्हीं गुफाओं में बिताया था।

विजयवाड़ाः कृष्णा एवं बुडामेरू के मध्य स्थित विजयवाड़ा आंध्र प्रदेश का तीसरा सबसे बड़ा नगर तथा भारत का सबसे बड़ा रेलवे जंक्शन है। विजयवाड़ा अपने अनेक मंदिरों के लिए प्रसिद्ध है। यहां स्थित प्रमुख मंदिर हैं ***मोगलाराजापुरम, ब्रह्मरंभा, मल्लेश्वर*** तथा ***कनकदुर्गा।***

विदिशाः मध्य प्रदेश स्थित विदिशा दिल्ली भोपाल मार्ग पर भोपाल से 57 किलोमीटर दूर अवस्थित है। बेतवा एवं बेस नदियों के संगम पर स्थित विदिशा का संबंध ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी से है। ऐसी मान्यता है कि विदिशा निवासी सांची स्मारकों के रखवाले (संरक्षक) हैं। विदिशा में ***बीजामण्डल मस्जिद*** एवं ***गुम्बज का मकबरा*** नामक इस्लामी स्मारकों के अवशेष हैं। यहां से 3 किलोमीटर दूर बेतवा के दूसरे किनारे पर ***खंभा बाबा*** स्थित है, जो कि अशोक स्तंभ के समान किंतु उससे छोटा है। इसका संबंध 140 ईसा पूर्व से है। विदिशा से 4 किलोमीटर दूर उत्तर में प्रसिद्ध ***उदयगिरि गुफाएं*** अवस्थित हैं। यह गुफाएं

गुप्तकालीन कला की समृद्धि की परिचायक हैं। इन गुफाओं में पहली, पांचवीं तथा नौवीं गुफाएं विशेष रूप से दर्शनीय हैं। उदयगिरि से 60 किलोमीटर दूर स्थित ***उदयपुर*** 11वीं शताब्दी के ***नीलकंठेश्वर मंदिर*** के लिए प्रसिद्ध है।

विष्णुपुरः पश्चिम बंगाल स्थित विष्णुपुर 17वीं एवं 18वीं शताब्दी के बंगाल मृण्यमूर्ति मंदिरों के लिए प्रसिद्ध है। विष्णुपुर में राधा और कृष्ण को समर्पित लगभग दो दर्जन मंदिर हैं। ***रसमानचा, जोर मंदिर, मदन मोहन मंदिर, श्याम राय मंदिर, लालजी, मदन गोपाल*** आदि मुख्य मंदिर हैं। विष्णुपुर के समीप स्थित जयरामबाती एवं ***कमरपुकार*** तथा ***गढ़ मंडारन*** किला मुख्य दर्शनीय स्थल हैं।

वेल्लौरः तमिलनाडु स्थित वेल्लौर क्रिश्चियन चिकित्सा कॉलेज एवं अस्पताल के लिए विश्व प्रसिद्ध है। ***वेल्लौर किले*** में विजयनगर वास्तुशिल्प को उसके श्रेष्ठ रूप में देखा जा सकता है। वेल्लौर स्थित ***जलकांतेश्वर*** मंदिर का निर्माण पल्लवों द्वारा सातवीं शताब्दी में किया गया था। वेल्लौर स्थित चिकित्सा कॉलेज की स्थापना इडा स्कडर ने 1900 में की थी। वेल्लौर से 35 किलोमीटर दूर स्थित ***पोलुर*** जैब शैल नक्काशी के लिए प्रसिद्ध है। ***तिरुमलाई मंदिर*** में स्थापित जैन मूर्ति तमिलनाडु की सबसे ऊंची मूर्ति है।

वैष्णो देवीः जम्मू-कश्मीर स्थित वैष्णो देवी जम्मू शहर से 61 किलोमीटर उत्तर में अवस्थित एक प्रसिद्ध धार्मिक गुफा है। महाकाली, महालक्ष्मी एवं महासरस्वती को समर्पित यह गुफा 1700 मीटर की ऊंचाई पर 30 मीटर लम्बी तथा 1.5 मीटर ऊंची है। गुफा के समीप स्थित ***भैरों मंदिर*** भी दर्शनीय है। त्रिकूट पहाड़ियों की गोद में बसा ***कटरा*** विशेष रूप से दर्शनीय स्थल है।

शांतिनिकेतनः पश्चिम बंगाल स्थित शांतिनिकेतन की स्थापना का श्रेय महर्षि देवेन्द्रनाथ टैगोर (रवींद्रनाथ टैगोर के पिता) को है। शांतिनिकेतन स्थित ***विश्व भारती विश्वविद्यालय*** दर्शन, संस्कृत, कला, भारतीय संगीत आदि के अध्ययन का प्रमुख केंद्र है। ***उत्तरायण परिसर, प्रार्थनाघर छतीमताला, श्रीनिकेतन*** आदि विशेष दर्शनीय भाग हैं। ***रविन्द्र भवन संग्रहालय, नंदन संग्रहालय, कला भवन दीर्घा*** प्रमुख संग्रहालय हैं। शांतिनिकेतन से 58 किलोमीटर उत्तर-दक्षिण में स्थित ***बकरेश्वर*** गर्म पानी के चश्मों के लिए प्रसिद्ध

है। यहां शिव, शक्ति तथा विष्णु को समर्पित अनेक मंदिर हैं। ***बकरेश्वर*** स्थित ***शिव मंदिर*** एवं ***महिषासुरमर्दिनी मंदिर*** प्रमुख हैं। शांतिनिकेतन से 80 किलोमीटर दूर स्थित ***तारापीठ*** का ***तारा मंदिर*** इस क्षेत्र का प्रसिद्ध मंदिर है।

शोलापुरः शोलापुर के समीप प्रवाहित भीमा नदी के किनारे अवस्थित ***पंधरपुर*** महाराष्ट्र की आध्यात्मिक राजधानी है। ***विथोबा की समाधि*** के अतिरिक्त पंधरपुर स्थित दर्जनों स्नान घाट बड़ी संख्या में भक्तों को आकर्षित करते हैं।

श्रवणबेलागोलाः कर्नाटक स्थित श्रवणबेलागोला गोमतेश्वर की बृहत् एकाश्म मूर्ति के कारण भारत के प्रसिद्ध धार्मिक स्थलों में से एक है। विंध्यगिरि पर स्थित गोमतेश्वर की मूर्ति मैदान से 150 मीटर की ऊंचाई पर अवस्थित है। यहां स्थित ***भंडारी बस्ती*** में 24 तीर्थंकारों की मूर्तियां हैं। ***चंद्रगिरि*** में 14 समाधियां हैं। श्रवणबेलागोला से कुछ दूर स्थित ***कमबदहाली*** की ***पंचाकुटु बस्ती*** में तीन तीर्थंकारों (आदिनाथ, नेमीनाथ तथा शांतीनाथ) की समाधियां हैं। कमबदहाली में अनेक उत्कृष्ट जैन प्रतिमाएं भी हैं।

श्रीनगरः जम्मू-कश्मीर की राजधानी श्रीनगर की स्थापना का श्रेय राजा प्रवरसेन (6वीं शताब्दी) को है। झेलम नदी श्रीनगर को दो भागों में बांटती है। श्रीनगर की दिनचर्या झेलम नदी, डल एवं नगीन झीलों के इर्द-गिर्द ही घूमती है। श्रीनगर स्थित प्रमुख दर्शनीय स्थल हैं ***हरी पर्वत किला, जामा मस्जिद*** (1674) ***रोजहबल मस्जिद, जेन-उल-अब्दीन की माता का मकबरा, शाह हामादन मस्जिद, पटर मस्जिद*** (1623), ***शंकराचार्य पहाड़ी*** आदि। 6.4 किलोमीटर लम्बी तथा 4 मीटर चौड़ी ***डल झील*** श्रीनगर के आकर्षण का प्रमुख केंद्र है। आसफ खान द्वारा 1632 में निर्मित ***निशात बाग*** तथा शाहजहां द्वारा निर्मित ***शालीमार बाग*** विशेष रूप से दर्शनीय हैं। ***चश्मा शाही*** एवं नजीम बाग भी दर्शनीय स्थल हैं। श्रीनगर स्थित ***प्रताप सिंह संग्रहालय*** में चित्रों, मूर्तियों, हथियारों आदि को संग्रहीत किया गया है। श्रीनगर से 58 किलोमीटर दूर स्थित ***अच्छाबल*** जल-प्रपात एवं अपने उद्यान के लिए प्रसिद्ध है।

श्रीरंगपट्टनमः कर्नाटक स्थित श्रीरंगपट्टनम की स्थापना 10वीं शताब्दी में हुई थी। 1454 में विजयनगर राजाओं ने यहां किले का निर्माण करवाया था।

यहां निर्मित ***जामा मस्जिद*** के निर्माण का श्रेय टीपू सुल्तान को है। ***नरसिंह*** (17वीं शताब्दी) तथा ***गंगाधरेश्वर*** (16वीं शताब्दी) श्रीरंगपट्टनम स्थित प्रमुख हिंदू मंदिर हैं। श्रीरंगपट्टनम से 5 किलोमीटर दूर स्थित रंगानाथिट्टू पक्षी अभयारण्य की स्थापना 1975 में की गई थी। यहां कावेरी नदी के कुछ टापुओं का आनंद नौकायन द्वारा लिया जा सकता है।

श्रीविलीपुटरः तमिलनाडु स्थित श्रीविलीपुटर 108 पवित्र वैष्णव स्थलों में से एक है। श्रीविलीपुटर स्थित ***विष्णु वादाबद्रासाइकोइल*** का गोपुरम लगभग 60 मीटर ऊंचा है। ***थीरूमलाई नायक का प्राचीन महल*** श्रीविलीपुटर स्थित ऐतिहासिक महल है। श्रीविलीपुटर से 19 किलोमीटर दूर स्थित ***शिवकाशी*** में पटाखों का निर्माण होता है। श्रीविलीपुटर से कुछ दूर स्थित ***राजपलयम*** एक अन्य प्रसिद्ध ऐतिहासिक नगर है।

सरधानाः उत्तर प्रदेश स्थित इस शहर का संबंध 18वीं शताब्दी के स्ट्रासबोरग सैनिक वाल्टर रेनहार्डट से है, जिसे बंगाल के नवाब द्वारा 1763 में सरधाना तालुका दी गई थी। 1834 में निर्मित ***कोठी दिलखुश*** (बेगम महल) एक विस्तृत उद्यान के मध्य में स्थापित की गई है। यहां स्थित एक अन्य प्रसिद्ध इमारत अफगान वंश के शाही परिवार की है। इसके परिसर में एक मस्जिद एवं मकबरा है। ***सैंट जोहन रोमन गिरजाघर*** यहां स्थित प्रसिद्ध चर्च है।

श्रावस्तीः उत्तर प्रदेश में लखनऊ से 150 किलोमीटर उत्तर-पूर्व में स्थित श्रावस्ती बुद्ध काल का महत्वपूर्ण शहर है। बुद्ध ने यहां जैतवाना मठ में उपदेश दिए थे। इस मठ तथा शहर के अवशेष ***माहेत*** एवं ***साहेत*** नामक दो गांवों में पाये गये हैं। माहेत में दो स्तूपों एवं मंदिरों के अवशेष हैं। साहेत में जेतवाना मठ के अवशेष देखे जा सकते हैं।

सासारामः बिहार स्थित सासाराम प्रसिद्ध मुस्लिम स्थल है। शेरशाह सूरी ने 1535 में यहां अपने पिता हसन खां का मकबरा बनाया था। सासाराम से 60 किलोमीटर उत्तर-पूर्व में स्थित ***आरा,*** 1857 के स्वतंत्रता संग्राम का प्रसिद्ध केंद्र रहा था। आरा बिहार की सोन नहरों के प्रसिद्ध सिंचाई तंत्र की शाखा पर स्थित है। पटना से 30 किलोमीटर दूर स्थित ***मनेर*** एक अन्य प्राचीनतम इस्लामिक केंद्र है। यहां स्थित ***हजरत मनेरी की दरगाह*** (बड़ी दरगाह) एक पवित्र मजार है। यहां स्थित छोटी दरगाह अपने वास्तुशिल्प के लिए प्रसिद्ध है।

सांचीः मध्य प्रदेश स्थित सांची भोपाल से 47 किलोमीटर दूर शांत पहाड़ियों से घिरा एक प्रसिद्ध बौद्ध स्थल है। सांची स्थित स्तूपों में प्राचीनतम स्तूप का निर्माण ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी में किया गया था। सांची स्थित महान स्तूप भारत के सबसे विशालकाय स्तूपों में से एक है। यह स्तूप व्यास में 37 मीटर तथा ऊंचाई में 16 मीटर है। सांची स्थित 1-2-3 स्तूप, 17-18 मंदिर तथा 45-46 क्रमसंख्या वाले मठ विशेष रूप से दर्शनीय हैं। सांची से 20 किलोमीटर पूर्व में स्थित ***रायसेन*** में एक मंदिर, तीन महल एवं एक जलाशय दर्शनीय हैं। ***सतधारा*** में भी बौद्ध परिसर तथा स्तूपों के अवशेष देखे जा सकते हैं।

सागरद्वीपः पश्चिम बंगाल स्थित सागरद्वीप गंगा के मुहाने पर स्थित द्वीप है। मध्य जनवरी में होने वाला 'गंगा सागर मेला' यहां हजारों भक्तों को आकर्षित करता है। यहां स्थित ***कपिलमुनि मंदिर*** भी प्रसिद्ध है।

सारनाथः उत्तर प्रदेश में वाराणसी से 10 किलोमीटर दूर उत्तर-पूर्व में स्थित सारनाथ भारत का एक प्रमुख बौद्ध केंद्र है। बुद्ध ने ईसा पूर्व 528 में ज्ञानार्जन के उपरांत अपना पहला उपदेश यहीं दिया था। सारनाथ स्थित दर्शनीय स्थलों में सम्मिलित हैं ***अंगारिक धर्मपाल*** की मूर्ति, ***मुलंगधाकुटी विहार, पीपल वृक्ष, धमेख स्तूप*** (28 मीटर व्यास तथा 13 मीटर ऊंचा) ***धर्मराजिका स्तूप*** (इसका निर्माण सम्राट अशोक ने करवाया था), ***मुख्य मकबरा*** एक चौकोर 29 × 27 मीटर इमारत है, जिसकी ऊंचाई 5.5 मीटर है। ***चौखंडी*** में स्थित स्तूप का संबंध पांचवीं शताब्दी से है। सारनाथ स्थित ***हिरण वन*** जैन सम्प्रदाय के लिए धार्मिक स्थल है, यहीं उनके 11वें तीर्थंकर ने निर्वाण किया था। सारनाथ स्थित अन्य दर्शनीय स्थलों में सम्मिलित हैं ***बर्मी मठ, जापानी मठ, तिब्बती मठ, अपसीडल मंदिर, अशोक स्तंभ, वो. स्तूप, जैन मंदिर, चीनी मंदिर*** तथा ***पुरातात्विक संग्रहालय*** आदि।

सियांगः पश्चिमी सियांग की गोद में बसा अरुणाचल प्रदेश का सियांग जिला ***मलिनिथन*** में पाई गई हिंदू देवताओं की मूर्तियों के लिए प्रसिद्ध है। सियांग के निचले हिस्से दिबांग घाटी में प्रसिद्ध ***बिस्माकनगर महल*** के अवशेष पाये गये हैं। सियांग से कुछ दूर ***तेजू*** के निकट स्थित ***परशुराम कुंड*** राज्य का सबसे प्रसिद्ध स्थल है। यहां प्रतिवर्ष मध्य जनवरी में मकर संक्रांति को आयोजित मेले

में हजारों श्रद्धालु कुंड में स्नान करते हैं। सियांग से कुछ दूर तथा राज्य की राजधानी ईटानगर से 150 किलोमीटर दूर स्थित ***जिरो*** देवदार वृक्षों से घिरी घाटी के बीच अवस्थित एक अन्य प्रसिद्ध पर्यटक स्थल है। यहां के अपातानी जनजाति निवासियों ने धान उत्पादन की कुछ अद्भुत विधियां विकसित की हैं। ***नामदफा राष्ट्रीय उद्यान*** डिब्रूगढ़ से 140 किलोमीटर दूर स्थित है। 200-4500 मीटर की ऊंचाई में विस्तृत इस राष्ट्रीय उद्यान में बिल्ली परिवार के चारों सदस्य पाये जाते हैं। भारत-म्यांमार सीमा पर स्थित जनजातीय लोग यहां प्रतिवर्ष फरवरी-अप्रैल तथा नवंबर में उत्सवों का आयोजन करते हैं।

सोंथी (सन्नथी): कर्नाटक में भीमा नदी के दक्षिणी तट पर अवस्थित सन्नथी एक प्रसिद्ध धर्म स्थल है। यहां निर्मित ***चंद्रलांबा मंदिर*** का निर्माण संभवतः चालुक्यों द्वारा 12वीं शताब्दी में किया गया था। शिव को समर्पित इस मंदिर में महाकाली, महालक्ष्मी एवं सरस्वती की प्रतिमाएं हैं।

सोनपुरः बिहार स्थित सोनपुर गंगा एवं गंडक नदियों के संगम पर अवस्थित है। यहां प्रत्येक वर्ष दीपावाली के उपरांत पहली पूर्णिमा को एशिया के सबसे बड़े पशु मेले का आयोजन किया जाता है। एक महीने चलने वाले इस समारोह में पशुओं तथा अनाज का लेन-देन होता है। ऐसी मान्यता है कि सोनपुर में हाथी एवं मगरमच्छ के मध्य युद्ध हुआ था। यहां स्थित ***हरिहरनाथ मंदिर*** में पूर्णिमा के दिन स्नान करने को पवित्र माना जाता है।

सोनपुर से कुछ दूर तथा पटना से लगभग 55 किलोमीटर दूर स्थित ***वैशाली*** प्रसिद्ध ऐतिहासिक एवं बौद्ध स्थल है। वैशाली का नाम राजा विशाल से लिया गया है, जिनका संबंध ईसा पूर्व छठी शताब्दी के रामायण काल से था। ऐसी मान्यता है कि वैशाली विश्व का पहला ऐसा नगर था जिसने शासन में गणराज्य रूप को प्रयुक्त किया था। बुद्ध ने अपना अंतिम संदेश भी यहीं दिया था। 383 ईसा पूर्व वैशाली द्वितीय बौद्ध सभा का केंद्र था। श्वेतांबर समुदाय के जैन अनुयायी मानते हैं कि महावीर का जन्म (ईसा पूर्व 599) वैशाली में ही हुआ था। वैशाली में कोलुहा स्थित ***अशोक स्तंभ*** लगभग 18.3 मीटर ऊंचा है, जिसे 'भीमसेन की लाठी' के नाम से भी जाना जाता है। ***रामकुंड, खरौना पोखर, कमल तालाब*** वैशाली स्थित प्रमुख जलाशय हैं। ***मीरंजी-की-दरगाह, राजा विशाल का गढ़*** तथा ***चौमुखी महादेव*** वैशाली स्थित अन्य प्रमुख स्मारक हैं।

सोमनाथपुरः कर्नाटक स्थित सोमनाथपुर मैसूर क्षेत्र का एक छोटा-सा ग्राम है, जो 1268 में निर्मित ***केशव मंदिर*** के लिए प्रसिद्ध है। होयसाल शैली में निर्मित यह चौकोर मंदिर 75 मीटर लंबा तथा 55 मीटर चौड़ा है।

सोलनः हिमाचल प्रदेश के सोलन जिले में स्थित ***स्वारघाट*** मलान दुर्ग के लिए प्रसिद्ध है। शिवालिक पर्वत श्रेणी के मध्य में स्थित स्वारघाट एक ऐतिहासिक एवं प्राकृतिक महत्व का स्थल है। यहां निर्मित नालागढ़ रियासत के किले का ऐतिहासिक महत्व है।

हम्पीः कर्नाटक स्थित प्राचीन समय में विजयनगर साम्राज्य से संबंधित तथा हिंदू शासन का प्रमुख केंद्र था। एक समय में हम्पी रोम से भी समृद्ध नगर था। हम्पी में शेष रहे अधिकतर स्मारकों का निर्माण कृष्णदेव राय (1509-1529) ने करवाया था। यहां स्थित दर्शनीय स्थलों में सम्मिलित हैं ***विरुपाक्ष मंदिर, रघुनाथ मंदिर, नरसिंह मंदिर, सुग्रीव गुफा, विठाला मंदिर, कृष्ण मंदिर, प्रसन्ना विरुपक्ष, हजार राम मंदिर, कमल महल*** तथा ***महानवमी डिब्बा*** आदि। हम्पी से 6 किलोमीटर दूर ही ***तुंगभद्रा बांध*** अवस्थित है।

हरिद्वारः उत्तराखंड स्थित हरिद्वार गंगा नदी किनारे तथा शिवालिक पहाड़ियों के आधार पर अवस्थित है। हरिद्वार को हिंदुओं के सात सबसे पवित्र स्थलों में से एक माना जाता है। हरिद्वार वस्तुतः एक प्राचीन नगर है तथा प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्वेनसांग ने भी इसका वर्णन किया है। प्राचीनकाल में इसे कपिल मुनि के नाम पर कपिला भी कहा जाता था। तैमूर भी इस नगर की ओर आकर्षित हुआ था। शहर के पश्चिमी भाग में गंगा के किनारे स्थित ***हरि-की-पौढ़ी*** को विष्णु पद चिन्हों के कारण पवित्र माना जाता है। गंगा को इसी स्थल पर एक नहर का रूप दिया गया है। यहां अनेक धर्मों, समुदायों के संतों, पण्डों एवं साधुओं को पूजा-अर्चना करते देखा जा सकता है। शिवालिक के दक्षिणी भाग में स्थित ***मनसादेवी*** मंदिर यहां स्थित सबसे प्रसिद्ध मंदिर है। हरि की पौढ़ी के पास ही प्रसिद्ध ***गंगा द्वार का मंदिर*** है, जहां लाखों लोग पवित्र गंगा जल में स्नान करते हैं। प्रतिवर्ष यहां चैत्र में मेष संक्रांति के समय मेला लगता है तथा बारह वर्ष के अंतराल पर यहां कुंभ का मेला लगता है। 10वीं शताब्दी में निर्मित ***माया देवी*** मंदिर में माया देवी मूर्ति के तीन मस्तक और चार हाथ हैं। यहां से तीन

किलोमीटर दूर ***कनखल*** में शिव की पत्नी सती ने स्वयं को जलाया था। कनखल स्थित ***दकेश्वर*** एक अन्य प्रसिद्ध मंदिर है। लोगों की मान्यता है कि हरिद्वार में मरने वाला प्राणी परमपद पाता है और यहां स्नान से जन्म जन्मांतर के पाप धुल जाते हैं। अनेक पुराणों में इस तीर्थ का वर्णन और प्रशंसा उल्लिखित है।

हरिहरः कर्नाटक स्थित हरिहर ने अपना नाम होयसल शैली में निर्मित श्री ***हरिहरेश्वर मंदिर*** (1223) से लिया है। हरिहरेश्वर मंदिर में हरिहर की 1.3 मीटर ऊंची मूर्ति है। हरिहर से 10 किलोमीटर दूर स्थित ***अनीकोंडा*** में होयसल शैली में निर्मित एक छोटा, लेकिन प्रसिद्ध मंदिर है।

हसन (हासन)ः कर्नाटक के हसन जिले में स्थित ***हेलबिड, बेलूर*** तथा ***डोडागडावहली*** का संबंध होयसल वंश से रहा है। हेलबिड होयसल राज्य की राजधानी थी, जिसकी स्थापना द्वारसमुद्र ने 11वीं शताब्दी में की थी। हेलबिड में निर्मित 12वीं शताब्दी की ***जैन बस्तियां*** तथा ***होयसालेश्वर मंदिर*** विशेष रूप से दर्शनीय हैं। यागची नदी के किनारे बसा बेलूर हेलबिड से पूर्व होयसल वंश की राजधानी था। बेलूर का ***चेन्नकेश्व मंदिर, वीरनारायण मंदिर*** तथा ***जैन बस्तियां*** दर्शनीय हैं। होयसल शैली में निर्मित डोडागडावहली स्थित ***लक्ष्मीदेवी*** मंदिर का निर्माण 1113 ईसवी में हुआ था।

हिरियूरः कर्नाटक स्थित हिरियूर वेदवती नदी के दाहिने किनारे पर अवस्थित है। यहां स्थित ***तेरुमलेश्वर मंदिर*** में 14 मीटर ऊंचा दीप स्तंभ है। यहां से 15 किलोमीटर दूर स्थित ***वाणीविलासपुर बांध*** का निर्माण 19वीं शताब्दी में मैसूर के पहले आधुनिक बांध के रूप में किया गया था। इसके समीप स्थित झील भी काफी आकर्षक है।

हिसारः हरियाणा स्थित हिसार की स्थापना फिरोजशाह तुगलक ने 1354 में की थी। हिसार स्थित ***गुजरी महल, फिरोज शाह की मस्जिद*** विशेष रूप से दर्शनीय हैं। हिसार में वर्ष में दो बार आयोजित किए जाने वाले पशु मेले का विशेष महत्व है। यहां से 30 किलोमीटर दूर स्थित ***सिरसा*** का संबंध 1500 ईसा पूर्व से है।

हैदराबादः हैदराबाद समृद्ध निजामों की नगरी है। हैदराबाद की स्थापना गोलकोंडा के पांचवें सुल्तान कुतुबशाही ने 1589 में की थी। हैदराबाद अपने

अनेक ऐतिहासिक स्मारकों के लिए प्रसिद्ध है। पुराने हैदराबाद में स्थित ***चार मीनार*** का निर्माण मुहम्मद कुली कुतुबशाह ने 1591 में किया था। 56 मीटर ऊंची इस मीनार के पास ही ***मक्का मस्जिद*** स्थित है। यह विश्व की सबसे बड़ी मस्जिदों में से एक है। यहां एक समय में 10,000 व्यक्ति नमाज पढ़ सकते हैं। इसका मुख्य कक्ष 67 मीटर लम्बा, 54 मीटर चौड़ा तथा 23 मीटर ऊंचा है। चार मीनार से पांच किलोमीटर दक्षिण में ***फल्कनुमा महल*** स्थित है। यह महल शास्त्रीय एवं मुगल शैलियों का मिश्रण है। इस महल में अनेक बहुमूल्य नगों का संग्रह है। 12वीं शताब्दी में निर्मित गोलकोंडा किला तथा गोलकोंडा किले से एक किलोमीटर उत्तर में कुतुबशाही राजाओं के मकबरे अन्य प्रसिद्ध ऐतिहासिक स्थल हैं। यहां स्थित ***सालारजंग संग्रहालय*** भारत के तीन बड़े राष्ट्रीय संग्रहालयों में से एक है। इस संग्रहालय में विश्व की 35,000 से अधिक प्रदर्शनयोज्य वस्तुएं रखी गईं हैं।